

प्रकाशकीय वक्तव्य

यदि सोचाम्य एवं हर्ष का विषय है कि रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से 'निर्दल-शास्त्र' भाषा भाष्य सहित एका कर प्रकाशित हो रहा है । आर्य-समाज के प्रसिद्ध विद्वान्-वैदिक धार्मिक एवं प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रौढ विद्वान्-भारतीय आर्य गुरुत्व के मर्मज्ञ श्री अट्टेय पं० भगवद्गोविन्द रिवाचरसावर ने ब्रह्म कृपा की जो निराला का भाषा भाष्य एवं संपादन का गुणर भार अने ऊपर से कर हमें अनुगृहीत किया । उन्होंने अपनी विचार धारा को उलटता से इस में प्रकाशित किया है जिन्होंने वैदिक साहित्य के दोष करने करने वाले विद्वानों एवं पढ़ने पढ़ाने वालों को अनुपम लाभ होगा । निराला के सामान्य अभ्येताओं को भी इस में ब्रह्म कृपा नई सामग्री का निर्देश प्राप्त होगा । जिस से उनका ज्ञान समुन्नत होगा । माननीय पण्डित जी ट्रस्ट की ओर से अत्यन्त धन्यवाद के पात्र हैं जो उन्होंने इतना बट्टिया कार्य पूर्ण करने का भारी बट्ट सहन किया । भारतीय जनता भी उनकी श्रेणी रहेगी, जो इस कृपावत्या में भी इतना भारी कार्य सम्भ्र किया । हम भूरि-भूरि धन्यवाद के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ।

यदि श्री पं० युधिष्ठिर भीमाशक अजमेर में न होने तो यह ग्रन्थ इस रूप में प्रकाशित हो न हो पाता । उन्होंने धैर्य-पूर्ण परिश्रम-निष्ठा एवं बुद्धिमत्ता से प्रेस कापी का अवलोकन और प्रूफ आदि के संशोधन का जो कार्य किया है, उस के लिए हम ट्रस्ट की ओर से उनका हार्दिक धन्यवाद करते हैं ।

आशा है भारतीय जनता-विद्वान्-एवं पठनार्थी इस अनुपम ग्रन्थ से लाभ उठा कर लेखक एवं प्रकाशक का परिश्रम सफल करेंगे ।

निवेदक

कार्तिक कृष्णा ३, सं० २०२१

सम्प्री—रामलाल कपूर ट्रस्ट

गुरु बाजार, अमृतसर

भूमिका

आधुनिक अधिकांश साक्षर मानव की दृष्टि

विकास मत का प्रभाव—आधुनिक काल की प्राणि-विद्या, उद्भिज्-विद्या, भूविद्या, रसायन-विद्या, भूत-विद्या, अर्थ-विद्या अथवा किसी अन्य विद्या का थोड़ा सा ज्ञाता भी भूतल पर मानव के क्रमशः विकास को स्वीकार कर के अपने ज्ञानक्षेत्र को उत्तरोत्तर बढ़ाता है। यह प्रवृत्ति चार्लस डार्विन के दो सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के प्रकाशन के उत्तरकाल अर्थात् संवत् १९२८ से आरम्भ हुई थी।

इतिहास का विपरीत पक्ष—संसार का इतिहास सामान्य रूप से और भारतीय इतिहास विशेष रूप से इस प्रवृत्ति के विपरीत है। इस बात को न सह कर, और नितान्त पक्षपात के कारण ऐतिहासिक नामवारी अनेक लेखकों ने भारतीय इतिहास को ही मिथ्या सिद्ध करने का यत्न किया है। हमने उन के इतिहास विषयक पक्ष को तर्कहीन, निराधार और सर्वथा कल्पित सिद्ध करने के लिए “भारतवर्ष का वृहद् इतिहास” नामक ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित किया।

विपक्षी मौन—मद्रचित इस इतिहास के विषय में ईसाई-यहूदी गुट के चरणचिह्नों पर चलने वाले भारतीय लेखक मौन साधे हुए हैं। उन में उस के आमूलचूल खण्डन का साहस नहीं हुआ। पर निर्भीकता के अभाव में वे सत्य का ग्रहण करने के लिए उद्यत भी नहीं हो रहे।

ईसाई-यहूदी गुट के विचारकों का स्वभाव—इन लोगों की परिभाषा है कि वे अपने मत के प्रतिपक्ष में दिए गए तर्कों और प्रमाणों का परीक्षण और खण्डन नहीं करते। वे संघर्ष में अपने पक्ष की निर्वलता को समझते हैं। अतः उन्होंने नियम बना लिया है कि उन्हें अपनी बात की ही रट लगानी चाहिए। उन का विश्वास है कि प्रतिपक्षी राजकीय आश्रय के बिना कालान्तर में चुप हो जाएंगे।

एक देवी सहायता—ऐसी स्थिति में एक अभूतपूर्व घटना घटी । उत्तर प्रदेश सरकार ने भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, भाग द्वितीय का महत्त्व आङ्का । तदनुसार सन् १९६२-१९६३ में २५००) रु० का श्री नरेन्द्रदेव पुरस्कार इस पुस्तक पर मुझे भेंट किया गया । इस पुरस्कार योजना समिति के अध्यक्ष थे श्री सम्पूर्णानन्द, राज्यपाल, राजस्थान । वर्तमान कई ऐतिहासिकों को यह बात अखरी । पर तीर धनुष से छूट चुका था ।

अनेक भारतीय विद्वानों ने इस इतिहास की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की ।

भाषा का इतिहास भी विकासमत के विरुद्ध—डार्विन ने अपने ग्रन्थ प्रकाशित कर दिए । उस का समकालिक श्लार्डेशर नाम का एक जर्मन विद्वान् था । उस ने भाषा के इतिहास के आधार पर डार्विनमत का खण्डन किया । उस का कहना था कि पूर्व से पूर्वतर ओर पूर्वतम काल की भाषाएँ अत्यधिक समृद्ध और पूर्णता का अधिकाधिक स्वरूप धारण किए हैं । इस मत्त सिद्धान्त का उत्तर आज तक किसी से नहीं बन आया । स्पष्ट है कि डार्विनमत की टक्कर जब भाषा के इतिहास के अभेद्य शैल से हुई, तो यह मत परास्त हुआ । यही नहीं विद्वानों की दृष्टि में जीर्णोन्नीर्ण हो कर यह सर्वथा गिर गया ।'

निष्कर्ष—इस प्रकार यथार्थ इतिहास के सभी पक्ष यही परिणाम प्रस्तुत करते हैं कि ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र के सुदीर्घ काल में उत्तरोत्तर ह्रास ही ह्रास होता गया है । इस ह्रास का एक कारण है । मानवबुद्धि का युग-युग में ह्रास की ओर जाना । आज जो शिल्पोन्नति और कई अन्य क्षेत्रों में ऊपर के विकास दिखाई देते हैं, उन में यथार्थ ज्ञान का अंश बहुत थोड़ा है । यान्त्रिक उन्नति निस्सन्देह गत दो तीन सौ वर्ष में पर्याप्त हुई है, पर वह अभी प्राचीन काल की शिल्पोन्नति की सीमा तक नहीं पहुँच पाई । मरदाज श्रमि ने आकाश गङ्गा में स्नान किया था । इस सत्य की जो नहीं मानता, वह उस के अपने अज्ञान का दोष है । भारतीय इतिहास का अन्वेषण हमारे कथन की सत्यता का पोषक है । विकास मत का खण्डन यहाँ अति संक्षेप

१. इस विषय का अधिक विवेचन मद्रचित भाषा का इतिहास, तृतीय संस्करण, दूसरा ध्याख्यान में देखें ।

में है। इस पर विस्तृत विवेचन भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, भाग प्रथम, पृ० ५७-७३ तक देखें।

पुरातत्त्व के प्रमाणों को कल्पित रंग देना—अनेक वर्तमान ऐतिहासिकों ने पुरातत्त्व की खोजों को अपनी रुचि के रंग में रंग कर अपने कल्पित मत घड़े हैं। यही नहीं, उन्होंने यत्न किया है कि प्राचीन लिखित प्रमाणों में जनसमुदाय का अविश्वास उत्पन्न कराया जाए। उसे सदा-असत्य कह कर उस के प्रति लोगो की आस्था जर्जरीभूत की जाए। इस प्रयास में वे गम्भीर विद्वानों को अपने साथ नहीं मिला सके।

पृथिवी पर मानव का आविर्भाव—मानव की प्रथम उत्पत्ति विकास-मत की कल्पना के अनुसार नहीं हुई। वह स्थूल दृष्टि से अल्पज्ञानी के मन को लुभाने वाला भ्रान्त पक्ष है। प्रश्न है कि फिर यह हुई कैसे।

इस का उत्तर ढूंढने के लिए मैंने आर्ष वाङ्मय का आश्रय लिया। उस में से थोड़े से तथ्य अभी तक मेरी बुद्धि में आ सके हैं। वे हैं—कि ओषधि, वनस्पति, वाक्, सोम, ऊर्क्, रेतस्, अनेक पशु और कई प्राणी सूक्ष्मरूप में पहले अन्तरिक्ष में अस्तित्व में आए। यथा—

१. या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस् त्रियुगं पुरा । ऋ० १०।९७।१॥

अर्थात्—जो ओषधियां पहले उत्पन्न हुईं, देवों से तीन युग पहले।

२. पशूस्तांश्चक्रे वायव्यान् । ऋ० १०।९०।८॥

अर्थात्—पशु उन को बनाया वायु में होने वालों को।

स्मरण रहे कि अविर्वशा आदि देवपशु हैं। द्रष्टव्य—मै० सं० २।५।२॥

३. अन्तरिक्षस्य नृभ्यः । ऋ० १।११०।६॥

४. अन्तरिक्षायतना हि प्रजा । तां ब्रा० ४।८।१३॥

५. अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः । तै० ब्रा० ३।२।१।३॥

६. या अन्तरिक्षे दिवि याः।पृथिव्यां तानस्तुता ओषधीः पारयन्तु ।

काठक सं० १६।१३॥

अर्थात्—अन्तरिक्ष आयतन वाली प्रजा है। अन्तरिक्ष देवता वाले निश्चय में पशु है।

वायव्य पशु, जैसा इन पदों से स्वतः प्रकट है, अन्तरिक्ष में थे। बहुत उत्तर काल में भूमि पर ओषधि-मृष्टि हुई। इसका विस्तृत वर्णन भारत-वर्ष का बृहद् इतिहास, भाग द्वितीय, अध्याय तृतीय, तथा, वेदविद्या-निदर्शन, पृथिवी का इतिहास नामक अध्याय के अन्तर्गत, ओषधि-वनस्पति की उत्पत्ति के प्रकरण में हम ने किया है।

ओषधि उत्पत्ति में माया विशेष—सोम ओषधियों का अविर्पति है। सोम जीवन का आधार है। सोम का स्थान द्युलोक में था। वहाँ से सोम के पृथिवी पर अवतरण में जो किया हुई, वह ओषधि-मृजन में सहायक हुई। ब्राह्मण प्रवचन है—

(क) सोम वै राजान यत् सुपर्णा आहरत् समभिनत् तस्य वा विभुषो अपर्तस्ता एवेमा ओषधयो ऽभवन् । सर्वा उ ह वै सौम्या ओषधय । ऋ० ब्रा० १ । ३५५ ॥

अर्थात्—निश्चय से सोम राजा का सुपर्णा ने जो आहरण किया, भेदन किया, उस के जो शुकवत् छींटे गिरे, वे ही ओषधियाँ हुई। सब ही ओषधियाँ निश्चय से सौम्य हैं।

(ख) इन्द्रस्य वृत्र जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यं पृथिवीमनु व्याच्छत् । तदोषधयो वीरुधोऽभवन् । तै० सं० २ । ५ । ३ ॥

अर्थात्—इन्द्र का, वृत्र को मारने की इच्छा वागे का इन्द्रिय वीर्य पृथिवी को प्राप्त हुआ; वह ओषधियाँ वीर्य हुए।

इस से स्पष्ट होता है कि इन्द्र वृत्र का भौतिक संग्राम पृथिवी पर ओषधि-मृजन से कुछ पूर्व हुआ।

(ग) यज्ञ शक्यम् इति । इन्द्रो वै वृत्रम् अस्तु अष्यदन् । तासां यद् यद्विषं मेध्यमासीत् तदुदकामत् । ता ओषधयोऽभवन् । तासां वा यत्सोमो यद्दर्भा । एता वै शुष्का आपः ।' मै० सं० ३ । ६ । ३ ॥

(घ) इन्द्रो वै त्वष्टुः सोमम् अपिवद् अनुपह्वयमानः । तस्योर्ध्वः सोमपीथो ऽपतत् । ते श्यामाका अभवन् । मै० सं० २ । ३ । १३ ॥

(ङ) देवो वै सोमो द्विवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत् । तस्यैतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मानः । तदेष-उशानामोपधिर्जायते । इति ह स्माह श्वेतकेतुरोद्दालकिः । श० ब्रा० ३।४।३।१३।४।२।५।१५ ॥

वेद और ब्राह्मणों के साहाय्य से उद्भिज-उत्पत्ति का विस्तृत वैज्ञानिक वर्णन किया जा सकता है । मैंने यहां संकेतमात्र किया है ।

सोम और रेतस् सम्बन्ध—जगत् की उत्पत्ति में आपः के साथ सोम का भी महान् भाग है । वही सोम रेतस् को धारण करता है । अतः प्रवचन है—

सोमो वै रेतोधाः । मै० सं० २ । १ । ४ ॥

मेघों से सस्य और शुक्र आदि की उत्पत्ति

इस का अत्यन्त सुन्दर वर्णन अनुशासन पर्व में मिलता है—

तद्यदा मेघतो वारि पतितं भवति क्षिती ।

तदा वसुमती देवी क्षिग्धा भवति भारत ॥ ३८ ॥

ततः सस्यानि रोहन्ति येन वर्तयते जगत् ।

मांसमेदोस्थिशुक्राणां प्रादुर्भावस्ततः पुनः ॥ ३९ ॥

संभवन्ति ततः शुक्रात् प्राणिनः पृथिवीपते ।

अग्नीषोमौ हि तच्छुक्रं सृजतः पुप्यतश्च वै ॥ ४० ॥

एवमन्नाद्धि सूर्यश्च पवनः शुक्रमेव च ।

एक एव स्मृतो राशिस्ततो भूतानि जह्विरे ॥ ४१ ॥

अग्नि और सोम सारी उत्पत्ति का कारण है । सृष्टि उत्पत्ति में ओषधि और पशु तथा मानव की उत्पत्ति का क्रम जो अब है, आदि का क्रम उस से अधिक भिन्न नहीं था ।

पशु सृष्टि

पशु उत्पत्ति—रेतस् के साथ पशु उत्पत्ति में जो देव भाग है, वह ध्यान देने योग्य है। स्मरण रहे कि शतपथ ६।२।१।२ के अनुसार पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अजा सब पशु हैं।

(क) पूषा और त्वष्टा के इस कर्मविषय में प्रवचन है—

पूषा पशूना प्रजनयिता । सोम पयास्मै रेतो दधानि । पूषा पशून् प्रजनयति । मे० सं० २।१।४ ॥ २।५।१ ॥

(ख) त्वष्टा पशूना प्रजनयिता । मे० सं० २।५।५ ॥

इन सारी क्रियाओं को सूक्ष्मताओं को जानने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रक्रिया का गम्भीर अध्ययन अत्यन्त लाभप्रद है।

(ग) मनुष्यगवीना देवगविप्रभयत्वात् । स्वन्द श्रु० १।७।१८ भाष्य ।

बीजोत्पत्ति—अन्तरिक्ष में उत्पन्न पदार्थों के कारण, तथा पृथिवी पर जल भूमि के संयोग और सोम आदि के प्रभाव से पहले अनेक बीज उत्पन्न हुए। महाभारत, शान्तिपर्व में लिखा है—

बीजमात्रं पुरा सृष्टम् । १८४ । १५ ॥

अर्थात्—बीजमात्र पहले उत्पन्न किए गए।

नाबीजाज्जायते किञ्चित् । २९६ । १२ ॥

अर्थात्—नही बिना बीज के उत्पन्न होता कुछ।

ओषधि आदि के बीजा के समान पशु आदिकों के बीज भी शुक्र अथवा रेतस् के रूप में बने।

बीज नामात्व—बीजों की संख्या यद्यपि बहुत है, पर ज्ञात हो सकती है। उद्भिज, अरहज, जेरज और स्वैदज जातियों की गणना शास्त्रों में की गई है। उस की सोदाहरण परीक्षा भविष्य का काम है।

नानात्व का कारण—यह कारण योगसूत्र और न्यायभाष्य से स्पष्ट होता है—

(क) क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः । योगसूत्र ३ । १५ ॥

अर्थात्—[बीजों में] अवयवों और परमाणुओं के क्रमभेद से विभिन्न परिणाम होते हैं ।

(ख) बीजावयव-व्यूह—न्यायभाष्य ४ । १ । १८ के अनुसार बीजावयवों का व्यूह-भेद उन में नानात्व उत्पन्न करता है ।

बीजत्व-प्राप्ति—इस विषय के कतिपय सुन्दर श्लोक राघवभट्ट^१ ने किसी पुरातन ग्रन्थ से गारदातिलक १ । २७ की टीका में उद्धृत किए हैं—

उद्भिदः स्थावरा ज्ञेयास्तृणगुल्मादिरूपिणः ।

तत्र सिक्ता जलैर्भूमिरन्तरूपमविपाचिता ॥

वायुना व्यूह्यमाना तु बीजत्वं प्रतिपद्यते ।

तथा चोक्तानि बीजानि संसिक्तान्यम्भसा पुनः ॥

उच्छ्रूतत्वं मृदुत्वञ्च मूलभावं प्रयान्ति च ।

तन्मूलादङ्कुरोत्पत्तिस्तस्मात् पर्यसमुद्भवः ।

पर्यात्मकं ततः कारणं कारणञ्च प्रसवः पुनः ॥ इति ॥

अर्थात्—जलों से सिक्त भूमि, अन्दर के ऊष्म से पकाई गई वायु द्वारा व्यूहरूप (cellular arrangement) में रची गई बीजत्व को प्राप्त होती है । ऐसा स्पष्ट और वैज्ञानिक वर्णन वर्तमान विज्ञान के किसी ग्रन्थ में नहीं है ।

बीजैश्वर्य का मत, विकास पक्ष का भयङ्कर दोष—डार्विन आदि के विकास पक्ष में एक अथवा एक प्रकार के अमीबा (amoeba) से सारी पशु-पक्षी आदि की सृष्टि उत्पत्ति मानी जाती है । यह दोष महान् है । इस का खण्डन हम ने भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, भाग प्रथम, संस्करण द्वितीय, पृ० ५८, ५९ पर किया है ।

१. संवत् १५५० । इसकी अभिज्ञान शाकुन्तल टीका मुद्रित हो चुकी है ।

बीजों से उत्पत्ति में सहायक—मैत्रायणी सहिता मे मन्त्रार्थ है—

पर्जन्यो बीजमीरयानो धिनीनु । २ । ७ । १२ ॥

अर्थात्—पर्जन्य बीज को प्रेरित करता है ।

ऐसा भाव श्रुवेद मे भी है—

रेतो दघात्योपधीषु गर्भम् । श्रु० ५ । २३ । १ ॥

लगभग इसी भाव मे वायु पुराण^१ अ० ५१ मे ब्रह्मजा मेघो वा गुण-
कीर्तन किया गया है—

ब्रह्मजा नाम ते मेघा ब्रह्मनिश्वाससंभवाः ।
ते हि विद्यद्गुणोपेताः स्तनयन्ति^२ स्वनप्रियाः^३ ॥ ३४ ॥
तेषां शब्दप्रणादेन^४ भूमिः स्थाह्वरद्वोद्गमा^५ ।
राज्ञी राज्याभिषिक्तैव पुनर्पोषनमश्नुते ।
तेष्वियं प्रीतिमासक्तं^६ भूतानां जीवितोद्भवा ॥ ३५ ॥

टिप्पण—यह ब्रह्मा, दिव्यज, और पर्जन्य आदि, (हेमन्ते शीतसंभवाः ।
वायु ५१ । ३५ ॥) भौतिक माया रूप हैं । धूम इन के आप्यायन और
निःश्वाम आदि का कारण है । उस ब्रह्मा के निरवास से जो मेघ उत्पन्न
होने हैं, वे ब्रह्मजा कहे जाने हैं । कुहरा=नीहार भी वही से उत्पन्न
होता है ।

सर्ग के आरम्भ मे इसी माया के द्वारा सारे बीज प्रेरित हुए । अनेक
भौतिक परिवर्तन होने के कारण अब मूल बीजों का गुण नहीं रहा ।

भवनदेव=विरवकर्माहृत अपराजितपृच्छ मे भी अद्भुत वर्णन है—

भूस्युदरेषु सम्भूता विख्याता बीजनस्तथा ।
भूमौ समुद्रथ सर्व संयोगे पारिणा खनु ॥ २१ ॥

१ ब्रह्मसंह, पूर्व भाग, २२ । १६— ।

२ अ० पु०—स्तनविदु प्रियस्वना ।

३. अ०—शब्द प्रणादेन ।

४. अ०—रहोद्भवा ।

५. अ०—पारिणासका ।

उदके सर्वधीजानां सम्भूतिः सर्वतः स्मृता ।
 केचिदाकाश उत्पन्नाः केचित् पातालसम्भवाः ॥ २२ ॥
 केचिद् भूम्युद्भवाश्चैत्र त्रिविधः सृष्टिसम्भवः । सूत्र ७ ।

अर्थात्—सारे बीज उदक में उत्पन्न हुए । अनेक बीज आकाश में उत्पन्न हुए ।

अमैथुनी सृष्टि

ब्रह्मा और अन्य ऋषि जन्म—इस प्रकार ओषधि आदि के जन्म के पश्चात् ब्रह्मा और योगज शरीरधारी अनेक ऋषि इस भूतल पर प्रकटे । उनकी उत्पत्ति भी एक नियमविशेष के अधीन है । जिस प्रकार ओषधि और वनस्पति जगत् के बीज बने, उसी प्रकार पशु, पक्षी और मनुष्य आदि के बीज शुक्र रूप में बने । ओषधियों से अन्न और अन्न से रेतस् की सृष्टि हुई । वह रेतस् महान्=महतत्त्व के नोदन, योग-युक्त आत्माओं के प्रवेश, तथा क्षोभ और सम्पीडन के विभिन्न प्रभावों, अपरञ्च ऊष्मा की बहुविध क्रियाओं से विभिन्न रूपों के बीजों में प्रकट हुआ । इस बीज-विभिन्नता का कारण जै० ब्राह्मण में है—

ऊनातिरिक्ता मिथुना प्रजनयः । ऊनम् अन्यस्य, अतिरिक्तम् अन्यस्य । ऊनातिरिक्ताद् वै मिथुनात् प्रजा पशवः प्रजायन्ते । २।१४ ॥

यह नियम सर्गारम्भ और सृष्टि-स्थिति के काल में समान है ।

रेतस्=शुक्र में शरीर

अपराजितपृच्छा में असाधारण सत्य

घटो यथा च बीजस्थस्तथा शुक्रगता तनुः ।

संघाटे काञ्चनं यद्वत् क्रियादीपेन दृश्यते ॥ ३ ॥ सूत्र १५ ।

अर्थात्—घट जैसे बीज में ठहरा है, वैसे शुक्र में शरीर [अति सूक्ष्मावस्था में] होता है । संघाट [=अनेक धातुओं के संयोग में] काञ्चन का अस्तित्व जैसे क्रियादीप^१ से दिखाई देता है ।

१. न्यारिए के क्रियादीप से । इस अर्थ में यह शब्द मोनियर विलियम्स के कोप में नहीं है ।

आदि में असदृश वृद्धि—जिम प्रकार वर्तमान अवस्था में बीज शनै शनै अगला रूप उत्पन्न करता है वैसे ही आदि में हुआ था । ऐ० ब्रा० का प्रवचन है—

न वै सदृशेवाग्रे सर्वे सम्भवति । एषैक वा अद्भ्यः सम्भवतः सम्भवति । ० । ५ ॥

ऋषि प्रभव स्थान—गङ्गानिलित के धर्म-सूत्र में ऋषियों का उत्पत्ति स्थान भी लिखा है । यथा--न ऋषीणां प्रभवम् ।^१ इस वचन पर कृत्य बल्पतरु के निबन्धनकार लक्ष्मीधर ने माधवस्वामी के भाष्य से निम्न लिखित पंक्ति उद्धृत की है—

कलापप्रामादिकम् । इति माधवस्वामी ।

पुराणा के अनुसार कलाप ग्राम हिमालय में है और माधवस्वामी के आदिकम् पद से हिमालय के विभिन्न स्थान अभिप्रेत हो सकते हैं ।

मनुष्य उत्पत्ति—मनुष्य आदि की उत्पत्ति का अत्यन्त गम्भीर दृश्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य प्रोक्त बृहदारण्यक उप० १।४।३ ४ में देखना चाहिए ।

वेद प्रादुर्भाव—महदण्ड हिरण्यगर्भ और प्रजापति पुरुष के कारण और तपश्चात् देवों और ऋषियों के कारण वेदमन्त्र स्वभावतः पहल ही प्रकट हो चुके थे अब वे ही ऋषियों में प्रविष्ट हुए । मन्त्र स्वयं कहता है—

यज्ञेन वाच पद्वीयमायन् ताम-रविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ।

ऋ० ३० । ७१ । ३ ॥

अर्थात्—उस वाक् को प्राप्त किया, ऋषियों में प्रविष्ट हुई को ।

यह स्पष्टम्बु ब्रह्म ऋषी वाक् थी । इस दैवी वाक् की विभूति का निदान हम निरक्तभाष्य के पृ० ४७४ पर कराया गया है । इस रहस्य को न समझ कर वृथाभिमानों पाश्चाय नखरों ने वेदार्थ को कलुषित किया है ।

१ कृष्यवल्क्य, गार्हस्थ्य क पद, पृ० ३६६ ।

२ ऋषयः सत दैव्या । ऋ० १० । १२० । १० ॥

ऋषि कौन थे—इस प्रश्न का उत्तर भारतीय वाङ्मय में निम्नलिखित रूप से है ।

१. साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः । निरुक्त १ । २० ॥

अर्थात्—ऋषियों को पदार्थों के गुण अथवा अर्थ का साक्षात् होता है । परन्तु इतना लक्षण अतिव्याप्त रहता है । महान् विद्वान् पक्षिलस्वामी अथवा विष्णुगुप्त कौटल्य ने अपने न्यायभाष्य में लिखा है—

आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माः । ऋष्यार्यग्लेच्छानां समानं लक्षणम् । २ । १ । ६९ ॥

पुनश्च—

आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माणः ।

अतः इस अतिव्याप्ति दोष के दूरीकरणार्थ, यास्क के भाष्य से ही दूसरा पाठ उद्धृत किया जाता है—

२. ऋषिर्दर्शनात् । स्तोमान् ददर्श, इत्यौपमन्यवः । २ । ११ ॥

अर्थात्—ऋषि वह है, जिसे मन्त्रों का दर्शन होता है ।

इस से आगे यास्क ने अपने कथन की पुष्टि के लिए तैत्ति० आर० २।९ का एक वचन उद्धृत किया है । उस का अभिप्राय यह है कि ऋषियों को ब्रह्म स्वयम्भु प्राप्त हुआ ।

मन्त्र के प्रमाण से पूर्व लिखा गया है कि वाक् ऋषियो में प्रविष्ट हुई । उसी वाक् को ऋषियों ने देखा और सुना ।

३. नीरजस्तम—ऋषि लोग रज और तम गुणों से सर्वथा रहित थे । आयुर्वेदीय चरक संहिता, सूत्र स्थान, अ० ११ में पाठ है—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानवलेन ये ।

येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहृतं सदा ॥ १८ ॥

आप्ताः शिष्टा चिबुद्धास्ते, तेषां वाक्यमसंशयम् ।

सत्यं, वदन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥ १६ ॥

अर्थात्—ऋषि लोग रज और तम से मुक्त, त्रिकालज्ञ, सदा अमल और अव्याहत ज्ञान वाले, तथा सत्यवाक् होते हैं ।

४. अतीन्द्रिय ज्ञान—ध्यानयोग के बल से ऋषि लोग अतीन्द्रिय ज्ञान के द्रष्टा होते हैं । वेदों के सहस्रों मात्र अतीन्द्रिय ज्ञान से भरे पडे हैं । वैसा ज्ञान ऋषि के अतिरिक्त और कोई दे ही नहीं सकता ।

अतीन्द्रिय ज्ञान के उदाहरण

अब हम अतीन्द्रिय ज्ञान के कतिपय उदाहरण उपस्थित करते हैं ।

I. द्वावापृथिवी का सामीप्य अथवा द्वावापृथिवी का सहभाव

१ दीर्घतमा-दृष्ट द्वावापृथिवी सूक्त की श्रृक्—

ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा ।

१ । १५९ । ४ ॥

अर्थान्—ते=वे द्वावापृथिवी, [जो] जामी=भगिनिया, सयोनी=समान उत्पत्ति स्थान वालीया, मिथुना=परस्पर सशुक्त, समोकसा=समान निवास स्थान वालीया ।

स्पष्ट है कि द्वावापृथिवी का स्थ न ओव=साथ ही था ।

२ अगस्त्य-दृष्ट द्वावापृथिवी सूक्त की श्रृक्—

सद्गच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामी पित्रोरुपरुधे । १ । १८५ । ५ ॥

३. प्रजापति वैधामित्र दृष्ट विश्वेदेवा सूक्त की श्रृक्—

समान्या वियुते दूरेशन्ते ध्रुवे पदे तस्थनुर्भागरुके ।

उत् स्वसारा युवती भवन्ती आदु द्युवाते मिथुनानि ताम ॥

३ । १४ । ७ ॥

यहां पहली दो श्रृचाओं में द्वावापृथिवी की—जामी, सयोनी, मिथुना, समोकसा, संगच्छमाने, समन्ते, स्वसारा, पित्रोरुपरुधे वदी

१. देखो श्वेताश्वनर उप० का आरम्भ । ते ध्यानयोगानुगता अवरयन् ।

२. जामी=सब्राती, तुलना करो अ० १ । ७१ । ७ पर सूक्त की श्रृम्भाण्य ।

से, एक अत्यन्त अतीन्द्रिय दशा का ज्ञान वर्णित है । तीसरी ऋक् में समान्या पद से लगभग वैसा ही भाव दिखाया है, और अगले—विद्युते पद से द्यावापृथिवी के एक दूसरे से पृथक् होने का तथ्य कहा है । देखो, निरुक्त भाष्य ४ । २४ के अन्त में विद्युते पद पर हमारा भाष्य ।

अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणों में—

४. इमे वै सहास्ताम् । तैत्ति० सं० ३ । ४ । ३ ॥
५. द्यावापृथिवी सहास्ताम् । तै० सं० ५।२।३। तै० ब्रा० १।१।३।२।
६. इमे वै सहास्ताम् । मैत्रा० सं० ३ । २ । २ ॥
७. इमे वै सहास्ताम् । कांठक सं० १३ । १२ ॥
८. इमे वै सहास्ताम् । का० सं० १३ । १२ ॥ दूसरी वार
९. इमौ वै लोकौ सहास्ताम् । ऐ० ब्रा० ४ । २७ । ५ ॥
१०. इमौ वै लोकौ सहास्ताम् । ताण्ड्य ब्रा० ७ । १० । १ ॥
११. इमे वै लोकाः सहासन् । ता० ब्रा० ८ । १ । ९ ॥
१२. सह द्वैवेमावग्रे लोकावासतुः । शतपथ ब्रा० ७ । १ । २ । २३ ॥
१३. इमौ वै लोकौ सह सन्तौ व्यैताम । जैमिनि ब्रा० १ । १४५ ॥

सब ऋषि एक स्वर से प्रवचन कर रहे हैं, कि किसी समय द्यावा-पृथिवी, जो आज एक दूसरे से लाखों योजन की दूरी पर हैं, साथ-साथ थे ।

II. द्यौः-अद्भ आदित्य पृथिवी के साथ

१४. असावादित्योऽस्मिन् लोक आसीत् । तै० सं० ७ । ३ । १० ॥
१५. इह वा आदित्य आसीत् तमितोऽध्यमुं लोकमहरन् ।
मै० सं० १ । ११ । १७ ॥ ३ । ९ । ३ ॥

अर्थात्—यहां पृथिवी के साथ ही कभी आदित्य था । उसे यहां से उस लोक को ऊार ले गए ।

१६. आदित्यो वा एतद् अत्राग्र आसीद् यत्रैतत् चात्वालम् ।
देवाः प्रदाहाद्

अविमयुः । तेऽद्युवन् । सर्वं वा अयम् इद् प्रधस्यति । धीमी
परिहरामेति । जै० ब्रा० १ । ८ । ७ ॥

सह पद की व्याख्या

१७ समन्तिकमिथ ह वा इमेऽग्रे लोका आसुः, इति । उन्मूरया
द्वैव द्यौरास । श० ब्रा० १ । ४ । १ । २२ ॥

आग्ने सामने, अत्यन्त समीप कभी ये लोक थे । [हाथ से] छूई जा
सकने वाली ही [तब] द्यौ थी ।

१८ इमे वै सद्वास्ताम् । ते पथा वेणु संधाव्येते एव समधाव्येताम् ।
का० स० १३ । १२ ॥

१९ सह द्वैवेमाग्ने लीमावासुः । तयोर्नियतोर्योऽन्तरेणाकाश
आसीत् तदन्तरिक्षमभवत् । ईक्ष द्वैतजाम् । तत पुगन्तरा वा
ऽऽदमीक्षम् अभूदिति । तस्मादन्तरिक्षम् ।

श० ब्रा० ७ । १ । २ । २३ ॥

२०, इमी भाव के लिए ऋ० १ । ८१ । ४ वा उपाकयो, पद् द्रष्टव्य है ।
उसी पर स्कन्द भाष्य है—

उपाक इत्यन्तिकनाम । अत्र तु तानस्थ्यात् द्यावापृथिव्योर्वर्तते ।
यावद्धि मक्षिकाया पत्र तावन् द्यावापृथिव्योरन्तरम् । इत्युपनिषि
द्विद * पौराणिकाद्याचक्षते ।

इन चारों प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि आदि में द्यावापृथिवी का अन्तर
अत्यन्त स्वल्प था । वे वस्तुतः, साथ ही थे । इतना स्वल्प, जितना जगल में
उगने टकराने वाला बासों का अन्तर होता है । अथवा मक्षिका के पर जितना
पतला अन्तर । पृथिवी पर से द्यौ स्पर्श योग्या थी ।

जब देखने वाला कोई नहीं था, उस समय की अतीन्द्रिय अवस्था का
कितना स्पष्ट वर्णन है ।

१ देखो—सुपु-वास न निश्चैतरुपरये सर्वे न दसा समति द्विपन्तर ।

ऋ० १ । ११ । ५ ॥

२ बुद्धे तप०—यावद्धि मक्षिकाया पत्र तावन्तरेणाकाश । ३ । ३ । २ ॥

यूरोप का अधूरा ज्ञान—इस विषय में यूरोप के आर्देन-स्टार्डेन आदि वैज्ञानिकों को थोड़ा सा आभास हुआ और हो रहा है। जो थोड़ा सा आभास है, वह बहुत ही अधूरा है। उस का आधार अनुमानमात्र है। कतिपय यूरोपीय वैज्ञानिकों के एतद्विषयक वचन हमने वेदविद्यानिदर्शन पृ० ३१५ पर उद्धृत किए हैं।

भूमि और पृथिवी का भेद—भूमि नाम इस लोक की प्राथमिक अवस्था के लिए है। वह भूमि जब प्रथित होती गई, तो उस का नाम पृथिवी हुआ। यह प्रथन कितने काल में हुआ, इस का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

इस तथ्य का स्पष्ट चित्रण निम्नलिखित है—

आपो वा इदमासन् । सलिलमेव । स प्रजापतिर्वराहो भूत्वा-उप-
न्यमज्जत् । तस्य यावन्मुखमासीत् तावतीं मृदमुदहरत् । सेयम्
अभवत् ।.....यद् अप्रथत तद् पृथिवी । यद् अभवत् तद् भूमिः ।
काठक सं० ८ । २ ॥

पहले होना कर्म हुआ। उस समय भूमि नाम हुआ। तत्पश्चात् प्रथन कर्म हुआ। उस से पृथिवी नाम हुआ।

उत्पत्ति के समय भूमि नाम था। इस लिए मन्त्र में उस अवस्था का भी वर्णन है—

‘द्यावाभूमी’ जनयन् देव एकः । ऋ० १० । ८१ । ३ ॥

वैदिक विज्ञान में पदप्रयोग की यह असाधारण सूक्ष्मता और महिमा दर्शनीया है।

प्रश्न होता है, ब्रह्म प्रथन कब हुआ, और पृथिवी की दशा कब बनी। इस का उत्तर भी वैदिक वाङ्मय में है। पूर्व उद्धृत संख्या ४-१३ के अन्तर्गत प्रवचन ५ में स्पष्ट है कि प्रथन होने पर भी द्यावापृथिवी साथ थे।

१. द्यावापृथिवी । काठक सं० १८ । २ । १३ में पाठ । यह उत्तर अवस्था का द्योतक है । द्यावाभूमि पृथिवी स्क्भुरोजसा । ऋ० १० । ६५ । ४ ॥

पृथिवी और चन्द्र का आदान प्रदान—इसी प्रकार की एक और अतीन्द्रिय घटना है। तलम्वन्धी मन्त्र भी देखने योग्य है—

२१ चन्द्रः चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं धितम् ।

मन्त्र ब्रा० १ । ५ । १३ ॥

III. अन्तरिक्ष तदन

अन्तरिक्ष विस्तार—इस घटना के पश्चात् और वृत्र द्वारा तम आवरण के समय अन्तरिक्ष का विस्तार होने लगा। उस कर्म में जो जो देवता सहायक हुईं, उन का वर्णन अगले मन्त्र में है—

अग्नि की सहायता—

२२ अग्न आ याहि वीतय^१ इति वा इमी लोको व्येताम् । अग्न आ याहि वीतय इति यदाह-अनयोर्लोकौऽयोर्वीन्यै । तै० सं० ५ । १५ ॥

२३ अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्सवा यजत्र ।
येनान्तरिक्षम् उवतितन्ध त्वेय. स भानुरण्यो नृचक्षाः ॥
श्रु० ३ । २२ । २ ॥

२४. इन्द्राविष्णु की—

अष्टश्रुतम् अन्तरिक्षं वरीयः । श्रु० ६ । ६६ । ५ ॥

सोम की—

२५. स्व सोम पितृभिः संविदानो ऽनु चावापृथिवी आततन्ध ।
श्रु० ८ । ४८ । १३ ॥ तै० सं० २ । ६ । १२ ॥

२६. स्वमा ततन्धोर्वन्तरिक्षम् । श्रु० १ । ९१ । २२ ॥

२७ अनु चावापृथिवी आततान ।^१ तै० सं० ४ । १ । २ ॥

२८. आद्रोदसी ज्योतिषा षड्विद् आतनोत् । श्रु० २ । १७ । ४ ॥

२९. आद्रोदसी वितरं विष्कमापत् । श्रु० ५ । २९ । ४ ॥

पूर्वोदयून अनेक प्रमाणों में यदि चावापृथिवी और रोदनी का सूक्ष्म भेद ज्ञात हो जाए, तो और भी वैज्ञानिक रहस्य सुझेगे ।

१. समोद का प्रथम मन्त्र ।

२. आई चावापृथिवी आततान । वाङ्मन मन्त्रोपनिषद् । १२ ।

एतद्विषयक अनेक अन्य मन्त्र हम ने अपने अंग्रेजी के व्याख्यान में उद्धृत किए हैं।'

IV. आरौहण कर्म

सूर्य आरौहण—अन्तरिक्ष के विस्तार के साथ सूर्य ऊपर चढ़ता गया। तत्सम्बन्धी दस मन्त्र (३०-३९) जो अति स्पष्ट हैं, आगे निरुक्त ७।२९ के भाष्य प्रसङ्ग में पृ० ४३६ पर उद्धृत किए गए हैं।

४०. तच्चक्षुर्देवदितं पुरस्तात् शुक्रम् उच्चरत् । ऋ० ७।६६।१६ मन्त्र के शुक्रम् उच्चरत्, पदों का भी एक अर्थ है—शुक्र-रूप आदित्य को उत् + चरत्=ऊपर चलाया।

तथा निरुक्त ६।१७ में व्याख्यात

४१. जवारू पद का भी अर्थ जवमानरोहि है।

V. द्यौः स्तम्भन—पृथिवी और द्यौ के दृंहण का आनन्द आगे पृ० ५४७-४८ पर उद्धृत नी ऋग्वेदीय मन्त्रों के प्रमाणों (४२-५०) से मिलेगा।

अतीन्द्रिय ज्ञान पर अधिक प्रकाश इस भाष्य में अन्यत्र भी डाला गया है। तथा वेदविद्यानिदर्शन भी द्रष्टव्य है।

आश्चर्यकर ज्ञान—यह सारा ज्ञान असाधारण, अत्यन्त उत्कृष्ट और विस्मयोत्पादक है। विना ऋषियों के ऐसा चमत्कारिक, अतीन्द्रिय ज्ञान कौन आदि सृष्टि में दे सकता था। यह ज्ञान अचरगः सत्य है। न्यूटन और आईन-स्टाइन का ज्ञान ऊहा और अनुमानों पर आश्रित है। वह बहुधा अधूरा और कई बार मिथ्या भी है। निस्सन्देह ये लोग ऋषि नहीं। संसार को चाहिए कि वेद के आश्रय पर विज्ञान की शिक्षा ग्रहण करे।

सूर्य आरौहण पर अमेरिका वासी ब्लेयर—सूर्य आरौहण के वैज्ञानिक तत्त्व को न समझ कर श्री ब्लेयर ने अपने ग्रन्थ—Heat in the Rigveda पृ० १३२ पर लिखा है—

“the well known legend of Indra's placing the sun in the sky ”

जिस कहान् विज्ञान को पढ कर विशिष्ट वैज्ञानिक का रोमहर्ष हो जाता है उसे वह भूला भाई legend कह कर टाल रहा है ।

इस विषय पर प्रकाश डालने वाले अगले मन्त्र भी देखने योग्य है—

५१ शसा मित्रस्य वरुणस्य धाम शुष्मो रोदसी वदधे महित्वा ।

ऋ० ७ । ६१ । ४ ॥

अर्थात्—स्तुति करता हू मित्र के वरुण के धाम की जिनका (शुष्म) बल चावापृथिवी को [पृथक्] बधि हुए है अपने महत्त्व से ।

५२ त्रि वाधिष्ठ स्य रोदसी महित्वेन्द्र । ऋ० ७ । २१ । ३ ॥

५३ त्रि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्धी । प्र नाकमृष्य नुनुदे रुदन्त द्विता नक्षत्र पप्रथञ्च भूम ॥ ऋ० ७ । ८६ । १ ॥

इस अन्तिम मन्त्र पर ईसाई महोपाध्याय मैकडानल लिखता है—

Varuna (as well as other gods) as several times said to hold apart heaven and earth (e g VI, 70, 1), which were supposed to have originally been united (Vedic Reader, p 136)

टिप्पण—अपने अज्ञान के कारण वह लिखता है—supposed to have originally been united श्रीमान् जी को यह ज्ञात नहीं कि चावापृथिवी थे ही साथ-साथ । यह एक अत्यन्त गम्भीर वैज्ञानिक अतीन्द्रिय मत्स्य है ।

(५४, ५५) उदक भ्रशन—आगे पृ० ५७४ पर—दुसम् और वृक्कम्, इन दो उदक नामों पर भाष्य देखें। इन दोनों का एक निर्वचन भ्रशत से है । यह भ्रशन क्रिया कहा और किस प्रकार होती है, यह भी अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है । एक भ्रशन सरलता से जाना जाता है । वह है मेघों से उदक भ्रशन । पर दूसरा भ्रशन आदित्य द्वारा उस क अपने अन्दर हाता है । निरुक्त ५ । १९ म मात्र के भाष्य में कहा है कि आदित्य उस भ्रशन क्रिया

को ढांपता है। वह क्रिया अत्यन्त सूक्ष्म है। इस का कुछ आभास वायु पुराण के निम्न श्लोकार्ध से मिल सकता है।

यथा ह्यापस्तु विच्छिन्नाः स्वरूपमुपयान्ति वै । १४ । २९ ॥

यहां विच्छिन्नाः आपः पद लगभग उदक-भ्रंशन का ही ज्ञान कराते हैं। उस दशा में वे आपः अपने स्वरूप को प्राप्त होते हैं। वह स्वरूप भी ज्ञातव्य है।

५६. सलिल तक्षण—ऋ० १ । १६४ । ४१ के अनुसार सलिल-तक्षण का भी गम्भीर अर्थ है।

यह गम्भीर तत्त्व जानना चाहिए।

५७. नक्षत्र सूर्यवत्—नाना ह वा एतान्यग्रे क्षत्राण्यासुः । यथैवासौ सूर्य एवम् । ग० ब्रा० २ । १ । २ । १८ ॥

५. दीर्घ जीवन—ऋषि दीर्घजीवी थे। परम योगी होने के कारण वे सुदीर्घजीवी हुए। मुनि देवल ने अपने धर्मशास्त्र के योगैश्वर्य के प्रकरण में लिखा है—

वशित्वेन—अपरिमितायुर्वश्यजजन्मा च भवति ।^१

६. निर्माणचित्ताधिष्ठान-समर्थ—इस गुण की महिमा योगसूत्र ४।४,६ में देखी जा सकती है।

ऐसे ऋषियों की देन वेद हैं। योरोप के ईसाई-यहूदी-संस्कृताध्येतानिकाय ने इन ऋषियों को साधारण-जन वत्ता कर संसार को वेद-विद्या से विमुख करने का यत्न किया है। उन के शिष्य भारत में जन्मे अनेक आलसी अध्यापक भी यह रट लगाते रहते हैं। प्रायः भारतवासी अभी सोए पड़े हैं।

भारतवर्ष में आर्षज्ञान के प्रति उदासीनता—आजकल अंग्रेजी के प्राबल्य के कारण भारतीय लोगों पर पाश्चात्य विचारों की छाप है। पाश्चात्य विचारकों ने बहुत से पुराने विचारों का खण्डन आरम्भ कर दिया था।

विलियम हेजलिट' (सन् १७७८-१८२०) ने पुराने ग्रन्थों के पाठ के विरुद्ध लिखा—

१. "He is a borrower of sense. He has no ideas of his own, and must live on those of other people."
(p 47)

The habit of supplying our ideas from foreign sources 'enfeebles all internal strength of thought,'
(p. 48)

२. जान टिण्डल' (सन् १८२०-१८६३) नामक अर्थ वैज्ञानिक ने लिखा—

"These two methods are the classical and the scientific" (p 94)

"Here the dead languages which are sure to be beaten by science in the purely intellectual fight—"

३. हालडेन' (सन् १८९२—) लिखता है—

It seems to me vitally important that the scientific point of view should be applied, so far as possible to politics and religion (p 189, notes)

एने लेखों का भारतीय छात्रों पर गहरा प्रभाव पड़ा। ये सब और उन का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया। भारतीय लोग पुरातन विज्ञान और आर्य प्रमाणों से पराङ्ग मुक्त होते गए। उन के अज्ञान तिमिर को दूर करने के लिए हम ने आर्य ज्ञान विषयक यह अति संक्षिप्त लेख लिखा है। निस्सन्देह वैदिक विज्ञान की तुलना में आज का विज्ञान प्रायः बालनीला मास है। अणु-वैज्ञानिक विज्ञान के वृत्तान्त को दूर करने के लिए ही हमने आर्य मर्यादा के अनुसार अपने सखा में आर्य ग्रन्थों के प्रमाण बहुधा दिए हैं। स्वनाभाव से हमने सम्पूर्ण प्रमाणों का विस्तृत अर्थ नहीं दिया। हम हेजलिट के लेख और तत्पश्चात् अन्य लेखों की अख्यरोदन समझते हैं।

१. ये तीनों उद्धृत्य विषय पुस्तक के दिए गए हैं, वह सन् १९५२ में पञ्जाब विश्वविद्यालय में एक-एक भेजी में प्रेषणी की एक पाठ्य पुस्तक थी।

पडङ्ग-रचना

निरुक्त १।२० में यास्क ने वेदविद्या-प्रसार के तीन ऐतिहासिक स्तर बताए हैं। वे हैं—साक्षात्कार स्तर, मन्त्रोपदेश स्तर और वेदाङ्ग-समाम्नान स्तर। निरुक्त के पाठ से प्रतीत होता है कि वेदाङ्ग समाम्नान भी उन्हीं ऋषियों ने किया, जो साक्षात्कृतधर्मा थे। जो कोई इस पाठ का ऐसा भाव न भी माने, उसे भी यह मानना पड़ेगा कि वेदाङ्ग-समाम्नान साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के युग से अनतिदूर ही हुआ था।

१. हारीत धर्मसूत्र में ज्ञातक के प्रकरण में, वेदाङ्गानि स्मृत हैं।^१

२. ब्राह्मण ग्रन्थों में पडङ्ग-स्मरण—तैत्तिरीय आरण्यक २।१ में अङ्गों का उल्लेख है। तै० ब्रा० में अङ्गों में से एक अर्थात् कल्पसूत्रों का नाम-स्मरण है। यथा—कल्पतन्त्राणि तन्वानाहः संस्थाश्च सर्वशः। ३।१२।१॥ गोपथ ब्राह्मण पू० १।२७ में पडङ्गविद् स्मृत हैं।

३. वाल्मीकि के आर्ष ग्रन्थ में—उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों से बहुत पूर्व काल के रामायण में पडङ्गों का उल्लेख बहुधा मिलता है। आरम्भ में ही पांचवें सर्ग में पश्चिमोत्तर और दक्षिणात्य दोनों शाखा के अन्तिम श्लोक का पाठ है—

द्विजोत्तमैः वेदपडङ्गपारमैः।

पुनश्च—पश्चिमोत्तर पाठ बालकाण्ड १०।१६ तथा दक्षिणात्य पाठ १४।२१ का श्लोकार्ध है—

नापडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नावहुश्रुतः।

वाल्मीकि के अनुपम ग्रन्थ को अज्ञान अथवा महापक्षपात से 'ईसाई-लेखकों ने वृथा ही नूतन काल का सिद्ध करने का यत्न किया है। इस ग्रन्थ की भाषा-शैली ही अति प्राचीन काल की व्यावहारिकी की है।

शिव और बृहस्पति—पडङ्ग-प्रवर्तकों में ये दो अति प्राचीन आचार्य हुए थे। महाभारत शान्तिपर्व में शिव विषयक वचन है—

१ कृत्यकल्पतरु, गार्हस्थ्य काण्ड, पृ० २६४ पर उद्धृत।

वेदात् पडङ्गान्युदुघृत्य । २८४ । ६२ ॥

पुनश्च बृहस्पति के विषय में कहा है—

वेदाङ्गानि घृहस्पति* । ११२ । ३२ ॥

अतः निश्चय होता है कि वेदाङ्गों का पठन-गाठन बहुत प्राचीन काल से चल चुका था। शिव ने वेद से ही इन वेदाङ्गों का मूलज्ञान उपलब्ध किया।

ध. मनु में— रामायण से पूर्व काल के मानव धर्मशास्त्र में भी वेदाङ्गों का वर्णन मिलता है। यथा—पडङ्गानि । ३ । १८५ ॥ वेदाङ्गानि, ४ । ९८ ॥

अनूचान—इस पद का सामान्य अर्थ विद्वान् है, पर इसका यथार्थ अर्थ देवन के धर्मगुरु में लिया गया है। यथा—

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञ शुद्धात्मा पापघ्निन* ।

शेषं श्रोत्रिययत् प्राप्त सोऽनूचान इति स्मृत ॥

याज्ञ० स्मृति पर अमरार्क टोका में उद्धृत, पृ० २८४, ४४२ ।

अतः अनूचान वेदाङ्ग ज्ञाता भी होता है। अनूचान पद ऋग्वेद ८।४८।१ में भी है। वहाँ इस का मूलार्थ देसना चाहिए।

ईसारे गुट का आक्षेप—इस पर ईसाई गुट का आक्षेप है कि वाल्मीकि, शिव, बृहस्पति और मनु तथा उन के ग्रन्थों का परम्परागत स्वीकृत काल वे नहीं मानने।

हमारा उत्तर—ईसाई गुट की प्रतिज्ञाएँ, मुटुट हेतु और उदाहरणों के अभाव में अमिड हैं। उन का खण्डन हमने अपने अन्य ग्रन्थों में कर दिया है। अतः अब तक हमारे तर्कों का उत्तर नहीं आता, जब तक उन का ऐसा वचन उपहानासद है।

विष्णुगुप्त कीटल्य=वात्स्यायन का साक्ष्य

मौर्य साम्राज्य का महामन्त्री, ब्राह्मण प्रवर, अप्रतिपादको का मिरो-मणि, सत्त्व शास्त्रनिष्णान आचार्य विष्णुगुप्त (कवि सवत् १६०० के

समीप) न्यून से न्यून आठ नामों से अवश्य प्रसिद्ध था । इस महत्त्वपूर्णा विषय में यादवप्रकाश, पुरुषोत्तम, भोजदेव और हेमचन्द्र, इन चार प्रामाणिक कोशकारों का मतैक्य है । यथा—

विष्णुगुप्तस्तु कौटिल्यश्चाणक्यो द्रामिलोऽगुलः ।

वात्स्यायनो मल्लनागः पक्षिलस्वामिनावपि ॥ २ । ७ । २३ ॥^१

वात्स्यायनस्तु कौटिल्यो विष्णुगुप्तो वराणकः ।

द्राविलः पक्षिलस्वामी मल्लनागोऽगुलोऽपि च ॥ १५६ ॥^२

वात्स्यायनस्तु कौटिल्यो विष्णुगुप्तो वराणकः ।

द्राविलः पक्षिलः स्वामी मल्लनागोऽङ्गुलोऽपि च ॥ ४१५ । २६ ॥^३

वात्स्यायने मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः ।

द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च^४ सः ॥ ५१७ ॥^५

ये चारों ग्रन्थकार भारत के विभिन्न देशों के थे और प्राचीन भारतीय इतिहास से सुपरिचित थे । उन का लेख किसी प्रकार भी परे नहीं फेंका जा सकता ।

इसी विषय में दो टीकाकार लिखते हैं—

१. कामन्दक नीतिसार पर उपाध्यायनिरपेक्ष टीका का रचयिता लिखता है—विष्णुगुप्त न्याय-कौटिल्य-वात्स्यायन और गौतमीय स्मृति भाष्य के कारण बहुत प्रसिद्ध था ।

२. विष्णु पुराण ४ । २४ । ६ की टीका में श्रीधर स्वामी (सन् १३५०-१४५०)^६ लिखता है—

कौटिल्यः- कौटिल्यप्रधानः । वात्स्यायन-विष्णुगुप्तादिपर्यायश्चाणक्यः ।

१. वैजयन्ति कोश ।

२. त्रिकारण्ड शेष, भूमिकाण्ड, ब्राह्मणाध्याय ।

३. नाममाला, भोजकृता ।

४. अमिधान-चिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड ।

५. अङ्गुल साम-शाखा प्रवक्ता था । उस शाखा के अध्येता अङ्गुल कहाते हैं ।

६. परलोकगत श्री गोड़े की खोज के अनुसार । A. B. O. R. I. भाग

पत्तिलस्वामी=वात्स्यायन—१. हेतु विन्दु टीका में भदन्त अर्चट=धर्माकरदत्त (पृ० १६८) लिखना है—यदाह भाष्यकारः । नानुमानत उपलभ्यमानस्य.....। इस पर टीका के आलोक में दुर्वैकमिश्र लिखना है—

भाष्यकारः । प्रकरणात् न्यायभाष्यकारः पत्तिलस्वामी । (पृ० ३८२)

२. ज्ञानरहित वाक्याय की टीका (पृ० ११०) पर पत्तिलोक्तम् लिख कर वात्स्यायन के न्यायभाष्य का सन्देह करता है ।

३ हमारे मुनिरचिन जैन विद्वान् श्री सुखलाल संखी और मुनि श्री जिनविजयजी के अनुसार न्यायभाष्यकार धाणक्य था ।^१

इस पर ईसाई-गुट की आपत्ति—ऐसे प्रमाणों से ईसाई-गुट घबराना है । उसे स्पष्ट दिखाई देना है कि ऐसे प्रमाणों की उपस्थिति में उस के कल्पित मत ठहर नहीं सकते । महापक्षपात के गर्ते में गिरा वह कहता है कि ये प्रमाण विश्वमनीय नहीं हैं । ये बहुत उत्तर काल के हैं । विद्वान् उन का निग्रहस्थान में आना पूर्णतया समझते हैं ।

द्रष्टृ प्रवक्तृ-सामान्यता—वेद मन्त्रों के द्रष्टाओं और जित्ता, निरक्त, छन्दः शास्त्र तथा इतिहास, पुराण, और धर्म शास्त्र आदि के व्यावहारिकी भाषा में प्रवक्ताओं का अभेद भारतीय विद्वानों में सदा मान्य रहा है । यह एक अदृष्ट ऐतिहासिक तथ्य है । इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए आचार्य विश्वगुप्त=वात्स्यायन=पत्तिलस्वामी लिखना है—

१. य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते ऋत्विजिहास-पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति । न्यायभाष्य ४ । ६ । ६२ ॥

२ य एवात्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीना मिति । २ । २ ६० ॥

अर्थान्—जो ही मन्त्र ब्राह्मण के द्रष्टा, अथवा वेदार्थों के द्रष्टा थे, वे ही, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र और आयुर्वेद प्रभृति के प्रवक्ता थे ।

कौटिल्य के लेख में दो सत्य विशेष—न्यायभाष्य के प्रमाणों में दो वातें स्मर्तव्य हैं। य एव, ते खलु, न एव, इति। इन प्रयोगों में एव और खलु पद एक निर्विवाद सिद्धान्त का निदर्शन करते हैं।

अपरञ्च—

धर्मशास्त्र और आयुर्वेद पदों से ग्रन्थ रूप शास्त्रों का ग्रहण होता है। शास्त्र शब्द के प्रयोग से इस में ननु नच का स्थान नहीं। वे शास्त्र व्यावहारिकी अथवा लोकभाषा में थे।

वात्स्यायन ने प्रथम वचन में मन्त्र ब्राह्मण को स्पष्ट ही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र से सर्वथा पृथक् गिना है। अतः ये धर्मशास्त्र आदि वेद वा ब्राह्मण का भाग नहीं थे।

यूरोप का मिथ्या "भाषा विज्ञान"—ईसाई-गुट के लेखक, जिन्होंने अपने मिथ्या भाषा "विज्ञान" के पतङ्ग को बहुत ऊँचा चढ़ाया था, अब उसे नीचे गिरता देख कर उदासचित्त हो जाते हैं। असत्य सदा नहीं पनप सकता।

इस विषय पर अनेक अकाट्य प्रमाणों का संग्रह हमारे भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ७५-७९ पर देखिए।

निरुक्त शास्त्र की प्राचीनता—अतः यह निश्चित है कि निरुक्त शास्त्र मूल में उन्हीं ऋषियों की देन है कि जिन्होंने मन्त्रार्थ का आदि में उपदेश दिया था। शिव और बृहस्पति आदि महात्मा उन्हीं में से थे। यही सत्य-परम्परा उदारधिः यास्क ने निरुक्त १।२० में दर्शाई है।

चौदह निरुक्त—आचार्य दुर्ग निरुक्तवृत्ति १।१३ तथा १।२० में क्रमशः लिखता है कि—निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्। निरुक्तं चतुर्दशधा इति। इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि दुर्ग से पहले भारत में न्यून से न्यून चौदह निरुक्त सुप्राप्त थे। उन का थोड़ा सा वर्णन हम, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार, भाग में कर चुके हैं। उन में से शाकपूणि के निरुक्त-निघण्टु का उल्लेख यहां कृच्छ्र विस्तृत रूप से किया जाता है।

शाकपूणि का निघण्टु—आचार्य दुर्ग निरुक्त ८।४ की वृत्ति में लिखता है—

शाकपूर्णिम्बु पृथि गीतामय ए शेषक्य मयमेव स्वंत्र क्रमप्रयोजननाह ।

इम मे मह सष्ट है कि शाकूर्णि मनाछन निरगटु का क्रम भी माना
 मान्वीर निरगटु मृतम ही था । अतः शाकूर्णि के निरगटु के जो प्रनाग
 हम अगे एकत्र कर रह है, उन का क्रम हम ने मान्वीर निरगटु के क्रम
 क समान ही रखा है ।

दम्क

- | | | |
|--------------------------|----------|---------------|
| १. द-गतिनाम । | १ । ७ ॥ | यत्क मे जटि । |
| २. वा-दुर्भानाम । | १ । ८ ॥ | " |
| ३. अनुभव । विद्या । | | |
| विद्याष । उन्वव । विरे । | | |
| —द्वि व्य-त्रिनाम । | २ । १८ ॥ | दम्क मे जटि । |
| ४. उद्वान् । द्वि सुवनाम | २ । १९ ॥ | " |

१. तत्र द्वि शाकूर्णिनामगति क्र उन्वव । द्वि । सष्ट सु०
 म० १ । ७२१ । २ ॥ दुनात का—उन्वव, श्रेद अन्वव १ । १२१ । २ ॥

२. अदुभव । अन्वव सु० उन्वव २ । ७२१ । २ ॥

३. अनुभव । अन्वव सु० उन्वव २ । ७२१ । २ ॥

४. अन्वव सु० उन्वव २ । ७२१ । २ ॥ अन्वव सु० उन्वव २ । ७२१ । २ ॥

५. अन्वव सु० उन्वव २ । ७२१ । २ ॥ अन्वव सु० उन्वव २ । ७२१ । २ ॥

६. अन्वव सु० उन्वव २ । ७२१ । २ ॥ अन्वव सु० उन्वव २ । ७२१ । २ ॥

५. दाश्वान् ।^१ सविता ।^२ विवस्वति ।^३

विवस्वतः ।^४ इति यजमाननाम । ३।१७, १८ के नाथ यास्क में

यजमान-नाम नहीं ।

६. यम ।^५ इति यजनाम ।

३ । १७ ॥ यास्क में अपठित ।

इस स्वल्प संकलन से शाकपूणि के निघण्टु नमाग्राय के स्वल्प का यत् किञ्चित् ज्ञान हो जाता है । अब उस के निरुक्त के उपलब्ध वचनों का संग्रह प्रस्तुत किया जाता है ।

शाकपूणि का निरुक्त

निरुक्त और वृहद्देवता में उपलब्ध शाकपूणि के वचनों का संग्रह हम ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग में दे दिया था ।

इन से अन्यत्र उपलब्ध वचन नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

१. निघण्टु के संकलन के अन्तर्गत उद्धृत पहला वचन निरुक्त में हो, ऐसा अधिक संभव है ।

२. ऋग्वेद १ । ६६ । ५ पर अपने भाष्य के अन्तर्गत स्कन्द लिखता है—

शाकपूणिस्तु—

१. दाश्वान् इति यजमाननाम शाकपूणिना पठितम् । स्कन्द-महेश्वर, निरुक्त-वृत्ति समुच्चय १ । ४ ॥ स्कन्द ऋ० भा० १ । ११३ । १८ ॥

२. सविता । यजमाननामधेयमेतत् । शाकपूणिना पठितम् । स्कन्द, ऋ० भा० १ । ३४ । १० ॥ यजमाननामैतच्छाकपूणिना पठितम् । स्कन्द, ऋ० भा० १ । ६५ । ७ ॥

३. यजमाननामधेयमेतत् शाकपूणिना पठितम् । स्कन्द, ऋ० भा० १ । ४६ । १३ ॥

४. विवस्वतः यजमाननामैतच्छाकपूणिना पठितम् । स्कन्द, ऋ० भा० १ । ५३ । १ ॥

५. यम इति यजनाम शाकपूणिना पठितम् । स्कन्द, ऋ० भा० १ । ८३ । ५ ॥

य उग्रा अर्कमानुचु । [ऋ० १ । १९ । ४ ॥

अर्चिन्नत्र मरुत । [ऋ० १ । ५२ । १५ ॥]

इत्यादिषु मरुतां स्तोतृत्वदर्शनात् मरुतो ऽत्र गाव उच्यन्त इति मन्यते ।

३ स्कन्द ने अपने ऋग्भाष्य ६ । ६१ । २ में नदी पद विषयक एक लम्बा प्रकरण शाकपूणि से उद्धृत किया है । वह हमारे वै० वा० इ०, वेदों के भाष्यकार भाग पृ० १७५ पर देखे ।

४ निदाम सूत्र पृ० ७३ पर शाकपूणि का निम्नलिखित पाठ है—

तासु विउदन्त—ऐन्द्रश्च प्राजापत्य, सार्षपाश्य, चान्द्रमस्य

सौर्य इति शाकपूणि ।

५ आत्मानन्द अस्यवामीय सूक्त भाष्य मन्त्र २४ पर निम्नलिखित पाठ उद्धृत करता है—

चक्रम् । जगश्चक्रम् । भ्रमतीति या । चरतीति या । करोतीति या चक्रम् । इति शाकपूणि ।

६ देवस्वामी^१ सङ्घर्ष वाण्ड २ । २ । ७ के भाष्य में लिखता है—

स्मृतिश्च—प्रयाजानां देवताविषया अनेके । देवतामिष्ट्वा अग्नि रिति शाकपूणि ।

यास्क पर शाकपूणि का प्रभाव

जिस प्रकार पाणिनि पर आपिशलि का अत्यधिक प्रभाव है उसी प्रकार यास्क पर शाकपूणि का प्रभाव है । यास्क उदारधि है, पर भेद होने पर भी उस ने शाकपूणि के ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता ली है । दोनों के निघण्टुओं में थोड़ा सा ही अन्तर है । हा निर्बचन के क्षेत्र में यास्क की ऊहा बढी चढी है । यास्क वेदविद्या पर व्यापक अधिकार रखता है ।

यास्क का समय (विक्रम सं ३१०० वर्ष पूर्व)—भारतीय इतिहास में कौरव-शाण्डव युद्ध का काल सुनिश्चित है । वह है—विक्रम से ३०८१ वर्ष

१. मीमांसा भाष्यकार शबर का पूर्ववर्ती ।

पूर्व । इस पर पूरा विवेचन हमारे बृहद् इतिहास, भाग द्वितीय, पृ० २१२-२१६ पर किया गया है ।

उस काल में और उस से पहले भी वृष्णसंघ का एक मन्त्री अक्रूर जीवित था । उस अक्रूर-विषयक एक घटना का उल्लेख यास्क ने किया है । वह उल्लेख ऐसा है, मानो यास्क के काल में होने वाली घटना का प्रत्यक्ष दर्शन है । उस के विषय में यास्क लिखता है कि उस घटना को—इत्यभिभाषन्ते २।२ अर्थात् उस के काल में लोग व्यवहार में कहते हैं । आख्यात का वर्तमान काल का प्रयोग अति स्पष्ट है । अतः यास्क भारत युद्ध के काल के आस-पास ही था । यह एक निश्चित समय है । इस को न मानना ईसाई-गुट का पक्षपात है । अपनी मिथ्या कल्पनाएं करके प्रत्येक बात को उन में जोड़ने का यत्न करना एक बुद्धिहीन मार्ग है । इस पर अधिक आगे २।२ के भाष्य में देखना चाहिए ।

ईसाई-गुट के लेखकों द्वारा कल्पित-काल-आ० वै० कीथ (about 500 B. C.),¹ वटकृष्ण घोष (600 B. C.),² वेलवल्कर (7 th century B. C.),³ इन लोगों के इतिहास-ज्ञान का सारा कलेवर निराधार कल्पनाओं पर आश्रित है, अतः उस का विद्वानों की दृष्टि में कोई आदर नहीं ।

निरुक्त का अध्याय-परिमाण—इस विषय के अनेक प्रमाण हम ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग में, यास्क के प्रकरण में दिए हैं । वे तथा कुछ अन्य नए प्रमाण काल-क्रम के अनुसार आगे दिए जाते हैं—

१. आचार्य सायण अपने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात के अन्त में लिखता है—

(क) तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम् । तद्व्याख्यानं च-समाम्नायः समाज्ञातः, इत्यारभ्य—तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति-अनुभवति, इत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे ।

1. C. H. I., vol. I, p. 117.

2. The Vedic Age, p. 227.

3. Second, A. I. O. C., Calcutta, p. 13.

अर्थात्—बारह अध्याया म यास्क ने निरक्त रचा । बारहवें अध्याय का अन्त—अनुभवति, पर होता है ।

वर्तमान में यह १३ । १२ है ।

(ख) ताण्ड्य ब्रा० ४ । ८ । ३ के भाष्य में सायण लिखता है—

तथा च यास्क । शुक्रातिरेके पुमान् भवति । शोणितातिरेके स्त्री भवति । द्वाभ्यां समेन नपुं सको भवति ।

अर्थात्—निरक्त १४ । ६ का पाठ भी सायण अथवा उस क सहकारी भाष्यकार की दृष्टि में यास्क रचिन ही है ।

२ शङ्करानन्द अपने गीता भाष्य ८ । २७ पर निम्नलिखित उक्तियाँ और दक्षिणापन १४ । ९ को उद्धृत करता है ।

३ विज्ञानेश्वर (संवत् ११५० के समीप) याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र की श्रुतिमिताक्षरा विवृति ३ । ८३ पर लिखता है—

अतः स वायुना — निरुक्तस्यऽष्टादशेऽभिधानान् ।

अर्थात्—निरक्त १४ । ६ का पाठ विज्ञानेश्वर के अनुसार निरक्त व १८ वे (निष्पण्डु को छोड़ कर १३ वे) अध्याय व अन्तर्गत था ।

४ उवट (संवत् ११०० के समीप) यजुर्वेद भाष्य १८ । ७७ में—
होषु प्रत्यक्षमस्ति । निरुक्त १३ । १९ का पाठ उद्धृत करता है ।

५ सामविवरणकार माधव अष्टादशे लिख कर १४ वे अ० का पाठ उद्धृत करता है । पृ० ३७८ ३७६ ।

६ स्वन्द महेश्वर (संवत् ६५० के समीप) निरक्त १ । २० की टीका में निरक्त १३ । १३ उद्धृत करता है ।

स्वन्दमहेश्वर का निरक्तवृत्तिममुख्य निरक्त १३ । १३ तक है ।

७ उदगीय (संवत् ६५० के समीप) ऋग्भाष्य १० । ७१ । ५ में निरक्त १३ । १३ उद्धृत करता है ।

८. लगभग उसी काल के शांखायन श्रौतसूत्र ५।१।१ पर आनर्तीय भाष्य में—को न ऋषिर्भविष्यतीति । निरुक्त १३।१२ का पाठ उद्धृत है ।

९. दुर्गाचार्य (संवत् ५५० से पूर्व) अपनी निरुक्तवृत्ति में निरुक्त १४।२६ का पाठ भी उद्धृत करता है—उदाहरिष्यति च...इन स्थलों के पूरे पते वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग में दिए गए हैं ।

१०. कुमारिल भट्ट (विक्रम की चौथी शती से पूर्व) अपने तन्त्रवार्तिक पृ० २०७ (पूना सं०) पर—यदेव किं च...तद्भवतीति । निरुक्त १३।१२ उद्धृत करता है ।

११. चररुचि (संवत् ५० के समीप) निरुक्त १३।१३ को उद्धृत करता है ।

१२. बृहद्देवता में बहुधा निरुक्त के वचन याथातथ्य रूप से ग्रहण कर लिए जाते हैं । निरुक्त १३।१२ में पाठ है—

न ह्ये पु प्रत्यक्षमस्त्यनृपेरतपसो वा ।

इस का ग्रहण शानक ने बृहद्देवता ८।१२९ में किया है—

न प्रत्यक्षमनृपेरस्ति मन्त्रे ।

सिद्धान्त—अतः निश्चित है कि निरुक्त के परिशिष्ट २००० वर्ष से बहुत अधिक पुराने हैं । बहुत संभव है कि दोनों परिशिष्ट यास्क प्रोक्त हों । पर उन का स्वरूप कुछ-कुछ बदला प्रतीत होता है ।

निरुक्त के दाक्षिणात्य कोष—निरुक्त के सम्पादकों ने दाक्षिणात्य कोषों की सहायता अपने सम्पादनों में नहीं ली । यह सहायता लेनी अब आवश्यक दिखाई देती है । मद्रास के अड्यार पुस्तकालय में निरुक्त के अनेक कोष हैं । उन में परिशिष्टों के अधिक युक्त रूप से सम्पादनार्थ पर्याप्त सामग्री है । अड्यार के वैदिक हस्तलेखों की सूची, भाग १ के संख्या ८७९ के कोष के विषय में लिखा है—

The recension of the परिशिष्ट here is widely different from the printed one (p 293)

ऐसा ही वहाँ का सख्या ८८१ का हस्तलेख है ।

निरुक्त के निर्वचन—निर्वचन और व्युत्पत्ति में महदन्तर है । निर्वचन पद का स्वीकरण आगे २ । १ के भाष्य में कर दिया है । निर्वचन का व्युत्पत्ति से अत्यल्प सम्बन्ध है । आर्य विद्वान् शब्दार्थ सम्बन्ध को अनादि मानते हैं । प्रति पृष्टि में ये मूल शब्द ही अन्तरिक्ष आदि में ध्वनि होत हैं । अतः मात्र नित्य माने जाते हैं । वाचा विरूप नित्यया । श्रु० ८।७।१६॥ उन का अर्थ आदि सृष्टि से चला आ रहा है । उसे ही ध्यान में रख कर नैस्तो ने बहुविध निर्वचन दर्शाए हैं । अतः दुर्ग ने लिखा है—

किमुत निरुक्ते यदर्थप्रधानमेव । २ । २ ॥

इस विषय में प्रपञ्चहृदयकार का भी यही मत है । यथा—

तान्यवयवप्रत्ययवयवविभागपूर्वकं स्वरवर्णमात्रादिभेदेन अर्थनिर्वचन
नाय निर्वचनानि । (पृ० ९२)

प्रपञ्चहृदय का कर्ता—त्रिवन्द्रम स प्रकाशित प्रपञ्चहृदय में उम के कर्ता का नाम मुद्रित नहीं हुआ । पर अन्त साध्य स निश्चय होता है कि प्रपञ्चहृदय का कर्ता शङ्कराचार्य का कोई शिष्य था । कारण, प्रपञ्चहृदय में—

१ तदुक्तम्—मध्यस्थाया सुपुत्राया । (पृ० १४)

२ तदुक्त भगवता—ज्ञातास्तीति यद् । (पृ० १६)

३ तदुक्त भगवता—मूलाधारात् प्रथममुद्रित । (पृ० १७)

४ तत्कारणमपि भगवता प्रदर्शितम्—उच्चैरुन्मार्गग वायु ।
(पृ० २६)

५ ब्रह्मकाण्डस्य (=वदान्तमूत्रस्य) भगवताद् ब्रह्मदत्त मास्करा
दिभिर्मतभेदनापि कृतम् । (पृ० ३९)

पूर्वद्रष्टृत्वात् च स्थाना में मे २ ४ संख्यान्तर्गत तीन स्थानों में, भगवता पद से शङ्कराचार्य का पहला निर्विवाद है । कारण सख्या १ ४ तक के सारे वचन

शङ्कराचार्य कृत प्रपञ्चसार में मिलते हैं। देखिए—(१) १।८९, ९०, ९१ ॥ (२) २।४५ (३) ॥ २।४३, ४४ ॥^१ (४) ३।६० ॥

प्रपञ्चसार शङ्करकृत है, इस में सन्देह नहीं। प्रपञ्चसार का विवरण पद्मपादाचार्य कृत है। पूर्वोद्धृत पांचवें प्रमाण में भगवत्पाद विजेषण से शङ्कर का ही ग्रहण होता है। अतः यह परिणाम सत्य के अति समीप है कि प्रपञ्चहृदय में भगवता पद का प्रयोग शङ्कराचार्य के लिए ही है। प्रपञ्चहृदय पद्मपाद^२अथवा उस के किसी सतीर्थ की रचना है।

अब प्रस्तुत विषय पर आते हैं।

ईसाई-गुट के लेखक—इम निर्वचन-विद्या को न जान कर राय, मैक्समूलर, ओल्डन वर्ग, मैकडानल, राजवाड़े और सिद्धेश्वर वर्मा आदि ने निरुक्त पर बहुधा उपहास किया है। राजवाड़े ने लिखा है—These unnatural derivations of आदित्य are due to the naturalistic tendency of Yāska and the Niruktas (p. xxv)

2. The naturalistic interpretation of these things is unnatural, if not ridiculous. (p. xxvi)

3. I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd and yet it has held its ground to this day. (p. xi, xli)

सिद्धेश्वर वर्मा जी के अनुसार निरुक्त में सारे १२६८ निर्वचन हैं। उन में से—

८४६	primitiv=वर्वर
२२४	ठीक
२२५	obscure=अस्पष्ट

१२६८

१. मूलाधारात्, श्लोक का प्रथम चरणार्ध साम्बन्धाशिका की त्रिवन्द्रम से प्रकाशित अशातकर्तृ का टीका पृ० ६ पर भी उद्धृत है।

ईसाई गुट की महान् भूल—अंग्रेजी भाषा में निर्वचन पद के अनुवाद के लिए कोई शब्द ही नहीं है। उस का derivation शब्द व्युत्पत्ति का किञ्चिन् भाव प्रकट करना है। अतः निर्वचन को derivation समझना महान् अनान है। इस भाष्य में हमने व्युत्पत्ति और निर्वचन के भाव को स्पष्ट कर दिया है। निर्वचन विद्या केवल भारत की देन है। भारतीय ऋषि ही वाक् की उत्पत्ति को समझते थे। अतः वे ही वाक् के तत्सद् अर्थ का रूप समझा सके। विद्यात्मन की मानने वाले तो अभी 'व' 'ख' भी समझ नहीं सके।

राजवाड़े और वर्मा ईसाई गुट के अनुयायी—अन राजवाड़े और वर्मा जी ने संस्कृत Wörterbuch को प्रमाण मान कर जो अघन्य लेख लिखे हैं, वे उन की शोभा नहीं बढ़ाने। उन्हें पहले गोल्डस्टुकर और हाग क तर्कों का उत्तर लिखना चाहिए था।

मार्टिन हाग और चार्टबुख—गोल्डस्टुकर की योग्यता और 'संस्कृत चार्टबुख कोश' की भरी अगुदियों के विषय में हाग का विस्तृत लेख ऐतरेय ब्राह्मण भाग प्रथम आमुख सन् १८६३, पृ० ४ ५ पर देखने योग्य है। हम आगे उस का घाटा सा अंग उद्धृत करते हैं—

"The explanations of these (sacrificial) terms there (in wörterbuch) given are nothing but guesses these defects have been already repeatedly pointed out by Prof Theodor Goldstucker, one of the most accurate Sanskrit scholars in Europe"

ऐसे पक्षपात और अशुद्धि पूर्ण कोश के आधार पर वर्मा जी ने घोर अज्ञान में यास्क के विरुद्ध बहुत कुछ व्यर्थ लिखा है।

यास्क के निर्वचन उस के अति सूक्ष्म ज्ञान का निदर्शन है। उन निर्वचनों में वर्णों के वैज्ञानिक स्वरूप का बटुषा परिचय मिलता है।

निदत्त का आधिदैविक पक्ष—आत्मानन्द ने अपने अस्पृश्यामीय सूक्त क भाष्य के अन्त में ठीक लिखा है—

अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम् । निरुक्तम् अधिदैवतविषयम् ।

अर्थात्—निरुक्त में सम्पूर्ण मन्त्रों का भाष्य देवता-परक है ।

यह एक अत्यन्त आवश्यक पक्ष है, और इस को त्याग कर वेदार्थ का यथार्थ महत्त्व समझ ही नहीं आ सकता ।

अधिदैवत पक्ष वैज्ञानिक—सारे देव प्रजापति की सन्तान हैं । उनकी उत्पत्ति भौतिक नियमों के अनुसार हुई है । अतः संसार की भौतिक-क्रियाओं का मूल देव हैं । देवों को समझ कर सारा भूत-विज्ञान बुद्धिगम्य होता है । उस से बढ़ कर विज्ञान संसार में न है, न होगा । मानव बुद्धि ह्यासोन्मुख है, यही वैज्ञानिक तथ्य है ।

निरुक्तवार्तिक—निरुक्त वार्तिक ग्रन्थ का पता हम ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग, अध्याय आठ में विक्रम संवत् १९८८ में दे दिया था । उस की सामग्री ले कर श्री विष्णुपद भट्टाचार्य, एम, ए. ने सन् १९५०, जून मास के इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्लि, भाग २६, संख्या २, पृ० १५९-१६५ पर तद्विषयक एक लेख भी लिखा था । उन्हीं दिनों मद्रास विश्वविद्यालय के महोपाध्याय डा० कूहनन् राज ने मुझे पत्र लिखा था कि उन्हींने निरुक्त वार्तिक ग्रन्थ का एक हस्तलेख प्राप्त कर लिया है । पर वह ग्रन्थ आज तक छपा नहीं और डा० राज का परलोकगमन हो गया है ।

निरुक्त पर वृत्तियां—निरुक्त ग्रन्थ स्वयं एक भाष्य है । उस पर समय समय अनेक वृत्तियां लिखी गईं । स्कन्द महेश्वर ने अपनी टीका में उन सब का समुच्चय कर दिया है । स्कन्द के लेख से पता लगता है कि उस के पास न्यून से न्यून निरुक्त पर चार वृत्तियां थीं । निरुक्तभाष्य की उपलब्ध वृत्तियों के विषय में हम ने वेदों के भाष्यकार ग्रन्थ के आठवें अध्याय में पर्याप्त लिख दिया है ।

निरुक्त टीकाकारों का काल और प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'—शर्मा जी लिखते हैं—

स्कन्दस्वामी (५०० ई०)—निरुक्त की उपलब्ध व्याख्याओं में इन की व्याख्या सब से प्राचीन है । (भूमिका, पृ० ५६ ।) दुर्गाचार्य (१३००-१३५०, पृ० ५९) महेश्वर (१५०० ई० । पृ० ६० ।)

यह लेख बनाना है कि शर्मा जी ने स्कन्द-महेश्वर की वृत्ति कभी देखी नहीं। स्कन्द का निम्न हरिस्वामी बनाना काल कवि ३७८० लिखना है। वह अपने ग्रन्थ में दुर्ग का स्मरण भगवद् दुर्गा त्रिव कर करता है। फिर दुर्ग, स्कन्द से उत्तर काल का कैसे हुआ। ऐसी स्थिति में शर्मा जी का लेख उन के स्वाध्याय में असम्य वृत्ति का परिचय देता है।

मनोमोहन घोष की भूल—यही मयङ्कर भूल मनोमोहन घोष ने दुर्ग के काल विषय में सन् १९३८ में पाण्डित्यविज्ञान की भूमिका में की थी। इस का निराकरण हम ने भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० २९८-३०२ के लेख में किया है। उस के पश्चात् श्री शर्मा जी ऐसा लिखे, यह गोमाहर्षि नहीं। भारतीय अध्यापक के लिए यह तथ्य का स्थान है। स्वाध्याय का विज्ञान होना ही प्रगल्भ माना गया है।

दुर्ग का महत्त्व—निरक्त का आविर्भाव पञ्च समझने के लिए दुर्गा-चर्म की महती सहायता है। उन के बिना यह पञ्च निरोहित हो जाता। उस का एक-एक सकेत बूमूल्य है। इन्द्र क्या है, इस विषय में उसी ने प्राचीनतम मंत्र सुरसिद्ध रखा है। वह लिखना है—

वैद्युतेन ज्योतिषा धारणावेष्टितेन इन्द्राख्येन । २ । १६ ॥

इस पंक्ति में दिए गए संकेतमात्र से मुझे नारे देवताओं का भौतिक रूपावतः सतः स्पष्ट हुआ।

दुर्ग ने ही देवर्षि और सन्तु के प्रकरण का मूलार्थ खोजा है।

शास्त्र प्रणयों का भक्तिवाद—वेदों का पूर्ण वैज्ञानिक अर्थ समझने के लिए शास्त्र प्रणयों का मनन स्वाध्याय अनिवार्य है। यास्क आदि विद्वान् भी इन के षटों की उद्घृत कर के—इति विज्ञायते, कहते हैं। अर्थात् यह विज्ञान का ज्ञान है। इसी मूलम भाव से यास्क ने लिखा है— बहुभक्तिवादीति हि प्राक्षरानि भवन्ति । ७ । १७ ॥ अर्थात्—अत्यन्त विभक्त कर के शास्त्र व्याख्यान करते हैं। भक्तिवाद का यह गम्भीर अर्थ साक्ष्य-प्रमाणित है। साधारण अर्थ है 'उपचार से कहते' हैं।

निरुक्त के वर्तमान उलथाकार—१. पं० सीताराम शास्त्री । संस्कृत के योग्य विद्वान् थे । उन्होंने दुर्गवृत्ति का अनुवाद अच्छे ढंग से किया है । वास्तविक वेदविद्या में उन की गति नहीं थी ।

२. पं० राजाराम—इन का सन् १९१५-१९४७ तक हमारे साथ घनिष्ठ सहयोग रहा है । दुर्गवृत्ति का संक्षिप्त और सुन्दर अर्थ इन्होंने किया है । शब्दार्थ करने में इन की विशेष गति थी । वेद के अगौरव्येय पक्ष पर इन का विश्वास था, पर उस को वैज्ञानिक ढंग पर प्रतिपादन नहीं कर पाए ।

३. रामप्रपन्न शास्त्री—इन्होंने निरुक्त पर एक आंशिक टीका सन् १९१६ में संस्कृत में प्रकाशित की थी । इन्होंने ही स्कन्द टीका के हस्तलेख के अस्तित्व का पता मुझे सर्वप्रथम दिया था ।

४. डा० लक्ष्मणसरूप—मेरे सहपाठी । इन के आक्सफोर्ड वास के दिनों में ही पं० राजारामजी का अनुवाद मैंने इन्हें भेज दिया था । उस से इन्होंने पर्याप्त सहायता ली थी । इन का निरुक्त का सम्पादन बहुत श्रेष्ठ है । पर अब उस में भी पर्याप्त उन्नति की जा सकती है । निरुक्त के दाक्षिणात्य कोषों का उपयोग इस विषय में सहायक होगा । इन के अंग्रेजी अनुवाद में पर्याप्त भूलें हैं ।

५. वि० काशीनाथ राजवाड़े—(सन् १९४०) का आंशिक अंग्रेजी अनुवाद । राजवाड़े लौकिक व्यावहारिकी संस्कृत भाषा के अच्छे ज्ञाता थे । वे परिश्रमशील भी बहुत थे । पर वेद-ज्ञान में उन की गति शून्य के तुल्य थी । ईसाई-गुट के पूर्ण उच्छिष्टभोजी होने के कारण, अनेक अच्छे सुझावों के रहते भी उन का निरुक्त का अर्थ और व्याख्यान अति स्वलित और दोष-पूर्ण है ।

६. प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषिः' (सन् १९६१)—इन का राष्ट्रभाषा अनुवाद राजवाड़े का अधिक आश्रय लिए हुए है । इन्होंने सप्तमाध्याय विषयक भूमिका पृ० २६, २७ पर लिखा है—

परम्परा और भाषा-विद्वान् दोनों के ही घोर विरोधी स्वामी
[दयानन्द] जी । इति

स्वामी दयानन्द सरस्वती सदृश परम्परा के अपार परिणत और भक्त को परम्परा का 'घोर विरोधी' लिखना प्रमाण विरुद्ध बात करना है। और स्वामी दयानन्द सरस्वती भाषा-विज्ञान के भी सूक्ष्म ज्ञाता थे।' हा वे ईसाई गुट द्वारा निर्मित मिथ्या 'भाषाविज्ञान' के अवश्य घोर विरोधी थे। उस मिथ्या 'भाषा-विज्ञान' को मानने वाले पहले मद्रचित 'भाषा का इतिहास' का आमूलचूल खण्डन लिखें, फिर वे एतद्विषयक कोई बात करें।

इन के अतिरिक्त और भी एक दो आंशिक अथवा सकल अनुवाद हुए हैं। पर वे कुछ गिनती नहीं रखने।

निरुक्त और बृहद्देवता—निरुक्त के समझने में बृहद्देवता की सहायता अनुपमा है। निरुक्ताध्येता को इस का सतत पाठ बहुत लाभ देता है। निरुक्त और बृहद्देवता में प्राचीन वेदविषयक मनों का सुन्दर सकलन है। बृहद्देवता के ज्ञान के बिना निरुक्त और वेदार्थ में हाथ नहीं लगाना चाहिए। आधिदैविक पक्ष का ज्ञान बृहद्देवता के बिना नहीं हो सकता। राजेन्द्रलाल मिश्र के संस्करण में मैकडानल का बृहद्देवता का संस्करण बहुत अधिक अच्छा है। पर उस में भी अनुद्धियों का बाहुत्य है। अतः एक नया संस्करण बहुत अपेक्षित है।

व्याकरण—व्याकरण के बिना भी निरुक्त का पक्ष समझ नहीं आ सकता। हम ने भाष्य में व्याकरण पर अधिक बल नहीं दिया। पर पाठक को यह ध्यान रखना चाहिए कि निरुक्त समझने के लिए वह पाणिनि तक की शक्ति रखे। पाणिनि के पूर्व के व्याकरणों की शक्ति की तुलना

यद् दुरुपयोग और पदानुक्रम कोश

इस कोश में वेद-पदों को केवल पाणिनि की प्रक्रिया की अपूर्ण सहायता से खोजने का यत्न किया है। तथा अन्य प्राक् पाणिनीय प्रक्रियाओं

१. देखो, परिणत मुद्रित मीमांसक का लेख—वेदवाणी पत्रिका (वाराणसी) का वेदाङ्क, नवम्बर १९९०, पृष्ठ ५०—।

का ध्यान न रखने के कारण यह परिश्रम से सज्जित हुआ कोश भी कई स्थानों पर दूषित दिशा में ही जाता है ।

अन्वयार्थ—मैंने मन्त्रों का अन्वयार्थ नहीं दिया । मेरा यत्न रहा है कि मन्त्र, साक्षात् मन्त्रशैली और पदक्रम से ही समझने चाहिए । अन्वयार्थ अतिस्थूलबुद्धि लोगों के लिए होता है । उस में मूल का आनन्द नहीं रहता । इतना ही नहीं, अनेक स्थानों पर पादादि में निर्दिष्ट उदात्त आख्यातों का मुख्यार्थ गौण अर्थ में परिणत हो जाता है । जब जनसाधारण पद-क्रम के अनुसार मन्त्रार्थ समझेंगे, तो उनकी बुद्धि में वेद-ज्ञान सजीव हो जाएगा । इस लिए पाठक को इस प्रकार का अभ्यान करना चाहिए । जहां पद-क्रम के अर्थ में थोड़ी दुरुहता आई है, वहां मैंने चतुरस्र कोष्ठ में शब्द जोड़ कर अर्थ स्पष्ट किया है । यास्क स्वयं बहुधा इसी पद्धति से अर्थ समझाता है ।

भाष्य, संक्षिप्त—यह भाष्य अतिसंक्षिप्त है । मैंने आधिदैविक अथवा आधिभौतिक पक्ष का मार्ग दिखाया है । इस से भविष्य में वेदों के परम वैज्ञानिक अर्थ खुलेंगे । यास्क और अन्य ऋषियों की कीर्ति अधिकाधिक विस्तृत होगी । आर्ष विज्ञान की निर्मलता चित्रित रूप में सामने आएगी ।

कृतज्ञता-प्रकाश—यह भाष्य श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हो रहा है । इस ट्रस्ट के प्रमुख अधिकारी, आर्ष-व्याकरण के वर्तमान काल के उज्ज्वल स्तम्भ श्री पं० ब्रह्मदत्तजी 'जिज्ञासु, परलोकगत श्री वा० हंसराजजी कपूर और श्री वा० प्यारेलालजी, धन्यवाद विशेष के पात्र हैं । उन्हीं के निरन्तर उत्साह-प्रदान से मैं इस महासमुद्र को पार कर पाया हूँ । 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' नामक अपूर्व ग्रन्थ के लेखक, और बहुश्रुत विद्वान् श्री परिणत युधिष्ठिर मीमांसक जी ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में बहुत सहायता प्रदान की है । उन के बहुमूल्य सुझाव अनेक प्रसङ्गों में समाविष्ट किए गए हैं । उन्होंने इस ग्रन्थ का आद्यन्त प्रूफ-संशोधन किया है । वेदभक्त, तथा शैव और शाक्त आदि शास्त्र और अन्य आगमों के विशेषज्ञ श्री पूज्य नारायण स्वाामी जी भी समय-समय पर इस भाष्य के शीघ्र प्रकाशन के लिए विशेष उत्साह देते रहे हैं । इन सब महाशुभावों के प्रति मेरी हार्दिक कृतज्ञता है ।

आज जब व्यापमूर्ति श्री सत्यभद्रादुर शास्त्री जी को भारत के प्रधान मन्त्री पद पर आसीन हुए लगभग तीन मास हो चुके हैं, और वे इस देश में अति प्रबुद्ध नीचवृत्ति टृष्ण व्यापार, दसुकर्म, अधूनीलभाषण, अनृतभाषण, स्वार्थतन्त्रता, नास्तिगता, छत्र, बण्ड, और विदेशी भाषा प्रेम आदि अनेक दुर्गुणों में पवित्र भारत भूमि को मुक्त कराने में कृतमद्बुद्ध हो रहे हैं, उस समय यह घन्य प्रकाशित हो रहा है।

ईश्वर कृपा में आर्ष विद्या सर्वत्र प्रनाम्नि हो।

दयानन्द सरस्वती अतुलन्यायन आश्रम
 १, २० पञ्जाबी बाग
 दिल्ली—३८
 मिनम्बर १ सन् १९६४

भगवद्भक्त



श्रीम्
अथ निरुक्तम्

सभाष्यम्

प्रथमोऽध्यायः

सामान्नायः सामान्नातः । स व्याख्यातव्यः । तमिमं सामान्नायं
निघण्टव इत्याचक्षते ।

निघण्टवः कस्मात् । निगमा इमे भवन्ति । छन्दोभ्यः समाहृत्य
समाहृत्य सामान्नाताः । ते निगन्तव एव सन्तो निगमनास्त्रिण्टव
उच्यन्त इत्यापमन्यवः ।

अपि वाहननादेव स्युः । समाहृता भवन्ति ।

यद्वा समाहृता भवन्ति ।

अर्थ—सामान्नाय संगृहीत कर लिया है । वह व्याख्या-योग्य है । उस
मूल और इस सूत्र-संग्रह रूप को निघण्टवः ऐसा [आचार्य] कहते हैं ।

निघण्टवः किस कारण से । निगम-मात्र ये होते हैं । छन्द अर्थात्
मन्त्रों से एकत्र कर के एकत्र कर के संगृहीत किए गए हैं । वे मन्त्रार्थज्ञान
कराने वाले होते हुए ही निगमन [ज्ञान कराने के कारण] से निघण्टवः
कहे जाते हैं । ऐसा अपमन्यव [आचार्य कहता है] ।

तथा च आ-हनन से ही [निघण्टवः] हों । एक स्थान पर एकत्र
कर के (हनन) पढ़े गए हैं ।

तो और भी सामाहरण से समाहृत=एकत्र हुए हैं ।

भाष्य—आम्नाय पद से वेद अथवा किसी भी विषय का मूल शास्त्र अभिप्रेत
होता है । कात्यायन अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के शाकलक आम्नाय
का स्मरण करता है । स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों का मूल उपदेश मानवधर्म भी
आम्नाय है ।^१ आयुर्वेद का मूल उपदेश भी आम्नाय कहाता था ।^१ यहां-सम्-
आम्नाय से प्रजापति कश्यप के मूल निघण्टवः शास्त्र-संग्रह का कथन है ।

१. देखो, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, द्वि० सं०, पृ० १५४-१५६ ।

समाज्ञाय का अर्थ श्लेष-संग्रह भी है। इसी अभिप्राय से निरुक्त ७।१३ में यास्क पशुसमाज्ञाय पाठ पढ़ता है।

प्रतीत होता है प्रदेक निरुक्त आचार्य पुरातन मूल निघण्टव उपदेश स गवादि स देवपन्यत का स्वतन्त्र संग्रह करता था। पुन वह उस पर अपना भाष्य रचना था। शाकण्यि न ऐसा ही किया।^१ तावपि एव समामनन्ति। ७।१३ म यास्क का यह स्पष्ट निर्देश है। यास्क न भी उही पूर्वोक्त्यों का तसमामने लिख कर अनुकरण किया।

निघण्टव्य—अति प्राचीन काल में इस उपदेश के लिए यह बहुवचनात् पद प्रयुक्त होता था।

ह्युद—ह्यदस-ह्यन्द पद का अर्थ मात्रमात्र है। कवल ऋग्वे नही।

तीन निरुचन—निर्वचन व्युपत्ति नहीं है। इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। दोनों विभिन्न शब्द स्वयं अथ पार्थक्य का संकेत करते हैं। वे किसी प्रकार भी पर्यायवाची नहीं हैं। व्युपत्ति व्याकरण का विषय है और निवचन विषय है निरुक्त का। व्याकरण और निरुक्त इन दोनों शास्त्रों का पार्थक्य भी व्युपत्ति और निवचन में भद् का संकेत करता है। निवचन म अर्थ अथवा पदार्थ का अर्थ स्वरूप तथा उस के सूक्ष्म रचन का विज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। व्युपत्ति में इस की विरोध अथवा नहीं।

निवचन म अर्थ प्राधान्य—निर्वचन अर्थ को लेकर क्यों चलता है। अर्थ अनवच्छिन्न परम्परा के अनुसार अथ और शब्द का अनादि अद्वैत सम्बन्ध है। पार्थक्य अथवा अर्थ के आदि सृष्टि में बनते समय जो ध्वनि उत्पन्न हुई वही शब्द हुआ। अत उस अथ अथवा पार्थक्य के साथ उस शब्द का तिल सम्बन्ध है।

शब्दार्थ विषयक प्राचीन मत—महाराजसमुद्रगुप्त के धर्मोपदेश हरिषेण काशिंगस ने रघुवरा के आशिम श्लोक में इसी अभिप्राय से—वागथावित्र सपृक्तो जिज्ञाह। वाक और अर्थ के सम्बन्ध को बतान के लिए सपृक्तो पद का प्रयोग काशिंगस के सूक्ष्म शास्त्र ज्ञान का द्योतक है। हरिषेण से बहुत पूर्व व्याकरण कर्तिककार कात्यायन मुनि ने भी—सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे पाठ जिज्ञा था। मानवमात्र की मूल भाषा के शीत अर्थान् मन्त्रों में अर्थ के साथ ही शब्द प्रकट हुआ।

श्रौतपत्तिक सम्बन्ध—शब्दार्थ का सम्बन्ध उत्पत्ति समय में होने वाले सृजन-प्रकार से है। यह जैमिनि ने दर्शाया है। यह सम्बन्ध स्वाभाविक है।

अति प्राचीन मानवधर्मशास्त्र में भी यही मत है—वाच्यथां नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ॥ ४ । २५६ ॥

यूरोपीय मत का द्रोप—इस विषय में वर्तमान ईसाई-यहूदी कल्पनाएं निराधार और असिद्ध हैं। उन को यह ज्ञान भी नहीं कि शब्द के साथ अर्थ चमेरा नहीं गया। इनका मूल-देवी-वाक् में स्वाभाविक सम्बन्ध है।

तीन प्रकार के निघण्टु—इसी अर्थ के प्राधान्य की दृष्टि से यास्क ने 'निघण्टवः' पद के तीन निर्वचन दर्शाए हैं। वस्तुतः इन तीन निर्वचनों से तीन प्रकार के पुरातन निघण्टुओं का परिचय मिलता है। वे तीन प्रकार निम्नलिखित थे—

प्रथम प्रकार—इस प्रकार के निघण्टुओं में केवल निगमों का संग्रह था। मन्त्रों के भागों को निगम कहते हैं। इन निगमों को यास्क अपने निरुक्त के द्वितीय अथवा नैगम काण्ड में प्रायः उद्धृत करता है। इन निगमों में वेदार्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है। वेदार्थ में इन से चढ़ के और कोई प्रमाण नहीं। यास्कीय निघण्टु ३ । १३ में ऐसे निगम पढ़े गए हैं। इस निर्वचन में उपमन्यु के पुत्र की सम्मति आदरार्थ दी गई है। निर्वचन में नि-पूर्वक गम् धातु का निर्देश है।

द्वितीय प्रकार—आ-हन्, अर्थात् चारों ओर से एकत्र कर के पद पढ़े गए हैं। दुर्गाचार्य ने हन् धातु के इस अर्थ के प्रयोग में—ब्राह्मण इदमाहृतम्, प्रयोग पढ़ा है। अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ में ऐसा पढ़ा गया है। यह अति प्राचीन प्रयोग है। यह निर्वचन नैघण्टुक काण्ड सटश निघण्टुओं का निर्देश करता है। इन निघण्टुओं में एकार्थ वाले अनेक शब्द एकत्र पढ़े गए थे। यहां एकत्र पद का भाव ध्यानविशेष योग्य है। गौः, ग्मा, ज्मा आदि पद एकत्र पढ़े गए हैं। इन का निघण्टु चतुर्थाध्याय के पदों से भेद है। वहां मन्त्रों से पद निकाल लिए गए हैं। अर्थैक्य की दृष्टि से नहीं। इस निर्वचन में हन् धातु का निर्देश है।

तृतीय प्रकार—इस प्रकारान्तर्गत निघण्टुओं में अर्थ दर्शाने के लिए मन्त्रों से कठिन पद खींच लिए गए हैं। इस निर्वचन में ह धातु का निर्देश लगाया है।

यास्क की सूत्रमेक्षिका—महामुनि कृष्य द्वैपायन व्यास ने शम्भुपर्व में यास्क को उदारधी विशेषण से अलङ्कृत किया है। निस्मन्दैह यास्क इस पद के योग्य था। देखिए उस ने प्रथमावसर पर ही निर्वचन विद्या के वैभव का एक अनुपम दर्शन करा दिया है। उस महाद् आचार्य को हम शतशः नमस्कार करते हैं।

तद्याप्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति । तत्रैतज्जामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति । भावप्रधान माख्यातम् । सत्यप्रधानानि नामानि । तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः । पूर्वापरिभूत भावमाख्यातेनाचष्टे । व्रजति पवतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गं पर्वन्तम् । मूर्त्तं सत्त्वभूत सत्त्वनामभिर्ब्रज्या पक्तिरिति ।

अद् इति सत्त्वनामुपदेशः । गौरश्च पुंस्त्वो हस्तीति । भवतीति भावस्य । आस्ते शेते व्रजति तिष्ठतीति ।

इन्द्रियनित्यं वचनमोदुम्यरायण ॥ १ ॥

अर्थ—तो जो वे [वेद और लोक में] चार पदमूह [अर्थात्] नाम और आख्यात, तथा उपसर्ग और निपात हैं, वे वे [निघण्टव] होने हैं। वहा यह नाम और आख्यात इन दोनों का लक्षण [पुरातन आचार्य] बताते हैं। भाव प्रधान क्रिया की प्रधानता-वाला आख्यात [होता है]। मत्त्व (=द्रव्य) प्रधान नाम [होते हैं]। तो जहा [=जिम वाक्य में] दोनों [नाम और आख्यात विद्यमान हो वहा] भाव प्रधान होते हैं। आरम्भ से अन्त तक की क्रिया को [बोलने वाला] आख्यात से कहना है। [यथा—] व्रजति=जाता है। पवति=पकाना है। यह आरम्भ से अन्त तक [क्रिया का प्रकाशन है]। मूर्त्तिमान् द्रव्य रूप रूप भाव [=क्रिया] को द्रव्य के नामा से [कहता है]। [यथा—] ब्रज्या=गमन कर्म। पक्ति=पवन कर्म। इति ।

अद् [=वह, सर्वनाम] यह पणायों का=द्रव्या का [सामान्य] उपदेश है। गौ अश्च पुंस्त्वो हस्ती यह [विगप उपदेश है]।

भवति=होता है, यह क्रिया का [सामान्य उपदेश है]। आस्ते=नेटना है, गने=नेटना है, व्रजति=जाता है तिष्ठति=ठहरता है, [यह क्रिया का विशेष रूप में उदाहरण है]।

इन्द्रिय=वाग्निन्द्रिय अथवा श्रोत्रेन्द्रिय में नित्य=नियत=ठहरा हुआ=स्थित वचन होता है, यह औदुम्बरायण [मानता है] ।

भाष्य—वेद और लोक में अथवा दैवी वाक् और मानुषी वाक् में अथवा मन्त्रों और व्यावहारिकी भाषा में पदसमूह चार ही हैं । यह प्राचीनतम मत है । पाणिनि आदि मुनियों ने संक्षेप की दृष्टि से सुप् और तिङ् अन्त दो ही पद समूह मान लिए हैं । उन्होंने उपसर्ग और निपातों में लोप आदि का भाव मान कर उन्हें भी सुबन्त के अन्तर्गत मान लिया है । यास्क ने नामाख्यातयोर्लक्षणं लिख कर भावप्रधान आख्यात का लक्षण पहले और नाम का लक्षण तदनु क्यों कहा । इस का कारण स्पष्ट है । नामाख्यातयोः समास में नाम पद लघु अथवा अल्पात्तर होने से पहले जुड़ा है । पर भाव के अस्तित्व का महत्त्व-विशेष है, अतः यास्क ने भाव का लक्षण आदि पहले कहा है । यास्कीय निघण्टु में उपसर्गों का स्पष्ट संकलन नहीं है । ये उपसर्गः उनके निरुक्त का विषय बने हैं । संभवतः पुरातन निघण्टुओं में उपसर्ग भी संगृहीत थे ।

अदः तथा भवति--इन पदों का जो भाषान्तर हमने दिया है, वह आचार्य दुर्ग को भी अभिमत था । स्कन्द-महेश्वर इसे अप-व्याख्यान कहते हैं । स्कन्द का अर्थ है—अदः यह पदार्थ मात्र का वाची है, और गौः, अश्वः किसी किसी पदार्थ के । तथा इसी प्रकार भवति यह सब क्रियाओं का उपदेश है, और आस्ते आदि किसी एक क्रिया के लिए हैं ।

हमारी दृष्टि में दोनों व्याख्यानों में बहुत थोड़ा अन्तर है ।

व्रजति और व्रज्या का सूक्ष्म भेद है । व्रजति केवल क्रिया है । और व्रज्या क्रिया से उत्पन्न होकर द्रव्यवत् हो जाती है ।

इन्द्रियनित्यम्— इस का अर्थ है, इन्द्रिय में नियत अर्थात् ठहरा हुआ । इन्द्रिय से तात्पर्य मानव इन्द्रिय तथा दिव्य-इन्द्रिय भी है । जब मानव उत्पन्न नहीं हुआ था, तब भी आकाश और शब्द विद्यमान थे । यह शब्द दिव्य-इन्द्रिय अर्थात् दिव्य श्रोत्र में स्थित है । इस की अभिव्यक्ति दैवी वाक् में हुई । नित्य-पदान्त ऐसा समास रामायण, महाभारत, श्रौतसूत्र और धर्मसूत्र आदिकों में प्रायः मिलता है । उत्तरकालीन ग्रन्थों में यह प्रयोग उत्तरोत्तर प्रायः लुप्त होता

पूर्वाह्न—यास्क ने पदचतुष्टय का मिद्धान्त वर्णित कर दिया। अब वह इन्द्रियनित्यम् से एक अन्य मिद्धान्त का कथन करता है। उस का अभिप्राय है कि औदुम्बरायण के मिद्धान्त को मानने वाला कोई पुरान पदचतुष्टय का विभाग, और इस पदसमूह के विषय में जो अन्य बातें कही गई हैं, उन्हें उपपन्न नहीं समझना।

उदुम्बर का पुत्र औदुम्बरी। उमका पुत्र औदुम्बरायण। औदुम्बरायण मुनि शब्द को अन्वयदत्त मानना या। ध्यान रहे कि यहा औदुम्बरायण का मात्रमात्र उद्भूत है, उमका वचन यहा उद्भूत नहीं। कारण, यहा इत्यौदुम्बरायण ऐसा पाठ नहीं है।

शब्द के अन्वयदत्त पद को मान कर यास्कीय मत में तीन दोष आते हैं। वे हैं—

तत्र चतुष्टय नोपपद्यतेऽयुगपदुत्पत्ताना वा शब्दानामितरेतरपदेशे शास्त्रदृशो योगश्च।

अर्थ—तत्र चतुष्टय नोपपद्यते—अर्थात् [स्फोटवादी औदुम्बरायण के प ३ म] चार का विभाग नहीं बनना। अयुगपत्=भिन्न २ समय में उत्पन्न हुए शब्दों का एक दूसरे के साथ [गौणता, प्रधानता] का उपदेश भी नहीं बनना। और व्याकरण शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट शब्दों का योग भी नहीं बनना।

भाष्य—औदुम्बरायण के पद के अनुसार मूल शब्द इन्द्रियनित्य है। यह आकार के साथ सम्बद्ध शेष में, तथा व मानव बुद्धि में स्थित है। परन्तु श्लोक में व्यवहार में आने वाला शब्द अत्रित्य है। इस अत्रित्य शब्द में एक पद अथवा एक अक्षर का प्रादुर्भाव भी भिन्न २ काळ में होता है। अतः पदों का एक दूसरे के साथ उपदेश उपपन्न नहीं। बुद्धि में शब्दों की परस्पर गौणता, प्रधानता का अभाव ही रहता है।

और व्याकरण शास्त्र में कल्प में शब्दों का जो मेल बनाया गया है, वह भी नित्य वाक् में नहीं बनना।

दुर्गा ने इस प्रसङ्ग में सन्धि नियम के अनुसार अयुगपत् के अतिरिक्त युगपत् रूप भी उचित मान कर एक दूसरी व्याख्या भी की है।

यह सारा पत्र अत्यन्त गम्भीर है और सांख्य शास्त्र के सूक्ष्म ज्ञान के बिना समझ नहीं आ सकता। अध्यापक को चाहिए कि छात्र को सांख्य का ज्ञान कराए और बताए कि भूत और इन्द्रिय युगपत् कैसे उत्पन्न हुए।

यास्क मुनि के काल से पहले, अर्थात् भारत युद्ध के काल से बहुत पूर्व भी व्याकरण शास्त्र प्रवृत्त थे। निस्सन्देह शाकटायन आदि के व्याकरण शास्त्र तब विद्यमान थे। संभवतः महावैयाकरण आपिशलि भी यास्क का पूर्व-वर्ती था।

यास्क का स्पष्टीकरण—यास्क ने श्रौतुम्बरायण के पत्र का खण्डन न कर के और उस की सूक्ष्मता को समझते हुए श्रौतुम्बरायण के मत से जो भ्रान्ति हो सकती है, उस के निराकरण का मार्ग बताया है। यथा—

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

अर्थ—शब्द के व्याप्तिमत्त्व वाला होने, और अत्यन्त सूक्ष्म होने से शब्द के द्वारा [नाम और आख्यातादि] संज्ञाकरण व्यवहार के लिए लोक में प्रवृत्त हुआ।

भाष्य—शब्द व्यापक है। आकाश में दैवी वाक् में, और हृदयान्तर्गत आकाशस्थ बुद्धि में। अतः मानव वाक् और श्रोत्र में नश्वर होने पर भी आकाश में शब्द नश्वर नहीं। तदनुसार पदचतुष्ट्व का अस्तित्व रहता है। अतः श्रौतुम्बरायण के पत्र से जो भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती थी, वह व्यावृत्त हो गई।

पुनश्च शब्द अणीयः अर्थात् अति सूक्ष्म है, आकाश में भी और व्यवहारार्थ भी। अपना अभिप्राय पर-पुरुष को बताने के लिये पाणि-व्याहार और अक्षि-निकोच पर्याप्त नहीं हैं, और परिश्रम तथा कष्ट साध्य हैं। उन की अपेक्षा शब्द-प्रयोग से सारा काम सरलता से चल जाता है। अतः लोक व्यवहार के लिये शब्दों और वाक्यों से काम चलाया जाता है। इन शब्दों के सद्-व्यवहार के लिये शास्त्रकारों ने शब्दों का संज्ञाकरण किया है। अतः पदचतुष्ट्व के मानने में कोई दोष नहीं।

संसार में प्रवृत्त सम्पूर्ण अपभ्रंश बोलियों में भी यह पदचतुष्ट्व का विभाग थोड़ा-बहुत पाया जाता है। यह संस्कृत से ही उन में गया है।

तेषां मनुष्यउद्देशताभिधानम् ।

अर्थ—तेषां मनुष्यत्वं—[नहीं नहीं ।] इन मन्त्रों का क्या मनुष्यों में [पदचतुष्टय के अनुसार व्यवहार होना है] वैना देवताओं के अन्वितान में भी है । इति ।

भाष्य—परिनि, तत्र तत्त्वं २।१।११६ के अनुसार मनुष्यत्वं का अर्थ है—मनुष्येषु इव । इस का दूसरा अर्थ नहीं बनता । यहाँ मनुष्य म व्यतिरिक्त देवता से क्या अभिप्राय है । वेद में मन्त्रमयी देवता है । इन वेद मन्त्रों में भी पदचतुष्टय के अनुसार अर्थ है । और वही से तो पदचतुष्टय लोक में आया ।

दूसरी देवता, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, वृहस्पति आदि भौतिक दिव्य गुण-युक्त देवता है । जब सृष्टि बन रही थी, तब वही गतिमान देव ईश्वर नियम से प्रेरित विविध ध्वनियां निकाल रहे थे । म मूरिति व्याहरन्, म भूमिममृज्वत् । तथा—देवो वाचम् अजन्तान्त देवा । अर्थात्—देवी कर्क को उपास किया देवों ने । वे मू आदि ध्वनियां और मन्त्र रूप महान् आत्मा का निःस्राव होकर उद्धारित हो रहे थे । उन देव वचनों अथवा देवभिधानों अर्थात् मन्त्रों में भी पदचतुष्टय का विभाग है ।

देवताभिधान—वर्तमान ईश्वर-सदृशी संस्कार में, तथा नाममात्र के वैज्ञानिक जगत में कहीं उपति विषयक जिनकी कल्पनाएँ हैं, वे निराधार और दर्शकहित हैं । केवल वैदिक मत पर्याय विज्ञान पर अभिप्राय है । तदनुसार ईश्वर प्रेरित भौतिक देव ही आकाशस्थ ध्वनाक शब्द को स्थानविक रूप से मन्त्र रूप में अभिव्यक्त करते हैं । यह कम इनका स्वभाविक है कि प्रत्येक सृष्टि में पूर्ववत् ही होता है । इन वे ही मन्त्र मनु प्रकट होते हैं । उन्हें ही ईश्वर प्रेरित अग्नि हृदय की गुण अर्थात् बुद्धि में देखते और सुनते हैं । इसी सुनने के कारण मन्त्र समुदाय को अग्नि कहा है ।

याम्क मुनि ने एक ही वाक्य में इस महान् मन्त्र को प्रकट किया है ।

राजसदे त्रिन्त्या है—Careless Sanskrit (p 117) माध्वर संस्कृत के वाक्यविन्यास में अनन्याय के कारण राजसदे का यह अन्वयमात्र है ।

दुर्गा का अर्थ—दुर्गा के अर्थ को मीनगाम और राजगाम ने धारणया है । यथा, मीनगाम का अर्थ है—

मनुष्यों के समान देवताओं के भी अभिधान में समर्थ हैं। अर्थात् वेद में देवताओं के अर्थ जो हविः दी जाती है, या उन से कुछ प्रार्थना की जाती है, तो इन्हीं शब्दों के द्वारा होती है। इति।

तथा राजाराम—शब्दों से जैसे मनुष्यों के व्यवहार कहे जाते हैं, वैसे इन्द्रादि देवताओं के काम भी कहे जाते हैं। इति।

ये दोनों अनुवादक दुर्ग के अनुसार ऐसा अर्थ करते हैं। दुर्ग ने यह भाव स्पष्ट नहीं किया कि देवताओं का अभिधान कैसा था। देवता-अभिधान, यह पृथीतपुरुष समास है। वस्तुतः वेद की नित्यता का यही आधारभूत रहस्य है। मन्त्र तो सृष्टि के आदि में स्वाभाविकरूप से उच्चरित हुए थे। वही देवताओं का अभिधान था। वाणी की उत्पत्ति का यही मूल है। महाविद्वान् भर्तृहरि इस तथ्य को समझ कर वाक्यपदीय में लिखता है—शब्दस्य परिणामोऽयम् इत्याम्नायविदो विदुः। १। १२१॥ अर्थात्—देव शब्दों का ही परिणाम यह जगत् है, यह वेद के जानने वाले जानते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह सिद्धान्त सुप्रतिपादित है।

राजवादे लिखता है—अभिधानं grammatically ought to be connected with तेषां and not with देवता अर्थात् देवता के साथ अभिधानं पद नहीं जोड़ना चाहिए, प्रत्युत तेषां के साथ जोड़ना चाहिए। मूल तत्त्व को न समझ कर राजवादेजी ने ऐसा असङ्गत लेख लिखा है।

देवता अभिधान का महत्त्व क्या है। इस के उत्तर में यास्क ने लिखा—

पुरुषविद्यानित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।

अर्थ—पुरुषविद्या अनित्यत्वात्—अर्थात् पुरुषविद्या के अनित्य होने से कर्म की उत्पत्ति अर्थात् सम्पन्नता वाला मन्त्र वेद में है। अथवा कर्म की सम्पन्नता वाला मन्त्र वेद में देवता शब्द से कहा है।

भाष्य—पुरुष की विद्या अथवा मनुष्यों का ज्ञान अनित्य है। यह ज्ञान एकरस नहीं। अतः दयालु ईश्वर ने महती दया से सृष्टि के आरम्भ में देवों द्वारा वेद ज्ञान दिया। इस वेद-विद्या में सृष्टि के सम्पूर्ण कर्मों की सम्पन्नता है। मनुष्य-जीवन के प्रत्येक अंश में क्या कर्म है इस की उपलब्धि वेद मन्त्रों से

ही होती है। इसीलिए भगवान् मनु ने कहा था—भूत भयं भविष्यञ्च सर्वं वेदान्प्रसिष्यति । १० । १६ ॥ यही नहीं देवों के सम्पूर्ण कर्म, यथा—सूर्य सञ्चन, सूर्य में तेज आदि का कारण, पृथिवी से सूर्य तक छाप्य परमाणुओं का गमन भ्रुव परिभ्रमण, सप्त लोकों की लीला इत्यादि शतश कर्म वेद में ही मिलते हैं। इतना ज्ञान अन्यत्र नहीं था, न होगा। यह देवताभिधान का महत्त्व है।

पट्ट भावनिकारा भवन्तीति वाप्यायणि । आपतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतऽपहसीपते विनश्यतीति ।

अर्थ—भाव के विकार—छ भाव क विकार होते हैं, यह वाप्यायणि [मानता है]। उत्पन्न होता है है, विशेष-परिणाम को प्राप्त होता है, बढ़ता है क्षीण होता है, नष्ट होता है।

भाष्य—भाष्य, स्कन्द स्वामी ने इस भाव शब्द के चार व्याख्यान, जो पूर्व वृत्तिकारों को अभिमत थे लिखे हैं। कोई क्रिया को, कोई पदार्थ को, कोई शब्द को और कोई सत्ता को भाव मानते हैं। इन में से भाव का क्रिया अर्थ शीघ्र समझ में आ जाता है अतः उसी का ग्रहण हमने किया है। पर दूसरे अर्थ हेय नहीं हैं। वे अपनी अपनी सूक्ष्मता रखते हैं। सत्ता अर्थ मानने वाले, परमात्म तथा आत्म रूप सत्ता को ही सम्पूर्ण क्रिया का अविष्टान मानते हैं।

वाप्यायणि—वृष गोत्री अथवा वाप्यायणि आचार्य के धर्मविषयक मत आपस्तम्ब धर्मसूत्र प्रश्न १, पटल ६ । १६ तथा पटल १० । २८ में हैं। पास्क मुनि भारत युद्ध काल के आस पास विद्यमान था। आपस्तम्ब उस का कुछ पूर्ववर्ती था। उस से पूर्व वाप्यायणि था। पतञ्जलि मुनि के सिद्ध यह भगवान् था, क्योंकि वह खनता है—पट्ट भावनिकारा इति ह स्माह भगवान् वाप्यायणि ।

आपत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे । नापगभाषमाचष्टे न प्रतिषेधति । अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम् । विपरिणमते इत्यप्रच्ययमानस्य तत्साद् विकारम् । वर्धत इति स्वाहाभ्युच्चयम्, सायौगिवाना वाप्यायिताम् । वर्धत विक्रमेनेति वा । वर्धत धरीरेणेति वा । अपहसीयत इत्येतेनेय व्याख्यान, प्रतिलोमम् । विनश्यती-वपरभावस्यादिमाचष्टे । न पूर्वभाव माचष्टे न प्रतिषेधति ॥ २ ॥

अर्थ—जायते=उत्पन्न होता है, यह पद पूर्वक्रिया का आरम्भ कहता है, नही अगली क्रिया को कहता, न उसका निषेध करता है । अस्ति=है, यह पद उत्पन्न पदार्थ का अवधारण=विद्यमान होना [कहता है], विपरिणामते=विपरिणाम को प्राप्त होता है, अर्थात् बदलता है । यह तत्त्व से न गिरने के विकार को [कहता है] । वर्धते=वढ़ता है, यह पद अपने अङ्गों के अभि+उच्चय को [कहता है,] अथवा संयोग में आने वाले पदार्थों के अभ्युच्चय को [कहता है ।] वृद्धि को प्राप्त होता है, विजय से, यह भी है । वृद्धि को प्राप्त होता है शरीर से, यह भी है । अपक्षीयते=घटता है, यह क्रिया इसी वर्धते से व्याख्यात हो गई, [वर्धन से] उलटा [होता है ।] विनश्यति=नष्ट होता है, यह पद अपरभाव अर्थात् अ-पर क्रिया का आरम्भ कहता है । नही पूर्वभाव को कहता, न उसका निषेध करता है ॥ २ ॥

भाष्य—विपरिणाम—विपरिणाम पद में वि उपसर्ग के कारण अर्थ बनता है—जहां से परिणाम उत्पन्न होता है । यथा अलङ्कार शास्त्र में विभाव का अर्थ है, जहां से भाव उत्पन्न होता है । अतः विपरिणामते का अर्थ होता है, परिणाम के आविर्भाव की अवस्था को प्राप्त होता है । यास्क के एक एक शब्द में सूक्ष्मता है । परिणाम में मूल तत्त्व का प्रच्ययमान अर्थात् गिर जाना नहीं होता । सांख्य (science) का यह अजेय सिद्धान्त है । योगसूत्र ३ । १३ के व्यास भाष्य में पाठ है—अथ कोऽयं परिणामः । अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति । इसी के स्पष्टीकरण में ३ । १५ में कहा है—क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः । यहां पूर्वधर्म की निवृत्ति होने पर धर्मान्तर की प्राप्ति को परिणाम कहा है । यह धर्मान्तर की प्राप्ति परमाणुओं के क्रम में भेद हो जाने से होती है । लोहा, सोना, चांदी, पीतल आदि में परमाणु-क्रम भिन्न भिन्न है । मूल तत्त्व एक ही है । इसी सिद्धान्त की व्याख्या सांख्य-सप्तति की युक्ति दीपिका टीका पृ० ६० पर उद्धृत एक कारिका में भी है—

जहद् धर्मान्तरं पूर्वम् उपादत्ते यदान्तरम् ।
तत्त्वादप्रच्युतो धर्मा परिणामः स उच्यते ॥

यहां भी धर्मा अर्थात् पदार्थ का तत्त्व से अप्रच्युत होने का भाव उल्लिखित है । योग सूत्र ४ । ३३ के व्यासभाष्य में भी लिखा है—यस्मिन् परिणाम्यमाने

तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम् । महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने इसी भाव से कहा—तदपि नित्यं यस्मिन्मत्त्वं न विहन्यते ।'

यास्क ने वर्धते का प्रथम अर्थ—घपने छत्रों के अशुद्धय का, तथा दूसरा अर्थ सयोग में आने वाले पदार्थों द्वारा अशुद्धय का कहा । इन दोनों के उदाहरण में वर्धते विज्ञेय—इति, यह बात जो उच्चर-पाठ का उदाहरण है, पहले किमी गई है, और पहली बात का उदाहरण इस से आगे दिया गया है । यास्क ने किम एहि स यह किया, यह चिन्त है । स्पन्द का मत है—ब्रह्मा-याधेन—उदाहरणपाठो मुक्त । अर्थात्—कम बाधाबन्धा नहीं होता ॥ २ ॥

अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति इ स्माद् । ते पयाउचनमभ्यूहितन्या ।

अर्थ—इत से भिन्न जो भाव=क्रिया के विकार होते हैं, वे इन्हीं छत्र के विकार होने हैं, ऐसा निश्चय मे कहा [पुरा कान मे वाप्यायणि ने ।] ये भावविकार जिम-जिम वचन अथवा मन्त्र मे जैसे-जैसे हो, वैसे (अग्नि+ ऊहितन्या) पूर्णतया अपनी ऊहा अर्थान् बुद्धि के तर्क से बनने चाहिए ।

न निर्वन्दा उपसर्गा अर्थान् तिराहुः—इति शाकटायन. । नामाख्या-तर्पास्तु कर्मोपसंयोगघोतका भवन्ति ।

अर्थ—नहीं बन्धन रहित अर्थान् नाम और आख्यान के साथ न जुड़े हुए उपसर्ग अर्थों को निश्चय मे कहते । ऐसा शाकटायन मानता है । [तिरानु] नाम और आख्यान के साथ लग कर, कर्म अर्थान् अर्थ-विशेष के घोनक-प्रकाशक होने हैं ।

भाष्य—कर्म शब्द अर्थ का घोतक क्यों हुआ, इस में गम्भीर सिद्धान्त है । एहि तर्पाणि के समय जो देव-कर्म हो रहे थे, वन्हीं स जो पदार्थ उत्पन्न हुए, वे उस कर्म का परिणाम मात्र थे । क्या सूर्य के अथ, सुबोके में स्याधि के कर्म में उत्पन्न हुए थे । अग वे अथ स्याधि के बोधक हैं । और क्योंकि लोक में होने वाला अथ, जो परारूप है मार्ग को व्याप्त करता है, अत वह भी अथ है । वे कर्म वैदिक विज्ञान की परम सीमा हैं ।

निराहुः का अर्थ है निश्चय से कहा । इस का अभिप्राय है कि उपसर्ग अर्थों को कहते तो हैं, पर निश्चय से, स्पष्टता से नहीं कहते ।

शकट का लोक (=पुत्र) आचार्य शाकटायन एक महान् वैयाकरण था । वह यास्क से पूर्व अपना व्याकरण रच चुका था । उस में लोक और वेद के शब्दों का अनुशासन था । यह बात भरत मुनि (विक्रम से ३०८० वर्ष पूर्व) से भी लगभग १०० वर्ष पूर्व की अवश्य थी । उस समय लोक-भाषा का भूरि प्रचार था । फिर ईसाई-यहूदी लेखकों का संस्कृत-भाषा-विषयक कल्पित काल-क्रम सर्वथा मिथ्या मत नहीं, तो और क्या है ।

उच्चावचाः पदार्था भवन्ति—इति गार्ग्यः । तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम् ।

अर्थ—ऊँचे और अवच (=निचले) अर्थात् बहुप्रकार के पदार्थों वाले होते हैं, यह गार्ग्य मानता है । तो जो इन में पदार्थ [है] स्पष्टता से कहते हैं वे उसे । नाम और आख्यात के अर्थविकरण को ।

भाष्य—शाकटायन कहता है कि—न...निराहुः, स्पष्टता से नहीं कहते । गार्ग्य का मत है—प्राहुः । वह बल से कहता है, स्पष्टता से अवश्य कहते हैं । वे उपसर्ग अर्थविकरणम्, अर्थ के सूक्ष्म भेदों को ।

गार्ग्य सामवेद का पदपाठकार था । उसके पदपाठ में अनेक सूक्ष्मताएं दिखाई देती हैं ।

आ इत्यर्वागर्थे । प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अभीत्याभिमुख्यम् । प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अति सु इत्यभिपूजितार्थे । निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम् । न्यवेति विनिग्रहार्थीयो । उदित्येतयोः प्रातिलोम्यम् । समित्येकीभावम् । व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अन्विति सादृश्यापरभावम् । अपीति संसर्गम् । उपेत्युपजनम् । परीति सर्वतोभावम् । अधीत्युपरिभावम् । ऐश्वर्ये वा । एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः । त उपेक्षितव्याः ॥ ३ ॥

अर्थ—१. आ—यह बरे अथवा धर के अर्थ में है। स्कन्दस्वामी के अनुसार सन्निकृष्ट, पास अर्थ में है।

२. ३. प्र, परा—ये दोनों आ उपसर्ग के अर्थ के विपरीत अर्थ को [कहते हैं।]

४. अभि—यह अभिमुख्य अर्थात् सामने अर्थ को।

५. प्रति—यह इम अभि के विपरीत अर्थ को।

६. ७. अति, सु—ये अभिपूजित (= सम्मानित) अर्थ में हैं।

८. ९. निर्, दुर्—इन दोनों के विपरीत अर्थात् निन्दा अर्थ को।

१०. ११. नि, अब—विनिग्रह अर्थ वाला है। पकड़ कर अथवा शासन में रखने के अर्थ वाले हैं। स्कन्द के अनुसार—निग्रहो नियमनम्। निगृह्णाति, अवगृह्णाति।

१२. उत्—यह इन के विपरीत अर्थ को। अर्थात् शासन से ऊपर।

१३. सम्—यह एकीभाव (= एकत्र होने) अर्थ को।

१४. १५. वि, अप—ये दोनों सम् के विपरीत अर्थ को।

१६. अनु—यह सादृश्य तथा अपरभाव को [कहता है।] स्कन्द के अनुसार—अपरभावः पद्मान्नावः।

१७. अपि—यह संसर्ग अथवा सम्बन्ध को कहता है।

१८. उप—यह उपजन को कहता है। स्कन्द के अनुसार उपजन का अर्थ उपचय, उपधान और उपकार है।

१९. परि—यह सर्वतोभाव अर्थात् सब ओर होने को [कहता है।]

२०. अधि—यह उपरिभाव को वा ऐश्वर्य को [कहता है।]

इस प्रकार उच्च और अवच अर्थों को बल-पूर्वक कहते हैं। वे ध्यान से जानने चाहिए ॥ ३ ॥

भाष्य—पास्क ने यही दिखया है कि उपसर्गों का अपना अर्थ भी होता है। अतः उस ने प्रत्येक उपसर्ग के सब अर्थ नहीं पड़े। न ही उस ने उपसर्गों के अर्थ प्रदर्शक मन्त्र पड़े। पास्क ने गार्ग्य के अनुकूल मत की पुष्टि की है। दुर्गति में—एवमुच्चा० से पादान्त तक का पाठ नहीं है। पर सप्तम्यस्वरूप के

निरुक्त-संस्करण से ज्ञात होता है कि वर्तमान काल में उपलब्ध सब कोशों में यह पाठ विद्यमान है ॥ ३ ॥

अथ निपाताः । उच्चात्रचेप्रथंषु निपतन्ति ।^१ अप्युगमार्थे । अपि कर्मोपसंग्रहार्थं । अपि पदपूरणाः ।

अर्थ—अब निपात । उच्च और अवच अर्थात् अनेक प्रकार के अर्थों में गिरते हैं । कोई उपमा अर्थ में । कोई कर्म+उपसंग्रह के अर्थ में, अर्थात् विभिन्न अर्थों के जोड़ने में । कोई पद-पूर्ति वाले [होते हैं ।]

भाष्य—यहां अर्थ की दृष्टि से तीन प्रकार के निपात गिने हैं ।

तेषामेते चत्वार उपमार्थं भवन्ति । इवेति भाषायां चान्वध्यायं च । अग्निरिव [ऋ० १०।२६।२] इन्द्र इव । [ऋ० १०।१७३।२] इति ।

नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम् । उभयमन्वध्यायम् ।

नेन्द्रं देवममंसत [ऋ० १०।२६।१] इति प्रतिषेधार्थीयः ।

पुरस्तादुपाचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति ।

दुर्मदासो न सुरायाम् । [ऋ० २।२।१२] इत्युपमार्थीयः ।

उपरिग्रादुपाचारस्तस्य येनोपमिमीते ।

चिदित्येपोऽनेककर्मा । आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम् । [आचार्यः कस्मात्] आचार्य आचारं ग्राहयति । आचिनोत्यर्थान् । आचिनोति बुद्धिमिति वा । दधि चिदित्युपमार्थं । कुल्मापांश्चिदाहर । इत्यवकुत्सिते । कुल्मापाः कुलेषु सीदन्ति ।

नु इत्येपोऽनेककर्मा । इति नु करिष्यतीति हेत्वपदेशे । कथं नु करिष्यतीत्यनुपृष्टे । नन्वेतदकार्षीदिति च । अथाप्युपमार्थं भवति ।

वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वृयाः । [ऋ० ६।२४।३]

वृक्षस्यैव ते पुरुहूत शाखाः । वयाः शाखाः । वेतेः । वातायना भवन्ति । शाखाः खशयाः । शक्तोतेर्वा ।

अर्थ—उन में से ये चार (इव, न, चित्, नु) उपमा अर्थ में होते हैं । १. इव, यह भाषा में और अनु+अध्यायं अर्थात् वेद में । अग्नि के समान । इन्द्र के समान ।

१. यस्मान्निपतन्ति पदे तस्मात् प्रोक्ता निपातास्तु ॥ १४ । ३१ ॥ भरत नाट्यशास्त्र ।

भाष्य—अनु के साथ अण्वाय का अण्वयीभाव समास होकर यहाँ सप्तमी अर्थ में प्रयोग है। अण्वाय पद बहुधा वेद के अर्थ में प्रयुक्त होना है। यथा—स्वाध्यायप्रवचने च । तै० उप० १ । ३ ॥ वेद में और ब्राह्मण में । उदाहरण के रूप भाषा और वेद दोनों में मिलते हैं ।

भाषा—इस भाषा शब्द पर राजवाड़े लिखता है—*in post-Vedic or classical Sanskrit which, it seems, was spoken in Yaska's day* अर्थात् वेदोत्तर काल की या कालों की संस्कृत में ।

राजवाड़े का कथन असत्य, तर्क विहीन और इतिहास विरुद्ध है। भाषा शब्द से वास्तु लोकभाषा का ग्रहण करना है। यह लोकभाषा सदा वेद से विभिन्न रही है। वास्तु प्रतिस्तुतियों के प्रकरण, निरुक्त १३।१ में—अथापि ब्राह्मण भवति, लिख कर एक लम्बा ब्राह्मण पाठ उद्घृत करता है। उस पाठ का अन्त है—*तस्माद् ब्राह्मणा उभयो वाच वदन्ति । या च देवाना या च मनुष्याणाम्, इति ।* अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में भी विद्वान् लोग देवों की वाक् अर्थात् वेदग्रन्थों की वाणी और मनुष्यों की वाक् अर्थात् लोकभाषा को बोलते थे। जब ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में और उस से पहले भी लोक भाषा थी, तो उस को *post Vedic* कहना बुद्धि की जड़ता अथवा महान् अज्ञान का फल है। निरुक्तवेद ईसाई यहूदी पञ्चपाताथ लेखकों के अन्धानुकरण का यह कु परिणाम है। राजवाड़े आदि अल्प पठित लोग कभी किसी प्रतिष्ठित वैदिक विद्वान् से इस विषय पर साक्षार्थ करते, तो उन को पता लगता कि वेद वाक् कभी भी लोक भाषा नहीं हुई ।

काई कहे कि निरुक्त का यह तेरहवां अध्याय जिस में ये ब्राह्मण-वचन उद्घृत हैं, वास्तु प्रणीत नहीं, तो उस को ज्ञात होना चाहिए कि स्कन्द, दुर्ग आदि पुराने निरुक्त कृत्तिकार इस अध्याय को निरुक्त का अङ्ग मानते हैं । स्कन्द इस अध्याय को बारहवें अध्याय के अन्तर्गत मानता था । देखो, स्कन्द भाष्य प्रथम अध्याय, पृ० ४८ ।^१

देवों में वाक् थी, यह भौतिक पक्ष ही भाषा की उत्पत्ति का एक मात्र तर्क-संगत वैज्ञानिक आधार है ।

१. देखो, वै० या० का इतिहास, सन् १९३१, पृ० १९५ १९७ ।

२. विवेन्द्रम संस्करण ।

अर्थ—२. (क) न, यह प्रतिषेध अर्थ वाला है भाषा में, दोनों (उपमा और निषेध) अर्थ में वेद में है। यथा—नेन्द्रं देवम् अमंसत इति । नहीं [आदित्य रश्मियों ने] इन्द्र को (निरुक्त १३ । ४ के अनुसार) देव अथवा दीप्ति देने वाला माना ।

भाष्य—इस मन्त्र में आदित्य-रश्मियों की एक माया का कथन है । आदित्य-रश्मियां महद् अण्ड के एक कपाल से कैसे उत्पन्न हुईं, वे सूर्य में कैसे एकत्र हो गईं, सूर्य उन का सदा नृजन और संहार कैसे करता है, इन रश्मियों में प्रकाश की माया क्या है, ये प्रश्न उत्कृष्टतम विज्ञान की चरम सीमा हैं । इन का उत्तर वेद मन्त्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों में ही है । वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान में इन का अधूरा वर्णन है । इन आदित्य रश्मियों ने इन्द्र को अपना देव अर्थात् दीप्ति देने वाला नहीं माना । निरुक्त १३ । ४ के अनुसार यहां इन्द्र का अर्थ आदित्य है । इस आदित्य को रश्मियां अपना दीप्ति कर्ता नहीं मानतीं । यह भी रहस्य की बात है । रश्मियां आदित्य से पृथक् उत्पन्न हुई थीं ।

अर्थ—प्रतिषेध अर्थ वाला न, पहले प्रयुक्त होता है उसके, जिस का प्रतिषेध करता है ।

भाष्य—स्कन्द के अनुसार—उपाचारः प्रयोग उच्यते । उपाचार पद का यह अर्थ अथ अधिक प्रसिद्ध नहीं है । न इन्द्रं, में न का प्रयोग इन्द्र पद से पहले हुआ है । अतः यहां प्रतिषेध अर्थ में न है ।

उपमा का उदाहरण

अर्थ—(ख) दुष्ट मदवाले [होते हैं], जैसे, सुरा [पीने] पर । [और युद्ध करते हैं ।] यह उपमा अर्थ वाला है । पश्चात् प्रयुक्त होता है उस के, जिस से उगमित होता है ।

भाष्य—युद्ध समय में सुरा से दुर्मद होना क्या हीनोपमा है । है यह अपूर्व विधि । अपूर्व विधि और हीनोपमा से निषेध भी अभिप्रेत हो सकता है । भारतीय इतिहास में दुर्मद हुए बिना भी युद्ध हुए हैं । यथा खर और दूषण के साथ राम का युद्ध में सुरा से दुर्मद न होना ।

अर्थ—३. (क) चित्—यह अनेक अर्थ वाला है । आचार्य ही यह वताए, यह पूजा अर्थ में है । [आचार्य से अतिरिक्त और कौन वताए । यह आचार्य के विशिष्ट ज्ञान की पूजा है ।]

आचार्य कस्मात्—आचार्य क्यो । आचार्य आचार को ग्रहण करता है । पदार्थों और शास्त्रों के अर्थों का संग्रह करता है । अथवा बुद्धि का संग्रह करता है ।

भाष्य—मनु २।१४२ के अनुसार बालक को वही जानि शत्ररा, अमरा है, अहां आचार्य होते हैं ।^१ भारतीय ब्राह्मण ही आचार को ग्रहण करते थे । उन्हीं से अनुशिष्ट बालक संसार भर में मानवता का धेष्टनम उदाहरण प्रस्तुत करते थे ।

यह सारा पाठ दुर्ग और स्कन्द के मूल में नहीं है । पर लाहौर संस्कृत के अनुसार, आचार्य कस्मात् पाठ निरुक्त के बृहपाठ के अन्तर्गत था । तथा अगला पाठ निरुक्त के अन्य सब कोशों में था ।

अर्थ—(स) दधि चित्—यह उपमा अर्थ में है । दधि के समान ।

अर्थ—(ग) कुल्माषाक्षित्—कुल्माष=कुलत्थ दाल । कुलत्थ ही ले वा । [और क्या लाएगा ।] यह अवकुलित अथात् बहुत निन्दा अर्थ में है । कुल्माष कुनो म अर्थात् गुच्छो में ठहरते हैं ।

अर्थ—४. तु—यह अनेक अर्थों वाला [है ।]

(क) हेतु के अपदेश = कथन म है । इसी कारण इसे करेगा ।

अर्थ—(ल) डूमरी बार पूछने में है । कैसे करेगा । न, तु नहीं, तो उस ने यह किया । यह भी [डूमरी बार पूछने का प्रकार] है ।

अर्थ—(ग) और भी उपमा अर्थ में है । वृष के समान तेरी, हे पुरूरुत = इन्द्र [रक्षाक्षी] शाखाएँ [चारों ओर फैलती हैं, क्या शाखाएँ [हैं] । [नगर्य जाने] वेति धातु से । तथा बात से अयन अथवा चालन जिन का [वे शाखाएँ] हीनी है । शाखा अर्थात् आकाश में दायन करने वाली अथवा शान्ति से ।

भाष्य—वया के दो निर्वचन—

१. गत्यर्थक वेति धातु से, अर्थात् घागे घागे आती हैं ।

२. वा+वा+ता+घ+न+। यही मूल वया शब्द के अर्थ को समझने के विधि व के घागे वा+ता वा और व के घागे वा का घागम मान लिया गया है ।

इन्द्र की शाखाएं कैसी हैं । इन्द्र मध्यमस्थानी देवता है । वह वायु से आवेष्टित वैद्युत् अग्निः का रूप है । उसका शाखा-जाल अन्तरिक्ष में फैला है । अतिस्तुति में इन्द्र परमात्मा है और उसकी करुणामयी शाखाएं हैं । अन्तरिक्षस्थ वयाः के मध्य में से वात के मार्ग बने हैं । ये ही वातायन कहाते हैं । उन्हीं के साधर्म्य वाले ये पृथिवीस्थ वृक्ष और उन की शाखाएं हैं ।

अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात्स कर्मोपसंग्रहः ।

चेति समुच्चयार्थः । उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते । अहं च त्वं च वृत्रहन [ऋ० ८ । ६२ । ११] इति । एतस्मिन्नेवार्थे ।

देवेभ्यश्च पितृभ्य आ । इत्याकारः ।

चेति विचारणार्थे ।

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा । [ऋ० १० । ११६ । ६]—इति ।

अथापि समुच्चयार्थे भवति ॥ ४ ॥

वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा । [य० ६ । ७]—इति ।

अर्थ—अव [वह निपात] जिसके [किसी समास के दो वा अधिक भागों में] आगम से अर्थ का पृथक्त्व अह अर्थात् निश्चय से पृथग्भाव जाना जाता है, नहीं अलग औद्देशिक के समान, प्रत्युत समास के विग्रह से जाना जाता है, वह कर्म = अर्थ का उपसंग्रह = समुच्चायक होता है ।

चेति समुच्चयार्थः—

अर्थ—५. च यह समुच्चय अर्थ वाला है, दोनों पदों से भले प्रकार युक्त होता है । मैं और तू, हे वृत्र के मारने वाले [संयुक्त = संगत हो जाएं, उद्देश्य के प्राप्त होने तक ।]

भाष्य—घोर-पुत्र प्रगाथ ऋषि की यह ऋचा है । अङ्गिराः के आठ पुत्रों में से घोर एक है । अङ्गिराः आग्नेय परमाणुओं का योग-विशेष है । उस का पुत्र घोर और तत्पुत्र प्रगाथ भी आग्नेय परमाणुओं के योग के उत्तरोत्तर रूप हैं । उस प्रगाथ रूप और इन्द्र के संयोग से जो साफल्य सृष्टि-निर्माण समय हुआ, उसी का कथन इस ऋचा में है । यह प्रगाथ भी मध्यमस्थानी है । लोक में भी

अग्नि, सोम और प्रगाथ नाम वेद स लेकर* अग्नि परिवार में रणे गए। इस प्रगाथ ने भी इन्द्र की स्तुति की।

६ इसी समुच्चय अर्थ में—[जो अग्नि कथ्यमहन=पितृ अत्र का प्रेरक है, पितरों का पत्र करे, जो अहन=दिव्य उदको को दहाता है, यही हन्वी=देवताओं को बहना है] देवो जे लिए और पितरों के लिए आ। अर्थात् च [अर्थ में है।] यह आकार है।

भाष्य—पितर अन्तरिक्षस्थ प्राण विशेष हैं। उनके लिए कथ्य का प्रेरक अग्नि है। मन्त्र में जो अग्नि पद आते हैं कि यह अग्नि भी अग्निविशेष है। यह अग्नि देवताओं को भी कहता है। रावणदे ने अग्नेदीय सकल मन्त्रपठ में कथ्यवाहन पद (पू० २३०) मान कर अर्थ दिया है—offerings of meat. दुर्गा और रचन्द ने मरय का अर्थ काय ही किया है। मन्त्रदि में पितरों का अन्न काय ही है।

७ वा—वा यह विचारणा अर्थ में है।

अर्थ—अहो, मैं इस पृथिवी को रखू यहा [अन्तरिक्ष में] वा=प्रथवा यहाँ [ब्रह्म में] ।

भाष्य—यह इन्द्र पुत्र सब अथवा लवरूप इन्द्र का कथन है। अन्तरिक्षस्थ इन्द्र का पुत्र लव क्या है, अथवा लवरूप इन्द्र क्या है यह गम्भीर रहस्य जानने योग्य है। जब पृथिवी आदि लोक अपनी अपनी राशियों में स्थापित किए जा रहे थे, तब ऐन्द्र लव ने ब्रह्मलोक से उतरे सोम के योग से यह दशा उत्पन्न की। यह पृथिवी तब कहीं भी रुकी जा सकती थी। पर यह अन्तत वर्तमान स्थिति में स्थापित की गई।

अर्थ—और भी, वा समुच्चय अर्थ में होता है। और वायु तुम्हें और मनु तुम्हें [और २७ गन्धर्व तुम्हें, हे अश्व इस रथ में जोड़ते हैं।]

भाष्य—वाजपेय यज्ञ में इन मन्त्र का विनियोग है। वाजपेय यज्ञ किस देवी यज्ञ का प्रतिरूप है, यह तुम्हें ज्ञात नहीं। पर यह ज्ञात है कि ब्रह्मलोक में

* बदरश्मन्म एवादी। मनु १। २१ ॥ वैदिकविद्याविहीन अज्ञानी पाश्चात्य लालक मनु के इस परम सगत मत पर उभेक्षण करते हैं।

सूर्य आदि के रथ अश्वयुक्त चलते हैं । उन में से एक अश्व को वायु, मनु और २७ गन्धर्वों ने रथ में युक्त किया । दिव्य गन्धर्व सूर्यस्थ भी हैं । (यजुः ३० । १॥)

अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयो पूर्वेण संप्रयुज्येते ।
अयमहेदं करोत्वयमिदम् । इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यतीति ।

अर्थ—८, ९ अह और ह, ये दोनों अलग करने अर्थ वाले हैं ।
[साथ बोलने दो पदों में से] पहले पद के साथ जुड़ते हैं । यह [राम] ही
यह करे । यह [कृष्ण] यह [करे] । यह काम ही [राम] करेगा । यह
काम नहीं करेगा ।

अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण । मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते
वदन्तीति ।

अथापि पदपूरणः । इदमु । तदु ।

हीत्येपोऽनेककर्मा । इदं हि करिष्यतीति हेत्वपदेशे । कथं हि
करिष्यतीत्यनुपृष्टे । कथं हि व्याकरिष्यतीत्यसूयायाम् ।

किलेति विद्याप्रकर्षे । एवं किलेति । अथापि नु ननु इत्येताभ्यां
सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे । न किलैवम् । ननु किलैवम् ।

मेति प्रतिषेधे । मा कार्षीः । मा हार्षीरिति च ।

खलिविति च । खनु कृत्वा । खलु कृतम् । अथापि पदपूरणः । एवं
खलु तद् वभूवेति ।

शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् । शश्वदेवमित्यनुपृष्टे । एवं
शश्वदित्यस्वयं पृष्टे ।

नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् । उभयमन्वध्यायं विचि-
कित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च ।

अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार । स इन्द्र
एत्य परिदेवयाञ्चके ॥ ५ ॥

अर्थ—१० उ—और उ भी इस ही [अलग करने] अर्थ में है। पर उत्तर पद के साथ [जुड़ता है।] झूठ [नीचे मनुष्य] बोलते हैं। सत्य ही वे [स्वरूप] बोलते हैं।

और उ पदपूर्व है। यथा—इदम् उ। तत् उ।

११ हि यह अनेक अर्थों वाला है।

(क) इस कर्म को इस कारण, करेगा। यह हेतु के बचन में है।

(ख) कैसे करेगा, यह अनुप्रश्न अर्थात् दूसरी बार पूछने के अर्थ में है।

(ग) कैसे हि बताएगा, यह निन्दा अर्थ में है।

भाष्य—हि के तीन अर्थ कहे हैं। (ग) का अभिप्राय है, नहीं क्या सकता।

अर्थ—१२ किल, यह विद्या के प्रकर्ष—अतिगम्य में। इस प्रकार निःसन्देह।

भाष्य—स्कन्द ने यही लौकिक उदाहरण दिया है—जघान कस किल वासुदेव। यह उदाहरण व्याकरण महाभाष्य में भी है। मारा कस को निःसन्देह वासुदेव के पुत्र कृष्ण ने।

अर्थ—और भी [किल निपात] तु और ननु इन दोनों के साथ जुड़ता है दूसरी बार पूछने के अर्थ में। नहीं क्या ऐसा। तो क्या ऐसा हुआ।

अर्थ—१३ मा यह प्रतिषेध [अर्थ] में। मत कर मत ले जा, यह भी।

१४ एतु यह भी [निषेध अर्थ] में है।] खलु एत्वा, न करके, एतु कृतम्, नहीं किया।

अर्थ—और भी खलु पदपूरण अर्थ में है। एसा वह हुआ।

१५ शब्दत् (क) यह संशय अर्थ वाला है, भाषा में—लौकिक भाषा में।

(ख) हैं ऐसे, यह दूसरी बार पूछने में ।

(ग) इस प्रकार ही । यह बिना अपने पूछे ।

१६. नूनं यह संशय अर्थ वाला है, लोक भाषा में । दोनों प्रकार के अर्थ में अन्वध्याय अर्थात् वेद में, संशय अर्थ में और पदरूप भी ।

अर्थ—अगस्त्य ने इन्द्र के लिये हवि. निकाल कर मरुतों के लिये देने की इच्छा की । उस इन्द्र ने आकर क्रोधपूर्वक विलाप किया ।

भाष्य—यास्क की शास्त्रशैली पर यहां राजवादे का आक्षेप है—

पूर्व पक्ष—Many things in these two sections are uncalled for, for they refer to the idiom (p. 239) of Yāska's day and not to the Vedas to which the Nirukta must refer to justify its composition.

अर्थात्—निरुक्त के इन दो खण्डों में अनेक बातें अप्रासंगिक हैं, क्योंकि यास्क ने निपातों के अर्थ-प्रदर्शन में अपने समय की भाषा से उदाहरण दिये हैं और वेदों से नहीं । निरुक्त की रचना में वेदों के उदाहरण अपेक्षित हैं । इति ।

उत्तर पक्ष—यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो यह आक्षेप वृथा है । इस खण्ड में उभयम् अन्वध्यायं, लिख कर यास्क ने यह स्पष्ट कर दिया है कि निपातों में जहां वैदिक उदाहरण नहीं दिये गए, वहां विस्तरभय से ऐसा नहीं किया गया । लोक में प्रचलित अर्थ ही मन्त्रान्तर्गत निपातों के भी हैं और जहां भेद था, उसी का संकेत अभिमत था, तदर्थ उभयमन्वध्यायं लिखा गया । मन्त्रों से उदाहरण बहुत अधिक स्थान घेरते ।

इतिहास का अभाव—इस प्रसङ्ग में रामायणादि में वर्णित अगस्त्य नामक ऋषि का उल्लेख नहीं है । यह तथ्य राजवादे को भी मानना पड़ा । वह लिखता है—अगस्त्य in the sūkta is not the name of the celebrated sage; it appears to be an appellation of Indra.

अर्थात्—इस सूक्त में अगस्त्य नाम इतिहास-प्रसिद्ध ऋषि का नहीं है । यह इन्द्र का एक नाम अथवा उपाधि प्रतीत होता है ।

न नूनमस्ति नो धः स्वस्तद्वेद यदद्भुतम् ।

अन्यस्य चित्तमभि मञ्चुरेणमुताधीतं वि नश्यति ॥

[अ० १।१७० ॥]

न नूनमस्यद्यतनम् । नो एव स्वस्तनम् । अथास्मिन्दधि । युगित्य
हो नामधेयम् । द्योतन इति सत । अथ उपाशसनीय काल । ह्यो हीन
काल । कस्तद्वेद यदद्भुतम् । कस्तद्वेद यदभूतम् । इदमरीतम्
दभुतमभूतम् इव । अन्यस्य चित्तमभिसञ्चुरेणम् । अभिसञ्चारि ।
अन्या नान्य । चित्तं चेतनं । उताधीतं विनश्यतीति [अप्याध्यान
विनश्यति । आध्यातम् । अभिप्रेतम् ।]

अथापि पदपूर्णा ॥ ६ ॥

अगवद प्रथम मण्डल के अन्तिम २६ सूक्तों का अन्तिम अगस्त्य है । इस
अन्तिम का नाम (१ । १०० । ३) मन्त्रगत अगस्त्य पद के अनुकरण पर है ।
मन्त्रगत अगस्त्य मन्त्रावस्था है । इन १०० सूक्त के अनुसार अगस्त्य, इन्द्र और
मरुत तीनों भाई हैं । वे मरुतस्थानी हैं । मभवद्दे अगस्त्य नामक तारा ही अगस्त्य
हो । उन्हीं तीनों की रहस्यमय घटनाओं का वर्णन इस सूक्त में है । वे रहस्य
ही वेद की संपूर्णवेद्या के प्रमाण हैं । मनुष्य जन्म से बहुत-बहुत पूर्व की
इस देवी माया का पूर्ण सत्य वर्णन वेद के अनिदिक अन्यत्र नहीं है ।

अर्थ—नही निश्चय है [आज की हृषि] नहीं बल की । कौन उसे
जानता है, जो अभूत है । दूमरे का चित्त चलायमान है, ध्यान किया हुआ
भी नष्ट हो जाता है ।

न नूनमस्यद्यतनम्

नही निश्चय है आज की । नहीं ही बल की । अद्य—अद्य । आज की ।
अ = अस्मिन् अ = अस्मिन् । अद्य यह अहर् का नामधेय है । चमकता है—
[रश्मिया के सम्बन्ध में] इस प्रकार कर्तृकारक स । अद्य = उपाशसनीय
अर्थात् आशा करने योग्य काल । अद्य = अद्य अर्थात् हीन, नष्ट हुआ
काल । कौन उसे जानता है, जो नहीं हुआ है । यह भी दूमरा अद्भुत पद
अभूत के समान ही होना है । दूमरे का चित्त इधर-उधर संचार वाला
(=जाने वाला) होना है । अन्य = अन्य अर्थात् न आनेय । नही लाने
योग्य । चित्त पद चेतति धानु म है । और सब ओर म ध्यान किया गया भी
अथवा सोचा हुआ भी नष्ट ही जाता है । आध्यातम् = अभिप्रेतम् ।

भाष्य—यु शब्द अहन् (=दिन) का पर्याय है। यु-लोक चमकता है और अहन् भी चमकता है। यु-लोक में रश्मियां स्थिर रहती हैं। पर अहन् रश्मियोग से चमकता है। सार्य से अहन् समाप्त हो जाता है, क्योंकि सूर्य अपनी रश्मियों का संहार कर लेता है। रश्मि-सृजन और संहार-आदि की विद्या आधुनिक वैज्ञानिकों में नहीं है। श्वः के श से शंसनीय पद, वा आशंसनीय, न लिख कर उपाशंसनीय क्यों लिखा, यह अन्वेष्टव्य है। अय निर्वचन विद्या का उत्कर्ष देखिये। अन्य का अर्थ है, जो अपने पास न लाया जा सके। यह अर्थ कैसे बताया जाए। यास्क ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा बताया, न्यः में आनेयः का भाव है। जब देवों ने अन्य पद की ध्वनि उत्पन्न की, तो दूमरा पदार्थ समीप नहीं लाया जा सकता था। वस्तुतः उस ध्वनि अथवा शब्द में उक्त अर्थ सन्निहित था।

अथापि—पदपूरणः ॥ ६ ॥

और ननु, यह पदपूरण [भी होता है] ।

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनीं ।
शिवा स्तोत्रभ्यो मारिं धग्भगो नो बृहद्वदेम विदये सुवीराः ॥
[ऋ० २ । ११ । २१ ॥]

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे । वरो धरयितव्यो भवति । जरिता गरिता । दक्षिणा । मघोनी मघवती । मघमिति धननामधेयं महत्तेर्दानकर्मणः । दक्षिणा दक्षतेः समर्थयतिकर्मणः । व्युद्धं समर्थयतीति । अपि वा प्रदक्षिणागमनाद् दिशमभिप्रेत्य । दिग्घस्तप्रकृतिः । दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणः । दाशतेर्वा स्याद् दानकर्मणः । हस्तो हन्तेः । प्राशुर्हन्ते । देहि स्तोत्रभ्यः कामान् । मास्मानतिदंहीः । मास्मानतिहाय दाः । भगो नोऽस्तु । बृहद्वदेम स्वे वेदने । भगो भजतेः । बृहदिति महतो नामधेयम् । परिवृद्धं भवति । वीरवन्तः । कल्याणवीरा वा । वीरो वीर्यत्यमित्रान् । वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः । वीर्यतेर्वा ।

अर्थ—वह तेरी, प्रार्थित अर्थ को स्तोता के लिये (प्रति-दुहीयत्) पलट्टे में दे, हे इन्द्र, दक्षिणा, जो धनवती है। (शिवा) दे, स्तोताओं के

लिए । मत (अति धन) हमें त्याग कर अन्यों को दे । भग=धन हमारा हो । महान् हम बोने । यज्ञ मे, श्रेष्ठ वीरो वारे ।

यह तेरो पल्लटे मे दें, वर अथवा प्रायित् अर्थ की, स्तोता के लिए । वर=वरने वाला होना है । जरिता = गरिना स्तुति करने वाला । राजवाडे लिखता है—Yaska thinks that गरिना was changed into जरिता । यह सर्वथा असत्य है । गारह तो जरिता का अर्थ गरिना=स्तुति करने वाला है, बनाता है । एह पद का दूसरे पद मे परिवर्तन नहीं हुआ । दोनो स्वतन्त्र पद हैं । दक्षिणा मघवाली । यह धन का पर्याय है ।

मह से, दान अर्थ वाने स [यह मघ शब्द सम्बन्ध रखता है ।] दक्षिणा दक्षति=स्मृद्धि अर्थ वाने से है । [व्युत्प=वि+श्रुट] यज्ञ वर्म की न्यूनता को अर्थात् विगल-श्रुद्धि को समृद्ध करती है । अथवा प्रदक्षिण आने से, दिशा को अभिधेत करके । दिशा हस्त प्रकृति वाली [होती है,] हस्त है मूल जिस का । [सूर्याभिमुख खडा होने से] दक्षिण हाथ, दक्षिण दिशा [मे होना है] दक्षिण हाथ दक्षति=उत्साह अर्थ वाने से है । अथवा दानति दान अर्थ वाने से है । हस्त हन्ति धातु से है, वीर्य भरणे म । धो, स्तुति करने वालों के लिए कामनाओं को । मत हमें उल्लक्षण करके दो । [पहले हमें दो, पश्चात् दूसरों के लिये ।] ऐश्वर्य=धन हमारा हो । बहुल हम वहे [आओ, खाओ] अपने यज्ञ मे । भग भजति धानु से है । बृहन् यह महत् का नाम है । सब ओर से वृद्धि वाला होता है । वीरों वाले अथवा अच्छे वीरों वाले । वीर=वि+ईर, ताना प्रकार से परे फैलता है, अथवा प्रेरित करता है (अमिआन्) शत्रुओं को । अथवा वेति से हो सकता है, गति अर्थ वाने स । [जाता है, शत्रुओं के सामने ।] अथवा वीर्यति से है ।

भाष्य—दुर्ग मघवती का अर्थ लिखता है—द्विरत्यधान्यादिधनेन संयुक्ता । इन्द्र द्विरण्य और धान्यादि धन दक्षिणा में कैसे देना है । इन्द्र मध्य-मस्थानी देवता है । इस मध्यम स्थान में—मध्यमोऽग्निर्वैनस्पति, (बृहदेपना १ । १९) है । इस वनस्पति अग्नि से इन्द्र धान्यवान् है । इसी वनस्पति अग्नि का वृषिबीर्य वानरक्य अग्नि से सम्बन्ध है । यहाँ भी निर्वचन की विधि लुप्त है । प्रत्येक निर्वचन अर्थ का संकेत करने में समर्थ है । यास्क से बहुत-बहुत

पूर्व भी धातुओं के अर्थ स्पष्ट ज्ञात थे । पाणिनि ने उन में से अपने अभीष्ट धातु एकत्र कर लिए ।

सीमिति परिग्रहार्थायो वा । पदपूरणो वा ।

प्र सीमादित्यो असृजत् ॥ [ऋ० २ । २८ । ४ ॥]

प्रासृजदिति वा । प्रासृजत्सर्वत इति वा ।

वि सीमतः सुरुचो वेन आव्यः । [य० १३ । ३] इति च ।

व्यवृणोत्सर्वत आदित्यः । सुरुच आदित्यरश्मयः । सुरुचनात् । अपि वा सीमित्येतदनर्थकमुपबन्धमाद्गीत पञ्चमीकर्माणम् । सीमन्ः सीमतः सीमातो मर्यादातः । सीमा मर्यादा । विपीव्यति देशाविति ।

अर्थ—१७. सीम, यह निपात सब ओर से ग्रहण अर्थ वाला [होता है] अथवा पदपूरक भी होता है । आदित्य ने चारों ओर से ग्रहण-कर्तृ [रश्मियों को] प्रकर्ष से उत्पन्न किया । अथवा सब ओर से उत्पन्न किया । (सीमतः) सब ओर से (सुरुचः) अच्छी रश्मि वाले सूर्य ने किरणों को खोला । सुरुचः, आदित्य रश्मियां हैं । भले प्रकार चमकने से । अथवा सीमन् यह निपात अनर्थक (उपबन्ध)=प्रत्यय को ले लेता है पञ्चमी अर्थ वाले [प्रत्यय को ।] सीमन्ः=सीमतः=सीमातः अर्थात् मर्यादा से । सीमा मर्यादा [है ।] पृथक् करती है, दो सिए हुए=जुड़े हुए देशों को ।

भाष्य—सुरुचः व्यवृणोत्—किरणों को खोला, परदे को हटाया । सुरुचः विशेष प्रकार की किरणें । किरणों का खोलना किस प्रकार से होता है, इस का व्याख्यान तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ५ । १० में है—

स समुद्र उत्तरतः प्राज्वलद् भूम्यन्तेन ।.....स सुवर्णरजताभ्यां कुशीभ्यां परिगृहीत आसीत् । तं यदस्या अध्यजनयन् । तस्मादादित्यः । अथ यत्सुवर्णरजताभ्यां कुशीभ्यां परिगृहीत आसीत् । साऽस्य कौशिकता ।.....ते कुशयो व्यधन् । ते अहोरात्रे अभवताम् । अहरेव सुवर्णाऽभवत् । रजता रात्रिः । स यदादित्य उदेति । एतामेव तत्सुवर्णां कुशीमनु समेति । अथ यदस्तमेति । एतामेव कुशीमनु संविशति ।

अर्थात्—वह समुद्र [जहाँ से प्रजापति द्वारा स्थापित इन्द्र प्रकट होता है] उत्तर से प्रकट हुआ । " " । [उस समय] वह इन्द्र मुख्य और राज कोशों से' सब और स गृहीत उत्पन्न हुआ । उस इन्द्र को जो हम [अग्नि = पृथिवी] के ऊपर प्रकट किया, इसी कारण वह [इन्द्र] आदित्य हुआ । यही हम इन्द्र की कौशिकता है । वह दोनों कुशियाँ—कीश पूषक्-पूषक् हुए । वे अहोतात्र हुए । यह ही मुख्यों हुईं । रत्ना रात्रि [हुईं ।] यह जब आदित्य उदय होता है । इस ही मुख्यों कुशियों के अनुग्रह होता है । फिर जब अस्तता को प्राप्त होता है, इस ही कुशियों में अनुग्रह होता है । इसी अभिप्राय से ऐतरेय ब्राह्मण ३ । ४४ में प्रवचन है—

स वा एव [आदित्यः] न कदाचनास्तमेति नोदेति ।" "

अर्थात्—निश्चय से यह आदित्य नहीं कभी अस्त होता, न उदय होता । " " । वह अहन् के तब अस्त में प्राप्त होकर अपने आप को विपर्यस्त करता है । इति ।

यह आत्म विपर्याय विज्ञान का उत्कृष्टतम स्थान है ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के उद्देश में निर्दिष्ट इन्द्र मध्यमस्थानी प्रतीत नहीं होता ।

अनुन वह और रात्रि अति सूक्ष्म पदार्थ हैं । उन से सूर्य आवृत है । ये दोनों आत्मा और आत्मेय परमाणुओं के योग का फल हैं । इन्हीं स आगे स्रक्सर बना है । इसी लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में—अग्नि संवत्सरः । तां० १० । १३ । १०, संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः । ऐ० प्रा० ३ । ४ ऐसे प्रवचन हैं ।

यह विद्या मात्र संसार से लुप्त है । योरोपीय लोग इस सूर्य विद्या के समीप नहीं पहुँचे । अतः हम योरोप और अमेरिका के वैज्ञानिकों के मय से इस विद्या से मुक्त नहीं हो सकते । योरोप का विज्ञान अल्पवय और अशुभ है । वैदिक ज्ञान धर्म, अतः पूर्ण सत्य है ।

इसी रात्रि के कोश में से आदित्य अपनी किरणों को भले प्रकार सोलता है । निरुक्त पढ़ने वालों को वैदिक पत्र सर्वथा ज्ञान होना चाहिए ।

१. यदि कुशावला अर्थात् होता तो पद-रूप कुशिर्या होना ।

त्व इति विनिग्रहार्थीयम् सर्वनामानुदात्तम् । अर्धतामेत्येके ॥ ७ ॥

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वौ गायति शक्वरीषु ।

ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि विमीत उ त्वः ॥

[ऋ० १०।७१।११ ॥]

इति । ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे । ऋचारेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होता । ऋगर्चनी । गायत्रीमको गायति शक्वरीषुद्गाता । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः । शक्व्यं ऋचः शक्नोतेः । तद्यदाभिवृत्र-मशकद्धन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम् । इति विज्ञायते । ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति । ब्रह्मा सर्वविद्यः । सर्वं वेदितुमर्हति । ब्रह्मा परिवृळ्हः श्रुततः । ब्रह्म परिवृळ्हं सर्वतः । यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युः । अध्वर्युरध्वर्युः । अध्वरं युनक्ति । अध्वरस्य नेता । अध्वरं कामयत इति वा । अपि वार्धीयाने युरूपवन्धः । अध्वर इति यक्षनाम । ध्वरतिहिंसाकर्मा । तत्प्रतिषेधः ।

१८. अर्थ—त्व यह पृथक् करना, इस अर्थ वाला सर्वनाम अनुदात्त है । आवे का नाम है, यह कई एक [आचार्य मानते हैं ।] ऋचाओं की पुष्टि को पुष्ट करने वाला एक [ऋत्विक् यज्ञ मे] बैठता है । गायत्र को [ऋत्विक्] गाता है, शक्वरी=ऋचाओं पर । ब्रह्मा एक बोलता है जातविद्या को । यज्ञ की मात्रा (=सूक्ष्म स्थिति) को विशेष दनाता है एक ।

यह [ऋचा] ऋत्विजों के कर्मों के विनियोग को कहती है । ऋचाओं के एक पोषण को बैठता है, पुष्टि करता हुआ । [यह] होता [है ।] ऋक्=अर्चनी है अर्थात् स्तुति वाली है । गायत्र को एक गाता है शक्वरी=ऋचाओं पर, उद्गाता । गायत्र गायति [धातु] से है, स्तुति अर्थ वाले से । शक्वरी ऋचाएं हैं शक्नोति [धातु] से ।

तो जो इन [ऋचाओं] से वृत्र को समर्थ हुआ मारने को, वही शक्वरियों का शक्वरीपन है । यह विशेष जाना जाता है । ब्रह्मा एक उत्पन्न होने पर, उत्पन्न होने पर [कर्म के], विद्या को कहना है । ब्रह्मा सारी विद्या वाला, सब जानने को योग्य है । ब्रह्मा सब ओर से बड़ा हुआ, वेद से अथवा

ध्वन-ज्ञानसे। ब्रह्म मय ओर मे बड़ा। यज्ञ की माया=इयना की विनोप बनाता है एव अध्वयुं । अध्वयुं =अध्वरयु, अध्वर=यज्ञ की जोड़ता है। यज्ञ वा नैना [है ।] अथवा यज्ञ की कामना करता है। अथवा (अधीयाने) पढ़ने वाचने के अर्थ में यु प्रत्यय है। अध्वर यह यज्ञ नाम है। ध्वरति, हिमा अर्थ वाला [है ।] उमता प्रतिषेध है।

भाष्य—आधा अर्थ में यह त्य सर्वनाम नहीं है। यदि सर्वनाम है, तो निपातों में इस की गणना क्यों ई। धारक ने कुछ प्राचीन आचार्यों का पद दिखाने के लिए इस निपातों में पड़ा है।

शकरी पद का निर्वचन ब्राह्मण पाठ से स्पष्ट किया गया है। जब सृष्टि बन रही थी जब पृथिवी पर मनुष्य आदि की सृष्टि नहीं हुई थी, जब पृथिवी काञ्चाली-नृता अथवा आकाश अथवा जोम रहित = गहरी थी, उस समय जो सृष्ट अर्थात् महामेव इस पृथिवी से सुरूक तक फैला हुआ था, उस समय सृष्टवध के लिए इंद्र की सहायता में वे आकाश में उच्चरित हो रही थी। स्वर्ग देवों द्वारा इन की देवी वाक् अपने शब्द (vibrations) उत्पन्न कर रही थी। तब इंद्र इन की सहायता से सृष्ट के लिए भिन्न करने में समर्थ हुआ। यह सामर्थ्य ही इन का शकरीपन है।

इति विज्ञायते—कल्पमूर्त्तौ और निरुक्त आदिकों में इति विज्ञायते पद लिख कर ब्राह्मण-वचन उद्धृत किए जाते हैं। वे वचन ब्राह्मण ग्रन्थ में हों, वा संहिता के ब्राह्मण पाठ में। राजवाणे लिखता है—इति विज्ञायते is used after a quotation from a Veda or a Brahman. यह अन्त कथन है। हम ने वेद-ग्रन्थ के उद्धरण के अन्त में यह पाठ कहीं नहीं देखा। इति विज्ञायते का अर्थ है, यह विज्ञान से जाना जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ विज्ञान पूर्ण हैं।

जातविद्या पद के विषय में राजवाणे लिखता है—I venture to say that the original word was जातवेद्य। यह अनुमान व्यर्थ है। यह वेद के पाठ को नहीं समझा।

जातविद्या इस समस्त पद का जाते जाते विद्या विभक्त है। यज्ञ में मड़ती विद्या निहित है। उसके प्रत्येक कर्म में किसी एक विद्या का प्रकाशन है। मझा उस प्रत्येक विद्या को जानने वाला होता है। यज्ञ विशेष में शकरी क्यों रखी जाती है,

इस विद्या का प्रकाश ब्रह्मा करता है। वह सर्ववित् होता है। ऐसे सहस्रों ऋत्विक् = ब्रह्मा आदि इस देश के इतिहास में हो चुके हैं। उन के रहते राध और मैकडानल आदि ईसाई-यहूदी पाश्चात्य लेखकों का मिथ्या-भाषण, कि भारत में यास्कादि के काल में वेदार्थ मंदिग्ध हो चुका था, सर्वथा लज्जा का स्थान है। वेद का ज्ञान सब ओर से बढ़ा है। यह परम विज्ञान है।

अध्वर—महाभारत काल से बहुत पूर्व के देवलकृत धर्मसूत्र में यजुर्वेद को अध्वरवेद नाम से स्मरण किया है।^१ वस्तुतः यज्ञ का वेद यजुर्वेद है। इस यज्ञ में अति प्राचीन काल में हिंसा नहीं होती थी। पशुयज्ञों का पुरा काल का नाम पशुबन्ध है, पशुबध नहीं। यज्ञ में पशु-हिंसा बहुत उत्तर काल में चली है।

निपात इत्येके। तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्। दृष्टव्यं तु भवति।
उत त्वं सुरुये स्थिरपीतमाहुः [ऋ० १० । ७१ । ५] इति द्वितीयायाम्।
उतो त्वस्मै त्वं विसस्ते [ऋ० १० । ७१ । ४] इति चतुर्थ्याम्।
अथापि प्रथमा बहुवचने ॥ ८ ॥

अर्थ—(त्व पद) निपात है, यह अनेक [मानते हैं] वे कहते हैं— तो कैसे अनुदात्त प्रकृति वाला नाम [पद] हो। [यास्क का उत्तर है—] देखे गए व्यय [नाम के विभिन्न रूपों] वाला होता है।^१ यथा—और (त्वं) एक को मित्रता में स्थिरपीत—दृढ़ पीने वाला कहते हैं।^३ यह द्वितीया विभक्ति में [प्रयोग है।]

और एक के लिये आत्मीय शरीर को [वाणी] विविध प्रकार से खोलती अथवा प्रकाशित करती है।^४ यहाँ चतुर्थी विभक्ति में [प्रयोग है।]

और भी—प्रथमा के बहुवचन में [भी प्रयोग है—]

अक्षरवन्तः कर्णवन्तः सर्वायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकृत्सास उ त्वे हृदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृशे ॥
[ऋ० १० । ७१ । ७]

१. देखो, वै० वा० ३० भाग प्रथम, द्वि० सं०, पृ० २४८ ।

२. यह अव्यय नहीं है। ३. इस का व्याख्यान आगे १ । २० में देखें।

४. इस का व्याख्यान आगे १ । १६ में देखें।

अर्थ—आखो बाने बानो बाने सखा [छात्र] मन के वेगामे अममान हुए=होने हैं। मुग्ध परिमाण तक वक्ष [पञ्जारी मे—वक्षत्र] परिमाण तक एक हृत्ते के समान स्नान योग्य दिखाई देन हैं।

अक्षिमन्त कर्णयन्त सम्वाय । अक्षि चष्टे । अन्ते इत्याग्रा यत् । तस्मादने व्यनन्ते इव भवत इति ह विज्ञापते । कर्णं कृन्वते । निवृत्तद्वागे भवति । शृच्छनेरित्याग्रायण । शृच्छन्तीय मे उद्वगन्ताम् इति ह विज्ञापते । मनसा प्रत्रेष्वसमा यन्तु । आस्यदत्ता अपर । उपकृत्तदत्ता अपर । आस्यमस्यते । आस्यन्दन एनदक्षमिति वा । दक्ष दृष्यते अत्रतिकर्मण । दस्यतेर्न स्यात् । विदस्ततर भवति । प्रस्नेया । हृदा इवैव दृष्टिर । प्रस्नेया स्नानार्हा । हृदो ह्रादते शब्दकर्मण । ह्रादतया स्याच्छीर्नीभावकर्मण ।

अर्थ—आखो बाने बानो बाने सखा [छात्र] अक्षि चष्टि से है । अन्ति से, यह आग्रायण [कहता है] इसलिए ये दोनों [नेत्र शरीर के अथ अङ्गो की अपेक्षा अधिक] स्पष्ट के समान हैं । यह निधय से ब्राह्मण ग्रन्थ का विज्ञान है ।

कर्ण कृन्वति से है । छिन्ने हुए द्वार वाला होता है । शृच्छति से है यह आग्रायण [कहता है] जाने हुए के समान आकाश मे ऊपर को शरीर के अधोभाग से । यह निधय स विज्ञान से जाना जाता है । मना के विशेष वेगो से अममान हुए । मुग्धपरिमाण वाले एक प्रकार [क छात्र] वक्ष के समीप परिणाम वाले दूनरे । आस्य पद अस्यति से है । बहना है, द्रवीभूत होना है, [शुष्क भी] यह अन्न अथवा । दक्ष-परिमाण दृष्यति स है स्वदनि अर्ब बाने मे । दस्यति स अथवा है, क्षीणतर होना है । वृत्त स्नान करने योग्य हृद=वृत्त उदक बाने तडागो के समान कई एक दीखने हैं । वृत्त स्नान करने योग्य, स्नान योग्य । हृद ह्रादति से है शब्द अर्थ वाल । ह्रादति से अथवा है शीतोभाव अर्थ वाले से ।

भाष्य—यह अथा ऋग्वेद १०।७१।२ है । इन का अपि बृहस्पति और देवता ज्ञान है । इस कारण आचार्यों ने इन का अर्थ ज्ञान उपलब्ध करने करने वाले छात्रों में पढाया है ।

पास्क का मत है कि न्याकरण सीमाबद्ध है । अत उस के नियमों के अपवाद भी होते हैं । इस विषय में वास्तविक प्रमाण वेद के प्रयोग-विस्तार का

है। वेद में त्व पद दृष्टव्यय अर्थात् शरट् दिखने वाले विभिन्न रूपों में है। अतः यह नाम भी है।

आगे अक्षि और कर्ण शब्दों के दो-दो निर्वचन हैं। दूसरा निर्वचन आप्रायण के ग्रन्थ से है। इस दूसरे निर्वचन में ब्राह्मण ग्रन्थों के पाठों का प्रमाण है।

अक्षि चष्टे = देखने से है, तथा अनक्तेः = अत्यन्त व्यक्तता अथवा स्पष्टता से है। अक्षि अन्य सब शरीराङ्गों से व्यक्ततर है। इसी में नायन-रश्मियां हैं। इन्हीं के कारण सब दर्शन होता है। नायन-रश्मियों का ज्ञान योरोपीय विद्याओं में नहीं है। यास्क ने दो निर्वचन अक्षि के दो गुणों के कारण दिखाए हैं। कर्ण पद के दो निर्वचन भी कर्ण के निकृत्तद्वार होने, और ऊपर उठा होने के कारण से हैं। आस्य पद के दो निर्वचन भी अपनी सूक्ष्मता लिए हैं।

अम्र का अपत्य आप्रायण था।

अथापि समुच्चयाथं भवति। पर्याया इव त्वदाश्विनम्। [कौपीतिकि द्रा० १७।४] आश्विनं च पर्यायाश्च इति।

१९. अर्थ—और [यह अगला त्वत् निपात] समुच्चय अर्थ में भी होता है। [उदाहरण—] पर्याय [त्वत्=] और आश्विन।

भाष्य—यहां इव पदपूरक है। यास्क ने भाष्य में मूल पाठ का क्रम-परिवर्तन किया है। त्वत् का प्रयोग यहां पर्याय पद के पश्चात् है।

अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु। अनर्थकाः। कर्माभिद्विति ॥ ६ ॥

अर्थ—अव जो [अन्य पदों द्वारा] (प्रवृत्ते) परिसमाप्त होने पर अर्थ के (अमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु) न मापे गए अक्षरों वाले गद्य ग्रन्थों में अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक्यपूरण [निपात] आते हैं, पदपूरण वे [ही होते हैं] (मिताक्षरेषु) पादबन्ध [ग्रन्थों में अथवा ऋक्पादों में] [वे] अर्थ वाले नहीं होते। कम्, ईम्, इत्, उ, ये।

भाष्य—यास्क से पूर्व अर्थात् भारत-युद्ध से कुछ पूर्व विद्या कण्ठस्थ ही न थी, प्रत्युत ग्रन्थों में भी लिखी जाती थी। ग्रन्थ शब्द स्वयं इस का बोधक

है। तथाच वे ग्रन्थ वाच्य ग्रन्थ थे और पादग्रन्थ भी थे। वाक् मे वही ग्रन्थ पर के प्रयोग से लोक-भाषा और वेद-वाक् मे नियत्त दोनों प्रकार के ग्रन्थों का उल्लेख कर दिया है। निपात पादपुराण, यह वाच्य वाच्यसन्नेय प्रतिशाल्यम् ८।१४ में है।

यद्य कम् आदि ओ चार निपात हैं, वे प्रायः पदपुराण ही हैं।

[निवृत्तत्रार्थभिदिन्नरो धूर्ततोमा वृत्तार्थिव ।

रिम्यस्पन्तो वराशिरे] शिशिरं जीवनाय कम् ॥

शिशिर जीवनाय । शिशिरं शृणुते: शस्त्रातेर्षा ।

एमेनं सृजता सुते ॥ [ऋ० १।६।२ ॥]

आसृजतेन सुते ।

तमिर्द्धन्तु नो गिरः ॥ [ऋ० ६।६१।१४ ॥]

तं वर्धयन्तु नो गिरः स्तुनय । गिरो गृणाने ।

अयमुं ते समतसि ॥ [ऋ० १।३०।४ ॥]

अय ते समतसि । इवोऽपि दृश्यते । सु विदुरिच । सुविज्ञयेते इव ।

२०-२३ अर्थ—१, कम्—शिशिर जीवन के लिये । कम् यहा अनर्थक है । शिशिर-शृणानि से है, अथवा शस्त्राति से । [शृ और सम् हिमार्थक हैं ।]

२, ईम्—आ+ईम् एन सृजता सुत । इम को [आ-सृजत] डालो (सुते) इम चमम म टहरे सोम मे । ईम् यहा अनर्थक है ।

३ इन्—उम् [सोम] को बडाए हमारि स्तुतिया । इत् यहा अनर्थक है । गिर गृणानि से है ।

४, उ—यह है तेरा [सोम, जिसकी ओर तू] सदा निरन्तर जाता है । उ यहा अनर्थक है ।

२४ इव भी कभी अनर्थक दिखाई देता है सुविदुरिच । वे ब्राह्मण अंचेद्रे प्रकार [यज्ञ को] जानते हैं । सुविज्ञयेते इव । वे दोनो अंचेद्रे प्रकार जाने जाते हैं । इव इन दोनो उद्गृह्य वचनो मे अनर्थक है ।

भाष्य—शिशिर हमारे जीने के लिए है, हेमन्त नहीं। इस पूरी ऋचा का मूल स्थान अन्वेपणीय है। दुर्ग भी लिखता है कि शाखान्तरों में पूरा मन्त्र द्रष्टव्य है। शिशिर पद श से है। शिशिर ऋतु में वनस्पति के पत्ते शुष्क हो कर नष्ट होते हैं। दुर्ग और स्कन्द ने शम्नाति को भी हिंसा अर्थ वाला माना है। मन्त्र के चतुर्थ पाद में शिशिर को जीवन देने वाला कहा है। अतः वह दुःखों की हिंसा करके जीवन देने वाला है।

सोम को बढ़ाएं, स्तुतियां। यह मन्त्र भाग ऋग्वेद ६ । ६१ । १४ का है। सोमविद्या इसी नवम मण्डल में है। आधिदैविक प्रकरणों में अपां सार ही सोम है। वह दिव्य पदार्थ है। गायत्री छन्द द्वारा वह ऊपर के लोक से नीचे लाया गया था। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस विज्ञान का विस्तार है। उस समय ऊपर के लोकों के प्राव स्तुति करते थे। उस स्तुति से सोम बढ़ा था। यह घटना समझने योग्य है। उसी सारी घटना का प्रतिरूप यज्ञ-क्रिया में स्पष्ट किया जाता है। सृष्टि-विद्या में वे प्राव आदि क्या हैं, इस का ज्ञान करना चाहिए। इय निपात की कहीं-कहीं अनर्थकता दिखाने वाले दोनों प्रमाण काठकसंहिता के दर्श-पूर्णमास प्रकरण ८ । ३ और ८ । १३ हैं।

अथापि न इति एष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये ॥ १० ॥

हविर्भिरेके स्वरितः संचन्ते सुन्वन्त एके सर्वनेषु सोमान् ।

शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्वार्यन्त्यो नरकं पताम ॥ इति ।

[खैलिक मन्त्र २४ । १ ॥]

नरकं नि अरकं । नीचैर्गमनम् । नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा । अथापि न च इत्येष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे । न चेतसुरां पिवन्तीति । सुरा सुनोतेः । एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति । त उपेक्षितव्याः ॥ ११ ॥

इति प्रथमाऽध्यायस्य तृतीयः पाद ॥

अर्थ—और न यह इत् इस के साथ मिल कर प्रयुक्त होता है, परिभये=सब ओर से भय के अर्थ में।

ऐसा चागे और से भय है कि वृत्ति आचरण बननी हुई, नहीं नरक में गिर जाएं । हविषो में एक लोग स्वर्ग=दुनोक को हम भूमि में [परे जा कर मृत्यु के पछाड़] मेवने हैं । निरनने हुए एक लोग यज्ञ के प्राण आदि मवनो में मोषो को, [स्वर्ग को मेवने हैं ।] वाणियो में वृत्त करते हुए [एक लोग स्वर्ग को सेवने हैं ।] अथवा [गोमहसादि के दान अथवा] दक्षिणा में । हमे चारो ओर से भय है कि—उनका आचरण करनी हुई हम नरक में न गिरे ।

नरक=नि+अरक अर्थात् नीचे जाने के अर्थ में है । अथवा नहीं हम में रमण स्थान घोडा भी है । और न च, ऐसा यह इन् हम के माय नंप्रयुक्त होना है, दूसरी बार पूछने के अर्थ में । यदि सुरा नहीं पीने हैं, [तो आएगे ।] सुरा सुनोनि में है । हम प्रकार नाना प्रकार के अर्थों में गिरते हैं । वे समीपता से टेमे जाने चाहिए ।

भाष्य—यह वैज्ञिकी श्रुति है । कभी यह किमी सहिता का भाग थी । दुर्गे और स्वन्द हम श्रुति में अमुर-पत्रियो का उत्तर देवते हैं । उन के अनुसार किमी समय मारद ने उन अमुर-पत्रियो को विप्रलभ्यामान किया । उन का उत्तर इस श्रुति में है ।

हमारा विचार है कि यद्यपि यह वैज्ञिक मन्त्र है, तथापि इस में कोई आधिदैविक तन्त्र विद्यमान अवरथ है । जैसे भौतिक आदि अथवा देवपत्र में देवपत्रियो मानी जाती हैं, वैसे ही इस पत्र में अमुर-पत्रियो भी हैं । जब पृथिवी स्तम्भान नहीं हुई थी, सब भूतल पर मानव जन्मा भी न था, तब भौतिक अमुर इस पृथिवी के दक्षिण में यवराज थे । यह शतपथ ब्राह्मण २ । १ । १ । ८ में है । उन अमुरो की पत्रियो भी थी । उन्हीं की माया का यहाँ वर्णन है । मन्त्र-गत इन पद से यह स्पष्ट है कि हम मन्त्र का प्रसन्न पृथिवी पर का है । नारद क्या हो सकता है, यह जानना चाहिए ।

६५ —आधिदैविक पत्र में तु श्लोक और सामान्य पत्र में मुख विशेष ।

शची = वाणी = वेदमन्त्रों द्वारा स्तुति ।

रावबादे का मत है—नेत्रिह्यायन्त्यो नरक पताम which is quite modern in style (p. 255) । इस रचना को सर्वथा नूतन अल का कहना दोष-पूर्ण ईसाई भाषामत के अनुकरण के कारण है ।

नरक पद के दो निर्वचन दिए गए हैं। सब प्रकार से नीचे गिरना नरक है। तथा जहाँ रमण अथवा आनन्द का स्थान थोड़ा भी न हो। दोनों निर्वचन युक्त हैं। निरुक्त में उपेक्षितव्यः पद का प्रयोग अति पुराने अर्थ में हुआ है।

[अथ चतुर्थः पादः]

इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि । नामाख्याते चोप-
सर्गनिपाताश्च ।

तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च ।

न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके ।

तद्यत्र स्वरसंस्कारो समर्थो प्रादेशिकेन विकारेणान्वितो स्यातां
संविज्ञातानि तानि । यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति ।

अथ चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं
तत्सर्वं तथाचक्षीरन् । यः कश्चाध्वानमशुर्वीताश्वः स वचनीयः
स्यात् । यत्किञ्चित्तृन्द्यात्तृणं तत् ।

अथापि चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यावद्भिर्भविः
सम्प्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात् । तत्रैवं स्थूणा दरशया
वा सञ्जनी च स्यात् ॥ १२ ॥

अर्थ—इस प्रकार ये चार (पदजातानि) पद-समूह अनुक्रम से कह
दिए । नाम और आख्यात, उपसर्ग और निपात ।

इस विषय में नाम [सारे] आख्यातज अर्थात् क्रिया से उत्पन्न होने
वाले हैं, यह शाकटायन [मानता है] और नैरुक्तों का (समय)
सिद्धान्त है ।

नहीं सारे [नाम आख्यातज ।] यह गार्ग्य [मानता है] और वैयाक-
रणों में से कुछ एक ।

गार्ग्ये प्रदर्शित आक्षेप

प्रथम आक्षेप—

तो जहा स्वर [उदास आदि] और मस्कार [प्रकृति, प्रयय आदि] समर्थ=युक्त बने और (प्रादेशिणेन) व्याकरण से प्रदर्शित विकारों से अथवा स्पष्ट धातु वाले नाम से जुड़े हुए हो, (स्वविज्ञानानि) ठीक जाने हुए वे [हैं ।] यथा—गौ , अश्व , पुरुष , हस्ती—इति ।

भाष्य—प्रतीत होता है, यास्क स पूर्व के निरुक्तों में भी नाम आख्यातोदि के वर्णन का यही अनुक्रम था । वैपाकरणों में स शाक्ययन और प्राय सब नैरुक्तों का एक सिद्धान्त था । तथा नैरुक्तों में स गार्ग्य और प्राय सब वैपाकरणों का दूसरा मत था । गौ , आदि शब्द स्वविज्ञात हैं, पर डित्थ , इवित्थ आदि नहीं । इन का धातु कल्पित नहीं किया जा सकता । राजवाड़े का स्वीकृत पाठ—प्रादेशिणेन गुणन है । पर लक्ष्मणस्वरूप का स्वीकृत पाठ है—प्रादेशिणेन विकारेण—यहाँ गुण का अर्थ धातु है । बहुत संभव है विकारेण शब्द मूल पाठ हो । वस्तुतः धातु भी तो मूल शब्द का एक विकारमात्र है ।

दूसरा आक्षेप—

अर्थ—और यदि सारे नाम आख्यातो से उत्पन्न होने वाले हो, तो जो कोई [प्राणी] वह कर्म करे तो उस सारे प्राणी [समुदाय को] वैसा कहे । जो कोई [अध्वानम्] माग को व्याप्त करे, घोडा वह कहा जाए । जिस किसी को तोड़ें तृण वह [हो ।]

तीसरा आक्षेप—

पुनश्च—यदि सारे नाम आख्यातो से उत्पन्न होने वाले हो, तो जितने भावो-त्रियाओ से [नाम वाला] संयुक्त हो, उतनी से [उसे नाम की] प्राप्ति हो । वहा ऐसा हो, स्थूणा (फारसी-स्तून स्तम्भ) दरगया (दर दरार में गया—सोने वाली) अथवा सञ्जनी (रखा जाता है बास जिसपर छत टिकाने के लिये) ॥ १२ ॥

भाष्य—लक्ष्मणस्वरूप पाठ—वा सञ्जनि । राजवाड़े पाठ—च आसञ्जनी । स्कन्द पाठ—वाऽऽसञ्जनी । स्कन्द लिखता है—आसञ्जनीति त्वयमपपाठ । दुर्ग—सञ्जनी पाठ ठीक मानता है । भाषा की दृष्टि से च और ञ दोनों ही ठीक

हो सकते हैं। अथर्वेद में समान पाठ वाले मन्त्रों में वाचं और वाजं दोनों रूप मिलते हैं।

चतुर्थ आक्षेप—

अथापि य एषां न्यायवान्कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तर्धनान्याचक्षीरन्। पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्। अष्टेत्यश्वं। तर्दनमिति तृणम्।

अर्थ—और भी—जो इन का (न्यायवान्) व्याकरण के लक्षण से युक्त (कार्मनामिकः) कर्मनिमित्त में होने वाला [प्रकृति—प्रत्यय का] संस्कार है, [उस के कारण] जिस प्रकार [वे नाम] (प्रतीतार्थानि) ठीक समझ में आने वाले अथवा स्फुटार्थ हों, वैसे इन को कहें, अष्टा यह अश्व को, तर्दन यह तृण को [कहें]।

भाष्य—सृष्टि के आदि में शब्द अथवा वाक्यरूप मन्त्र थे। वे ही भाषा का आदर्श हैं। धातुओं की विद्या बहुत उत्तर काल में ऋषियों ने मन्त्रों के आधार पर आविष्कृत की। धातुओं को मुख्य मान कर नैरुक्तों का निर्वचन-सिद्धान्त चला। व्याकरण शाकटायन उन से सहमत हुआ। दूसरी ओर नैरुक्त गार्ग्य ने इसे पर्याप्त नहीं समझा। वह धातुओं से सब नामों की उत्पत्ति नहीं मानता। यास्क ने उसके पक्ष की चूटिमात्र दिखाई है।

पांचवां आक्षेप

अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति।

प्रथनात्पृथिवीत्याहुः।

क एनामप्रथयिष्यत्। किमाधारश्चेति।

अर्थ—और भी, निष्पन्न होने पर अभिव्याहार के, अर्थात् पूर्वसिद्ध नाम के प्रयोग के पूर्ण ज्ञान के पश्चात् गम्भीर विचार करते हैं। (प्रथनात्) फैलाने के कारण से पृथिवी, ऐसा कहते हैं। [यदि] किसी ने इस [भूमि] को फैलाया होता, और किस आधार पर [ठहर कर]।

भाष्य—प्रथनात्पृथिवीत्याहुः। यह किसी पुरातन श्लोक का चतुर्थोऽंश है। निश्चय है कि पृथिवी फैलाई गई थी। पर किसी पुरुष ने इसे नहीं फैलाया।

इस फैलाव का कारण भौतिक माया थी । प्राकृत्य ग्रन्थों में इस का स्पष्टीकरण है ।

षष्ठ आक्षेप

अथानन्वितऽर्धेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्य पदेतरार्धान्तसञ्चस्कार
शाकटायन । एत कारित च यकारादि चान्तकरणम् । अस्ते, शुद्ध च
सकारादि च ।

अर्थ—और [शब्द से] अनुगत न होने पर अर्थ के साक्षादिष्ट विकार
=क्रिया क [न होने पर] [आख्यात] पदा से [सर्वथा बेजोड़ वाले
दूमेर] [आख्यात] पदों के आगे भागों से [प्रवृत्ति-प्रत्यय का] सस्कार
क्रिया शाकटायन न । [यथा—] एणि धातु से (कारित) [पाचयति
आदि म जा] णिच् कृत् और [यकारादि] जो [दीव्यति आदि में]
यकार (अन्तकरणम्) प्रत्यय को [माना] अर्थात् जिस में शब्द का अन्त
क्रिया गया । [तथा] अस्ति धातु से शुद्ध को और सकारादि [यथा
मियामति मियामति रूपों] को ।

भाष्य—यास्क के सामने शाकटायन व्याकरण और उस की पूरी प्रक्रिया
बर्नमान थी । यास्क और उस से पूर्व काल में धातु उस रूप में बहुरथा नहीं
विभक्त होते थे, जैसा पाणिनीय प्रक्रिया में लिखे जाते हैं । इन यास्क के निर्वचन
आदि में, तथा इस प्रकरण में एते [= एणि से] तथा अस्ते (= अस्ति से)
रूप पढ़े गए हैं । यास्क ने गार्ग्य का आक्षेप दिखाने हुए शाकटायन की प्रक्रिया
का प्रशंसा किया है । गार्ग्य ने सत्य शब्द पदा नहीं पर यहाँ सिद्धि इसी शब्द
की अभिप्रेत है । शाकटायन का व्याकरण उस समय अति प्रसिद्ध था इन गार्ग्य
ने उस की शब्द-सिद्धि का प्रकार अत्यन्त स्पष्ट रूप में दर्शाया है । यास्क से
पूर्वकी व्याकरण अन्तकरण पद का प्रत्यय रूप में प्रयोग करते थे

इस षष्ठ आक्षेप से एक ऐतिहासिक तथ्य भी ज्ञात होता है । यास्क (भारत
शुद्ध स अगमना २० वर्ष पूर्व) से गार्ग्य पहले था और गार्ग्य से पूर्व शाकटायन
था ।

सप्तम आक्षेप

अथापि सरसपूर्वो भाष इत्याहु । अणरम्माद्भवात्पूर्वम्य प्रदर्शो
नोरपचत इति ।

अर्थ—और भी—(सत्त्वपूर्वः) द्रव्य अथवा पदार्थ पूर्वक (भावः) क्रिया [होती है] ऐसा कहते हैं । [अतः] उत्तरकाल में हूँने वाली क्रिया से पूर्व के [पदार्थ का] (प्रदेश=) जताना नहीं युक्त होता । इति ।

भाष्य—इन सात हेतुओं से गार्ग्य ने यह पक्ष रखा है कि सारे नाम आख्यातज नहीं हैं । इस सारे प्रकरण के अन्त में इति पद बतता है कि ये सातों हेतु गार्ग्य के मूल शब्दों में ही रखे गए हैं । राजवाड़े ने इति पद के अन्त में होने का तर्क तो नहीं दिया, पर बात यही मानी है—Yāska quotes the very words of Gārgya (p. 263).

अथ यास्क कहता है—

तदेतन्नोपपद्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—तो यह नहीं उपपन्न होता ।

यास्क का उत्तर, प्रथम आक्षेप का समाधान

यथो हि नु वा एतत् । तद्यत्र स्वरसंस्कारो समयो प्रादेशिकेन विकारेणान्वितो स्यातां सर्वे प्रादेशिकमिति । एवं सत्यनुपालम्भ एव भवति ।

अर्थ—यथा—हि-नु-वै-एतत् । [यह दुर्ग के अनुसार मूल पाठ का सन्धि-छेद है ।] यथा-उ-हि-नु-आ इति पञ्चैते निपाताः—[यह स्कन्द के अनुसार है ।] अर्थात् जिस क्रम से पूर्वपक्ष, उसी क्रम से हेतुओं का कथन यह है—“जहाँ स्वर (उदात्तादि) और संस्कार (प्रकृति, प्रत्यय आदि) समर्थ, युक्त बनें और व्याकरण से प्रदर्शित वातु वाजे (विकार) = नाम आदि से जुड़े हुए हों, वह सब व्याकरण शास्त्र के अनुकूल है ।” यहाँ ऐसा होने पर बिना उपालम्भ (उलाहना, पंजाबी में उलाम्भा) के यह बात है ।

भाष्य— यह सब व्याकरण शास्त्र के अनुकूल है । अर्थात् सब ही नाम आख्यातज हैं । यह व्याकरण-विरुद्ध नहीं । जिस प्रकार गौः, अश्वः, आदि का स्वर और संस्कार ज्ञात है, उसी प्रकार प्रत्येक नाम का । तथा दित्यः, दित्यः आदि नाम

अर्थात् भारत युद्ध से पहले भी संस्कृत व्याकरण संकुचित हो चुके थे । अतः गार्भ्य ने उन संकुचित व्याकरणों के आधार पर आशेष किया था । उन में धातु थोड़े से रख लिए गए थे । यास्क ने परिस्थिति को स्पष्ट करके उस का उत्तर दे दिया । सब नाम आख्यातज हैं, यह जाना जा सकता है ।

दूसरा समाधान

यथो एतत् । यं कश्च तत्कर्मक्षुर्गोत्सर्वं तत्सर्वं तथान्वहीरन्निति । पर्याप्तं समानकर्मणा नामधेयप्रतिलम्भमेवेवा नैवेयाम् । यथा तदा परित्राजको जीवनो भूमिज इति ।

अर्थ—और जो यह—' जो कोई प्राणी वह कर्म करे, तो उस सारे प्राणी [समुदाय] को वैसा कहे । ' [इस विषय में] हम देखते हैं, समान कर्म [करने] वालों में से कुछ एक को उस नाम की प्राप्ति [होती है] नहीं अन्यो को । यथा—तथा अर्थात् छीलने वाला (पत्राबी-तरखान), परित्राजक अर्थात् घूमने वाला (सन्ध्यामी) जीवन अर्थात् जीता हुआ [दुर्ग—इक्षुरस अथवा शाक जाति । स्कन्द—अग्नि वाला अद्धार] भूमिज अर्थात् भूमि से जन्मा (=अद्धारक अथवा भौम ग्रह) इति ।

भाष्य— गार्भ्य का आशेष है समान कर्म करने वाले सब को एक ही नाम की प्राप्ति होनी चाहिए । यास्क का उत्तर है कि ऐसी प्राप्ति में समान कर्म ही कारण नहीं, प्रयुक्त उस समान कर्म का सतत करना अथवा उस का अथवा विशेष में होना भी कारण है ।

दुर्ग गुर्जर था । वह जम्बू भागोश्रम में रहता था । वहाँ जीवन शब्द इक्षुरस अथवा शाकविशेष के लिये प्रयुक्त होता होगा । स्कन्द बलभी का था । वहाँ जीवन शब्द साग्नि अद्धार के लिये प्रयुक्त होता होगा । परन्तु अद्धार तो सदा साग्नि होगा है, फिर स्कन्द का प्रयोग चिन्त्य है ।

तीसरा समाधान

एतन्मैशोत्तरं प्रयुक्तम् ।

अर्थ—इस दूसरे आशेष के स्वयंसेवक से उत्तर अर्थात् तीसरा आशेष भी सन्दिग्ध किया गया ।

भाष्य—“जितनी क्रियाओं से [नाम धाला] संयुक्त हो, उतनी से [उसे नामों की] प्राप्ति हो ।” इस का स्पष्टन यही है कि क्रिया-विशेषों से नामों का सम्बन्ध है, केवल क्रियाओं से नहीं ।

चौथा समाधान

यथो षत् । यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैतान्याचक्षीर-
त्रिति । सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिकाः । यथा व्रततिर्दमूना जाट्य
आट्णारो जागरूको दर्विहोमीति ।

अर्थ—जो यह है, “और जैसे [ये शब्द] स्फुट अर्थ वाले हों, वैसे इन को कहें ।” हैं अल्प प्रयोग वाले [ऐसे शब्द ।] कृतः=कृदन्त शब्द [वे नाम आदि, जिन के धातु स्पष्ट हैं] तथाच ऐकपदिक [प्रकरण में- पढ़े शब्द ।] यथा—व्रततिः=बली=बेल । दमूनाः=अग्नि अथवा अतिथि । जाट्यः=जटावाला । आट्णारः=अटनशील । जागरूकः=सजग । दर्विहोमी=दर्वों से होम करने वाला—इति ।

भाष्य—व्रतति आदि के विषय में दुर्ग का मत है कि शाकटायन के अभिप्राय से ये सब प्रतीतार्थ हैं । यह अध्येता का दोष है कि उसे अनेक शब्द अप्रतीतार्थ दिखाई देते हैं । ध्यान रहे कि आट्णारः शब्द का अपभ्रंश अंग्रेजी के itinerary विकार में आज भी पाया जाता है । अतः कभी यह भी पूरा प्रतीतार्थ था ।

अट्णार पुरुष-विशेष का भी नाम है । अमरीका निवासी ब्लूमफील्ड अपने वैदिक वेरिण्टेज, भाग २, पृ० २४७ पर अट्णार पद के विषय में लिखता है—
अट्णारस्य, proper names of barbaric appearance and unknown relationships. अर्थात् अट्णार पद चर्चर दिखाई देता है । यदि ब्लूमफील्ड के ध्यान में अंग्रेजी का itinerary अपभ्रंश आ गया होता तो वह ऐसा भ्रमपूर्ण लेख न करता ।

पांचवां समाधान

यथो षत्तन्निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्तीति । भवति हि
निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः । प्रथनात्पृथिवीत्याहुः । क एनाम-

प्रथमिष्यत्किमाधागच्छेति । अथ वै दर्शनेन पृथु । अप्रथिता चेदप्यन्ये । अधोप्यव सर्वे एव दृष्टप्रवादा उपालम्ब्यन्त ।

अर्थ—जो यह है— पूर्वप्रसिद्ध नाम के प्रयोग के पूर्ण ज्ञान के पश्चात् गम्भीर विचार करते हैं । [ऐसा] होना ही है । पूर्व प्रसिद्ध नाम के प्रयोग पर ही (योग-परीष्टि) [उम के] योग अर्थात् अवयवी=प्रकृति प्रत्यय की पर्येष्ठा=परीणा [होती है ।] [और जो कहा] फैलाने के कारण पृथिवी फैल कहते हैं । [यदि] किसी ने इस [भूमि] को फैलाया होता, और किम आचार पर [ठहर कर ।] [अरे] यह निश्चय ही दर्शनमान्य से फैली हुई [दिखाई] देगी है । न फैलाई गई भी हो यदि किन्हीं अन्या के द्वारा । और इस प्रकार सब दिखाई देने वाले पदार्थों के (प्रवाद) नामा पर उपालम्भ होंगे ।

भाष्य—नाम पद अनादि हैं । वे अनादि मन्त्रों के अङ्ग हैं । अतः यह आचार स्वयं है । मार्ग स्वयं मन्त्रों को अनादि मानने वालों में है । अतः इस नप्य के मानने में कोई आपत्ति नहीं कि नाम के प्रयोग के पश्चात् ही उस नाम में योग देने वाले प्रकृति प्रत्यय की परीक्षा होती है । पूर्व प्रसिद्ध नामाधिकों के रूपों पर ही व्याकरण शास्त्र बने हैं ।

पृथिवी जपन—वास्क मुनि आशुष्य ग्रन्थों द्वारा इस वैज्ञानिक सत्य को जानता था कि कल्प के आरम्भ में पृथिवी फैलाई गई थी । यह फैलाव भौतिक शक्तियों द्वारा हुआ था । । इस में किसी मनुष्य की आवश्यकता नहीं थी । फिर वस के किसी आचार पर ठहरने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । फिर भी वास्क इस विचार में नहीं पड़ा उस ने सीधा उत्तर दिया कि दूरेन मात्र स पद फैली हुई प्रतीत होती है ।

पृष्ठ समाधान

यद्यो एतत् । पदेभ्यः पदेतराधोऽन्सचस्कारेति । योऽनन्वितऽथ सचस्कारः स तत्र गच्छ । सैवा पुष्टवगर्हा न शास्त्रगर्हा [इति] ।

अर्थ—और जो यह— [आरुगत] पदों से [सर्वथा बेजोड़ वान] दूरे [आख्यात] पदों के आधे भागों से [प्रकृति प्रत्यय का] संस्कार किया

[शाकटायन ने ।]” जिसने [शब्द से] अनुगत न होने पर अर्थ के [पदों का असम्बद्ध] संस्कार किया, वह उस से निन्द्य हुआ । वह यह गर्हा= निन्दा पुरुष की निन्दा है, नहीं व्याकरण शास्त्र की निन्दा । इति ।

भाष्य—मूल पाठ के अन्त में अनेक कोषों में इति पद नहीं है । यास्क गार्ग्य का शाकटायन पर आक्षेप उद्धृत करता है । पुनः—योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः, लिख कर यास्क ने यह दर्शाया है कि जो कोई ऐसा शब्द-संस्कार करे, वह निन्द्य है । परन्तु वह मानता है कि शाकटायन ने ऐसा शब्द-संस्कार नहीं किया । अतः शाकटायन वा उस के व्याकरण की निन्दा नहीं हो सकती । हां, उस मूर्ख पुरुष की निन्दा हो सकती है जो उलटा संस्कार करे ।

सप्तम समाधान

यथो एतत् । अपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति । पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद्भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम् । विल्ववादो लम्बचूडक इति । विल्वं भरणाद्वा भेदनाद्वा ॥ १४ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

अर्थ—और जो यह—“उत्तरकाल में होने वाली क्रिया से पूर्व के [पदार्थ का] (प्रदेश) जताना नहीं युक्त होता ।” इति । हम देखते हैं कि पूर्व उत्पन्न हुए (सत्त्वानाम्) पदार्थों अथवा द्रव्यों की उत्तरकाल में होने वाली क्रिया से नामधेय की प्राप्ति होती है, कई एक की [और नहीं होती] कई एक की । यथा—विल्व को अदन अर्थात् खाने वाला । लम्बचूडक अर्थात् लम्बे वालों वाला, इति । विल का निर्वचन—भरणाद्वा दुर्भिक्षादि में पालन-पोषण करता है, अथवा वृक्ष को भर देता है । अथवा भेदन करने से । तोड़ कर खाया जाता है, अथवा अतिसार के रोग को तोड़ता है, छिन्न-भिन्न करता है ।

निरुक्त का प्रयोजन—शास्त्र के तीन खण्डों (१२-१४) में, पूर्वपक्ष के खण्डन के पश्चात् यह निर्णीत कर दिया कि सम्पूर्ण नाम आख्यातज हैं । यही बताने के लिए निरुक्त शास्त्र की आवश्यकता है । सम्पूर्ण नाम क्रिया से उत्पन्न

हुए हैं। ऋषि बनते समय वे नानाविध क्रियाएँ ही थीं, जिन से नाम उत्पन्न हो रहे थे। अतः इस परम सत्य सिद्धान्त को निरुक्त ने ही सजीव रखा है। ऐसे मूल सिद्धान्त की रक्षा के लिए यास्क ने कठोरता से काम लिया है। वह वेद के एक पद को भी रुढ़ नहीं मानता। इसी अभिप्राय से पतञ्जलि मुनि ने व्याकरण महाभाष्य में लिखा है—नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तीरुम्, नैगम रुद्धिभय द्वि सुसाधु।

अर्थात्—निगम अर्थात् मन्त्रों में होने वाला एक शब्द भी रुद्धिभव नहीं है। इस भौतिक सिद्धान्त को वर्तमान ईसाई-यहूदी पाश्चात्य लेखकों ने न समझ कर वेद विद्या को कलुषित करने का भरसक यत्न किया है। और वेद विद्या के गम्भीरतम रहस्यों पर कृपा उपहास किया है। राघ द्विटने, वाकरनागल और मेग्दौनल आदि को वर्षों तक भारतीय आचार्यों से पढ़ना चाहिए था। इन में से वाकरनागल का महान परिश्रम भी अति लुप्त और दोष पूर्ण है।

निरुक्त का इतना मात्र दिखाना ही प्रयोजन नहीं। आगे निरुक्त शास्त्र के अन्य पाँच प्रयोजन कहते हैं।

[अथ पञ्चमः पादः]

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतीयती नात्यन्त स्थरस्स्कारोद्देशः।

अर्थ—और भी—इस [शास्त्र] के बिना मन्त्रों में अर्थ की प्रतीति अथवा अर्थ का ज्ञान नहीं होता। अर्थ के न जानने वाले के लिए, नहीं (अत्यन्तम्) पूर्णरूप से स्वर और संस्कार का (उद्देश) उपदेश [सम्भव]।

भाष्य—वेद के मन्त्र और उन के अर्थ आदि-ऋषि से बले आ रहे हैं। उस अर्थ विद्या को निरुक्त शास्त्र ने सभाल रखा है। उस विद्या के बिना व्याकरण अधूरा है। अतः निरुक्तशास्त्र की महती आवश्यकता है।

ईसाई-यहूदी गर्व—और जो घोरोपीय लेखक अपने कल्पित भाषा नियमों पर वेदार्थ का आधार रखते हैं, उस कल्पित भाषा-मठ का संयोजन हम ने अपने "भाषा का इतिहास" में कर दिया है।

तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य फारस्यै स्वार्थसाधकं च ।

अर्थ—तो यह विद्यास्थान [निरुक्त नाम वाला शास्त्र] व्याकरण की पूर्णता करता है और अपने स्वतन्त्र अर्थ का साधक है ।

भाष्य—यदि प्राचीन काल से भारत में १४ अथवा १८ विद्याएं चली आ रही हैं । तदन्तर्गत पठनों में निरुक्त शास्त्र है । यास्क नेरुक्तों का अन्तिम मान्य पुरुष था । पठन गृहस्पति के काल से चले आ रहे हैं । ऐसे ऐतिहासिक सब्यों को नष्ट करने के लिए पाश्चात्य ईसाई-यहूदियों ने भारतीय इतिहास की परम्परा को नष्ट करने का यत्न किया है । उन के चेले चौंटे उनका घाटुकारिता में फंसे हुए आज भी इसी पाप में रत हैं ।

[प्रथम प्रयोजन पर आक्षेप और उस का समाधान]

यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सः । अनर्थका हि मन्त्राः । तदेतेनोपेक्षितव्यम् ।

अर्थ—यदि [निरुक्त शास्त्र] मन्त्रार्थ जान के लिए है, [इतो यह] अनर्थक है, ऐसा कौत्स कहता है । अनर्थक ही निश्चय से मन्त्र हैं ।

तो यह इस शास्त्र से पूर्णतया जानना चाहिए ।

भाष्य—अथ यास्क एक नया पूर्वपक्ष उपस्थापित करता है । यह पक्ष कौत्स का है । तदनुसार—अनर्थक ही निश्चय से मन्त्र हैं । इस विषय में निम्नलिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं ।

१. कौत्स कौन था ।

२. उस ने मन्त्रों को अनर्थक क्यों कहा ।

३. वह मन्त्र और ब्राह्मण में श्रद्धा और विश्वास रखता था वा नहीं ।

इन प्रश्नों का उत्तर प्राचीन वाङ्मय में स्पष्ट मिलता है ।

उत्तर—१. कृष्ण द्वैपायन व्यास के चार प्रधान शिष्यों में जो जैमिनि नाम का मुनि था, वह भी एक कौत्स था । इसका प्रमाण 'भारतसंहिता, आदिपर्व, ४८ । ५—७ में है । यथा—वृद्धः कौत्सार्थजैमिनिः ।

अर्थात्—[जनमेजय के सर्प-सत्र में] वृद्ध कौत्सार्थे जैमिनि उपस्थित था । प्रतीत होता है, जैमिनि का गोत्राण्य नाम कौत्स भी था । मातृवैतिहास का कर्त्ता व्यास धर्म्य है, तिसने यह बहुमूल्य इतिहास सुरक्षित किया ।

व्यास मुनि का शास्त्र-प्रवचन भारत युद्ध से लगभग १०० वर्ष पहले हुआ । और जनमेजय का सर्प-सत्र युद्ध के लगभग २० वर्ष पश्चात् । शास्त्र प्रवचन के समय जैमिनि यदि ६० वर्ष का हो, तो सर्प-सत्र के समय वह लगभग २०० वर्षों का । वह वस्तुतः वृद्ध था । उस के मीमांसा सूत्रों की रचना भी भारत युद्ध से पूर्व हो चुकी थी ।

२. जैमिनि मीमांसा शास्त्र का कर्त्ता था । उसके कतिपय मीमांसा सूत्रों की निरुक्तय पूर्वपत्र के वचनों से तुलना आगे की जाती है—

निरुक्त में कौत्स का पूर्वपत्र

१-अनर्थका हि मन्त्राः ।



२-अनुपपन्नार्था भवन्ति । ओषधे प्रायस्त्वेतम् ।

३-विप्रतिविद्धार्था भवन्ति ।

४-अविस्पष्टार्था भवन्ति ।

मीमांसासूत्र

आज्ञापस्य त्रियार्यैवाद्
आनर्थक्यमनर्थानां
तस्मादनित्यमित्युच्यते ।
अचेतनार्थसम्बन्धात् ।

अर्थविप्रतिषेधात् ।

अविज्ञेयात् ।

ऐसी तुलना स्वप्नसंस्कारों के निरुक्त सस्वरय के पृष्ठ २८०-८१ पर की गई है । यास्कएन वचनों और मीमांसा सूत्रों का पाठ अति साम्य रखता है । समव है, जैमिनि के किसी ग्रन्थ ग्रन्थ में यास्कएन वचन ही वायातप्य रूप में हों । यह विचारणीय है कि साममहिता के प्रवचनकर्त्ता जैमिनि ने मन्त्रों को अनर्थक का कहा नहीं । इस का समाधान स्पष्ट है । जैमिनि मुनि मन्त्रों में पशु क्रिया को ही प्रधान मानता था । वह उन-उन पशुओं में मन्त्रोच्चारण मात्र और तत्सम्बन्धी क्रिया से ब्रह्म मानता है । पर उस के पूर्वोक्त सूत्र पूर्वपत्र के हैं । उसने अनर्थक पशु का स्वयं व्यवहन किया है । अतः अनर्थक पत्र किसी दूसरे कौत्स का है । वह भी उसी ब्राह्म का प्रतीत होता है । तभी यास्क और जैमिनि ने उस का व्यवहन किया है । उस दूसरे कौत्स ने भी पशु के

फल की दृष्टि से मन्त्रों को अनर्थक कहा है। मीमांसा के कई आचार्य निरुक्त और व्याकरण में अधिक आदर नहीं रखते थे। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में व्याकरण के विषय में ऐसा मत दर्शाया है। वस्तुतः कौत्स का मत अंशतः ठीक है, पर यास्क का प्रतिपादन सर्वदेशीय है।

३. प्रस्तुत कौत्स भी मन्त्र, ब्राह्मण में पूर्ण श्रद्धा रखता था। इसी हेतु यास्क ने अगले एक तर्क में ब्राह्मण का आदर सहित प्रमाण स्वीकार करके उसे उत्तर दिया है। इस आदर में दोनों सहमत हैं।

ईसाई-यहूदी कोलाहल—राथ, मैकडानल प्रभृति ईसाई लेखकों ने इस प्रसङ्ग से जो वेद विरोधी मिथ्या प्रचार किया, विद्वानों में उसका कोई मूल्य नहीं। निरुक्त के भाषा टीकाकार पं० राजाराम ने भी अपनी टीका पृ० ६४ के टिप्पण में इस बात को स्पष्ट कर दिया है।

अब आगे कौत्स के सात पूर्वपक्ष लिखे जाते हैं—

१. नियतत्राचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ।

२. अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते ।

उरु प्रथस्व । [यजु० १।२२ ॥] इति प्रथयति ।

प्रोहाणि ।^१ इति प्रोहति ।

३. अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति ।

ओषधे त्रायस्वैनम् । [मै० सं० ३।६।३ ॥]

स्वर्धिते मैनें हिंसीः । [यजु० ४।१ ॥] इत्याह हिंसन् ।

४. अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति ।

एकं एव रुद्रोऽव्रतस्थे न द्वितीयः ।^२

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् । [यजु० १६।५४ ॥]

अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे । [ऋ० १०।१३३।२ ॥]

शतं सेना अजयत् साकामिन्द्रः । इति । [ऋ० १०।१०३।१ ॥]

१. तुलना करो, यजु० २।१५ ॥ प्रोहामि ।

२. तुल० तै० सं० १।८।६।१ ॥

५ अथापि जगन्तं संमेष्यति ।

अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि । इति । [तै० सं० ६।३।७।१॥]

६ अथाप्यादाश्चिन्ति । सर्वमिति ।

अदितिर्द्यौरदितिर्न्तरिदम् । इति । [ऋ० १।८६।१०॥]

सदुपरिष्ठाद् व्याख्यास्यामः ।

७ अथाप्यविष्मष्टार्था भवन्ति ।

अर्भ्यं३ । 'यादृश्मन्' । 'जारयार्थि' । 'काणुका' । इति ॥ १५ ॥

अर्थ—१. नियन्त्राचोवृत्तिया=द-योजनाए नियन्त्रानुर्वो होती हैं ।

२ और भी—ब्राह्मण-यवन द्वारा [मन्त्र अपने] रूप में समाप्त विधान किए जाने हैं ।

(क) उद मयस्य यह [मन्त्र बोल कर पुरोडाश को] फैलाना है ।

(ल) प्रोदाशि यह [बोल कर पूर्व की ओर] प्रेरता है ।

३ और भी, [मन्त्र] अनुपपन्न अर्थ वाचे अर्थान् न बन मचने अर्थ बान होने हैं ।

(क) ओरधे प्रायश्चित्तम् । हे आग्ने, रक्षा करो इस को ।

(ल) हे स्वदिने=कुदार=कुन्हाडे, मत इस की हिमा कर । यह बहना है, हिमा करता हुआ ।

८ और भी, विनेष रूप से एक दूसरे के प्रतिपेक्षार्थ वाचे होने हैं ।

(क) एक ही [समर में] रद्द मडा हुआ, नहीं दूसरा ।

अमभ्यात सहर्षो ओ रद्द भूमि पर [हैं ।]

(ल) शनुरहित इन्द्र उत्पन्न हुआ ।

सौ मेनाए जीतो एक माय इन्द्र ने । इति ।

[इन मन्त्रों में विरोधी भाव है ।]

५. और भी—[यज्ञ क्रिया] जानने वाले को [अध्वर्यु] प्रेष=प्रेरणा करना है—अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि, अर्थान् अग्नि के लिए समिध्यमानाय (जन्तों हुए के लिए) अनुब्रूहि=तामियेनी श्रवाए बोल । इति ।

[सामिधेनी ऋचाएं, जिन से समिदाधान होता है।]

६. और भी कहता है—(क) अदिति सब कुछ है ! इति ।

(ख) अदितिः द्यौः, अदितिः अन्तरिक्षम्, इति ।

यह आगे व्याख्यान करेंगे ।

७. और भी—[मन्त्र] नहीं अधिक स्पष्ट अर्थ वाले होते हैं । यथा—
अम्यक् । यादृशिमन् । जारयायि । कारुका । इति ॥ १५ ॥

भाष्य—१-वाचोयुक्ति—मन्त्रों में वाचोयुक्ति नित्य है । अग्निमीलेके स्थान में वह्निमीले नहीं हो सकता । इस प्रकार मन्त्रों में आनुपूर्वी भी नित्य है । वहां ईले अग्निम् नहीं हो सकता । यह क्यों ? मन्त्रों का सृजन देवों द्वारा हुआ । उन भौतिक शक्तियों [=देवों] से जो ध्वनियां निकलीं, और उन ध्वनियों के साथ जो पदार्थ उत्पन्न हुए, उन-सब का रूप यज्ञ-क्रिया में रहता है । अतः वही वाचोयुक्ति और वही आनुपूर्वी यज्ञ के फल को लाती है । अग्नि पद वाली ध्वनि वह्नि पद द्वारा कदापि नहीं निकलती । अतः इस पक्ष में कोई विवाद नहीं है ।

यदि मन्त्र अर्थवान् होते, तो मन्त्र में स्पष्ट कही क्रिया का ब्राह्मण ग्रन्थ क्यों विधान करते । अतः मन्त्र में स्वतन्त्र अर्थ का भाव नहीं ।

३. यज्ञ—यूप के लिए जब वृत्त को काटते हैं, तब उस पर कुशा रख कर कहते हैं—हे कुशा-रूपी ओपधे, इस की रक्षा कर । काटने के समय रक्षा का मन्त्र अन्+उपपन्न है ।

मीमांसक आचार्य गम्भीर अर्थ में न जा कर, इस वाह्य क्रिया से ही सन्तुष्ट रहते हैं ।

४. मन्त्रों के अर्थों में विरोध है । कहीं एक रुद्र और कहीं असंख्यात रुद्रों का वर्णन है ।

५. यज्ञ में होता का कर्म करने वाला सब विधि जानता है, अतः उस के लिए कर्म विषयक कुछ प्रेरणा करना अनर्थक है ।

६. अदिति द्यौः है अन्तरिक्ष है, इत्यादि एक एक पदार्थ को अदिति कह कर उसे सब कुछ कहना अनर्थक है । जो द्यौः है वह अन्तरिक्ष कैसे ।

• जिस प्रकार अम्यक् आदि पद अस्पष्ट हैं, और फिर भी मन्त्र के योग में फलदायक हैं, उसी प्रकार अनर्थक होते हुए भी मन्त्र फलदायक हैं ।

यह पूर्वपक्ष केवल याज्ञिक सम्प्रदाय की दृष्टि से है ॥ १५ ॥

यास्क का उत्तर पक्ष

अर्थयन्त. शब्दसामान्यात् ।

एतद्वै षष्ठस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्ध यत्कर्म क्रियमाणमृष्यजुर्वाभियदति ।' इति च ब्राह्मणम्

क्रीळन्तौ पुत्रैर्नष्टुभिः । [१० । ८५ । ४२ ॥] इति ।

अर्थ—[मन्त्र] अर्थ वाले हैं [लोक वेद के] शब्दों की समानता से । यह निरुचय यज्ञ का समृद्ध [पक्ष] है, जो रूप से समृद्ध [पक्ष] है, जिस क्रियमाण कर्म को ऋचा अथवा यजु कहता है । यह ब्राह्मण का पाठ है ।' [यथा—] खेलते हुए पुत्रों और पोतों से ।

भाष्य—मन्त्र अर्थ वाले हैं, इस में यास्क का तर्क है कि लोक-वेद के शब्दसाम्य से । जब लोक में शब्दों और वाक्यों का अर्थ है, तो वेद में मन्त्रों का अर्थ क्यों नहीं ? दोनों के शब्द समान हैं ।

ब्राह्मणवचन का प्रमाण देते हुए यास्क ने—इति च ब्राह्मणम् लिखा है । यहाँ च निपात का अर्थना अर्थ है । अर्थात् यास्क वाला तर्क ही ब्राह्मण ग्रन्थ में है । यह कैसे ? ब्राह्मण स्वयं ऋचा और यजु की जो उच्चता मानता है, उतनी विधायक ब्राह्मण पाठ की नहीं ।

१. यथो एतन्नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति इति । लोकिनेष्वप्येतत् । यथेन्द्राग्नी । पितापुत्राविति ।

२. यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पत्ता विधीयन्त इति । उदिता-
नुयादः स भवति ।

३. यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्ति इति । आघ्रापवचनार्दिसा
प्रतीयेत ।

४. यथो एतद् विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति इति । लौकिकेष्वप्येतत् । यथा । असपत्नोऽयं ब्राह्मणः । अनमित्रो राजा । इति ।

५. यथो एतज्जानन्तं संप्रेष्यतीति । जानन्तमभिवादयते । जानन्तं मधुपर्कं प्राहेति ।

६. यथो एतददितिः सर्वमिति । लौकिकेष्वप्येतत् । यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम्—इति ।

७. यथो एतद्—अविस्पष्टार्था भवन्ति—इति । नैव स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति । पुरुषापराधः स भवति ।

यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति । पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥ १६ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

अर्थ—१. जैसा यह है—[मन्त्रों में] नियत शब्द-रचनाएं नियत आनुपूर्वी से होती हैं, यह [वात] लौकिक रचनाओं में भी ऐसी है । यथा—इन्द्राम्नी, पिता-पुत्री, इति ।

२. जैसा यह है—ब्राह्मणवचन द्वारा [मन्त्र] अपने रूप में सम्पन्न विधान किए जाते हैं, यह [मन्त्र में] कहे का अनुवाद है ।

३. जैसा यह है—[मन्त्र] अन्+उपपन्न अर्थ वाले होते हैं, यह आम्राय=वेद के वचन होने से अहिंसा जानी जाए ।

४. जैसा यह—विशेष रूप से एक दूसरे के प्रतिषेधार्थ वाले होते हैं, यह लौकिक रचनाओं में भी ऐसा [है] । यथा विना सपन्न (=शत्रु) के यह ब्राह्मण । अन्+अमित्र (=विना शत्रु वाला) राजा ।

५. जैसा यह है—[यह क्रिया] जानने वाले [होता] को प्रेरण करता है —[ऐसा लौकिक व्यवहार में भी है । नाम, गोत्र आदि] जानने वाले [गुरु के समीप जा कर छात्र, नाम और गोत्र बताकर] अभिवादन करता है । जानते हुए के लिए [तीन वार] मधुपर्क को कहता है ।

६. जैसा यह है—अदिति सब कुछ है, यह लौकिक वचनों में भी ऐसा है । यथा, सारे रस अनुप्राप्त हैं जल को ।

७ जैसा यह है—[मन्त्र] नहीं अत्रिक् स्पष्ट अर्थ वाले होने हैं । नहीं यह म्यागु=श्वभे का अपराध जो इस को अन्ता नहीं देखना । [न देखने वाले] पुरष का अपराध वह होता है ।

जैसे (जानपदीषु) जनपद में होने वाली शिल्पक्रियाओं अथवा जान-मोन्वियों में रिश्रा के कारण में पुण्यविशेष होता है । [इसी प्रकार] (पागोपर्वविस्तु)=र में अवर में आने वाले, अथवा गुम्निष्य के अनवच्छिन्न नम में पड़ने वाले (वेदितृषु) जानियों में, अत्रिक् विद्या वाला प्रथमा-योग्य होता है ॥ १६ ॥

भाष्य—कौत्समत सखटन नामक इम प्रकरण में वास्क का प्रधान आधार इम तथ्य पर है कि वेद और लोक के शब्द समान प्रकार के हैं । अर्थ्यवन्त शब्दसामान्यात् । जब लोक में उन्ही शब्दों का अर्थ है, तो वेद में क्यों नहीं ।

द्वितीय तर्क के उत्तर में वास्क का एक महत्व पूर्ण कथन है । वह लिखता है कि ब्राह्मण वचन मन्त्र का अनुवाद अथवा व्याख्यान मात्र है । ब्राह्मण पद का अर्थ भी ऐसा ही है, अर्थात् ब्रह्म=वेद का व्याख्यान । रूपसम्पन्नाः । इम पर दुर्ग का लेख है—रूप नाम लिङ्गम् । रूपसम्पन्ना प्रकटलिङ्गाः ।

तीसरे तर्क के उत्तर में वास्क का कथन है कि—ओपधे प्रायस्वैनम् । स्वधित मैन द्विंसी । इन दोनों वचनों में काटने पर भी अहिंसा ही है, क्योंकि वद के वचन से अहिंसा प्रतीत हो ।

इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने योग्य है कि अग्निहोम वज्र में यज्ञमान के और कर्म के समय उस के शिर पर कुश को रख कर ओपधे प्रायस्वैनम् मन्त्र पढ़ा जाता है । बालक के वृद्धाकर्म में भी यही मन्त्र पढ़ा जाता है । उस समय केश+वेदन रूपी हिंसा कर्म में प्रायस्व पाठ कैसा । इसी प्रकार स्वधिते मैन द्विंसी, मन्त्र पढ़ कर पुर अथवा कुशहावे से काटते समय, इमे मन मारो, यह कहा जाता है ।

इन कर्मों में वेद वचन से अहिंसा ही अभिप्रेत है । कुश आदि ओपधि में जो ओप=दहन अर्थ है उस से रक्षा में सहायता लेने का अभिप्राय है । पुर की वज्ररूपी पैनी धार से बचने का भी अभिप्राय है ।

लगभग ऐसा प्रसङ्ग मैत्रा० सं० ३ । ६ । ३ तथा काठक संहिता २६ । ३ में वृत्त के यज्ञार्थ काटने के समय का है । उस प्रसङ्ग में किस आधिदैविक घटना का प्रतिरूप बांधा गया है, यह अन्वेष्टव्य है ।

इस प्रसङ्ग में स्कन्द ने लिखा है कि यज्ञों में जो पशु मार दिया जाता है, वह सीधा स्वर्ग को जाता है । उस की हिंसा भी मानो उस की भविष्य की रक्षा है । सृष्टि के मूल यज्ञों में पशु भी अन्तरिक्ष थे । उन्हीं के प्रतिरूप ये पृथिवी पर के पशु यज्ञों में कुछ काल से वध किए जाने लगे । पहले वे यज्ञों में खड़े किए जाते थे । उन की रक्षा होती थी, उन का वध नहीं होता था । कौत्स ने अपने काल की प्रथा के अनुसार आक्षेप किया कि हिंसा करता हुआ त्रायस्व तथा मा हिंसी कहता है । यास्क ने सीधा उत्तर दिया कि वेद वचन के अनुसार यह अहिंसा है ।

संसार के मध्य काल के इतिहास के समय यज्ञों में हिंसा प्रचलित हो चुकी थी । तदनुसार यहूदी, और मुसलमान भी हिंसा करने लग पड़े थे । वस्तुतः यह वेदिक पक्ष न था । विस्तरभय से यहां अधिक स्पष्टीकरण नहीं दिया ।

विद्या-महिमा—समाधान के अन्तिम वचनों में यास्क ने विद्या की महिमा गाई है । उस से यह भी प्रतीत होता है कि यास्क के काल तक पारोवर्यवित् विद्वान् भी इस देश में थे । उन के कुलों में विद्या अथवा आगम-ज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न थी । उस समय के विद्वान् वेदार्थ और अपना इतिहास पूर्णतया जानते थे । यह बात भारत-युद्ध से कुछ पहले की है ॥ १६ ॥

[अथ पष्ठः पादः]

अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते ।

अवसायं पद्वते रुद्र मूल । [ऋ० १० । १६६ । १ ॥] इति ।

पद्वदवसं गावः पथ्यदनम् । अवतेर्गत्यर्थस्य । असो नामकरणः । तस्मान्नावगृह्णन्ति ।

अवसायाश्चान् । [ऋ० १ । १०३ । १ ॥] इति ।

स्यतिः उपसृष्टेः विमोचने । तस्माद्वगृह्णन्ति ।

दूतो निर्ऋत्या इदमां जुगाम् । [ऋ० १०। १६५। १ ॥] इति ।
पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा । षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा । आ.कारान्तम् ।

परो निर्ऋत्या आ चञ्च । [ऋ० १०। १६४। १ ॥] इति ।
चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा । ऐकारान्तम् ।

परः संनिर्घर्षः संहिता । पदप्रकृतिः संहिता । [ऋक् प्राणि०
२। १ ॥] पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि ।

अर्थ—और भी, इस [शास्त्र] के बिना [मन्त्रों में] पदविभाग
नहीं होता ।

१. [अवसाय] = पाथेय = मन्वन = मार्ग के भोजन देने वाले, (पढ़ने)
= पाव वाले के लिए, हे रद्र, दो ।

पाववाला अवम = पाथेय गौए [हैं] मार्ग में अदनम् = भोजनम् = भोजन
[का उपाय हैं] अवनि गत्यर्थ वाले से । [इस में] अम नामकरण =
प्रत्यय है । इस कारण से नहीं अवग्रह करते हैं [पदकार ।] अत्रसाय इस
प्रकार अक्षण्ड रखने हैं ।

२ खोल कर घोड़ों को [योक्त्रों में ।]

[इस अवसाय रूप में] स्यति धातु [अय उपपत्ति से] उन्मृष्ट = युक्त
विनोचन अर्थ में [है] । इस कारण से अवग्रह करते हैं [पदकार ।]
अवसाय इस प्रकार मध्यत विच्छेद करते हैं ।]

१ दून निर्ऋति = मृत्तु अथवा नरक से, अथवा निर्ऋति का, यह
आया । [इस पद में] पञ्चमी के अर्थ का दर्शन, [अथवा] षष्ठी के अर्थ
का दर्शन है । [अतः यह निर्ऋत्या पद] आकार अन्त वाला है =
निर्ऋत्याः ।

२. परे [जा कर] निर्ऋति के लिए कहो । [इस पद में] चतुर्थी के
अर्थ का दर्शन है । [अतः निर्ऋत्यै रूप] ऐकार अन्त [धाना जानना
चाहिए ।]

परम समीपना संहिता [होती है] । पदप्रकृति वाची संहिता [होती
है] । पदप्रकृति बाने सारे चरणों के पार्षदन्वयतिशास्त्र [होने हैं] ।

भाष्य—पद-विभाग वेदविद्या का आवश्यक अङ्ग है। यह पद-विभाग अर्थ के अनुकूल ही ठीक रहता है। अतः मन्त्रार्थ का जानना अत्यन्त आवश्यक है। एतदर्थं यास्क ने संदिग्ध होने वाले एक एक पद के दो दो उदाहरण दिए हैं।

याज्ञिक कहता है कि यज्ञकर्म में संहिता ही प्रयुक्त होती हैं, अतः पद-विभाग का क्या लाभ ? इस पद पर यास्क कहता है कि संहिता भी तो पदों का परम मन्त्रिकर्म है। अतः पद-विभाग जानना आवश्यक है।

आगे यास्क ने संहिता शब्द का लक्षण लिखा है। यही लक्षण पाणिनि ने भी लिखा है। पर यास्क पाणिनि का पूर्ववर्ती है। उस ने इस लक्षण के साथ इति पद भी नहीं जोड़ा। अतः बहुत संभव है कि उसने अपिणालि आदि के लक्षण को अपना रूप दे दिया है। पाणिनि ने इसी लक्षण को अपनाया है।

संहिता का दूसरा लक्षण गौनकीय प्रातिशाख्य २ । १ में है। पर उसके आगे भी इति पद नहीं है। गौनक और यास्क दोनों अति समीप काल के हैं।

पदप्रकृतिः संहिता पाठ के दुर्ग ने दो अर्थ दिए हैं। प्रथम अर्थ है, पदों की जो प्रकृति अथवा मूल है, वही संहिता है। दूसरा अर्थ है, पद हैं प्रकृति जिसकी, वह संहिता है। स्कन्द ने यह दूसरा अर्थ ही लिखा है। प्राचीन वैदिक पद्य के अनुसार संहिता ही मूल है।

चरण और शाखा में थोड़ा अन्तर है। चरण मूल है, और शाखा उसका अग्रान्तर विभाग है। यथा—वाजसनेय चरण के अन्तर्गत कारव आदि पन्द्रह शाखाएं हैं।

पार्षदानि=पर्षदि भवानि प्रातिशाख्यानि। इस से प्रतीत होता है कि चरणों के अन्तर्गत प्रत्येक शाखा वालों के अपने अपने पर्वत्त थे। उन में स्वर आदि के उच्चारण के जो नियम थे, वे ही पार्षदों अथवा प्रातिशाख्यों में लिखे गए।

अथापि याज्ञे देवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति । तदेतेनोपक्षितव्यम् ।
ने चेद् वायुलिङ्गं चात्र म्म इति ।

इन्द्रं न त्वा शर्वसा देवता वायुं पृणन्ति । [ऋ० ६ । ४ । ७॥]
इति ! वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे ।

अग्निर्गि मन्वा त्विषितः सहस्र । [ऋ० १०।८४।२ ॥] इति ।

तथाग्निमात्पव मन्त्र । त्रिषितो व्यलित । त्रिषिरित्यपस्य
दीप्तिनाम भवति ।

अथापि ह्यनप्रशसा भवति । अज्ञाननिन्दा च ॥ १७ ॥

अथ—और भी यन्कर्म में दवता विषयक ज्ञान और कर्म से अनेक
(प्रश्न) = आता अथवा विप्रिया हावी है । यह इस [शास्त्र से बनाए
गा अर्थ] द्वारा ध्यान से जानना चाहिए । व [याज्ञिक और मीमांसक]
यदि कर्त निङ्ग = देना वाचक पद के जानने जान इस विषय में हम हैं ।'
[व अगम मंत्र का कठिन ई को कैसे सुननाएंगे ? यथा—]

इन्द्र के समान तुन को बन से दवता वायु को तृप्त करन है । [यहा]
वायु लिङ्ग को और इन्द्र निङ्ग को आग्नेय मन्त्र अर्थात् अग्नि देवता वाल
मन्त्र में [देखने है ।] ।

अग्नि के समान हे मन्वो । (त्विषित) दीप्ति वाला अथवा जलता
ज्ञा [ज्ञान का] सहस्र=दवाओ । इस प्रकार अग्नि [लिङ्ग है] मन्वु
दवता वाल मन्त्र में । त्रिषित = व्यलित , त्रिषि यह भी, इन [वायु
का] दीप्ति नाम होता है [पुराने निघण्टुओं में] ॥ १७ ॥

भाष्य—प्रदेश=विधिया यह पुराना प्रयोग है ।

लिंगज्ञा अथ म्म इति । यहा इति पद से प्रतीत होता है कि यह किसी
मीमांसा ग्रन्थ का वचन है अथवा पूर्वपद का अन्त ।

दीप्ति नाम यद्यपि यह वचन यास्क्रीय निघण्टु में नहीं है तथापि यास्क की
दृष्टी से निश्चित है कि किसी पुरान निघण्टु में यह पद प्रयोग है ।

और भी [निरुक्त शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि] ज्ञान की
प्रशंसा होती है और अज्ञान की निन्दा ॥ १७ ॥

आप ज्ञान में ज्ञान की महती प्रशंसा रही है । राम के राज्य में कोई
अविज्ञान न था । इसी प्रकार अश्वपति के राज्य में भी कोई अविज्ञान न था ।
योगनिष्ठ मुनि देवल अज्ञान संगत ज्ञान और मिथ्या ज्ञान की निन्दा करता है ।

यास्क स्वयं लिख चुका है—अधिक विद्या वाला प्रशंसित होता है ।^१ इस अवस्था में रॉथ, मैकडानल और कीथ प्रभृति का यह लिखना कि यास्क के काल में वेदार्थ भूल चुका था, महती घृष्टता है ।

स्थाणुर्यं भारहारः किलाभृदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।

योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाक्रमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

यदश्रुहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।

अनर्गनाविवं शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

स्थाणुस्तिष्ठतेः । अर्थोऽतः । अरण्यो वा ॥ १८ ॥

अर्थ—खम्भा है यह पुरुष भार उठाने वाला निश्चय होता है, पाठमात्र पढ़ कर वेद को नहीं जानता जो अर्थ को । जो अर्थ को जानने वाला है [वह] सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त होता है । नाक को प्राप्त होता है । ज्ञान से धुले हुए पापों वाला ।

जो ग्रहण (= ऋणस्थ) किया गया है, विना अर्थ-ज्ञान के पाठमात्र से ही उच्चारण किया जाता है । अग्निरहित अवस्था में जैसे सूखा ईन्धन होता है [वैसे] नहीं वह जलता कभी भी ।

स्थाणु तिष्ठति से । अर्थ अति से अथवा पराया=अपरिचित बन कर ठहरता है ॥ १८ ॥

भाष्य—अधीत्य वेदं, यहां वेद पद केवल मन्त्र के लिए है, ब्राह्मण के लिए नहीं । ब्राह्मण में मन्त्रार्थ खोलकर विधि का विधान होता है । पूर्व प्रकरण भी मन्त्र की अनर्थकता का है, ब्राह्मण की अनर्थकता का नहीं । अतः वेद शब्द मन्त्र का द्योतक है । यह प्रमाण अति प्राचीन काल का है, अर्थात् उस काल का जब याजुष आदि संहिताओं में मन्त्रों के साथ ब्राह्मण का संमिश्रण नहीं हुआ था ।

पूर्वोद्धृत द्वितीय श्लोक में गृहीतम् के स्थान में महाभाष्य १ । १ । १ का पाठ अधीतम् है । महाभाष्य का पाठ ही वाक्यपदीय की भर्तृहरि कृता स्वोपज्ञटीका १ । १४ में उद्धृत है ।

१. अधिक देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण पृ० ६८-६९ ।

ज्ञान स वाच नष्ट होते हैं इसलिये गीता में भी कहा है, कि ज्ञानाग्निदग्धकमा बनी, यह सांख्य का सिद्धान्त है कि पञ्चविंशति तन्वज्ज मुक्त हो जाता है ।

अग्नि गत्यर्थक है । अरण्य=गमन, अर्थ=विद्या और धनादि एक स दूसरे को जाने हैं । स्कन्द के अनुसार ये दोना स्मृति के श्लोक हैं, परन्तु निरुप में इन का सस्वर पाठ है । अतः निश्चित है कभी लोकभाषा के पाठ पर भी स्वर होता था । माहाद्य ग्रन्थों में उद्धृत गाथाओं पर भी स्वर रहता था । सतपथ स प्रयुक्त गाथाओं स स्वर आज भी विद्यमान है ॥ १८ ॥

ज्ञान की प्रशामा में श्लोक से दो श्लोक उद्धृत कर के अब शास्त्रकार तद्विषयक दो मन्त्र उद्धृत करता है ।

उत स्युः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वं शूयन्न शृणोत्येनाम् ।

उता त्वस्मै तन्वै वि संसे जायेत् परत्य उशता मुगामाः ॥

[ऋ० १० । ७१ । ४ ॥]

अप्येक पश्यत् पश्यति वाचम् । अपि च शृणुत् शृणोत्येनाम् । इत्यविद्वांसमाहार्थम् । अप्येकस्मै तन्व रिषस्त्रे । इति स्वमात्मान विवृणुते । ज्ञान प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा । उपमोत्तमया वाचा । जायेत् फले कामयमाना सुगामा । [ऋतुकालेषु सुगामा पर्याण वासा कामयमाना] ऋतुकालेषु यथा स एना पश्यति स शृणोति । इत्यर्थेऽप्रशसा । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनानय ॥ १६ ॥

अर्थ—एक देखता हुआ भी नहीं देखता वाणी को । और एक सुनता हुआ भी नहीं सुनता इन को । आर एक के लिए [अपने] शरीर को खोल देती है [वाणी] जाया=नारी जैसे पति के लिए [शरीर को खोलती है] कामना करती हुई सुन्दर, कल्याण वाले वस्त्रों को पहनने वाली ।

और भी, एक देखता हुआ नहीं देखता वाणी का, और भी, सुनता हुआ नहीं सुनता इस [वाणी] को । यह अविद्वान के प्रति कहा [ऋचा के] आये भाग [मे] । और भी, एक के लिए (तन्व=स्वम् आत्मान)=अपने शरीर को खोलती है । [वाणी अपने स्वरूप का ज्ञान खोलती है ।] ज्ञान प्रकाशन है अर्थ का, [यह] कहा [तीसरे पाठ की] इस वाक् से ।

(उपमा+उत्तमया) उपमा को [कहा] अन्तिम [पाद की] वाक् से । जाया=वन्नी जैसे पति के लिए [उन पति को] कामना करती हुई, सुन्दर वस्त्रों वाली, ऋतु कालों के [उत्तर के दिनों] में कल्पाणकारी वस्त्रों वाली [पति की अथवा सन्तान की] कामना करती हुई । ऋतुकालों के उपरान्त जैसे वह [पति] इस [अपनी] स्त्री को देखता है, [अथवा] वह [अर्थात् इन वाणी को] मुनता है । यह वाणी का अर्थ जानने वाले को प्रगता है । इस [विषय] की अगली [ऋक्] अधिक खोल कर कहने के लिए [है] ॥ १९ ॥

भाष्य—योगी लोग वाक् को देखते, सुनते और समझते हैं । पर मूर्ख लोग वाक् को देखते हुए भी नहीं देखते, इस का क्या तात्पर्य है । इस का एक उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिष्य और उस समय इङ्ग्लैण्ड के ब्राह्मणों के विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक पं० श्यामजीकृष्ण वर्मा एम० ए० ने जर्मन देश में बैठी अन्तराष्ट्रिय प्राच्यविद्या विशारदों की सभा में दिया था । वह उत्तर था कि आर्य लोगों को लिपि का ज्ञान प्रारम्भ से ही था । अतः वाणी का देखना, लिपि बद्ध पाठ का पढ़ना है । यह उत्तर पर्याप्त युक्त है, पर पक्षपाती ईसाई-लेखकों को यह उत्तर चुभा ।

वाणी का शरीर अथवा स्वरूप क्या है । इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर मन्त्र और ब्राह्मण में मिलता है । मन्त्रों से ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ—वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे । भर्तृहरिकृता वाक्यपदीय १ । १२१ की स्वोपज्ञा टीका के अनुसार यह एक ऋचा का प्रतीक है । अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र १४ । ३ की विवृति में यही प्रमाण इति श्रुतिः लिख कर उद्धृत किया है । ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याहृतियों से सप्त लोकों की उत्पत्ति का कथन है । मनु के अनुसार भी वाणी में सब अर्थ अथवा पदार्थ निहित है । वाणी से ही सारी सृष्टि विनिसृत हुई है । अतः सृष्टि उत्पत्ति का सारा रहस्य वाणी के देखने और सुनने वाले को ज्ञात हो जाता है । इस ज्ञान की सहायता से उस की मुक्ति हो जाती है । पत्नी अपना कोई अन्न पति से छिपाती नहीं । इसी प्रकार वाणी अपनी सम्पूर्ण घटना ज्ञानी के लिए खोल देती है ।

इस मन्त्र से एक और रहस्य भी खुलता है । ऋतुकाल के दिनों में स्त्री सुवासाः नहीं रहती । अर्थात्पत्ति से यह स्पष्ट है । ऋतुकाल के पश्चात् वह

१. पूर्व, पृष्ठ ३ के आरम्भ में मनु ४ । २५६ का प्रमाण ।

ज्ञान स पाप नष्ट होते हैं इसलिए गीता में भी कहा है कि ज्ञानाग्निदग्धकमा
बनो, यह साक्ष्य का सिद्धान्त है कि पञ्चविराति तन्त्र मुक्त हो जाता है ।

अति गत्यर्थक है । अरण्य=गमन अर्थ=विद्या और धन्यादि एक स दूसरे को
जात है । स्कन्द के अनुसार ये दोना स्मृति के श्लोक हैं, परन्तु निरुक्त म इन का
सस्वर पाठ है । अत निश्चित है कभी लाकभाषा के पाठ पर भी स्वर होना था ।
ब्राह्मण ग्रन्थों में उद्भूत गाथाओं पर भी स्वर रहता था । शतपथ में प्रयुक्त
गाथाओं में स्वर आज भी विद्यमान है ॥ १८ ॥

ज्ञान की प्रशंसा में लोक स दो श्लोक उद्भूत कर क अब शास्त्रकार तद्विषयक
दो मन्त्र उद्भूत करता है ।

उत स्युः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वं शूण्यन्न शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्वं प्रि संसे जायेव पर्य उशती मुगसाः ॥

[ऋ० १० । ७१ । ८ ॥]

अप्येक पश्यन्न पश्यति वाचम् । अपि च शृणयन्न शृणोत्येनाम् ।
रत्यभिदासमाहार्यम् । अप्येकरमे तन्न प्रिसखे । इति स्वमात्मान
विद्वेषुत । ज्ञान प्रकाशनमर्थस्याज्ञानया वाचा । उपमोत्तमया वाचा ।
जायेव पर्य कामयमाना मुगसा । [ऋतुकालेषु मुगसा कर्याण
वासा कामयमाना] ऋतुकालेषु यथा स एना पश्यति स शृणोति ।
इत्यर्थप्रशसा । तस्योत्तरा भूयसे निर्बचनाय ॥ १६ ॥

अर्थ—एक देखता हुआ भी नहीं देखता वाणी को । और एक सुनता
हूआ भी नहीं सुनता हम को । आर एर के लिए [अपने] शरीर को खोल
देती है [वाणी] जाया=पत्नी जैसे पति के लिए [शरीर को खोलती है]
कामना करती हुई मुन्दर, कल्याण बाल बक्षी को पहनने वाली ।

और भी, एक देखता हुआ, नहीं देखता वाणी को, और भी, सुनता हुआ
नहीं सुनता हम [वाणी] को । यह अविद्वान क प्रति कहा [श्रुचा के]
आये भाग [मे ।] और भी, एक क लिए (तन्व-स्वम् आत्मान)=अपने
शरीर को खोलती है । [वाणी अपने स्वरूप का ज्ञान खोलती है ।]
ज्ञान प्रकाशन है अर्थ का, [यह] वहा [तीसर पाठ की] इस वाक् से ।

जिस ने, [उस] पुरुष को नहीं पहुँच सकते [साधारण लोग], वाणी द्वारा जानने योग्य प्रबल विषयों में भी । [ऐसा साधारणपुरुष] विना वेनु=वाक् के ही चलता फिरता है । वह माया वाली, वाक् की नकल वाली [वाणी से चलता फिरता है ।] नहीं इस के लिए [वाणी रूमी वेनु=गौ] कामनाओं को दोहती है, [जो कामनाएं] वाक् के द्वारा दोही जाती हैं, देव स्थानों में और मनुष्य स्थानों में । [तथा] जो वाणी को केवल सुना हुआ है, अफला और अपुष्पा को [=विना अर्थ वाली को ।] अफला उस के लिए [और] अपुष्पा वाणी होती है । अथवा थोड़े पुष्प और फल वाली [होती है] । अर्थ को वाणी का पुष्प और फल कहा [मन्त्र ने ।] यज्ञ-विषयक ज्ञान और देवता-विषयक ज्ञान पुष्प और फल [हैं] । अथवा देवता-विषयक ज्ञान और अध्यात्म=शरीर-विषयक अथवा ब्रह्माण्ड-विषयक ज्ञान ॥ २० ॥

भाष्य—ज्ञान की स्तुति करने वाले यास्क द्वारा उद्धृत दोनों मन्त्र ऋग्वेद के बार्हस्पत्य सूक्त में हैं । इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा है कि वेद ज्ञान जो प्रथम अर्थात् आदि में हुआ, जो सम्पूर्ण वाणी का अग्र अर्थात् मूल है, जो आदि सृष्टि के समय पदार्थों के नाम रखने के अवसर पर प्रकट हुआ, जो सम्पूर्ण ज्ञानों में श्रेष्ठ और जो अरिप्र अर्थात् दोष रहित है, वह ज्ञान प्रेम से भरे हुए अग्नि-हृदयों में से बाहर निकला । यह वेद-ज्ञान सार्थक और जीवन का पूर्ण फल देने वाला है ।

इन्हीं वेद मन्त्रों अथवा छन्दों की कृपा से देवस्थान मिलते हैं और मनुष्यों में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ।

मन्त्रों की कृपा से सूर्य लोक, द्युलोक अथवा अन्य ऊपर के लोकों को मुक्तात्मा प्राप्त होते हैं । मन्त्रों के अर्थज्ञान के आनन्द के पश्चात् केवल मुक्ति की ही अवस्था होती है । इसीलिये तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।६।७ में कहा है—नाऽवेदविन्मनुते तं बृहन्तम् ।

निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों में अध्यात्म पद का अर्थ शरीर-सम्बन्धी अथवा विराट् शरीर-सम्बन्धी होता है । यास्क मन्त्रों को कण्ठस्थमात्र रखने का भी थोड़ा पुण्य मानता है ।

आगे निरुक्त शास्त्र का आगम-प्रकार कहा है ।

मुवासा हो जाती है । अन्यत्र, स्त्रियों को घटों में भी भेड़ बास धारण करने चाहिए विगप कर पतियों से मिलने के समय । ये बात कल्याण्य बात हैं । हम का रहस्य कामराज्य से जानना चाहिए ।

वास और वस्त्र — काम पहनने का कपड़ा जाना है । शक्ति का शक्ति शक्ति शक्ति दुखा कपड़ा । इस बात में शरीर यस्तता है । वस्त्र वह, जो तनुवाय से बना हुआ होता है । वर्तमान सृष्टि के युगारम्भ से ही सुन्दर कपड़ों का ज्ञान चला आया है । यहा विक्राममत को स्थान नहीं ।

अब इसी विषय पर प्रगला मन्त्र है—

उत त्वं मन्त्रे स्थिरपीतमाहुर्नर्न हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।

अथेन्या चरति माययैष वाचं शुश्रुषौ अफलात्मपुण्याम् ॥

[श्रु० १० । ७ । ५ ॥]

अप्येक वाक्स्वरूपे स्थिरपीतमाहुः । रममाण विपीतार्थं देवस्वरूपे । रमणीय स्थान इति वा । विज्ञातार्थं यज्ञान्नुवन्ति वाग्देवेषु बलवत्स्यपि । अथ-वा ह्ये चरति मायया वाक्प्रतिरूपया । नाऽस्मै कामान् कुण्ठं वाक् दोहान् देवमनुष्यस्थानेषु । यो वाचं श्रुतयान्मत्पुण्यात्पुण्या मिति । अफलात्मा अपुण्या वाग्मयतीति वा । किञ्चित्पुष्पफलेति वा । अर्थं वाचं पुष्पफलमाह । याज्ञदेवत पुष्पफल । देवनाध्यामे वा ।

अर्थ—और एक को [वाक् क] सत्यकर्म में (स्थिरपीतम्) स्थिर भाव में पिया हुआ अथवा एक अनुभव वाला कहने हैं । और नहीं मन्त्र [विद्या] को (हिन्वन्ति) प्राप्त हो सकते हैं, अथवा नहीं उस की तुलना में टहर सकत है (वाजिनेषु) [वाणी क] यज्ञो म । अबतु [रूप] के माय चलना फिरता है, माया के साथ अर्थात् वनावटी रूप में वह पुष्प जिम ने मुता है [वाणी को] अफला और अपुण्या को ।

आर भी, एक को वाणी के सम्य म स्थिरपीत कहते हैं । [वाणी क उद्यान म अथवा भीतिक दवा और विद्याना के मध्य म,] रमण करने हुए को, पूर्ण रूप म पिया है अर्थ को जिम न एम को । [देवमन्त्र] दुन्दा की कृपा और मूय की रश्मिया क सहयोग म दवा क सरय में । अथवा अथ रमणीय स्थाना म, अथवा विद्याना के मध्य में जान लिया है अर्थ को

जीवित कर सकता था, यह रहस्य अद्वितीय है । यह परपुरुष में यौवन का संग्रमण करके उसे जराहुन्त कर सकता था । इस विषय का अधिक ज्ञान मद्रचित वैश्वितानिदर्शन से कीजिए ।

यदि कोई कहे कि भरद्वाज का आकाशगद्गा तक पहुँचना गम्प है, तो उस महा अज्ञानी पर हम दया ही कर सकते हैं । उस के लिए तो विमानविद्या ही गम्प है ।

योरोप का विकास-मतस्थ पुरुष कहता है कि आदि मनुष्य मूर्ख, असभ्य और ज्ञानशून्य था । यह मत कल्पना पर आधित है । योगविद्या और इतिहास इस के विरुद्ध हैं । भारतीय इतिहास में जितना हम पुराने से पुराने काल में जाते हैं, ज्ञान उतना ही अधिकाधिक दीव्यता है । इस को न मानना अपने को ठगना है, पूर्वी आत्मवन्दना है ।

अतः चास्क का आगम-विषयक लेख पर नहीं फेंका जा सकता ।

उपदेश-परम्परा—आदि अपियों का ज्ञान उपदेश द्वारा आगे-आगे बढ़ा । आरम्भ में मानव बुद्धि अति निर्मल और स्मृति अधिकाधिक धारण करने वाली थी । आद्यतत्कृन्धर्मा अपियों से उत्तरकाल के विद्वान् उतनी बुद्धि और स्मृति वाले न थे, पर वे उपदेश को सरलता से ग्रहण करते थे । उस के उत्तर काल का मानव अधिक न्यून शक्ति वाला हो गया । उस की बुद्धि-शक्ति में ग्लानि हुई । तब वेदाङ्ग शास्त्र प्रवृत्त हुए । वेदाङ्गों का वेत्ता गृहस्पति हुआ ।^१ उस से पूर्व कश्यप आदि अपि निघण्टु रूपी समाज्ञाय का समाज्ञान कर चुके थे । यह बात भारत-युद्ध से अर्थात् विक्रम से ३०६० वर्ष पूर्व से भी सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुकी थी । यह इतिहास-सिद्ध सत्यता की कसौटी पर परीक्षित आगम-परम्परा है । इस के विपरीत योरोप के वैज्ञानिकगणों ने जो झूठा कल्पित इतिहास अपने अस्मिद्ध भाषामत के आधार पर खदा करके प्रस्तुत किया है, वह विद्वानों से निन्दित है ।

वेदं च वेदाङ्गानि च—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसका अर्थ किया है ।
 “समाज्ञासिपुः सम्यग्भ्यासं कारितवन्तः । येन सर्वे मनुष्याः वेदं च वेदाङ्गानि च जानीयुः । इति । निरुक्त पाठ का दूसरा अर्थ भी है—वेद को आम्नायों, चरणों और शाखाओं के रूप में समाज्ञात किया । तथा वेदाङ्गों का संग्रह किया ।

साक्षात्करणप्रमाणं ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मैभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्वसम्प्रादु । उपदेशाय ग्लान्तोऽधरे विलम्बग्रहणाधेम ग्रन्थ समाप्तासिषु । वद् च वदाद्भानि च । विलम्बे भित्तमं भासनमिति वा ।

अर्थ—साक्षात् किया धर्म को जिहाने, गम ऋषि हुए । उन्होंने अपन म छोटा क लिए जिह धर्म का साक्षात्कार न था, उपदेश द्वारा मन्त्रा के [पाठ और अर्थ] दिए । उपदेश के [ग्रहण के] लिए ग्लानि था न हुए [आर तो अधिक] छोटे [थे] उन्होंने स्फुट ग्रहण के लिए इस [निधण्डु] ग्रन्थ का अन्वयण किया । आर वेद का और वदाद्भानि का । विलम्ब=विन्म, अथवा भासन=प्रमाण ।

भाव्य—आदि सृष्टि में और युग के आदि में धर्म को साक्षात् करने वाले ऋषि थे । वे स्वयमगमविज्ञान थे । व मोरजन्तम थ ।^१ उन्हें ही मन्त्र और ज्ञान के तत्त्व स्वय ज्ञान हुए । गते सृष्टि अथवा युग में वे अत्यन्त पुरुर्यकर्मा थे । व परम योगी महान् प्रेम स ईश्वर प्रेरित म प्रा को देखन वाले हुए । वे आदि में शरीर निराला भी थ ।

भारतवर्ष का सम्पूर्ण ज्ञान भूत भव्य भविष्य^२ और सत्यधर्मपरायण^३ ऋषियों की दन है । वद धर्मशास्त्र आशुर्वेद धनुर्वेद, अथर्ववेद, गान्धर्ववेद, न्यायिक शास्त्र आदि समस्त विज्ञान का आगम ऋषियों म हुआ । वे ऋषि थे, घृष्टा, ऋषि, वसिष्ठ, स्वार्थमुख मनु, मार्कण्डेय आदि ।

ऋषि ज्ञान की महिमा इसी बाल स समय म आ सकती है कि उतना ज्ञान मसार भर में पात्र तक नहीं हो सका । भरद्वाज ऋषियों में तपस्वीतम, अनुष्ठान तम और लोचनीकृतम थ ।^४ भरद्वाज ऋषि ने आकाश गंगा में स्नान किया ।^५ वसिष्ठ न इन्द्र का प्रत्यक्ष देवा । वह इन्द्र भौतिक शक्ति का, वास्तविकत वैतनासि का दिव्य रूप है ।^६ शुक्राचार्य अथवा उराला ऋषि किसी भी मृतक को

१. वरक संज्ञता, शरीर स्थान । २ शन्तिपर ३४३ । ३२ ॥

३ एतरेय आरण्यक १ । २ । २ ॥

४ आशुष्यगङ्गातम पुरा मद्भानो महर्षि उवाचृष्टात् शीत् प्रमान प्रमेया विभुवाऽभालानि । शन्तिपर १५१ । ५५ ॥

५ निरु० एत घा० २ । २६ ॥

जीवित कर सकता था, यह रहस्य अद्वितीय है । यह परपुरुष में यौवन का संक्रमण करके उसे जराबुद्ध कर सकता था । इस विषय का अधिक ज्ञान मद्रचित् वेदविद्यानिर्दर्शन से कीजिए ।

यदि कोई कहे कि भरद्वाज का आकाशगद्गा तपः पटुंचना गप्प है, तो उस महा अज्ञानी पर हम दया ही कर सकते हैं । उस के लिए तो विमानविद्या ही गप्प है ।

योरोप का विकास-मनस्थ पुरुष कहता है कि आदि मनुष्य मूर्ख, असभ्य और ज्ञानशून्य था । यह मत कल्पना पर आश्रित है । योगविद्या और इतिहास इस के विरुद्ध हैं । भारतीय इतिहास में जितना हम पुराने से पुराने काल में जाते हैं, ज्ञान उतना ही अधिकाधिक दीप्तता है । इस को न मानना अपने को ठगना है, पूरी आत्मवचन है ।

अतः यास्क का आगम-विषयक लेख परं नहीं फेंका जा सकता ।

उपदेश-परम्परा—आदि ऋषियों का ज्ञान उपदेश द्वारा आगे-आगे बढ़ा । आरम्भ में मानव बुद्धि अति निर्मल और स्मृति अधिकाधिक धारण करने वाली थी । साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से उत्तरकाल के विद्वान् उतनी बुद्धि और स्मृति वाले न थे, पर वे उपदेश को सरलता से ग्रहण करते थे । उस के उत्तर काल का मानव अधिक न्यून शक्ति वाला हो गया । उस की बुद्धि-शक्ति में ग्लानि हुई । तब वेदाङ्ग शास्त्र प्रवृत्त हुए । वेदाङ्गों का यत्ना बृहस्पति हुआ ।^१ उस से पूर्व कश्यप आदि ऋषि निवण्टु रूपी समाज्ञाय का समाज्ञान कर चुके थे । यह बात भारत-युद्ध से अर्थात् विक्रम से ३०६० वर्ष पूर्व से भी सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुकी थी । यह इतिहास-सिद्ध सत्यता की कसौटी पर परीक्षित आगम-परम्परा है । इस के विपरीत योरोप के वैज्ञानिकगणों ने जो भ्रष्ट कल्पित इतिहास अपने असिद्ध भाषामत के आधार पर खड़ा करके प्रस्तुत किया है, वह विद्वानों से निन्दित है ।

वेदं च वेदाङ्गानि च—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसका अर्थ किया है ।
 ...सामान्नासिषुः सम्यग्भ्यासं कारितवन्तः । येन सर्वे मनुष्याः वेदं च वेदाङ्गानि च जानीयुः । इति । निरुक्त पाठ का दूसरा अर्थ भी है—वेद को आम्नायों, चरणों और शाब्दायों के रूप में सामान्नात किया । तथा वेदाङ्गों का संग्रह किया ।

पास्क ने इतिहास का यह परम उच्चतम तथ्य सुरक्षित कर के मानव पर महान् उपकार किया है ।

एतावन्त समानकर्माणो धानुः । धानुर्दधाते । एतावन्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि । एतावतामर्थानामिदमभिधानम् । नैघण्टुकमिदं देवतानाम् । प्राग्ग्रन्थेनेदमिति । तद्यदन्यद्वते मन्थे निपतति नैघण्टुकं तन् ।

अथ न त्वा वारवन्तम् ॥ [ऋ० १ । २७ । १ ॥]

अथमिय त्वा वालवन्तम् । वाला दशवारणार्था भवन्ति । दशो दशत ।

अर्थ—इन्ने समान अर्थ वाल धानु है । धानु दधानि मे [है ।] इन्ने इम द्रव्य क नाम है । इन्ने अर्था का यह वाचक है । नैघण्टुक (=अप्रधान) यह [है] देवता का नाम । प्रधानता से यह है । तो जो अन्य देवता वागे मन्त्र मे [कोई देवता नाम] आगिरता=आ जाना है, नैघण्टुक [= गौण होता है] वह ।

भाष्य—निघण्टु के तीन प्रकरण—प्रथम प्रकरण में दो भाग हैं । एक भाग समानकर्माणो धानुर्दधाते का है । यथा—अष्टादश कान्तिकर्माण । २ । ६ प दूसरा भाग एक सत्त्व=द्रव्य=पदार्थ के अनेक नामों का है । यथा—एकविंशति पृथिव्या । १ । १ ॥ इन दोनों भागों का एक सामान्य नाम नैघण्टुक प्रकरणा है । पर इम प्रकरण का यह नैघण्टुक नाम निरुक्त में नहीं है । निरुक्तम्व अगला नैघण्टुक पद गौण अर्थ का वाचो है । दूसरा प्रकरण एक नाम के अनेक अर्थों का है । इम प्रकरण को निगम कावच कहते हैं । यही मन्त्रम प्रकरण है । इम में अन्वगत मन्त्रार निगम भी है । नैघण्टुकम् इदं देवतानाम् । गौण है यह देवतानाम् । प्रधानता से ई पद देवता का नाम । यह देवत प्रकरण अथवा देवत काण्ड का विषय है । इम देवत प्रकरण के विषय में दो मन्त्रों के उगाहरण है ।

१—अथ न त्वा वारवन्तम् ।

घोड़े के समान, तुम्हें बालों वाव के, [अग्नि को स्तुतियों से नमस्कार करने की इच्छा करने हैं ।] [जैसे घोड़ा गर्दन और पूँछ के बालों से मक्खी आदि को दूर करना है, वैसा यज्ञ के विघ्नो को अग्नि अपनी जगानाओं से दूर कर ।]

वाला.=वाल, जो दंशों के निवारण के लिए होते हैं। दंश दशति से है।

भाष्य—मन्त्र का भाव स्पष्ट है। बाल-रहित घोड़ा दुःखी होता है। इसी प्रकार ज्वाला रहित यज्ञाग्नि सुख नहीं दे सकता। इसी लिए कात्यायन ने कर्म-प्रदीप में लिखा है कि भस्म आदि में हवि न देवे। यज्ञाग्नि सदा ज्वालाओं वाला रहना चाहिए।

२.—मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ॥ [ऋ० १।१५४।२ ॥]

मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। मृगो माप्यंगतिकर्मणः। भीमो विभ्यत्यस्मात्। भीष्मोऽप्येतस्मादेव। कुचर इति चरतिकर्म कुत्सितम्। अथ चेद्देवताभिधानम्। कायं न चरतीति। गिरिष्ठा गिरिस्थायी। गिरिः पर्वतः। समुद्रगीर्णो भवति। पर्ववान्पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणाते-र्वा। अर्धमासपर्व। देवानस्मिन्प्रीणन्तीति। तत्प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात्। मेघस्थायी मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव।

अर्थ—मृग=सिंह अथवा व्याघ्र के समान भीम=भयानक, कुत्सितकर्मा पर्वतस्थायी।

सिंह अथवा व्याघ्र के समान भयानक निन्दितकर्मा पर्वतस्थायी। मृग, मार्ष्टि गत्यर्थक से है। भीम, डरता है इस से। भीष्म पद भी इस से ही है। कुचर यह चरतिकर्मा है। कुत्सित=निन्दितकर्म [में]।

अब यदि [यह कुचरपद, जो इंद्र का वितोषण हो सकता है,] देवता का नाम है, [तो अर्थ होगा], कहां यह नहीं चलता फिरता। गिरिष्ठाः= गिरि में ठहरने वाला। गिरि [का अर्थ है] पर्वत। बहुत अच्छे प्रकार [भूमि से] उद्गर्णी=ऊपर को उगला हुआ होता है। पर्वों अर्थात् जोड़ों वाला है पर्वत। पर्व फिर पृणाति [दान-कर्मा] से है, [देव, पितर और मनुष्यों के लिए, हव्य, कव्य और दान दिया जाता है] अथवा प्रीणाति से। अर्धमास वाला पर्व [पूर्णिमा-अमावस्या]। देवों को इस में तृप्त करते हैं। इसी प्रकृति [=अर्धमास पर्व] से दूसरा पर्व [अङ्गुलि पर्व, वंग-पर्व=वांस की पोरी, इक्ष्पर्व=ईख-गन्ने की पोरी आदि] होता है। सन्धि=जोड़ की समानता से। [जैसे पूर्णिमा अमावस्या के दोनों पक्षों के मध्य में होने से उनको जोड़ने वाली होती है, वैसे ही ये दूसरे पर्व दो भागों को जोड़ने वाले होते हैं।] मेघ में ठहरा हुआ। मेघ भी गिरि इसी [उद्गर्णी होने] से है।

भाष्य—इन्द्र गिरि में उहरता है। ये गिरि मध्यम स्थान में भी हो सकते हैं। वही इन्द्र का स्थान है। वहा गिरि किस रूप में होते हैं, यह अन्वेषणीय है। गिरि शब्द में “उद्गीर्णं हुआ अर्थ जिस अर्धभुज प्रकार से सम्पृक्त है, वह शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध का सजीव उदाहरण है। वायु पुराण, अ० ८, और नशाण्डपु० पूर्व भाग, अ० ७ क निम्नलिखित श्लोक, जो दोनों पुराणों के सवादा से शुद्ध किए गए हैं, देखने योग्य हैं—

अङ्गि सच्छादिताम् उर्वीं^१ समीच्याथ^२ प्रजापति ॥
 उद्घृत्योर्मीम् अधाङ्गश्चस्तु^३ अपस्^४ तास्तु स विन्वसत्^५ ।
 सामुद्रास्तु^६ समुद्रेषु नादेवीर्निम्नगाश्चपि^७ ॥ ८ ॥
 पार्थिवीस्तु^८ स विन्वस्य^९ पृथिव्या सो ऽचिनोद् गिरीन् ।
 प्राक्सर्गे दहमाने तु पुरा सवर्तकाग्निना ॥ ९ ॥
 तेनाग्निना प्रलीनास्ते^{१०} पर्वता भुवि सर्वश ।
 शैत्यादेकार्णवे तस्मिन् वायुना ऽऽपस्तु^{११} सहिता ॥ १० ॥
 निषिक्ता^{१२} यत्र यनासस्तत्र तत्राचलो ऽभवत् ।
 स्फोष्वाचलत्वाद्^{१३} अचला पर्वभि पर्वता स्मृता ॥ ११ ॥
 गिरयो हि^{१४} निगीर्णत्वात् अयनाच्च^{१५} शिलोच्चया । १२ ॥

अर्थात्—प्रजापति ने समुद्र नदी और पृथिवी में आप स्थापित करके, तबधात गिरियों को अचिनोत्=एकत्र किया अथवा विना। ये गिरि कैसे बिते गए इस का प्रकार आगे वर्णित है। पूर्व सर्ग में युगान्त प्रलय के समय जब सवर्तकाग्नि से सम्पूर्ण पदार्थ जल गए तब अग्नि की अतिमात्रा से भूमि पर के सम्पूर्ण पर्वत विघ्न विघ्न कर भूमि में ही पूर्णतया लीन हो गए। फिर अग्नि शान्त हो गया उस का भाग और तेज अति न्यून हुआ। समय पाकर शैत्य का

- १ अ०—इन्द्रन् । २ अ०—पृथिवीं च । ३ अ०—अप न्यस्ता ।
 ४ अ०—सात्पयुतमसि न्यस्तम् । वायु—विचसन् । ५ अ०—सामुद्रात् ।
 ६ अ०—नादेव्यश्च नदीषु च । ७ अ०—पृथक् तास्तु समीकृत्य ।
 ८ वायु—तदा । ९ अ०—किलीनास्ते । १० अ०—वेष्टु ।
 ११ वा०—संहता । १२ वा०—निषक्ता । १३ अ०—स्फोष्वाच० ।
 १४ वा०—अङ्गि । १५ अ०—अयनात् ।

प्राच्य ह्युशा । तव वायु और शैत्य के प्रभाव से आपः संहित अथवा संहत हो गप् । यह संहित रूप हिम का था, अथवा किसी और प्रकार का, यह अभी मैं निर्णय नहीं कर पाया ।

वे संहत आपः भूमि पर जहाँ-जहाँ निपिक्त हुए अर्थात् छिड़के गए, अथवा अन्दर धँसे, अथवा निपिक्त=लटकने लगे, वा जुड़ गए, वहाँ-वहाँ अचल बना । वे संहत आपः गिर कर भी अचल रहे, हिले नहीं, वहाँ इन के और भूमि के योग से अचल बने । जहाँ-जहाँ ये आप टुकड़ों में, पर्वों में जुड़ कर एकत्र हुए, वहाँ पर्यंत बने । जहाँ-जहाँ उन संहत आपः को अथवा हिम-तोड़ों को भूमि ने निगीर्ण (=निगल) लिया, वहाँ-वहाँ गिरि बने । जहाँ-जहाँ ये संहत-आपः किसी क्रम-विशेष में चिते गए, वहाँ-वहाँ भूमि में शिलाओं का चयन हुआ ।

गिरि और पर्वत का भेद ध्यान देने योग्य है ।

अपवर्णास्तु गिरयः पर्वभिः पर्यताः स्मृताः ।

ब्रह्मण्ड पु० १६।१३० ॥

ये संहत आपः कितना काल संहत रहे, शैत्य-युग कब तक रहा, संहत आपः और पृथिवी का योग किस प्रकार हुआ, इस माया में सम्पीडन हो रहा था, वा नहीं, ये सब प्रश्न अन्वेषणीय हैं । हम ने इस पाठ को इस क्षिण उद्भूत किया है कि पाठक जान लें कि—अचल, पर्यंत, गिरि और शैल, इन चारों का निर्माण कैसे हुआ । इस विषय में प्राचीन विद्वान् कुछ विशेष वैज्ञानिक तथ्य जानते थे । उन्हीं में से यास्क एक विद्वान् ही नहीं, अपितु मुनि-कोटि का महापुरुष था । उसका ज्ञान और भी स्पष्ट था । उस ने गिरि का निर्माण उद्गीर्ण क्रिया द्वारा माना है । तदनुसार भूमि में गिरि बन तो चुके थे, पर तदनु उन का बाहर पूरा बमन हुआ । वे पृथिवी के अन्दर से उगले गए । ऐसी क्रिया ज्वालामुखियों के फटने पर लावा (lava) द्वारा होती है । तब ताप बड़ा हुआ होता है ।

अब विद्वानों को ध्यान देना चाहिए कि गिरि शब्द में कैसा अद्भुत रहस्यमय इतिहास छिपा पड़ा है । अतः शब्द का निर्वचन करने वाला पुरुष महान् विद्वान् होना चाहिए । इस उच्च-कोटि के यास्क सद्यः विद्वान् पर सुद्र-आशय सिद्धेश्वर वर्मा ने पाश्चात्य राय और विहितलिङ्ग आदि का अन्धानुकरण कर के यह आक्षेप किया कि निरुक्त में किए गए यास्क के लगभग आर्धे निर्वचन अशुद्ध हैं । जो उदारधिः पुरुष निर्वचन विद्या पर पूर्ण-अधिकार रखता था, उस पर वृथा कीचड़ फेंकना विद्वद्भूतों का ही काम है ।

निरुक्त के अध्येता को इस एक उदाहरण से समझ लेना चाहिए कि यास्क के प्रत्येक निर्वाचन में वितान का महान् प्रकाश है।

मेघ भी गिरि है। मेघ का भी उन्गीर्ण होता है। एक घने मेघ में भी दूसरा नया मेघ उगलता जाता हुआ बहुधा दिखाई देता है। यह पहले मेघ से ही बाहर निकलता है। वृत्र की दशा में यह अत्यधिक स्पष्ट है।

तत्रानि नामानि प्राधान्यस्फुनीनां देवतानां तद्देवतमिन्याद्यज्ञते ।
तदुपरिष्ठाद् व्याख्यास्याम । नैऋदुक्कानि नैगमार्नादेह ॥ २० ॥

अर्थ—ता ओ नाम [इस निघण्टु में प्रयुक्त स्तुति वाले देवताओं के हैं, [निघण्टु क उम वाग्द को] देवत, यह कहने ह [पुराने विद्वान्] । उम का ऊपर चल कर व्याख्यान करेगे। नैघण्टुक और नैगमो को यहा, यहा ॥ २० ॥

भाष्य—उपरिष्ठान्, प्राचीन विद्वान् अपने ग्रन्थ का एक पत्रा लिख कर नीचे रखते थे। तदनु उम के ऊपर-ऊपर अगले अगले क्षिपे पत्रे रखते जाते थे। इसी लिए यह 'उपरिष्ठान्' का प्रयोग हुआ। इस का अर्थ है—इस के आगे।

इस अध्याय के इस अन्तिम लेख से यास्क ने निरुक्त के दो भाग कर दिये। पूर्वार्ध में निघण्टु के पहले ५ अध्यायों का व्याख्यान है और उत्तरार्ध में अन्तिम पाचव अध्याय का। यह निरुक्त ग्रन्थ स्कन्ध ग्रन्थ नहीं है। यह निघण्टु का भाष्य मात्र है। व्याख्यास्याम पद से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में गौय और प्रधान देवताओं की स्तुतिया हैं। इस से आगे परिशिष्टों में अग्नि-स्तुतियां हैं। वहीं पर आस और परमात्म विद्या का निर्गमन है ॥ २० ॥

॥ इति प्रथमोऽध्याय ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथ निर्वचनम् । तद् येषु पदेषु स्वस्वकारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारैरान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्वचयात् । अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत । केनचिद् वृत्तिसामान्येन । अधिद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्वचयात् । न न्वेव न निर्वचयात् । न संस्कारमाद्रिभेत् । विशयवन्यो हि वृत्तयो भवन्ति । यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् ।

अर्थ—अत्र निर्वचन । तो जिन पदों में स्वर और प्रकृति, प्रत्यय के संस्कार (समर्थी) वास्तविक पदार्थ बताने में सशक्त तथा शास्त्रद्वारा बताए हुए विकार से युक्त हों [अर्थात् धातु और प्रकृति, प्रत्यय में स्पष्ट प्रतीत हो जावें] । वैसे उन का निर्वचन करे । और अर्थ के [प्रकृति, प्रत्यय से] युक्त [दिखाई न देने पर और] व्याकरण शास्त्र द्वारा अनिर्दिष्ट विकार के होने पर (अर्थनित्यः)=अर्थ में ठहरा हुआ [निर्वचन] की परीक्षा करे । किसी (वृत्तिसामान्येन) आख्यात और नाम रूप जो धातुओं से निकाले जाते हैं, उन की समानता से । न विद्यमान होने पर ऐसी समानता के [निर्वचन करने का त्याग न करे । तथापि [अक्षरमात्र और वर्णमात्र की समानता से निर्वचन करे । नहीं ऐसा होवे [कि] न निर्वचन करे । न ही [व्याकरणों में बताए हुए प्रकृति-प्रत्यय के] संस्कार का [विज्ञेय] आदर करे । संगय वाली ही वृत्तियां होती हैं । जैसा अर्थ अथवा पदार्थ है, उसी प्रकार विभक्तियों को झुकावें, अर्थात् बदले ।

भाष्य—निर्वचन पद की व्याख्या में दुर्गं लिखता है—अपिहितस्य अर्थस्य परोक्षवृत्तौ अतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम् । अर्थात् शब्द में छिपे हुए अर्थ के परोक्षवृत्ति अथवा अतिपरोक्ष वृत्ति होने पर सूँच कर अथवा तोड़ कर जो वचन (कथन) हो वह निर्वचन होता है । निर्वचन पद का एक सीधा अर्थ भी है । अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति के समय

अर्थ=पदार्थ की वह माथा जिस से वचन=शब्द बना, निर्गमो वचन यस्मात् ।
२ अर्थ का सम्बन्ध पूर्ण सृष्टि विद्या से है ।

निरुक्त शास्त्र म अर्थ=पदार्थ की प्रधानता है । हम में शब्द के केवल स्थूल
र का काम नहीं । शब्द का स्थूल रूप व्याकरण का विषय है ।

अर्थ को ही पदार्थ कहते हैं, यह लोक म प्रसिद्ध है । अक्षपाद मुनि का
प्राय शास्त्र म सूत्र है—इन्द्रियार्थैस्तद्विकर्षात्पद्यम्० । यहा अर्थ पद स
पार्थ का ग्रहण होता है । पदार्थ ही तो शब्द का अर्थ है । उसी पदार्थ के
स्वभाव म आते समय आदि में सृष्टि निर्माण समय पर वह शब्द ईश्वरीय
यमानुसार उचरित हुआ ।

अर्थनित्य —अर्थ में अहरा हुआ । नित्य =नियत । ऐस समाप्त पर पृष्ठ ५
अन्त म पहल भी लिखा जा चुका है । निर्वचन में व्याकरण का इसलिये
धिक आदर नहीं कि व्याकरणों ने प्रकृति प्रत्यय के विधान म अनेक कल्पनाएँ
। हैं । इसलिये आस्क ने कहा है—विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति ।
पार्थ सहाय वाली वृत्तियाँ होती है । यहाँ वृत्ति शब्द अति प्राचीन अर्थ म
युक्त हुआ है । अर्थात् आख्यातों और नामरूपों को धातुओं स निकालने वाले
। हैं । इसी अभिप्राय स व्याकरण महामाध्य म पाणिनीय सूत्रों को वृत्तिसूत्र
। सहायी है ।^१ आदिशक्ति ने भी अपनी शिक्षा म वृत्तिकार^२ नाम का एक
करण पेश है ।

प्रत्तमउत्तमिति धा वादी एव शिष्येत् । अथाप्यस्तनिधुनिस्थाने
। तद्विलोपो भवति । स्त । सन्तीति । अथाप्यन्तलोपो भवति ।
न्त्वा । गतमिति । अथाप्युपधालोपो । भवति । जम्मतु । जम्पुरिति ।
अथाप्युपधाधिकारो भवति । राजा । दण्डीति । अथापि वर्णलोपो
भवति । तत्त्वा यामि । इति । अथापि द्विवर्णलोप । लृच इति ।
अथाप्याद्विवर्णयो भवति । ज्योति । धन । विन्दु । घाटय इति ।
अथाप्याद्यन्तविवर्णयो भवति । स्तोका । रज्जु । निकता । नर्जिति ।

१ न ब्रह्मो वृत्तिसूत्र प्रामाण्यत् । २ । १ । १ ॥

२ पाणिनीय शिक्षा सूत्र में भी यह वृत्तिकार प्रकरण है ।

अर्थ—१. प्रत्तम्, अवत्तम्—[इन दो रूपों में] धातु का आदि ही वचता है। २. और भी, अस्ति के निवृत्तिस्थानों में आदि-लोप होता है। [यथा—] स्तः, सन्ति, इति। ३. और भी, अन्त का लोप होता है। [यथा—] गत्वा, गतम्, इति। ४. और भी, उपधा [=अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण, यथा गम् धातु में म् अन्त्य वर्ण है, उस से पूर्व वर्ण अर्थात् ग में जो अ है, उस] का लोप होता है। [यथा—] जग्मतुः, जग्मुः, इति। ५. और भी, उपधा में विकार होता है। [यथा—] राजा, दरुडी, इति। ६. और भी, वर्ण का लोप होता है। [यथा—] तच्चा यामि, इति। ७. और भी दो वर्णों का लोप, तृच [=त्रि+ऋच] इति। ८. और भी, आदि का विपर्यय =उलट, यहां पर—वर्णान्तर में परिवर्तन होता है। [यथा—] ज्योतिः [में ज् के स्थान में द्र था=द्योतिः] घनः [में घ् के स्थान में ह् था=हनः], विन्दुः [में व् के स्थान में भ् था=भिन्दुः], वाटयः [में व् के स्थान में भ् था=भाटयः] ९. और भी, आद्यन्त का विपर्यय होता है। [यथा—] स्तोकाः [स्कोताः], रज्जुः [सृज् विसर्गे से रज्जु को सिद्ध करते हैं], सिकता [कसिताः], [और] तर्कु [कर्तुः], इति।

भाष्य—अब यास्क ने निर्वचन के आधारभूत नियमों का वर्णन आरम्भ किया है। इन नियमों का स्पष्टीकरण उस ने अपने काल में प्रचलित व्याकरण के नियमों के अनुसार किया है। आदि सृष्टि में व्याकरण का अध्यापन प्रतिपद पाठ के अनुसार होता था। शनैः शनैः बुद्धि और स्मृति के हास के होते जाने पर व्याकरण बनाए जाने लगे। धातुओं की कल्पना भी आरम्भ हुई। उस कल्पना के अनुसार वर्तमान काल में अस् धातु से अस्ति, स्तः और सन्ति आदि रूप मान लिये गए। इस उत्तर कालीन कल्पना को मान कर यास्क ने निर्वचनों में इस का प्रयोग किया। यूरोप का सौभाग्य था कि उस के पास निरुक्त पहुंचा। यास्क के इन ही नियमों पर यूरोप के अपभ्रंश सम्बन्धी सारे भाषा-मूर्तों का आधार है। यह यूरोप की चालाकी है कि उसके लेखकों ने यास्क की ऊहा के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन न किया और यास्क-प्रदर्शित नियमों को अपने नाम से प्रसिद्ध किया। और साथ ही भारतीय ज्ञान की परम्परा को न्यून करने के लिए अपनी मिथ्या कल्पनाओं को भाषा नियमों के रूप में प्रचलित किया।

तरंग यामि इस उदाहरण में कवल पदन वालों को समझाने के लिए यामि का रूप बना कर यामि में थ का लोप मान लिया गया है । वस्तुतः यामि पद का एक स्वतन्त्र अर्थ 'याच्या करता हूँ' भी है ।

यहां तक निर्वचन में सहायक नव नियमों का उल्लेख यास्क ने किया है । अधिक नियमों का उल्लेख आगे है ।

अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति ॥ १ ॥

ओष । मेघ । नाध । गाध । वधू । मध्विति ।

अथापि वल्लोपन । आस्थत् । द्वार । भरुजेति ।

अर्थ—१० और भी अन्त का विषय (आक वर्ण के स्थान में दूसरा वण) होता है ॥ १ ॥

ओष (=ओह स, यह वह प्राणो स है) मघ (=मह से यह मिह सचने स है) नाध (=नाह स, यह गह् वचन स है) गाध (=गाह स यह गह विलोडने स है), वधू (=वहू स यह वह प्राणो स है), मधु (=हु स, यह मदे गृही स है) इति ।

११ और भी किमी वर्णों की अभिवृत्ता [हो जाती है] । आम्धन् (=अमु लोपण स है) । द्वार (वृत् सम्भलो स है) । भरुजा (=भ्रम्ज पार्क स है) ।

भाष्य—इस प्रकार से अत्यन्त स्पष्ट हो गया कि निर्वचन में पढ़ने वालों को समझाने के लिये ही व्याकरण का आशय लिया जाता है । ओष एक स्वतन्त्र पद है । किसी युग में उस के लिये ओष धातु कल्पित किया गया होगा । पुनः व्याकरण के सङ्गठित होते जाने पर यह काम बड़े धातु से चलाया जाने लगा । यास्क ने अपनी सूत्रचिका से दानों शब्दों का सामञ्जस्य बनाने के लिये निर्वचन के अपने काल में होने वाले उपरामी नियमों का प्रस्ताव वर्गीकरण कर दिया । दुर्गे न ठीक कहा है—एव व्याकरणेऽपि लक्षणप्रदाने सार्थक्यशून्यतापागमी निरिगामश्च शब्दाना ह्य किमुत निदन्ते यदर्थप्रधानमेव ।

नाध पद पर राजवादे क्लिप्ता है—n canin, un known । इसका विचार है कि नाध=नाथ है । यनक पदों में थ और य जान दानों रूप ठीक होने हैं । यथा मधुरा और मधुरा । यूनानी भाषा में मधु अर्थ वाका आ मधु अपभ्रंश हुआ है वह थ वाले मुक्त स है ।

वर्णोपजन के उदाहरणों में आस्थत् में थ की, द्वारः में द् की, और भरुजा के भ् में अ की और र् में ऊ की अधिकता हुई है ।

[सम्प्रसारण के नियम]

तद् यत्र स्वरादेनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति । तत्र सिद्धायाम् अनुपपद्यमानायाम् । इतश्चोप-
पिपादयिषेत् । तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति । तद् यथैतत् । ऊतिः ।
मृदुः । पृथुः । पृषतः । कुणारुम्—इति ।

अर्थ—१२ तो जहां (स्वरात्) स्वर मे, (अनन्तरा—) बिना
अन्तर = व्यवधान के पर वा पूर्व (अन्तस्था—) य, र, ल, व में कोई
(अन्तर्धातु) धातु के मध्य मे है, वह दो स्वभाव वाले अर्थात् दो मूल
वाले [धातुओं] का आश्रय, यह [आचार्य प्रविभाग से अपने-अपने शास्त्र
में, सम्प्रसारण लक्षण] उपदेश करने हैं । वहां अर्थसिद्धि में उपपन्नता न
होने पर [दोनों धातुओं में से] तो (इतश्चा) दूसरी प्रकृति से
(उपपिपादयिषेत्) अर्थ-सिद्धि के उपपन्न करने की इच्छा करे । इस प्रकार
में भी कई एक धातु अल्पनिष्पत्ति अर्थात् थोड़ी सिद्धि वाले होते हैं । तो
जैसे यह—ऊतिः में अच् धातु के व् को ऊ का, मृदुः में अद् धातु के र् को ऋ
का, पृथुः में प्रथ् धातु के र् को ऋ का, पृषतः में प्रृप् धातु के र् को ऋ
का, और कुणारुम् में कण धातु के व् को उ का सम्प्रसारण [जान कर
निर्वचन बनता है] ।

भाष्य—द्विप्रकृति वाले पद अर्थात् जिन की निष्पत्ति दो धातुओं से हो ।
यथा—यज कहीं इज रूप में और कहीं यज रूप में, यास्क और उस के उत्तर-
वर्ती काल में मान लिया गया है । तो निर्वचन के समय यदि यज रूप से अर्थ
सिद्धि न दिखाई दे, तो इज रूप से कर देनी चाहिए । निश्चय ही यास्क से
पहले इज और यज दोनों पृथक् सत्ता रखने वाले माने जाते थे । उन से निष्पन्न
शब्द भी पृथक् रूप में थे ।

अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते । दमूनाः ।
क्षेत्रसाधा इति । अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः । उष्णम् । घृतमिति ।

अर्थ—१२. और भी, भाषिक अर्थात् भाषा में होने वाले धातुओं से नैगम
अर्थात् निगमों में होने वाले (कृतः) कृदन्त रूप कहे जाते हैं—दमूनाः

[दम् धातु से है, जो यास्क से पूर्व के वैयाकरणों ने लौकिक धातु माना है।]
 क्षोभसाधा [मे साध् धातु लौकिक है।]

१४ और भी, तैगम धातुओं से लौकिक [कृदन्त बनने हैं।] उध्णम्
 [उप, वैदिक धातु से], घृतम् [घृ, वैदिक धातु से]।

भाष्य—राजवाडे ने लिखा है कि यास्क का लेख भ्रान्त है, क्योंकि वेद
 में दम् धातु के दमिता, दमयन्त रूप मिलने हैं। यह भ्रान्ति यास्क की गृही,
 १२

पूर्व के धातुपाठ जैसे थे, यह अन्वेषणीय है।

भाष्य—दमूना पद वेद में अग्नि का वाची है। उस का निर्ध्वन किसी
 वैदिक धातु से जो अग्नि का अर्थ दे, करना चाहिय था। पर यास्क से पूर्व के
 किसी निरुक्तकार ने दम् मना' ऐसा निर्ध्वन किया होगा। उस को लक्ष्य में
 कर के यास्क ने यह नियम लिखा है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरणों में समझना
 चाहिये।

अथापि प्रवृत्तय एतेषु भाष्यन्ते। विकृतय एकेषु। शक्तिर्गति
 कर्मा कञो जेष्वेव भाष्यन्ते। कञोज्ञ कम्बलभोज'। कमनीयभोज
 षा। कम्बल, कमनीयो भवन्ति। विकारमस्यार्थेषु भाष्यन्ते। शब् इति।
 दातिलेवनार्थे प्राच्येषु। दाशमुदीच्येषु। एरमेकपदानि निर्भूयान्।

अर्थ—१५ और भी, प्रकृतिया=धातु के आख्यात रूप ही कई एक
 जातियों में बोले जाते हैं। विकृतिया=धातु के कृदन्त रूप कई जातियों में।
 शक्ति, गति अर्थ वाला कञोज जातियों में ही बोलने है। कञोज्ञ =
 कम्बल के भोगने वाले। कमनीय अर्थात् चाहने योग्य=सुन्दर भोग वाले।
 कम्बल चाहने योग्य होता है। विकार=नाम रूप, इम [धातु] का आर्थों में
 बोलते हैं। [गया—] शब्, यह। दाति, काटने के अर्थ में (प्राच्येषु)
 भारत के पूर्व देशों में। दाश रूप उदीच्य देशों में। इस प्रकार एकपदी=
 अनेकगत स स्वार पदों का निर्ध्वन करे।

भाष्य—अग्नि प्राचीन भू-विभाग के अनुसार संसार दो भागों का था।
 दार्दिभाग और म्लेच्छभाग। उस से भी प्राचीन काल में सारा संसार दार्दिमात्र

था । उस समय संसार की भाषा अति-भाषा अर्थात् वेद-पद-बहुला भाषा थी । भाषा में विकार के कारण और व्यवहार में दूषित होने से म्लेच्छभाग पृथक् होता गया । यास्क जानता था कि यद्यपि कंधोज म्लेच्छ हो चुके हैं, पर वे भी कभी संस्कृत बोलते थे । अतः निर्वचन का एक नियम बताते हुए उस ने पूर्व प्रसङ्ग उपस्थित किया है ।

यास्क के काल में कंधोजों के कम्बल प्रसिद्ध थे । उन में गत्यर्थक शक्तिः रूप प्रयुक्त होता था । आर्यों में इस का शत्रुः=मृत देह रूप ही रह गया था ।

दातिः रूप प्राच्यों में था और दात्र रूप उदीच्यों में । आज भी पंजाब में दात्रि अथवा द्रान्ति (अर्थात् काटने वाला, और बहुधा दन्दों वाला लम्बा चाकू) शब्द प्रयुक्त होता है । इस से घास आदि काटते हैं । यहां तक एकपद वालों का निर्वचन कहा ।

अब तद्धित और समासों का विषय प्रारम्भ होता है ।

अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु वानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्व्रूयात् । दण्डचः पुरुषः [दण्डपुरुष] । दण्डमर्हतीति वा । दण्डेन सम्पद्यत इति वा । दण्डो ददतेर्धात्यतिकर्मणः ।

अकूरो ददते मणिम् । इत्यभिभाषन्ते ।

दमनादित्योपमन्यवः । दण्डमस्याकर्पतेति गर्हायाम् । कच्या रज्जुरश्वस्य । कक्षं सेवते । कक्षो गाहतेः । कस इति नामकरणः । ख्यातेर्वानिर्थाकोऽभ्यासः । किमस्मिन्ख्यानमिति । कपतेर्वा । तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षः । बाहुमूलसामान्यादश्वस्य ॥ २ ॥

अर्थ—१६. अब तद्धित और समास में, एक पर्व=जोड़ वालों में, अथवा अनेक जोड़ वालों में पहले [पद] को पहले, [और] अगले को आगे प्रविभाग करके अर्थात् पृथक्-पृथक् निर्वचन करे । [यथा—] दण्ड के योग्य पुरुष=दण्डपुरुषः । [अपराध में] दण्ड के योग्य होता है अथवा । दण्ड में युक्त होता है अथवा । दण्ड [पद] ददति से धारण अर्थ वाले से । अकूर धारण करता है [स्यमन्तक] मणि को । ऐसा [लोक में आज] बोलते हैं ।

[दाड पद] लभन म, यह लभन्तु वा पुत्र [मानना है] । दाड इत
त लिय दो यह निरुक्त म है । अथवा दाड इम क लिय साचना है ।

[दूमरा उदाहरण—] कदथा रत्तु घाडे की । (कस्तम्) छाती
को मक्ती है । क त ग्राहति म [विनोदन करती है, विनोती है] क
यह कृत्-प्रत्यय है । स्पति म अथवा अनयक है दूमरी वार का पाठ [स=क
का क्त पद म क दा वार है अथात् क+क्+स=स्तम् । क के दो वार होन
म अर्थ म कोई भेद नहा होना इनो निर उमे अनर्थक कहा] । क्या इमम
(स्पानम्) दर नीय पन है । कपति म अथवा । उम की समानता म
मनुष्य वा क्त [भी होना है ।] बाहूमून म [हने की] समानता म घोटे
का ।

भाष्य—निरुक्त क एक पाठ में ददत और दूमर पाठ में ददात है ।
दोनों ही ठीक पाठ हैं । चाग किमी श्लोक का चतुर्थी गई—

अक्रो दन्ते मणिम् ।

यहां ददत वर्तमान काल की लिया है । इस स चाग अभिभाव-त प्रयोग
स यह स्पष्ट है कि एसा श्लोक यास्क के काल में श्लोक में बाला जाना था । इस
स यह निर्विवाद सिद्ध होना है कि यास्क का काल अक्र का काल था । अर्थात्
दोनों समकालिक थ । इतिहास स भी यही सिद्ध होना है । महाभारत शान्तिपर्व
में निघण्टु क प्रसङ्ग म यास्क का स्मरण है । अक्र भारतयुद्ध स पहले से था ।
वह कृष्णसय का एक प्रतिष्ठित पुरव था । अत यास्क को ईसा स ६०० अथवा
७०० वर्ष पहले मानना दुराग्रहमात्र है । पाश्चात्यो ने सुदृढ़ ऐतिहासिक प्रमाणों
की उपस्थिति म भी सिन्ध्या कल्पनाप् कर क सार भारतीय इतिहास के इनन का
यत् किया है । राववादे को यह बात चटकी थी । यह लिखता है—The present
tense of दन्ते might incline me to conclude that the
event of the jewel स्मन्तिक passing into the possess-
ion of अक्र was a recent one and that Yaska quoted
a instance which being fresh was known to all but
अक्रो दन्ते मणिम् is part of a Sloka belonging to a work
like the इतिवच which may belong to a period far
anterior to Yaska (p 207)

राजवादे ने ददते पर ध्यान दिया परन्तु अभिभाषन्ते पर पूरा ध्यान नहीं दिया । अक्रूरो ददते मणिम्, हरिवंश के वर्तमान पाठों में नहीं है । यह तो भारतयुद्ध कालिक किसी ग्रन्थ का पाठ हो सकता है, और लोकोक्ति भी । प्रसङ्गतः यह लिखना ध्यर्थ नहीं कि हरिवंश ग्रन्थ यास्क से बहुत उत्तर काल का ग्रन्थ नहीं है । हरिवंश महाभारत का उत्तर काण्ड है । उसमें महाभारतस्य प्रयोग सदृश शतशः प्रयोग प्राचीन संस्कृत के हैं ।

राजवादे और उस के गुरुओं ने, जो ईसाई-यहूदी गुट के प्रभाव में हैं, व्यर्थ ही यास्क का काल बहुत उत्तरकाल में रखने का यत्न किया है । निःसन्देह यास्क विक्रम से लगभग ३०५० वर्ष पहले था ।

श्रौपमन्यव का एक मत पूर्व १ । १ में आ चुका है । दोनों स्थानों पर उस की शैली निर्वचन मार्ग की है ।

कच् से ही अपभ्रंश होकर पञ्जाबी का कच्छ शब्द बना ।

दण्डम् अस्य आकर्षत । इस के दो अर्थ हैं । यदि अस्य का—अस्मै अर्थ माने, तो अर्थ है—इस के लिए लाठी खेंचो । अन्यथा अर्थ है—[यह दुष्ट है] इस की लाठी खींच लो ।

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः । राजा राजतेः । पुरुषः पुरि पादः । पुरि शयः । पूरयतेर्वा । पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य ।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायौऽस्ति कश्चित् ।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

[तैत्ति० आ० प्र० १० । १० । ३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

विश्वकद्राकर्षः । वीति चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते । द्रातीति गतिकुत्सना । कद्रातीति द्रातिकुत्सना । चकद्राति कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः । तदस्मिन्नस्तीति विश्वकद्रः । कल्याणवर्णरूपः । कल्याणवर्णस्यैवास्य रूपम् । कल्याणं कमनीयं भवति । वर्णो वृणोतेः । रूपं रोचतेः । एवं तद्धितसमासान्निर्गूयात् ।

नैकपदाभि निर्गुणात् । नावैयाकरणाय । नानुपसर्गाय अनिद्विदे
या । नित्यं द्यविज्ञानुर्विज्ञानेऽस्या । उपसर्गाय तु निर्गुणात् । यो
वाऽल्ल जिज्ञानुं स्यात् । मे गविने तपस्विने वा ॥ २ ॥

अर्थ—राजा का पुरुष अर्थात् राजपुरुष । राजा राजति म । पुरुष=
पुरि [गरीर म, अथवा ब्रह्माण्ड त्नी गरीर मे] बैठने वाला । पुरि शब्द
अर्थात् गरीर म सेटन वा । पूरयति स अथवा । पूर्ण है अन्दर । इस
प्रकार (अन्तरपुरुषम्) अन्तर्गामी पुरुष को अभिप्राय अर्थात् ध्यान में
रख कर ।

जिम में परे नहा दूगरा है कुछ भी, जिम में नहीं (अर्णीय) छोटा
नहीं बड़ा है कोई भी । वृष के समान (स्तम्भ) विश्वल (दिवि) य
लोक में अपनी ज्योति म टहरता है एकमात्र उसी पुरुष के द्वारा यह सब
पूर्ण है ।

यह भी निगम होता है ।

[दूमरा उदाहरण]—विश्वकटाकर्ष अर्थात् गिहारी बुत्ते को खींचने
वाला । यि यह और चकट यह बुत्ते की चाल में बोलता जाता है । द्रानि
यह गति निन्दा [है] । क द्रानि भद्र दानि की निन्दा [है] । चक्रद्रानि,
कद्रानि यह होने हुए अनर्थक है अभ्यास । यह इस में है यह विश्वकट है ।

[इव-लोपो समास—] (कल्याण) सुवर्ण के समान रंग के रूप
वाला, सुवर्ण के रंग के समान इस का हा [है] । कल्याण, चाहने योग्य
अथवा सुन्दर होना है । यत्तु वृणाति म [आ, जोति=ज्ञापता है अन्य
वाता को] रूप रोचति म । इस प्रकार तद्धित आर समासों का निर्दिष्टन
करे ।

महो [बिना पूर प्रररग पर ध्यान दिग] अन्त परो का निर्दिष्टन करे ।

[निगम-पञ्च-निर्दिष्टन विद्या क पदेषु क अधिगारी कौन]

महो अवैयाकरण क णि । नही जो समीप नहीं बैठता गिर्य-रूप म ।
महो इग [गाम्] क समान क जान म रहित क णि, अथवा । मता ही
अशेष की-ल समान क जाने की [इस महान्] विज्ञान में निन्दा । समीप
बैठ कर पान जाने क णि निर्दिष्टन कर । जो अथवा मध्य विशेष जानन
में ही । मघारी क णि अथवा । तासरी क णि अथवा ।

भाष्य—अन्तरपुरुष=अन्तर्पोमी परमात्मा का वर्णन अगले निगम में है ।
 व समय यह निगम तैत्तिरीय आरण्यक तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् आदि में है ।
 भी यह मन्त्र किसी वेद-शाखा में भी था । अतः यास्क के अनुसार परं पुरुष
 का वर्णन वेद में है ।

राजवादे ने अन्तरपुरुष का अर्थ individual soul अर्थात्
 जीवात्मा किया है । पर यह भी माना है कि अगला निगम universal soul
 अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा का कथन करता है । वस्तुतः अन्तरपुरुष के
 जीवात्मा और परमात्मा दोनों अर्थ बनते हैं । परमात्मा अर्थ इस लिए युक्त है
 क्योंकि श्रुति के तीसरे पाद में द्विवि तिष्ठति पाठ है और चतुर्थ पाद में “उसी
 पुरुष के द्वारा यह सब [जगत्] पूर्ण है”, कहा है । पुरुष की व्यापकता का
 यह ज्वलन्त उपदेश वैदिक धर्म में ही है ।

विश्वकद्राकर्षः. यह अनेकपर्वा समास है । राजवादे ने इस का अर्थ
 किया है—सिपाही । अर्थात् शिकारी कुत्तों से शिकार करने वाले को खींचने
 वाला । यह अर्थ भी विचारणीय है ।

यहां तक तद्धित और समासों के निर्वचन का प्रकार कहा गया है । आगे
 अकेले पद का निर्वचन करने का निषेध है । भाषा में वाक्य अथवा मन्त्र की
 प्रधानता है, पद की नहीं । इसी प्रकार समास में अकेले पद का कोई मूल्य
 नहीं । अर्थ के समझने में सारा प्रकरण अपेक्षित होता है और अर्थ के ज्ञान-
 विना निर्वचन नहीं हो सकता । अतः यह निषेध आवश्यक था ।

निर्वचन शास्त्र के अनधिकारियों में अंब्याकरण की गणना सब से पहले है ।
 इस का अभिप्राय है कि वर्तमान काल के छात्र को निरुक्त समझने के
 लिए जहां पाणिनीय व्याकरण के समझने की अपेक्षा है, वहां उसे
 पाणिनि से पूर्व काल के व्याकरणों के मार्ग के जानने की भी आवश्यकता
 है । पाणिनि यास्क से उत्तर कालीन था । अतः यास्क को समझने में पाणिनि
 से पूर्व के व्याकरणों की महती अपेक्षा है । यास्क ने उन्हीं को लक्ष्य में रख कर
 सब कुछ लिखा है ।

निरुक्त समझने के लिए गुरु के समीप बैठना आवश्यक है । इसी लिए
 योरोप के संस्कृताध्येता निरुक्त की निम्ना में तत्पर हुए हैं । उन्होंने गुरुमुखात्
 यह विद्या नहीं पढ़ी । यदि वे गुरुमुखात् पढ़ते, तो उन को पाश्चात्य भाषा-मत्तो
 की व्यर्थता ज्ञात होती । मेधावी और तपस्वी के लिए भी यह विद्या है ॥ ३ ॥

विद्या इ वै ब्राह्मणमा जगाम गोपीय मा शैवधिष्टेऽहमस्मि ।
 अमूयकायानृजयेऽयताय न मा झ्या वीर्यरती तथा स्याम् ॥
 य आतृणुत्परितथेन वगुर्विदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
 तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न हुयेत्कृतमच्छनाई ॥
 अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा गुचा मनया कर्मणा वा ।
 यथ तं न गुरोर्भोजनीयास्तथ न तान् भुनक्ति श्रुतं तद् ॥
 यमेव विद्याः शुचिर्ममनं मेषादिर्न ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
 यस्ते न हुयेत्कृतमच्छनाद् तस्मै मा झ्या निधिपाय ब्रह्मन् ॥
 इति । निधि शवधिरिति ॥ ८ ॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य मध्यम पाद ॥

अर्थ—विद्या निश्चय स ब्रह्मण्य क पाप आई । [और बोली] रणा
 र मरी । (शैवधि त) निधि तेरी मैं हू । अमूयक=निन्दक के लिए
 अन्-शुजये) अवापल=देहे के लिए अयताय=अजितेन्द्रिय के लिए
 ही मुझे बोली=उपदेश करो । वनवाली इस प्रकार होऊगी ।

जो (आतृणुत्ति) खोलता है (अ वि तथेन) सत्य से = वेदम्बी
 ण्युमात्र न उलटे ज्ञान से (कर्षी) कानो को, (अ दु ष) दु ख के
 रभाव को करता हुआ (अमृत) अमृत=भोजन को देता हुआ उम को
 माने पिता और माता । उम क लिए न द्रोह करे (कृतमश्चन अह)
 दाचिन् भी ।

पढाए गए जो गुरु का नहीं आदर करते (विप्रा) मधावी, विद्या को
 हूण करने वाने, वाखी में मन स कर्म स अयवा । जैसे ही वे नहीं गुरु
 ने [पक्ति म] भोजन करत योग्य होने वैम ही उम को नहीं उपभोग नेता
 श्रुतम्) मुना हुआ शास्त्र वह ।

[इतने लोगो को विद्या नहीं दनी । अब जिन को विद्या देनी है, उन क
 लक्षण लिखते हैं —]

जिस को ही (विद्याः) जाने (शुचिम्) शुद्ध, पवित्र, ईमानदार को, प्रमाद रहित को, मेधावी को, ब्रह्मचर्य से युक्त को । [तथा] जो तेरे लिए नहीं द्रोह करे (कतमच्चन अह) कदाचित् भी, उसके लिए मुझे उपदेश करो, [उस] विद्या के कोप की रक्षा करने वाले के लिए, हे (ब्रह्मन्) वेद रूपी ब्रह्म विद्या के जानने वाले । इति ।

निधिः ही शेषधिः है ॥ ४ ॥ -

भाष्य—ये श्लोक सामवेद के संहितोपनिषद् ब्राह्मण खण्ड ३ में हैं । मानव धर्मशास्त्र अ० २, वासिष्ठ धर्मसूत्र अ० २, विष्णु धर्मशास्त्र अ० २६, ३० में भी ये श्लोक अथवा इन से मिलते जुलते श्लोक हैं । शान्ति पर्व १०८ । २२ यहां का दूसरा श्लोक है । आप० धर्म० १ । १ । १४ ही यहां का तीसरा श्लोक है । मानव धर्मशास्त्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र और वासिष्ठ धर्मसूत्र भारत युद्ध से पहले के ग्रन्थ हैं । विष्णु धर्मशास्त्र भारत युद्ध के पश्चात् लगभग दो शती से उत्तर का ग्रन्थ नहीं है । अतः निश्चित है कि इन श्लोकों का मूल स्रोत बहुत पुराना है ।

सस्वर—ये श्लोक सस्वर हैं । राजवाड़े ने आरम्भ का १^१/_२ श्लोक ही सस्वर छापा है । निरुक्त के सारे पुराने कोषों के साक्ष्य के विरुद्ध राजवाड़े ने शेष श्लोकों को स्वर-रहित कर दिया, यह अक्षम्य है । राजवाड़े को ज्ञात न था कि पुराने काल में लोक भाषा के श्लोकों आदि पर भी स्वर रहता था । यूनानी भाषा के होमर आदि के ग्रन्थों में साधारण भाषा पर भी स्वर था । यह भारतीय प्रथा का अनुकरण मात्र था ।

विद्या ब्राह्मण के पास क्यों गई, वह क्षत्रिय अथवा वैश्य के पास क्यों नहीं गई । वस्तुतः ब्राह्मण ही विद्या का यथार्थ उपदेश था । वह ब्राह्मण ही आदर्श पुरुष था । निर्वाह के लिए विद्या पढ़ाने वाले उत्कृष्ट अध्यापक नहीं होते ।

वेदविद्या अजितेन्द्रिय को नहीं दी जाती । अभी गत १०० वर्ष भी नहीं हुए जब प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द दण्डी स्वामी ने एक जितेन्द्रिय शिष्य दयानन्द सरस्वती को विद्या पढ़ाई । वह विद्या कितनी वीर्यवती हुई, इस का साक्ष्य भारत का इतिहास दे रहा है ।

तथ=सत्य, वितथ=सत्य रहित, अवितथ=जिस में अणुमात्र असत्य नहीं, ऐसी वेद-विद्या । यही वेद-ज्ञान मोक्ष को=अमृत को देता है । भक्ति-विशेष, अष्टाङ्ग योग और यज्ञ आदि से बढ़ कर अमृत को देने वाला वेद-ज्ञान ही है ।

सत्यज्ञानज्ञाना चाचार्य को पिता और माता माने । उग गुरु को, यथवा गुरु नामधारी को नहीं । योरोप और अमेरिका के प्रख्यात ईसाई और यहूदी वेद के ज्ञानदाता आचार्य नहीं बन सकते । गुरु का आदर मन, वचन और कर्म से होना चाहिए । गुरु के साथ एक पक्ष में भोजन करना अत्यन्त प्रतिष्ठा का स्थान होता था । महाशय से उपपन्न को ही वेद विद्या देनी चाहिए । पहले सोच में कदा है कि अज्ञितेन्द्रिय को विद्या नहीं देनी । पुन अन्न में विद्या महय करने वाले के लिए महाशय-उपपन्न जो कदा, गो महाशय की अकथनीय महिमा के कारण ही है ।

अन्न में कदा — हे महाशय हे वेद विद्या-युक्त महाशय ॥ ४ ॥

अथानोऽनुक्मिष्यामः । गौरिति पृथिव्या नामधेयम् । यद् दूर गता भवति । यथास्या भूतानि गच्छन्ति । गाते रीरिणे नामकरण ।

अथापि पशुनामेह मत्स्येनस्मादेव । अथाप्यस्या तादृशेन वृत्तेन वक्षिगमा भवन्ति ।

गोर्भिः श्रीर्लौकित मत्स्यम् । [ऋ० ६ । ४६ । ४] इति पयसः ।

मत्सर सोम । मन्दतस्तुतिकर्मणः । मत्सर इति लोभनाम । अग्निमन्त पत्नेन धन भवति । पय पितृनां प्यायतर्जा । और चरत । घसेरेरो नामकरण । उर्गारमिति यथा ।

अर्थ—अब [प्रयोगनादि कथनानन्तर] इन स आगे अनुक्म से [निप्रशुभाप्य] कहेंगे ।

गो यह पृथिवी का नाम है, क्योंकि दूर गई हुई हानो है । और जो इस पर भूत^१ जाने हैं । गाति म अथवा ओकार नामकरण=कृत् प्रत्यय है ।

और भी—पशु का नाम इस लोक म होता है, इस कारण स ही । और भी, पशु का नाम इस पृथिवी लोक पर गो का इस कारण स ही । और भी, तादृशितन=तद्विज प्रत्यय से पतीशमान अर्थ से युक्त वृत्तवत् कृत् न होने वृत्, तद्विज प्रत्यय से युक्त न होय ए भी कृत् के समान=तद्विज अर्थ वाले के समान निगम होने हैं । [यथा—] गो [अथान् गो के दूध] के साथ पकाओ (मत्सरम्) सोम को । यह दूध का [वर्णन है] । मत्सर

१. निरुक्त से वास्तु मुनि भुवनानि का अर्थ भूतानि करत है । यथा ४।२७ ॥

सोम [है], मन्दन्ति से तृप्ति अर्थ वाले मे । मत्सर यह लोभ का नाम है । इस से [पुरुष] घन की ओर अभिमत होता है । पयः [पद] पिबति मे अथवा प्यायति से अथवा । क्षीर [पद] क्षरति से । घसि से अथवा ईर कृत्प्रत्यय है । उशीर, यह [पद] जैसे [माना जाता है वैसे क्षीर] ।

भाष्य—प्राचीन परम्परा के अनुसार यास्क्रीय निरुक्त निवण्टु का भाष्य मात्र है । इस भाष्य के आरम्भ में शास्त्र के प्रयोजनादि कहे हैं और अन्त में वेद का वास्तविक अभिप्राय शक्तिस्तुतियों द्वारा कहा है ।

गौः यह पृथिवी का नाम है । यह बहुत दूर तक गई हुई होती है—बहुत दूर तक फैली हुई है । अथवा अपने बनने की अवस्था में हिरण्यगर्भ प्रजापति से दूर गई हुई होती है ।

भूतानिका सामान्य अर्थ प्राणि-मात्र है, परःध्यान रखना चाहिए कि भुवनानि पद का अर्थ यास्क भूतानि करता है । (निरुक्त १२ । ११ ॥ १४ । ३७ ॥)

पशुनाम इह भवति । यहां इह के प्रयोग से यास्क ने स्पष्ट कर दिया है कि अन्तरिक्ष और ध्रुलोक में भी गो पद वाची कई पदार्थ हैं ।

ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति । यास्क ने महती कृपा की कि इतनी पक्ति के द्वारा वेद का एक अति गम्भीर पक्ष स्पष्ट कर दिया । वेद-घातक मूर्ख लोग कभी-कभी इस बात को न समझ कर वेद से गोवध सिद्ध करते हैं । यास्क ने धातु का रूप मन्द् माना है । पाणिनि ने इस के स्थान पर मदि आदि रूप माने हैं । यास्क मुनि धातु का घस् रूप मान कर घ् से उत्तरवर्ती अकार का लोप और घ् का क् में परिवर्तन करके और उसे च् बना कर, पुनः च् में ईर प्रत्यय लगा कर क्षीर का एक निर्वचन करता है । प्रसन्नवश वह यह भी बताता है कि उशीरम् में भी ईर प्रत्यय है ।

अंशुं दुहन्तो अध्यासते गर्धि । [ऋ० १० । १४ । ६ ॥]

इत्यधिपवण-चर्मणः । अंशुः शमष्टमात्रो भवति । अननाय शं भवतीति वा । चर्म चरतेर्वा । उच्चृत्तं भवतीति वा ।

अथापि चर्म च श्लेष्मा च ।

गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व । [ऋ० ६ । ४६ । २६] इति रथस्तुतौ ।

अथापि स्नाव च श्लेष्मा च ।

गोभिः सर्वदा पतन्ति प्रयुता । [श्रु० ६ । ७१ । ११] इतीषुस्तुतो ।

उद्यापि गोमूत्रयसे । गण्या चेतु, ताद्वितम् । अथ चेत्र गण्या,
गमयन्तीषुनिनि ॥ ५ ॥

अर्थ—सोम को दोहने हुए अथान् रम निवाञ्जन हुए (अध्यासते) बैठने
हैं (गवि) गोचम पर । यहा गवि पद का मूल रूप गो, अवि जिस चर्म
पर बैठ कर गावा स सोम को पीमने हैं, उम गो-चर्म के अर्थ म प्रयुक्त हुआ है ।
सोम (शम्+अष्टमात्र) कल्याण कारक है, व्याघ्र मान ही, अर्थात् उदर में
प्रविष्ट होना हुआ ही यात्रिक को प्रमत्तता दता है । (अतनाथ) प्राणधारण
अर्थात् जीवन के लिए कल्याणकारी होना है अथवा । चर्म पद चरनि सं है
अथवा (उत्+चृन्म्) पशु क शरीर स उखाडा जाना है अथवा ।

और भी, चम और (श्लेष्या)=परदा=चर्मा अर्थ में [गो शब्द है] ।
(गोभिः)=गो विकार चमडा और सरस में जुडा हुआ तू है, (धीव्यस्य)
दृढ हो । यह रूप की स्तुति म है ।

और भी स्नायु और सरस अर्थ में [गो शब्द है] गोविकार स्नायु और
सरस स (सधञ्जा) शब्दी हुई (पतति)=उडनी है (प्रयुता)=[धनुष से]
प्रगति अथान् छटो हुई । यह इयु (=वाण) की स्तुति में है ।

उद्या=धनुष की डोरी भी गौ बहानी है । यदि गोविकार स्नायुओ स
बनी हो तो ताद्वित का अर्थ पूर्ववत् [सम्यना चाहिए] और यदि गो विकार
न हो तो [गौ=उद्या=धनुष की डोरा का निर्वचन होगा—] बाणा की
गति ऐनी है अर्थात् चमानी है यह ॥ ५ ॥

भाष्य—इस प्रकार का पदका मन्त्र प्राक्स्तुति में विनियुक्त है । ये प्राक्
रूप हैं । प्रधानरूप से १ प्राक् (शतपथ १४ । २ । २ । ३३), २ वज्र (शत०
११ । २ । २ । ७) ३ मरुत् रूपी शिग प्रजाप् (श० ३ । २ । ३ । ३),
मारुत (ता० प्रा० २ । २ । १४), तथा ४ मेघ (निघ० १ । १०) अर्थ में
प्राक् शब्द प्रयुक्त हुआ है । वज्र, विश, मारुत (=मरुत देवता वाले पदार्थों) और
मेघों का सम्बन्ध मध्यम स्थान स है । अत यह निश्चित है कि ये प्राक् मध्यम
स्थानी हैं । ये प्राक् सुलोक से उतरने वाले अपास्वार अर्थात् सोम को
अन्तरिक्ष में गी अर्थात् [गोविकार] अधिपवय चर्म पर स्थिर हो कर वृद्ध

हैं। यह अधिपवण चर्म क्या है, यह अन्वेपणीय है। मन्त्र का पूरा अर्थ समझने के लिये देवों में घटने वाली इस सारी माया का ज्ञान आवश्यक है।

रथ निर्माण में गोचर्म और गोश्लेष्मा का प्रयोग होता था। इस के लिये गोवध नहीं होता था, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। स्वयं मृत पशु के चर्म को उपयुक्त रखने के लिये किन औषधों का प्रयोग होता था, यह अब ज्ञात नहीं। इसी प्रकार इषु निर्माण में भी गोस्नायु और गो-श्लेष्मा प्रयुक्त होते थे। इषु पद श्रीलिङ्ग वाची है ॥ ५ ॥

वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद् गौस्ततो वयः प्रपतान्पूरुपादः ॥

[ऋ० १०।२७।२२ ॥]

वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि । वृक्षो ब्रश्चनात् वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा । क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः । नियता मीमयद् गौः शब्दं करोति । मीमयतिः शब्दकर्मा । ततो वयः प्रपतन्ति । पुरुषानदनाय । विरिति शकुनिनाम । वेतेर्गतिकर्मणः ।

अथापीपुनामेह भवत्येतस्मादेव ।

अर्थ—वृक्ष अर्थात् वृक्ष के विकार मे, धनुष मे बन्धी हुई (मीमयत्) शब्द करती है, (गौः) अर्थात् गो-विकार ज्या अर्थात् धनुष की डोरी, (ततः) उस में से (वयः) पक्षी के समान उड़ने वाले वाण (प्रपतान्) उड़ते हुए जाते हैं। (पूरुपादः) पुरुषों को खाने वाले अर्थात् पुरुषों को खाने के लिये।

धनुष में, धनुष में, वृक्ष ब्रश्चन=काटने से, घेर के पृथिवी को ठहरता है, अथवा। क्षा, क्षियति से, निवास अर्थ वाले से। बन्धी हुई, शब्द करती है, गौः। मीमयतिः शब्द अर्थ वाला [है।] उस में से वाण उड़ कर जाते हैं, पुरुषों को खाने के लिए। विः यह पक्षी का नाम है। वेति से, गति अर्थ वाले से।

और भी, इषु का नाम यहां पर है, इस धातु से ही।

भाष्य—दशम मण्डल की यह श्रुक् इन्द्र विषयक है। मध्यमस्थानी इन्द्र के कर्म को प्रकट करती है! मध्यम स्थान में भी अनेक नर वा पुरुष हैं। उन में से जिन पुरुषों के खाने का यहां अभिप्राय है, यह अन्वेष्टव्य है। अन्तरिक्ष में वयः हैं। के पक्षिणी एव ते नहीं हैं।

वि यह पत्नी का नाम है। त्रैटिन भागा में अग्निः [१११] पत्नी का नाम है। इस त्रैटिन विचार में 'अ' का वैसा ही आगम है जैसा अग्नेयी भाषा के कृत्स्न शब्द में उत्तर प्रदेशीय लोग 'हस्कृत्स्न' या 'अस्कृत्स्न' बोलते समय लाते हैं।

पुम्पान् अदनाय—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कृतकल्पश्रौच में एक प्रयोग किया था—शाकमानयनाय। अग्निहोत्रकृत व्यास ने श्रौच निवारण में इस व्याकरण के नियम से अशुद्ध कहा है और शाकस्यानयनाय होना चाहिए, ऐसा बताया है। ऐम वैपाकारणग्रन्थों को वास्तु के पुम्पान् अदनाय प्रयोग पर विचार करना चाहिए।'

आदित्योऽपि गौरुच्यते।

उतादः पुंसे गग्निः। [ऋ० ६। १५। ३ ॥]

पर्वरति। भास्वतीस्वीपमन्यव।

अधाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम्।
आदित्यनोऽस्य दीभिर्भवतीति।

सुपुम्यः सूर्यैरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः। [ष० १०। ४० ॥]

इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते।

अत्राह गौरमन्वत। [ऋ० १। ८४। १५ ॥] इति।

तदुपरिष्ठाद् व्याख्यास्यम। सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते ॥ ६ ॥

अर्थ—आदित्य भी गौ कहा जाता है। और (अद्) वह (पुरुषे) जोड़ा वाले (गग्नि) आदित्य मण्डल में। पर्व वाले, प्रकाश वाले [आदित्य] में, यह औरमन्यव [का-अर्थ है।]

और भी, इस [आदित्य की] एक रश्मि चन्द्रमा के सामने दीप्तिमान होना है। यह [नश्य] इस [अग्ने निगम से] ध्यान से देखना चाहिए। आदित्य से इस [चन्द्र] की दीप्ति होती है।

१ दसो, प० मुञ्जिष्ठिर मीमांसक लिखित—'अथापि निगमण का उत्तर',
द्वारा पत्रिका वर्ष ४, अङ्क ६।

सुपुष्णः [नाम का] सूर्यरश्मिः [है], चन्द्रमा (गन्धर्वः) उस रश्मि का धारण करने वाला है । यह भी निगम=स्वष्ट मन्त्र अथवा मन्त्रांश है ।

(सः) वह रश्मि भी गौः कहा जाता है । यहाँ ही अर्थात् उस चन्द्र स्थान में (गौः) आदित्य से आने वाली रश्मि को (अमन्वत) आज्ञा दी [भुक्ने की] । यह ऊपर अर्थात् निरुक्त ४ । २५ में व्याख्या करेंगे । सारे रश्मि गौएं कहाते हैं ।

भाष्य—श्रौपमन्यव ने परूपे पद का अर्थ भासन वाला किया है । यास्क ने श्रौपमन्यव के निरुक्त से यह अर्थ उद्धृत किया है । आदित्य के पर्ववान् अथवा भास्वान् रूप में ये पर्व अर्थात् जोड़ कैसे हैं । दुर्ग कहता है कि कालचक्र में ये अहोरात्र आदि ही पर्व हैं । यह ठीक है । पर एक अन्य गम्भीर अर्थ भी है । देखिए—अपा० सङ्गमे सूर्यस्य । (ऋ० १० । १२३ । १ ॥), आपः सूर्ये समाहिताः । (तै० आ० १ । ८ । १ ॥) एष वाऽपां रसो योऽयं पवते । स एष सूर्ये समाहितः । (श० ब्रा० ५ । १ । १ । ७ ॥) । सूर्ये त्वक् । (यजु० १० । ४ ।), अब्रमेव सविता । (गो० ब्रा०, पू० १ । ३३ ॥) आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम् । (ऋ० १० । ८५ । २० ॥) इन वचनों के अनुसार सूर्य मण्डल, सूर्य के मण्डल में अपां सङ्गम, सूर्य पर अब्र, सूर्य त्वक्, सूर्य में अमृत का लोक, तथा अन्यत्र वर्णित सूर्य में अविन्धन और इस अविन्धन की विभिन्न घनताएं, ये सब आदित्य के पर्व हैं । इन में से एक एक तत्त्व के अध्ययन में अनेक वर्ष लगेंगे । सूर्य-विषयक जितनी विद्या आज भी आपं ग्रन्थों में है, उतनी योरोप और अमेरिका में अभी नहीं ।

आदित्य के सहस्र रश्मियों में से ६६६ चन्द्र में लीन हो जाते हैं । केवल एक सुपुष्णः रश्मि चन्द्र के प्रति दीप्त होता है । इस का रहस्य भी अन्वेषणीय है । उस रश्मि को गौः कहते हैं । अगले मन्त्र का विस्तृत व्याख्यान हम भी निरुक्त ४ । २५ भाष्य समय करेंगे । सारी रश्मियां गौः हैं ॥ ६ ॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गर्मध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णाः परमं पदमव भाति भूरि ॥

[ऋ० १ । १५४ । ६ ॥]

तानि वा वास्तूनि कामयामहे गमनाय । यत्र गात्रो [भूरिशृङ्गा] बहुशृङ्गा । भूरीति बहुतो नामधेयम् । प्रभवतीति सत । शृङ्ग श्रयतर्वा । शृणातर्वा । शम्नातर्वा । शरणायोद्गममिति वा । शिरसो निर्गतमिति वा । अयासोऽयना । तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागत परमं पद परार्थस्यमवभाति भूरि । पाद पद्यत । तत्रिधानात्पदम् । पशुपाद पद्यति प्रभागपाद । प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि ।

एवम-वपामपि सराना सन्देशा विद्यन्त । तानि चे-समानकर्माणि समाननिर्वचनानि । नानाकर्माणि श्रेयानानिर्वचनानि । यथाथ निर्वचनानि । इतीमान्यकविंशति पृथिवीनामधेयान्यनुकान्तानि ।

तत्र निम्नतिर्निरमणात् । शृच्छ्रुतं शृच्छ्रापत्तिरितरा । सा पृथिव्या सन्दिह्यत । तयोर्निर्भाग । तस्या एषा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(ता) वे (याम्) [हे यज्ञ करने वाले दम्पति] तुम दोनों के, [हम यज्ञ करने वाले] (उश्मसि) कामना करते हैं (गमयै) जाने के लिए जहा (गात्र) रश्मि बृत्त शृङ्गो बाल, बहूत दीप्ति बाल, (अयास) नहीं ठहरने वाले [है ।] (अत्र अह) उन स्थानों में (उरु गायस्य) महागति बाल (विष्णु) विष्णु का परम स्थान (अथ भाति) नीच चमकता है बृत्त ।

वे घर तुम दोनों क चाहते हैं जाने के लिए जहा (गोए =) रश्मि बहूत शृङ्गो बाले । भूरि यह बृत्त का नामधेय है । पर्याप्त ऐसा होने से । १ शृङ्ग श्रयति = (शिर के अधिन होने से) अथवा । २ शृणाति (मारने) से अथवा । ३ शम्नाति (मारने) से अथवा । ४ शरण = रणा के लिए ऊपर को गया हुआ है अथवा । ५ शिर से बाहर गया हुआ है अथवा । अयास = अयना -मदा गमनशील अर्थात् न कदापि ठहरने वाले । वहा वह (उरुगायस्य) महागति बाले विष्णु का, परम स्थान (परार्थस्यम्) मत्र में ऊचा स्थान, चमकता है ध्वन । पाद पद्यति से उस के निधान=स्थापन से [रत वा मिट्टी पर पूरा चिह्न=रूप वाला] पद है । पशु के पात्रों के मूल वाचा [पशु के चार पात्र के कारण] (प्रभाग) चतुर्व्यं भाग वाचा पात्र है । चौथे भाग की पात्र की समानता से दूसरे पद =पाद कहाने हैं । यथा भीमामा के कई अध्यायो म ८ वे भाग को भी पाद कहा है अर्थात् कई अध्यायो में आठ आठ पाद हैं ।

इस प्रकार अन्य पदार्थों के [नाम-विषय में] सन्देह होते हैं । वे यदि समान कर्मों=अर्थों वाले [हों तो] समान निर्वचनों वाले [हों ।] नाना कर्मों=अर्थों वाले यदि [हों तो] नाना निर्वचनों वाले । अर्थ के अनुसार [ये सब] निर्वचन किए जाने चाहिए । तो ये इक्कीस पृथिवी के नाम अनुक्रम से पढ़े हैं ।

इन नामों में निऋतिः [प्राणियों के] निरमण से [है ।] ऋच्छति से कष्टापत्ति वाली दूसरी [निऋतिः है ।] (सा) वह कष्टापत्ति वाली दूसरी निऋतिः पृथिवी के नाम के साथ संदेह की जाती है । उन दोनों का भेद है । उस संदेह उत्पन्न करने वाली निऋति की यह [ऋक्] है ॥ ७ ॥

भाष्य—तानि वास्तूनि अर्थात् वे घर, यह अर्थ दो ओर लगता है । प्रथम पृथिवी पर के घर, जिन में बहुत किरणों का अथवा पर्याप्त किरणों का प्रवेश हो सके । घर तंग नहीं होने चाहियें । दूसरे घर द्युलोक के स्थान हैं, यहां योग सम्पन्न आत्माएं जाती हैं ।

गमधै=गन्तुम् । यहां राजवाड़े आक्षेप करता है—

but bases like गमधी are not found in RV; perhaps they existed in pre-Vedic Sanskrit. (p. 325.)

वस्तुतः यह मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डलान्तर्गत है । प्रथम मण्डल के उत्तर कालीन होने में ईसाई-यहूदी लेखक कोई ठोस प्रमाण नहीं दे सके । उन के लंगड़े तर्कों का उत्तर हम “भाषा का इतिहास” और “भारतवर्ष का दृष्ट इतिहास” भाग १, २ में दे चुके हैं ।

आगे शृङ्ग शब्द के पांच निर्वचन कहे गए हैं । इन में अर्थ की विविधता ही कारण है । यास्क की सूचमेक्षिका का क्या कहना ।

रश्मि अयासः अथवा अयनाः हैं । वे सदा गमनशील हैं । कमी भी ठहरते नहीं । ये रश्मि क्यों गमन-शील हैं, कौन सी शक्ति इन्हें गमन-शील रखती है, यह वैदिक विज्ञान से ही जाना जा सकता है । द्युलोक में आपः कण भी सदा चलते रहते हैं । ऋग्वेद १ । २४ । ६ में कहा है—इमा आपो अनिमिपं चरन्तीः । ये आपः निरन्तर चल रही हैं । आपः कण और रश्मि किन नियमों में गति-शील हो रहे हैं, यह महान् परिश्रम से ही वेद से जाना जा सकता है ।

महागति विशु क्वा है, वह तीन तमों म एक चक्र पूरा कर लेता है। उस का परम पद परार्धस्य है। राजवाड़े ने परार्धस्य के स्थान पर परार्धस्य रूप ठीक समझा है। प्राचीन संस्कृत में दोनों रूप ठीक हैं।

यथायं निर्वक्तव्यानि । यह बैसा ही शासन है जैसा अर्थनित्य परीक्षित [निरु० २।१]। वस्तुन निर्वचनों का यही आधारभूत सिद्धान्त है। यदि एक शब्द के नाना अर्थ हैं तो उस के नाना निर्वचन होंगे। उन अर्थों को न जान कर शास्त्र के निर्वचनों को समझ बताना अपनी अज्ञानता का प्रकाश करना है। "संस्कृत वाटर्डबुक" तथा सिद्धेश्वर वर्मा ने ऐसी अज्ञानता पदे-पदे दर्शाई है।

पृथिवी-नामधेयानि । निघण्टु के प्रति एण्ड के अन्त में दो प्रकार स एण्ड समाप्ति कही है। आ० लक्ष्मणसरूप ने एक प्रकार को चतुरस्र कोठों में दिया है। पृथिवी नामधेयानि प्रयोग स स्पष्ट है कि शास्त्र को एण्ड समाप्ति का यह प्रकार भी अभिमत था ॥ ७ ॥

य ई चकार न सो अस्म वेद य ई ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्याना परिधीतो अन्तर्वेदप्रजा निर्ऋतिमा विवेश ॥

वहुप्रजा वृद्धमापद्यत इति परिव्राजका । वर्षकर्मणि नैरुक्ता । य ई चकारेति करोतिक्रिती सन्दिग्धी वर्षकर्मणा । न सोऽस्य वह मध्यम । स एवास्य वेद मध्यमो यो ददर्शादित्योऽपदितम् । स मातुर्यानी । मातान्तरिह्य निर्मायन्तऽस्मिन्भूतानि । योनिरन्तरिह्यम् । महानउपय । परिधीतो वायुना । अयमपीतरो योनिरेतस्मादेश । परिच्युतो भवति । बहुप्रजा भूमिमापद्यत वर्षकर्मणा ।

शाश्वपूणि सङ्कल्पयाञ्चके सर्वा देवता जानानीति । तस्मै देवतोभयलिङ्गा मातुर्यभूव । ता न अशे । ता पमच्छ । विविदिपाणि त्वेति । साम्ना एतामृचमादिदेश । एषा मद्देवतति ॥ ८ ॥

अर्थ—जिम्ने इन वृष्टि को किया नहीं वह इन को जानता। जिस ने इन वृष्टि को देखा, (हिरुक् इत् तु) छिगा हुआ [वह] (तस्मात्) उस से। वह माता की योनि में निम्न हुआ अन्दर। बहुत मन्तान जाने ने पृथिवी पर प्रवेश किया।

वहुत प्रजा वाला कष्ट को प्राप्त होता है, यह परिव्राजक=भिक्षु [कहते हैं] । वृष्टि अर्थ वाला [यह मन्त्र है], ऐसा नैरुक्त [कहते हैं] । यह चकार का अर्थ, करोति वा किरति [करने वा बखेरने अर्थ वाले ये दोनों धातु] वर्पा के अर्थ के साथ सन्दिग्ध हैं । नहीं वह इस को जानता, (मध्यमः) मध्यमस्थानी मेघ । वह ही इस को जानता है मध्यमस्थानी [मेघ], जिसने देखा आदित्य से छिपे हुए को । वह माता की योनि में । माता अन्तरिक्ष [है] । बनाए जाते हैं इस में भूत । योनि अन्तरिक्ष [है] । बहुत बड़ा अवयव = पाग लिपटा हुआ वायु से । यह भी दूसरा [स्त्री—] योनिः इस कारण से ही [है] । चारों ओर से जुड़ा होता है [नायु और मांस से] । वहुत प्रजावाला भूमि को प्राप्त होता है वर्पा-कर्म से ।

शाकपूणि ने संकल्प किया-सारी देवताओ को जान जाऊँ । उस के लिये देवता दोनों लिङ्गों वाली प्रकट हुईं । उस को नहीं जाना । उस को पूछा । जानना चाहता हूँ तुम्हें । उस ने इम के लिये इस ऋचा को बताया । यह मेरी देवता है ॥ ८ ॥

भाष्य—य ईं चकार, यह ऋक् प्रथम मण्डल के १६४ सूक्त की है । इस सूक्त को वैश्वदेव सूक्त कहते हैं (बृहद्देवता ४ । ३१ ॥) इस सूक्त का ऋषि दीर्घतमा है । कात्यायन की सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता ४ । ४३—के अनुसार यह अल्पस्तव सूक्त है और इस ऋक् में ज्ञान-प्रशंसा है । बृहद्देवता ४ । ३२ के अनुसार इस सूक्त में, प्रवादा विविधाः हैं । यास्क ने पहले इस ऋक् का भिक्षु-आचार्यों के अर्थ का संकेत किया । इस अर्थ का उस ने खण्डन नहीं किया । तदुपरान्त उस ने नैरुक्तों का अर्थ दिया है । नैरुक्त अधिदेवत रूप से मन्त्र-व्याख्या करते हैं । तदनुसार यह वर्षा के अर्थ का मन्त्र है । अतः ईं का संकेत वर्पा की ओर है ।

नैरुक्तों के अनुसार मेघ मध्यमस्थानी है । वह वर्पा को करता और बखेरता है । मध्यम स्थान पृथिवी त्वक् से कई सौ योजन ऊपर से आरम्भ होता है । योगसूत्रों पर व्यासभाष्य ३ । ३६ के अनुसार मेरुशृष्ट से ध्रुवमण्डल तक अन्तरिक्ष लोक है—मेरुपृष्ठादारभ्य आध्रुवाद् ग्रह-नक्षत्र-ताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः । यह मेरु पृथिवी त्वक् से ऊपर पृथिवीमण्डलस्थ वायु में है ।

दूसरी ओर ध्रुव मण्डल कहां से आरम्भ होता है, यह मैं अभी नहीं जान सका ।
ब्रह्मण्ड पु० पूर्व, २१ में भी ऐसा मत है—

शुभार्द्धकोटिविस्तारा पृथिवी हृत्पञ्चः स्मृता ॥ १० ॥

तस्य अर्द्धममारौन मेरोपां वत्सु संस्थिति ॥ १३ ॥

यहां इनका ऊपर अन्तरिक्ष में कौन सा क्षेत्र है । वै० धा० १।२।३-४
में सप्त पर्वतय लिखे हैं—१. पराहवः । २. स्वनपस्तः । ३. विद्युन्महस्तः ।
४. घूपयः । ५. श्वापयः । ६. गृहमेध्रा । ७. कश्चनि विद्विष । पर्वतयमप्यम
स्थानी है । पर्वतय के इन सात रूपों का अध्ययन अपेक्षित है । पर्वतयोंसमूहों के
संगठ्य स क्षेत्र आदि बनने हैं और सूर्यरश्मियों के द्वारा बना होती है । इसी
लिए मैत्रायणि संहिता में कहा है—अग्निर्वाश्मो वृष्टिम् ईष्टे । मरुतोऽमुत
इच्छामयन्ति । ता सूर्यो रश्मिभिर्पर्वन्ति । एते वै वृष्टशा प्रदातारः ।

२।४।=॥

क्षेत्र, और इन के अन्तर्ध्रुव वरुह और जीमूव आदि भेद तथा ध्रुव, और
पर्वतय आदि का विलून वर्णन वायु पुराण २१।२१—४६ तक है । ये क्षेत्र
वायु के निश्चित स अन्न-विमर्जन करने हैं—

मेघ वायुनिघातेन विसृजन्नि जल भुवि ॥ १५ ॥

अभ्रस्था प्रपतन्त्यापो वायुना समुर्दारिता । २५ ॥

वायु पु०, अ० ५१ ।

अन्तरिक्ष वायु से व्याप्त है । यह वायु पृथिवी-मण्डल के वायु से अति सूक्ष्म
है । रात्रिके लिखता है—अन्तरिक्ष means space; यह अत्यन्त अशुद्ध अर्थ
है । वस्तुतः space अथवा सर्वथा रिक्त स्थान कोई है ही नहीं ।

शाक्युषि वाक् से पुराना निरुक्त है । वह अक्षरतत्पुत्र से लगभग एक सौ
वर्ष पूर्व था । उस का एक विशेषण शरीर था । उस ने किसी वाक् संहिता
का प्रवचन किया । साथ ही उस ने एक निरुक्त रचा । एक ओर यह वैदिक
संहिता का प्रवच्य था और दूसरी ओर जाह्नव भाषा में निरुक्त का रचयिता ।
अतः ईसाई-गृही क्षेत्रों का स्वस्थिति मत कि वैदिक वाक् और लोकाभाषा
का काल भेद है, उपहासास्पद है । उसका अधिक वृत्त आत्मदत्त 'वैदिक
वाक्मय का इतिहास' में देखिये ॥ ८ ॥

१. दृष्टो—(अविन) रश्मिभिर्वर्ष (समदधान्) । गो० पु० १।३६ ॥

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृत्ता मिमाति मायुं ध्वसनावधिं श्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वत्रिमोहत ।
[ऋ० १ । १६४ । २६ ॥]

अयं स शब्दायते येन गौरभिप्रवृत्ता मिमाति । मायुं शब्दं करोति ।
मायुमिवादित्यमिति वा । वागेवा माध्यमिका । ध्वंसने मेधेऽधिश्रिता ।
सा चित्तिभिः [कर्मभिर्नाचैः] निकरोति मर्त्यम् विद्युद्भवन्ती
प्रत्यूहते वत्रिम् । वत्रिरिति रूपनाम । वृणोतीति सतः । वर्षेण प्रच्छाद्य
पृथिवीं तत्पुनरादत्ते ॥ ६ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अर्थ—यह वह [मेघ] गर्जता है, जिसके द्वारा (गौः) वाणी
(अभीवृत्ता) चारों ओर से प्रेरित की गई, करती है (मायुं) शब्द को
(ध्वसनी) मेघ में आश्रित हुई । वह (चित्तिभिः) चटचटा शब्दों से
(नि हि चकार) नीचे करती है मनुष्य को । विद्युत् होती हुई (प्रत्योहत)
छिपाया अथवा छिपाती है । (वत्रिम्) रूप को । यह वह [मेघ] शब्द
करता है जिस के द्वारा । वाणी चारों ओर प्रवृत्त हुई शब्द को करती है ।
मायु के समान आदित्य को अथवा । वाणी [है] यह मध्यमस्थानी-
(ध्वंसने) पानी गिराने वाले मेघ में आश्रित । वह चटचटा शब्दों से
[कर्मों से नीचे] भुकाती है मनुष्यों को । विद्युत् होती हुई छिपा देती है
रूप को । वत्रिः यह रूप का नाम है । ढांपता है इस [कारण के] होने
से । वर्षा से ढांप कर पृथिवी को, (तत्) उस सम्पूर्ण वर्षा-जल को [वह
मध्यमा वाक्—] फिर ले लेती है ॥ ९ ॥

भाष्य—यह प्रहेलिका रूपी श्क भी पूर्व सूक्तान्तर्गत ही है । इस में
मध्यम-स्थानी वाक् का गौः शब्द से वर्णन है । दुर्ग के अनुसार मायु का एक
अर्थ सूर्य भी है ।

निघण्टु का आरम्भ पृथिवी के नामों से हुआ है । इस का कारण है ।
हिरण्यगर्भ से सूर्य आदि की अपेक्षा भूमि पहले पृथक् हुई थी । अतः निघण्टु
का आरम्भ पृथिवी नामों से हुआ । अगला सारा क्रम भी कारणविशेष
रखता है ॥ ६ ॥

द्विरत्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश । द्विरत्य कस्मात् । द्विपत्त
 भाष्यम्यमानमिति वा । द्विपत्ते जनाजनमिति वा । द्विरत्यर्ण भवतीति
 वा इदपरमणु भवतीति वा । हर्षनेर्ण स्यात्प्रेस्ताकर्मण ।

अर्थ—द्विरत्य अर्थात् स्वर्ण के नाम है, अग्न पदह । द्विरत्य क्ति
 [कारण] म २ मीचा जना है, अग्ना क्ति जना है अथवा । ते जाया
 जाता है मनुष्य म मनुष्य को अथवा । द्विपत्त, पूर्वक आनन्दप्रद होना है
 अथवा । हर्षण को आनन्द इन वाण होना है अथवा । हर्षणि म अथवा
 [है] प्राप्ति की इच्छा अर्प वान [धानु] से ।

मात्य - निषण्ड के आरम्भ में पृथिवी के इच्छीस नाम पर कर कर
 द्विरत्य के ही नाम क्यों पड़े गए । दुर्ग के अनुमार शाकपुत्रि के निषण्ड में भी
 यही क्रम था । पृथिवीस्थ वस्तुओं में द्विरत्य (सुवर्ण) सर्वोत्तम है, अतः पृथिवी
 वस्तुओं के पश्चात् उसी के नाम पड़े गए हैं ।

अन्तरिक्षनामान्युत्तराणि षोडश । अन्तरिक्षं कस्मात् । अन्तरा
 ज्ञान् भवति । अन्तरेण इति वा । शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा । तत्र
 समुद्र इत्येतन्पार्थिवत्वं समुद्रेण सन्दिश्यते । समुः कस्मात् । समुद्रं
 घन्त्यस्मादात् । सममिद्रवन्त्येतमाप । सम्मोदन्ते सिमन् भूतानि ।
 समुद्रको भवति । समुनर्त्तीति वा । तयोर्विभाग ।

अर्थ—अन्तरिक्ष क नाम [है] अग्ने मोह । अन्तरिक्ष क्ति
 [कारण] स । [द्यौ क] मध्य म [क्षा+अन्तम्] पृथिवी के अन्त तक
 होना है । मध्य म इन दोनों [द्यावापृथिवी] के अथवा । (शरीरेषु
 अन्त+अक्षयम्) शरीरों के अन्दर नहीं सप वाला, अथवा ।

(तत्र) इन अन्तर्निभ नामों में [जो] समुद्र यह [नाम है] यह
 पृथिवी के समुद्र क साथ स-ह किया जाता है । समुद्र क्ति [कारण]
 स । भवे प्रकार ऊपर को उठने हैं इन म आप । भवे प्रकार दौड़ने हैं
 इन की ओर [नदियों क] आ । भवे प्रकार प्रवृत्त होत हैं इनमें
 [जलचर] प्राणी । (सम्+उदक) एकीभाव-एकत्व हुए चक्र वाला होता
 है । भवे प्रकार गीला करता है अथवा । इन दोनों अन्तरिक्ष-व और पार्थिव
 समुद्रों का विभक्त-वृषक्-वृषक् स्पष्ट नाम [कहते हैं] ।

भाष्य—समुद्रवन्ति+अस्मात्+आपः । इस तथ्य को सर्वसाधारण जानते हैं । इस वचन की तुलना वायु पुराण ५१। २४ से करनी चाहिए—

समुद्राद् वायुसंयोगाद् वहन्त्यापो गभस्तयः ।

उद्, उदक और दक, ये तीनों जल के नाम हैं । यास्क ने समुद्र पद में उद् का भाव मान कर निर्वचन में आपः अथवा उदक का ग्रहण किया है ।

तत्रेतिहासमाचक्षते—देवापिश्चाष्टिपेणः शन्तनुश्च कौग्व्यौ भ्रातरौ वभूवतुः । स शन्तनुः कर्नीयानभिपेक्षयाञ्चके । देवापिस्तपः प्रतिपेदे । ततः शन्तानो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न वर्षर्ष । तमूचुर्वाहणाः । अधर्मस्त्वया चरितः । ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिपेक्षितम् । तस्मात्ते देवो न वर्षतीति । स शन्तनुर्देवापिं शिशिञ्च राज्येन । तमुवाच देवापिः । पुरोहितस्तेऽसानि । याजयानि च त्वेति । तस्यैतद्दर्पकामसूक्तम् । तस्यैषा भवति ॥ १० ॥

अर्थ—इस विषय में इतिहास को कहते हैं—और देवापि ऋष्टिपेण का पुत्र, तथा शन्तनु कौरव कुल के, [दोनों] भाई हुए । उस शन्तनु ने [जो] छोटा [था, अपना] अभिपेक्ष कर लिया । देवापि तप करने लगा । इस कारण शन्तनु के राज्य में बारह वर्ष देव नहीं बरसा । उस को बोले ब्राह्मण । अधर्म तेरे द्वारा आचरित हुआ । ज्येष्ठ भाई को (अन्तरित्य) उलंघन कर [तू ने] अभिपेक्ष करा लिया । इस कारण से तेरे [जनपद में] देव नहीं बरसता । उस शन्तनु ने देवापि को (शिशिञ्च) देना चाहा राज्य, उस को बोला देवापि । पुरोहित तेरा होगा । यज्ञ कराऊंगा और तेरा । उस का यह वर्षकाम सूक्त [है ।] उस [सूक्त] की यह [ऋक्] है ॥ १० ॥

भाष्य—ईसाई-यहूदी ग्रन्थकार संस्कृत के इतिहास शब्द का अंग्रेजी अनुवाद legend करते हैं । वे ऐसा क्यों करते हैं । उत्तर स्पष्ट है । यदि वे इतिहास को history मान लें, तो प्राचीन भारतीय इतिहास का उन का कल्पित किया हुआ ढांचा सर्वथा नष्ट हो जाए । इसलिए ये चालाक लेखक अधिकांश स्थानों में इतिहास का अंग्रेजी में legend अनुवाद करते हैं । पर प्रस्तुत स्थान में ईसाई-यहूदी संस्कार ग्रहण करने वाला राजवाड़े लिखता है—

The Rk refers to an actual historical fact, अर्थात् इस शब्द में कही गई घटना एक वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य है। वस्तुतः राजशाही ने विना सोचे समझे यह श्लोक किया है।

देविय, ऐतिहासिक शान्तनु का मूल नाम महाभिय था। इस का अधिक स्पष्टीकरण भागवत पुराण ३ । २२ स होना है—प्राञ् मदाभियसंहितः । उक्त ने शान्तनु नाम वेद स ले कर प्रदत्त किया था। शान्तनु भ्राता देवापि का आहिषेण विशेषण भी उत्तर काल में मान लिया गया। रघुन्द खिन्ता है—स च किल न्ययननामापरनाम्नि आहिषेणैः प्राज्ञवर्यमुदास । ययन वा अपर नाम आहिषेण द्रुषा । यह क्यों द्रुषा इत्य का कारण भी स्पष्ट है।

यदि यह वर्षा मूल, जैसा ईसाई-यहूदी शैल्यक कल्पना करते हैं, देवापि का बनाया होना तो देवापि इस के मन्त्रों में शान्तनु पद रचना ही न। वह इम के स्थान में महाभिय शब्द रचना। और भी, वह अपना नाम आहिषेण न कह कर ययन कहता। अत इतना निश्चित है कि यह मूल देवापि और शान्तनु से पहले विद्यमान था। पलत दानों के नाम अथवा नाम विशेषण उत्तर काल में मन्त्रों स लेकर रने गए।

अपरञ्च वेद विषयक इतिहासों का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए निरुक्त-प्रदर्शित ऐतिहासिक मत के आधारभूत सिद्धान्त का ज्ञानना अत्यन्त आवश्यक है। यास्क मुनि ने महती कृपा कर के इम विषय को स्वयं स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है—ऋषेर्दृष्टार्थस्य गीतिर्भयस्याख्यानसंयुक्ता । १० । १० ॥ अर्थात् ऋषि को, दृष्टार्थ वाले की [अपने दृष्ट अर्थ में] गीति होनी है आख्यान से मिथी हुई। यास्क के इस स्पष्टीकरण के अनुसार ऋषि का देसा द्रुषा अर्थ एक पृथक् वस्तु है, और आख्यान उस से सर्वथा पृथक् एक अन्य वस्तु है। दोनों वस्तुओं को जोड़ कर वेदार्थ का ऐतिहासिक पद्य बना। इसी के कलस्वरूप मन्त्रगत घटना के साथ इतिहास का भी जोड़ा सा सामञ्जस्य उत्पन्न करने के लिए विद्वानों ने महाभिय को शान्तनु नाम दे दिया।

आख्यान सर्वथा पृथक् है, इस सत्यता का एक शक्यार्थ प्रमाण है। वह है, ऐतिहासिक घटनाओं के साथ वेदमन्त्रों में पद्यित घटनाओं का कभी भी पूर्ण-सामञ्जस्य न होना। प्रस्तुत घटना में भी मन्त्रगत देवापि आहिषेण अर्थात्

१. देखो—भारतवर्ष का शब्द इतिहास, भाग २, पृष्ठ १२३-१२६, दाशरथ्य संश्लेष ।

ऋषिपेण का पुत्र है। इतिहास में देवापि का पिता प्रतीप=ऋषिपेण=पर्यध्रवाः है। उस का एक अन्य नाम ऋषिपेण भी था, यह कदापि प्रमाणित नहीं हो सकता। इस कठिनाई को देख कर ही प्राचीन आचार्यों ने देवापि के गुरु प्यवन का अपर नाम ऋषिपेण मान लिया। और उस ही देवापि का पिता माना। इसी लिए बृहद्देवता में लिखा है कि ऋषिपेण देवापि— ऋषिपेणसुतोऽभवत्।
७।१२६॥

इतिहास के अनुसार देवापि विकलाङ्ग होने के कारण राजा न बन सका। उस के राजा बनने में प्रजापुं चाधक थीं। महाभिष का इस में कोई दोष न था।

अब यदि कहो कि देवापि के पिता का नाम ऋषिपेण था, तो इस का प्रमाण इतिहास से देना होगा। यदि कहो मन्त्र में देवापि ऋषिपेण है, तो भी बात नहीं बनती। क्योंकि विवाद मन्त्र की बात के ऐतिहासिक होने पर है, और जब यह सिद्ध करना है कि मन्त्र की बात ऐतिहासिक है, तो इस का पोषक-प्रमाण इतिहास से झूठ कर लाना पड़ेगा। अन्यथा मन्त्र की बात को ऐतिहासिक घटना सिद्ध करने के लिए, मन्त्र का ही प्रमाण साध्य-सप्त हेत्वाभास होगा।

ऋषिपेण देवापि जो ऋषि है, वह निरसन्देह आधिदैविक है। इसी लिए विद्वान् दुर्गाचार्य ने नैरुक्त पक्ष में इस घटना का संबंध आधिदैविक अर्थ किया है। ऋग्वेद के इसी वर्षकाम सूक्त के मन्त्र = में—ऋषिपेणो मनुष्यः समीधे पाठ है। इस में मनुष्यः पद भी इस के आधिदैविक अर्थ का पोषक है। वेद में भ्राजत ऋष्यय, (ऋ० १।३१।१), ऋषि विद्युत् (ऋ० १।१६८।५) आदि मरुतों के विशेषण हैं। इन मरुतों के अनेक भेद ही नर, मनुष्य और विश आदि कहे जाते हैं।

१. राजवाड़े लिखता है—This interpretation is altogether forced and unnatural (p. 354.) यह राजवाड़े का अपना अंशान है। वह वेद के आधिदैविक अर्थों के पाम भी नहीं फटका। ऐसे अल्पश्रुत लोगों से वेद डरता है। वह अन्यत्र लिखता है—The Vedas contain history or myths which the Brāhmanas explain at length. (p. xxv)

अर्थात् वेद में "मिथ्स" हैं। ये ब्राह्मणों में विस्तार से व्याख्यात हैं। अल्प-पठित राजवाड़े को यह भी नहीं पता कि ब्राह्मण ग्रन्थों के व्याख्यान भी आधिदैविक अर्थों पर पूरा प्रकाश डालते हैं। उन में देव-माया तो है, पर राजवाड़े की समझी हुई "मिथ्स" नहीं हैं।

इस सूक्त में वर्णित वषो घोर सामान्यतया भी वषो का सम्बन्ध मरुतों से है।

प० राजाराम ने लिखा है—ऐतिहासिक पक्ष में यह दोष स्पष्ट माना है कि देववि ही इस सूक्त का द्रष्टा अथवा, अपना निर्देश प्रथम पुरुष से, और भूतकाल से कर्म करता है, इस का पदाक्षयवित् यह समाधान दुर्गाचार्य ने लिखा है कि जैसे इस कल्प में देववि और शन्तनु हुए, वैसे इस से पूर्वकाल में भी हुए, उस के अभिप्राय से देववि का यह वचन है। इति।

एक और भी अति स्पष्ट सत्य है। भारतीय इतिहास से प्रमादित है कि मन्थगत घटनाओं के आधार पर इतिहास में वर्णित पुरुषों ने बहुधा अपने नाम और विशेषण बदल लिए। सुप्रसिद्ध देवामुर समाज को ही कोई वेदों में वर्णित देवामुर समाज न समझ ले, इस अन्ति के निवारणार्थ ही शतपथ ब्राह्मण में प्रवचन है—*तस्मादाहुः—नैतदस्ति यद्देवामुरं यदिदमन्वाण्यगाने त्वद् उद्यत इतिहासे त्वत् ॥११११॥१।३॥*

वेद के इतिहास कैम है इस का अतिस्पष्ट ज्ञान अ० १।२४।१ पर स्कन्दभाष्य में उदघन एक इतिहास से होगा है। यथा—

*अत्रतिहासमाचक्षत । समायेऽसुरा सृग्न्व रथं भद्रं क्तुमैच्छन् ।
अश्वं चापहर्तुम् । ताविन्द्रो रक्षितवान् । इति ।*

यह समाज अन्तिरिष में हुआ। उस में सूर्य के रथ और दश अश्व की रथा इन्द्र ने की। ये सब आभिर्देविक हैं।

इतिहास और वेद के कथनों क इन सूक्त भेदों को पूर्ण न समझ कर ही राजवादे आदि ने बहुत व्यर्थ लेख किया है। और दशराज समाज के विषय में तो कई ईसाई-यहूदी लेखकों ने बुरा कागज काते किए हैं।

द्वादशवार्षिकी अनावृष्टि—एही अनावृष्टि जेता द्वार की सन्धि में हुई थी। इस का उल्लेख महाभारत शान्तिपर्व में है। शन्तनु के राज्य काल की अनावृष्टि द्वार के अन्त में हुई। पर वह बतनी चार नहीं थी। सम्भवत तब समय पर वृष्टि नहीं हो रही थी। यज्ञ का साफल्य निर्विवाद है। यज्ञ से वषो हुई।

ऋष्टिपेणो होत्रमृषिनिषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वात् ।

न उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजदृष्या अभि ॥

[ऋ० १०।६८।५ ॥]

ऋष्टिपेण ऋष्टिपेणस्य पुत्रः । इपितसेतस्येति वा । सेना सेधरा । समानगतिर्वा । पुत्रः पुत्रं प्रायते । निपग्णाद्वा । पुं नरकं ततःप्रायत इति वा । होत्रमृषिनिषीदन् । ऋषिदर्शनात् । स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः ।

तद्यदेनोऽस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयम्भुभ्यातर्पत् [त ऋषयोऽभवन्] नदृषीणामृषित्वम् । [तं० आ० २।६] इति विशायते ।

देवापिर्देवानामाप्या स्तुत्या च प्रदानेन च । देवसुमतिं देवानां कल्याणां मतिं चिकित्वाँश्चेतनवान् । स उत्तरस्मादधरं समुद्रम् । उत्तर उद्धततरो भवति । अधरोऽधोरः । अधो न प्रायतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिपिद्धा । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ११ ॥

अर्थ—ऋष्टिपेण का पुत्र (होत्रम्) होता के कर्म को अर्थात् कर्म के निमित्त ऋषि (निषीदन्) बैठता हुआ अर्थात् बैठा देवापि कल्याणी मति को (चिकित्वात्) जानता हुआ । वह ऊपर [अन्तरिक्ष के समुद्र] से नीचे के समुद्र को (अपः) जल दिव्य (अभि असृजत्) दृष्टा लाया वर्षा के ॥

ऋष्टिपेण का पुत्र । इपितसेन अर्थात् आगे बढ़ती हुई सेना वाले का पुत्र अथवा । सेना=स+इना अर्थात् साथ स्वामी=सेनापति वाली । समान गति वाली अथवा । पुत्रः, बहुत रक्षा करता है । देने से अथवा । पुत्र=नरक, उस से रक्षा करता है अथवा । (होत्रम्) होता के कर्म को [करने के लिए] ऋषि बैठा । ऋषिः, दर्शन से है । स्तोमों=मन्त्रों को [उस ने] देखा । यह औपमन्यव [कहता है]—तो जो इन को तप करते हुआं को, (ब्रह्म) वेद अथवा मन्त्र समूह (स्वयंभु) अपने आप होने वाला [प्रति सृष्टि में देवों द्वारा स्वयं आविर्भूत होने वाला=अकृतक] (अभ्यातर्पत्)

१. कौष्ठगत पाठ निरुक्त के लघुपाठ में श्रीर द्रुगंशक्ति में नहीं है । तथापि तं० आ० में है ।

आ गया, [बिना विमो इतर मनुष्य से पदे, हृदय गुफा से निकला देख लिया गया] वे ऋषि ऋषि, यही ऋषियों का ऋषिपत्न है । यह [ब्राह्मण=वेद व्याख्यान द्वारा] जाना जाता है । देवापि, देवों की (आप्त्या) प्राप्ति से स्तुति द्वारा और, हवि' प्रदान से तथा । देवों की बह्याणी मति की (चिकित्त्वान्) जानना हुआ । वह ऊपर के [समुद्र में] नीचे के समुद्र को । उत्तर=अधिक ऊपर को उठा हुआ होना है । अधः=अध+अर, अर्थात् नीचे गया हुआ । अध =अ+ध =नहीं दौड़ता है । ऊपर की गति का निषेध है । उमने अगली [ऋक्] अधिक निर्वचन के लिये—॥ ११ ॥

भाष्य—ऋषिपेण मध्यम स्थान वाला इन्द्र है । वही मरुतों की सेना वाला है । उस का पुत्र कौन है । मरुतों से सम्बन्ध रखने वाला कोई अग्नि उसका पुत्र है । दुर्ग के अनुसार वह पृथिवी का अग्नि है । वही देवापि है ।

महा स्वयम्भु वेद है । जब महाभूतों से महादण्ड उस का अगला रूप हिरण्यगर्भ, उस के पश्चात् प्रजापति पुरुष उत्पन्न हो गया, तब उस प्रजापति से अग्नि वायु, इन्द्र आदि देवों की उत्पत्ति हुई । तब सूर्य चन्द्र और बृहस्पति आदि भी बन रहे थे । इन सब की गतियाँ स विभिन्न इन्द्र अथवा ध्वनियों उत्पन्न हो रही थीं । ये ध्वनियाँ स्वाभाविक थीं और महाप्रलय के पश्चात् प्रति सृष्टि में बड़ी होता है । ये वेदमन्त्र हैं, और सदा हमी रूप में प्रादुर्भूत होते हैं । ऋषि इनको सुनते वा देखते हैं । इस देखने और सुनने का सम्बन्ध आत्मा से है, इन्द्रियों से नहीं ।

आर्य ज्ञान का यही महत्त्व है । वर्तमान ससार के सम्पूर्ण ज्ञान का आधार इन्द्रियों से है । इन्द्रियों द्वारा ही साइन्स का सारा परीक्षण होता है, यान इसमें भूल का स्थान है । यह मन क्रैच लोन्क न्यूना का भी है ।^१ आर्य ज्ञान और उस का मूल वेद-वाक् ऋषिषु प्रविष्टाम्^२ थी । यह स्वयमागतविज्ञान था । इस ज्ञान को ग्रहण करने वाले ही ऋषि हुए थे । न्यूटन, मार्स, फ्राईड और आईं स्टाईन आदि ऋषि नहीं हैं । इन का ज्ञान अति दोषपूर्ण है । ऋषियों के ज्ञान की तुलना में सब बालिश हैं ।

१. देखो अस्मत् प्रणीत-वेदविद्यानिदर्शन, पृ० १६, २० ।

२ ऋ० १० । ७१ । ३ ॥

देवसुमतिम्—देव कब वर्षा देते हैं, इन नियमों को जानता हुआ ।
अपो दिव्याः,—ये दिव्य आपः सूर्यरश्मियों द्वारा उतरती हैं । तभी वर्षा
होती है ॥ ११ ॥^१

यद्देवापिः शन्तनुवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत् ।

देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥

[ऋ० १० । ६८ । ७ ॥]

शन्तनुः । शं तनोऽस्त्विति वा । शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा ।
पुरोहितः पुरः एनं दधति । होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायत् ।
देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति [वृष्टिवनिं] वृष्टियाचिनम् । रराणो राति-
रभ्यस्तः । बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत् । सोऽस्मै वाचमयच्छत् । बृहदुपव्या-
ख्यातम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जब देवापि ने, शन्तनु के लिये, पुरोहित ने, होता के कर्म के
लिये वरण किये गए ने, [शन्तनु पर] कृपा करते हुए ने, [वृष्टि हो, ऐसा]
(अदीधेत्) विचार किया । [तव] देवों से सुने गए, वृष्टि वाले को,
(रराणः) देते हुए बृहस्पति ने इस [देवापि] के लिए वाक् [=कड़क]
को दिया ।

अदीधेत्=अन्वध्यायत्=विचार किया । शन्तनुः—कल्याण हे
[रोगार्त] शरीर [तेरा] हो अथवा । कल्याण इस [रोग से आर्त के
लिए] शरीर द्वारा हो अथवा । पुरोहितः—आगे इस को रखते हैं । होता
के कर्म के लिये वरे गये, कृपा करते हुए ने सोचा । देवश्रुतम्—देव इस
को सुनते है, अपनी क्रियाओं को इस के साथ मिलाते हैं । वृष्टिवनिम्=वृष्टि
चाहने वाले को । रराणः = देता हुआ, रातिः का अभ्यास अर्थात् रेफ का
दो बार पाठ है । बृहस्पति ब्रह्मा था । उस ने इस के लिए वाक् दी । बृहत्
व्याख्या किया गया है, (पूर्व १ । ७ मे) ॥ १२ ॥

भाष्य—देवश्रुतम्—सम्पूर्ण देव अपने अपने भौतिक नियमों में चलते हैं ।
वेदमन्त्रों का सस्वर विशुद्ध पाठ भी एक भौतिक क्रिया है । इस विशुद्ध पाठ की

१. तुलना करो—इतः प्रदाना वै वृष्टिरितो ह्यग्निर्वृष्टिं वनुते स एतैः ' त-)
स्तोकैरेतान्स्तोकान् वनुते तऽएते स्तोका वर्षन्ति । (श० ब्रा० ३ । ८ । २ । २३ ॥)

उचित समय और स्थान पर किया स उन देव क्रियाओं में एक सजीव सहयोग उपपन्न हो जाता है । माना देवों ने अग्नि की प्रार्थना सुनी है । तब देवों की कृपा होती है । तमी का उत्तररूप यज्ञ का पत्र है ।

वृष्टियनि—यज्ञ ३८ । ६ के व्याख्यान में अतपथ का वचन है—सूर्यस्य ह वाऽ एको रश्मिर्बृष्टियनिर्नाम । येनमा सर्वा प्रजा विमर्ति । १४ । २ । १ । २१ ॥ अत इम रश्मि का स्वरूप और इम का वर्णन स सम्बन्ध जानना चाहिए । वृष्टियनिम् का सामान्य अर्थ है—वृष्टि मागने वाले को । यह देवादि का विग्रहण है ।

वृहस्पति —वद के आधिभौतिक अर्थों में प्रसिद्ध वृहस्पति ग्रह ही वृहस्पति है । इम ग्रह का वृष्टि देन में कोई योग अवश्य है । इम विज्ञान का भी खोजना चाहिये । यास्क के अनुसार—वृहस्पति इन्द्रा आसीन् । अर्थात् जब यह मूलक सृष्टि में प्रथम बार उच्चरित हुआ तो उस समय उस देवी यज्ञ में होना देवादि के साथ इन्द्रा का कर्म वृहस्पति ग्रह कर रहा था । ए अर्थात् रमने वाले विद्वज्जनों दस्यो भारत-सुद्ध स अनति-र-पूर्व के यज्ञ में यह वृहस्पति ग्रह इन्द्रा बन ही नहीं सकता था । वहां तो कोई देहधारी मनुष्य इन्द्रा था । देवी यज्ञ में इन्द्रा का साथी देवादि भी अन्व था । वही वृहस्पति पर्यन्त और मेघों में कवक का एक कारण है । इस कवक क वायु में भी रहस्य निहित है । इन तीनों लोकों में सम्पूर्ण वाक् का मूल यह वृहस्पति ग्रह है ।

उपन्यास्थानम्—स्थान स अथवा पूर्णतया व्याख्या किया गया है । उप उपसर्ग वहां वैम ही अर्थ में है यथा निरुक्तम् उपचिन्व्य पद म ॥ ११ ॥

साधारणा युक्तगणि षड दिवश्चादित्यस्य च । यानि त्वस्य प्राधान्येनोपरिष्ठात्तानि व्याख्याम्याम् । आदित्य कसान् । आदत्ते रसान् । आदत्त भाम् उपोतिषाम् । आदीनो भासेति वा । अदित पुत्र इति वा । अल्पप्रयोग त्वस्य । एतदार्चाम्याघ्राथ मूलभाक् ।

सूर्यमादित्यम् । [ऋ० १० । ८८ । ११]

[अदित पुत्रम् ।] एवमन्यासात्रपि देवनातामादित्यप्रगदा स्तुतया भवन्ति । तद्यथैतन्मित्रस्य वरुणस्यायमग्नो हसस्य भगस्याशुस्येति ।

अर्थ—सांभे [हैं] अगले छः [नाम] द्यौ के और, आदित्य के और । जो तो इस [आदित्य] के प्रधानता से [हैं], ऊपर=आगे [अ० १२ में] उन का व्याख्यान करेंगे । आदित्य किस कारण से । ले लेता, खींचता [है] रत्नों को [रश्मियों द्वारा ।] ले लेता है प्रकाश को (ज्योतिषाम्) = प्रह और नक्षत्रों के । चारों ओर से प्रकाशित है चमक से अथवा । अदिति का पुत्र है, अथवा । अल्प प्रयोग [है] इस [अदिति-पुत्र अर्थ वाले] का । (एतत्) यह पद आर्चाभ्याम्नाय में सूक्तभाक् [है, अर्थात् सारे सूक्त में स्तुत है ।]

सूर्य को अदिति के पुत्र को ।

इस प्रकार दूसरे भी देवताओं की आदित्य [वत्] कह कर स्तुतियां होती हैं । तो जैसे ये मित्र की, वरुण की, अर्यमा की, दक्ष की, भग की, [और] अंग की ।

भाष्य—आदत्ते रसान् । पृथिवी पर के रस आग्नेय प्रभाव से सूक्ष्म रूप हो कर रश्मियों के साथ रश्मि-संहार के समय आदित्य मण्डल में पहुँचते हैं । रश्मि-संहार के विना ये आदित्य में न पहुँचते । रश्मिसमूह ही हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवम् उत्पतन्ति । (ऋ० १ । १६४ । ७) विशेष ऋतु में रश्मि-विशेष द्यौ की ओर आपः के वसन पहने उड़ते हैं । सौराग्नि अपांगमं हे (वायु पु० १३ । १२) । आपः ही सूर्याग्नि का कारण हैं ।

ज्योतिषाम्—प्रहो आदि के अपने-अपने रश्मि हैं । उन रश्मियों को दिन के समय आदित्य ले लेता है । यह आदित्य चारों ओर से दीप्त हैं । आपः कण इस में ताप और ज्योति की माया रचते रहते हैं । आदित्य अदिति का, देव माता का पुत्र है ।

आदित्य के निर्वचनों के विषय में राजवादे लिखता है—

These unnatural derivations of आदित्य are due to the naturalistic tendency of Yāska and the Nairuktas. अदिते पुत्रः is relegated to the last place because it refers to a history or a myth in which the Nairuktas did not believe (p. xxv)

अर्थात्—आदित्य के ये निर्वचन अस्वाभाविक हैं । यास्क और नैरुक्तों की सूचि भौतिक अर्थों की ओर है । अदितेः पुत्रः निर्वचन अन्त में दिया गया है क्योंकि यह इतिहास को कहता है । नैरुक्तों का इस इतिहास में विश्वास नहीं था । इति ।

यह है परिधमी राजवाड़े की वेद विरपक योग्यता । उस लो निर्वचन का अभिप्राय ही अज्ञान है । विद्वत्समलक्ष्य की तिमिर धारणारित बुद्धि के द्विष्ट यह मानना समझत है कि वेद पूर्ण विद्या का स्थान है और तब्य यही है कि वेद का ज्ञान सर्वत्र दृष्ट है । उस का आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ सर्वथा स्वाभाविक अर्थ है । शब्द और अर्थ की उत्पत्ति ही अन्तरिक्ष आदि में तबों द्वारा हुई । और उन्हीं पदार्थों की माया के बनाने वाले निर्वचन स्वाभाविक अर्थ योग्य हैं । राजवाड़े इतना भी नहीं समझ सका कि अदिते पुत्र निर्वचन भी आधिदैविक है ।

अदिति क्या है । प्रकृति अथवा पृथिवी । ब्राह्मण ग्रन्थों में पृथिवी को बहुधा अदिति कहा है । पर देव माना अदिति क्या है, यह मैं अभी तक निश्चय नहीं कर पाया ।

आत्र्याभ्याम्नाय—दृष्ट्य द्वैपायन वेदव्यासजी के चार प्रधान शिष्यों में स चरक-वैशम्पायन एक था । यह वायुप शास्त्र का प्रवर्तक था । इस चरक वैशम्पायन के ली शिष्यों में स ऋषाम आरणि और ताचद्वय, तीन मध्यम दशावली थे । ऋषाम प्राक् आश्राय आर्षाभ्याम्नाय था । उस में अदिति पुत्र=आदित्य सूर्य सूक्त-भाक था । दुर्गावृत्ति क सुद्विप्त पाठों के अनुसार ऋग्वेद ही आत्र्याभ्याम्नाय है । पर इस स्थान पर वृत्ति क उपलब्ध कोशों के पाठ बहुत अस्त-व्यस्त हो गए हैं । अतः निश्चय स नहीं कहा जा सकता कि मूल पाठ क्या था । वायुप शास्त्राओं में सूक्त विभाग था यह विचारणीय है । कपिल्ल कडमहिता में अष्टक विभाग है अतः समझें कि किन्हीं वायुप शास्त्राओं में सूक्त विभाग भी हो ॥ १२ ॥

अतः अम स मित्र आदि उपनामों क आदित्य अर्थ वाले उदाहरण दिये जाते हैं ।

अथापि मित्रावरुणयो ।

आदित्या दानुं नस्पती ॥ [ऋ० १ । १२६ । ३ ॥]

दानपती ।

अथापि मित्रम्यैकस्य ।

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रपस्था-यस्तं आदित्य शिहोत व्रतन ।

[ऋ० ३ । ५६ । ४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अथापि वरुणस्यैकस्य ।

अथा वृष्यादित्य व्रते तव । [ऋ० १।२४।१५।

व्रतमिति कर्मनाम । निवृत्तिकर्म चारयतीति सतः । इदमपीतरद्
व्रतमेतस्मादेव वृणोतीति सतः । अन्नमपि व्रतमुच्यते । यदावृणोति
शरीरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—और भी, मित्रावरुण की [स्तुति आदित्य पद द्वारा]—
(आदित्यौ) अदिति के दोनों पुत्र [मित्र और वरुण] दान के स्वामी ।
दानपती ।

और भी, मित्र की अकेले की [स्तुति आदित्य पद द्वारा]—वह, हे
मित्र मरण-धर्मा मनुष्य (प्र-अस्तु) वृद्ध होवे, (प्रयखान्) अन्नवान्, जो
तेरे, हे अदिति के पुत्र, (शिञ्जति) देता है, व्रतरुगी कर्म से ।

यह भी निगम है ।

और भी वरुण की, अकेले की [स्तुति आदित्य पर द्वारा]—और हम
हे अदिति के पुत्र कर्म में तेरे ।

व्रत यह कर्म का नाम [है । पाप की] निवृत्ति का कर्म [है ।]
वारण=निवारण करता है, ऐसा होने से । यह भी दूसरा व्रत अर्थात् यम,
नियम आदि का व्रत इस कारण से ही । ढांपता है, ऐसा होने से । अन्न भी
व्रत कहा जाता है । क्योंकि ढांपता है गरीर को [नए रक्त, स्नायु और त्वक्
आदि से] ॥ १३ ॥

भाष्य—राजवाड़े के यास्कीय पाठ में दानपती पद स्वरों से युक्त है, पर
लक्ष्मणसरूप के सम्पादित पाठ में ऐसा नहीं है । आदित्य को किन किन
अवस्थाओं में मित्र, वरुण आदि कहा है, यह अन्वेष्य है ।

इस अन्वेषण में पुराण से सहायता मिल सकती है । वायु पुराण ५२
अध्याय में वासन्त और श्रैष्म आदि मासों में सूर्य में अधिष्ठित अर्षमा, मित्र,
वरुण, अंश और भग आदि का उल्लेख है । उन्हीं के कारण से तत्तत् मासों में
आदित्य की मित्र, वरुण आदि विभिन्न संज्ञाएं हैं, ऐसा संभव है ।

आदित्यौ=मित्र और वरुण बहुत देने वाले हैं, यह जानना चाहिए ।
आदित्य=मित्र प्रभूत अन्न का दाता है । उस का वषा, सोम आदि से सम्बन्ध है ।

आदित्य=वरुण के व्रत मन्त्रों में अधिक स्पष्ट हैं ॥ १३ ॥

स्वरादित्यो भवति । सु अरण । सु ईरण । स्वृतो रसान् । स्वृतो भास ज्योतिषाम् । स्वृतो भासेति वा । एतन् द्यौर्याख्याता ।

पृश्निरादित्यो भवति । प्राश्नुत एन वर्ण इति नैरुत्तर । सस्प्रण रसान् । सस्प्रण भास ज्योतिषाम् । सम्पृष्टो भासेति वा । अथ द्यौ । सस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यटद्भिश्च ।

नाक आदित्यो भवति ।' [नेता रसानाम् ।] नेता भासाम् । ज्योतिषा प्रणय । अथ द्यौ । कमिति सुम्बनाम् । तन्प्रतिपिद्ध प्रति पिभ्यत ।

अर्थ—सु आदित्य होता है । भने प्रकार (अरण) गमन करने वाला । भने प्रकार [अक्षर का] (ईरण) नाश करने वाला । (सु+अन) भने प्रकार [रश्मियों द्वारा] गया हुआ [आप आदि] रसों को [ले लने के लिए ।] भने प्रकार पहुँचा हुआ प्रकाश को नभों के । भने प्रकार पहुँचा गया प्रकाश स अथवा । इस स द्यौ की व्याख्या हो गई । [अर्थात् ये निर्वचन द्यौ के भी हैं ।]

पृश्नि आदित्य होता है । (प्र+अश्नत) व्यापता है इस को (वर्ण) रंग यह नैरुक्त [मानने हैं] । (सस्प्रण) अच्छे प्रकार स्पर्श करता है प्रकाश को नभों के । अच्छे प्रकार स्पर्श किया जाता है प्रकाश से अथवा ।

अथ द्यौ [भी पृश्नि है] भने प्रकार स्पर्श की हुई है नक्षत्रों से और पुण्य किया है जिन्होंने [उन मार्ग लोक से मुक्त] आत्माओं से ।

नाक आदित्य होता है ।' ले जाने वाला रसों का । ले जाने वाला भासों को । अच्छे प्रकार स्पष्ट करना है प्रकाशों का । नक्षत्रों का (प्रणय) चालक अथवा मिलन स्थान ।

अथ द्यौ [भी नाक है] कम, यह सुख का नाम है । उस के प्रतिपिद्ध [अ+कम्] का प्रतिषेध करे [न+अकम्=नाकम्] ।

भाष्य—आदित्य (सु+अरण) भने प्रकार गमन करने वाला है । उस का यह गमन किस प्रकार स होता है । इस का उत्तर योरोपीय ज्योतिषी इस प्रकार दते हैं कि सूर्य अपनी कक्षा के निर्गमना है । वस्तुतः आदित्य गति का विलून एव है । आदित्य का रथ है । उस रथ के चक्र हैं । उन चक्रों पर

रश्मियां हैं। इन रश्मियों से इस के शब्द नियन्त्रित रहते हैं। पर आदित्य-गति इतनी ही नहीं। आदित्य-गति तथा ग्रह और नक्षत्र-गति का गहरा रहस्य है। इस का पूरा ज्ञान अभी तक योरोप और अमेरिका में नहीं है। पृथ्वीपथक आप ज्ञान की दृष्टि पुराणों में सुरक्षित रही है। देखिए—

भूतसंमोहनं होतद् ब्रूवतो^१ में निबोधत ।
 प्रत्यक्षमपि दृश्यं यत्^२ तत्संमोहयते^३ प्रजाः ॥
 यो ऽसौ^४ चतुर्दिशं पुच्छे शैशुमारे व्यवस्थितः ।
 उत्तानपादपुत्रोऽसौ मेढीभूतो ध्रुवो दिवि ॥
 स हि^५ भ्रमन् भ्रामयते^६ चन्द्रादित्यौ ग्रहैः सह ।
 भ्रमन्तमनुगच्छन्ति नक्षत्राणि च चक्रवत् ॥
 ध्रुवस्य मनसा चासौ सर्पते भगणः^७ स्वयम्^८ ।
 सूर्याचन्द्रमसौ तारा नक्षत्राणि ग्रहैः सह ॥
 वातानीकमयैर्वन्धैः ध्रुवे बन्धानि तानि वै ।
 तेषां योगश्च भेदाश्च^९ कालचारस्तथैव^{१०} च ॥
 अस्तोदयो तथोत्पाता अयने दक्षिणोत्तरे ।
 विपुवद् ग्रहवर्णश्च ध्रुवात् सर्वं प्रवर्तते ॥
 वर्षा घर्मो हिमं रात्रिः सन्ध्या चैव दिनं तथा ।
 शुभाशुभं प्रजानां च ध्रुवात् सर्वं प्रवर्तते ॥
 ध्रुवेणाधिष्ठिताश्चैव सूर्यो ऽपावृत्य तिष्ठति ।^{११}
 तदेष दीप्तिकरणः स कालाग्निर्दिवाकरः ॥
 वायुपुराण ५१ । ५—१२ ॥ ब्रह्माण्ड, पूर्व २२ । ५—१२ ॥

इस से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण ग्रह, पृथिवी और नक्षत्र आदि की गति का कारण ध्रुव है। वह गति कैसे होती है। इस का उत्तर भी है—

कुलालचक्रनाभिस्तु यथा तत्रैव वर्तते ।
 ध्रुवस्तथा हि विज्ञेयस्तत्रैव परिवर्तते ॥

वायु ५० । १२० ॥ ब्रह्माण्ड, पू० २१ । ६६ ॥

१. ब्र०—वदतो । २. ब्र०—च । ३. ब्र०—संमोहयति यत् ।
 ४. ब्र०—ऽसौ । ५-५. ब्र०—वै भ्रामयते नित्यं । ६-६. ज्योतिषां गणः ।
 ७. ब्र०—भेदश्च ८. ब्र०—कालश्चारस् । ९. ब्र०—ध्रुवेणाधिष्ठितश्चैव
 सूर्योऽपो गृह्य वर्षति ।

वर्षान् जैन कुन्दात्तचक्र की नाभि योहा सा भूमती है, पर चक्र का वायुनम मग अत्यधिक घूम जाता है, इसी प्रकार ध्रुव की स्वतंत्र गति से उस क परछे तिरों पर सूर्य चक्र पृथिवी मद्र और नक्षत्र छाद बहुत अधिक, घेर का चक्र का रह रहे हैं । ध्रुव क जो जिनना निकट है, उस की चक्रगति उतनी ही न्यून है । जो जिनना दूर है, उतना ही वह अधिक घूमता है ।

काश्याग सूर्य की गति का वर्षान् महायज्ञ पुराण पूर्वभाग, अ० २१ में हम स पढ़ते हैं । इतिष्ठो ऽपत्रमे सूर्य क्षिप्तपुरिय सर्पति ।

ध्रुव के मन और नाभि स साता मण्य स्वयं सर्पण=गति कर रहा है । यह एक महान् ज्ञान है, जो वर्तमान समार को सीवना पड़ेगा । हम के बिना वेद के सैकड़ों मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक स्पष्ट बुद्धिगम्य नहीं हो सकते । वर्षा धर्म हिम, रात्रि सन्ध्या और दिन ये सब मूलत ध्रुव के कारण हो रहे हैं । सूर्य ना बीच का निमित्त है । पूर्वोन्मूल भूकों स पृथिवी और सूर्य की गति विषयक हमारा ज्ञान बहुत बढ़ जाएगा ।

पृथ्वि आदित्य का एक नाम है और पृथ्वि स्वतन्त्र बस्तु भी है । उसी के कारण संसार में वर्ष=रग माया काम करती है ।

द्यौं में मुक्त जीव अन्व्याहत गति स विचरते हैं । बहा न मय है न सृष्टु, न जरा, न मृत प्यास, और न शोक । पृथिवी पर मुक्त विशेष स्वर्ग है, और वी में जन्म-मरण के बन्धन स हट कर रहना स्वर्ग है । ये पुण्यकृत् आत्माए रश्मियों आदि के आश्रय स मर्त्य लोक स निच्छल कर मुक्त में जाते हैं । पुण्यकृत् का एक अधिदैविक अर्थ भी है शतपथ १ । २ । ३ । १० में सूर्य की रश्मियों को मुक्त कहा है—तस्य (सूर्यस्य) य रश्मयस्त सुकृत । सुकृत् और पुण्यकृत् दोनों समानार्थक हैं । सूर्य अथवा वी पुण्यकृत्=सुकृत्=रश्मियों से सयुक्त वा आविष्ट है ।

न वा अमुं लोके जुग्मुपे किञ्च नाकेम् ॥ [काठक स० २१।२ ॥]
न वा अमु लोके गतवत कि च नासुखम् । पुण्यकृतो होव तत्र गच्छन्ति ।

गौरादित्यो भवति । गमयति रसान् । गच्छत्यन्तरिक्षे । अथ द्यौ । यन्पृथिव्या अधिदूर गता भवति । यथास्या ज्यातीषि गच्छन्ति । शिखादित्यो भवति । आविष्टो रसान् । आविष्टो भास ज्योतिषाम् । आविष्टो भासेति वा । अथ द्यौ । आविष्टा ज्योतिर्भि पुण्यकृद्भिश्च ।

नभ आदित्यो भवति । [नेता रसानाम् ।] नेता भासाम् । ज्योतिषां प्रणयः । अपि वा भन एव म्याद्धिपरीतः । न न भातीति वा । एतेन श्रीर्वाग्न्याता ॥ १४ ॥

अर्थ—(न च) नहीं निश्चय से (अमुम्) उम [द्यौ] लोक को (जग्मुषे) गए हुए के लिए, कुछ भी दुःख=अमुम् ।

नहीं उम लोक को गए हुए के लिए कुछ भी अमुम् । पुण्यकर्मा ही कहा जाते हैं ।

गोः, आदित्य होता है । पहुँचाता है रमो को [अन्तरिक्ष मे] । चलता है अन्तरिक्ष मे । अब द्यौः [गोः इम वारण है] कि पृथिवी मे ऊपर दूर गई हुई है । और जो इम मे गह और नक्षत्र गमन करने है, [इम वारण भी] ।

विष्टप् आदित्य होना है । (आविष्टः) प्रविष्ट होता है, रमो को [रश्मियो द्वारा] । प्रविष्ट होता है प्रकाश को ग्रह, नक्षत्रों के । प्रविष्ट हुआ है प्रकाश द्वारा अथवा ।

और द्यौः, प्रविष्ट हुई हुई है [नक्षत्र और ग्रह रूपी] ज्योतियों मे, और पुण्यकर्मा [आत्माओ मे] ।

नभः आदित्य होता है । ले जाने वाला रमो का, ले जाने वाला प्रकाशों का । ग्रहों और नक्षत्रों का (प्रणयः) चालक अथवा मिलन स्थान । अथवा भन ही होवे, उलटा हुआ । नहीं, नहीं चमकता अथवा । [अवश्य प्रकाशित=चमक वाला है ।] इम से द्यौः की व्याख्या की गई ॥ १४ ॥

भाष्य—आदित्य अन्तरिक्ष मे जाता है । आदित्य की गति द्यौ के निचले भागों और अन्तरिक्ष में है । द्यौ तथा नभ सदा चमकते हैं । हम रात्रि में भी द्यौ को चमकता हुआ देखते हैं । इम का कारण द्यौ में फैली रश्मियाँ हैं । ये रश्मियाँ द्यौ के बनते समय ही इस मे फैल गई थीं । शतपथ ब्राह्मण काण्ड ६ में इस का स्पष्ट वर्णन है । पाश्चात्य साइन्स वालों का अनुमान है कि नष्ट होने वाले नक्षत्रों के आणविक विस्फोटों से ये रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं । यह असिद्ध अनुमान है । १४ ॥

रश्मिनामान्युत्तराणि पञ्चदश । रश्मिर्यमनात् । तेषामादितः साधारणानि एवाश्नरुक्तिरिति ।

दिङ्नामान्युत्तरागयष्टी । दिशः कम्मान् । दिशतेः । आसदनात् ।
 अयि याम्यशनात् । तत्र काष्ठा इत्येतद्नेकस्यापि सचरस्य [नाम]
 भवति । काष्ठा दिशो भवन्ति । कान्वा स्थिता भवन्ति । काष्ठा उपदिशो
 भवन्ति । इतरेतर कान्वा स्थिता भवन्ति । आदित्योऽपि काष्ठोच्यते ।
 कान्वा स्थितो भवति । आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते । कान्वा स्थितो
 भवति । आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते । कान्वा स्थिता भवन्ति ।
 इति व्याचरणम् ॥ १५ ॥

अर्थ—रश्मियों के नाम [हैं] अगले पन्द्रह । रश्मि. (यमनात्)
 नियमन करने में, [वर में रखने से] । उन में के आरम्भ में नामके [हैं]
 पाँच, चौड़े की राशियों के साथ ।

दिशाओं के नाम [हैं] अगले आठ । दिशः किम कारण से । दिशति
 [अगुनि से] बनाना है, (आसदनात्) [प्रत्येक क] समीप होने से
 [अथवा] आ+सदनात् चारों ओर से [तुषार, दिग्गज और लोकपाल
 आदिकों के] सदन होने के कारण । अथवा चारों ओर से व्यापने से ।
 (तत्र) उन [आठ नामों में] काष्ठा, यह अनेक ही पदार्थों का नाम होता
 है । काष्ठा दिशाएँ होती हैं । [सब के पास] पहुँच कर ठहरी होती हैं ।
 काष्ठा उपदिशाएँ होती हैं । एक दूसरे को पहुँच कर अथवा उल्लास कर
 ठहरी होती हैं ।

आदित्य भी काष्ठा कहा जाता है । सर्वत्र घूम कर [अपनी राशि में]
 ठहरा हुआ होता है । (आजि अन्त) दौड़ की सीमा का अन्त अथवा बाण
 के मार्ग का अन्त भी काष्ठा कहा जाता है । पूरा मार्ग चल कर ठहरा हुआ
 होता है । आप. भी काष्ठा कही जाती हैं । सम्पूर्ण मार्ग चल कर [समुद्र में
 अथवा मूर्ध म] ठहर जाती हैं । यह [है निर्वचन] स्यावर [आप]
 का ॥ १५ ॥

भाष्य—आदित्य सहस्ररश्मि है । उन सहस्र रश्मियों में से यारह ने अपने
 निवर्ण में केवल १५ रश्मियों के नाम ही पड़े हैं । हम ने वेद विद्यानिर्दर्शन
 के आदित्य प्रकरण में सहस्र रश्मियों का विभाग और अन्य अनेक रश्मियों के
 नाम भी दिए हैं । अथ-रश्मियाएँ एक ओर पृथिवी पर के अथ स सम्बन्ध रखती
 हैं, और दूसरी ओर अन्तरिक्ष में जो सूर्य रथ आदि के अथ हैं, उन से भी
 सम्बन्ध रखती हैं । वेद पढ़ने वालों को दोनों का ही ध्यान रखना चाहिए ।

दिशाएं अन्तरिच में हैं। इन्हीं के कारण ये लोक स्तम्भित हैं। काष्ठा भी दिङ्नामों में है। काष्ठा के निर्वचन से व्युत्पत्ति और निर्वचन का भेद भले प्रकार समझ में आता है। काष्ठा पद के दो भाग किए गए हैं—का+स्था। पुनः का से कान्त्वा, और स्था से स्थिता भाव लिया है। यहां अर्थ का प्राधान्य पूर्ण स्पष्ट हो जाता है।

आजि—दौढ़ की अन्तिम सीमा। फारसी भाषा में वाज़ी। आपः भी काष्ठा हैं। उन का यह अर्थ अगली श्रृक् में है ॥ १५ ॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।

वृत्रस्य निणयं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम् आशयदिन्द्रशत्रुः ॥

[ऋ० १। ३२। १० ॥]

अतिष्ठन्तीनाम् । अनिविशमानानाम् । इत्यस्थावराणाम् । काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् । मेघः । शरीरं शृणातेः । शम्नातेर्वा । वृत्रस्य । [निणयं] निणयिम् । विचरन्ति विजानन्त्याप इति । दीर्घं द्राघतेः । तमस्तनोतेः । आशयत् आशेतेः । इन्द्रशत्रुः । इन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा । तस्मात् इन्द्रशत्रुः । तत्को वृत्रः । मेघ इति नैरुक्ताः । [त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः ।] अपां च ज्योतिषश्च मिथीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति । अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च । विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयांचकार । तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिर आपः । तदभिवादिनी एषा ऋग्भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—न ठहरती हुई, (अनिवेशनानाम्) न निवेशन करती हुई अर्थात् न बैठती हुई, (काष्ठानाम्) आपः के मध्य में, स्थापित हुआ हुआ, अथवा गुप्त रूप से रखा हुआ (शरीरम्) मेघ। वृत्र की (निणयम्) नीची हुई अथवा झुकी हुई अवस्था को (वि चरन्ति) खूब जानती हैं (आपः) आपः। गहरे अन्धकार में (आशयत्) सोता है (इन्द्रशत्रुः) इन्द्र है शत्रु (=शातयिता=नाश करने वाला) जिस का, अर्थात् वृत्र।

न ठहरती हुई, (अनिवेशनानाम्) न बैठती हुई, यह (अस्थावराणाम्) चलायमान [आपः का कथन है, ऐसी] (काष्ठानाम्) आपः के मध्य में गुप्त रूप से रखा हुआ शरीरम्=मेघ, है। शरीर शृणाति से। शम्नाति से अथवा। वृत्र की नीची हुई अवस्था को, विशेष रूप से

आननी है आप । दीर्घ द्राघति से । तमः तनोति मे=कैलना है । आनयन्= आगेते=मोता है, इन्द्रशत्रु । इन्द्र [है] इस वा शमयिना वा शातयिता वा= मारने वाला । इस लिए इन्द्रशत्रु ।

तो कौन वृत्र [है ।] मेघ है, यह नैरुक्त [कहते हैं ।] त्वष्टा का पुत्र अमुर [है,] यह ऐतिहासिक [कहते हैं ।] आप के और ज्योनियो के मिश्रित क्रिया-कर्मों से वर्गकर्म उत्पन्न होता है । (तत्र) ऐसे प्रकरणों में उपमा घटाने के निमित्त मे [मन्त्रों में] युद्धवर्णा = युद्धों के रूपक होते हैं । [वृत्र के सदृश] अहि=वर्ष मान कर भी मन्त्रवर्ण और ब्राह्मणवाद हैं ।

अत्यन्त वृद्धि से शरीर की [आप के] गीतों को (निगरयां चकार) रोक दिया । उन के मारे जाने पर (प्र सस्यन्दिरे) वह निकले आप । इस अभिप्राय को कहने वाली यह श्रृंख होती है ॥ १६ ॥

भाष्य—(अतिष्ठन्तीनां काष्ठनाम्) न ठहरती हुई आप । आप परमाणु अग्नि के योग से पृथिवी से उठ कर आदित्य तक पहुँचते हैं । वे कहीं भी ठहरते नहीं । उन की गति निरन्तर होती रहती है । अग्नेवेद में अन्वय भी कहा है—तेमा आपो अनिमिष चरन्ती ते क्षत्रम् आपु । १ । २४ । ६ ॥ नहीं वे आप सतत चलती हुई भी तेरे वृत्र को दे वरण प्राप्त होतीं ।' यही आप पुन आदित्य से लौटती हैं । वे ही मध्यम स्थान में मेघों की सृष्टि करती हैं । मेघ और वृत्र में कोई अति सूक्ष्म भेद है, उसे हम अभी तक नहीं समझ सके । सृष्टि बनते समय दीर्घ=बहुत फैला अन्धकार कैसा था और अब भी अन्तरिक्ष म वह कैसा है, यह भी हम नहीं जानते । आप परमाणुओं का स्वरूप भी एक जटिल विषय है । गैलनर (Geldner) ने काष्ठनाम् का उल्लेख streams of water किया है । आप का अर्थ water सर्वत्र नहीं है । जल में भार है, पर मूल आप भार रहित हैं । अत काष्ठाना का अर्थ "आप का" ही अधिक ठीक है ।

अति प्राचीन संस्कृत में दीर्घ और द्राघ दो शृणक् पद थे । यास्क ने द्राघ के साथ दीर्घ का सामोप्य मात्र दिखाया है । "आद्रोऽसुर" पाठ निरुक्त के लघुपाठ में नहीं है । इस ऐतिहासिक अर्थ में भी आधिभौतिक अर्थ ही प्रधान है । त्वष्टा एक आधिभौतिक वस्तु है और उस का पुत्र अमुर अर्थात् वृत्र भी वैसा ही है । मानव इतिहास के वृत्र का वैदिक वृत्र से अलुमात्र भी सम्बन्ध नहीं है । वृत्र-काथा दक्षिण अस्मद्विहित, वेदविज्ञाननिदर्शन पृ० ३२०—३३१ पर ।

अपां और ज्योतिः का मिश्रण ही जगद् व्यापार का आधार है । इसी लिए शान्तिपर्व २६४ । ३३ में कहा है—अग्नीषोमाविद् सर्वम्, इति । यहां सोम से सम्पूर्ण प्रकार के आपः का अभिप्राय है । वेदों में इन्द्र-वृत्र युद्ध को बहुधा रूपकालङ्कार में वर्णित किया है । शतपथ ब्राह्मण में प्रवचन है—
नैतदस्ति यदैवासुरम् ।^१ इस विषय में राजवादे लिखता है—Neither the Mantras nor the Brāhmanas support the naturalistic explanation of Vritra given by the Nairuktas. अर्थात्—मन्त्र और ब्राह्मण इन्द्र वृत्र युद्ध के आधिभौतिक व्याख्यान की पुष्टि नहीं करते । इस से अधिक व्यर्थ लेख राजवादे ने इस से पूर्व किया है—अर्थात् मन्त्रों में तो वृत्र को अहि कहा है, but this can not be said about the Brāhmanas. (p. 372) पर ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं । राजवादे ने शतपथ ध्यान से नहीं पढ़ा । वहां प्रवचन है—अथ यद् वर्तमानः समभवत् तस्माद् वृत्रः । अथ यद् अपात् समभवत् तस्माद् अहिः । १।६।३।६ ॥ वृत्र और अहि उत्पत्ति और अवस्था भेद से एक ही पदार्थ हैं । इस प्रकार राजवादे का पहला लेख भी वेदार्थ में बोध न होने के कारण है ।

आपः स्रोत भी स्पष्ट रूप से जानने चाहिएं । वृत्रवध पर आपः वह निकले । यह घटना सृष्टि बनते समय की है । अगली ऋक् में उसी का कथन है ॥ १६ ॥

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्टन्निरुद्धा आपः पण्णिव गावः ।

अपां विलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्वार ॥

[ऋ० १ । ३२ । ११ ॥]

दासपत्नीर्दासाधिपत्यः । दासो दस्यतेः । उपदासयति कर्माणि । अहिगोपा अतिष्टन् । अहिना गुप्ताः । अहिरयनात् । पत्यन्तरिक्षे ।

अयमपीतरोऽहिरंतस्मादेव । निर्हंसितोपसर्गः । आहन्तीति । निरुद्धा आपः पण्णिव गावः । पण्णिवणिग्भवति । पणिः पणनात् । वणिक् पण्यं नेनेक्ति । अपां विलमपिहितं यदासीत् । विलं भरं भवति । विभर्तः । वृत्रं जघ्नवान् । अपववार तत् । वृत्रो वृणोतेर्वा । वर्ततेर्वा । वर्धतेर्वा ।

यदवृणोत्तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विश्वायने । यदवर्त्तत तदु वृत्रस्य
वृत्रत्वमिति विश्वायते । यदवर्धनं तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विश्वायते ॥१७॥

इति द्वितीयाऽध्यायस्य पञ्चम पाद ॥

अर्थ—दासा की=उपधीणा की पत्निया=मानना करने वालीया अहि
से छिपाई हुई ठहरी । [ये थी] रकी हुई आप [जैने रकी हुई]
(पणिना इव) पणि द्वारा जैसे गौर् [रोकी जाती हैं ।] आप का बिल=
भरा हुआ स्थान [अपिहित] ढका हुआ जो था, वृत्र को (जघ्नान्)
मारा [और] (तन्) उस [बिल=द्वेद को] (अप ववार) खोल दिया
[इन्द्र ने ।]

दामपत्री=दामाधिपत्य । दास दस्युनि स । उपधीण=ममाप्त करता है
कर्मों को । अहि=मघ से गुप्त की गई ठहरी । अटि अघनात्=गति शील
होने स । चल्ना है अन्तरिक्ष म । यह भी दूसरा अटि=मर्ष इस कारण
म ही । [अहि का अ] (निर्हामित+उपमर्ग) ह्रस्व हुआ [आ] उपसर्ग
[है ।] मार देता है । रकी हुई आप , पणि म [रोकी गई] जैने गौए ।
पणि वणिक होता है । पणि (पणनात्) व्यापार करने से । वणिर्
(पणयम्) व्यापार योग्य वस्तु को (नेनेत्ति) निर्मल अथवा पुष्ट
करता है । आप का छुद ढका हुआ जो था । बिल=भर=भरा आ होता
है । विभर्त्ति स । वृत्र को (जघ्नान्) मारा और [उसे] (अप-ववार)
खोल दिया । वृत्र वृणोति से अथवा, आच्छादित करता है=टापता है ।
वर्त्तने=होने म=वर्त्तने से अथवा । वर्धते से बढ़ने से अथवा ।

जो आच्छादित कर दिया [अन्तरिक्ष को, वा उदक को] वही वृत्र का
वृत्रपन है, यह विज्ञान [ब्राह्मण ग्रन्थ स] जाना जाता है । जो हुआ
[=उत्पन्न हुआ] वही वृत्र का वृत्रपन है यह जाना जाता है । जो बढ़ा
वही वृत्र का वृत्रपन है, यह जाना जाता है ॥ १७ ॥

भाष्य—प्रस्तुत मन्त्र में आप दासपत्निया हैं और अग्वद की एक
दूसरी एक म वे अयपत्निया हैं—योऽर्धपत्नी अकृणोन् इमा अप ।
१० । ४३ । ८ ॥ त्रिन की पत्निया आप हैं उन को मनुष्य मानना पराकाष्ठा
की मूर्खता है । एष सुस्पष्ट आधिभौतिक प्रकरणों से मानव इतिहास निकालना
बुद्धि-मान्य का फल है ।

दास पद के विषय में मैकडॉनल लिखता है—

The term dāsa or dasyu, properly the name of the dark abori-gines, is frequently used in the sense of fiend to designate the aerial demons.

दास कृष्ण वर्ण आदिवासी थे, इस का क्या प्रमाण है । निःसन्देह इस मिथ्या कल्पना का मूल एक दूसरी मिथ्या कल्पना है । अर्थात् भारत में आर्य बाहर से आए, और उन से पूर्व यहां कोई आदिवासी थे । यह भी कल्पना मात्र है और ईसाई लेखकों ने भारतीय इतिहास को दूषित सिद्ध करने के पद्यन्त्र के फलस्वरूप इसे प्रवृत्त किया था ।

अहि स्पष्ट वृत्र है । उस के कारण आपः (निस्तदाः) रुके हुए (अतिष्ठन्) ठहरे । फिर अन्तरिक्षस्थ दास कौन हैं । वे अहि अथवा मेघ का कोई भेद हैं । परिणः=वणिक् । संस्कृत में अनेक प्रकार वाले पदों का वकार वाला रूप भी ठीक होता है । इसी का पंजाबी-हिन्दी में घनियां रूप भी है । phoenician जाति व्यापारी जाती थी । उस का नामकरण इसी वैदिक पद के विकृत रूप से हुआ । परिण अन्तरिक्षस्थ असुरों के साथी हैं । वे गावः=रश्मियों को रोकते हैं । यह मन्त्रों में दूँडना चाहिए । असुरों का अग्निः पावकिः सहस्रजः है । ब्र० पु० पृ० भा० १२ । १, ६ ॥ वह अन्तरिक्ष स्थानी है ।

नेनेक्ति—ऐसे रूप पुरातन काल में बहुत प्रयुक्त होते थे । मनुस्मृति में—
निर्णेजक=धोधी, तथा शतपथ ब्राह्मण में—‘नेनिजानस्य’ रूप मिलते हैं ।

वृत्र पद के तीन अर्थ ब्राह्मण वचनों द्वारा दिखाए गए हैं । वे सारे ही ठीक बैठते हैं । पाश्चात्य लोग अहि का dragon अर्थ करते हैं । उन्होंने आधिभौतिक पक्ष समझा ही नहीं । राजवाड़े ने भी वैसी भ्रान्ति में लिखा—All this shows that the Panis were rich and that they were envied by others. They were considered misers because they were not generous to the Aryas. कैसे भड़े परिणाम हैं । वेद को इन लोगों ने खिलवाड़ समझ लिया है ।

वृत्र कैसे आच्छादित करता है, और वह बढ़ता कैसे है, इस के लिए वेदविद्या-निर्देशन का पूर्व-निर्दिष्ट स्थान देखें ॥ १७ ॥

रात्रिनामान्युत्तराणि त्रयोविंशति । रात्रि कश्मात् । प्रत्ययति
भूतानि नक्त वाराणि । उपरमयर्तनराणि ध्रुवीकरोति । रात्र्या म्वात्
नानकर्मण । प्रदीयन्तऽभ्याप्रश्रयाया ।

उपो नामान्युत्तराणि पादश । उपा कश्मात् । उच्चृतीति सत्या ।
रात्ररपर काल । तस्या एषा भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—रात्रि क नाम [है] अगन तइम । रात्रि क्रिम स । सूव रमण
करणी ^३ आनन्द दनी है प्राणिया को [आ] नक्तचारी=रात्रि के समय
विधरन है । (उपरमयति) उपराम करती है विधाम करती है दूसरा
को अथान् निश्चल कर देती है । रात्रि म अथवा होन दन अथ वान से ।
वन निग जान * इम म (अश्रयाया) आम क समूह ।

उपा क नाम [है] अगन मोलह । उपा क्रिस म । निवारणी है
विकामिन करती है [अचवार को] इम प्रकार हाने पर । रात्रि का उत्तर
काल [उपा है ।] उस को यह [अत्] होती है ॥ १८ ॥

भाष्य—अश्रयाय का विद्वत रूप दिग्गो पताभी का मोल शब्द है ।
रात्रिवादे यास्क-यथुक्त रात्रि रूप का modern=नवीन और रात्री को जर्मैदिक
मानता है । (१ ३ ७) ।

रात्रिवादे की मूल का कारण वाक्यार्थाल की अन्ति है । (3p 183)

रात्रि और रात्री दोनों रूप प्राचीन हैं । अनेक शब्द इस्व म और दीर्घ आ
वाज दोनों रूप रखते हैं । यथा—उपनयन=उपनायन ; इसी प्रकार अनेक शब्दों
के इस्व इ और दीर्घ ई के दोनों रूप प्राचीन हैं ।^१ यास्क के सम्मुख ता अशब्द की
भी अनेक शाखाएँ थीं । उन म रात्रि रूप भी अवश्य था । यास्क राजवादे स
हाला गुहा वास्य था । वह अभावधान नहीं था । शिवा और शीवा दोनों रूप
प्राचीन हैं ।

दक्षिण योनि क योनी रूप कामन पुराण ३६ । २३ में और रात्रि का
रात्री रूप श्रीखरह्रियी ६ । ७८ में मिलता है । द्विरूप कोशों में ऐसे बहुत
शब्द हैं ।

१ देखो, वैदिक वेरिण्डस, भाग ३ पृ० ७६ ।

२ देखो वृद्धिरादिकिन ' गणपुत्र ४ । १ । ४५ काशिका ।

अतः निश्चित है कि रात्रिः रूप भी प्राचीन है । संस्कृत-भाषा के साधु शब्दों की रक्षा करने वाले ऋषि, मुनि ईसाई वाकनांगल और ब्लूमफील्ड की अपेक्षा अपने इतिहास को कहीं अधिक जानते थे । असत्य धारणाओं पर आश्रित 'हिस्टारिकल स्कूल' की मिथ्या कल्पनाएं प्रमाण शून्य हैं ॥ १८ ॥

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकृतो अजनिष्ट विभ्वा ।

यथा प्रमृता सवितुः सवायँ पृथा रात्र्युपमे योनिमारैक् ॥

[ऋ० १।२२३।१ ॥

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागम् । चित्रम् । प्रकृतम् प्रज्ञाततमम् । अजनिष्टम् । विभूततमम् । यथा प्रमृता सवितुः प्रसवाय रात्रिरादित्यस्य । एवं रात्र्युपमे योनिमरिचत् स्थानम् । स्त्रीयोनिरभियुत एनां गर्भः । तस्या एपापरा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—यह श्रेष्ठ ज्योतियों की ज्योति आई है । (चित्रः) सुन्दर, पूजनीय, (प्रकृतः) बहुत जाना गया अथवा अति प्रकाशयुक्त (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है (विभ्वा) महान् [हृदय का जान ।] जैसे उत्पन्न हुई । सविता के (सवाय) उत्पन्न होने के लिए, रात्रि, वैसे ही उपा के लिए (योनिम्) स्थान को (आरैक्) छोड़ती है ।

यह श्रेष्ठ, [नक्षत्र, ग्रह आदि] ज्योतियों की [भी] ज्योति [उपा] आई है । पूजनीय, बहुत जानने गए को उत्पन्न किया अति महान् [दृश्य अथवा ज्ञान] को । जिस प्रकार उत्पन्न हुई रात्रि सविता के जन्म के लिए [स्थान देती है ।] सवितुः=आदित्यस्य । उसी प्रकार रात्रि ने उपा के लिए स्थान को (अरिचत्) छोड़ा । स्त्रीयोनिः [भी इसी लिए है], मिला हुआ होता है, इस के साथ गर्भ । उस [उपा] की यह दूसरी [ऋक्] है ॥ १९ ॥

भाष्य—नक्षत्रादिक अनेक ज्योतियों में से उपा की ज्योति प्रशस्यतम है । सवायँ पद संहितापाठ में है । पदपाठ में सवाय है । सायण ने सवायँ में अकार के सानुनासिक होने का नियम दिया है । संहिता में आरैक् पाठ है । पदपाठ में आरैक् है । निस्सन्देह पदपाठकार के सामने कोई अन्य शाखा पाठ भी था । यह भी अकार का वैसा ही दीर्घ रूप है, जैसे उपनयन और उपनायन रूप पूर्व लिखे जा चुके हैं ॥ १६ ॥

मृगदन्ता रुशता ज्येष्ठागादागु कृष्णा सदनायस्या ।
 समानवन्धु अमृत अनुचा द्याया वर्ण चरत आमिनान ॥
 [ऋ० २।२२३।२॥]

मृगदन्ता सूर्यवत्ता । रुशदिनि वणनाम । रोचत-चलनिकमण ।
 मृगमभ्या य-समाह । साह-उयात् । रसहरणद्वा । रुशती श्वत्यागान् ।
 श्वत्या श्वतन । अग्नि-वृष्णा सदनायस्या । कृष्णवर्णा रात्रि ।
 वृष्ण वृष्यत । निरुष्टा वण । अर्धेन समन्तानि । समानवन्धु समान
 वन्धन । अमृत अमरणधर्माणो । अनुचा [अनुच्यो इति] । इतानर
 तमभिप्रत्य । द्याया वण चरत । त एव द्यायो । द्यातनात् । अपि वा
 द्याया उरत । तथा [सह] चरत इति म्यात् । [आमिनान] । आमि-जान
 अन्यो-यस्याध्यामं कुवाण ।

अहनामान्युत्तराणि द्वादश । अह कम्मान् । उपाहरन्त्यसिन्
 कमाणि । तस्यैव निधानो भवति वैश्वानरीयायामुचि ॥ -० ॥

अथ—दीप्ति बान बद्धे वाली स्वय दीप्ति बाला श्वत वण वाली
 [उपा] जाती अथवा आई है । (अरैक उ) रिक्त क्रिया [है] रात्रि ने
 (सदनामि) स्थान (अस्या) हम का । समान वन्धु वालिया [ये रात्रि
 और उपा] (अमृत) मरणरहिता (अनुची) एक दूमरे के पीछे चलने
 वालिया (द्याया) चलोक के साथ [युक्त हुई हुई] अर्थात् नभो भाग में
 चला हुई (वर्ये) [सारे प्राणिया के] रूप को (आमिनान) बनानी हुई ।

दीप्ति बान वस वाली अथान् मय न्यो वम वाली । रुशत् यह वण
 का चमक वा रग का नाम [है ।] रोचति से जा-चल्यमान अर्थ बाल स ।
 मय को हम [उपा] का वस कहा [मन्त्र न] । साहचय=साथ होने से
 रसहरण स अथवा । दीप्ति वाली श्वत रग वाली आई । श्वत्या श्वेनति
 म । (अग्निचत्) रिक्त कर लिए रात्रि ने स्थान हम [उपा] के । बान
 रग वाली रात्रि । कृष्ण वृष्यति से निरुष्ट वण [होता है ।] अब इन
 दोना [रात्रि और उपा] को (सस्तौति) एक साथ स्तुति करता
 है [मन्त्र] । समान वचन में होने वालिया अमरण धर्म वालिया
 (अनुच्यो) एक दूमर के पीछे चलने वालिया [यह कथन] एक दूमरी

को ध्यान में रख कर [है] द्यौं में वर्ण का आचरण करती हुई । वे दोनों ही द्यावौ [हैं] द्योतनात्=चमकने से । अथवा द्यावा चरतः, उस के साथ विचरती हुई, ऐसा होवे । आमिताने=आमिन्ताने, एक दूसरे का गरीर बनाती हुई ।

अहः के नाम [हैं] अगले वारह । अहः किस [कारण] से । (उप+आहरन्ति) ममीय हो कर करते हैं, इस से कर्मों को । उस का यह (निपात)=[प्रधान देवता के वर्णन में गौण देवता का "आ गिरा"]=गौण कथन=नैघण्टुक [कथन है], वैश्वानर [नामक प्रधान देवता] की ऋक् में ॥ २० ॥

भाष्य—उपा का बड़ड़ा सूर्य है । वह उपा को दोहता है । उपा की अपनी रश्मियां हैं (ऋ० १।४६।४) । इन्हीं रश्मियां अथवा ऋषों द्वारा यह उपा क्षणमात्र में सारे लोकों में पहुंचती है । यथा—

यूयं हि देवीऋतयुग्मिभरश्वः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः । (ऋ० ४।२१।२ ॥) ऋतयुक् ऋषों द्वारा सारे लोकों में सद्यः=तत्काल' पहुंचनी है । इन्हीं रश्मियों को सूर्य बत्सवत् दोहता है । इस का पूरा रहस्य समझना चाहिए । क्योंकि उपा पूर्व में प्रकट होती है, और उस के पश्चात् सूर्य भी पूर्व में प्रकट होता है, अतः सूर्य उपा का बत्स कहा गया है । उपा दिव की पुत्री है । द्यौं में भी स्वतन्त्र रश्मियां हैं । उन रश्मियों का उपा की रश्मियों से सम्बन्ध जानना चाहिए । उपा पणियों को सुला देती है । पणयः ससन्तु (ऋ० ४।२१।३) । ये पणि गौश्रों अर्थात् किरणों को रोकते हैं । इस मन्त्र के पदपाठ में भी अरैक् रूप है ।

द्यावा वर्णं चरतः के अर्थ में भाष्यकारों ने अनेक मत दर्शाए हैं ॥ २० ॥

अहश्च कृष्णमहरजुनं च वि वृतेते रजसी वेद्याभिः ।

वैश्वानरो जायमानो न राजावातिग्ज्योतिपाग्निस्तमांसि ॥

[ऋ० ६।६।१ ॥]

अहश्च कृष्णं रात्रिः । शुक्लं चाहरजुनम् । विवृतेते रजसी । वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः । वैश्वानरो जायमान इवोद्यन्नादित्यः । सर्वेषां ज्योतिषां राजा । अवाहन्नग्निज्योतिषा तमांसि ।

१. टेलो—परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः । ऋ० १।११५।३ ॥ परि प्रयाथ और परियन्ति गम्भीर ज्ञान देते हैं ।

मघनामा युत्तराणि त्रिशन् । मघ कस्मात् महतीति सन् । आ
उपर उपल इ पताभ्या माधारण्यनि पवतनामभि । उपर उपलो मजे
भरनि । उपरम तऽस्मिन्नध्याणि । उपरता आध इति वा । तयामया
भवति ॥ २१ ॥

नि और काना [-गत्रि] नि श्वेत और [दोनो] क्रम स बनते
है (रजसी) रञ्जन-प्रमत्त करने वाले जानने योग्य [प्रवृत्तियों द्वारा] ।
वैशानर [अग्नि] उपर होता हुआ (न राजा) जम राजा (अरातिरत्)
दूर करता है (ज्योतिष) प्रकाश द्वारा (अग्नि) = अग्निपुत्र आन्वित्य
(तमासि) अन्वकारो को ।

नि और काना अर्थात् रात्रि सुषुप्त और नि एक दूसरे के पश्चात्
क्रम में बतल है [मय प्राणियों का] प्रमत्त करने वाले जानने योग्य
प्रवृत्तियों द्वारा । वैशानर मानो उदय होता हुआ आदित्य सम्पूर्ण
(ज्योतिषाम्) ग्रह नक्षत्रों का राजा (अवाहन) दूर करता है [यह
आदित्य ह्य अग्नि] प्रकार द्वारा अन्वकारो को ।

मघ के नाम [है] अग्ने तीम । मेघ किस स (महति) सचन करना
है एमा हान हए । (आ) पहले-पहले उपर उपल इन दोना स [अर्थात्
फल्गि तक] माभ है पवत नामों के साथ उपर उपल मघ होता है ।
उप+र उपर [मन्ते] आ कर मलते है इन म अत्र । आ कर एक जात है
आय अथवा । उन की यह श्रुत है ॥ २१ ॥

भाव्य—नि और रात एक दूसरे के पीछे बनते हैं । वह जो सबसर का
महाच्छक है उस में नि के पश्चात् रात और रात के पश्चात् दिन आते हैं । वैशानर
यही आन्वित्य है । व० सम्पूर्ण ज्योतिषों का राजा है ।

निघण्टु में पठित मघ के तीस नामों में १७ सख्या अन्तगत कश्चि तक
सब नाम भूमिस्थ पवन के नामों से साने हैं । अद्रि आदि मघ उपर के पवन
हैं । इन १७ नामों में स अद्रि प्रावा । गोत्र । वल पवत । गिरि ।
वराह शबर नाम बहुत ध्यान देने योग्य हैं । इस ल व के जन विना अन्तक
मन्त्रों का रथ समक में नहीं आ सकता ।

अध्याणि—अग्नि स धूम और धूम स अत्र उत्पन्न होते हैं । यथा—
अग्नेव धूमो जायते । धूमाद् अत्रम् । अध्याट् कृष्टि । स० मा०

५ । ३ । ५ । १७ ॥ यह अत्र आपः का भस्म है । यथा—अभ्रं वा अपां भस्म । श० ब्रा० ७ । ५ । २ । ४८ ॥ धूम=भाप है । उस के पश्चात् अभ्र की दशा है । यह अभ्र मेघ की पूर्व दशा है । क्योंकि, अभ्र शब्द इस का स्वयं उत्तर है—न भ्रष्टयन्ति यतश्चापस्तदभ्रं कवयो विदुः ।^१ अभ्र वह दशा है, जब आपः बिन्दु नीचे नहीं गिरते । इन के विचरने का स्थान अभ्र स्थान है ।^२ इन अभ्रों में वायु के समुदीरण से जब बिन्दुओं का मेहन होता है, वह मेघ दशा होती है । मेहनाच्च मिहेर्धातोः मेघत्वं व्यञ्जयन्ति हि ।^३

वेद पढ़ने वाले को ये सब भेद ज्ञात होने चाहिएं । अंग्रेजी भाषा में अभ्र और मेघ का भेद प्रकट करने वाले शब्द नहीं हैं, अतः अभ्राणि पद का clouds अनुवाद भ्रष्ट है (राजवाड़े, पृ० ३८८) । महान् विद्वान् यास्क ने उपर पद का दूसरा निर्वचन उप+रताः आपः किया है । अर्थात् आ कर रुकते हैं आपः । ऐसे महान् विज्ञानवेत्ता के निर्वचनों को absurd और primitive कहने वाले राजवाड़े^४ और सिद्धेश्वर वर्मा आदि स्वयं absurd लेख करते हैं ॥ २१ ॥

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादिपामुपरा उदायन् ।

त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा वृत्रकं वहतः पुरीषम् ॥

[ऋ० १० । २७ । २३ ॥]

देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्माध्यमिका देवगणाः । प्रथम इति मुख्यनाम । प्रतमो भवति । [कृन्तत्रमन्तरिञ्चं । विकर्तनं मेघानाम् ।] विकर्तनेन मेघानामुदकं जायते । त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः । पर्जन्यो वायुरादित्यः । शीतोष्णवपैरोपधीः पाचयन्ति । अनूपा अनुवपन्ति लोकान्तस्वेन स्वेन कर्मणा । अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेव । अनूप्यत उदकेन । अपि वान्वाविति स्यात् । यथा प्रागिति । तस्यानूप इति स्यात् । यथा प्राचीनमिति । द्वा वृत्रकम् । वहतः पुरीषम् । वायुरादित्या उदकम् । वृत्रकमित्युदकनाम । त्रयीतेर्वा शब्दकर्मणः । भ्रंशतेर्वा । पुरीषं पृणातेः । पूरयतेर्वा ॥ २२ ॥

१. ब्र० पुराण, पूर्व भाग, २२ । २६ उत्तरार्ध ।

२. तथैव, २२ । २४ ॥

३. तथैव, २२ । २६ पूर्वार्ध ।

४. I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd and yet it has held its ground to this day. (p. XL)

अर्ध—देवों के निर्माण [होने के समय] मुख्य टहर [माध्यमिक देवगण ।] (वृन्तप्रान्) कटने वा छेदन में इन के (उपरा) मेघस्य उदक (उदायन्) आ निकले । तीन तापने हैं पृथिवी को (अनूपा) [लोकों को] अनुवपन करने वाले देव । दो उदक को उठा ले जाने हैं । पुरीय स्पी उदक को ।

देवों के बनाए जाने में प्रथम टहरे माध्यमिक देवगण । प्रथम यह मुख्य का नाम [है ।] सब से अच्छा होता है । [वृन्तप्र, यह अन्तरिक्ष है । कटना मधो का इस अन्तरिक्ष में)] कटने में मघा के उदक उत्पन्न होता है । तीन [देव] तापन हैं पृथिवी को (अनूपाः) अनुवपन करने वाले । पर्जन्य, वायु, आदित्य । शीत, उष्ण और वर्षा में, ओषधियों को पकाने हैं । अनूपा, अनुग्रह करने हैं लोकों पर अपने अपने कर्म में । यह भी दूसरा अनूप=नदी वा समुद्र के पास का देश-विशेष इस कारण से ही । अनुग्रहीत किया जाता है उदक से । अथवा (अन्वाप) चारों ओर आपस चिरा, एमा हा । जैसे प्राक् इति । उसी का अनूप यह हो । जैसे प्राचीन यह । (द्वी) दो (वृक्कम्) उदक को बहा कर ले जाने हैं पुरीय को । वायु आदित्य उदक को बहा कर । वृक्क यह उदक का नाम [है ।] ब्रवीति में शब्द अर्थवान में । अंशति में अथवा । पुरीय पृणाति से, प्रत्यति में अथवा ॥ २२ ॥

भाष्य—देव सृजन—वेद के आधिदैविक पक्ष की विभूति देवविद्या में है । ' ये देव प्रजापति=हिरण्यगर्भ की सन्तति हैं । इस सृजन का क्रम मन्त्र और ब्राह्मण में है । ऋग्वेद कहता है—

अवांशेवा अस्य विसर्जनेन । १० । १२२ । ६ ॥

इस [प्रकृति से हिरण्यगर्भ=पुरुष=प्रजापति तक] के विसर्जन=विमर्ग के पश्चात् देव उत्पन्न हुए ।

इसी घटना को जैमिनि ब्राह्मण में और भी स्पष्ट रूप में कहा है । यथा— प्रजापतिवां इमान् लोकान् इमा दिशोऽसृजन । तान् सृष्ट्वा उभयान् देवान् असुरान् असृजन । ३ । ३४ । ॥ अर्थात् प्रजापति=पुरुष ने इन लोकों को और इन दिशाओं को [अन्तरिक्ष में] उत्पन्न किया । उन को उत्पन्न कर के दानों देव और असुरों को उत्पन्न किया ।

निरुक्तस्थ मन्त्र में देव-उत्पत्ति के विषय में कहा है कि देवों के यन्त्रे समय माध्यमिक देवगण मुख्य थे। लक्ष्मणसरूप-पाठ में माध्यमिकाः रूप है। और इस का कोई पाठान्तर नहीं। पर राजवादे के संस्करण में माध्यमिकाः पाठ है। मध्यस्थावस्थ देवगणों में निरुक्त ११ । १३-२१ के अनुसार मरुतः, रुद्राः, अभवः, अङ्गिरसः, पितरः—आदि हैं। यम भी माध्यमिक है (निरुक्त ११ । १८)। और यम का सादन ही देवमान है (ऋ० १० । १३५ । ७)।

इन मरुतों की माया से वृष्टि होती है। मेघ-निकर्तन वायु आदि के द्वारा होता है। तीन अनूप पर्जन्य, वायु और आदित्य हैं। वे शीत, उष्ण और वर्षा से ओषधियों को पकाते हैं। वायु से शीत, आदित्य से उष्ण और पर्जन्य से वर्षा होती है। पर निरुक्त पाठ में पर्जन्य, वायु, आदित्य से शीत, उष्ण, वर्षा का लेख अनुक्रम से नहीं मिलता। अनुक्रम के अनुसार वायु, आदित्य और पर्जन्य कहा जा सकता था। निकर्तन शब्द किसी विशेष क्रिया का बोधन कराता है। उसे यत्न से समझना चाहिए।

इस पर राजवादे लिखता है—Yaska most probably wrote वर्षशीतोष्णैः and not शीतोष्णवर्षैः; Durga has वर्षादिभिः which stands for वर्षशीतोष्णैः (p. 390)। परन्तु यह अनुमान सर्वथा हेय है। शौनककृत बृहद्देवता श्र० ७ का लेख भी निरुक्त-लेखवत् ही है। यथा—

शीतोष्णवर्षदातारः पर्जन्यानिलभास्कराः । २८ ।

इस पर कोई पाठान्तर भी नहीं है। अतः अनुक्रम न होने का कोई अन्य कारण है। वह अन्वेषणीय है।

• वृचूकं पुरीषम्—दुर्ग ने पुरीषं=प्रीणयित् प्रूरयित् वा, अर्थ किया है। स्कन्द ने पुरीषम्—प्रीणनं प्रूरणसमर्थं वा वह्नित्यर्थः, ऐसा अर्थ लिखा है। पुरीष पद का अपना अर्थविशेष है। वह अत्र देखते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में पुरीषं वृचूकं का विशेषण है। अन्यत्र यह अग्निः का भी विशेषण है। यथा—अग्नेयः पुरीषिणः। कवि० सं० ३५ । ३ ॥ तथा—अग्निं पुरीष्यम् अङ्गिरस-वदाभर। मै० सं० २ । ७ । २ ॥ पुनः यह मरुतः का भी विशेषण है। यथा—मरुतः.....यूयं वृष्टिं वर्षयथ पुरीषिणः। ऋ० ५ । ५५ । ५ ॥

पुरीषं वा अग्नेरायतनम् अङ्गिरस एतमग्रे समभरत्। मै० सं० ।

३ । १ । ३ ॥

समानं वै पुरीषं च करीषं च। श० ब्रा० २ । १ । १ । ७ ॥

स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ० २३२ पर करीब=शुष्कगोमयम् । पाठ है । ताण्ड्य ब्राह्मण ८ । २ । ४ । ६ में प्रवचन है—गोष्ठ पुरीषम् । इस पद के लिए वेदविद्यानिर्देशन पृ० १२०, १२१ भी देखें ।

इन सब प्रसङ्गों को ध्यान से देख कर यह निश्चय होता है कि पुरीष का सम्बन्ध अग्नि से अवश्य है । अतः अग्नि अथवा विद्युत् का कोई रूप पुरीष है । उन पुरीष=विशेष आग्नेय परमाणुओं को धारण करने वाले उदक शूक्ल पुरीष है । वैदिक ज्ञान अद्वितीय है । पर तु स है कि वह आज भूल सा रहा है । वायु और आदित्य की रश्मियों के योग से उदक अन्तरिक्ष से बहता हुआ भूमि पर आता है ।

वाङ्नामान्युत्तगणि सप्तपञ्चाशत् । वाक्स्मात् । वचे । तत्र सरस्वतीभ्येतस्य नदीचतुर् देवतायश्च निगमा भवन्ति । तद्यद् देवताउदु-परिष्ठात्तद् व्याख्यास्यामः । अर्धेनघदीयत् ॥ २३ ॥

अर्थ—वाक् के नाम [है] अग्ने स्तावन । वाक् किम मे । वचे = वच धानु से । इन में सरस्वती [जो २२ वा नाम है] उन के नदी के समान और देवता क समान निगम होने हैं । तो जो देवता के समान हैं, ऊपर [११ । २७ में] व्याख्या करेंगे । अब यह नदी के समान [है] ॥ २३ ॥

भाष्य—संस्तुत वाङ्मय के इतिहास के उत्तर काल में वच धानु के रूपों को उच्यते आदि के आदेश कैसे माने गए, यह स्तोत्रना आदिषु । यह स्तावन प्रकार की वाक् अन्तरिक्ष में सर्व प्रथम उच्चरित हुई । इस के स्तावन प्रकारों के भेद जब तक मन्त्रों में न आए, तब तक मन्त्रों का यथार्थ अभिप्राय समझ में नहीं आ सकता । श्लोक विजिन्, मदी, अरिति, अनुष्टुप् आदि अनेक नाम अपना अपना स्वरूप रस्ते हैं । ये विभिन्न वाचिणी देवों द्वारा प्रकट की गई । यथा—देवो वाचम् अजनयन्त देवा । ऋ० ८ । १०० । ११ ॥

इस प्रसङ्ग में राजवादे लिखता है—

Yaska does not quote a Rik in which सरस्वती means speech, " सरस्वती meaning speech is a modern word (p 393) अर्थात्—वाक् अर्थ वाके सरस्वती शब्द की कोई ऋक्

नहीं, प्रत्युत यह शब्द आधुनिक है । भारत-युद्ध का पूर्ववर्ती यास्क राजवाड़े के समान अज्ञानी नहीं था, जो इतना भी न जानता । यास्क तो शब्दार्थ के नित्यत्व का ज्ञाता था । अरे राजवाड़े, मेरे द्वारा सन् १६२६ में प्रकाशित वैदिक कोष को ही देख लेते, तो ऐसा अनृत लेख न करते । देखो—वाक् सरस्वती । श० ब्रा० ७ । ५ । १ । ३३ ॥ और इस से पूर्व के ऐतरेय ब्राह्मण में—वाक् तु सरस्वती ३ । १, चाग्रेत्र सरस्वती २ । २४, चाग्नि सरस्वती ३ । २ ॥ ईसाई-यहूदी लेखकों का उच्छिष्ट-भोजी होने से राजवाड़े की यह गति हुई है ।

पूर्व खण्ड २२ में माध्यमिक देवगण का उल्लेख हुआ है । इस खण्ड २३ में उन्हीं से उत्पन्न की गई मध्यम स्थान वाली वाक् का उल्लेख है । इस वाक् की सृष्टि-उत्पत्ति में कैसी माया है, इस का संक्षिप्त वर्णन पूर्व पृष्ठ २, ३, तथा ६१ पर किया गया है । यह छन्दोमयी वाक् सब लोकों में विचित्र क्रिया कर रही है ।

ऋग्वेद स्वयं कहता है—अर्को वा श्लोकमाधोपते दिवि । प्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्यः । १ । २३ । ६ ॥ अर्थात् अर्क=स्तुतिकर्ता श्लोक को=मन्त्रमयी वाणी को आधोपित करता है, श्लोक में । प्राव जहां बोलता है स्तोता जो उक्थ्यः=प्रशस्य है । यह दिव्य वाणी की महिमा है । २३ ॥

इयं शुष्मेभिर्विसखा इवारुजत्सानुं गिरिणां तविपेभिर्रुर्मिभिः ।

पारावतघ्नीमर्वसे सुवृत्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः ॥

[ऋ० ६ । ६१ । २ ॥]

इयं शुष्मेः शोपरौः । शुष्ममिति बलनाम । शोपयतीति सतः । विसं विस्वतेभेदनकर्मणः । वृद्धिकर्मणो वा । सानु समुच्छ्रितं भवति । समुच्चन्नमिति वा । महद्भिर्रुर्मिभिः । पारावतघ्नीं पारावारघ्रातिनीम् । पारं परं भवति । अवारमवरम् । अवनाय सुप्रवृत्ताभिः [शोभनाभिः] स्तुतिभिः सरस्वतीं [नदीं] कर्मभिः परिचरेम ।

अर्थ—इस [सरस्वती] ने [अपने] बलों से, (विस+खा इव) विस को खोदने वाला जैसे [विस को अनादर से=सरलता से उखाड़ता है, वैसे] (अरुजत्) भंजन किया, तोड़ा (सानु गिरिणाम्) चोटी को गिरियों की, (तविपेभिः) महती (रुर्मिभिः) तरङ्गों से (पारावतघ्नीम्)

ymn (x. 75, 2.4. 6), and the Vipis' and the Śutudri, sister streams of the Panjab, in another (iii. 33). The most important and oftener lauded is, however, the Sarasvati (vi. 61, vii. 95). (Vedic Reader, p. xx).

यहां तो मैरजानल और उस के ईर्षार्द-यहूदी गुट वाले लेखकों ने वेद के द्वापों को भोग्य दिया है । मैरजानल ने जब बृहदेवता और सर्वानुकमणी का सम्पादन किया तो यह अवश्य जानना था कि वेद में स्तुति की गई नदियां अन्तरिक्ष हैं ।

ऋग्वेद की एक श्रक् का जो निरुक्त १० । ४४ में उद्धृत है, अर्थ है—
 द्वापः में उपलब्ध शक्ति की स्तुति गाता हूं, जो (बुधने) अन्तरिक्ष में नदियों के उदक में ठहरता है ।

बृहदेवता और सर्वानुकमणी का मूल निरुक्त है । निरुक्त में सरस्वती नदीवत् और देवतावत् दोनों प्रकार से स्तुत है । निरुक्त के उपस्थित प्रकरण में वह नदीवत् है । यह प्रकरण माध्यमिक देवगणों का है । उस में मैघ, वाक्, उदक, नदी और अश्व नाम पदे हैं । ये सब मध्यमस्थानी हैं । और इस से बढ़ कर प्रचल प्रमाण यह है, कि निरुक्त में जहां सरस्वती की देवतावत् स्तुति है, यहां (निरुक्त ११ । २५) का सारा प्रकरण मध्यमस्थानी देवताओं का है । तब मध्यस्थानी देवता अथवा नदी को terrestrial deity = भूमिस्थ देवता कहना परा-काष्ठा का धोखा देना है । मैरजानल ने बृहदेवता के अनुवाद में भी भ्रान्ति उपलब्ध की है । बृहदेवता १ । ६६ का अर्थ है कि जहां आग्नेय सूक्त है, वह पार्थिव अग्नि का है, जहां जातवेदस्य = जातवेद देवता का सूक्त है, वह मध्यम अग्नि का है । और जहां वैश्वानरीय = वैश्वानर देवता का सूक्त है, वह सूर्य का सूक्त है । पुनः बृहदेवता १ । १०५ से अग्नि के आध्रित अनेक पदार्थों का कथन है । उन में जातवेदाः और वैश्वानर का पुनः कथन है । इस का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि जातवेद अग्नि भी पृथिवीस्थानी है । इसी प्रकार बृहदेवता के १ । १०१ श्लोक से आरम्भ कर के जो आगे गण गिना है, उस में मण्डूक, प्राच, नद्यः, शुतुद्रि और विपाशा आदि हैं, वे मध्यम स्थानी ही हैं, पर पार्थिव अग्नि का उन को भी आध्रय है । स्मरण रहे कि बृहदेवता में वर्णित आग्नेय गण यज्ञ की दृष्टि से ही है । सरस्वती नदी वृ० १ । १२८ में पेन्द्र गण में ही है । अतः सिन्धु, सरस्वती आदि नदियां मध्यम स्थानी ही हैं । यदि कहो कि हम निरुक्त के देवविभाग को

नहीं मानते, तो स्पष्ट है कि तुम ने एक मूंड को खड़ा करने के लिए दूसरा मूंड खड़ा किया और इस दूसरे मूंड के लिए तीसरा । निस्सन्देह तुम्हारे क्षेत्रों में मूंड की परंपरा बंधी हुई है । तुम ने समझा था तुम्हारी परीक्षा कोई नहीं करेगा ।

इस पर इमाई-बहूनी ललक कहना है कि इस धर्म को बह नहीं मान सकता । इस पर हम वास्तविक क मंत्रों में कहते हैं—नेत्र म्यागोरपरार्थ यन्मन्धो न पश्यतीति । ओरइनबर्ग मीकममूलर राय द्विती मीकालल, कीध मीकडनर प्रभृति ललक ना वेगार्थ के समीप भी नहीं पढ़ते । वे गण्ये अररय हाँकते रह हैं । मध्यस्थानी धर्मात्मा के मंत्रों का श्रुति परक धर्म करना पञ्चात के अभिरिक अन्य कुछ नहीं है ।

उदकनामायुत्तरागपरशतम् । उदकं चम्मात् । उनत्तीति सन ।

नदीनामायुत्तराणि मनश्चिशम् । नद्य कस्मात् । नद्या [रमा] भवन्ति । शब्दवत्य । बहुलमासा नैधगदुक वृत्तम् । आश्रयमिय प्राधान्येन । तत्रतिहासमात्रज्ञान—विश्वामित्र ऋषि सुदास पैत्रजनस्य पुरोहितो बभूव । विश्वामित्र सरमित्र । सर्वे सरुतम् । सुदा कल्याणदान । पैत्रजन पित्रजनस्य पुत्र । पित्रजन पुन मर्धनीय ज्यो या । अमिर्धीभात्रगतिरा । स विन्न गृणी या विपाद्दुनुद्रो मम्भेद माययी । अयुययुगिर । स विश्वामित्रो नदीम्नुषय । गाथा भवतति । अपि द्वियस् । अपि बहुयत् । तच्च द्विचदुपरिणत्त व्याख्यास्याम । अथेनद् बहुयत् ॥ २५ ॥

अर्थ—उदक के नाम [हैं] अगत् एक सौ एक । उदक विम स । उनत्ति—गीला करता है रमा हानि से ।

नदी के नाम [हैं] अगत् मैत्रीय । नद्य विम ग । नद्या = नद्य वाली ये होती है । (वृत्तम्) प्राय ७२ र-रन्त स्थाना म, इन का नैपप्युक्त = [प्रधान श्रवण की जगता] गीग वृत्त [वजन होता है] । आश्रय के ममान प्रधान [श्रवण] म्पम । वत्त [प्राधान्य व प्रकरण म जहाँ नदी का श्रवण वत् वर्णन है] इतिहास कहन के [आचार] । विश्वामित्र ऋषि = मान-दृष्ट्य गुण पैत्रजन का पुराणि ; आ । विश्वामित्र म्पम का मित्र । अपवा मव है मित्र त्रिगत् । मन्-म+मन् अर्थात् मन्त्र फैला हुआ । मु+त्त = श्रवण = श्रवण दान वाला । पैत्रजन = पित्रजन वा पुत्र । पि+त्रजन = पुन शर्धा व योग्य

वेग वाला अथवा । न मिश्रित हुई हुई गति वाला अथवा । वह [पौरोहित्य के] धन को ग्रहण करके विपाशा और शत्रुद्री के सम्भेद=संगम पर (आय्यों) आया । पीछे पीछे आए दूसरे [भृत्य और छात्र] । उस विश्वामित्र ने नदियों की (तुष्टाव) तुष्टि=स्तुति की । (गाधा) गाहने योग्य=वांत्र से पार जाने योग्य (भवत) होवो, यह । और दो के समान, और वहत (नदियों के) समान [स्तुति की] । तो जो दो के समान [मान कर], ऊपर वह व्याख्या करेंगे । अब यह वहत के समान ॥ २४ ॥

भाष्य—उदक के १०१ नामों के सूक्ष्म भेद वेद और वैदिक वाङ्मय से जानने चाहिये । प्रत्येक नाम अपना अर्थ-विशेष रखता है । आप्य परमाणुओं की इन विभिन्न अवस्थाओं का रहस्य वेद से जाना जा सकता है । यथा घृतम् उदक का नाम है । यह क्यों । प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है—स्नेहो अपां विशेष-गुणः । अतः जिन आप्य परमाणुओं के साथ स्नेहांश अधिक है, वे ही घृत नाम धारण करेंगे । तुलना करें—उदानिपुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥^१

अगले नदी नामों में अनेक नाम बहुवचन में हैं । इन में से सिन्धवः, इरावत्यः, और सरस्वत्यः नामों पर ध्यानविशेष देना चाहिये । प्रधान सिन्धु नद एक है । इरावती और सरस्वती भी एक एक हैं । फिर इन के लिए बहुवचन के रूप क्यों चुने गए । निस्सन्देह ये पृथिवी पर की नदियां नहीं हैं । इन का यौगिक अथवा योगरूढ अर्थ माने बिना वेदार्थ नहीं बनता । ये सब अन्तरिक्षस्थ नदियां हैं । यास्क ने इसी सूक्ष्मेच्छिका से—नद्यः कस्मात्, नदी का बहुवचनान्त रूप लिखा । आश्चर्य पद का यह भी अभिप्राय है, बहुत थोड़ा अथवा कहीं ही । स्कन्द लिखता है—आश्चर्यम् अनित्यं कादाचित्कत्वात् ।

अब इतिहास कहते हैं । विश्वामित्र ऋषि था । भारतीय इतिहास में कई विश्वामित्र ऋषि हो चुके हैं । उन के अपने-अपने नाम भी थे ।^२ विश्वामित्र नाम उन्होंने उत्तर काल में ग्रहण किया । विश्वामित्र नाम वेद से लिया गया । वेद का विश्वामित्र पृथिवी पर का मानुष विश्वामित्र नहीं है । अनेक दिव्य ऋषि सूर्य की रश्मियों में बसते हैं । महाभारत, शान्तिपर्व के लगभग अन्त में सूर्य-स्तुति में कहा है—

१. अथर्व ३ । १३ । ५ ॥ मै० सं० २ । १३ । १० ॥

२. एक विश्वरथ विश्वामित्र था ।

यस्य रश्मिसदृशेषु शाखासिख विहगमा ।
 यमन्याधित्य मुनयः ससिद्धा र्वर्त सद् ॥

वृहदेवता में देवों के विषय में भी ऐसा कथन है—

देवान् यथायथ सर्गान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ।

सूर्ये रश्मिषो की महिमा आनन्ददायिनी है । इसी सूर्य में पुत्रस्य, पुत्रह
 अग्नि वसिष्ठ अद्रिषा च्यु गौतम, भरद्वाज, भारथ, जमदग्नि और विधामिन
 रहते हैं ।^१ ये मानव देहधारी नहीं हैं ये दिव्य हैं । ये अणु आदि रूप में हैं ।^२ ये
 सप्त गर्णों में भी समय-अमय पर सूर्यमण्डल में रहते हैं । इन्हीं के कारण हिम
 उष्ण और वृष्टि होती है । इसी विषय विष्णु पुराण कहता है—

सोऽय सप्तगण सूर्यमण्डल मुनिमन्त्रम ।

हिम-उष्ण-वारिवृष्टिना हेतुश्च समय गता ॥ २ । १० । २१ ॥

ये अणु आदि अग्नि सृष्टि करने से पहले अस्तित्व में आ चुके थे । शतपथ
 ब्राह्मण का प्रवचन है—त यत् पुरास्मान् सर्वस्मात् १ । १ । १ । १ ॥
 निरुक्त में मन्त्रम देवगणों के प्रकार में ११ । १६ से अद्रिषो का उल्लेख है ।
 उन के विषय में यास्क ने ऋ० १० । १२ । २ का जो अन्य उदाहरण रूप में
 दिया है, उस में अद्रिषा के पुत्रों को बहुरूप अग्नि और गम्भीर प्रज्ञा वाला माना
 है । वे सद् अग्नि से जन्मे थे ।

अणु ११ । ११ में अद्रिषो का उल्लेख है । यहाँ यास्क ने ऋ० ७ । ३३ । ८
 मन्त्र पढ़ा है । तदनुसार मध्यमस्थानी देवों में वसिष्ठ अग्नि भी थे । उन के
 एगोमन्त्र भी थे । जब अग्नेद म—वसिष्ठामो विवृषद् पान्यमन्त्र ।
 ऋ० १० । १६ । १४ तथा अनुपणा पात्रमन्त्र ऋ० १० । १४ । २ कहा है
 तो वेदमन्त्र का अभिप्राय इन्हीं दिव्य बलिष्ठों और मुनियों से है । पचपानी पात्राण
 ईसाई-बहुती छेनको ने वेद का गम्भीर आशय समझने का बय ही नहीं किया,
 और वही में अत्रिष इतिहास का अस्तित्व कथान आगे पड़े । अस्तु । उस दिव्य
 विधामिन अग्नि का अन्तरिक्षमय मन्दिषो से साबन्ध कहा गया है । इन दिव्य

१. दत्ता वेदविदनिश्चयन, पृ० २४८, २४९ ।

२. प्राया त वा ५ अणुः । ऋ० अ० ८ । ४ । १ । ५ ॥

ऋषियों के कारण से सूर्य से छन्दोरूप तरङ्गों चलती हैं। हम ने यहां एतद् विषयक कथन अति संक्षेप में किया है। वेद-वेदाङ्गों और महाभारत आदि का पाठ करने वाले विद्वान् इन तथ्यों को जानते हैं। इन्हीं दिव्य ऋषियों के नामों के अनुकरण पर भूमिस्थ ऋषियों के नाम भी हुए थे।

जैसा हम पूर्व २ । १० के भाष्य में लिख चुके हैं कि ऐतिहासिक घटनाओं के साथ मन्त्रों में वर्णित घटनाओं का कभी भी पूर्ण-सामंजस्य न होगा, वैसा तथ्य यहां भी स्पष्ट हो जाता है। विश्वामित्र का जो इतिहास पूर्व दिया जा चुका है, वह अगले मन्त्र के अर्थ से पूरा टकर नहीं खाता। यह अगले मन्त्र के भाष्य में दर्शा दिया जाएगा।

ऐतिहासिक वर्णन में विपाशा और शुतुद्री के संगम पर की घटना लिखी है। प्रश्न होता है कि वे नदियां गांधा कैसे हो गईं। इस का एक उदाहरण काश्मीरिक कल्हण कवि की राजतरङ्गिणी २ । २४५ में मिलता है। काश्मीर में ललितादित्य नाम का राजा था। वह कभी सिन्धु संगमों के पञ्चनद स्थान पर अपनी सेना सहित रुद्ध हो गया। उस के समीप रससिद्ध कङ्कणवर्ष का सहोदर चुङ्कुण नामक विद्वान् था। उस चुङ्कुण ने अगाध जल में एक मणि फेंकी। तब—

तत्प्रभावाद् द्विधाभूतं सरित्रीरं ससैनिकः।

उत्तीर्णो नृपतिस्तूर्णं परं पारं समासदत् ॥ २५० ॥

मणिमन्येन मणिना चुङ्कुणोऽप्याचकर्ष तम्।

सलिलं प्रागवस्थं च क्षणेन सरितामभूत् ॥ २५१ ॥

प्राचीन ऋषियों के पास ऐसे अनेक मणिरत्न थे। विश्वामित्र ने ही राम को शुष्क और आर्द्र अग्नि द्वे अस्त्र दिए थे। इस ऐतिहासिक विश्वामित्र ने नदियों को गाहने योग्य कर दिया। अन्तरिक्ष लोक में भी कभी दिव्य विश्वामित्र ने नदियों को उपरमध्वं=ठहरने की प्रार्थना की।

सुदाः पैजवन—इस नाम के दो राजा हुए हैं। एक पाञ्चालों के सुख्य-वंश^१ में और दूसरा कोसलों में। कोसल-राज सुदाः का पिता सर्वकाम था।^२ परन्तु जैमिनि ब्राह्मण ३ । २३ में प्रवचन है—

१. देखो हमारा, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, द्वि० भा० पृ० १२८।

२. तथैव, पृ० १११।

वसिष्ठो वै सुदास पैत्रवनस्य ऐच्याकस्य राज्ञः पुरोहित आस ।

अतः निश्चित है कि एक सुदा पैत्रवन ऐच्याक अथवा कोमल-राज भी था । यास्क के लेख से ज्ञान नहीं होता कि उस से स्मृत सुदा पैत्रवन किस वंश का था ॥ २४ ॥

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुपं मुहूर्तमेवैः ।

प्र सिन्धुमच्छां वृहती मनीषावस्युरह्ने कुशिकस्य सुनुः ॥

[ऋ० ३ । ३३ । ५ ॥]

उपरमध्य मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिने । ऋतावरीरुपं तवत्य । ऋतमियुदकनाम । प्रत्युत भवति । मुहुत्तमैरयनैरवनेशं । मुहूर्तो मुहुर्भूतु । ऋतुरतेर्गतिकर्मण । मुहुर्मूढ एष काल । यावद्भीष्मं चेति । अभीक्ष्णमभिक्षणं भवति । क्षण क्षणोत् । प्रदणुत काल । काल कालयतेर्गतिकर्मण । प्राभिह्वयामि सिन्धु वृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रह्वया यागनाय । कुशिकस्य सुनु । कुशिको राजा वभूव । क्रोशते शब्दकर्मण । क्रशतर्या स्यात्प्रकाशयति कर्मण । साधु विक्रोशयितार्थानामिति वा । नद्य प्रत्युचु ॥ २५ ॥

अर्थ—(उप रमध्वम्) ठहर जाओ मेरे वचन के लिए सोम सम्पादन करने वाले [वचन] के लिए, हे उदक वालियो मुहूर्त भर, (एवै) गतियो म । सिन्धु को (प्र+अच्छु+अह्ने) मैं भले प्रकार सब ओर मे बुलाना हूँ (वृहती मनीषा) महती मन से निकली इच्छा वा स्तुति म, (अयस्यु) रक्षा के लिए मैं कुशिक का पुत्र ।

ठहर जाओ मेरे वचन के लिए सोम सम्पादन करने वाले [वचन] के लिए हे प्रभूत उदक वालियो । ऋत यह उदक वा नाम [है ।] (प्रति+ऋतम्) [सब लोको क] प्रति ऋ=अमन करने वाला होता है । मुहूर्त भर एवै =अयनै =गतियो म अयनै [हमारी] कामनाओ [की मिद्धि] मे । मुहूर्त =मु+ऋनु । बार बार जाता है । ऋनु अति स है गति अर्थ वाले से । मुहु =मूढ=अज्ञान के समान बात = [ज्ञान भी नहीं रचना पता भी नहीं लगना और चला जाना है ।] जब तक अभीक्षण [होना है] और । अभीक्षण=क्षण मात्र=क्षण के तुल्य होना है । क्षण

क्षणोति=हिंसा करता है, से । प्र+क्ष्णुतः=हिंसा हुआ=अट नष्ट होने वाला काल । कालः कालयति से, गति अर्थ वाले से । प्र+क्ष्णामि=सब ओर से घुलाता है सिन्धु को मही मन की, स्तुति से, बुद्धि में अथवा, रक्षा के लिए, कुशिक का पुत्र । कुशिक राजा हुआ था । 'क्रोगति' से=गद्व अर्थ वाले से । क्रंगति से अथवा होवे, प्रकाशित करने वाले से । साधु बताने वाला अर्थों का अथवा । नदियां उत्तर में बहती ॥ २५ ॥

भाष्य—उप रमध्वम्=उपराम करो, ठहर जाओ । सोम्याय=सोम सम्पादने । सुलोक से आकर सोम सारे लोकों में फैलता है । पही चन्द्रमा में, वनस्पतियों में और गाँव आदिकों में अपना काम करता है । इसी को घन्तरिपस्थ अपि आदि और इन्द्र आदि देवता सेवते हैं । ऋतावरीः, अत नामक उदक में परमाणुओं का संयोग-विभाग जानना चाहिए । सिन्धुम्, मन्त्र में अपि सिन्धु को घुलाता है । इतिहास में विपाशा और शुतुद्रि से प्रार्थना करता है । निस्सन्देह ऐतिहासिक घटना की मन्त्रगत वर्णन से कभी पूरी तुलना नहीं हो सकेगी । इसी लिए यह निर्विवाद है कि वेद में इतिहास नहीं है । कुशिकस्य =कुशिक का । कुशिक क्या है, इस विषय में तैत्तिरीय ब्राह्मण प्रकाश डालता है—अथ यत् सुवर्णरजताभ्यां कुशीभ्यां परिगृहीत आसीत् । सास्य [आदित्यस्य] कौशिकता । १ । ५ । १० । २ ॥ कुशी रूपी अत्यन्त सूक्ष्म चक्र सूर्य के पास है । उसी से सम्बन्ध रखने वाला कोई कुशिक है । उसी के पुत्र का=उसी से उत्पन्न हुए का इस मन्त्र में कथन है । इस माया का पूर्ण ज्ञान अभीष्ट है ।

स्मरण रहे कि पृथिवी पर का इन्द्र भी कौशिक कहा जाता है । कारण, वह विश्वामित्र का गुरु होते हुए कालान्तर में उसका शिष्य भी बना था । इस का उल्लेख जैमिनीय ब्राह्मण में है—

यद्ध वा असुरैर्महासंग्रामं संयेते तद्ध वेदान् निराचकार ।
तान् ह विश्वामित्राद् अधिजगे । ततो हैव कौशिक ऊचे ॥ २ । ७६ ॥

इस प्रसङ्ग में विश्वामित्र स्वयं कुशिक हुआ । स्वयं ऋग्वेद १ । १० । ११ में इन्द्र कौशिक है ।

१. क्रुश आदि आत्मनेपदी धातुएं हैं । अतः यहां सर्वत्र धातु का निर्देश कृदन्त रितप् प्रत्यय से किया है, ऐसा जानना चाहिए । २. शां० आ० १५ । १ ॥

वाष्क ने इसी अभिप्राय से प्रसङ्गानुसार कुशिक के यौगिक ग्रह भी दिया दिए हैं । साथ ही यह भी बताया है कि कुशिक नाम का कोई राजा भी हुआ था । उस ने यह नाम वेद से लेकर रखा था । अब एक सिन्धु का नहीं, प्रसुत नदियों का [बहुवचनान्त रूप में] उल्लेख है ॥ २५ ॥

अब अन्तरिक्षस्थ नदियों के बनने की विषय कहते हैं ।

इन्द्रो अस्मों अरदद्द्रज्जगाद्गुरपाइन्वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।

देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥

[ऋ० ३ । ३३ । ६ ॥]

इन्द्रो अस्मानरदद्द्रज्जवाहु । रदति खनतिकर्मा । अपादन् वृत्रं परिधिं नदीनामिति व्याख्यानम् । देवोऽनयत्सविता । सुपाणि कत्याण पाणि । पाणि पश्यायत पूजाकर्मण । प्रगृह्य पाणी देवा-पूजयन्ति । तस्य वयं प्रसवे याम उर्वी । उर्व्य ऊर्णोति । वृणोतिरित्यौर्णवाम । प्रत्याख्यायान्तत आशुशुभु ॥ २६ ॥

अर्थ—इन्द्र अर्थात् वायु से आर्षेष्टित विद्युत् शक्ति ने हम खोला । [वह इन्द्र] जो बखबाट है । (अपादन्=अप+अदन्) मार गिराया वृत्र को (परिधिम्) जो चारों ओर से रोके हुए था अथवा घेरा था नदियों [वे उदक] का । देव (अनयत्) ले गया सविता, कत्याणकारी हाथों वाला । उम को हम (प्रसवे) उत्पन्न की आज्ञा में (याम) जाती हैं (उर्वी) फैली हुई ।

इन्द्र ने हम खोला, बखबाट ने । रदति खोदने अर्थ वाला है । अपादन् वृत्र यह [सरन है अत स्वयं] व्याख्यात है । देव ले गया सविता । सुपाणि अर्थात् कत्याणकारी अथवा मुन्दर हाथों वाला । पाणि पश्यायति से पूजा अर्थ वाले से । जोड़ कर दोना हाथों को देवों की पूजा करने हैं । उस की हम आज्ञा में चल रही हैं, फैली हुई । उर्व्य, ऊर्णोति स । वृणोति स यह और्णवाम [कहना है ।] (प्रत्याख्याय+अन्तत) गण्डन कर व अन्त में (आ+शुशुभु) [नदियां ने] सब ओर ग मुना [प्रार्थना को] ॥ २६ ॥

भाष्य—अन्तरिक्षस्थ नदियां इन्द्र की खोदी हुई हैं । ये नदियां कब खोदी गईं । उस समय, जब इन्द्र ने महासुर वृत्र को मारा । इन नदियों को परिधि को वृत्र ने बनाया हुआ था । वृत्र ही अन्तरिक्षस्थ नदियों को घेरता था । उस वृत्र को पृथिवी पर की नदियों की परिधि मानने में एक वृथा खींचतान करनी पड़ती है । व्याख्यातम्, स्वयं सरल पाठ है, अथवा ऐसा भाव पूर्व २ । १७ में व्याख्या किया गया है । सविता सुपाणिः है । प्रतीत होता है, यह घटना उस काल की है, जब सविता हिरण्यपाणि^१ नहीं बना था । उस समय सविता के ने हाथ लुप्त हो चुके थे । ऋग्वेद १ । ३५ । ६ में ही सविता को हिरण्यपाणि भी कहा है ।

आ ते कारो शृण्वामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन ।

नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचे ते ॥

[ऋ० ३ । ३३ । १० ॥]

आशृण्वाम ते कारो वचनानि । याहि दूरादनसा च रथेन च ।
निनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रम् । मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय ।
निनमा इति वा ।

अश्वनामान्युत्तराणि पड्विंशतिः । तेषामग्रा उत्तराणि बहुवत् ।
अश्वः कस्मात् । अश्रुतेऽध्वानम् । महाशनो भवतीति वा । तत्र दधिका
इत्येतद् दधत्कामतीति वा । दधत्कन्दतीति वा । दधदाकारी भवतीति
वा । तस्याश्ववद् देवतावच्च निगमा भवन्ति । तद्यद् देवतावदुपरिग्रात्तद्
व्याख्यास्यामः । अथैतदश्ववत् ॥ २७ ॥

अर्थ—(ते) तेरे, (कारो) हे स्तुतिकर्तः, हे मन्त्रदृक्
(आ+शृण्वाम) मुनेंगी अथवा ध्यान से सुनती हैं, (वचांसि) वचनों
को, (ययाथ) चले जाओ, दूर से [आए हो], (अनसा) शकट के साथ
[और] रथ के साथ । तेरे लिए (निनंसै) भुक्त होती हैं, (पीप्याना इव)
[गिणु को] दूध पिलाने वाली जैसे स्त्री, [अथवा] (मर्याय इव) मनुष्य
=[आए] वर के लिए जैसे कन्या (शश्वचे=शश्वचे) परिष्वजन के लिए ।

स्व गुणता है, तर ह स्तान वचना को । [अतर्ग पर] जाओ
[आण ह] दूर ग [धन म पूर्ण] गकट क माय और बैठने योग्य रूप क
माय । (नि+नमाम) नाव मुम्तो ह स्तान का गिराना हुई जैम श्योपुत्र
को । वर क निण जैम कन्या पण्डितन क णि । (निनमै) आ-मन-गो
रूप अथवा ।

अध ह नाम [३] अगव ट-वीम । उन म आठ [जो] अन्त म है
व-वचन [क प्रयोग क] ममान [ह ।] अध विम म । व्यापना है
मार्ग को महा स्वा वाता हाता है अथवा । उन म दक्षिणा यह जो
(दधन्+कामनि) धारण कर्त हूण [आराहू क] पद आग परना
है अथवा । धारण कर्त ए [आरोहू को] मन्त्र-गद्द करना है
अथवा । धारण करने ण [आधारहा को] (आकारी) [विगय अथवा
मुन्त्र] अ कार वाण हाता है जयवा । उर [दक्षिणा] क अध [अ]
म आर र्वना [अ] म निगम होत है । ता जा वना अर्थ म ऊपर=अग
व्याख्या कर्त । अब यह अध अर्थ म ॥ २७ ॥

भाष्य—कस्=मन्त्रहून=मन्त्रद्रष्टा । अन्तरिक्ष और आन्विय म ये प्राण
रूप विधामित्र आदि हो थ ना हू-दा का विविध रूपों में उत्पन्न करत थे । जैम
सूय और चन्द्र क रूप चक्रत है वैम ही विधामित्र मी अन्त और रूप के
साथ था । नि+नमाम पर स्वरुद लिखता है—एकवचनञ्चत्त बहुवचनस्य म्यान ।
यदि यह ऐतिहासिक घटना होती तो नन्दिया द्विवचन में बोलती । पर यहाँ ती
विपारण और शुभ्री का प्रसन्न ही नहीं है । प्रसन्न है सिन्धु का । मयाय+इव
कन्या=कन्या पद स निश्चित है कि वर के प्रथम आगमन समय स उपमा है ।

अध्व । नन्दियों क पश्चात अध्व का प्रकरण है । अन्तरिक्ष अध्व आप स
उत्पन्न हूण है । अन्त नदियों क पश्चात अध्व नाम पद गण है । शतपथ ब्राह्मण
का प्रवचन है—अगमुना उ वाऽअध्व । ७ । ६ । २ । १८ ॥ तथा तैत्ति-
सा० म—सामुयोनिजा अध्व । ३ । ८ । ४ । ३ ॥ अथवा प्रजापति हिरण्य
गर्भ=गुरुव की छत्रि स जा अध्व बह व अध्व वन । इस स भी आप का ही
अभिप्राय है । अन्तरिक्ष सब परशुओं म अध्व की अम्भुत माया है । इन अध्वों
म आप्य और आग्नेय परमाणुओं के विविध संयोग-विभाग है । इसी भद के

कारण उन के विभिन्न नाम हैं । ये अथ आपन्त गति जाली है । व्याकरण महाभाष्य आदि में जो इसका आधीन दूरी पर स्वर्ग आदि लोक भिन्ने हैं, यहाँ इन्हीं अर्थों की एक दिन की गति अभिप्रेत है । हेमिण्—इयशीतिमन्डलशतं भ्रमन्त्यश्चेत् ते तयाः । ब्रह्माण्ड, पृ० भाग, अ० २३ । ४५ ॥

अग्नेद कहता है—भद्रा अश्वो हरितः सूर्यस्य चित्रा एतस्या अनु-
माशासः १ । ११५ । ३ ॥ सम न्या हरितो मधे यदन्ति सूर्ये । शोचिषेःशं
विचक्षण । १ । २० ८ ॥ ये अथ पहले नहीं थे । स्कन्द पंचमाव्य १ । ५० । ६
पर लिखता है—पुरा किल अनश्वः सूर्यस्य आसीत् । सोऽपि अन्नं
गन्तुं नाशक्तोत् । ये अथ भी वैदिक छन्द उत्पन्न करते रहते हैं—

भद्रंस्तंक्रमेःस्पन्दते वैदिकक्षयः ॥ ४४ ॥

अश्वैः ब्रह्मवादिभिः । ॥ ४५ ॥

ब्रह्माण्ड पु०, पृ० भाग, २३ ॥

नया देवो, वेदविद्यानिर्दर्शन पृ० २५४ । चन्द्र के अपांगम से रथ सहित
उत्पन्न दश अश्व हैं । वेदविद्यानि०, पृ० २८१ । ऐसी विद्यार्थों को जाने बिना वेदार्थ
का ज्ञान सर्वथा अशुभ्य है । राजवाड़े लिखता है—

श्येन, सुपर्ण and पतङ्ग are birds and not horses (p. 407)
यह भी ठीक नहीं । ये अन्तरिक्षस्थ परमाणु रूप पक्षी भी हैं, और सुपर्ण आदि
रश्मियां भी हैं, पर ये अश्व भी हैं । कुछ रश्मियां भी अर्थों के समान काम करती
हैं । विस्तरभय से अधिक नहीं लिखा ॥ २० ॥

उत स्य वाजी क्षिपिणं तुरण्यति त्रीवायां वद्धो अक्षिक्त्वा आसनिं ।
क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत्पथामङ्काँस्यन्वापनीफणत् ॥

[ऋ० ४ । ४० । ४ ॥]

अपि स वाजी वेजनवान् । क्षेपणमनु तूर्णमश्नुतेऽध्वानम् । त्रीवायां
वद्धः त्रीवा गिरतेर्वा । गृणातेर्वा । गृह्णातेर्वा । अपि कक्ष आसनीति
व्याख्यातम् । क्रतुं दधिक्राः कर्म वा प्रशो वा । अनुसन्तवीत्वत् तनोतेः ।
पूर्वया प्रकृत्या निगमः । पथामङ्कांसि पथां कुटिलानि । पन्थाः पततेर्वा ।
पथतेर्वा । पन्थतेर्वा । अङ्कोऽञ्चतेः । आपनीफणदिति फणतेश्चर्करी-
तवृत्तम् ।

दशोत्तराद्यादिषोपयोजनानीत्याचक्षत साहचर्यज्ञानाय ।

ज्वलतिकमाणु उत्तर धातु एकादश ।

तावन्त्यधोत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि ॥ २८ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

अर्थ—और (म्य) वह (वाजी) घोडा (क्षिपणम्) चाबुक^१ [के उठने पर ही] (तुरगयति) त्वरा से=शीघ्रता से चलता है ग्रीवा म [पटे से] बधा हुआ (अपि कक्षे) और कच्छ [=दोना कच्छो के आगे छाती के ऊपर स तङ्ग से] (आसनि) मुख म [लगाम से] । (वतुम्) [अग्ने] कर्म को [अथवा अधारोही की] प्रजा को दधिका =अधविशेष (अनु+सन्तरी वत्) फैला देता है वा बढा दता है । (पथाम्) मार्गों के (अङ्गामि) कुटिल=टेढ़े पनो को (अनु+आपनीफणत्) शीघ्र जाना हुआ [=ग धर पार करता है] ।

और वह वाजी=वेजनवान्=भय देने वाला या [वेग से] चलने वाला (क्षिपणम् अनु) चाबुक के पश्चात् ही शीघ्र व्याप्त कर जाता है मार्ग को । ग्रीवा मे [पटे से] बधा हुआ । ग्रीवा गिरती से=निगलने से अथवा । गणानि=गण करने से अथवा । गृह्णानि=[अत्र जनक] ग्रहण करने से अथवा । और कक्ष आसनि [स्वयं] व्याख्यात है । कतु=कर्म वा प्रजा को दधिका अधविशेष (अनु+सन्तरी वत्)=तनोदि की पूर्व प्रकृति म निगम [है] । मार्गों के कुटिलपनो को । पथा पतति से अथवा पद्यति से अथवा पन्थति से [सब गत्यर्थक] । अङ्ग अञ्जति से [कौटिल्यार्थ जाने से] । आ+पनीफणत् फणति [गत्यर्थक] म चर्करीनवृत्तम्=अनुपगत [धानु से है] ।

दाग अगल [अध्वन म] (आदिषोपयोजनानि) बताए गए [देवताओं] के साथ उपयोग वान [है] यह कहते हैं [प्राचीन निघण्टुकार] । साहचर्य=पत्न्या साथ होने के भाव के ज्ञान के लिए [यहाँ पटे है ।]

ज्वलनि=चमकने अथवा अगल धातु [हैं] ग्यारह । उतने ही (अर्थात् ११) ज्वलन=चमक जाने [इत्यर्थक] नामधेय [है] ॥ २८ ॥

१ एकम् न ऋग्मध्व १ । २२ । ३ म किमी नामानुभवमणी का पाठ दिया है—अथादनी क्सा चोद इति तोवनाम । इस पद का अर्थ अथवा चाबुक है ।

भाष्य—स्यः=सः । यह सर्वनाम का रूप है और वेद में मिलता है । वाजी, इस शब्द पर कौपीतिकि ब्रा० ५ । २ में प्रवचन है—देवाश्वा वै वाजिनः । पुनश्च शतपथ कहता है—[अश्वो] वाजी [भूत्वा] गन्धर्वान् [अश्वहत्] १० । ६ । ४ । १ ॥ अतः वाजी का देवों और गन्धर्वों से सम्बन्ध स्पष्ट है । यह वाजी किस कर्म को फैलाता है, यह अन्वेष्टव्य है । उस के लिए क्षिप्रणि भी कोई विशेष होना चाहिए ।

इस मन्त्र पर भी ईसाई-यहूदियों के शिष्य राजवाड़े के rhythm नामक रोग का परिचय मिलता है । वह लिखता है—

Two corruptions must be taken into consideration first; rhythm requires ग्रीवायां to be ग्रीवासु and अङ्गांसि to be अङ्गसः । (p. 410) अर्थात्—ग्रीवायां और अङ्गांसि अष्ट पाठ हैं । अश्व इस निराधार प्रतिज्ञा की परीक्षा करते हैं । वेदमन्त्रों में कोई rhythm=गुरु-लघु क्रम नहीं होता ।^१ इस की कल्पना ईसाई-यहूदी लेखकों ने की है । किसी भी आर्ष वैदिक छन्दोमन्त्र में इस का उल्लेख नहीं है । निदानसूत्र, ऋक्सर्वानुकमणी, और पिङ्गल छन्द में इस कल्पना का सर्वथा अभाव है । फिर ईसाई लेखकों ने यह कल्पना क्यों की । हमारा उत्तर सीधा है । अपने कल्पित स्वभाव के कारण । यह कल्पित स्वभाव क्यों बना । उत्तर है, आर्ष ज्ञान की पवित्रता को दूषित सिद्ध करने के लिए । इसी गुरु-लघु के निराधार विचार को लेकर अनधीत-शास्त्र वृटिश मैकडानल, जर्मन स्टैलर, महाराष्ट्र राजवाड़े और पंजाबी विश्वचन्द्र आदि ने अनेक मन्त्रों के शुद्ध पाठों को दूषित बताने का यत्न किया है ।

ईसाई लेखकों की विचार पद्धति का महादोष स्पष्ट है । वे पहले एक नियम कल्पित कर लेते हैं और फिर उस कल्पित नियम की कसौटी पर अनेक तथ्यों की परीक्षा करते हैं । यही दुष्ट विचाररीति मन्त्रों के पाठ में इस गुरु-लघु-क्रम के कल्पित नियम द्वारा उत्पन्न की गई है । ऐसी ही अष्ट रीति इन लोगों ने भाषा-विषयक नियमों के बनाने में बर्ती है । उस का खण्डन हम ने अपने रचे “भाषा का इतिहास” में किया है ।

अङ्गांसि, कुटिलपन । इस पर राजवाड़े लिखता है—It is unsafe to determine the meanings of Vedic words by deriving

१. ऋक् और नै० प्राति० के अन्त में जो गुरु, लघु अक्षर वर्णन है, वहां भी क्रम का विधान नहीं ।

them from modern roots, अङ् which means to be crooked in modern Sk has not that sense in AV in the case of difficult words one must rely on collation of पञ्चमहापुराण and also on guess Yaska, Dhanu, Sayana have misinterpreted अङ्गम् by false derivation (p 411)

अर्थात्—अङ्ग का ' देना ' अर्थ वर्तमान सरल म है । ऋग्वेद में इस का यह भाव नहीं है । अतः यास्क दुर्ग और सायण ने अङ्गम् का अशुद्ध अर्थ किया है । वेद के दुर्ग शब्दों का अर्थ मन्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञान होना है और अनुमान से भी । इति ।

हमारा प्रश्न है कि अङ्ग का कुटिल = देना अर्थ वर्तमान सरल म ही है, इस का क्या प्रमाण है । क्या तुम्हारे पास पाणिनि से पुराना कोई धानुपाठ है, जिस में इस धानु का कुटिल अर्थ नहीं है । यदि नहीं है तो तुम्हारे कथन का क्या आधार है । यास्क के पास तो शाकटायन, भरद्वाज और इन्द्र आदि के धानुपाठ थे फिर यास्क के कथन को मानें अथवा तुम्हारी कपोल कल्पना क । और तुम्हारा नामधारक भाषा विज्ञान तो गत तीन सहस्र वर्ष के अपभ्रंशों के आधार पर अल्प बुद्धि से कल्पित किया गया है । उस का तो विद्वानों से कोई मान नहीं । अतः विष्णु से कोई ३२०० वर्ष पुराने यास्क के अर्थ में दोष नहीं है । तुम्हारा वेद का तुलनात्मक अध्ययन भी दूषित है । तुम्हें आधिभौतिक और आधिभौतिक अर्थ का ज्ञान ही नहीं है । देखो सगोल में अनेक प्रहों आदि की एक ओर कुटिल गतियाँ भी होती रहती हैं । उन के भी पथ हैं । उन में जाती भी चलते हैं । उन का ज्ञान न रख कर तुम वृथा कल्पना करत हो ॥ २८ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

कर्मनामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः । कर्म कस्मात् । कियत इति सतः ।

अपत्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश । अपत्यं कस्मात् । अपतनं भवति । नानेन पततीति वा । तद्यथा जनयिनुः प्रजा । एवमर्थीयं ऋचा उदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

अर्थ—कर्म के नाम [हैं] अग्ने दृन्वीम । कर्म किम मे । किया जाता है, ऐसा होने मे ।

अपत्य के नाम [हैं] अग्ने पन्द्रह । अपत्य किस से (अपतनं) पिता मे पृथक् होकर फैली हुई होती है । नहीं इस [अपत्य] मे गिगता है अथवा । तो जैसे—उत्पन्न करने वाले की [होती है] प्रजा । ऐसे अर्थ वाले (ऋचां) दो ऋचाएं उदाहृत करेंगे ॥ १ ॥

भाष्य—उत्पन्न करने वाले की ही प्रजा है । गोद आदि लेकर पुत्र बनाना प्रशस्य नहीं ॥ १ ॥

परिपद्यं हरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।

न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुः ॥

[ऋ० ७।४।७ ॥]

परिहर्तव्यं हि नोपसर्तव्यम् । अरणस्य रेक्णः । अरणोऽपारणो भवति । रेक्ण इति धननाम । रिच्यते प्रयतः । नित्यस्य रायः पतयः स्याम । पिड्यस्यैव धनस्य । न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति । शेष इत्यपत्यनाम । शिष्यते प्रयतः । अचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति । मा नः पथो विदुः इति ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्ध्वनाय ॥ २ ॥

अर्थ—(परिवधम्) त्याग-भाग्य हि=निधय म (अगण्य=अप+अरण्य) चला गया है उदक सम्पत्ति जिम का उस पराण कुल वान का (रेणु) धन । (नित्यम्) स्थिर धन के स्वामी [हम] हो । नहा [अना] (शेष) पुत्र ह अग्ने (अन्यजातम्) दूसरे म उत्पन्न हुआ होता है । [वह] (अचेतनस्थ) मूड का [होना है] । मत [टीक] मार्ग म [हम] (त्रिदुक्ष) उलटा ने जा ।

त्यागने योग्य निधय म नहीं पाप फलन भाग्य । अर्ण=अर्ण=अपगतोदक सम्पत्ति का धन, रक्षण यह धन का नाम [है] पडा रह जाता है (अ+यत्) परलोक जाने हुए का । स्थिर धन के स्वामी हा । [अपने] पैतृक ही धन के [स्वामी हो] । नहीं पुत्र, हे अग्ने, दूसरे स उत्पन्न, आ [अना] होता है । गप यह पुत्र का नाम है । बन जाता है परलोक को जान वान का । अचेतनस्थ=प्रमत्त=मूड का होता है । मत हम [टीक] मार्ग स परे हटा । इति ।

उम की अगली श्रृक् अविक निर्वचन क लिए [है] ।

भाग्य—अरण्य=उदक । निघण्टु १।१२ के अनुसार उदक का नाम है । पर इन १०१ प्रकार के उदकों में स किस प्रकार का उदक है, यह हमें ज्ञात नहीं । इसी अर्थ के कारण एक प्रकार के मघ अर्थों कहते हैं ।^१ पराए कुल के पुत्र को गोद लेकर अपना नहीं बनाना चाहिए । अचेतनों का ही यह मार्ग है । अचेतन=अचेतयमान् मूड । वे ऐसा करत हैं । मा त्रिदुक्ष=त्रिदुक्ष, मत=मटका मत उलटा ल जा । इस श्रृक का अर्थ कई ओर घटना है ॥ २ ॥

न हि ग्रामायारणः सुशोभोऽन्योर्दर्या मनसा मन्तुवा उ ।

अर्वा चिदाः पुनरित्स एत्या नो वाज्यधीशाल्कितु नःपः ॥

[ऋ० ७।४।८ ॥]

न हि ग्रहीत-योऽरण्य सुसुखनमोऽपि । अन्योर्दर्या मनसापि न मन्तव्य । ममाथ [पुत्र] इति । अथ स ओक पुनरेव तदिति यत् आगतो भवति । ओक इति निजसनामोच्यते । ऐतु मो यात्री वजन शान् । अभिपद्यमाण सपन्नान् । नन्तान स एव पुत्र इति ॥

अर्थता दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति । पुत्रदायाद्य इत्येके ॥ ३ ॥

१ ग्रामोपाख्येणवा । वायु ५१ । २६ ॥

अर्थ—नहीं (प्रभाय) ग्रहण करने योग्य, (अरणाः) दूसरे कुल वाला, (सुशेषः) अत्यधिक मुग्य देने वाला, अन्य के उदर से जन्मा, मन से [भी] मानने योग्य [नहीं] । (अध चित्) क्योंकि (श्रोफः पुनः इत्) [अपने पहने] घर को पुनः ही वह (पति) आ जाता है । नः= हमें=(वाजी+अभीपाट्) [विरोधियों को] भय देने वाला, [और], चारों ओर से दवाने वाला (एतु) प्राप्त हो [नव्यः] नया जन्मा [पुत्र] ।

नहीं ग्रहण करने योग्य, पराए कुल का, अत्यधिक सुग देने वाला भी [गोद लिया पुत्र] । दूसरे के उदर से जन्मा मन से भी नहीं मानना चाहिए, [कि] मेरा यह पुत्र है । क्योंकि वह निवास को फिर भी उसी को प्राप्त होता है, जहां से आया होता है । ओक यह निवास का नाम कहा जाता है । प्राप्त हो, हमें भयद, चारों ओर से न रहा जाने वाला, सपन्न=शत्रुओं को, अर्थात् सपन्नों के लिए असह्य । नया उत्पन्न हुआ, वह ही पुत्र है ।

अब इस [अगनी ऋक्] को दुहिता के दायद [प्रसङ्ग] में [धर्मशास्त्रकार] उदाहरण रूप में देते हैं । पुत्र के दायद [प्रसङ्ग] में, ऐसे कई एक [धर्मशास्त्रकार] ॥ ३ ॥

भाष्य—अति प्राचीन काल में प्रभ और प्रद, दो स्वतन्त्र पृथक् रूप थे । पाणिनि ने एक को दूसरे का आदेश मान कर काम चलाया है । पराए कुल का पुत्र कभी गोद न लेना चाहिए, ऐसी वेद की आज्ञा है । वाजी पद का अर्थ पहले अश्वनाम प्रकरण में भी आ चुका है ।^१ धर्मशास्त्र वाङ्मय प्रथम युग के आरम्भ से ही चला आ रहा है । धर्मशास्त्र के ग्रन्थ लोकभाषा में थे । अतः ईसाई-यहूदी लेखकों का मत कि लोकभाषा वेद से बहुत उत्तर काल में प्रवृत्त हुई, सर्वथा भ्रान्त है । यास्क से बहुत पहले भी धर्मशास्त्रकार हो चुके थे । वेदार्थद्रष्टा और ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवचनकर्ता ही धर्मानुशासन भी करते थे, ऐसा कौटिल्य=विष्णुगुप्त=वात्स्यायन ने अपने न्याय-भाष्य में सुप्रतिपादित किया है ।^२ धर्मशास्त्र तो ऐतरेय ब्राह्मण से भी पूर्वकाल में थे । ऐ० ब्रा० ३३।६ में धर्मशास्त्र के विषय विषयक मत का संकेत है ॥ ३ ॥

१. निरुक्त २।२८ ॥

२. न्यायभाष्य, ४।१।६२ ॥ तथा भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ० ७५-७६ ।

शासद्बहिर्दुहितुर्नमर्थं मादिशं श्रुतस्य दीधिति सपर्यन् ।

पिता यत्र दुहितुः सेकम्भृजन्तसं शुम्भ्येन मनसा दधन्वे ॥

[ऋ० ३।३१।१॥]

प्रशान्ति शोढा सन्तानकर्मणे दुहितु पुत्रभावम् । दुहिता दुहिता ।
दूरे हिता । दोषोर्वा । नतारमुगागमत् । दीदृशं पौत्रमिति ।
विद्वान्प्रजनन गृह्णन् । रेतरो वा । अद्वाद्वान्सम्भृतस्य हृदयादधिष्ठा-
तन्व्य मनसि प्रत्युतस्य । विधान पूजयन् । अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा
दाय द इति ।

अर्थ—(शासत्) बताना है (बहि) विवाहने वाला=ने जाने वाला
[वर] दुह । क. [पुत्र भाव] [क्योकि उशी स] (नक्ष्यम्) दीदृश
को पात्र [मान कर] (मात्) पाना है । (विद्वान्) जानना हुआ
(श्रुतस्य) प्रजननाभ्य यज्ञ क (दीधितिम्) कर्म विधान को [और]
(सपर्यन्) पूजा करना हुआ=आदर करता ; आ [उस का] । पिता जहाँ
पुत्री के (सेकम्) [रत्नमन्त्रन मे समम] पनि का, अथवा जानाना को
(श्रुञ्चन्) प्राप्त करता, अथवा ग्रहण करता है. [तत्र] (सं+शुम्भ्येन)
अप्यन्त सुखी मन स (सं+दधन्वे) [जानाना के साथ] मल करता है ।

बताना है=कहता है, वधू को ले जाने वाला, सन्तानोत्पत्ति के कर्म के
लिए, दुहिता क पुत्र भाव की । दुहना=दुहिता, अप्यन्त कठिन है हिन
त्रिन्वा । दूर=दूर म हुई हित वाला' [होना ह] । दोहन करते रहने में
अथवा। नष्टा को प्राप्त होना है । दीदृश का पौत्र यह [मान कर] । जानना
हुआ, प्रजनन यज्ञ का । रेतस=वीर्य को अथवा । [वह वीर्य जो] अङ्ग से
अङ्ग से=प्रति अङ्ग से उत्पन्न होना है, हृदय से जन्मता है, अपनी माता [के
गर्भ] में प चना है । [इस सार कम] विधान की पूजा करता हुआ ।
[अत्र] त्रिना भद्र= १४ के स्त्री पुरुष दोनों पुत्र [ही हैं], और दायद=
दायभागी हैं ।

भाष्य—इस ऋक् का अर्थ कठिन है । यागक ने भी अर्थ में सन्तानकर्मणे
और पुत्रभाव का अन्वयार्थ किया है । इस ऋक् के उत्तरार्थ का अर्थ यागक ने
आगे खण्ड ५ के अन्त में किया है । बहि=बाबा । श्रु० आ० ३।३।१।१०

१. अथवा दूर रखी हुई ।

में—वृद्धिर्वा अनङ्गान् भी माना गया है। यह वृद्धि अनङ्गान् का काम करता है। यजुर्वेद २२।२२ के अनुसार श्रेष्ठ अनङ्गान् बोधा गुणयुक्त होता है। अतः प्रकरणवशात् वृद्धिः का अर्थ बाँडा हो गया है। दुःखना, अत्यन्त कठिनता से उचित धर्म मित्रने पर उस का दिन होता है। दूर गोत्र आदि में विवाह होने पर सन्तति के नीरोग और बलिष्ठ होने से दित होता है। अथवा दुहिता पितृकुल के धन का सदा दोहन करनी है मन्त्र का अभिगय यह निकाला गया है कि पुत्र और दुहिता के दायान्त में समय पड़ने पर कोई भेदभाव नहीं रहता। अतः गोद लेना प्रशस्त कर्म नहीं।

तदेतद्व्यक्तश्लोकाभ्यामभ्युक्तम् ।

अङ्गादङ्गात्सम्भवमि हृदयादधिजायसे ।

आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ इति ।

[जे० गृ० १।८]

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।

मिथुनानां विसर्गादी मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

अर्थ—तो यह [पार] ऋक् और श्लोक द्वारा कहा गया है। [हे पुत्र] अङ्ग-अङ्ग मे [तू] उत्पन्न हुआ है, हृदय मे जन्मा है, [मेरा] (आत्मा) शरीर निश्चय [तू है] पुत्र [तेरा] नाम है। वह [तू] जी=प्राण धारण कर शरत् [ऋतु] सी।

अविशेष से=विना भेदभाव के पुत्रों का=वाल्क, बालिका का दाय [में भाग] होता है, धर्मानुसार बालक, बालिका के जोड़े का। (वि+सर्गादी) अवान्तर प्रलय के पश्चात् युग के आदि में मनु [जो] स्वयम्भू=ब्रह्मा का पुत्र, बाला।

भाष्य—धीर्य का सम्बन्ध शरीर के प्रत्येक अङ्ग से है, यह सूक्ष्म तत्त्व इस ऋक् में है यह ऋक् ऋग्वेद की किसी शाखा में थी एक वर्ष में एक शरत् रहता है, अतः सौ शरत् का अर्थ है सौ वर्ष। शरत् जीवन दाता है, अतः जीवन के क्षिप् यही प्रयोग हुआ है।

स्वयम्भुव मनु सृष्टि के आदि में भी था। और यही नाम बार-बार रखा जाने से विश्व के आदि में भी इस नाम का अर्थ हुआ। विश्व का अर्थ है, अखण्ड प्रलय के पश्चात्। उस का धर्मशास्त्र अग्नि विद्याल था। वह लोकभाषा में, पर पाणिनि स बहुत पूर्व की लोकभाषा में था। वेद के साथ ही व्यावहारिक भाषा का प्रयोग होने लगा था। इन के लिए देखो हमारा "भाषा का इतिहास।" मनु के उसी विद्याल शास्त्र का अर्थ सचित्र और कल्पित अथवा यह वर्णनाम मृग-श्लोक शास्त्र है। इन को ईसा के आस-पास की रचना कहना इतिहास विन्द है। वास्तु ने परम आदर भाव से यह श्लोक उद्धृत किया है।

न बुद्धितर इत्येके।

तस्मात्पुमान्दायादोऽदायादा स्त्री । इति विज्ञायते । [मै० सं० ४।६।४ ॥] तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमान्म् । [का० सं० २७।६ ॥] इति च । स्त्रीणां दालविक्रयानिसर्गां विद्यन्ते न पुंसः । पुंसोऽप्येके । शौनशेपे दर्शनात् । अभ्रातृमनीषाद इत्यपत्म् ।

[अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवामनः ।]

अभ्रातरं इव योपास्तिष्ठन्ति हर्तार्त्मनः ॥

[अथर्व० १।२७।१ ॥]

अभ्रातृका इव योपास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पितृददानाय हतवर्त्मनः । इत्यभ्रातृकाया अनीर्वादि औपमिम् । तस्योत्तरा भूयसे निर्देचनाय ॥ ४ ॥

अर्थ—नही पुत्रियां [दाय में भाग वाली] यह कई [धर्मशास्त्रकार] कहते हैं। इस लिए पुमान् (दायद) दाय को अन्न करने वाला=भोगने वाला [है] अदायादा स्त्री [है] यह [ब्राह्मण ग्रन्थ से] विद्वान् जाना जाता है। इस लिए [कन्या गजा क पश्चान्] स्त्री [गजा को] प्राप्त होने पर अर्थात् विवाह के तत्पश्चात् पश्चान् [स्त्री को] पने कर देने हैं, नही पुमान् को, यह भी [ब्राह्मण में है]। स्त्रिया के दान विजय और (अनिसर्ग) त्याग [इतिहास में] विद्यमान हैं, नही पुरुष क। पुत्र्य क भी [दान, विजय और त्याग] हैं, यह कई धर्मशास्त्रकार [कहते हैं]। शुन्याय के [आभ्यान्] में देन जाने में ।

[ऐसे स्थानों में] भ्रातृहीना कन्या का वाद है, यह दूसरे [घर्मशास्त्रकार] का मत है।

(अमूः) वे जो चलती हैं (जामयः) स्त्री समाना नाडियां, सारी (लोहितवाससः) लाल वासों वाली [लहु से परिपूर्णा], [वे] भ्रातृहीना जैसे (योपाः) नारियां ठहरती हैं [पितृगृह में ही], वैसे (हतवर्त्मनः) नष्ट मार्गों वाली [ठहरें]।

अभ्रातृका जैसे नारियां ठहरती है, सन्तानकर्म जो पिण्डदान है, उस के लिए (हतवर्त्मनः) नष्ट हुए मार्गों वाली, यह [अभिप्राय है]। भ्रातृहीना का विवाह नहीं। यह उपमा में होने वाला अर्थात् उपमा से सिद्ध है। इस अर्थ वाली अगली ऋक् अधिक निर्वचन के लिए [है।]

भाष्य—मै० सं० के पाठ—में स्वल्प अन्तर है। यथा स्त्री अदायादा। संभव है यास्क के उद्धृत दोनों ब्राह्मण वचन किसी अन्य संहिता से हों। यहां राजवाड़े लिखता है—

This gives us a picture of the dark times of the Brāhmana literature. Girls were often left in wild deserts to be devoured ofcourse by cruel beasts. Female infanticide has darkened the page of Indian history. Durgā and Sāyana have softened down the brutality of this treatment; दुर्गाः—परास्यन्ति परस्मै प्रयच्छन्ति, सायणः—वरकुले परित्यजन्ति (तै० सं० भाष्य १।४।२८) (p. 421)

अर्थात्—ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में कन्याओं को घने वनों में छोड़ आते थे। इस कर्म से भारतीय इतिहास कलुषित है। दुर्गा और सायण ने इन वचनों को विवाह-परक बना कर इस अत्याचार को नरम किया है। इति।

इस पर हमारा इतना ही कथन है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का कोई कालविशेष था, यह सर्वथा असत्य है। उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ भारत युद्ध से लगभग १०० वर्ष पूर्व के काल में प्रवचन किए गए थे। उसी काल में कौणपदन्त=भीष्म, वातव्याधि=उद्धव और भारद्वाज=द्रोण के श्रृंगशास्त्र भी रचे गए थे। पाञ्चाल

वात्सल्य ने उसी काळ में कामशास्त्र के एक अध्याय पर एक ग्रन्थ रचा था ।^१ अतः मीरममूखर के उच्छिष्टभोजी राजवाड़े ने देना ज़िन्न कर किनी बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन नहीं किया ।

अपरञ्च राजवाड़े ने एक कृपणी बात सोची ही नहीं । अरं भोजी पुरुष, खी कभी कन्या नहीं होती । ये दोनों शब्द भिन्न भिन्न तथ्यस्कथों के लिए प्रयुक्त होते हैं । यदि काठक महिला के प्रवचनकर्ता के सामने, जन्गली कन्याओं का वन में फँकना अभिप्रेत होना तो वह स्त्रियं जानाम् के स्थान में कन्यां जानाम् लिखता । अतः दुर्ग और सायण ने हम प्रकरण का ठीक अर्थ ही किया था । हम ने उस को अधिक स्पष्ट कर दिया है । राजवाड़े की बुद्धि पर पक्षपात की जवनि का गिरी हुई थी । और भी, भारत में जन्मती कन्याओं पर अत्याचार बहुत उक्त काळ में आरम्भ हुआ था, वह जानना चाहिए । खी और पुमान् पर यहाँ अतिवाचक नहीं हैं ।

अगला प्रमाण आथर्वण मन्त्र का है । अपरञ्च अथर्व संहिता में इस का पाठ योद्धा निन्न है । इस पर स्कन्द लिखता है—स्त्रीणां लोहितवाहक्याधिया वृत्त्यर्थं कर्मणि विनियुक्तः । अर्थात् स्त्रियों की लोहितवाहक व्याधि की निवृत्ति के लिए यह मन्त्र विनियुक्त है । इस में उपमा है । जैसे नादियों के बन्द होने से लोहित प्रवाह बन्द हो जाता है वैसे आतुरीना कन्या का अगला मार्ग बन्द हो जाता है वह पितृगृह में ही बन्द रह जाती है । उस का विवाह नहीं होता । अतः अभिवाच यह है कि देवी पुत्री पितृगृह में ठहरती है वह राय की भागिनी होती है । मन्त्र में भी यही प्रार्थना है कि खी की गर्भस्य लोहितवादिनी नादियां बन्द हो जाएं ।

स्वामी दयानन्दसरस्वती ने अपने वेदभाष्य में सैकड़ों मन्त्रों के उपसर्ग ब्यक्त कर जो मानव समाज परक अर्थ किए हैं, उनका मूल इस भारतीय अर्थ में निहित है ॥ ५ ॥

अध्यानेऽं पुंम एति प्रतीची गर्तरुर्गिर सुनये धर्नानाम् ।

जायेव परथ उशती भुवामा उपा हसेव नि गिणीते अर्प्यः ॥

[अ० १।१२५।७ ॥]

अभ्रातृकेव । पुंसः पितृन् । एत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्ड-
दानाय न पतिम् । गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी । गर्तः
सभास्थायुः । गृणातेः । सत्यसङ्गरो भवति । तं तत्र याऽपुत्रा याऽपतिका
सा रोहति । तां तत्राक्षैगमन्ति । सा रिक्थं लभते । श्मशानसञ्चयोऽपि
गर्त उच्यते । गुरुतेः । अपगूर्णो भवति । श्मशानं श्मशयनम् । श्म
शरीरम् । शरीरं शृणातेः । शम्नातेर्वा । श्मश्रु लोम । श्मनि श्रितं
भवति । लोम लुनातेर्वा । लीयतेर्वा ।

नोपरस्याविष्कुर्याद्यदुपरस्याविष्कुर्याद् गर्तेष्टाः स्यात् प्रमायुको
यजमानः । इत्यपि निगमो भवति ।

रथोऽपि गर्त उच्यते । गृणातेः स्तुतिकर्मणः । स्तुनतमं यानम् ।

आ रोहथो वरुण मित्र गर्तम् ॥ [ऋ० ५।६१।८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु । उपा हसनेव
दन्तान् विवृणुते रूपाणि । इति चतस्र उपमाः ।

नाभ्रात्रीमुपयच्छेत तोकं ह्यस्य तद्भवति ।^१ इत्यभ्रातृकाया उपय-
मनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः । पितुश्च पुत्रभावः ।

पिता यत्र दुहितुरप्रत्ताया रेतःसेकं प्रार्जयति । सन्दधात्यात्मानं
सङ्गमेन मनसेति ।

अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति । ज्येष्ठं पुत्रिकाया
इत्येके ॥ ५ ॥

अर्थ - [यह उपा] भ्रातृहीना कन्या के समान (पुंसः) अपने पिता
पितृमह को (एति) [विवाह होने पर भी] प्राप्त होनी है=अती है,
(प्रतीची) लौट कर=मुंह फेर कर । (गर्तारोहिणीव) गर्त पर चढ़ने

१. याज्ञवल्क्य स्मृति पर विश्वरूपाचार्य कृता बालक्रीडा टीका, पृ० ६१ के
अनुसार भाल्लविभूति ।

वाली के समान (सनये) प्राप्त के लिए धनो की । (अथेष पत्ये) पत्नी जैसे पति के लिए, कामना करती हुई, सुन्दर वसनो वाली, उपा, (इच्छा इव) हुंसने वाली स्त्री के समान (नि रिणीते) खोल देती है (आसः) हपो को ।

भ्रातृहीना वन्या के समान, पुंसः=पितृन् पिता, पितामह की ओर अभिमुखी=मुख की हुई (पति) प्राप्त होती है, सन्तान के कर्तव्यकर्म के लिए अर्थात् पिण्डदान के लिए, नहीं पति [कुल] की ओर [प्राप्त होती] । गर्त पर चढ़ने वाली के समान धनलाभ के लिए, (दाक्षिणात्री) दाक्षिणात्य स्त्री । गर्तः सभा का स्थाणु=खम्भा, [धर्माधिकारी के बैठने का स्थान] । गृणाति [शब्द करना है सत्य का] से । सत्यसगर=प्रतिज्ञा वाला होता है । उस [गर्त] पर वहां जो अपुत्रा [अथवा] जो पति-हीना स्त्री [होती है] वह चढ़ती है । उस [स्त्री] को बड़ा अच्छे से ताड़ते हैं । [तव] वह स्त्री (रिषधम्) पति से आए दाय रूपी धन को प्राप्त करती है । श्मशान का (सञ्चय) मट्टी का ढेर=चत्वर=चौतरा भी गर्त कहाता है । गुरति से=सञ्चित होता है [विनाश के लिए ।] (अपगूर्णः) [लोम श्म से] अप=परे रहते है [अथवा यह] अपगर्णो वाला=दुःख के शब्दों वाला अथवा, क्षापित स्थान होना है । श्म+शान=शरीरो का शानम्=शयनम् =शयन स्थान । श्म=शरीरम् । शरीर शृणाति से । शस्त्राति से अथवा । श्म+धु=लोम (=दाढ़ी मू छ), श्मनि=शरीर मे आश्रित होता है । लोम लुनानि=छेदनकर्म से अथवा । लीयति से अथवा । [गर्त के श्मशान अर्थ मे अगला निगम है]—

नही [यूप के] (उपरस्य) तरखान से बिना छीने भाग को, जो सब से नीचे होता है, (आविष्कुर्यात्) नगा रखे, जो ऊपर को=इस सब से नीचे के भाग को नगा रखे, गर्त मे ठहरा हुआ होवे, मारे हुए आयु वाला-मृत्यु के समीप गया यज्ञमान [हो जाता है ।] यह भी निगम होता है ।

रथ भी गर्त कहाता है । गृणाति मे स्तुति अर्थ बाने से । सब मे अधिक स्तुति वाला यान । (आ रोद्धथ') चढो, हे मित्र और वरुण (गर्तम्)=रथ को । यह भी निगम होता है ।

पत्नी जैसे पति के लिए, कामना करती हुई, सुन्दर वसनों वाली ऋतु कालों में, [वैसे ही] उषा हंसती हुई के समान दान्तों को (विचित्रुण्ते) खोल देती है हृषों को । [१. भ्रातृहीना के समान, २. सभास्थाणु पर चढ़ने वाली के समान, ३. स्त्री के समान, ४. हंसती हुई के समान] ये चार उपमाएं हैं ।

नहीं अभ्रातृमती को (उपयच्छेत्) विवाहे । (तोकम्) पुत्र [उस कन्या के विवाह के अनन्तर उत्पन्न] निश्चय से (अस्य) उस कन्या के पिता का वह होता है । यह (अभ्रातृकायाः) भ्रातृहीना के (उपयमन—) विवाह का प्रतिषेध है । [तथा] प्रत्यक्ष है पिता का पुत्रभाव ।

[अब आगे चतुर्य खण्ड की ऋक् के उत्तरार्थ का अर्थ है] पिता जहां दुहिता के, (अप्रत्तायाः) न दी हुई के, (रेतःसेकम्) वीर्य-सिञ्चन करने वाले [पति, अथवा अपने जामाता] को (प्रार्जयति) प्राप्त अथवा ग्रहण करता है, तो (सन्द्रधाति) जोड़ता है अपने आप को सुखी मन से ।

अव (एताम्) इस [अगली ऋक्] को (जाम्या) भगिनी के (रिक्थ-प्रतिषेधे) दाय के प्रतिषेध के उदाहरण रूप में रखते हैं [कई एक धर्म-शास्त्रकार, और] (ज्येष्ठम्) बड़े भाग को पुत्रिवा के [देने के निषेध में] ऐसा कई एक [आचार्य] ॥ ५ ॥

भाष्य—अव मन्त्र में उषा की उपमा भ्रातृहीना कन्या से दी गई है । उषा की रश्मियां हैं । ये पहले युः से पृथिवी पर आती हैं, पर आदित्य के उदय होने पर अपने मूल स्थान को लौट जाती हैं । यह भी एक विचित्र माया है । इस लौटने को उषा का लौटना कहते हैं । उसी प्रकार भ्रातृहीना कन्या अपने विवाह के हो जाने पर भी अपने पितृकुल को लौटती है । मन्त्र में अर्थापत्ति से यह भी उपदेश है कि विवाह के अनन्तर स्त्री अपने पितृकुल में न आए । यह सभ्यता की पराकाष्ठा है । उस समय गृहस्थ जीवन अत्यन्त सुख और शान्ति का जीवन था । निश्चित है कि जिस प्रकार आज के पतित काल में अधिकांश नवोढा स्त्रियों को अपने पतिगृह में बर्णनातीत कष्ट मिल रहे हैं, वैसे पुरा काल में नहीं थे । तभी तो कोई स्त्री अपने पितृकुल की ओर मुख नहीं मोड़ती थी ।

गर्तारुक्—गर्त=सभास्थाणु—वेद के उपदेश के अनुसार बहुत पुराने काल में धर्मसभाओं में स्थाणु बने होते थे । यास्क के काल में यह स्थाणु-प्रथा

दक्षिणालय देशों में रह गई थी । उस पर खड़ा होने के पश्चात् कोई पुरुष वा स्त्री असत्य नहीं कहती थी । इस लिए उस सत्यसगर कहते थे । उत्तर भारत के पार्वत्य देशों की रियासतों में आज से २० वर्ष पहले भी राजगढ़ी पर हाथ रख कर कोई दोषी असत्य नहीं बोलता था । धर्मस्थान=कब्रहरी में जा कर अनुत्त भाषण करने की प्रथा अमजरी राज्य की दन है ।

इमथु, पञ्जाबी और हिन्दी में मुख्य और मू ल । अमजरी का motto- tische रूप भी इसी संस्कृत शब्द का अपभ्रंश है । मोक=यावनी में man- ta\=man\the kor रूप है । गर्त पद के विभिन्न अर्थ—१ सभा स्थाप २ रथ ३ रमगान सचय ४ गदा है । दूसरे और चौथे अर्थ वाले पञ्जाबी में इस शब्द के अपभ्रंश रूप गडा, गड़ी तथा गदा है । प्राचीन काल में रथ सर्वश्रेष्ठ वान था । पर ये रथ दिव्य भी हुआ करते थे । उपररथ, इय निगमरथ पद में वर्तमान शैली के अनुसार द्वितीया किमकि चादिपू । परन्तु यह पद्य का प्रयोग यदि प्राचीन शैली के अनुकूल है । यह निगम थोड़े स पाठभेद के साथ मै- सहिता ३ । ६ । ४ में है ।

अन्तरिप म मित्र और वरण का रथ है । उस के अर्थ हैं । उस रथ पर चढ़ कर ये दोनों देव दिव्य पथों को पार करते हैं । इस विषय का बद म विस्तार है । भाद्रवि नामक सामवेद की शान्वा थी । भाद्रवि का मत है कि विचारवान् वर भानुहीना के या स विवाह न कर । भानुहीना के-पार्थ विवाही जाती था, पर उन पर कोई व वन की शर्तें लगानी होंगी । उषा की चारों अक्षरपार्थ अल्पवर्ण योग्या है ॥ २ ॥

न जामय तान्वा रिथमरिक् चकार गर्भे सनितुर्निधानम् ।

यदा मातंगे जनयन्तु वद्विमन्यः क्वर्ता मुक्तोरिथ्य अन्धन् ॥

[अ० ३ । ३१ । २ ॥]

न जामय भगिन्ये । जामिरन्वऽस्या जनयन्ति जाम् अपत्यम् । जमतया स्यात् गतिकमल । निर्गमनप्राया भवति । तान्य आभ्र पुत्र । रिक्थं प्रादिवत् प्रदान । अकारेण गर्भनिधानीम् । सनितुर्दं स्नमादम्य । यदा मातंगोऽजनयत् । यदा पुत्रम् । अयद्वि थ विषम् । अन्यतरं सन्तापकता भवति पुमान् दायाद । अयनरोऽर्द्धविषा जामि शर्दीयते परमै ॥ ६ ॥

अर्थ—नहीं, भगिनी के लिए (तान्वः) औरस पुत्र अर्थात् उस भगिनी का भ्राता (रिक्थम्) दाय धन को (आरैक्) देता, छोड़ता । [उस भाई ने] किया, बना दिया (गर्भम्) वहन के गर्भ को [होने वाली सन्तान द्वारा] (सन्तितुः) उस के हाथ पकड़ने वाले, उस के पति का (निधानम्) निधि स्थान । जो (मातरः) माताओं ने (जनयन्त=अजनयन्त) उत्पन्न किया (वह्निम्) पुत्र को, [और कन्या को तो] (अन्यः) उन पुत्र और कन्या में से एक (कर्ता) सन्तानकर्ता [होता है] (सुकृतोः=सुकृतयोः) उन दोनों भले प्रकार उत्पन्न किए गयों में से । [और] दूसरा (ऋन्धन्) पाला पोसा जाता है, अर्थात् कन्या केवल पाली पोसी जाती है ।

नहीं जामिः=भगिनी के लिए । जामिः, दूसरे इस में उत्पन्न करते हैं, जाम् अर्थात् अपत्य को । जमति से अथवा होत्रे, गत्यर्थ वाले से । (निर्गमनप्राया) बाहर जाने वाली, अर्थात् हमरे घर में जाने वाली होती है । (तान्वः) अपने से उत्पन्न अर्थात् औरस पुत्र । [उसने] (रिक्थम्) दाय धन को (न, प्र+अरिचत्) न दिया । बनाया इस भगिनी को पालन-पोषण द्वारा (गर्भनिधानीम्) गर्भधारण करने में समर्था को । [किस के लिए गर्भधारण करने वाली को पालन द्वारा बनाता है] (सन्तितुः) हस्तग्रहण करने वाले पति के लिए । (यदि ह) यद्यपि माताओं ने उत्पन्न किया वह्निम्=पुत्र को, (अवह्निम् च) और स्त्री को । उन दोनों में से एक ही सन्तानकर्ता अर्थात् वंश चलाने वाला होता है, पुमान् दाय को लेने वाला [है] और दूसरा (अर्द्धयित्वा) पालन पोषण करके (जामिः) भगिनी वृत्त अच्छे प्रकार से दी जाती है, पराए [कुल को वर्धन करने] के लिए ॥ ६ ॥

भाष्य—जामि के अनेक अर्थ हैं । यहां भगिनी अर्थ है । जाः निघण्टु २ । २ में अपत्य नामों में पढ़ा गया है । अतः जाम् का अर्थ अपत्यम् है । तान्वः, अर्थात् अपने तनू=शरीर से, अतः आत्मजः पुत्रः । वह्निः=बोढा=पति, निरुक्त ३ । ४ ॥ यहां पर वह्निः=पुत्रः । वैदिक शब्द यौगिक अथवा योगरूढ हैं, उस का यह उज्ज्वल उदाहरण है । यास्क लिखता है, जामिः प्रदीयते परस्मै । यहां दीयते न लिख कर प्रदीयते लिखा है । इस का अभिप्राय है कि कन्या को वसनों, आभूषणों और विद्या से युक्त ऋ के विवाह में देते हैं । यही भाव

मनुस्मृति ७। २२ में है—कन्याया सम्प्रदान च । यथा सम्प्रदान
म सम्+प्र इन दोनों उपसर्गों से वही भाव निकलता है जो प्रदीवते में है । दाय
के विभाग का यह श्रेष्ठतम प्रकार है । प्रदीवते में जो धन कन्या को दिया जाता है
वह सीधे धन होता है । उस धन पर पति सास और धमुर का अनुमान
अधिकार नहीं होता । इस रथा के दूरन से वर्तमान में लाखों घर दुखी
हो रहे हैं ।

अपत्य नामों में एक नाम सुनु [निघण्टु २। २] है । इसका अंग्रेजी में
अपत्य श son पुरानी अंग्रेजी में sunu, और जर्मन में sohn है ॥ ६ ॥

मनुष्यनामान्युत्तराणि पञ्चविंशति । मनुष्या कस्मात् । मन्त्र
कामाणि स्वीयन्ति । मनस्यमानन सृष्टा । मनस्यति पुनर्मनस्वीभावे ।
मनोरपत्यम् । मनुषो वा । तत्र पञ्चजना इत्यतस्य निगमा भवन्ति ॥५॥

अर्थ—मनुष्यो क नाम [है] अगल पञ्चोस । [मार वचन म हैं ।]
मनुष्य किम म । (मन्त्र) जान कर=विचार कर कर्मों को (स्वीयन्ति=
स्विकार) विस्तार न्त हैं । अथवा सीने र । [दो घ तुआ से यह निरवत
है ।] मनस्यमान=विचार करने वान [प्रजापति] ने उदात्त किए है ।
मनस्यति फिर [यह धानु] मनस्वीभाव=प्रसन्न मन म [है । मन्त्रप्रदान
होन से ।] मनु का अपत्य । मनुप् का [अपत्य] अथवा । (तत्र) इन
पञ्चोस नामों म पञ्चजना इस नाम क निगम [सन्दर्भ] ह ॥ ७ ॥

भाष्य—प्रजापति कीन है ? मद्द अथवा द्विरप्यग्भ=पुरप अथवा
प्रजापति । अतक आचार्य इस द्विरप्यग्भ में एक अभिमानी देव धेननरूप मानत
है । दूसरे हम ईश्वराधिष्ठित सत्ता कहते हैं । सारी सृष्टि प्रजापति की रचना है ।
प्रजापति में विचार और प्रसन्नता है । उसी विचार के फलस्वरूप सारी रचना म
कामविशेष है । यह रचना अकस्मान भूतमात्र से नहीं हुई । वर्तमान विकास
मन म इस विचारसत्ता का अभाव है । घन उन के स्वीकृत उत्पत्ति क्रम में
पद पदे तादृह रहत हैं । उम मनस्यमान-विचारशील और प्रसन्नमना प्रजापति
न ही मनुष्य को रचा है । इम विषय म गी. मं. १। ३। ८ और मी. सं.
४। २। १ में प्रवचन है कि—उम प्रजापति न विनर उपाध किए, तदनु दव
उपाध किए तदन मनस्य उपाध किए । प्रजापति में विचार करते हुए से मनस्य

रचे, अतः मनुष्य मनस्वी होते हैं। इति। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग की रचना किन नियमों के अनुसार हुई है, इस का ज्ञान वैदिक ग्रन्थों में है। श० ब्रा० २।५।१।१ के अनुसार मनुष्य प्रजापति के अनुरूप है। यथा—पुरुषो [=मनुष्यो] वै प्रजापतेर्नन्दिष्टम्। इसीलिङ्ग बाइबिल, उत्पत्ति प्रकरण में लिखा है—And God created man after his own image. यहूदियों का ईश्वर प्रजापति अथवा रुद्र ही है। इस से आगे उन का ज्ञान नहीं है।

मनुष्य मनु का अपत्य है। यह मनु एक देव है। निरुक्त १।५ में इस का वर्णन वायु और २७ गन्धर्वों के साथ अश्व विनियोजन में मन्त्र द्वारा प्रदर्शित है। शतपथ ब्रा० ६।६।१।१६ के अनुसार प्रजापति भी मनु है। पर इस मनु देव का पूरा ज्ञान अभी हमें नहीं है। उसी मनु के अनुकरण पर भूमिस्थ विवस्वान् के एक पुत्र का नाम भी मनु हुआ। और मनु के सन्तान में ही मनुष्य हुए। मनुष्यनामों में नहुषः, तुर्वशाः, द्रुह्यवः, आयवः, यदवः, अनवः और पुरवः नाम भी पढ़े गए हैं। इतिहास में नहुष, तुर्वसु, द्रुह्यु, आयु, यदु, अनु और पुरु नाम पुरुष-विशेषों के हैं। उन्होंने ने वेद से लेकर ये नाम रखे हैं। वेद में इन का अर्थ सामान्य मनुष्य और अन्तरिक्षस्थ नर आदि है। अब पञ्चजन का विवेचन यास्क ने प्रस्तुत किया है ॥ ७ ॥

तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम् ।

ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् ॥

[ऋ० १०।५४।४ ॥]

तदद्य वाचः परमं मसीय येनासुरानभिभवेम देवाः । असुरा असुरताः स्थानेषु । अस्ताः स्थानेभ्य इति वा । अपि वा सुरिति प्राण-नाम । अस्तः शरीरं भवति । तेन तद्वन्तः । सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम् । असोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम् । इति विज्ञायते । ऊर्जाद उत यज्ञियासः । अन्नादाश्च यज्ञियाश्च । ऊर्गित्यन्ननाम । ऊर्जयतीति सतः । पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा । पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् । गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा निपादः पञ्चम इत्योपमन्यवः । निपादः कस्मात् । निपदनो भवति । निपण्णमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः ।

अर्थ—इस का अग्नि सुचीक वा पुत्र अग्नि है। उम का विश्वे देवा के साथ मवाद है। यह होता का जन है।

तो आज वाणी के (प्रथमम्) मुख्य [वन] को (मंत्रीय) मानता हूँ, जिस में अमुरा को हे देवा [हम] (अभि अस्माम) दवा ले, अर्थात् उन पर विजयी हो। हे अन्न खाने वाले, और यज्ञ संपादन करने वाले [देवो तथा] हे पञ्चजना मरे होत्र को (जुषभ्यम्) सेवो।

तो आज वाक् क उत्कृष्टतम [वन का] मानता हूँ जिस के द्वारा अमुरा को [हम] (अभिभयेम) पराजित करें, हे देवो। असुरा = अ+सु+रा = अ+सु+रता, नहीं अच्छे प्रकार रत=टहर हुए। (म्यानेषु) सब स्थानों में। क्षिप्त (अस्ता = क्षिप्ता) निवाज गए सब स्थानों से अथवा। अथवा असु यह प्राण का नाम है। फेंका हुआ गरीर में होता है। इस में उम प्राण वाले [अमुरा ।]

सो = उत्तम [सामग्री] [अथवा स्वशरीर के उत्तम भाग] से देवों को (असुज्जत) उत्पन्न किया [प्रजापति ने], वही मुरो का मुरपन [है]। अमो = नहीं उत्तम [सामग्री] [शरीर के अधो भाग] से अमुरों को उत्पन्न किया वही अमुरों का अमुरपन है, यह विज्ञान जाना जाता है [ब्राह्मण ग्रन्थ में]। (ऊर्क + आद) हे अन्न के खाने वालों और यज्ञ के संपादन करने वालों। ऊर्क यह अन्न का नाम [है]। वनिष्ठ करता है एसा होने से। पूर्ण (पञ्चम्) पका हुआ (सु+प्र+वृक्कम्) सरलता से अच्छे प्रकार काटा जाता है अथवा। हे पञ्चजना मर हावि=होम को सेवो। १ गन्वर्क, २ पितर, ३ दव ४ अमुर [और] ५ राक्षस [ये पञ्चजन ह] ऐसा कई एक [आचार्य मानते हैं]। चारों वर्णों और पाँचवे निषाद [= मत्स्यग्राही वा आषेट पर जीवन बिताने वाला] ऐसा औपमन्यव [मानता है]। निषाद किस से, बैठ जाने वाला होता है [अथवा बैठ कर अन्न खरता है]। बहुत टहरता है इसमें पाप यह नैस्तक [मानते हैं]।

भाष्य—मूल में यह अग्नि देवों में से एक है। उसी के नाम पर अग्नि का भी सूचीक अग्नि नाम हुआ। मूल अग्नि देव कहना है—[यद्यम्] अभि+अस्माम, हम विजयी हों। वाक् प्रथमम्, वाक् का उत्कृष्टतम वक्त्र आर्यविक

हे। यही वाक् छन्दों के रूप में तीनों लोकों में व्याप्त हो जाती है। उस से देव असुरों को दबा सके। उक्=देवों का अन्न। यह उन्हें बल देता है। इस में आग्नेय और आप्य परमाणुओं का योग है। देवों के यज्ञ अन्तरिक्ष में सदा से हो रहे हैं। इन यज्ञों के कारण देव यज्ञियासः कहाते हैं। अब प्रश्न इन पञ्चजनों का है। आधिभौतिक अथवा आधिदैविक पक्ष में ये गन्धर्व आदि हैं। पर असुर और राक्षस दोनों भिन्न भिन्न हैं। औपमन्यव का पक्ष पार्थिव यज्ञपरक है। अतः उसने चारों वर्णों और निपादों की गणना की है। पार्थिव पक्ष में देवों से तात्पर्य विद्वानों का होगा। ये सब होत्र का सेवन करें।

असुरा असुरताः के अगले पाठ में डा० लक्ष्मणसरूप के संस्करण में सन्धिच्छेद अशुद्ध है। वेद के पञ्च पद पर नवीन-भाषा-मत प्रवर्तक ईसाई-यहूदी लेखकों ने अन्नगल बहुत कुछ लिखा है। उस से उन्होंने एक तालव्य नियम (=palatal law) की कल्पना की है। इस नियम से उन्होंने सिद्ध करने का चल किया है, कि वेद से पूर्व एक भारोपीय भाषा थी। उन के इस सारे प्रपञ्च का खण्डन हम ने अपने भाषा का इतिहास में किया है। इन ईसाई-यहूदी लेखकों अथवा इन के उच्छिष्टभोजियों ने हमारे खण्डन का कोई उत्तर नहीं दिया।

यत्पाञ्चजन्यया विशा ॥ [ऋ० = १. ६३. ७ ॥

पञ्चजनीनया विशा। पञ्चपृक्ता संख्या। छी पुन्नपुंसकेष्वविशिष्टा। वाहुनामान्युत्तराणि द्वादश। वाहू कस्मात्। प्रवाधत आभ्यां कर्माणि।

अङ्गुलिनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः। अङ्गुलयः कस्मात्। अग्रगामिन्यो भवन्तीति वा। अग्रगालिन्यो भवन्तीति वा। अग्रकारिन्यो भवन्तीति वा। [अग्रसारिन्यो भवन्तीति वा।] अङ्गना भवन्तीति वा। अञ्चना भवन्तीति वा। अपि वाभ्यञ्चनादेव स्युः। तासामेवा भवति ॥ = ॥

अर्थ—जब पाञ्च जातियों की (विशा) प्रजा ने [इन्द्रे घोषाः असृक्षत] [न वर्षने पर] इन्द्र के घोषाः=स्तुतियां कीं।

१. देखो मासिक पत्र वेदवाणी, वाराणसी, वर्ष १३, संवत् २०१७ विक्रमी के वेदाङ्क में हमारा लेख, परम उत्कृष्ट विज्ञान अन्तर्गत "उक्" पर विवेचन, पृ० ३३—३४।

पाञ्चजना क ममुत्पय वासो प्रजा न । पञ्च (पृथा) जुडो हई संन्या
स्त्रीलिङ्ग पुलिङ्ग और नमु मर विज्ञो म (अविशिष्टा) एक समान
रहती है ।

वाटु क नाम [ह] अमर वाग्हु । वाटु किम म । भन प्रवार
(वायत) वाय लना है करना है इन गना म कर्मों को ।

अट्गुनि क नाम [ह] अमर बार्दम [सारे व वचन म] । अट्गुलय
किम म । मार कर्मों म आग चनन वासी होनी हैं अथवा । आगे=
मव म पूव गलन वासी ह अथवा । आग करन वासी होनी हैं अथवा ।
आगे (साग्गिय) मरकन वासी होनी है अथवा । (अङ्कना) अङ्क =
चिह्न करने जाना होनी है अथवा । (अञ्जना) पट्टचने वाली होनी हैं ।
अथवा (अभ्यञ्जान्) मन्त्र=मदन करने स ही हो । उन की यह [शक]
है ॥ ८ ॥

भाष्य—पाञ्चनन्दया विशा पर स्कन्द लिखता है—पाञ्चनेषु मनुष्येषु
भरया विशा, स्त्रीलिङ्गनिर्देशो जात्यपत्त्वा मनुष्यजातरित्यर्थ । अर्थात्
विशा पत् क स्त्रीलिङ्ग निर्देश स नाति का और तदनुसार मनुष्य नाति का बोध
होना है । पत्र पद सब लिङ्गवाची शब्दों क साथ समान रूप म उदता है पर
यहा स्त्री लिङ्ग निर्देशक विशा पद क कारण प्रजा शब्द का बोधक होकर मनुष्य
जाति का भाव दना है

निपाद पत् से कई एक आचार्य सौधन्यता पद वाचक ऋभुओं का प्रदण
करन हैं । अश्वेद १ । ११० । ४ में भी ऐसा वर्णन है—सौधन्यता ऋभव ।
उन म रथकार भी हाल हैं । उन का सर्षो स सम्बन्ध है । ऋभु अथ मादन वाले
आधिदैविक शब्द लग । वे चार बर्राँ वाला शर्थ नहीं करत होंते । निपाद के इस
शब्द का सकेत सुग और स्कन्द ने किया है । निरुक्त ११ । १२ क शतुमार अर्षु
मध्यस्थानी दक्षगण हैं । वे रथकार ऋभु ही हैं जो सूर्य आदि क रथ विमाणा
परमाणुओं का तक्षण करते हैं ।

आगे बाहु नाम और तदनु अक्षगुलि नाम है । अक्षगुलि नाम क सात
निबचन उन के कर्मों की भिन्नता स दर्शाण गए हैं । अग्रसारित्य निर्वचन
अधुपाठ में नहीं है । निर्वचनों में वाक् की दृष्टि अति सूक्ष्म थी । इन में अग्रवः
अवनय आदि नाम नदी नामों में भी पत्ते गए हैं । उन का भेद बताने के लिए
अगशी शक है ॥ ८ ।

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः ।

दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः ॥

[ऋ० १०। ६४। ७ ॥]

अवनयोऽङ्गुलयो भवन्ति । अवनन्ति कर्माणि । कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि । योक्त्राणि योजनानीति व्याख्यातम् । अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि । दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः । धूर्धूर्वतेर्वधकर्मणः । इयमपीतरा धूरेतस्मादेव । विहन्ति वहम् । धारयतेवो ।

कान्तिकर्माण उत्तरे धातवो ऽष्टादश ।

अन्ननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः । अन्नं कस्मात् । आनतं भूतेभ्यः । अत्तेर्वा ।

अत्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश ।

वलनामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः । वलं कस्मात् । वलं भरं भवति । विभर्तेः ।

धननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेव । धनं कस्मात् । धिनोतीति सतः ।

गोनामान्युत्तराणि नव ।

क्रुध्यतिकर्माण उत्तरे धातवो दश ।

अर्थ—दस (अवनिभ्यः) रक्षा करने वाली अङ्गुलियों वाले, दस (कक्ष्येभ्यः) कर्म-प्रकाश करने वाली अङ्गुलियों वाले, दस (योक्त्रेभ्यः) योक्त्र रूमी अङ्गुलियों वाले, दस (योजनेभ्यः) जोड़ने वाली अङ्गुलियों वाले, दस (अभीशुभ्यः) रास रूमी अङ्गुलियों वाले (अजरेभ्यः) जीर्ण न होने वाले, दस धुरों से दस स्थानों पर (युक्ताः) जुड़े हुए (वहद्भ्यः) वहन करने वाले अथवा उठा कर ले जाने वाले । [सोम के ग्रावों के लिए, हे ऋत्विजो] (अर्चत) स्तुति करो ।

अवनयः अङ्गुलियां होती हैं । रक्षा करती हैं कर्मों की । कक्ष्याः [अङ्गुलियां हैं] प्रकाशित करती हैं कर्मों को । योक्त्राणि [यह नाम] योजनानि [नाम से] व्याख्यात हुआ है । [दोनों जोड़ने अर्थ वाले नाम

है]। अभीशय' [अङ्गुलियम् है] (अभि अश्नुजते) व्यापती हैं कर्मों को । दम धुरे, दम [स्थानों पर] जुड़े हुआ को उठा कर ले जाने वालों के लिए । धू धूर्वति से, वय अर्थ वाले से । यह भी दूमरी धू इमी [धूर्व] में ही [है] (रि हन्ति) विशेष माखी रहती है (यद्दम्) उठाने वाले [घोड़े वा बैल के बन्धे को] । धारयति से अथवा ।

(कान्ति) इच्छा अर्थवाले [हैं] अगले धातु अठारह ।

अन्न के नाम [है] अगले अठारह । अन्न किम से । (आनतम्) सब ओर से झुका होता है प्राणियों के लिए । अत्ति-[खाता है] में अथवा ।

(अत्ति) खाने अर्थ वाने [हैं] अगले धातु दम ।

बल के नाम [है] अगले अठारह । बल किस से । बल धारण और पीपण करने वाला होता है । बिभति से ।

धन के नाम [है] अगले अठारह ही । धन किस से । धिनोति=नृष करता है, ऐसा होने से ।

गो के नाम [है] अगले नौ ।

बुध्यति= बोध करता है, अर्थ वाने है, अगले धातु दम ।

भाष्य—अङ्गुलियों के घेद के एक ही मन्त्र में इतने नाम हैं । सोम के प्राव मध्यमस्थानी हैं । उन प्रावों की कौन सी अङ्गुलियाँ रचा करती हैं, इत्यादि सारी माया समझने योग्य है । उन्हीं प्रावों के अनुकरण पर इस पृथिवी पर के यशों में सोम को प्रावों से पीसते हैं ।

वर्षिम और वष्टि वे दोनों धातु इच्छा अर्थ वाले धातुओं में हैं । हन्दी से अमेजी का अपभ्रंश wash बना है ।

अन्नं वस्मान् आनतं भूतभ्यः, पर सिद्धेश्वर वर्मा ने लिखा है—

The second and by far the most important characteristic of Yaska, which, I think, these pages mainly show, is the fact that he was a primitive etymologist. It must be admitted that many of Yaska's etymologies are so glaringly primitive that

even an ordinary Pandit trained in the Pāṇinian school will easily detect them as such. e. g. Yāska derives अन्न—'food' from आ+√नम (आनतं भूतेभ्यः). (The Etymologies of Yāska, p. 4.)

अर्थात्—यास्क एक बालिश व्युत्पत्तिवेत्ता था । यास्ककृत अनेक व्युत्पत्तियाँ नम रूप में इतना बालिश रूप लिए हैं, कि पाणिनीय व्याकरण जानने वाला एक साधारण पण्डित भी उन्हें सरलता से पहचान लेगा । यथा—अन्नम् की आ+√नम से व्युत्पत्ति ।

अब तनिक गम्भीरता से सोचना चाहिए कि सिद्धेश्वर वर्मा ने ऐसा क्यों लिखा । वर्मा शास्त्री-परीक्षा उत्तीर्ण है । क्या वह यह नहीं पढ़ा था कि व्युत्पत्ति और निर्वचन में महदन्तर है । और निर्वचन विद्या का सर्वथा पृथक् स्थान है । हम निस्सन्देह कहते हैं कि वर्मा को इस विद्या का न ज्ञान था, न है । वर्मा क्या, वर्मा के ईसाई-यहूदी गुरुओं, भाषाविद्गुणों को भी इस विद्या का ज्ञान नहीं है । जैसे चोर और डाकू अपने गुट में बैठ कर अपने को शूर-वीर कहते हैं, वैसे ही ईसाई गुट के लोग भी अपने को भाषाविद् (linguists) आदि कहते हैं । अरे वर्मा, अरे यास्क पर बालिशपन का लावण्य लगाने वाले, अरे ईसाइयों के उच्छिष्टभोजी, अरे अपभ्रंशों की तुलना से उन की मूल संस्कृतभाषा का एक सर्वथा असत्य रूप खड़ा करने वाले वैज्ञानिकाभास, अन्न संज्ञा तो पक कर स्वन्न (=नरम) होने पर ही होती है, और वही भूतों=प्राणियों के लिए आनत=मुका हुआ अर्थात् भक्षण योग्य होता है । वह स्वन्नता चाहे पाकान्नि से पक कर उत्पन्न हो, चाहे सूर्याग्नि अथवा अन्य किसी प्रकार की उष्णता से सिद्ध हो । जब तक तण्डुल आदि धान्यों में तथा आन्न आदि फलों में उक्त स्वन्नता उत्पन्न नहीं होती तब तक वे भक्षण योग्य नहीं होते । इसीलिए वे भूतों=प्राणियों के प्रति आनत भी नहीं होते । अतएव कोशकारों ने सस्य, धान्य और अन्न की परिभाषा करते हुए स्पष्ट लिखा है —

सस्यं^१ क्षेत्रगतं प्राहुः सतुपं धान्यमुच्यते ।

आमं वितुपमित्युक्तं खिन्नमन्नमुदाहृतम् ॥^२

१. 'सस्यं' पाठान्तर ।

२. शब्दकल्पद्रुमकोशकार द्वारा उद्धृत श्राद्धतत्त्वधृत वसिष्ठवचन ।

अर्थात्—जब तक गोधूमादि श्रेय में रहते हैं तब तब वे स्वस्य (स्वयं), जब तक तुष सहित रहते हैं धान्य, तुषरहित होने पर आम और त्रिन्न अर्थात् एक कर नरम हो जाने पर अन्न कढ़ाते हैं ।

इतना ही नहीं, स्वयं अथवा पल आदि परिपक्व होने पर भार के क्षरण पूर्णरूपया न्यूनाधिक रूप से आनन=मुक भी जाते हैं ।

अन्न के इन्हीं अर्थों की सूक्ष्मता को यास्क ने श्रुत्यन्ति द्वारा नहीं, अपितु निर्वचन द्वारा समझाया है । उस की रूपमता को न समझना तुम्हारे अपने वाक्यांश पन का जलन्त प्रमाण है । तुम्हें घृषा कामज काला नहीं करना चाहिये ।

इन नामों में पितृ भी एक नाम है । उस का अमेजी अपभ्रंश [pō] है । पुरानी अमेजी में [o] है ।

अन्न ही धारण और पोषण करता है । निर्बल अपनी रक्षा नहीं कर सकता ।

गौ के नामों में से उन्हा पद अधिकांश न गो रूपी किरणों का चोतक है । मही अदिति और दृष्टा पृथिवी के नामों में भी है । जगती और शकरी सुन्द हैं, पर अन्तरिक्ष में गौ के कई कर्म करते हैं अतः गो नामों में पड़े गए हैं । गौ का अपभ्रंश अमेजी का cow रूप है । पुरानी अमेजी में ew और ग्रीक में cows रूप है ।

क्रोधनामान्युत्तराण्येकादश ।

गतिकर्माण उच्यते धातवो द्वाविंशतन् ।

क्षिप्रनामान्युत्तराणि पद्विंशति । क्षिप्र कस्मात् । सक्षिप्तो विकर्ष ।

अन्तिकनामान्युत्तराण्येकादश । अन्तिक कस्मान् । आनीत भवति ।

संग्रामनामान्युत्तराणि पद्चत्वारिंशन् । संग्राम कस्मात् । सङ्गम नद्धि । सङ्गच्छति । सङ्गती भ्रामाविति वा । तत्र रत्न इत्यतस्य निगमा भवति ॥ ६ ॥

गति अर्थ वाले [हैं] अगले वातु एक सी बाईम । क्षिप्र=आशु अथवा गीघ्र के नाम [हैं] अगले छद्बीम । क्षिप्र किस से । (संक्षिप्तः) छोटा किया जाता है, (विकर्षः) खिंचा हुआ ।

अन्तिक=पगीप के नाम [हैं] अगले ग्यारह । अन्तिक किस से । (आनीतम्) [समीप] लाया हुआ होता है ।

संग्राम के नाम [हैं] अगले छयालीस । संग्राम किस से । (संगमनात्) एक साथ हो जाने से, भिड़ने से अथवा । (संगरणात्) एक साथ शब्द करने से अथवा । (संगती) एक साथ होते हैं (ग्रामी) दो समूह=दल अथवा । इन [छयालीस नामों में एक नाम] खले है । इस के निगम होते हैं । [इस खले का गेहूँ के खलिहान वाचक से सन्देह नहीं होना चाहिए] ॥ ९ ॥

भाष्य—गति का अपभ्रंश अंग्रेजी में gait है । निघण्टु २ । १५ के क्षिप्र नामों में शु और आशु में वैसा ही अन्तर है, जैसा त्मन् और आत्मन्, अथवा उप-नयन और उप-नायन में है । शतपथ ब्राह्मण १२ । ३ । २ । ८ के अनुसार सुहृत्, क्षिप्र, गृहीर्हि और इदानि आदि काल के अवान्तर विभाग हैं । सुहृत् से १५ गुणा सूक्ष्म काल क्षिप्र होता है ॥ ६ ॥

अभी३दमेकमेको अस्मि निष्पाळ्भी द्वा किमु त्रयः करन्ति ।

खले न पर्पान्प्रति हन्मि भूरि किं मां निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ॥

[ऋ० १० । ४८ । ७ ॥]

अभिभवामीदमेकमेकः । अस्मि निष्पहमाणः सपत्नान् । अभिभवामि द्वौ । किं मा त्रयः कुर्वन्ति । एक इता संख्या । द्वौ द्रुततरा संख्या । त्रयस्तीर्णतमा संख्या । चत्वारश्चलिततमा संख्या । अष्टावश्रोतेः । नव न वननीया । नावाता वा । दश दस्ता । दृष्टार्था वा । विंशतिर्द्विर्दशतः । शतं दशदशतः । सहस्रं सहस्रत् । अयुतं नियुतं प्रयुतं तत्तदभ्यस्तम् । अर्बुदो मेघो भवति । अरणमम्बु । तद्दः । [अम्बुदः] अम्बुमद्भवतीति वा । अम्बुमद्भवतीति वा । स यथा

महान्वहुर्भवति वर्षेस्तदिगार्तुदम् । खले न पर्यान्वतिहन्मि भूरि । मह
इव पर्यान्वति हन्मि भूरि । खल इति स्वंप्रामनाम् । खलतेर्वा स्खलतेर्वा
अयमपीतरः खल एतन्मादेव । समास्फयो भवति । किं मा निन्दमि
शत्रुशोऽनिन्द्राः । य इन्द्रं न विपिदुः । इन्द्रो ह्यहमस्मि । अनिन्द्रा इव
इति वा ।

अर्थ—[इन्द्र अपना मामर्षं कहना है—] (इदम्) इस सब को
(एकम्) एक-एक को (एकः) अकेला [मै] (अभि अस्मि) चारों
ओर से [भाव] है । (निः+धाट्) प्रकर्तता में दवाने वाला [हू] ।
(अभी=अभि) दवाना हूँ, दो को । क्या और तीन (करन्ति) कर सकते
हैं । (खले न पर्यान्) खलिहान में जैसे बात पत्तों को [बैल पात्रों से
रोदने हैं, वैसे सधाम में मै] (पर्वाद्) कठोर योद्धाओं को (प्रति हन्मि)
पीन डालना हूँ (भूरि) अव्यधिक । क्या मुझे निन्दने हैं शत्रु, जो इन्द्र नहीं
हैं, अर्थात् ऐश्वर्य से रहित हैं ।

(अभि भवामि) चारों ओर से दवा लेना हूँ, (इदम्) इस सब को
(एकम् एक) एक को एक [मै] । हूँ, न सहा जा सकने वाला ।
(सपञ्चान्) शत्रुओं को (अभि भवामि) दवा लेना हूँ (द्वौ) दो को ।
क्या मुझे तीन कर सकते हैं । (एकः) एक (इत्ता) [सर्वत्र] पहुँची हुई
संख्या । [एक में आगे प्रत्येक संख्या में इन एक का योग है ।] (द्वौ) दो
(द्रुततम) अधिक आगे दौड़ी] एक की ओझा] संख्या । (त्रयः) तीन,
[दो में आगे] (तीर्णतमा) सब से अधिक तैर कर गई हुई संख्या ।
(चत्वारः) चार बहुत आगे चली गई संख्या । (अष्टौ) व्याप्तने में ।
(नव) नौ, नही (दशनीया) सबने योग्य । नही (अगस्ता) प्राप्त की हुई
अथवा । दश (दस्ता) चौण हुई [संख्या] (दशार्था) देवे हुए अर्थ वाली
अथवा । त्रिंशति दो बार दश से । शतम्, दश, (दशनः) दश में
[गुणन कर के ।] सहस्रम्, (सहस्रत्) बलवाला, असुतं, निपुतं,
प्रपुतं, वह वह (अभ्यस्तम्) बार-बार हुआ होता है । अर्तुदः, मेघ होता
है । अरण्यम्=अम्बु=जल । (तद् द) उम को देने वाला अम्बुद=मेघ ।
[अम्बुद और अर्तुद समान अर्थ वाले निर्वचन स है । (अम्बुमत्) जल
वाला [मेघ हो कर] (भाति) भामता है अथवा । जब पूर्ण हो कर मेघ
होता है अथवा । वह जैसा महान् [और] (बहुः) बहुत होता है, (वर्षन्)

वरसता हुआ बूँद रूप से, (तत् इव) उस के समान अर्बुदम्=अर्बुद=संख्या है। (खले न) खल=खलिहान में जैसे (पर्पान्) पुआलों को [वैसे संग्राम में शत्रुओं को] (प्रति हन्मि) नष्ट कर देता हूँ (भूरि) बहुतों को। न=इव [अर्थ में है।] खले यह संग्राम का नाम है। खलति=मथन किया जाता है, [इस मथनार्थ से] अथवा। स्वखलति=लड़खड़ाना=फिसलना=गिरना से अथवा। यह भी जो दूसरा खल=खलिहान [है,] इस से ही [है।] (समास्कन्नः) मर्दन किए जाने पर [धान्य कणों से युक्त] होता है, क्या मुझे निन्दते हैं शत्रु लोग, जो नहीं हैं इन्द्र। जो [मुझ] इन्द्र के [महत्कर्मों को] नहीं जानते। इन्द्र ही मैं हूँ, अनिन्द्र दूसरे अथवा।

भाष्य—एकम् एकः। एक के साथ एक। यह नियम किसी अंश में भारत युद्ध में पालन किया गया था। जब रथी के साथ रथी, पदाति के पदाति, अश्वारोही के साथ अश्वारोही और अश्वों के विरुद्ध अश्वों का युद्ध निश्चित हुआ था। करन्ति=कुर्वन्ति।^१ कभी करन्ति रूप लोक में प्रसिद्ध था। उसी का अपभ्रंश रूप पंजाबी में करता है, है। अभिभवामि के समान कभी अभि अस्मि प्रयोग भी था।

एकः आदि संख्याओं के निर्वचनों के सम्बन्ध में प्रो० उमाशङ्कर शर्मा ने हिन्दी निरुक्त पृ० ८२ पर लिखा है—इन संख्याओं पर यास्क ने व्यर्थ अपनी कल्पना शक्ति का दुरुपयोग किया जिस के कारण वे हास्यास्पद^२ हो जाते हैं इति। राजवाड़े ने भी लिखा है—The derivations of एक etc. are mere freaks. (p. 457) प्रतीत होता है, शर्माजी और राजवाड़े ने यास्क की प्रतिज्ञा पर ध्यान नहीं दिया। इसी लिए उन्होंने इस प्रसङ्ग में ईसाई-यहूदी लेखकों के कुतकों का अनुकरण किया है। देखिए, यास्क लिखता है—अविचमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यात् निर्द्रूयात्। न त्वेव न निर्द्रूयात्। २।११॥ अब विचारिए, कि यास्क ऐसी प्रतिज्ञा क्यों करता है। यास्क अनवच्छिन्न परम्परा से जानता है कि वेद मन्त्र अनादि हैं। मन्त्रों के पद मनुष्य की बुद्धि से कल्पित नहीं किए गए।

१. करन्ति अति प्राचीन संस्कृत का रूप है। तुलना करो—तस्माद्धि वैरं न करोन्ति पण्डिताः। गिलगित हस्तलेख, कोशाम्बक वस्तु, पृ० १८४।

२. उपहासास्पद चाहिए। हास्यास्पद प्रयोग ठीक नहीं।

प्राथमिक ईसाई यहूदी लेखकों और उन के उद्विग्न-भोजियों ने भाषा की उत्पत्ति के त्रितने भी मार्ग विकासमत के प्रभाव से अनुमानित किए हैं उन के विषय में इटली देश का मेरिबो-पाई लिखता है—

If there is one thing on which all linguists are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech is still unsolved¹

अर्थात्—मानव भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला। ऐसी अवस्था में एकमात्र सत्य बात पर विचार न करना दुराग्रह मात्र है। फलतः यास्क जब भाषा को देवों की इन मानता था, तो वह यह भी जानता था कि शब्द अर्थ और उन के सम्बन्ध सिद्ध=नित्य हैं। इस स्थिति में पुनीत आर्य बुद्धि से उस ने विचारा कि एक ही आदि पदों का स्वामाविक अर्थ, जो शब्द में ही सन्निहित है विचारना चाहिए। तदनुकूल उस न अक्षर और अर्थ की सामान्यता से एक, आदि पदों का निर्वचन किया। एक=इता=सर्वत्र पहुँची सख्या। अ+इ+उ=इ=इता=गई हुई अथवा पहुँची। एक ही आगे आगे जा कर सारी संख्या बनता है। वही सब संख्याओं को प्राप्त होता है। दू=द्वितया, एक की अनेक शीघ्र आगे दौड़ी सख्या। द की समानता से द्वुत। अथ=तीर्थात्मता। दो की अनेक सभ से अधिक तीर कर गई सख्या। दू में तर और अथ में तम प्रत्यय का कार्य माना गया है। अक्षर बहुत आगे बढ़ी संख्या। पञ्च पद का निर्वचन पूर्व ३।८ में था जुका है। यह का नि० ४।२० और सप्त का ४।२१ में निर्वचन किया है। आगे अष्टौ और नव के निर्वचन हैं। दश पर सख्या चीथ हो जाती है। इस क्षिप् यास्क ने इस पद का निर्वचन इत्ता=इमु उपचये धातु से दर्शाया। विंशति विंशत्, त्रिंशति-त्रिंशत् आदि दो-दो प्रकार के रूप अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। अंगरेजी के twenty, thirty, forty आदि रूप विंशति आदि के अपभ्रंश हैं। राजवाड़े ने पृ० ४१८ पर सुझाव देने का प्रयत्न किया है कि त्रिंशत् आदि रूप विंशति आदि के उत्तरकालिक रूप हैं। यह सुझाव संस्कृत भाषा के विनाश रूप के न जानने के कारण दिया गया है। अधिक विवेचन के क्षिप् प० युधिष्ठिर मीमांसक हून संस्कृत व्याकरण

१ इस व पों के निष्ठा तथा इस विषय पर देखो ज्योतिष, अथ का इतिहास पृष्ठा व्याख्यात।

शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४०, द्वितीय सं० देखिए। अबु'द संख्या का मेघ से सम्बन्ध बताया है। इस के अन्तर्गत जो गम्भीर वैज्ञानिक रहस्य है, वह शतपथ मा० १२।३।२।१—८ में अन्वेषणीय है।

व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। तत्र द्वे नाम्नी आक्षाण आशनु-
वानः। आपान आप्नुवानः।

वधकर्मण उत्तरे धातवस्त्रयस्त्रिंशन्। तत्र वियात इत्येतद् वियातयत
इति वा। वियातयेति वा।

आखण्डत् प्र ह्यसे ॥ [ऋ० =। १७। १२ ॥]

आखण्डयितः [खण्डं खण्डयतेः।] तद्धित्यन्तिकवधयोः
संस्फुटकर्म। ताडयतीति सतः ॥ १० ॥

अर्थ—व्याप्ति अर्थ वाले [है] अगले धातु दस। (तत्र) इन दस
धातुओं में दो [स्फुट] नाम हैं। (आक्षाणः)=आ+अशनुवानः=व्याप्त हुआ।
(आपानः)=आप्नुवानः=व्यापता हुआ।

वध अर्थ वाले [है] अगले धातु तैंतीस। इन में=वहां वियातः यह
[नाम है]। वियातयते [न.ना प्रकार से शत्रुओं का] नाश=वध करता
है। वियातय [इस रूप में] अथवा। ना । कर।

[आखण्डत्: भी नाम पद है।] हे आखण्डत्=मेघों के खण्ड-खण्ड
करने वाले [इन्द्र] (प्र ह्यसे) तू बुलाया जा रहा है।

आखण्डयितः=खण्ड-खण्ड करने वाले। खण्डम्, खण्डयति से [है।]
तद्धित्, यह (अन्तिक) समीप और वध के (संस्फुटकर्म) संस्फुट=जुड़े
हुए अर्थ में [है।] ताड़ना करता है, ऐसा होने में ॥ १० ॥

भाष्य—धातुओं में नामों का परिगणन ध्यान देने योग्य है। इस का
प्रयोजन नाम पद से भी धात्वर्थ का परिज्ञान कराना है। मध्यमस्थानी इन्द्र
मेघों का खण्ड-खण्ड कैसे करता है, यह विज्ञान जानने योग्य है। संस्फुट रूप
का प्राचीन ग्रन्थकार कौटल्यादि अधिक प्रयोग करते हैं। वर्तमान में संस्फुट रूप
अधिक प्रयुक्त हो रहा है।

१६ वर्ष के ३६० दिन में ५४६७५००० प्राण होते हैं। जितने प्राण उतने
अन्न, उतने निमेष, उतने लोमर्गत, उतने श्वेदायन=शोमकूप, उतने स्तोक वर्षते
हैं। मेघ का अर्पण परिमाण है। उस में अबु'दमात्र स्तोक हैं।

त्वया धर्मं सुवृथा ब्रह्मणस्पते स्पर्धां वसु मनुष्या ददामहि ।

या नो दूरे तद्धितो या अरातयोऽभिमन्ति जग्मया ता अन्वसन्तः ॥

[ऋ० २ । २३ । ६ ॥]

त्वया धर्मं सुवृथा ब्रह्मणस्पत स्पृहणीयानि वसुनि मनुष्येभ्य
आददामहि । याश्च नो दूरे तद्धितो याश्चान्तिषे । अरातयोऽदानकर्माणो
या । अदानप्रहा वा । जग्मय ता अन्वसन्तः । अन्व इति रूपनाम ।
आन्वोतीति सन्तः ।

त्रिषुक्तद्विद्वर्तीति शारूपणि । सा ह्यवनाडयति । दूराद्य
दृश्यतः । अपि त्रिद्वन्तिकनामिकाभिर्ग्रन्थान् ।

दूरे चित्सन्तद्धिदिवार्ति रोचसे ॥ [ऋ० २ । ६४ । ७ ॥]

दूरेऽपि सन्नन्तिक इव सन्दश्यस इति ।

धज्जनामान्युत्तराण्यणदश । धज्ज कस्मात् । धर्जयतीति सन्तः । तत्र
कुत्रस इत्येतत्सन्तते । ऋषि कुत्सो भवति । कर्त्ता स्तोमानामित्यौष
मन्यय । अथाप्यस्य धर्जकर्मैव भवति । तन्सन्ध इन्द्रं शुष्णं जगनेति ।

पेभ्यर्षकमाण उत्तरे धनिवधत्वारः ।

ईश्वरनामान्युत्तराणि चत्वारि । तत्रन इत्येतत् सन्तित केभ्येषेति
वा । सान्तमनेनेस्त्वर्षमिति वा ॥ ११ ॥

अर्थ—तुम द्वारा=तेरी सहायता द्वारा हम श्रेष्ठ बड़ाने वाले के द्वारा
ह ब्रह्मणस्पते, (स्पर्धा) चाहे जाने योग्य (वसु) धनो को (मनुष्या=
मनुष्य+आ) मनुष्येभ्य =मनुष्या से (आ ददीमहि) ग्रहण करें । जो हमे
दूर (तद्धित) समीप जो (अरातय) न देने वाले शत्रु (अभि सन्ति)
[हमे] दवाने हैं, (जग्मय) निरवेष्ट=नाग करो (ता) उन को (अन्+
अन्वस) रूप रहित=बिना हथ वाला [बना कर] ।

तेरे [द्वारा हम, श्रेष्ठ बड़ाने वाले के द्वारा हे ब्रह्मणस्पते, स्पर्धायोग्य
धनो को मनुष्यो से ग्रहण करे—नेवे जो और हमारे स दूर तद्धित जो
और समीप (अरातय=अदानकर्मण) न देने के कर्म वाले । न देने

की प्रज्ञा=मति वाले । (जम्भय) निश्चेष्ट कर=नाश कर, उन (अनप्रसः) रूप रहितों को । अप्रः यह रूप का नाम है । (आप्रोति) व्यापता है, ऐसा होने से ।

विद्युत् तळित् होता है, यह शाकपूणि [कहता है ।] वह [विद्युत्] ही (अवताडयति) अति ताडती है [आंखों आदि को] दूर से और दिखाई देती है । फिर भी (इदम्) यह समीप का नाम ही अभिप्रेत हो सकता है ।

(दूरे चित् सन्) दूर हुआ भी (तळित् इव) समीप के समान [तू] अतीव दीप्ति करता है, अर्थात् (सन्दृश्यसे) सुन्दर दीखता है ।

वज्र के नाम [हैं], अगले अठारह । वज्र किस [कारण] से । (वर्जयति) वर्जित करता है, वन्द कर देता है [प्राण मार्ग को], ऐसा होने से । उन [वज्र नामों] में कुत्स, यह पद कृन्तति से [है ।] ऋषि कुत्स होता है । कर्ता स्तोमों=स्तुति मन्त्रों का, यह औपमन्यव [कहता है ।] यहां [इस ऋषि अर्थ में] भी इस [अन्तरिक्षस्य ऋषि] का वध कर्म=अर्थ ही होता है । (तत्सखः) उस के साथ, वह सखा है जिस का, उस इन्द्र ने (शुष्णम्) शुष्ण=सुखाने वाले अमुर को मारा । यह [प्रमाण] है ।

ऐश्वर्य अर्थ वाले [हैं] अगले धातु चार ।

ईश्वर के नाम [हैं] अगले चार । उन [नामों] में इनः यह (पतत्) इस प्रकार [है]—(सनितः) सङ्गत है ऐश्वर्य से अथवा [वह परमात्मा] । (सनितम्) सङ्गत किया है ऐश्वर्य को [भक्तों पर जिसने] अथवा ॥ ११ ॥

भाष्य—ब्रह्मणस्पते=ब्रह्मणः+पति=वेद का स्वामी । बृहस्पति के लिए कभी कभी यह पद प्रयुक्त होता है । जम्भय=दुर्ग, निश्चेष्ट करो, स्कन्द, नाश करो । जम्भक अथ भी निश्चेष्ट करता है । हिन्दी में जम्माई लेना । मन्त्रगत तळित् के अर्थविषय में शाकपूणि और यास्क का थोड़ा सा अन्तर है ।

वज्रनाम, वज्र का ही अर्धों में अपभ्रंश बर्क हुआ है । कुत्स भी वज्र का नाम है । और कुत्स ऋषि भी है । ऋषि कुत्स इन्द्र का सखा है । अनेक मन्त्रों और ब्राह्मण वचनों में कुत्स और इन्द्र का वर्णन है । वेद में इन्द्र मध्यस्थानी है, अतः कुत्स भी मध्यमस्थानी है । उस ने स्तोमों=इन्द्रों को अन्तरिक्ष में विस्तृत किया । ऐसा औपमन्यव का अभिप्राय है । इनः यह ईश्वर नाम है ॥ ११ ॥

यया सुपणां अमृतस्य भागमनिमप विद्याभिस्वरन्ति ।

इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा स मा धार पाकमत्रा विवश ॥

[अ० १।१६३। १ ॥]

यत्र [सुपणा] सुपनना आदित्यरश्मय । अमृतस्य भागमुदकस्य । अनिमिषता वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा । अभिप्रयन्तीति वा । ईश्वर सर्वेषां भूतानां गोपायितादित्य । स मा धार पाकमत्रा विवशति । धारो धीमान् । पाक पक्तयो भवति । विपकप्रज्ञ आदित्य । इयु पनिपद्वर्णा भवति । इत्यधिद्वतम् ।

अध्याध्यामम् । यत्र [सुपणा] सुपतनानां द्वियाणि । अमृतस्य भागं ज्ञानस्य । अनिमिषता वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा । अभिप्रयन्तीति वा । ईश्वर सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायितात्मा । स मा धार पाकमत्रा विवशति । धीरो धीमान् । पाक पक्तयो भवति । विपकप्रज्ञ आत्मा । इत्यात्मगतिमाद्यष्टे ॥ १२ ॥

अर्थ—जहाँ (सु+पणा) भन प्रकार पतनगील [रश्मय] (अमृतस्य) उदक विषय के (भागम्) परमाणुओं को (अनिमिषम्) निमेष वज्रित अर्थात् निरन्तर बिना विभ्रम (विन्शा) किमी विनाश म (अभिस्वरन्ति) ल जाती हैं प चाती है । (इन) ईश्वर—एश्वर्यान्ती स्वामी सम्पूर्ण भुवन का रक्षा करने वाला [आदित्य है ।] (स) उन न मुझे (धीर) प्रभावान [आदित्य] न (पाकम्) अन्न पाने वाले को (अत्र) इन अपने मण्डल में (आ विवश) प्रवेश कराया ।

जहाँ सुपतनगील आदित्य रश्मिया उदक के (भागम्) अन्न का निरन्तर (अभिस्वरन्ति) चल करता है अथवा पचानी है । ईश्वर हाँ भूतों का रक्षा करने वाला आदित्य । वह [आदित्य] मुझे धीर—वीरान पाक—को पकाने योग्य होता है [अर्थात् मुझे अन्न पाने को] वि+पक्त=अयन्न पकी हुई प्रण आत्मा आदित्य । यह उपनिषद् बखाने होगा है । यह अधिद्वतम्—वेदना पक्त वाला अर्थ है ।

अत्र अध्याध्यामम् शरीर पत्र म [अथ कहते हैं] जहाँ भने प्रकार [सम्पूर्ण विषयो मे] गिरने वाली इन्द्रिया अमृतज्ञान के अन्न को निरन्तर

ज्ञान-द्वारा जन्मायमान करती है, पहुँचाती है अथवा, ईश्वरः, सारी इन्द्रियों का रक्षक आत्मा । उम [आत्माने] मुक्ते, [जो आत्मा] धीर=वीरमा है, अपक ज्ञान जाने वो (अत्र) इम अने अन्तः ज्ञान में प्रवेश कराया । वि+पक्=अत्यन्त प्रजा वाला आत्मा । इप प्रकार आत्मगति को कहता है ॥ १२ ॥

भाष्य— प्रथम मण्डल के इस १६४ सूक्त के दो मन्त्र पहले निरुक्त २ । ८ में आ चुके हैं । प्रस्तुत मन्त्र सूर्य विद्या का अद्वितीय निदर्शन है । आदित्य मण्डल में रश्मि-समूह है । आदित्य के सृजन के साथ रश्मि-सृजन भी हुआ । तै० सं० १ । ३ । ६ का वचन है, रश्मिः, इत्येव आदित्यम् असृजत । अर्थात् रश्मिः, इस शब्द-ध्वनि के साथ ही आदित्य सृजा गया । ये रश्मियां सहस्र प्रकार की हैं । इन का वर्णन मद्रचित वेद-विद्या निदर्शन, आदित्य प्रकरण में देखिए । उन में से एक प्रकार की रश्मियां सुपर्णाः हैं । ये सुन्दर पंखों वाली हैं, अतः ऊपर-नीचे उड़ती हैं । इन की लीला विचित्र है ।

अमृत—सूर्य अमृत का लोक है । ऋग्वेद का मन्त्र कहता है—आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकम् । १० । ८५ । २० ॥ अर्थात् चदो हे सूर्ये अमृत=दिव्य उदक के लोक को । यह मन्त्र निरुक्त १२ । ८ में भी है । जैमिनीय ब्राह्मण में भी इसी सत्य का कथन है—अथ यदेतन्मण्डलं ता आपस्तदक्षं तदमृतम् । २ । ६२ ॥ अर्थात् आदित्य मण्डल अमृतमय है । यही देवान् का स्थान है । महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६ में एक महान् वैज्ञानिक तथ्य सुरचित है । तदनुसार चायु के षष्ठ परिवह नामक स्तर में ही आपः दिव्य हो जाते हैं और अमृत रूप धारण करते हैं ।^१ अतः मुनि यास्क ने अमृत का अर्थ उदक किया । ये आपः=अमृत-कण अनिमेषं गति शील रहते हैं । पूर्व निरुक्त २ । १६ के भाष्य में भी वेद मन्त्रों से यही प्रतिपादित किया गया है कि दिव्य आपः—अनिमिषं चरन्ती, निरन्तर गतियुक्त हैं ।

अभिस्वरन्ति—सूर्य मण्डल में अमृत के कण दिव्य स्वर उत्पन्न करते हैं । इन से विभिन्न छन्द बन रहे हैं । अभिप्रयन्ति, यह अर्थ यास्क के अलौकिक ज्ञान का परिचायक है । दिव्य आपः इन सुपर्णा रश्मियों द्वारा आदित्य

लोक में पहुँचते हैं । उन्हीं के कारण ताप बर्षा और शीत की उत्पत्ति भ्रुव के प्रभाव से होती है । इस ने सूर्य विद्या का यहाँ संकेतमात्र किया है । ऐसे ज्ञान को पूर्ण समझ कर हमारा विश्वास वेद ज्ञान पर अधिकाधिक हुआ है और योरोप और अमेरिका के साइन्स के अधूरे पन का पता चला है ।

अधिदैवत और अध्यात्म पक्ष—इस शब्द के उत्तरार्ध में आत्मा के सूर्य में पहुँचने का कथन है । वेद का अधिदैवत अर्थ समझे बिना अध्यात्म अर्थ समझ में नहीं आ सकता । अधिदैवत अर्थ में देवों के महात्मों का विस्तार रहता है । योरोप और अमेरिका के जिन ईसाई यहूदी लेखकों ने वेद पर लेखनी उठाई है वे यदि ईसाई पक्षपात से रहित भी होते तो भी ब्राह्मण ग्रन्थों और अखण्डवृद्धय करने वाले महाभारत आदि के अध्ययन के बिना वेदार्थ पर पहुँच न सकते । राजवाड़े आदि में भी यही दोष है । उन को अधिदैवत पक्ष का अनुमात्र भी ज्ञान नहीं है । सुपर्णा का इन्द्रियां अर्थ जिस पद्धति से किया गया है वही निरुक्त पद्धति जिस में उपमा और तुल्योपमाओं का प्रयोग हुआ है स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनाई भी । आम शब्द का अंग्रेजी में अपभ्रंश auto है ॥ १२ ॥

बहुनामा-युत्तराणि द्वादश । बहु कस्मात् । प्रभवतीति सप्त ।

ह्रस्वनामा-युत्तराण्येकादश । ह्रस्वो ह्रसते ।

महश्रामा युत्तराणि पञ्चविंशति । महान् कस्मात् । मानेनान्याजं हतीति शाकपूणि । महनीयो भवतीति या । तत्र वरक्षिण विवक्षस इत्येते वक्ष्यां वहनेषां साऽभ्यामात् ।

गृहनामान्युत्तराणि द्वाविंशति । गृहा कस्मात् गृह्णीति सताम् ।

परिचरणकर्माख्य उत्तरे धातवो दश ।

सुखनामा-युत्तराणि विंशति । सुख कस्मात् । सुहितं खेभ्य । खं पुन खनते ।

रूपनाम-युत्तराणि षोडश । रूपं रोचते ।

प्रशस्यनान्युत्तराणि दश ।

प्रक्षानामान्युत्तराण्येकादश ।

सत्यनामान्युत्तराणि षट् । सत्यं कस्मात् । सत्सु तायते । सत्प्रभवं भवतीति वा ।

अष्टा उत्तराणि पदानि पश्यतिकर्माण [उत्तरे] धातवश्चायति-प्रभृतीनि च । नामान्यामिश्राणि ।

नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नाय ।

अथात उपमाः । यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः । तद्गासां कर्म । ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाऽप्रख्यातं वोपमिमीते । अथापि कनीयसा ज्यायांसम् ॥ १३ ॥

अर्थ—बहुत के नाम [हैं] अगले वारह । बहु किस [कारण] से । प्रभूत होता है, ऐसा होते हुए से ।

ह्रस्व=छोटे के नाम [हैं] अगले ग्यारह । ह्रस्व ह्रसति से ।

महत्=बड़े के नाम [हैं] अगले पच्चीस । महान् किस [कारण] से । माप से दूसरों को त्यागता है, अर्थात् नीचे करता है, यह शाकपूणि [कहना है ।] (मंहनीयः ; पूजनीय होता है अथवा । (तत्र) इन महत् नामों में वचस्त्रिथ और विवक्षसे, ये दोनों [आख्यात रूप] वक्ति से अथवा, वहति से अथवा । अभ्यास सहित से । अर्थात् वकार का द्वित्व प्रयोग होने पर ।

गृह के नाम [हैं] अगले वारिस । गृहाः किस [कारण] से, ग्रहण करते हैं । ऐसा होते हुए से ।

परिचरण=सेवा अर्थ वाले [हैं] अगले धातु दस ।

सुख के नाम [हैं] अगले बीस । सुखम् किस [कारण] से । (सु+हितम्) अच्छा हित वाला [हैं] (खेभ्यः) इन्द्रियों के लिए । खम् फिर खनति=खोदता है, से ।

रूप के नाम [हैं] अगले सोलह । रूपम्, रोचति से ।

प्रशस्य=प्रशंसनीय के नाम [हैं] अगले दस ।

प्रज्ञा के नाम [हैं] अगले ग्यारह ।

सत्य के नाम [हैं] अग्नि छ । सत्य किम् [कारण] स । (सन्सु) भले पुरुषों में (तापत्) फैलना है । (सत्प्रभरम्) भले पुरुषों में उत्पन्न हान वाला होना है अथवा ।

आठ अग्न पद पश्यति=खना है अर्थ जाने धातु हैं । चायति अग्नि [अपठिन धातु भी ।] और नाम [इन के साथ] मिले हुए [हैं] ।

नौ अग्ने पद सर्वपदममाश्रय के लिए अर्थात् इन निषण्डु म चारों प्रकार के पदों का संग्रह करने के लिए [हैं] ।

अब उपमाएँ । (यत्) जो [वस्तु] (अतत्) वह तो नहीं, [पर] (तत्सदृशम्) उस से मिलती जुलती [है] [इस से उपमा बनती है] यह गार्ग्य [कहता है ।] यह इन का अर्थ [है] । बड़े गुण से अथवा, अतिप्रसिद्ध से अथवा, छोटे अथवा अप्रसिद्ध को (उपमिमीत) उपमित करता है । और भी छोटे म बड़े को [उपमित करता है] ॥ १३ ॥

भाष्य—यहां से निषण्डु का तृतीय अन्वय आरम्भ होता है । महान नामों (निषण्डु ३ । १३) में यह एक नाम है । इसी नाम का अक्षर श पुरानी वादिकित में Jehovah है । स्मरण रहे कि इब्रानी में यह ध्वनि JHVH ही रहती थी । उस पर पूरा स्वराधि नहीं था । अगले ३ । ४ के गृह नामों में एक दमे नाम है । इस का लैटिन अक्षर श domus, और अंग्रेजी dome है । अगले ३ । ५ परिचरणाकर्मा धातुओं में सपर्यति है । इस का नाम रूप सपर्धा है । इस का अंग्रेजी अक्षर श serve है । प और व की मढ़ती समीपना है । तदनुसार अपदान और अपदान दोनों रूप ठीक हैं । अगले ३ । ६ के मज्ञा नामों में चेत और चित्तम् पद पड़े गए हैं । चित्तम् अन्त करण चतुष्टय का एक अङ्ग है । योरोपीय psychology म इस का ज्ञान नहीं है । अगले ३ । ७ में ऋतम् का पुरानी अंग्रेजी में right और अंग्रेजी में right अक्षर श रूप है । अगले ३ । १२ में चारों प्रकार के पदों का समाप्तान निषण्डु में दर्शाने के निष्कारण पदों का संग्रह है । अगले ३ । १३ में उपमाएँ हैं । आश्रयणा अतचारिण में लुप्तोपमा है ॥ १३ ॥

सुनृत्यजेत् तस्मिन् वनर्गु रंशनाभिर्दुःशर्मिर्भ्यधीनाम् ॥

[अ० १० । ४ । १]

तनूत्यक् तनूत्यक्ता । वनगूर् वनगामिनौ । अग्निमन्थनौ वाहू तस्कर-
राभ्यामुपमिमीते । तस्करस्तत्करोति । [तत्करो भवति] यत्पापकं-
मिति नैरुक्ताः । तनोतेर्वा स्यात् । सन्ततकर्मा भवति । अहोरात्रकर्मो
वा । रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् । [अभ्यधीतामिति] अभ्यधाताम् ।
ज्यायांस्तत्र गुणोऽभिप्रेतः ॥ १४ ॥

अर्थ—? इव (तनूत्यजा=तनूत्यजौ) शरीर को त्यागने वालों
(तस्करा=तस्करौ) दो चोरों (वनगूर्) वन में घूमने वालों के (इव)
समान (रशनाभिः दशभिः) दस रशनाओं अङ्गुलियों^१ से तुम्हे
(अभ्यधीताम्) बांधे । ज्यायान्=बड़ा गुण [भुजाओं का] अभिप्रेत
है ॥ १४ ॥

[चोर पक्ष में] तनूत्यक्=शरीर को त्यागने वाला । वनगूर्=वन में
चलने वाले दो, [अग्निमन्थनवाहू पद में मन्थन-समय में] शरीर से
दूर जाने वाले, मार्ग को खाने वाले अर्थात् फैले हुए दोनों वाहू ।
अग्नि को मन्थन करने वाले दोनों वाहू की, दो चोरों से उपमा देता है ।
तस्करः उस को करता है, उस को करने वाला होता है, पाप को [करता
है जो] यह नैरुक्त [मानते हैं] । तनोति=विस्तार करता है, से अथवा होवे ।
(सन्तत—) निरन्तर कर्म करने वाला होता है । दिन रात काम करने
वाला अथवा । अङ्गुलियों से, दस से, अभ्यधाताम्=बांधे । बड़े का—यहां
पर गुण अभिप्रेत है ॥ १४ ॥

भाष्य—अरणियों से मन्थन द्वारा जब अग्नि प्रादुर्भूत होता है, तो मन्थन
कर्ता के दोनों बाहू दसों अङ्गुलियों से अग्नि को बांधते हैं । वन में घूमने वाले
दो चोर भी इसी प्रकार किसी पथिक को बांध लेते हैं । राजवादे लिखता है—

The question is as to what two things are men-
tioned here; Yāska, Durga and Sāyana think that
they are the two hands of the churner. But may not
the two things be the two crushing stones that are
used for extracting Soma-juice? (p. 487)

राजवादे की कल्पना ठीक नहीं । बृहदेवजा और सर्वानुकम्पणी के अनुसार यह आश्रेय सूक्त है । अतः यहाँ दोनों भुजाओं से अग्नि-मन्थन का दृशान्त है । राजवादे ने प्रक्षत्र का ध्यान नहीं किया । दस हरिमयां दोनों भुजाओं के हाथों की दस अङ्गुलियाँ हैं ॥ १४ ॥

छोटे से ज्यायान् की उपमा का दूसरा उदाहरण ।

बुद्धं स्विदोपा बुद्धं वस्तोरधिना बुद्धाभिपित्वं वरतः कुदोपतुः ।

को वां शयुत्रा विधवेव देवर्यं मर्यं न योपा कृणुते सधस्थ आ ॥

[ऋ० १० । ४० । २ ॥]

क स्विद्राश्री भवथ । क दिना । काभिप्राप्ति कुरुथ । क वसथ । को वा शयने विधवय देवरम् । [देवर कस्मान् । द्वितीयो वर उच्यते ।] विधवा विधातृका भवति । विधवनाद्वा । विधाननाड्येति चर्मशिरा । अपि वा धव इति मनुष्यनाम । तद्वियोगाद्विधवा । देवरो दीन्यतिकर्मा । मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा । योपा पीत । आकुरते सहस्थाने ।

अथ निपाता पुरस्तादेव व्याख्याता । यथेति कर्मोपमा ।

अर्थ—कहा (दोपा) रात में, कहा (वस्तो) दिन में (अधिनी) हे अधिद्वय कहा (अभिपित्वम्) अभिप्राप्ति वा अभिगमन (वरतः= कुरुत) करते हो । कहा (कृणु) [तुम ने] वास किया । कौन तुम दोनों को (शयुत्रा) शयन स्थान पर विधवा जैसे देवर को, (मर्यम्) मनुष्य= पति को जैसे (योपा) स्त्री (आटृणुत) अपनी ओर करती है (सधस्थे) अपने साथ विवास के स्थान में=बैठने के स्थान में ।

(क भित्) कहा रात्री में ये कहा दिन में, कहा प्राप्ति वा अभिगमन करते हो । कहा वसत हो । कौन तुम दोनों का (शयने) शय्या पर विधवा के समान देवर को । [देवर किस कारण से द्वितीय वर कहा जाता है] विधवा (वि+धातृका) बिना पालन पोषण करने वाला क होती है । (वि+धवनात्) विधव कर्मण क कारण से । [पति के वियोग से कापती रहती है ।] (वि+धावनात्) विधव इधर उधर दौड़ने से, यह चर्मशिरा

[आचार्य कहता है ।] और भी, वव यह मनुष्य का नाम [है ।] उस [मनुष्य=पति] के वियोग से विधवा । देवर=खेलने=रति-क्रीड़ा अर्थ वाला [है ।] मर्यः=मनुष्य=मरणधर्मा [है ।] योपा=यीति से [मिलती है, सङ्गत करती है] (आ कुहते) अपनी ओर करती है (सहस्थाने) साथ [ठहरने के] स्थान में ।

अब निपात [भी उपमा अर्थ वाले हैं ।] पहले ही [१ । ४—११] में व्याख्यान किए गए हैं । यथा, यह कर्मोपमा=क्रिया की उपमा में है ।

भाष्य—घोषा नाम्नी ब्रह्मवादिनी की यह ऋक् है । अन्तरिच में क्या वह क्या वस्तु है, यह मैं नहीं जान सका ।^१ इस पृथिवी पर भी किसी ब्रह्मिष्ठा ने अपना नाम घोषा रखा था । इस ऋक् में अश्विद्वय से प्रश्न है । करतः रूप उत्तर काल में लुप्त हो गया है । विधवेव देवरम् । यह उपमा नियोग-परक है । वर्णाश्रम धर्म में द्विजों में विधवा का विवाह वर्जित है । वह नियोगधर्म पालन कर सकती है । इस उपमा का नियोग-परक अर्थ आचार्य विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृति की बालक्रीड़ा टीका में किया है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी ऐसा ही अर्थ किया है । विधवा का अंग्रेजी में अपभ्रंश widow है । परन्तु widower शब्द को widow से er प्रत्यय नहीं लगा । यदि er प्रत्यय होता, तो widower का अर्थ विधवा करने वाला होता । widower वस्तुतः विधुरः=मृतपत्नीकः का अपभ्रंश है । देवरः कस्मात् । द्वितीयो वर उच्यते । यह पाठ लघु पाठ में नहीं है । चर्मशिराः के समान शिराः अन्तवाले अन्य नाम भी प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं ।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ॥

[ऋ० ५ । ७८ । ८ ॥]

आजन्तो अग्नयो यथा ॥ [ऋ० १ । ५० । ३ ॥]

आत्मा यच्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥

[ऋ० १० । ६७ । ११ ॥]

आत्माऽततेर्वा । आतेर्वा । अपिः वास इव स्यात् । यावद् व्याप्तिभूत इति ।

१. जैमिनि ब्राह्मण १ । १४३ में 'अन्तरिस्थ रथघोष, पर्जन्यघोष, ग्रामघोष' आदि तीनों का उल्लेख किया गया है ।

अग्निर्न ये अर्जसा रुमवक्षसः ॥ [अ० १०।७=१२ ॥]

अग्निरिथ ये । [मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णुरस्का] भ्राजन्वन्तो रुमवक्षसः ॥ १५ ॥

अर्थ—२ यथा—(१) जैसे वान, जैसे वन, जैसे समुद्र (पृथ्वि) [लहरो के रूप में] (=दुर्ग—कमन्ते) कापता है—(स्वन्द-गच्छति) चलता है, [जैसे दमर्वे मास का गर्भ जरायु के सहित माता के गर्भ में ऊपर से थोड़ा थोड़ा—लहरो के समान क्षिप्तता हुआ नीचे उतरे ।]

(२) भ्राजमान=चमकती हुई अग्निया जैसे, [जैसे रश्मिया ।]

(३) आत्मा क्षय रोग का नष्ट होता है [जब मैं याज्ञिक वन ओषधियों को हाथ में लेता हूँ, उस से] पहले ही । (जीर्युभः) सजीव बन्दी होने वाले [पक्षी वा आत्मा] जैसे ।

आत्मा, अतति से अर्थात् अतन=गतिशील, तनन=व्याप्त होने वाला, अथवा । आग्नि से, व्याग्निमान् होने से । और भी व्याप्त के समान होने । (यायद्) [छोटे बडे] जितने भी शरीर [हैं, उन में] व्याग्निभूत है ।

[३. न. का उपमा में उदाहरण—]

अग्नि के समान, जो [मरुत भ्राजमान=चमकते हुए] ।

(रुमवक्षसः)=रोचिष्णु+उरस्का अर्थात् रोचिष्णु हैं छात्रिया जिन की [ऐसे] ॥ १५ ॥

भाष्य—गर्भ लहरों के समान नीचे उतरता है । रश्मिया दिखाई नहीं देती । उन की सरय चमक की उपमा अग्नियों की चमक से है । आत्म शब्द का अग्नेजी में अपभ्रंश अतो है । यक्ष रोग ज्वर का एक रूप है । प्रथ होता है ज्वर क्या है । इस का उत्तर पाश्चात्य चिकित्सा-ज्ञान में नहीं है । फिर यह है क्या । उत्तर है, शरीर में आग्नेय परमाणुओं का विल रूप में आधिक्य, और उन के क्रम में रहने का विपर्यय । उस आधिक्य और विपर्यय को ठीक करने वाली ओषधि कभी ज्ञात थी । उसी का उत्तरकाल में यज्ञविशेष में प्रतिनिधि मान कर यव, कुश और पिप्पल प्रयोग में लाए जाते हैं । इस विषय में अन्वेषण की आवश्यकता है । आयुर्वेदीय धरक संहिता में भी उवर को रुद्रकोप का फल माना गया है । यह रुद्र भी आग्नेय परमाणुओं का एक रूपविशेष है ।

मर्त्तो की द्वातियां हैं । आपें ज्ञान मर्त्तो की पूरी रचना जानता है । इन अक्षर्य वस्तुओं को यथार्थ रूप में जानना किन्ना थाअर्थकर है । रुक्म=सुवर्ण, यह इस पद का सामान्य अर्थ है । यास्क ने इस का अर्थ रोचिष्णु किया है, अर्थात् दीप्ति अथवा चमक वाली ।

विशेष—जहां अं छोपमा होती है वहां 'यया' उदात्त होता है और जहां एीनोपमा होती है वहां 'यया' सर्वनिघात होता है ॥ १५ ॥'

चतुरश्रिद्दमानाद्भिभीयादा निधातोः । न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥

[ऋ० १ । ४१ । ६ ॥]

चतुरश्रिद् [अक्षान्] धारयत इति । तद्यथा कितपाद् विभीया-
देवमेव दुरुक्ताद् विभीयात् । न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित् ।

आ इत्याकार उपसर्गः पुस्तनादेव व्याख्यातः । अधाप्युपमार्थं
दृश्यते ।

जार आ भगम् ॥ [ऋ० १० । ११ । ६ ॥]

जार इव भगम् । आदित्योऽत्र जार उच्यते । रात्रेर्जरयिता । स एव
भासाम् । तथापि निगमो भवति ।

स्वसुर्जारः शृणोतु नः । [ऋ० ६ । ५५ । ५ ॥] इति ।

उपसमस्य स्वसारमाह । साहचर्यात् । रसद्वग्णाद्वा । अपि त्वयं
मनुष्यजार एवाभिप्रेतः स्यात् । स्त्रीभगस्तथा स्यात् । भजतेः ।

मेव इति भूतोपमा ।

मेपो भूतोऽभि यन्नयः ॥ [ऋ० ८ । २ । ४० ॥]

मेपो मियतेः । तथा पशुः पश्यतेः ।

अश्रितिरिति रूपोपमा ।

अर्थ—४. चित्—(चतुरः) चार [पासे] (इदमानात्) धारण करने वाले से (चिन्) जैसे (विभीषात्) डरे, (आनिधानोः) फेंकने तक, [वैसे डरे] और नहीं (दुरक्षात्) दुर्वचन वाले के लिए (स्पृहयेत्) स्पृहा=शामना करे ।

चारो अक्षो=गामो को (धारयतः) धारण करने वाले से, तो जैसा (कितयात्) जुआरिए से डरे, वैसे ही (दुरक्षात्) अपवचन से डरे । नहीं अप-वचन की शामना करे कभी भी ।

५. आ, यह आकार उपमर्ग पहले ही व्याख्या किया गया है । और भी, [आ, यह] उपमा अर्थ में देखा जाता है । जार के (आ) समान भग को । आदित्य (अत्र) इम प्रमङ्ग में जार कहा जाता है । रात्रि को जीर्ण करने वाला [=जार] । (सः) वह [आदित्य] ही [जीर्णकर्ता है, यह और नक्षत्रो] की प्रमाओ का । वैसे भी निगम होना है । (स्वस्तुः) भगिनी=उपा का जीर्णकर्ता मुने (नः) हमारे [स्तुतिषो को] । (उपसम्) उपा को (अस्य) इम [आदित्य] की स्वमा कहा । साहचर्य=माय विचरने से, रस हरण करने से अथवा । और भी, यह मनुष्य-जार ही अभिप्रेत हो । [ऐसा होने पर] धी का भग और हो । [भग] भवति से ।

६. मेघ, यह [इन्द्र की] [भूत=भूमी हुए आकार से अथवा किसी प्राणो से उपमा] है । (मेघः भूत) [मध्यम स्थानी इन्द्र को कहा है ।] मेघ हुआ हुआ=मेघ के समान (अभि यन्) अभिमुख्य रूप में जाता हुआ (अयः) [तू] पड़ैचा, [अब भी इसी प्रकार से जाओ ।] मेघः मियति से [है ।] [निवेगमात्र इम का कर्म है । कोई ज्ञान इसे नहीं ।] (तथा) इसी प्रकार पशु परयति से [है ।] [देखना मात्र इम का कर्म है । कोई ज्ञान इसे नहीं ।]

७. अग्नि यह रूप की उपा है ।

साध्य—कितव और अक्षो का कर्बन वेर में अनेक स्थानो पर मिलना है । आधिदैविक पक्ष में कितव, चारि कथ है, पर में नहीं जान तथा ।' इन का साध्य अगुनि शक्तिसे अथवा है । मृदग=अप-वचन की वेर में किया है । इसी किय मनु के कथा का—सत्यं मृषान् विषं मृषान् न मृषान् सत्यमविषम् ।

४। १३८ ॥ वर्जयेद् उपतीं वाचम् । शान्तिपर्व । दुरुक्त में गाली आदि कटु और अरलील घचन सम्मिलित हैं । जारः=जीर्ण करने वाला । लौकिक भाव में भी जार जीर्णकर्ता है । स्मरण रखना चाहिए कि प्राकृतिक जगत् के सब व्यवहार अनुकरणीय नहीं हैं । ऋषियों ने इन में से अनुकरणीय को चुन कर धर्मशास्त्रों में निबद्ध कर दिया है । मेघः पर ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक प्रवचन है । इन्द्र मेघवत् हुआ । मेघ के समान इन्द्र का कोई रूप अन्तरिक्ष में बना था, उसी पर यह कथन है । इस का पृथिवी पर के इन्द्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं । कई एक आधुनिक लेखक इस घटना को इन्द्र और अहल्या के आख्यान के साथ जोड़ने का यत्न करते हैं, पर यह बात जुड़ती नहीं ।

हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृग्पां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः ।

[ऋ० २। ३५। १० ॥]

हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम् ।

था इति च ।

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा । [ऋ० ५। ४४। १ ॥]

प्रत्न इव पूर्व इव विश्व इवेम इवेति । अयमेततरोऽमुष्मात् । असावस्तरोऽस्मात् । अमुथा । यथासाविति व्याख्यातम् ।

वदिति सिद्धोपमा । ब्राह्मणवद् वृषलवत् । ब्राह्मणा इव वृषला इवेति । [वृषलो वृषशीलो भवति । वृषशीलो वा] ॥ १६ ॥

अर्थ—[अपानगात् का सूक्त है] हिरण्य सदृश रूप वाला, [विद्युत् अग्निः] वह हिरण्य के समान परा प्रीति से दिखाई देने वाला (अपां नपात्) आपः का पौत्र (सः+इत्+उ) वह ही [उ, पदपूरक] (हिरण्यवर्णः) हिरण्य के तुल्य कान्ति वाला । हिरण्य की कान्ति=वर्ण के समान इस का रूप [है ।]

८. था—था, यह भी [उपमा का अर्थ देता है ।]

(तम्) उस [इन्द्र] को (प्रत्नथा) पुराने [यजमानों] के समान, (पूर्वथा) अपने पूर्वजों के समान, (विश्वथा) सब [भविष्य में होने वालों] के समान (इमथा) इन [वर्तमान में होने वालों] के समान ।

प्रत्न, पूर्व, विश्व, इम [इन चारों के समान ।] (अयम्)=एतन्नर= अधिक आया हुआ, अधिक समीप है (अमुष्मात्) उस से । (असी)= अस्ततरः=क्षिप्ततरः=अधिक फँका हुआ=अधिक परे है (अस्मात्) इम से । अमुधा=जैसा—असी, इमी [असी] से व्याख्या किया गया है ।

१ घत्, यह मिद्ध=अति प्रसिद्ध उपमा [है ।] ब्राह्मणवत्, वृषलवत् । ब्राह्मणों के समान, वृषलो के समान । [वृषल=वृष=बैल के स्वभाव वाला हीना है । वृष=वल=वर्म में अशील=न स्वभाव वाला ॥ १६ ॥

भाष्य—यह अर्पानपात् सूक्त की शब्द है । इसी अर्पानपात् से अन्तरिक्ष्य भद्रियों का सम्बन्ध है । अर्पानपात्=आप का पुत्र अथवा पौत्र । यह विसृत अग्नि है । इम का रूप हिरण्य के सत्त्व है । सिद्ध उपमा अर्पान् सर्वस्वीकृत प्रसिद्ध उपमा है । वृषल में वृष का अर्थ बैल है । मनु ने इसे भगवान् धर्म कहा है । पुराने राजाओं के धर्मशास्त्रों पर, ताम्रपत्रों पर बैल का चित्र प्राय रहता था । अतः वृषल का एक अर्थ श्रेष्ठ पुरुष है । दूसरा अर्थ है सत्व, यज्ञादि धर्म में स्वभाव न रखने वाला, अर्पान् निरुद्ध । दोनों अर्थों के वाचक वृषल शब्द स्वर-भेद से वृषक् वृषक् हैं । धर्मात्मा अर्थ वाला वृषल शब्द आद्युदात्त होता है और अधर्मात्मा अर्थ वाला अन्तोदात्त । डा० लक्ष्मणसरूप के संस्करण में "ब्राह्मणवत् वृषलवत्" पर भी स्वर विद्ध हैं । इस से स्पष्ट है कि कभी पूरा निरुक्त ग्रन्थ सत्त्वर था । प्यान रहे कि डा० सरूप के पाठ के स्वरविद्ध कुत्र भ्रूल हैं ॥ १६ ॥

प्रियमेधरदत्रिकृज्जातवेदो विरूपवत् ।

अंगिरस्वन्महित प्रस्करस्य भुधी इमम् ॥

[ऋ० १ । ४५ । ३ ॥]

प्रियमेध. । प्रिया अस्य मैधा । यथेतेषामृषीणामेवं प्रस्करस्य शृणु हानम् । प्रस्करस्य कणस्य पुत्र. । कणप्रभवः । यथा प्राप्रम् । अर्चिषि भृगु सन्धभूज । भृगुर्भृज्यमानो न देहे । अङ्गारेष्वङ्गिरा ।

१. आद्युदात्त—शतपथ १४ । ६ । ४ । १२ ॥ शकर ने यहाँ भी नीच अर्थ ही माना है, यह चित्र है । अन्तोदात्त—शु० १० । ३४ । ११ ॥ वृषल= बुधारी । विशेष प० सुधिशिर मीमांसककृत वैदिक स्वरमीमाणा में देखें ।

अङ्गारा अङ्गनाः [अङ्गनाः] । अत्रैव तृतीयमृच्छतेन्युचुः । तस्मादग्निः ।
न अत्र इति । दिव्यननाद्विखानसः । भरणाद्भारहाजः । विरूपो नानारूपः ।
महिषतो महाव्रत इति ॥ १७ ॥

अर्थ—प्रियमेध के समान, अग्नि के समान, हे जातवेदस् अग्ने, विरूप के समान. अङ्गिरा के समान, हे महिषत=महा कर्म वाले, प्रस्कण्व के मुन आह्वान को ।

(प्रियमेधः) प्रिय हैं हम को मेध=यज्ञ, जैसे इन ऋषियों के, ऐसे प्रस्कण्व के मुनो आह्वान को । प्रस्कण्वः=कण्व का पुत्र । कण्व से उत्पन्न हुआ । जिन प्रकार (प्र+अग्रम्) अग्र में होने वाला अथवा अग्र-प्रभव [रूप है, वैसे प्र+कण्व में, कण्व से उत्पन्न, अर्थ बना है ।] अचियों=ज्वालाओं में भृगुः उत्पन्न हुआ । भृगुः=(भृज्यमानः)=सकता हुआ नहीं जला । अङ्गारों में अङ्गिरा [उत्पन्न हुआ] । अङ्गाराः=अङ्कन करने वाले=द्याप लगाने वाले । अङ्गनाः और अश्वनाः [समानार्थक हैं ।] [भृगु और अङ्गिरा के प्रभव के पश्चात्] यहां ही (तृतीयम्) तीसरे [ऋषि] को (ऋच्छते) ढूंढो, यह (ऊचुः) बोले [भूतोत्पन्न अन्य देव ।] इस लिए [अत्र+त्रि] अत्रि हुआ । नहीं तीन यह [भी ।] विखनन=खोदने से विखानस । (भरणात्) पालन पोषण से भारहाज । विरूपः=नाना रूप युक्त । महिषत=महाव्रत=महान् कर्मो वाला ॥ १७ ॥

भाष्य—हे महाकर्म जातवेदः । महिषत जातवेद का विरोषण है । प्रियमेध, अग्नि, विरूप, अङ्गिरा और प्रस्कण्व, भौतिक पदार्थों के रूप में वर्तमान दिव्य ऋषियों के नाम हैं । इन्हीं ऋषि नामों पर पृथिवी पर के ऋषियों के नाम रखे गए । जातवेदः मध्यमस्थानी अग्निः है । कण्व और प्रस्कण्व क्या हैं, यह अन्वेषणीय है । आदित्य में जब ज्वालाएं थीं, तब वहां भृगु उत्पन्न हुआ । ज्वालाओं के पश्चात् जब अङ्गारे रह गए, तब अङ्गिरा उत्पन्न हुआ । इस विधा का पूरा ज्ञान आदित्य की सब अवस्थाओं के जानने से हो सकता है । वस्तुतः भृगु और अङ्गिरा अग्निः के ही रूप हैं । अत्रि इन दोनों के पश्चात् उत्पन्न हुआ । अत्रि विषयक लगभग ऐसा भाव शतपथ ब्राह्मण में भी है—तद्ध स्म पृच्छन्ति, अत्रैव त्यादिति । ततो अत्रि सम्प्रभूयं । १ । ४ । ५ । १३ ॥ इस अत्रि विषयक वेद के अनेक मन्त्र हैं । इस अत्रि से ग्रहण का सम्बन्ध जोड़ कर

बनेमान ज्ञेयक वेदकाल विषयक अनेक कल्पनाएं कर रहे हैं । वे सब निराधार हैं । वेद तो भादि सृष्टि स चला आ रहा है । एतस्य आद्यं ८ । १४ में मरुतों और अद्रियियों को देव कहा है । इस निरुक्त माध्यान्तर्गत यास्क के प्रायः निर्वचन सूत्रविद्या की दृष्टि स किए गए हैं । ध्यान रहे कि यद्यपि प्रस्तुत अक्षु में मृगु वैश्वानर और अरुहान पद नहीं हैं तथापि इन का निर्वचन यास्क ने देगाया है । यास्क के इन निर्वचनों का अधिक महत्त्व ज्ञान के लिए शतपथ भा० ब्रह्म काण्ड का आरम्भ देवता आदि ॥ १० ॥

शास्त्री उपमाएँ कही गईं अब आधी उपमाएँ करते हैं ।

अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षत । सिद्धो व्याघ्र इति पूजायाम् । अवा काक इति कुसायाम् । काक इति शब्दानुवृत्ति । तदिदं शकुनिपु बहुलम् । न शब्दानुवृत्तिरिष्यत इत्योपमन्वयः । काकोऽपकालयितव्यो भवति । तिस्रिरिस्तरणान् । तिलमात्रचित्र इति या । कपिञ्जल कपिरियं भीर्णं । कपिरियं जयत । ईपत्पिङ्गलो या । कर्मनीयं शब्द पिञ्जलनीति या । अवा । शुषार्या । शयतया स्थात् सतिकर्मण । अवसितया । सिद्ध सहनात् । द्विनेर्मा न्याद्विपरिणत्य । सम्पूर्वस्य या दन्त । सहाय इन्नीति या । व्याघ्रो ध्यात्राणात् । व्यादाय हर्तीति या ॥ १८ ॥

अर्थ—अब लुप्तोपमा बाल [पद कहने हैं,] [इन को आचार्य] अर्थ उपमा बाल कहन हैं । सिंह, व्याघ्र, य प्रामा मे [जुड़ने हैं ।] अवा, काक य निन्दा म काक यह शब्दानुवृत्ति=[पानी व बोनन का] ध्वनि का अनुकरण मात्र है । (तन् इदम्) तो यह [ध्वनि व अनुकरण पर नामकरण] (शकुनिपु) पक्षियों म (बहुलम्) प्राय कर के [देखा जाना है ।] नहीं [इन नामा स] ध्वनि का अनुकरण विद्यमान है यह ओपमन्वय कहता है । काक [का निर्वचन है] (अपकालयितव्य) [वस्तुआ को चाव म गला करना है अतः] बाहर निकालन योग्य होता है । तिस्रिरि (तरणान्) उछल कर गति करन म । तिल के परिमाण लुप्त्य चित्रा वाता अथवा । कपिञ्जल वानर व समान (भीर्ण) मद्यम पत्ते=धूमर [रंग वाता ।] वानर व समान (जयत) वग म जाना है । घोड़े पिङ्गल रंग वाता अथवा । गुग्गुलु रंग बोचना है अथवा । अवा=शुषार्या) नीध्र अन्न वाता । गवति म अथवा होर गति अर्थ वान म । अर्धनिर्वचन

अर्थ वाले से अथवा [तुलना करो, ३ । १० ॥] । सिंहः, [सम्पूर्ण प्राणियों के प्रहार को] (सहनात्) सहने से, [अथवा बलपूर्वक उन्हें दवाने से ।] हिंस से अथवा होवे, आद्यन्त विपर्यय वाले से । संपूर्वक अथवा हन्ति से । (संहाय) [सारे अङ्गों को मिला कर, छलांग मार कर] मारता है अथवा । व्याघ्रः, (वि+आघ्राणात्) विशेष सब ओर से सूंघने से, [प्राणियों का समीप होना गन्ध से जानता है ।] (वि+आदाय) विशेष रूप से लाकर [उस के भाग निकलने के पूर्व स्थान पर] मारता है अथवा ॥ १८ ॥

भाष्य—अर्थोपमा, यह संज्ञा लोकभाषा विषयक ग्रन्थों के आचार्यों में प्रसिद्ध थी । इस से ज्ञात होता है कि अलङ्कार शास्त्र की प्रवृत्ति अति प्राचीन काल से है । शब्दानुकृतिः, किसी के बोलने की ध्वनि के अनुकरण पर उस के नाम का होना शब्दानुकृति होता है । यास्क ने पहले सामान्य विचार लिखा । पुनः उस ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि शब्दानुकृति का व्यवहार प्रायः पक्षियों में होता है । यास्क इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुआ । उस ने अपने पूर्वज औपमन्यव का सिद्धान्त लिखा । तदनुसार काक-नाम शब्दानुकृति पर नहीं है । यह क्यों । इस लिए कि काक का निर्वचन इस के मूलार्थ का पता देता है । लोग काक को घर से बाहर निकालते हैं । जब इस से मूलार्थ जान लिया जाता है, तो इस को शब्दानुकृति क्यों मानें । शब्दानुकृति का मत स्थूल बुद्धि वालों के सन्तोष के लिए है । यास्क ने औपमन्यव का कोई खण्डन नहीं किया । अतः यास्क उस से सहमत है ।

राजवाड़े लिखता है—औपमन्यव was a fanatic in respect of derivation, (p. 507) अर्थात् व्युत्पत्ति के विषय में औपमन्यव जोशीला ही था । राजवाड़े ने भाषा के मौलिक सिद्धान्त को न समझ कर यह लिखा है । शब्दानुकृति उत्तर काल की बात है । काक आदि नाम अनादि थे, उन में इस शब्दानुकृति की श्रपेक्षा नहीं ॥ १८ ॥

अर्चतिकर्माण उत्तरे धातवश्चतुश्चत्वारिंशत् ।

मेधाविनामान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः । मेधावी कस्मात् । मेधया तद्भान्भवति । मेधा मतौ धीयते ।

स्तोतृनामान्युत्तराणि त्रयोदश । स्तोता स्तवनात् ।

यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश । यज्ञ कस्मात् । प्रख्यातं यज्ञतिकमेति
नैदृक्ता । याञ्जी मरतीति या । यजुरुग्रो भवतीति या । यदुदृष्णाजिन
इत्योपमन्या । यनू प्यनं नयन्तीति या ।

ऋन्विन्नामान्युत्तराण्यणी । ऋन्विक कस्मात् । इरण । ऋग्यथा
भवतीति शाक्पूणि । ऋतुयानी भवतीति या ।

याच्प्राक्कर्माण उत्तर धातव सप्तदश ।

दानकर्माण उत्तरे धातवो दश ।

अध्येषणकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः ।

स्वपिति सन्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ।

कृपनामान्युत्तराणि चतुर्दश । कृप कस्मात् । कु पान भवति ।
कुप्यतया ।

स्तननामान्युत्तराणि चतुर्दश । स्तन कस्मात् । सम्बानमस्मिन्याप
कमिति नैदृक्ता ।

निर्णीतान्तर्दिननामधेयान्युत्तराणि षट् । [निर्णीत कस्मान् । निर्णिक
भवति ।]

दूरनामान्युत्तराणि पञ्च । दूर कस्मान् । द्रुनं भवति । दुरवं वा ।

पुराणनामान्युत्तराणि षट् । पुराणं कस्मान् । पुरा नथ भवति ।

नथनामान्युत्तराणि पञ्च । नथं कस्मान् । आर्नधं भवति ॥ १६ ॥

अथ—पूजा अर्थ जाने अग्न धातु चवा नीम [है ।] मयावी क नाम
[है] अग्ने चोवीम । मयावी किम [कारण] म । मया म (तद्दान्)
उप कान्ता होना है । मया मनि वृद्धि मे रम्यो जनी है । स्तोत्रा क नाम
[है] अग्न तेरह । स्तोत्रा स्तवन करन म । यन क नाम [है] अग्न
पन्दू । यन किम [कारण] म । (प्रख्यातम्) अति प्रसिद्ध है
(यज्ञतिकम्) यज्ञन कथे यह नैदृक् [कन्ने है ।] (याच्प्र) प्राथना
वोधेय होना है अथवा । (यजु + उग्र) यज्ञथा म भोगा दृशा होना है
अथवा । वत्त (कृष्ण + अजिन) कान मुगा की छाया काना यह ओपमन्य

[कहता है ।] याजुष मन्त्र उम [यज्ञ क्रिया] को (नयन्ति) [पार तक] ले जाते हैं । ऋत्विजों के नाम [है] अगले अठारह । ऋत्विक् किस [कारण] से । (ईरणः) प्रेरक [है] । ऋचाओं में (यष्टा) यज्ञ करने वाला होता है, यह शाकपूणिः [कहता है] । ऋतु ऋतु में यज्ञ करने वाला होता है, अथवा । याचना अर्थ वाले अगले धातु [है] सतारह । दान अर्थ वाले [हैं], अगले धातु दम । (अध्येषणा) = [दुर्ग—सत्कृत्य प्रार्थना=प्रकार करके प्रार्थना] अर्थ वाले [हैं] अगले धातु चार । स्वपिति, सस्ति, ये दो सोने अर्थ वाले [हैं] । कूएं के नाम [हैं] अगले चौदह । कूपः किस [कारण] से । (कु—पानात्) [पानी नीचा होने से] कठिनता से पानकर्म [इस में] होता है । कुप्यति से अथवा । स्तेन=चोर के नाम [है] अगले चौदह । स्तेनः, किस [कारण] से, (सं-स्त्यानम्) भरपूर ढेर लगा [है] इस में पाप, यह नैरुक्त [कहते हैं] । (निर्णीत+अन्तर्हित) निर्णय किए गए गुप्त [पदार्थ] के नामधेय [है] अगले छः । निर्णीतम् किस [कारण] से । निर्+निक्तम्=गोधा हुआ=मांजा हुआ होता है । दूर के नाम [हैं], अगले पांच । दूरम् किन [कारण] से, द्रुतम्=आगे आगे भागा हुआ होना है । (दुर+अयम्) कठिनता से:प्राप्य अथवा । पुराण के नाम [है] अगले छः । पुराणम् किम [कारण] से । पुरा=महले=अतीत काल में (नवम्) नया होता है, [अब नया नहीं] । नव, नए के नाम [हैं] अगले छः ही । नवम् किस [कारण] से । अभी अभी (आनीतम्) लाया गया होता है ॥ १६ ॥

भाष्य—स्वपिति अर्थ वाला दूसरा पद सस्ति है । इस सस्ति से हिन्दी भाषा में सुस्ताना अपभ्रंश बना है । आगे निघण्टु ३ । २४ में स्तेन नाम है । स्तेनः पद ही विकृत हो कर Satan=शैतान बना है । और स्तेननामों का प्रथम पद तृपुः है । इस का अंग्रेजी में अपभ्रंश thief है । निघण्टु ३ । २६ के दूर नामों में पराके, पराचैः, परावतः का अंग्रेजी अपभ्रंश far है । नवम् का new अपभ्रंश सुविज्ञात है ॥ १६ ॥

द्विश उत्तराणि नामानि पड्विंशतिः । प्रपित्वेऽभीक इत्यासन्नस्य । प्रपित्वे प्राप्ते । अभीकेऽभ्यक्ते ।

यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश । यज्ञ कस्मात् । प्रथ्यात् यज्ञतिकमति
नैरुक्ता । याच्छ्रो भवतीति वा । यजुरुष्णो भवतीति वा । यजुरुष्णाजिन
इत्योपमन्यत् । यजू ध्येन नयन्तीति वा ।

ऋत्विङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ । ऋत्विक् कस्मात् । ईरण् । ऋत्विष्य
भवतीति शाकपूणि । ऋतुयाजी भवतीति वा ।

पाच्छ्राकर्माणि उत्तरे धातव सप्तदश ।

दानकर्माण् उत्तरे धातवो दश ।

अध्येषणाकर्माणि उत्तरे धातवश्चत्वारः ।

स्वपिति सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ।

कूपनामान्युत्तराणि चतुर्दश । कूप कस्मात् । कु पात भवति ।
कूप्यतेर्वा ।

स्तेननामान्युत्तराणि चतुर्दश । स्तेन कस्मात् । सस्त्यानमस्मि/पाप
कमिति नैरुक्त्वा ।

निर्णीतान्तद्धितनामधेयान्युत्तराणि षट् । [निर्णीत कस्मात् । निर्णित
भवति ।]

दूरनामान्युत्तराणि पञ्च । दूर कस्मात् । द्रुर्त भवति । दुर्य वा ।

पुराणनामान्युत्तराणि षट् । पुराणं कस्मात् । पुरा नय भवति ।

नयनामान्युत्तराणि पञ्च । नय कस्मात् । आनीजं भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—पूजा अर्थ वाले अगले धातु चवालीम [हैं] । मेधावी क नाम
[हैं] अगले चौबीम । मधावी जिस [कारण] म । मेधा मे (तद्रात्)
उम बाना होता है । मेधा मति बुद्धि मे रखी जाती है । स्तोत्रा के नाम
[हैं] अगले तेरह । स्तोत्रा स्तवन करने मे । मन क नाम [हैं] अगले
पादह । मन जिस [कारण] म । (प्रथ्यात्) अनि प्रमिद्ध है
(यज्ञतिकर्म) यज्ञन कर्म यह नैरुक्त [कहते हैं] । (याच्छ्र) प्राप्ति
योग्य होता है अथवा । (यजु + उग्र) यजुआ न भीगा हुआ होता है
अथवा । ब्रुत (कृष्ण + अजिन) कान मृगा की शृणों वाला यह ओपमन्य

वृषीभिः पुत्रमगुर्वो अदानम् ॥ [ऋ० ४।१६।६ ॥]

यदत्युपजिह्विका यद्वधो अतिसर्पति ॥ [ऋ० २।१०२।२१ ॥]

इत्यपि निगमो भवतः ।

ऊर्दरं कृदरमित्यावपनस्य । ऊर्दरमुद्दीर्णं भवति । ऊर्जे दीर्णं वा ।

तमूर्दरं न पृणता यवेन । [ऋ० २।१४।११ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । तमूर्दरमिव पूरयति यवेन । कृदरं कृतदरं भवति ।

सर्मिदो अञ्जन् कृदरं मतीनाम् । [यजुः २६।१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

अर्थ—द्विशः, दो दो एक साथ पढ़े गए अगले नाम [हैं] छत्र्वीस, १. प्रपित्वे, अभीके ये (आसन्नस्य) समीप वाले के [हैं] प्रपित्वे=प्राप्ते, अभीके=अभ्यक्ते । आपित्वे=आपानकाले,=शोम पीने का समय (प्रपित्वे) समीप आने पर (नः) हम को (त्वम्) शीघ्र (आ गहि) प्राप्त होवो । (अभीके चित्) समीप आने पर भी [संग्राम के] (उ लोककृत्) संग्राम को बनाने वाला [इन्द्र] । ये भी दो निगम=[स्वयं अर्थ स्पष्ट करने वाले मन्त्र अथवा मन्त्रांश] हैं ।

२. दभ्रम्, अर्भकम् ये अल्प के [हैं] दभ्रं दभ्रोति से [है] सु दभ्रम्=शीघ्र हो सकने वाला होता है । अर्भकम्=(अवहृतम्) अवहार किया गया=संकुचित किया गया । थोड़ा हुआ होता है । समीपता से समीपता से मेरा स्पर्श=आलिङ्गन करो, मत [मेरे उपस्थ के लोमों को] थोड़ा समझो । नमस्कार है बड़ों को, नमस्कार है छोटों को । ये भी दोनों निगम हैं ।

२. तिरः सतः, ये प्राप्त के [नाम हैं] तिरः=तीर्ण हुआ=तैर कर पार किया हुआ=प्राप्त किया होता है । सतः=संसृत=प्राप्त हुआ होता है । (तिरः चित्) ओझल [स्थान] से=दूर स्थान से=अपने प्राप्त स्थान से (अर्थया) ईश्वरीय अथवा देवगति [वाले अपने रथ] से (परि चतिः)

इभीके चिदुलोककृत् । [ऋ० १०।१३३।१॥]

इत्यपि निगमो भवत । दध्नमर्मकमित्पल्पस्य । दध्न दध्नोते ।
सुदग्ध भवति । अर्मकमधहत भवति ।

उषोप मे परा मृश मा मे दध्नाणि मन्यथाः ।

[ऋ० १।१५६।७॥]

नमो महद्भ्यो नमो अर्मकेभ्यः । [ऋ० १।२७।१३॥]

इत्यपि निगमो भवत ।

तिर सत इति प्राप्तस्य । तिरस्तीर्णं भवति । सत संसृतं भवति ।

तिरश्चिदर्यया परि वृतिर्यातमदाग्या ॥ [ऋ० ५।७५।७॥]

पात्रेषु भिन्दन्तसत एति रक्षसः । [ऋ० ७।१०४।२१॥]

इत्यपि निगमो भवत । त्वो नेम इत्यर्थस्य । त्वोऽपगत । नेमोऽप
नीत । अर्धे हरतेर्विपरीनात् । धाग्यतेर्षा स्यात् । उदुघृतं भवति ।
ऋज्जोतेर्षा स्यात् । ऋज्जतमो विभाग ।

पीर्यति त्वो अनु त्वा गृणाति । [ऋ० १।१४७।२॥]

नेमं देवो नेमंऽसुराः । इत्यपि निगमो भवत ।

ऋक्षा स्तुभिरिति नक्षत्राणाम् । नक्षत्राणि नक्षत्रगतिकर्मणु ।
नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम् । ऋक्षा उदीर्णनीय व्यायन्ते । स्तुभि
स्तीर्णनीय व्यायन्त ।

शुमी य ऋक्षा निरिताम उद्या ॥ [ऋ० १।०५।१०॥]

पर्यग्नो धामिन् स्तुभिः । [ऋ० ४।७।३॥]

इत्यपि निगमो भवत ।

पद्ममिन्पद्मिद्विषा इति स्तीमिषाणाम् । पद्मयो धमनात् । स्तीमिषा
स्यमनात् । उपमिद्विषा उपमिषय ।

वृत्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम् ॥ [ऋ० ४।२६।६ ॥]

यदत्युपजिह्विका यद्वज्रो अतिस्पति ॥ [ऋ० २।१०२।२१ ॥]

इत्यपि निगमो भवतः ।

ऊर्दरं रुद्रमित्यावपनस्य । ऊर्दरमुद्दीर्णं भवति । ऊर्जे दीर्णे वा ।

तमूर्दरं न पृणता यवेन । [ऋ० २।१४।११ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । तमूर्दरमिव पूरयति यवेन । रुद्रं कृतद्रं भवति ।

समिद्धो अज्जन् रुद्रं मतीनाम् । [यजुः २६।१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

अर्थ—द्विशः, दो दो एक साथ पड़े गए अगले नाम [है] छद्मोक्त, १. प्रपित्वे, अभीके ये (आसन्नस्य) समीप वाले के [है ।] प्रपित्वे=प्राप्ते, अभीके=अभ्यक्ते । आपित्वे=आपानकाले,=सोम पीने का समय (प्रपित्वे) समीप आने पर (नः) हम को (तूयम्) शीघ्र (आ गहि) प्राप्त होवो । (अभीके चित्) समीप आने पर भी [संग्राम के] (उ लोककृत्) संग्राम को बनाने वाला [इन्द्र] । ये भी दो निगम=[स्वयं अर्थ स्पष्ट करने वाले मन्त्र अथवा मन्त्रांश] हैं ।

२. दभ्रम्, अर्भकम् ये अल्प के [हैं ।] दभ्रं दभ्रोति से [है ।] सुदभ्रम्=शीघ्र हो सकने वाला होता है । अर्भकम्=(अवहृतम्) अवहार किया गया=संकुचित किया गया । थोड़ा हुआ होता है । समीपता से समीपता से मेरा स्पर्श=आलिङ्गन करो, मत [मेरे उपस्थ के लोमों को] थोड़ा समझो । नमस्कार है बड़ों को, नमस्कार है छोटों को । ये भी दोनों निगम हैं ।

२. तिरः सतः, ये प्राप्त के [नाम हैं ।] तिरः=तीर्ण हुआ=तीर कर पार किया हुआ=प्राप्त किया होता है । सतः=संसृत=प्राप्त हुआ होता है । (तिरः चित्) ओझल [स्थान] से=दूर स्थान से=अपने प्राप्त स्थान से (अर्यया) ईश्वरीय अथवा देवगति [वाले अपने रथ] से (परि वतिः)

[रोम वान मार्ग म] मुड कर भी (आयातम्) जाओ (अदाय्या= अगम्या) है अहिंस्य अधिनी ॥ (पाथेय) मट्टी क बनतो क समान (भिन्दन् सत) भेदन करता ताडता फोन्ता हुआ (एति) आता है (गच्छस) राक्षसो को [इन्द्र] । य भी दोनो निगम हैं ।

८ त्व, नम ये आये क [नाम हैं ।] त्व=अपनत=आय तन= पृथक् हो कर उम [मारे] स । नम अनीन=अगमज्य नीत=पृथक् किया गया । अधम् हर्गति स (विपरीतात्) उल्टा किए हुए स । धाम्यनि स अथवा होवे । उद्घृतम् [मार भाग म] ऊपर उठा होना है । ऋभोति मे अथवा होवे । (ऋद्धतम्) बूत बड़ा हुआ पृथक् हुआ भाग [है ।] (पीयनि)-हिनस्ति=नाग करता है [हे अमे तरे न्याय नियम को] त्व आधा [अमुरा-नास्तिको का] भाग (त्व) आधा भाग (अनु गृणाति) [तेरी] स्तुति करता है । (नम , आये दव आये अमुर । य भी दोनो निगम हैं ।

५ अक्षा, स्तुभि ये नमत्रा क [नाम हैं ।] नक्षत्राणि नमति म गति अर्थ जाने स । (न इमानि) नयी य (क्षत्राणि) धन [निषण्डु २।६ म नम्र-धन] यह और काक्षण्य [प्रयचन है] । ऋक्षार,=नमत्र (उन् इरग्यानि इय) ऊपर भज हुए क समान (ख्यायन्त) बहे जात हैं [अथवा] दिखाई देने हैं । (स्तुभि) नमत्रा मे (स्तीर्णानि इय) [आवाग मार्ग म] हके हुए के समान (ख्यायन्त) बह जाते हैं ।

य जो (ऋक्षा) नक्षत्र [वर्ण म] (निहितास) रम्य हुए ऊवे । (पश्यन्त) देखने हुए (चाम् इय) छो क समान [भरे हुए] (स्तुभि) नक्षत्रा म । य भी दोनो निगम हैं ।

यस्त्राभि उपजिद्धिका ये (सीमिकानाम्) दोमरो [पत्राची म—म्यात्] क [नाम है ।] यस्त्र्य=(यमनात्) [मट्टी और उज्व को नीच मे ऊपर] उगलत स । सीमिका (म्यमनात्) [मत्] चलने म । उपजिद्धिका-उपजिद्यत्र=[तोत्र] मूषने वाता [होती है ।] (वस्त्रीमि) दोमरो म पुत्र को अथ क (अदातम्) जाए जान हुए को । (वन् अस्ति) जो लागी है उपजिद्धिका जो (वस्त्र) वस्त्र अर्थात् दोमरो का राजा (इति स्वर्गनि=[दुर्ग —आद्रवा मृग पश्विज्यप्रेव] गानी मट्टी म ल टता हुआ मगन करना अथवा परना है । य भी दोनो निगम हैं ।

७. ऊर्दरम्, कृदरम्, ये आवपन, अर्थात् अनाज की कोठी=अन्न भण्डार के [नाम हैं ।] ऊर्दरम्=उदीर्णम् =ऊपर से दीर्ण=छेद वाला होता है । ऊर्जं=अन्नादि के लिए (दीर्णम्) छेद वाला अथवा । (तम्) उस [इन्द्र] को [सोम से], (ऊर्दरम् न) अन्न भण्डार के समान (पृणत) भरो (यवेन) जी से । [ऊर्दरं न यवेन, ऐसा अन्वय करना है ।] यह भी निगम होता है । उस [इन्द्र] को [सोम से भरता है, जैसे [ऊर्दर=अन्न भण्डार को भरता है जी से । (कृदरम्) प्रदीप्त (कृत-दरं) किए हुए छेद वाला होता है । (समिद्धः) प्रदीप्त हुए (अञ्जन्) नक्तय करते हुए [अपने को] (कृदरम्) अन्न भण्डार [के समान] (मतीनाम्) बुद्धियों के [भण्डार को] । यह भी निगम होता है ॥ २० ॥

भाष्य—इस खण्ड में सब निगम हैं । इन का अर्थ स्वयं स्पष्ट है । एक प्रकार के निघण्टुओं में इन्हीं का संग्रहमात्र था । १. वायु से आवेष्टित वैद्युत् ज्योति (दुर्गः—वैद्युतेन ज्योतिपावायत्रा वेष्टितेन—इन्द्राख्येन २ । १६) ही इन्द्र है । भौतिक विज्ञान से प्रतीत होता है कि विशेष वैद्युत परमाणु वायु के परमाणुओं से आवेष्टित होने पर इन्द्र हुआ है । वह सोम ग्रहण करता है । सोम परमाणु जब उस इन्द्ररूपी तेज में लीन होते हैं, तो इन्द्र शक्ति का बल, पराक्रम अपरिमित रूप से बढ़ता है । यहां लीन होना आपित्व=आपान है । इन्द्र लोककृत् है । अन्तरिक्ष में स्थान सीमा इन्द्र और मरुतों के कारण से है ।

२. उपोप मे परामृश—वैदिक विवाह में वधु के वयः का ज्ञान इस मन्त्र में है । इस पर गोभिलगृह्यसूत्र ३ । १ । ३ सूत्र है—नाजातलोम्या उपहासम् इच्छेत् । अर्थात्—नहीं अजातलोमा से उपहास आदि चाहे । रोमशा=जातलोमा=जिस के गुह्य इन्द्रिय पर भूरि लोम हो गए हैं । कन्या इस अवस्था के उपरान्त विवाह योग्य होती है ।

३. अश्वियों के मार्ग में रोक आ सकती है । मन्त्र का संकेत है—(परि वर्तिः) उस मार्ग से सुद कर । (पात्र) मृत्तिका=मट्टी के धर्तन ।

४. नेमः, फारसी में अर्पभ्रंश=नीम । नेमे देवाः=आधे देव नेमेऽसुराः, आधे असुर । ये दोनों विरोधी शक्तियां अन्तरिक्ष में और पृथिवी पर हैं । ध्यान रहे कि असुर और राक्षस एक नहीं हैं । निरुक्त ३ । ८ में पञ्चजनाः की

ध्याख्या में वास्क ने लिखा है—गन्धर्वा पितरो देवा असुरा रक्षासि, इत्येके ।' इस से और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक प्रवचनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन का परस्पर भेद है। टीकाकार ने बहुधा इन सूक्ष्मता का ध्यान नहीं किया। इस के फलस्वरूप 'हिन्दी निरुक्त' के सम्पादक प्रो० उमाशंकर जी ने यहाँ नेमेऽसुरा का आधे राक्षस, अर्ध टीक नहीं किया।

५ नक्षत्र का नक्षत्र अर्थ वाला निर्वचन तै० ब्रा० २।७।१२।३ में है—न वा इमानि क्षत्राणि अभूवन् इति । अथा=उन् ईरुणानि । ऊपर भेजे हुए । अर्थात् समुद्र में ये आप कण थे । वे कण दिव्य तारों से ऊपर को उठ गए थे । सलिल वा इदमन्त [=अन्तरिक्षे] आसीत् । यदतरन् तत्तारकाणां तारकत्वम् । तै० ब्रा० १।२।२।२ ॥ नक्षत्र किंवा ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत अधिक है। स्तुभि, इस पद का प्रथमा का बहुवचन रूप स्तार है। उस का अपभ्रंश अमजी म star है। वरुण ने अथा को रक्षा । वरुण आप का राजा है। उसी ने इन आप बिन्दुओं को आप तारों के कारण ऊपर कर दिया है। यह और नक्षत्र सृष्टि बनने के बहुत उत्तर काल में इस वर्तमान स्थिति में आए हैं। राजवाड़े ने तार पद को स्तार से विरुद्ध होने का अनुमान किया है (p. ७⁹⁹) । अनवच्छिन्न वैदिक परम्परा में इस का स्थान नहीं। पुनश्च इस से पूर्व पृ० २२६ पर राजवाड़े इस स्थान के क्षत्र पद का अनुवाद warrior करता है। यह भ्रष्ट अनुवाद है।

६ यज्ञी=(पजाबी—बम्मी हिन्दी—बाँबी) । स्त्रीमिषा=(पजाबी—स्वोक=सैंक) । पजाबी अपभ्रंश स्वोक सीधा अपभ्रंश है। वास्क ने स्त्रीमिषानाम् पद लिख कर अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि यज्ञी और उपजिह्विका दोनों ही सैंक के भेदों में से हैं। यज्ञ =दीमकों की सब भेदियों का राजा, शाह दीमक । अन्तरिक्ष के पदार्थों में से इस का ज्ञान करना चाहिए। वहीं अमू का पुत्र है। वह वज्र से खाया जा रहा था। इन्द्र उसे छे खाया। इन्द्र मध्यमस्थानी है। वह अमू के पुत्र का जो वज्र से खाया जा रहा था, खाया। यह रहस्य अर्भुत होगा।

इस प्रकार निघण्टु ३।२३ के १३ जादों में से वास्क ने इन शब्द में ७ का स्वास्थान किया है ॥ २० ॥

रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य । रम्भ आरभन्त एनम् ।

आ त्वा र्भं न जित्रयो र्भम् । [ऋ० ८।४५।२० ॥]

इत्यपि निगमो भवति । आरभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम् । पिनाकं प्रतिपिनष्ट्येनेन ।

कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोर्ध्वततधन्वा । [काठक सं० ६।७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

मेना ग्ना इति स्त्रीणाम् । स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः । मेना मानयन्त्येनाः । ग्ना गच्छन्त्येनाः ।

अमेनाँश्चिज्जनिवतश्चकर्थ ॥ [ऋ० ५।३१।२ ॥]

शास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत । [मै० सं० १।६।४ ॥]

इत्यपि निगमो भवतः ।

शेषो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य । शेषः शपतेः स्पृशतिकर्मणः । वैतसो वितस्तं भवति ।

यस्यामुशन्तः प्रहराम् शेषम् ॥ [ऋ० १०।८५।३७ ॥]

त्रिः स्मः माहः शथयो वैतसेन । [ऋ० १०।६५।५ ॥]

इत्यपि निगमो भवतः ।

अयैना इत्युपदेशस्य ।

अया ते अग्ने समिधा विधेम । [ऋ० ४।४।१५]

इति स्त्रियाः ।

एना वो अग्निम् । [ऋ० ७।१६।१ ॥]

इति नपुंसकस्य ।

एना पत्यां तन्व संसृजस्व । [ऋ० १०।२५।२५ ॥]

इति पुंस ।

सिपन्तु सचत इति सेवमानस्य ।

स नः सिपन्तु यस्तुरः ॥ [ऋ० १।१८।२ ॥]

स नः सेवतां यस्तुरः ।

सर्वस्या नः स्वस्तये ॥ [ऋ० १।१।६ ॥]

सेवस्व न स्वस्तये । स्वस्तीत्यधिनाशनाम । अस्तिगभिपूजित ।
सु अस्तीति ।

भ्यसते रेजत इति भयवेपनयो ।

यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम् ॥ [ऋ० २।१२।१ ॥]

रेजते अग्ने पृथिवी मत्वेभ्यः ॥ [ऋ० ६।६६।६ ॥]

इत्यपि निगमो भवत ।

द्यानापृथिवीनामधेयान्युत्तगणि चतुर्विंशति । तयोरेषा भवति ॥२१॥

अर्थ—= रम्म पिनाकम्, ये दण्ड के [नाम हैं ।] रम्म,
आरम्मन्त=पकडते हैं (पनम्) इम को [वृद्धावस्था मे अस्वजन के
निमित्त] । (रवा) [हे इन्द्र] तुम्ह को (रम्म न) दण्ड को जैसे (त्रिप्रय)
वृद्ध [पकडने हैं, वैन] (आ ररम्म) पकडने हैं । यह भी निगम होना है ।
(आरभामहे) पकडने हैं तुम्हें वृद्ध जैसे दण्ड को । पिनाकम् (प्रति
पिनष्टि) पूर्णतया पीम डालना है (अनेम) इम [दण्ड] मे । [रड के
प्रति बड़ा है ।] (कृत्तिनासा) चर्मवपना, (पिनाकहस्त) दण्डगणि
(अयनतधम्ना) मुगाए हुए = चढ़ाए हुए घनुर बाना [ही कर ।] यह
भी निगम होता है ।

६ मेना, ज्ञा ये त्रियोक् [नाम हैं ।] त्रिय मत्यायति=(अपशरण)
नज्जा अर्थ जाने म । मेना मान इन हैं (एना) इनसे । (ज्ञा,
(गच्छन्ति) जाने हैं । [सन्तानादि क रिण] एना=इन को । (अमेनान्

चित्) स्त्रीरहितों को (जनितः) स्त्रियों वाला (चकर्त्) बनाया [तू ने हे इन्द्र ।] ज्ञाः =स्त्रियों ने त्वा=तुझे अकृन्तन्=काता (अपसः) कर्मकर बालकों ने (अतन्वत) [ताना-वाना बना कर] तना । ये भी निगम होते हैं ।

१०. शेषः, वैतसः, ये पुरुष के प्रजननेन्द्रिय के [नाम हैं] । शेषः शपति से, स्पर्श करता है, अर्थ वाले से । वैतसः, (वितस्तम्) संकुचित=चीण होता है । (यस्याम्) जिस [पत्नी] में (उशन्तः) [प्रजा की] कामना करते हुए (प्रहराम) डालें (शेषम्) प्रजननेन्द्रिय को । [उर्वशी की ऋक् है—] तीन वार (मा) मुझे (अह्नः) दिन में (श्रथयः स्म) ताड़न किया (वैतसेन) प्रजनन से । ये भी दोनों निगम हैं ।

११. अयां, एना, ये उपदेश [=वर्तमान वस्तु के जताने के [नाम हैं ।] इस से तेरी, हे अपने, समिधा से (विधेम)=परिचरेम=सेवा करें । यह (स्त्रियाः) [समिधा निमित्त) स्त्रीलिङ्ग का [उपदेश है ।] (एना) इस [नमसा=अन्नेन] से (वः) तुम्हारे लिए (अग्निम्) अग्नि को [बुलाता हूँ ।] यह नपुंसकलिङ्ग का [उपदेश है ।] (एना) इस (पत्या) पति के साथ (तन्वम्) [अपने] शरीर को (संसृजस्व)=मिथी कुरु=मिलाओ । यह पुल्लिङ्ग का [उपदेश है ।]

१२. सिसक्नु, सचते ये सेवन करने वाले के [निर्देशक पद हैं ।] (सः) वह [ब्रह्मणस्पति] (नः) हमें (सिसक्नु) सेवे, जो (तुरः) आशु= [फलदायक है ।] वह हमें सेवे, जो शीघ्र [फलदाता है ।] (सचस्व) सेवो हमें (स्वस्तये) कल्याण के लिए । स्वस्ति यह अ+विनाश, नहीं विनाश=कल्याण का नाम [है] । अस्तिः अभिपूजितः शुभ अस्तित्व । सु+अस्ति, इति । पूजा योग्य भाव=अस्तित्व ।

१३. भ्यसते रेजते, ये भय और वेपन=कंपन के [बोधक पद हैं ।] (यस्य) जिस [इन्द्र] के (शुष्मात्) बल से (रोदसी) द्यावापृथिवी

१. राजवाड़े के मूल में—अतन्वतेन, पाठ है । पर सरूप और दुर्ग में मैत्रा० सं० का उपरि मुद्रित पाठ ही है ।

(अभ्यसेनाम्) कापने अथवा भयभीत होने हैं । (रजत) कापती है (अग्ने) ह अपने भूमि (मत्स्य) महत्कमा मरतो से अथवा यत् करने वाली से । ये भी दोनों निगम है ।

छायापृथिवी नाम वाने [है] अग्न चोवीस नाम । उन दोनों की यह [श्रुत्] है ॥ २१ ॥

भाष्य—८ वृत्तिवास चर्मकमता रुद्र क्या है । आह्वय ग्रन्थों के अनुसार आग्नेय परमाणुओं का एक रूपविशेष ही रुद्र है । उसी क पिनाशहस्त आदि विशेषण हैं । ६ 'नियत' = स्थिरों वाला । जनि का अर्थ श पंजाबी में जयि हुआ है । कातना धियों का कम रहा है । तन्त्रियों के बालक भी यह क्य करते थे । उन का बाल अपने गुरुओं के पास ही होता है । १० उर्वशी अथवा कौन है । विष्णु की कोई रक्षा उर्वशी है । वही आप म सरण्य करती है । वेतस = का कुछ ज्ञान शतपथ आह्वय के अगले अक्षर से होगा । एतद्वै यत्रत प्राणा ऋषयोऽथ ऽग्नि समस्कुर्वन् । तमद्भिरयोक्षन् । ता आप समस्कन्दन् । त महद्भुक् अभयन् ॥ २१ ॥ ता प्रजापतिमनुषन् । यद्वे न कमभूत् । अथाक तद्गादिति । सोऽवधीत् । एष च पतम्य यत्सर्पात् यंत्रिति । यस्तु सवेनु । सोऽह वेत वेतस इत्याचक्षत ॥ ६ । १।२ । २२ ॥ अर्थात्—यज्ञ म शतरद्विज द्वारा यदि पर जल क्षिप्तते हैं । क्योंकि सृष्टि बनते समय अपिथों शर्णों न अग्नि का संस्कार करते समय ऋषि पर आप ही क्षिप्त थे । वे आप मयदूक हुए । इन क्रिया के अगले रहस्य को जिन्होंने जाना वे वेतस हुए । उन्हीं का रूप हम पृथिवी पर मयदूक और वेतस हैं । [इसी क्रिया में अवका कमल हुए ।]

प्रस्तुत मंत्र में वेतस रूपी दरुद अथवा प्रजनन आप का कोई रूपान्तर है । मयदूक वेतस और अवका ये तीनों आप्य परमाणुओं क अधिक योग से बनन के कारण आप में रह कर प्रसक्त रहत हैं । इन्हीं में न वेतस से अन्तरिक्ष स्थ उर्वशी जिन में तीन धार लादित की गई थी । वेतस प्रजनन दरुद क्यों है यह अवेपण योग्य है । वे मंत्र म उसी विज्ञान का उपलेश है

सख्या १२ क दिश के अन्नगत इन्द्र का कल वर्णित है । इन कल म छायापृथिवी कोपते हैं । अनीत कल की यह घटना अनुमानमंत्र स विचारी जा सकती है । मत्स्य का अर्थ दुर्ग न महत्कर्मा मरतो से किया है प्रकरणानुसार वही अर्थ

ठीक बुद्धता है। अग्ने यह अग्नि का सम्बोधन है। इस पर राजपथे लिखना है—अग्ने was most probably अग्ने, for Agni has nothing to do here, (p. 540) अर्थात्—अग्ने के स्थान में मंभनतः अग्ने पाठ चादिष्ट। इस कल्पना के अनुसार उस ने इस मन्त्रांश का अर्थ भी कर मारा है। हमें यह कल्पना सारहीन दिग्गद्दे देती है। मन्त्रों की रचना प्राणों और आपः-परमाणुओं से हुई है। आपो वै मरुतः । ऐ० मा० ६। ६० ॥ अग्नि अग्निः का सम्बोधन कर के इस आपः परिणाम मन्त्रों के यज्ञ का कथन करता है ॥ २१ ॥

कतरा पूर्वा कतरापरेणयोः कथा जाते कवयः को विवेद ।

विश्वं त्मना विभृतो यद्ग नाम वि वतंतै अहनी चक्रियेव ॥

[ऋ० १। १२५। १ ॥]

कतरा पूर्वा कतरापरेणयोः । कथं जाते । कवयः क एने विज्ञानाति । सर्वमात्मना विभृतो यद्गैणयोः कर्म । विवतंतै चैनयोः । अहनी अहोगत्रे । चक्रियेव चक्रयुक्ते इवेति । आवापृथिव्योर्महिमानमाचष्ट आचष्टे ॥ २२ ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

अर्थ—(कतरा) कौन (पूर्वा) पूर्वकाला, (कतरा) कौन (अपरा) उत्तरकाला (अयोः) इन [दोनों] आवापृथिवी में से । (कथा जाते) कैसे [दोनों] उत्पन्न हुईं । (कवयः) हे कवियो (कः विवेद) इसे कौन जानता है । (विश्वम्) यह सम्पूर्ण (त्मना)=आत्मना, आप से (विभृतः) धारण किया हुआ (यत् ह) जो कुछ (नाम) नाम वाला [पदार्थ है ।] (विवतंतै) घूमते हैं (अहनी) दिन और रात (चक्रिया इव) चक्र युक्त के समान ।

कौन पूर्वकाला, कौन पराकाला इन दोनों में से । कैसे दोनों उत्पन्न हुईं । हे कवियो कौन इन दोनों को जानता है । यह सब अपने द्वारा आप धारण किए हैं, जो कुछ इन दोनों का कर्म [है] । घूमते हैं इन दोनों में दिन और रात, चक्र से युक्त के समान, इति । आवापृथिवी की महिमा को कहता है ॥ २२ ॥

भाष्य—हेरिक्त मिश्रण में पृथिवी, भूतम्य प्रधानता: (पत्र १० । ४)
 भुवनमय में व्यस्य कल्पना है । तन्नाय मा० १ । २ । ३ । १ में प्रकृत है—
 इयमु [भूमि] या पदां लौकानां प्रथमाऽवृत्त्यतः । ये दोनो बैसे काल
 दुई हय का व्याख्यान कल्पना प्रथो में है ।^१ कदय वे कल्पविचार मय है,
 और भूमि पर के विज्ञान । समता=सामना=सामना, ये तीनों रूप छवि
 मानीन काल में प्रयुक्त होते थे । अदोताय और संकसर का विज्ञान वेद में लौकिक
 कल्प । अथपृथिवी की अन्तर्मादिमा है ॥ २२ ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम् । अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि
तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः । अनवगतसंस्काराँश्च निगमान् । तदैकपदिक-
मित्याचक्षते ।

जहा जघानेत्यर्थः ॥ १ ॥

अर्थ—एक अर्थ वाला=वाले, अनेक शब्दों वाला, यह [निघण्टु
समान्नाय का नैगम प्रकरण] कहा गया [है ।] अब जो अनेक अर्थों
वाले, एक एक शब्द [हैं] उन को इस से आगे क्रम से कहेंगे । (अनवगत
संस्कारान् च) और नहीं ज्ञात है [व्याकरण शब्दों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से
प्रकृति, प्रत्यय आदि] संस्कार जिन का, उन निगमों को । तो [इस
प्रकरण को] ऐकपदिक कहते हैं [आचार्य] ।

१. जहां=जघान=मारा, यह अर्थ है ।

भाष्य—ऐकपदिक संज्ञा पूर्वाचार्यों के निघण्टुओं में भी इस प्रकरण की
थी । एकपदानां व्याख्यानम् ऐकपदिकम्—इति (स्कन्द) । जहा आदि
एक एक पद का व्याख्यान यहां है ।

को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत् ।

जहा को अस्मदीयते ॥ [ऋ० = १ ४५ । ३७ ॥]

मर्या इति मनुष्यनाम । मर्यादाभिधानं वा स्यात् । [मर्यादा मर्यै-
रादीयते] मर्यादा मर्यादिनोर्विभागः । मेथतिराक्रोशकर्मा । अपापकं
जघान कमहं जातु । कोऽस्मद्गीतः पलायते ।

निधा पाश्या भवति । यन्निधीयते । पाश्या पाशसमूहः । पाशः
पाशयतेः । विपाशनात् ॥ २ ॥

अर्थ—कोन भला (मर्षा) हे मनुष्यो—(अमिथिन)=अनाकृष्ट = न पिडना हुआ (सखा) मित्र (मर्षायम्) सखा को (अर्थात्) बोला । (जहा) मारा [किम ह्म न] । (क) कोन (अस्मत्) हम से (ईषत्) भागता है ।

मर्षा, यह मनुष्य का नाम [है ।] मर्षादा का (अमिथानम्) रथन [इम मया पद मे] अथवा होके । [मर्षादा=मर्षे =मनुष्यो मे (आदीपत्) पकड़ी जाती है ।] मर्षादा=मर्षादिन [रक्त का पाठ मर्षाद्यो] दो [ग्राम] मीमात्रा का विभाग । मथति आत्रोप=निडकना अर्थ बाण [है ।] निष्ठाप को मारा किम को मने कभी । कोन ह्म से डल ग भागता है ।

२. निष्ठा (पाश्या)=पाश का = फास का समूह होना है । (यत् निधीयत) जो [पानी पकड़ने के लिए भूमि पर] रखी जाती है । पश्या अर्थात् फास का समूह । पाश पाश्याति म [है ।] (विवाशनात्) विषेण जामने म ॥ २ ॥

भाष्य—मर्षादिन और मर्षाद्यो, इन में से उत्तर पाठ रक्त्य में है । पर रक्त्य संस्कृत्य के एक भी काव में नहीं है । रक्त्य के अनुसार निष्ठा पर अन्वयान संस्कार है । अवेजी में net इसी का अर्थ ही प्रतीत होता है ॥ २ ॥

पर्यः सुपर्णा उर्ष सेदुरिन्द्रं त्रियर्भंगं शर्ययो नार्धमानाः ।

अर्षे ध्वान्तमूर्त्तिरे पूर्धि चतुर्भुमुभ्यस्मान्निघयेथ षट्ठान् ॥

[अ० १०।७३।११]

पर्यो सर्वद्वयचमम् । [सुपर्णा] सुपर्णता आदिश्वरहमय । उर्षसेदुरिन्द्रं यावमाना । अर्षेण हावयन्त यन्तु । चतुर्भुव्यासर्षा । षट्ठेर्षा । पूर्धि पूर्य षट्ठानि वा । सुक्षामाग्यार्थरिय षट्ठान् ।

पार्थिवः धीगिनः क्षिणामनः । [षट् २१।४३]

पार्थ्वे षट् मयमहर्ष मयति । षट् मृग्यत । सर्वगृया षट्ठेणम् । षट्ठे मृग्यत । सर्वगृयमहर्षे । अहमहमत् । अथमत्ता । धीगिन् धीग्यननियलाकर्मण । धीगिन्धननीव मयदुन । ३। क्षिणाम यति ।

दोर्द्ध्वतः । योनिः शितामेति शाकपृष्णिः । विपितो भवति । श्यामतो यकृत् इति तैर्द्ध्विकः । श्यामं श्यायतेः । यकृत्प्रथा कथा च कृत्यते । शितिमांसतो मेदस्व इति गालवः । शिति श्यतेः । मांसं माननं वा । मानसं वा । मनोऽस्मिन्त्सादताति वा । मेदो मेद्यतेः ॥ ३ ॥

अर्थ—(वयः) [अन्तरिक्षस्य] पत्नी [मद्रूप, अर्वात्] (सुपर्णाः) सुन्दर परों वाणे आदित्य रश्मि (उप सेदुः) समीप आए (इन्द्रम्) इन्द्र के । [वे रश्मि थे], (प्रियमेध्राः) प्रिय हैं यज्ञ जिन को, (ऋषयः) अत्यन्त वेग की गति वाणे, तथा दृष्टिदाता (नाधमानाः) याचना करते हुए । (ध्वान्तम्) [जगन् के] अन्यकार को (अप ऊर्णुहि) दूर कर । (पृथि) पूर्ण करो (चक्षुः) चक्ष को=खने में समर्थ बनाओ । (मुमुग्धि) मुक्त करो (अस्मान्) हम को, (निधया इव वद्वान्) जो पारो में बन्धे हुआं के समान हैं ।

वयः, वि का वाक्यचन है । [सुपर्णाः] सुन्दर प्रकार से नीचे=भूमि लोक की ओर गिरने वाले आदित्य के रश्मि, समीप आए इन्द्र के, याचना करते हुए । (अप ऊर्णुहि आध्वस्तं) दूर करो चागों ओर के अन्यकार को=आच्छादन को । चक्षः को । पृथि] पूर्ण करो । चक्षुः स्याति=बहना से अथवा । चक्षि=खना से अथवा । (पृथि) पूर्ण करो=भर दो, दो अथवा । मुक्त करो हम को पारों से बन्धे हुए [पक्षियों को] जैसे ।

३. शिताम [अनवगत संस्कार और अनेकार्य] (पार्श्वः) [दाएं बाएं] पामे से, (श्रोणितः) कमर से, (शितामतः) भुजा से, योनि से, यकृत् से, मेद से ।

(पार्श्वम्) पार्श्वमय=पमलियों वाला=पमलियों से युक्त अङ्ग होता है । पार्श्व, स्पृगति से [है ।] संस्पृष्टा, लगी हुई=स्पर्श करती हुई पृष्ट=गोठ देश को [होती है पमली ।] पृष्टम्, स्पृशति से [है ।] स्पर्श की हुई होती है अङ्गों से । अङ्गम् अङ्गनात्=अङ्गन लक्षण से [परिचि हिन अथवा सर्वथा पृथक् लक्षित करने से, यह बाहु, यह टांग, यह कमर ।] अङ्गनात्=गति युक्त [होने] से अथवा [पृथक् २ हिल मकता है ।] श्रोणिः श्रोणति=गतिशीला, [अथवा] चलना अर्थ वाले से । श्रोणिः चलती हुई के समान [होती है] जाते हुए की । दोः=भुजा=बाहु शिताम होता है । दोः, द्रवति से [है ।]

योनि [अर्थ वाला] शिताम [पद है,] यह शाकपूणि [कहता है।]
 (विपित = वि सित) विकसित हीनी है। श्यामन = यत्त हलके बाने =
 कृष्ण वर्ण वाले से [अर्थात्] यकृन् से, यह तैटीकि [कहता है।]
 (श्यामम्) श्यापति = अति अर्थरु से [गुण कृष्ण दो वर्णों की गति से
 श्याम वर्ण बनता है।] यकृन् (यथा कथा) जैसे बाने [सरलना से]
 कृत्यते = काटा जाता है। (शितिमासत) श्वेत वर्ण बाने माम से =
 (मेदस्त) चर्बी से, [अन शिताम] यह गालव [कहता है।] शिति,
 श्यति से = [तन्करण = पूक्ष्म करने वाले अर्थ से।] मासम् = मानन -
 मान करने योग्य अथवा। (मानमम्) = मन का अथवा। मन इम मे देहता
 है' अथवा। मेद मेदति से [= स्नेह अर्थ वाला = श्लिग्ध अर्थ वाला।] ॥ ३ ॥

भाष्य—वय भूमि के पृथी और अन्तरिक्ष के पृथी। अन्तरिक्ष के पृथी
 आग्नेय परमाणु रूप हैं। इन का वर्णन विशेष वेदविद्यानिदर्शन पृ० १३७
 १४२ पर देखें। इन के साथ भी सुन्दर पर अर्थात् आदिश्वररिम छोटे रहते
 हैं। इन सुपथों को ऋषय कहा है। वे गतिशील हैं और दशन का हेतु हैं।
 इन्द्र के द्वारा अन्धकार दूर होता है। दुरी के अनुसार यह इन्द्र आदित्य है।

इम से आगे शिताम का निर्वचन है। यह पद अन्तर्गत सस्कार और
 अनेकार्थक है। इस पद के लिए यास्क ने पशु की हवि के वाङ्मय श्रेय का एक
 अक्षर कहा है। यह श्रेय देवी वश को कहता है। उसी की प्रतिवृत्ति उत्तरकाळ
 में पशु के हवन में कल्पित की गई। अत्रपि पद का अपभ्रंश वाक्यी बोली में
 arche हुआ।

पार्व का पत्नी में अपभ्रंश पासो बना। शिताम-योनि मालक उत्पन्न
 होते समय विकसित होती है फैलती है। अतः शाकपूणि ने शिताम का निर्वचन
 विपित विकसित किया। शिताम का यकृत अर्थ हीट कि न किया।
 यकृत श्याम वर्ण का होता है। श्याम वर्ण काला वर्ण नहीं होता। काले और
 सुफेर का मेल होता है। यास्क ने शाकपूणि हीटीकि और गालव में स किसी के
 भी मत का उल्लेख नहीं किया। यथा कथा प्रयोग वर्तमान सरकृत में छुस हो
 चुका है। य+कृन् य=यथा कथा कृत-कृत्यते। यह तैटीकि का निर्वचन है।
 हीटीकि आदि निर्वचन किया क आचार्य प ॥ ३ ॥

१ 'स निति=देहता है का अभिप्राय है मन का बैठना-पृष्ठा को प्राप्त होना
 वा गिरना। तुम्हना कते—नया द्वि रक्षितो लोक प्रसीदति न सीदति। अर्थशास्त्र

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः ।

राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर ॥ [ऋ० ५ । ३६ । १ ॥]

यदिन्द्र [चित्र] चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति । यन्म इह नास्तीति वा । श्रीणि मध्यमानि पदानि । त्वया नस्तद् दातव्यम् । अद्रिवन् । अद्रिरादृणात्वेनेन । अपि वात्तेः स्यात् ।

ते सोमादो । इति ह विज्ञायते ।

राध इति धननाम । राध्नुवन्त्यनेन । तन्नस्त्वं वित्तधनोभाभ्यां हस्ताभ्यामाहर । उभौ समुब्धौ भवतः ।

दमूना दममना वा । दानमना वा । दान्तमना वा । अपि वा दम इति गृहनाम । तन्मना स्यात् । मनो मनोतेः ॥ ४ ॥

अर्थ—४. [मेहना], (यत्) जो (इन्द्र) हे इन्द्र (चित्र) पूजनीय (मेहना) धन है, (त्वादातम्) तेरे द्वारा देने योग्य, (अद्रिवः) हे वज्र-वाले (राधः) धन (तत्) उस को (नः) हमारे लिए (विदद्वसः) हे धनों को प्राप्त करने वाले, (उभया हस्त्या) दोनों हाथों से (आ भर) लां=प्राप्त करा ।

जो हे इन्द्र (चित्र=चायनीय) पूज्य (मेहना) धन है, [अथवा जो (म, इह, न) मेरे पास यहां नहीं (अस्ति) है । तीन मध्यम पद हैं । तेरे द्वारा हमारे लिए (तत्) वह (दातव्यम्) दिया जाना चाहिए, (अद्रिवन्) हे वज्र वाले । अद्रिः, आदृणाति=गाड़ देता है (एनेन) इस से । अथवा अत्ति=खाता है, से हीवे ।

वे (सोमादः) सोम के खाने वाले । यह [अत्ति से अर्थ] विशेष जाना जाता है । [यहां अद्रियों को 'सोमादः' कहा है ।] राधः, यह धन का नाम [है ।] (राध्नुवन्ति) सिद्ध होते हैं [कार्य] (एनेन) इस से । वह हमारे लिए, तुम हे (वित्तधन) प्राप्त किए धन वाले, दोनों हाथों से (आहर) ला, उभौ (सम् उब्धौ) उभ=दोनों [धातुपाठ ६ । ३२] दोनों भरे हाथों से ।

५ दमूना, दमनना=दन्त वाणे मन वाता । दन्त वाणे मन वाता अपवा । (दान्तमना) वगीभूतना=गी३ में मन वला । अपवा दम यह गृह का नाम [है ।] उन म मन वाता होवे । मन, मनोति से ॥५॥

भाष्य—निरुक्त का धर्ममान पाठ चित्रं चायनीय है । परन्तु वह अशुद्ध है । मन्त्र में चित्र पद सम्बोधन स्वर स युक्त है । अत्र चित्र चायनीय यही युक्त पाठ है । सायरा ने इसी मन्त्र क भाष्य में निरुक्त का चित्र चायनीय पाठ ही उद्धृत किया है ।

मेहना, अत्रगणत सरकार पद है । इस पद के विषय में स्कन्द स्थनी लिखता है—एकमिति शाकल्य । श्रीर्त्ति गार्ग्यः । अथोन्—तीन मध्यम पद । चित्र म इह न कस्ति । इन पाठों में स, म इह न ये तीन मध्यम हैं । परन्तु वे यहाँ गार्ग्य के पद को भी युक्त माना है । ध्यान रहे कि साम के मन्त्र पाठ में म इह नास्ति पाठ है । इस गार्ग्य पाठ कैम माना यह विकारशील है । इन्द्र मनुष्य नहीं है । वह अन्तीवस्थ देव है । वह वायु स आवेहन कैलुत सेव है । वह स्वों का राजा और पेश्वेवन् है । उस में मनुष्य के चरों का अन्तोन मन कर कथन किया गया है ॥ ४ ॥

जुणो दमूना अतिभिर्दुरोण इर्म नो पञ्चमुर्ष पादि विद्वान् ।

विद्यां अग्ने अभिपुत्रो विदित्वा शत्रून्तमा भेरा भोजनानि ॥

[अशु० १।५।५ ॥]

अतिधिरभ्यतिनो गृहा भवति । अग्नेति तिधिषु परकुलानीति वा । [पर] गृहारीति वा । दुरोण इति गृहनाम । दुरवा भवति दुरुतर्षा । इम नो पञ्चमुर्षादि विद्वान् । सर्वा अग्ने अभिपुत्रो विदित्वा शत्रून्तमा मानर भोजनानि । विदित्वाग्नेषा दत्तानि शत्रून्त भवनादादर भोजनानीति वा । धनानीति वा ।

मूयो मूर्धिका इत्यर्थः । मूर्धिका पुनर्मुष्पात । मूयोऽप्येतस्मा देव ॥ ५ ॥

अर्थ—(पुष्ट) सब स सविन, सब क धिय (दमून) दमन गिए हुए मन वाता (अनिधि) अनिधि समन अदरणेय । (दुरोणे) [पर] गृह म (इर्म न पञ्चन्) इत हुनारे वत को (उप पादि) पुन जाओ

(विद्वान्) जानते हुए, (अग्ने) हे अग्ने । (विश्वा) सम्पूर्ण (अभियुजः) सामने ठहरी हुई सेनाओं को [खीलिङ्ग होने से सेनाओं का अभिप्राय है] (विहत्य) मार कर, (शत्रूयताम्) शत्रुता करने वाले के (आ भर) ला दो (भोजनानि) अन्न अथवा धनों को ।

अतिथिः=अभ्यतितः गृहान् भवति । [अततिः=गतिकर्मा], प्राप्त हुआ घरों को होता है । (अभ्येति) आना है, तिथियों [पूर्णिमा आदि पर] दूसरों के कुलों को अथवा । दूसरों के घरों को अथवा । दुरोणः, यह घर का नाम [है ।] दुरवाः=दुः+अवाः=दुस्तर्पाः कठिनता से पूर्ण होने वाले होते हैं । इस हमारे यज्ञ को आओ, जानते हुए । सारी, हे अग्ने, सामना करने वाली सेनाओं को विविध प्रकार से मार कर, शत्रुता करने वालों के (आ भर) ला दो अन्न अथवा धन को । विविध प्रकार से मार कर परायों के बलों=सेनाओं को शत्रुओं के भवन से (आ हर) ले आओ अन्नों को अथवा, धनों को अथवा ।

६. मूपः, मूपिकाः=चूहियां, यह अर्थ है । मूपिकाः, फिर मुष्णाति से । मूपः भी इसी से [है] ॥ ५ ॥

भाष्य—अग्निः अतिथि है । वह यज्ञरूपी गृह में आता है । वह विशेष तिथियों पर आता है । वह शत्रुओं की सेनाओं को मारता है । जो रोग-उत्पादक विषैले जन्तु वायु में रहते हैं, उन्हें मारता है । वह अन्तरिक्षस्थ अन्न, ऊर्ज आदि को वर्षा के साथ मिल कर पृथिवी पर ला कर हमें देता है । उस से हमारी खेतियां फलती हैं । ये विशेषण अग्निः के हैं, और उस में घटते हैं । पर इसी मन्त्र का उपमा से दूसरा अर्थ भी है । दुर्ग के पाठ में गृहाणीति के आगे पाठ है—
अयमपीतरो ऽतिथिरेतस्मादेव ।

मूपः, यह भी अनवगत है । इस का पुरानी अंग्रेजी में अपभ्रंश - mus, अंग्रेजी में mouse और यवनी में mus है । इस का पंजाबी अपभ्रंश मुच्चना=ठगणा=धोखा देकर छीनना है । यह रात को चोरी करता है, चोरी से अन्नादिक खाता है । अतः मुप्=स्तेये से इस पद का अर्थ दर्शाते हैं ॥ ५ ॥

सं मां तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।

मूपो न शिक्षा व्यदन्ति माध्यं स्तोतारं ते शतक्रतो

वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ [ऋ० १ । १०५ । २ ॥]

सन्तरन्ति मानभिन सत्यन्व इवमा पर्शव कूरर्षाव । मूर्धिका
इवाञ्जानानि मूर्धरि व्यदन्ति । स्वाङ्गाभिधान या स्यात् । शिभ्रानि
व्यदन्तीनि वा । सन्तरन्ति माध्य कामा । स्तोत्रार त शतकरो । [विस
मे अस्य रादर्सी ।] जनीन मऽस्य द्यावापृथिव्या विति ।

वित कूरऽवहितमेव सूक्तं प्रतिवभौ । तत्र ग्रहोनिहासमिधमृद्धिध
माधमिध भवति । त्रिनस्तीर्तुनो मेऽया वभूव । ऋषि वा सव्याना
मैराभिषेत् स्यात् । एकता द्विनस्त्रित इति शयो वभूवु ॥ ६ ॥

अर्थ—म=मुझे (सत्यपति) सम्यक् तरना है (अभिन) वागे
ओर न (सरजी इव) सौन्दर्यो के समान (पर्शव) [कूरं ली] ईटे ।
(मूर्ध न) कूरा वैने (शिक्षा) [तन्नुवाय के माग लो] मषो को (वि
अदन्ति) वि न्य लना है [मा आष्य] [वैन] मुझे [मर्धनिक]
व्यथिया । स्तोत्रारम् स्तुत करन वच को (त) तेरे (शतकरो) है
इन्द्र । नो भरे [इन दुस को] हे द्यावा-पृथिव्या [तुम भी ।]

सम्यक् तरानो है मुझे चारो ओर ने सत्यिया के समान वे कूर की ईटे ।
बूह्यो के समान (अञ्जानानि) दिना धुने मया वा [तन्नुवाय क]
मूर्धो को त्रयय रू से सत्रो है । अने अङ्क का कथन अपवा हो ।
(शिक्षानि) शिभ्र मर्दा वृद्धा को [ओ तेज आदि से भी आती है
उह] विशेष लानो=बदलो है । सम्यक् तरानो है मुझे व्यथिया=
काननए । तेरे स्तोत्र को ह इन्द्र । अने लें भरे इन [दुस] को दवा
पृथिवी ।

वित को कूर म (अवहितम्)=वित निरे हुए को यह सूक्त
(प्रतिवभौ) प्रतिमनित=प्रकाशित हुआ । (तत्र) इन सूक्त मे (ग्रह)
मन्त्र [समूह] इतिहास मे दिना हुआ अथवा स दिना हुआ मूष से
दिना हुआ होता है । वित=उत्र म अर्थक बना हुआ (मध्या) वृद्धि से
हुआ । अपवा संज्ञा नम ही अभिमत हो । एतत् द्विन वित, य तीन
ए ॥ ६ ॥

मन्त्र—(सगर्सी इव यह हीमेवना है । सर्वत्र बहुवचनोव मदी ।
सगर्सी दिन्दो वनम य—सौमेव । परशो मे—सौमेव (पूव । चन्द्ररिष

में कभी अनेक कूप थे, बिल थे, पणियों की गौश्रों=रश्मियों को रोकने वाले बाड़े थे। वैसे ही कूप और वैसे ही त्रित के विषय का यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १०५ सूक्त है। त्रित भौतिक पदार्थ है, यह ब्राह्मण प्रवचन से ज्ञात होता है। सोऽङ्गारेणापोभ्यपातयत् तत एकतोऽजायत। स द्वितीयमभ्यपातयत् ततो द्वितः। स तृतीयं ततस्त्रितः, इति। मै० सं० ४।१।६ ॥ अतः अङ्गारों और आपः से त्रित आदि की उत्पत्ति स्पष्ट है। स्कन्द लिखता है— इतिहासमिश्रम्—त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये। तच्छुश्राव बृहस्पतिः (ऋ० १।१०५।१७) गाथामिश्रम्—अरुणो मा सकृत् (ऋ० १।१०५।१८)। इस प्रकार ये मूल इतिहास गाथा आदि हैं, जहाँ से सृष्टि में इतिहास विद्या चली।^१ इस प्रस्तुत सूक्त के अनुसार त्रित के आह्वान को बृहस्पति ग्रह ने सुना। त्रित का रहस्य ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुधा मिलता है। कूप के पशु वात, रजः और आग्नेय परमाश्रों के स्थूल स्तर थे। स्थूलबुद्धि पुरुष इस रहस्य को समझने की चेष्टा नहीं करते ॥ ६ ॥

इपिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।

सोमराजन्प्र ण आयुं पि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ॥

[ऋ० ८।४८।७ ॥]

इपणेन वैपणेन वार्षणेन वा। ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य। प्रवर्द्धय च न आयुं पि सोमराजन्। अहानीव सूर्यो वासराणि। वासराणि वेसराणि विवासनानि गमनानीति वा।

कुरुतनेत्यनर्थका उपजना भवन्ति। कर्त्तन हन्तन यातनेति।

जडमुदरं भवति। जग्धमस्मिन्ध्रयते धीयते वा ॥ ७ ॥

अर्थ—७. इपिरेण। ईपतः=गतिकर्मणः; इपेः=इच्छार्थात्, ऋपेः=दर्शनार्थात्। (इपिरेण) गतिशील, इच्छा वाले, दर्शन करने वाले (मनसा) मन से, (ते) तेरे (सुतस्य) उत्पन्न किए [सोम] को (भक्षीमहि) खाते हैं, (पित्र्यस्य इव रायः) पैतृक धन के समान। हे सोमराजन्, (नः) हमारे आयुओं को (प्र तारीः) तरतिः=वृद्धयर्थः, बढ़ा। बढ़ाता है (अहानि इव) दिनों को, जैसे (सूर्यः) सूर्य (वासराणि) [सप्ताह के] बसाने वालों को।

१. ऋक्, यजु, साम, गाथा, इतिहास आदि भाषा शैलियों भी हैं। स्कन्द के अनुसार इस सूक्त के मन्त्र ही उन २ शैलियों के हैं। अतः यास्क ने लिखा कि यहाँ ब्रह्म=वेद मन्त्र गाथा और इतिहास शैली के हैं।

(हृष्येण) गति शील से अथवा, (एष्येण) इच्छा शील से अथवा, (अर्प्येण) दर्शनशील से अथवा । तेरे, मन से, उत्पन्न किए गए को खाते है, पैतृक धन को जैसे । बड़ाभो और हमारे आयुषा को हे सोमराज् । दिनों को जैसे सूर्य सगर के बसाने वालो को [बढ़ाता है ।] वासराणि=वेसराणि=बहुविध गमन वाले [दिनों को], विषासनानि=बहुविध निकाले जाने हैं [रात के परदे से ओ] अथवा ।

८. कुस्तन, ये अनर्थक उपजन वाले होने हैं । [यथा—कुस्तन म अन्त वा नकार अनर्थक है, कुस्त ण्य स्वयं अर्थ देता है । इसी प्रकार] कर्तन, हन्तन, यातन [मे सर्वत्र न अनर्थक है लौकिक प्रयोग की दृष्टि से ।]

९ जठरम्, उदर होना है । खाया हुआ, इस में (धियते) धारण किया जाता है, (धीयत) रखा जाता है अथवा ॥ ७ ॥

भाष्य—सोमराजन् न आयु दि प्रतारी । दीर्घमायुरस्तु देवा । निरु० ८।२२ ॥ दमा न आयु प्रतिरन्तु जीरसे । ऋ० १।८१।२ ॥ प्रस्तुत मन्त्र में राजा सोम से आयुवृद्धि की प्रार्थना है । वस्तुतः वे सब पदार्थ जिनमें सोम का अंश है, आयुवर्धक हैं । गौ में भी सोम का अंश है । अतः गोधुग्ध अथवा गोधूत भी आयुवर्धक है । इंसर की धन्य विभूतिया, जो देव आदि हैं, वे भी आयुवर्धक हैं । इसी लिए अनेक मन्त्रों में देवों से भी आयुवर्धन की प्रार्थना है । पित्र्यस्येज राय । मनु आदि धर्मशास्त्रकारों ने ऐसे मन्त्रों से दायार के नियम ग्रहण किए हैं । सूर्य दिनों को कैय बढ़ाता है, इस विषय में अनेक उदाहरण हैं ॥ ७ ॥

मरुत्वानिन्द्र वृषभो रणाय पिवा सोममनुवृधे मदाय ।

आ सिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिरः सुतानाम् ॥

[ऋ० ३।४७।१ ॥]

मरुत्वानिन्द्र । [मरुद्भिः] तद्वान् । वृषभो वरिषतापाम् । रणाय रमणीयाय संग्रामाय । पिवा सोमम् । अनुवृधधमन्वन्तम् । मदाय मदनी पाय जैत्राय । आसिञ्चस्व जठरे मधुन ऊर्मिम् । मधु सोममित्यौषमिकं माद्यते । इदमपीतरन्मभ्वेतस्मादेव । त्वं राजासि पूर्येष्वप्यहस्तु सुतानाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—(मरुत्वान्) मरुतों वाले (इन्द्र) हे इन्द्र (वृषभः) बरसाने वाला [तू जलों का] . (रणाय) संग्राम के लिए (पिव) पी, (सोमम्) सोम को (अनु स्वधम्) पश्चात् अन्न के, (मदाय) मद के लिए । (आसिञ्चस्व) सींचो (जठरे) पेट में (मध्वः) मधु=सोम की (उर्मिम) तरङ्ग को. (त्वं राजा असि) तुम राजा हो, (प्रदिवः) पूर्व दिनों में [भी] (सुतानाम्) उत्पन्न हुए [सोमों के] ।

मरुत्वान् इन्द्र=मरुतों के साथ [अथवा] मरुतों वाला, वृषभः बरसाने वाला (अपाम्) आपः का, रणाय=रमणीय संग्राम के लिए, पी सोम को, पश्चात् अन्न के, मदाय जैत्राय=विजय देने वाले उत्साह के लिए । सींचो पेट में मधु के तरङ्ग को । मधु=सोम, उपमा के सम्बन्ध से । माद्यति से । यह भी दूसरा मधु (=शहद अथवा मदिरा) इस कारण से ही । तुम राजा हो पूर्व दिनों में भी उत्पन्न हुए [सोमों के] ॥ ८ ॥

भाष्य—मरुतः प्रजापृं हैं इन्द्र की । इन्द्र और मरुतः मध्यमस्थानी हैं । मरुतों की सहायता से इन्द्र वर्षा करता है । मरुतों का अधिक वर्णन हमारे वेद-विद्यानिदर्शन के अन्तरिक्ष प्रकण्ण में है । स्वधा अन्न होता है । यह ऊर्ग आदि के साथ अन्तरिक्ष में है । इन्द्र इसे स्वायत्त कर के तदनु सोम पीता है । सोम के तरङ्ग धुलोक और चन्द्र मण्डल से चलते हैं । उन्हें इन्द्र पीता है । सृष्टि बनने के समय, पूर्व दिनों में भी, इन्द्र ने सोम पिया था । तब से यह माया निरन्तर घट रही है ।

तितउ परिपवनं भवति । ततवद्वा । तुन्नवद्वा । तिलमात्रतुन्नमिति वा ॥ ६ ॥

अर्थ—१०. तितउ, परिपवन=चारों ओर से जिस में पावन कर्म हो=छाननी होती है । ततवत्=विस्तृत चमड़े वाला अथवा । तुन्नवत्=छेदों वाला अथवा । तिलमात्र छेदों वाला अथवा ॥ ९ ॥

भाष्य—वेद के तितउ को ईसाई यहूदी लेखक प्राकृत का शब्द कहते हैं । वे प्रउग पद को भी प्राकृत का रूप मानते हैं । उन का कथन है कि संस्कृत के पदों में दो स्वर एकत्र कहीं नहीं होते । तितउ में अकार तथा उस से आगे उ अक्षर पड़े हैं, यह पद प्राकृत का है । यह तर्क संगत नहीं । वेद में ओम् पद विद्यमान है । ओम् के ओ में अकार और उकार दोनों वर्तमान हैं । उन्हों का सन्धियुक्त उच्चारण ओकार है । यदि ओकार सर्वत्र स्वतन्त्र अक्षर होता तो

वैयङ्कराय इमे सन्धियुक्त रूपर को संज्ञा न देते । इन तितउ में अ और उ का साथ साथ अस्तिथ प्रकृत के प्रभाव का फल नहीं है । इन वेद के उच्चारण में तितउ के अन्तिम दो स्वरों में सन्धि नहीं होती । वेद के सन्धि के रूपने नियम हैं ।

प्रउग में भी दो अक्षरहित दरदमान स्वरों का सन्धि नहीं होगा । यहाँ कारण यह है । प्रस्कार के समान यहाँ भी 'प्रस्' सकारान्त है, अकारान्त नहीं । अत एव 'देव इच्छन्ति' के समान 'स्' खोर होने पर पुन सन्धि नहीं होगी । अत्यायन ने अतिरास्य में प्रउग का दकार खोप मान कर प्रउय जावा है । तितउ में 'प्रउग' के समान मूल कारण अन्वेषणीय है ।

तितउ का अमेडी अपभ्रंश *teat=की* का स्वर है । जैसे धानवी के क्षेत्रों में से सूखन पदार्थ नीचे निकलते हैं, वैसे स्तन के क्षेत्रों में से दूध निकलता है ।

परिपञ्चनम्=इस पर का अरमौरी अपभ्रंश पैरुन है ॥ १ ॥

सक्नुमिष्व तितउना पुनन्तो यश् धीरा मनसा वाचमङ्गल ।

अत्रा सखायः सरयानि जानते मद्रैषां लक्ष्मीर्निहितार्थि वाचि ॥

[अ० १० । ७१ । २ ॥]

सक्नुमिष्व परिपञ्चनेन पुनन्त । सक्नु सचतेः । दुर्धाषो भवति । असनेर्था स्याद्विपरिहितस्य । विकसितो भवति । यश् धीग मनसा वाचमङ्गल प्रज्ञानम् । धीग प्रज्ञानवन्तो प्यानयन् । तश् सरयाप सख्यानि सञ्चानते । मद्रैषां लक्ष्मीर्निहितार्थि वाचि [रति] । मद्रै मगेन ध्याख्यातम् । मद्रनीयं मृतामामभिद्रवतीयम् । मद्रद्रमयतीनि वा । मद्रनवद्वा । लक्ष्मीर्लक्ष्मीद्वा । लक्ष्माद्वा [लक्ष्यमाज्ञा ।] लक्ष्मिनाज्ञा । लपतेर्था रगाभेत्साकर्मणः । लप्यतेर्था स्यादाश्नेपकर्मणः । लप्यतेर्था स्यादस्नापकर्मणः ।

किमे इत्युपरिष्ठाद् [६ । १७] ध्याख्यास्याम् ॥ १० ॥

अर्थ—(सक्नुम् इव) अन्त, को जैसे (तितउना) धानवी ने (पुनन्त) धानने । ए यश्=यहाँ पर (धीरा) जनमान लोको ने (मनसा) मन से (वाचम् अङ्गल) वाच=मान को दिया यहाँ वाच=मिष्व मंत्रों को (अङ्गल) अन्तने है । मद्रा=मृतामो (लक्ष्मीर्) लक्ष्मी (पणाम्) इन की (अधिवाचि) धानवी पर (निहित) स्थान [है ।]

सक्तुम् इव सक्तु को जैसे (तितउना) पग्पवनेन=छाननी मे जैसे छानते हुए । सक्तुः=मचति मे=एकत्र जम जाता है । (दुर्धायः) कठिन है शोधना जिस का, ऐसा होता है । कमति=खिलना है, से अथवा होवे उन्ट किए हुए कस्त+तु=सक तु=सक्तु । खिन्ना हुआ होता है । जहाँ प्रज्ञावानों=ध्यानवानों ने मन से (वाचम्) प्रज्ञान को अकत=अरूपत=प्रयुक्त किया, वहाँ सखा मस्यपन को (सञ्जानते) भले प्रकार जानने हैं । भद्रा=ख्याणी लक्ष्मी इन की वाणी के ऊपर स्थापित है । भद्रम्. भग से व्याख्यात है । भजनीयम्=मेवा योग्य है (भृतानाम) प्राणधारियों का, (अभिद्रवणीयम्)=अभिगमनीयम् प्राप्त करने योग्य । (भवत्) होता हुआ (रमयति) रमण कराता है अथवा । (भाजनवत् वा) भाजन=वात्र वाला है अथवा । लक्ष्मीः लाभ से अथवा । लक्षण मे=रेखी^१ जाती है, चिन्तन की जाती है, अथवा । [लप्स्यनात् प्राप्त करने की इच्छा से अथवा ।] लाञ्छन से अथवा । लपति से अथवा होवे, प्रेप्सा=प्र+ईप्सा=प्रप्नुम् इच्छा अर्थ वाले से । लग्यति=लगता है से अथवा आश्लेष=जुड़ी होने अर्थ से । लज्जति से अथवा होवे, अश्लाघा=अप्रशंसा अर्थ वाले से ।

११. शिप्रे, यह आगे [६ । १७ में] व्याख्या करेंगे ॥ १० ॥

भाष्य—धीराः=प्रज्ञावान् । ये धीर लोग वाणी को मन से छान कर बोलते हैं । वाक् के सत् प्रयोग से ही मैत्री रहती है । उन की वाणी पर लक्ष्मी का वास रहता है । लक्ष्मी के सात निर्वचन यास्क ने दिसाए । एक निर्वचन जो चतुरस्र कोष्ठ में दिया है, लघुपाठ में नहीं है । दुर्ग और स्कन्द ने भी उसे नहीं पढ़ा । पर सातों निर्वचन अर्थ की विशेषता दिखाते हैं ॥ १० ॥

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जंभार ।

यदेदद्युक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥

[ऋ० १ । ११५ । ४ ॥]

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत्कर्मणां क्रियमाणानां विततं संहियते । यदासावयुक्त हरणानादित्यरश्मीन् । हरितोऽश्वानिति वा । अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ।

शिमि संहार में कौन सा कारण है, यह भी मुझे अज्ञात है । जब वेदविद्या पुनः जीवित होगी, तो संसार में ज्ञान का अद्वितीय प्रकाश होगा । वेद पढ़ने वालों को उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए सतत अनुत्तनीय स्वाध्याय करना चाहिए । रात्रि और दिन क्या हैं, इस का भी अभी तक यथार्थ अभिप्राय जाना नहीं गया । वासः=वेसरम् पाठ पर स्कन्द स्वामी लिखता है—वासरम् अहरवयुवती इति पाठः, न वेसरम् अहरवयुवती इति । परन्तु सरूप के संस्करण के किसी कोप में इस समय वैसा पाठ नहीं है ॥ ११ ॥

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे सञ्जग्मानो अविभ्युपा ।

मन्दू समानवर्चसा ॥ [ऋ० १ । ६ । ७ ॥]

इन्द्रेण हि सन्दृश्यसे सङ्गच्छमानोऽविभ्युपा गणेन । मन्दू मदिष्णू । युवां स्थः । अपि वा मन्दुना तेनेति स्यात् । समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

अर्थ—१३. मन्दू । (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् के माय (सन्दृक्षसे) भले प्रकार दीखते हो, (सञ्जग्मानः) साथ जाते हुए (अविभ्युपा) भयवर्जित [मरुद्गण] के साथ । (मन्दू) सदा प्रमुदित इन्द्र और मरुद्गण (समानवर्चसा=समानवर्चसा) समान दीप्ति वाले तुम दोनों ।

इन्द्र के साथ भले प्रकार दीखते हो, साथ जाते हुए, भयवर्जित [मरुद्गण] के साथ । मन्दू=मदिष्णू=हर्ष से भरे (युवाम्) तुम दोनों हो । अथवा (मन्दुनाः) हर्ष से भरे हुए (तेन इति) उस [गण के] साथ, यह [भाव] होवे । (समानवर्चसा इति) इयहः पद (एतेन) इस [मन्दु पद] से व्याख्यात किया गया है अर्थात् मन्दुना पक्ष में तृतीया का एकवचन है ॥ १२ ॥

भाष्य—दुर्ग और स्कन्द के अनुसार मन्दू पद प्रथमा द्विवचन अथवा तृतीया एक वचन में हो सकता है । प्रथमा द्विवचन में इस का अर्थ इन्द्र और मरुद्गण है । तृतीया एकवचन में तृतीयान्त इन्द्रेण और अविभ्युपा के साथ मरुद्गण का विशेषण है । इसी प्रकार समानवर्चसा भी एक पक्ष में प्रथमा का द्विवचन और दूसरे पक्ष में तृतीया का एकवचन है । अर्थ दोनों प्रकार युक्त होने से यास्क ने दोनों विभक्तियों का निर्देश किया है ॥ १२ ॥

ईर्मान्तमिः मिलितम यमामः सं शूर्णासो दिव्यासो अत्याः ।
इमा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिपुर्दिव्यमज्जमयाः ॥

[अ० १ । १६३ । १० ॥]

ईर्मान्ता समीरितान्ता । [सुसमीरितान्ता] पृथग्ना वा ।
सिलिकमध्यमा ससूतमध्यमा शीर्षमध्यमा वा । अपि वा शिर
आदित्यो भवति । यदनुशत सत्राणि भूतानि । मध्ये चैव निष्ठति ।
इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव । समाधितान्देतदिन्द्रियाणि भवन्ति ।
स शूर्णासो [दिव्यासो अत्या] । शूर शूरतर्गतिकर्मण । दिव्या
दिविजा । अत्या अतना । इसा इव श्रेणिशो यतन्ते । इसा इन्द्रे-
र्षन्त्यध्यातम् । [श्रेणिश इति] श्रेणि धयत । समाधिता भवन्ति ।
यदाक्षिपुर्दिव्यमज्जमयाः । दिव्यमज्जमज्जनिमाज्जिमाश्वा ।

अस्त्यादित्यस्तुनिरध्वस्य । आदित्यादध्वो निरतष्ट इति ।

सूरादर्थं वसत्रो निरतष्ट । [अ० १ । १६३ । २ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—२४ ईर्मान्तास । [आदित्य के अश्वो को स्तुति है ।]
(ईर्मान्तास) विरली जघो वाले (सिलिकमध्यमास) सगत=मघन
मध्यम भाग=उदर वाले (शूर्णास) गूर स्वभाव वाले (दिव्यास)=
दिविजाना =दिव्य (अत्या) अश्व हूँवो के समान (श्रेणिश) यणि
बनाए हुए (सयतन्त) सम्यक् गच्छति=सम्यक् चलने हैं (यत्) जब
(आक्षिपु) व्याप्त करते हैं (दिव्यम् अज्जम्) दिव्य मार्ग को अश्व ।

ईर्मान्ता =सम् ईरित अन्ता =भले प्रकार प्ररित=विरल अन्त वाले
[मृन्दर 'वरले अन्त वाले] स्थूल अन्त वाले सिलिकमध्यमा =ममृत
मध्यमा=सगत उदर वाले गिर मध्यम वाले अथवा । अथवा गिर
आन्विय होना है । क्योंकि (अनुशेत) माथ स्थित है सब भूतो-प्राणियो
के । [जब शिर चला जाए तो प्राण चला जाता है ।] मध्य में इन अश्वो
के ठहरता है । यह भी दूसरा गिर इम [कारण] में ही । समाधित इम के
इन्द्रिया होनी हैं । सम्यक् शूर [दिव्य अश्व ।] शूर गवति=गत्वर्थक से ।

दिव्याः=द्युलोक में उत्पन्न । अत्याः=अतनाः=चलने वाले । हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते । हंसाः, हन्ति से, घ्नन्ति=मार देते हैं, समाप्त कर देते हैं, मार्ग को । (श्रेणिशः इति), श्रेणिः, श्रयति से, समाश्रित होते हैं । यत् आक्षिपुः=जत्र व्यापते हैं, दिव्य अजम को । अजमम्=अजनिम्=आजिम्=मार्ग को, अथवा दिव्य दौड़ को, अश्व ।

है आदित्य की स्तुति, [जो] अश्व की [स्तुति है ।] आदित्य से अश्व बनाया गया ।

(सूर्यात्) सूर्य से अश्व को (वसवः) हे वसुओं तुम ने बनाया । यह भी निगम होता है ॥ १३ ॥

भाष्य—सूर्य से निकलने वाले दिव्य आपः परमाणु, रश्मिसमूह, और अन्य दिव्य पदार्थ ही इन दिव्य अश्वों के जन्म में योग देते हैं । अप्सुजा उवाऽ अश्वः । शतपथ ७ । ५ । २ । १८ ॥ अश्व आपः में जन्मा है । ये दिव्य अश्व सूर्य के रथ को चला रहे हैं । इन अश्वों की सूक्ष्म आकृति और इन के कर्म का मन्त्र में वर्णन है । जिस प्रकार चुम्बक की प्रेरणा से लोहकण श्रेणियों में बन्ध जाते हैं, वैसे ये दिव्य अश्व भी किसी शक्ति से श्रेणियों में बन्ध कर चलते हैं ।

इस सारी विद्या का गम्भीर अध्ययन अभीष्ट है ।

विशेष—यह मन्त्र ऋग्वेद के जिस सूक्त का है वह तथा उस से पूर्व (१६२) सूक्त कर्मकाण्ड के अनुसार अश्वमेध में विनियुक्त है । यह कर्मकाण्डगत अश्वमेध आधिदैविक अश्वमेध की प्रतिकृति है । सूक्त १६२ में जिस अश्व के संज्ञपन का संकेत उपलब्ध होता है वह दिव्य अश्व है । और इस संज्ञपन का अभिप्राय भी विचारणीय है । यह सूक्ष्म रहस्य यास्क ने अश्वमेधगत ईर्मान्तासः आदि मन्त्र के व्याख्यान द्वारा स्पष्ट कर दिया है । इतना विस्पष्ट संकेत होने पर भी सूक्त १६२ में घोड़ा मारने का विधान दर्शाना अज्ञानपूर्ण है ॥ १३ ॥

कार्यमानो वना त्वं यन्मातृरजगन्नपः । न तत्ते अग्ने प्रमृषे

निवर्त्तनं यद् दूरे सन्निशभवः ॥ [ऋ० ३ । ६ । २ ॥]

कायमानश्चायमानः । कामयमान इति वा । वनानि । त्वं यन्मातृरपोऽगम उपशाम्यन् । न तत्ते अग्ने प्रमृष्यते निवर्त्तनम् । दूरे यत्सन्निह भवसि जायमानः ।

लोर्ध नयन्ति पशु मन्यमानाः ॥ [ऋ० ३ । ४३ । २३ ॥]

लुधमृषि नयन्ति पशु मन्यमाना ।

शीरं पात्रशोचिपम् ॥ [ऋ० ३ । ६ । ८ ॥]

पात्रदीप्तिम् । अनुशायिनमिति वा । आशिनमिति वा ॥ १४ ॥

अर्थ—१५. कायमान । (कायमान) कामना करता हुआ (घना) वृत्तो को, वा इन व विकार काओ को (त्रम्) तू (यत्) जब (मान्) [जगत् बनाने वाली] माताओ को (अजगत्) गया (अप) आता का । न=नही (तत् त) उस तरे (अग्ने) हु अग्न (प्रमृषे) [मन से] दूर किया जाता (निवर्तनम्) [अपने मूल स्थान आ] में लौट कर आना । (यत् दूर सन्) जो दूर म हो कर भी (इह) यहा [अरणियो म] (अभव) होने हो ।

कायमान =चायमान =खता =आ । कामना करता हुआ अथवा । (घनानि) वृत्ता म=का ० म तू जब (मान् अप) मान्-रूपी आता में (अजगत्) चला जाता है (उपशाम्यन्) शान्त हो कर । नहा वह तरा ह अग्न (प्रमृष्यत्) मिटता है दूर किया जाता है (निवर्तनम्) लौट आता । दूर म जब होकर यहा [अरणियो म] होने हो प्रकट होते हुए ।

१६ लोत्रम् । (लोधम्) लोभी को ले जाते हैं पशु मानने हुए । [तप चीय न हो इस भाव स मौन साथे हुए मुझ तप के] लुब्ध [सुलोक्स्थ विश्वामित्र] ऋषि को ले जा रहे हैं पशु मानने हुए ।

१७ शीरम् । सर्व भूतो म स्थित=ध्यापक (पात्रक शोचिपम्) पात्रक =अन्तर्दिशस्थानी विद्युत् की शोचिपम्-दीप्ति वाले [अग्नि] को [गुण पूर्वक वर्णन करता हू] ॥ १४ ॥

भाष्य—कायमान और चायमान में अर्थ भेद नहीं है । देखिए—

१ आ तो अपने सुचेतुना । ऋग्वेद १ । ७३ । ३ ॥

आ को अपने सुचेतुना । सौ० मा० २ । ४ । २ । ३ ॥

२ शोकात् शिष्या । यजुर्वेद १३ । ४२ ॥

शोकात् शिष्या । ति० सं० ४ । २ । १० । ४ ॥

अतः संस्कृत पद पञ्च से ही योरोपीय बोलियों में पांच अर्थ वाले अनेक अपभ्रंश बने हैं। इसे न समझ कर इस विषय पर अष्ट तालव्य नियम (palatal law) की कल्पना तुच्छबुद्धि का फल है। इस मत के पूरे खण्डन के लिए देखो, हमारा भाषा का इतिहास, पृ० १५२—१६४।

अग्निः महाभूत परमाणुरूप में थावा पृथिवी और उन से पहले लोकों में व्याप्त है। अन्तरिक्ष के अग्निः को वैदिक ग्रन्थों में पावक अग्निः कहा गया है।^१ बृहद्देवता अध्याय प्रथम में इस अग्निः को वनस्पतिः अग्नि कहा है। यथा—

इहैप पवमानो ऽग्निर् मध्यमो ऽग्निर्वनस्पतिः ।

अमुष्मिन्नेव विप्रैस्तु लोके ऽग्निः शुचिरुच्यते ॥ ६६ ॥

इन तीनों अग्नियों के भेद जाने बिना वेद के ज्ञान का आनन्द लेना असम्भव है। योरोप और अमेरिका के ईसाई-यहूदी लेखक इस सूक्ष्म ज्ञान का स्पर्श भी नहीं कर पाए। मध्यम पावक अग्निः ही वनस्पति अग्निः है। वेद के अनेक मन्त्रों में अन्तरिक्ष के वनों और वृक्षों का वर्णन है। ये सब सूक्ष्म आप्य और आग्नेय परमाणुओं से बने हुए हैं। उन्हीं में आग्नेय परमाणुओं के वास से वह अग्निः वनस्पति अग्निः कहा जाता है। अग्निः पार्थिव वृक्षों में कैसे प्रविष्ट हुआ, इस का वर्णन वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ११६ से आगे देखिए। अग्निः का अपने मूल स्थानों में लौटना भी अद्भुत माया है ॥ १४ ॥

कनीनकेव विद्रुधे नवे द्रुपदे अर्भके । वभ्रू यामेपु शोभेते ॥

[ऋ० ४ । ३२ । २३ ॥]

कनीनके कन्यके । कन्या कमनीया भवति । क्रये नेतव्येति वा । [कमनेनानीयत इति वा ।] कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः । कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः । विद्धयोर्दारु पादोः ।^२ दारु दृणातेर्वा । द्रूणातेर्वा । तस्मादेव द्रु । नवे नवजाते ।

१. देखो, वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ६४, ६५। यह अग्निः आपः से उत्पन्न होता है।

२. सरूप संस्करण का पाठ—व्यूद्धयोः । वि+ऋद्धयोः । पर व्युद्धिः का सामान्य अर्थ होता है, चली गई है शोभा जिनकी। 'विविधा ऋद्धिर्यस्य' विग्रह में विशेष ऋद्धि वाले, अर्थ भी होता है।

अर्भके । अवृद्धे । ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते एव वध्र यामेषु शोभेते । वध्रश्चोरुध्रयोः संस्तरः ।

इदं च मेऽदादिदं च मेऽदादिन्युपि । प्रसङ्गस्यापाह ।

सुवास्तुवा अधि तुर्ननि ॥ [श्रु० = । १६ । ३७ ॥]

सुवास्तुर्नदी । तुग्य तीर्थे भवति । तूर्णमेतदायन्ति ।

फुडिर्नमन्ते मरुतः पुर्नर्नः ॥ [श्रु० ७ । ५ = । ५ ॥]

पुनर्नो नमन्ते मदन । नसस्त इत्युपरिष्ठाद् [७ । १७] व्याख्यय स्थान ।

ये ते मदा आहनमो विहापसस्नेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मधम् ॥
[श्रु० ६ । ७५ । ५ ॥]

ये ते मदा आहननस्तो वध्रवन्तस्तेरिन्द्रं चोदय दानाय मधम् ॥ १५ ॥

अर्थ—१२. विद्रधे । १६ द्रुपदे । (कर्नीनकाऽइव) दो पुत्रलियां= दो शालर्भञ्जाए जैसे (विद्रधे) छेदा बाने (नवे) नए (द्रुपदे) पीडे पर (अर्भके) छोटे से पर [हो] [बने] (वध्र) भूरे वर्ण बाने [इन्द्र क] अध (यामेषु)= [रान्द—रयेनु=रयो मे] अथवा [तुर्न—आजिस्था नेषु]=नमय वाच कर होने बाने दोडे के स्थानो मे, शोभा देते हैं ।

दो पुत्रलियां=दोमे कन्याए । कन्या=पुन्धर, चाहने योग्य होती है । ऋ इयम् नेतव्या=नहा यह ले आई जानी चाहिए अथवा । (कर्मनेन आनीयत) चाहने बाने स नाई जानी है, अथवा । कर्ननि से अथवा होवे, इच्छा अर्भ बाने स । (कन्ययो) दो कन्याओ के (अधिष्ठानप्रवचनानि) बैठन के आसन स्थान के=पीडे के व्याहरन बाने [ये चार पद—विद्रधे, नवे द्रुपदे, अर्भके हैं] सप्तमी विभक्ति के एकवचन रुड के यह शाक्युणि [मानता है ।] विद्रधो =शोधे हुए छदो बाने, वाउ आमतो पर । दाह वृणाति [फोन्ता है] स अथवा । [दूणाति हिना करता है से अथवा ।] उमी मे द्र है । नव=नए वदन् दूए=बने । अर्भके=अवृद्धे=छोटे । ते=दोनो पुत्रलिया जैसे उन बैठन क आसनो पर शोभा देती है, वैसे दोनो [इन्द्र के]

भूरे अश्व यामों में शोभा देते हैं । वभ्रवोः=अश्वयोः=[इन्द्र के] दोनों अश्वों का संस्तव है ।

यह और मुझे [उस ने] दिया । यह और मुझे [उस ने] दिया । यह ऋषि (प्रसङ्ख्याय) गिन कर (आह) बोला ।

२०. तुग्बनि, [तीर्थ के अर्थ में] । सुवास्तु के तट पर [पुरुकुत्स ने मुझे दिया] । सुवास्तुः नदी [है] । तुग्ब तीर्थ=घाट होता है । (तूर्णम्) शीघ्र (एतत्) इस की ओर (आयन्ति) आते हैं, [क्षानार्थ] ।

२१. [नंसन्ते ।] (कुवित्) वहत (नंसन्ते)=नमन्ते=श्रुक्ते हैं, मरुतः=मरद्गण फिर हमारे लिए । फिर हमारे लिए भ्रुकते हैं मरुद्गण ।

२२. नसन्त । यह ऊपर [७ । १७] से=आगे व्याख्या करेंगे ।

२३. [आहनसः ।] [हे सोम], जो तेरे मद (आहनसः) उत्साह देने वाले [हैं] (विहायसः) महान=बडे [हैं], उन से इन्द्र को (चोदय) प्रेरित करो, (दातवे) देने के लिए (मघम्) धन को । जो तेरे मद आहननघन्तः=उत्साह वाले शब्दों से भरने वाले=[शत्रुओं को प्राणों से] वञ्चित करने वाले, उन से इन्द्र को प्रेरित, देने के लिए धन को ॥ १५ ॥ ॥

भाष्य—इस मन्त्र पर दुर्ग और स्कन्द के अनुसार यास्क के पञ्च में नवे, अर्भके, ये दो पद दोनों पादपीठों पर आरुढ़ कन्यकाश्रों के विशेषण हैं, और प्रथमा विभक्ति के द्विवचन में हैं । शाकपृणि के अनुसार विदधे, नवे, द्रुपदे, अर्भके, ये चार पद सप्तमी विभक्ति के एकवचन में हैं, और कन्यकाश्रों के पादपीठों=पीठों के=कथन में हैं । द्रुपदे=काष्ठ के पादपीठ=पीठे । भारतयुद्ध के प्रसिद्ध सेनानी पाञ्चालराज का द्रुपद नाम इसी पद के आधार पर पड़ा था । वभ्रु=इन्द्र के दोनों अश्व । वभ्रु का अर्थ भूरा वर्ण है । उस वर्ण का होने से ये अश्व भी वभ्रु कहाते हैं- । इस वभ्रु पद पर विस्तृत लेख मद्रचित भाषा का इतिहास पृष्ठ ६६ पर देखें । यामेप् का अर्थ रात्रि के ग्रहणों में भी हो सकता है । तो क्या ये वभ्रु रात्रि में इतने शोभा युक्त दीखते हैं, कि मन्त्र ऐसा कहता है ।

सुवास्तु नदी उदीच्य दिक् के होती-मर्दान नामक नगरों के स्वात क्षेत्र में है । यह प्रदेश अब पाकिस्तान में मान लिया गया है । पर यह नदी अन्तरिक्ष-

स्य भी है और वहीं अन्तरिक्ष में तुम तीर्थ और पुस्तक, प्रवर्तु आदि का ज्ञान भी प्राप्त करना होगा । [तुम्हें अन्तरिक्षस्य है, पर पूर्व (१७ १०१) कहा जा चुका है । वहीं पुरपुरस=अत्यन्त दिग्ग करने बाधा कोई अविनाश भी अन्वेषणीय है ।] तुम्हें तीर्थ की ओर कौन शीघ्र आते हैं यह भी अन्वेषण योग्य है । अस्तु वेद के आधिदैविक और आधिभौतिक पक्ष का अध्ययन गम्भीर प्रयास की प्रतीचा में है ॥ १५ ॥

उपादर्शि शुन्ध्युवो न वदो नोधा ईगारिरंकृत प्रियाणि ।

अग्रसन्न संमतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेषुपीणाम् ॥

[ऋ० १ । १२४ । ४ ॥]

उपादर्शि शुन्ध्युव' । शुन्ध्युरादित्यो भवति । शोधनात् । तस्यैव पक्षो भासोऽध्युदम् । इदमर्षितरद्वक्ष एतस्मादेव । अध्युद काये । शकुनिरपि शुन्ध्युदच्यत । शोधनादेव । उदकचरो भवति । आपोऽपि शुन्ध्युव उच्यन्त । शोधनादेव । नोधा ऋषिर्भवति । नयन दधाति । स यथा स्तुत्या कामानात्रिष्कुरत एवमुया रूपाण्याधिष्कुरते । अग्रसत् । अग्रान्न भवति । अग्रसादिनीति वा । अग्रसानिनीति वा । संमतो बोधयन्ती । शश्वत्तमागात्पुनरेषुपीणाम् । [स्वपतो बोधयन्ती] शाश्वति कनमागात् पुनरागामिनीनाम् ।

ते वार्शीमन्त इष्मिणः । [ऋ० १ । ८७ । ६ ॥]

इष्मिण इति वैश्विण इति वार्श्विण इति वा । वार्शीति वाङ्नाम । वाश्वत इति सत्या ।

जंसांसाध्वर्यो श्रति मे शुशीदीन्द्राय वाईः कृणवात्र जुष्टम् ॥

[ऋ० ३ । ५३ । ३ ॥]

अभिरहनस्तुनिमभिरपण्णसाद् स्तुतिं मन्यन्ते । ऐन्द्री त्वेव शन्यते ।

परितन्म्येत्सुपरिष्ठाद् [११ । २५] व्याख्यास्याम' ॥ १६ ॥

अर्थ—२४. अन्नसत् । [उपा] (उप उ अदर्शि) समीप दीवनी है, (शुन्ध्युवः न वक्षः) शुन्ध्यु=आदित्य का वक्षः [=गान] जैसे । (नोधा इव) नोधा के समान (आधिः अकृत) प्रकट करनी है (प्रियाणि) प्रिय रूपों को । (अन्नसन् न) अन्न देने वाली [माता] के समान (ससतः) सोते हुए में (बोधयन्ती) जगानी हुई, (शश्वत्तमा आगात्) नित्यता में सब में अधिक [उपा] आती है (पुनः पुनःप्रीणाम्) पुनः-पुनः=नीट कर, आने वाली [गीओं] के समान ।

उपादर्शि शुन्ध्युवः=देवी गई है आदित्य की। शुन्ध्यु आदित्य होना है । [किरणो द्वारा] गोधन करने से । उम का ही वक्षः=भामः=प्रकाश (अधि+ ऊढम्) ऊपर उठा हुआ [उपा है ।] यह भी हमारा वक्षः [मानव की छाती] इस कारण में ही । ऊपर उठी होती है घरीर में । शकुनि= [उदकचर] पत्नी भी शुन्ध्यु कहा जाता है । गोधन करने में ही । उदाचारी होता है । आपः भी शुन्ध्यु कहे जाते हैं । गोधन करने से ही । नोधा ऋषि होता है । (नवनम्) स्तवन को धारण करता है । वह जैसे स्तुति से कामनाओं को (आधिष्कुरुते) प्रकट करता है, इस प्रकार उपा ऋषियों को प्रकट करती है । अन्नसत्, अन्न=अन्न होना है । अन्न को (सादिनी) [बनाने के निमित्त] बैठने वाली अथवा । अन्न को (सानिनी) भेवन करने वाली अथवा । [(स्वपतः) सोते हुएों को (बोधयन्ती) जगाने वाली ।] (शश्वतिकतमा) [मग्नूर्ण सृष्टि की देवियों में में] सब से अधिक नित्यता के नियम का पालन करने वाली (आगात्) आती है, (पुनः) फिर-फिर (आगामिनीनाम्) आने वालीयों में से ।

२५. इष्मिणः । (ते) वे [मस्त] (वाशीमन्तः) ध्वनि वाले (इष्मिणः) गति वाले, इच्छा वाले, दृष्टि वाले । (ईषणिः) गति वाले अथवा, (ऐषणिः) इच्छा वाले अथवा, (अर्षणिः) दृष्टि वाले अथवा । वाशी यह वाक् का नाम है । वाश्यते=बोली जाती है, ऐसा होते हुए से ।

२६. वाहः । (शंसाव) हम दोनों स्तुति करें, (अध्वर्यो) हे अध्वर्यों (प्रति मे गृणीहि) [तुम] मुझे [उत्तर में] प्रोत्साहन कर । इन्द्र के लिए (वाहः) स्तोत्र (कृणवाव) करें (जुष्टम्) [जो हो] प्रिय ।

(अमिषदहनस्तुतिम्) [देवता को] लाने की स्तुति को,
 (अमिषजगु=) (अमि+सवन+प्रजादां स्तुतिम्) [सोम रस के]
 निचोड़ने को कहने वाली स्तुति को मनाने हैं। ऐन्द्री=इन्द्र देवता वाली
 (तु एव) तो ही [यह अक्] (शस्यने) कही जाती है।

२७ परितक्म्या,=राशि, यह आगे [११ । २५] में व्याख्या
 करेंगे ॥ १६ ॥

भाष्य—शुन्धु पद के वाक्य ने चार अर्थ दशाएँ हैं। आदिम, उदकचर
 पत्नी तथा आप। ये चार अर्थ शुद्ध यौगिक पद के अनुसार ही संभव हुए हैं।
 निर्वचन का शोधन भाव इन सब में वर्तमान है। आदित्य का धरा —वह आम
 वाला धरा सूर्य तक से ऊपर उठा हुआ है। धरा का प्रजापति में बन्धी अपभ्रश
 हुआ है। शुन्धु कौन सा उदकचर पत्नी है यह अन्वेषणीय है।' बोधा-यह
 अवि होता है। वाक्य ने अविर्वचन ऐसा नहीं लिखा। अत स्पष्ट है कि यहाँ
 किसी भौतिक पदार्थ को देवी स्तुति करने के विचार से सब कुछ कहा है। रूपों
 का आविष्कार उपा का काम है। शश्वत्तमा—देवमाया में जो घटाएँ पुनरा
 कृति में होती हैं उन में उपा का बार बार आना सब से अधिक निवचिन है।

मन्त्र में महनों को घाशे मन्त्र कहा है। उन की यह ध्वनि क्या है, इसे
 समझना चाहिए। पुन के इध्मिणु हैं, अर्थात् गति वाले इन्द्रा वाले और
 दृष्टि वाले। गति वाला भाव स्पष्ट है। महनों का चक्र पृथिवी मण्डल से सूर्य
 मण्डल तक चक्र रहा है। पर इन्द्रा और दृष्टि जगले दो भाव समझने चाहिए।

प्रति गृणीहि—होता की अर्गात अचारी द्वारा स्तुति रासन कहाती है।
 इसी होता को अभ्यु देवता स्तुति के लिए प्रेरता है, वह अनिगर कहाता है।
 अश्वर्यु, ईसाई यहूदी लेखक और उनके चेले चाटे मिथ्या भाषामन्त्र के आधार
 पर यह घोषित करते हैं कि यजुर्वेद और यजु कियाए बहुत उत्तर काल की
 उपज हैं। उन मूर्खों को देखना चाहिए कि अश्वेद के अनक मन्त्रों में यज्ञों का
 विधान है। और तृतीय मण्डल के इस प्रस्तुत मन्त्र में अश्वर्यु सम्बोधन पद
 है। अश्वरवेद=यजुर्वेद के अभ्ययन आदि से ही अश्वर्यु कहाता है। तृतीय मण्डल

को ये ईसाई-यहूदी लेखक नया नहीं मानते । अतः उस से पहले भी यजुर्वेद था । पुनः ऋग्वेद के बहुत उत्तर काल में यजुर्वेद बना, ऐसी प्रमाण हीना वक्ति क्यों । वस्तुतः वेद अनादि हैं । जुष्टं वाहः=मिय स्योत्र ॥ १६ ॥

सुविते सु इते । मूते । सुगते । प्रजायामिति वा ।

सुविते मां धाः । [मै० सं० १ । २ । ७ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

दयतिरनेककर्मा ।

नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम । [मै० सं० ४ । १३ । ७ ॥]

इत्युपदयाकर्मा ।

य एक इद्दिदयते वसु । [ऋ० १ । ८३ । ७ ॥]

इति दानकर्मा वा । विभागकर्मा वा ।

दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि । [ऋ० ६ । ६ । ५ ॥]

इति दहतिकर्मा । दुर्वर्तुर्दुर्वारः ।

विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् । [ऋ० ३ । ३४ । १ ॥]

इति हिंसाकर्मा ।

इमे सुता इन्दवः प्रातरित्त्रिणा सजोर्पसा पिवत्तमश्विना तान् ।

अहं हि वामूतये वन्दनाय मां वायसो दोषा दयमानो अब्रूधत् ॥

दयमान' इति ।

नूचिदिति निपातः पुराणनवयोः ।

नू चेति च ।

अथा चिन्नु चित्तदपो नदीनाम् ॥ [ऋ० ६ । ३० । ३ ॥]

अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनाम् ।

१. 'दयमानः' स्कन्दपाठः, 'दीयमानः' दुर्गपाठः ।

नू च पुरा च सदन रयीणाम् ॥ [ऋ० १ । १६ । ७ ॥]

अथ च पुरा च सदन रयीणाम् । रयिरिति धननाम । रातेदान
कर्मण ॥ १७ ॥

अर्थ—२८. सुचित । सु इत अथवा सूत । सु इत्=गुणने=श्रेष्ठ गमन
अथवा श्रेष्ठ प्राप्ति । सूने=उत्पन्न हुए अथवा (प्रजायाम्) प्रजा [अर्थ] म ।
(सुचित) श्रेष्ठ=गोपन गमन है जहा एव सुख स्थान मे, अथवा श्रेष्ठ
प्रजाआ म मुझे धा=निधेदि=स्थापित कर । यह भी निगम-[स्पष्ट अर्थ
गोपन मत्र] होता है ।

२९ दयत । दयति अनेक [उपदया=रक्षा, दान विभाग, दहन हिमा
गति=उडना] अर्थ वाला [है ।] (नवन) नए [कमाए] मे (पूर्वम्)
पहन [कमाए] की (दयमाना) रक्षा करने हुए (स्याम) होंगे । यह
उपदया-रक्षा अर्थ वाला [है ।] (य) जो (एक इत्) एक ही
(विदयत) विगपना म दना, वा विभाग करता है, (वसु) धन । यह
दान अर्थ वाला अथवा विभाग अर्थ वाला । दुर्वनु=दुवार=न रखन वाला
दावन्व अग्नि भयानक (दयत) दहन करता है (वतानि) बनों की ।
यह दहन करता है, अर्थ मे [है ।] दुर्वनु=दुवार । (विदस्+वसु) प्राप्त
किए गए धन वाला [इन्द्र] (विदयमान) विगपत्य से हिमा करता
हूमा (नवन) नवओ की । यह हिमा अर्थ वाला [है ।]

य उत्पन्न किए गए=निचोड़े गए [हैं] (इन्द्र) सोम, (प्रात+
इन्द्रता) हे प्रात काळ म आने वालो (स+जीषसा) समान प्रीति वालो
(पिपतम्) नियो (अश्विना) हे दोनो अश्वियो (तान्) उन को ।
(अदृष्टि) मे ही (वाम्) तुम दोना मे (ऊनय) रभा के लिए [ओर]
(चन्दनाय) [तुम्हारी] वन्दना=स्तुति क लिए [हू ।] मुझे (वायस)
काक ने (दाश) त को (दयमान) उडन हुए ने (अबूबुधत्) अगाया
है । (दयमान) [उडना अर्थ वाला है] यह ।

३० नूचित् । यह निगम पुरान ओर नए के [अर्थ मे है ।]

३१ नू च । ओर यह [भी ।]

(अथ चित्) अथ नी और (नू चित्) पहले भी (तन् वायः) वही कर्म है (नदीनाम्) नदियों का । अथ और पहले भी वही कर्म [है] नदियों का । (नू च) अथ और (पुन च) पहले भी (सदनम्) घर को (न्याणाम्) धनों के । अथ और पहले भी घर को धनों के । न्याः, यह धन का नाम [है ।] रात्रि दान अर्थ माने से ॥ १७ ॥

भाष्य—एक व्याख्यात द्यति के द्यः विभिन्न अर्थ भाष्यकार याम् से प्रयोग है, और वेस्य अर्थ वेद-ग्रन्थों से प्रमाणित किए गए हैं। इन में यद्युमात्र सन्देह नहीं । ईसाई-प्राची भाषामत, जो अक्षरों से ही जोड़ा या सम्बन्ध रखता है, ऐसी सामग्री वहां से लाएगा । द्यति का ज्ञान से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है । पर अन्य अर्थों को इसका नहीं कहा जा सकता । इसे श्रुता शब्द का मूल स्थान अन्येपणीय है । सजोपसा का अर्थ स्कन्द से मुद्रित पाठ में, सद् उपमा है । है । सजा का साथ जन्मना अर्थ मान कर सद् अर्थ कितना टीका है, यह विचारणीय है । अथवा स्कन्द का मूल पाठ सजोपसा हो । तथापि सामग्री के शभाव में ये बातें सहसा निर्णीत नहीं हो सकतीं । अधियों का काल ऊर्ध्वम अर्धमात्रात् (निरुक्त १२ । १) होता है, और उपा का रात्रि के अवधान पर । पुनः इन का साथ होना ईश्वर चनेगा, यह भी प्तान देने योग्य है । दोषा=दुर्ग—दोषायाम् । स्कन्द—रात्री । पायस रात को उड़ता है, यह अन्येपण योग्य है ।

अपः नदीनाम्, नदियों का कर्म मदा एकरस है । क्या शन्तरिणस्य नदियों कभी अवपोदका या मृगापन लिए नहीं होतीं । अथवा दस का कोई अन्य अभिप्राय है । सदनं न्याणाम् । धन का सदन अग्निः है । धन के लिए अधिकांश प्रार्थनाएं अग्निः से ही हैं ॥ १७ ॥

विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दानस्य । [ऋ० १ । ३६ । २ ॥]

विद्याम तस्य ते वयमकूपरणस्य दानस्य । आदित्यो ऽप्यकूपार उच्यते । अकूपारो भवति दूरपारः । समुद्रो ऽप्यकूपार उच्यते । अकूपारो भवति महापारः । कच्छपो ऽप्यकूपार उच्यते । अकूपारो

१. घनमिच्छद्द्रुताशनात् । द्र० निरुक्तप्रमुख्य १ । १४ व्याख्या, पृ० १४ लाहौर सं० । गौतम धर्मसूत्र, क्रियाकाण्ड-१३ में भी उद्धृत ।

न कूपमृच्छतीति । कच्छपः कच्छं पाति । कच्छेन पातीति वा ।
कच्छेन पिबतीति वा । कच्छः खच्छः खच्छदः । अयमपीतरो
नदीकच्छ एतस्मादेव । कमुदकम् । तेन छाद्यते ।

शिश्रिति शृङ्गे रत्नसे विनिर्त्ते । [श्रु० ५ । २ । ६ ॥]

निश्यति शृङ्गे रत्नसो विनिर्त्तणाय । रत्नो रक्षितव्यमस्मात् । रत्नसि
क्षणोतीति वा । रात्रौ नक्षत्र इति वा ।

अग्निः सुतुर्नः सुतुर्कैभिरथैः । [श्रु० १० । ३ । ७ ॥]

सुतुर्न सुतुर्नैरिति या । सुप्रज्ञा सुप्रज्ञोभिरिति वा ।

मुप्रायणाऽअस्मिन्पक्षे वि श्रयन्ताम् ॥ [पञ्च० २८ । ५ ॥]

सुप्रगमना ॥ १८ ॥

अर्थ—३२. दायने=दानस्य । ३३ अकूपारस्य=अकूपरणस्य=
अकूपरणस्य । (विद्याम) लाभ ले=प्राप्त करे । (तस्य) उस (ले) तेरे
(धयम्) हम (अकूपारस्य) नहीं पार हो सकने वाले, अथवा भरपूर (दायने)
दान को, पक्षधर्ये चतुर्थी । लाभ करे उस तेरे, हम, अपरिमित दान को ।
आदित्य भी अकूपार कहा जाता है । नहीं छोटे पार वाला=दूर पार वाला
होता है । समुद्र भी अकूपार कहा जाता है । नहीं छोटे पार वाला=महापार
वाला होता है । कच्छप=बछुआ भी अकूपार कहा जाता है । अकूपः+अग्ः
[अर्थात्] नहीं कूप को शृच्छति=जाता है [तडाको और नदियो में रहता
है ।] कच्छप मुख मण्डु की पालना=रक्षा करता है । कच्छ=मुख मण्डु
द्वारा [अपनी] पालना करता है । कच्छ से पीता है अथवा । कच्छ=अ+
छ=अ+छद, आकाश रुपी शोषनेपन का स्थान वर्ता=दाग्ने वाला । यह
भी दूसरा नदी का कच्छ=नदी समीप की भूमि इस [कारण] से ही ।
कम्=उदकम्=जल, उम [जन] से दायी जाती है ।

३४ शिश्रिते=निश्यति=तीक्ष्ण करता है=तनु=मृदुम करता है ।
(शिश्रित) तीक्ष्ण करता है (शृङ्गे) दोनों सींगों को [अग्निः] (रत्नसे)
राशियों के लिए (विनिर्त्ते) नाश करने के लिए । मृदुम करता है दानों

शृङ्गों को राक्षसों के विनाश के लिए । रक्षः=रक्षा करनी चाहिए [अग्नी]
इस से । रक्ष्मि=ग्वान्त में (क्षणोक्ति) गार जानता है अथवा । रात्रि में
(नक्षत्रे) चन्ता है अथवा ।

३५. स्तुतुकः=स्तुतुकनः=मुगमनः । अग्निः अच्छी गति वाला, अच्छी
गति वाले अश्वों में । स्तुतुकनः=मुगमन वाला, मुगमन वालों में अथवा ।
श्रेष्ठ प्रजा वाला, श्रेष्ठ प्रजा वाले अश्वों में अथवा ।

३६. सुप्रायणाः=सुप्रगमनाः=वृद्ध श्रेष्ठ गति वाला ।

श्रेष्ठ गति वाली [ज्वान्तां] इस यज्ञ में (विश्रयन्ताम्) विवृत
अर्थात् सुली हो जाएं ॥ १८ ॥

भाष्य—इस खण्ड में उद्धृत प्रथम ऋक् में अकृपाग्न्य दावने पदक्रम
है । परन्तु निघण्टु ४ । १ में, जिस पर यास्क भाष्य रच रचा है, दावने
अकृपाग्न्य, पदक्रम है । इस से हुसं ने यह परियाम निकाला है कि निघण्टु
समाज्ञाय यास्क द्वारा समाज्ञात नहीं है । क्योंकि यदि यह यास्क द्वारा संगृहीत
होता, तो इस का पदक्रम यास्क द्वारा उद्धृत ऋक् के पद क्रमानुसार होता ।
पर यह तर्क आधा ठीक है । यास्कजन्त वर्तमान निघण्टु सर्वथा स्वतन्त्र संग्रह
नहीं है । यह निघण्टु पुरातन निघण्टुओं के आधार पर संगृहीत हुआ है । यास्क
ने पुराने निघण्टुओं के अनुसार पदक्रम तो पुराना ले लिया, पर इन पदों के
लिए दो ऋचाएं उद्धृत न करके एक ही ऋक् को उद्धृत करना श्रेष्ठ समझा है ।

निरुक्त १ । २० के अनुसार अति प्राचीन निघण्टु (देखिए पूर्व ४० ६६
पर हमारा भाष्य) चार भागों (=तीन प्रकरणों) वाले थे । यास्क ने मान की
दृष्टि से बहुधा उन्हीं का पदानुक्रम वर्ता है, पर भाष्यगत उदाहरणों में अपनी
स्वतन्त्रता दिखाई है । इस साधारण बातको न समझ कर अनेक लोगों ने अनेक
ऊहापोह किए हैं ।

एक और भी कारण मन्त्रगत पद परिवर्तन का हो सकता है । यास्क ने
निघण्टु के चतुर्थ अध्याय खण्ड ३ में 'देवो देवाच्या कृपा' 'असूत्तं' सूत्तं'
आदि में जहां मन्त्रानुरोध से अनेक पदों को इकट्ठा पड़ा है, वहां मुख्यतया एक
ही पद छायाशेष माना है । परन्तु यहां पर यास्क और दावने

दोनों का व्युत्पत्त्य मन्त्रण है। मन्त्रणमातृशर पदने पर यदा भी एक ही पर
सुन्दरता स्वरूपेव है यह शक्ति न ही इसलिये वास्तव न मन्त्रण पर क्रम का
विद्वान् रूप स पदा है।

वैशेषिकि मा० ३।२०३ का पद है—अकृपासो वै कश्यप ।
कश्यपो वै समुद्रम् । अनिपागपितुम् अर्हति । तद् यद् अत्राकृषार भवति
समुद्रस्यैव अनिपागत्वाय ।

नदीकच्छु की छि स भारत क पश्चिम में गुजरात प्रांत में काठ मी कश्य
मुत्र दण है। कच्छ=शत्रु=दांपना क भाव स पञ्चाश में एक अध्याय का नाम
कच्छ है।

अग्नि के दा मंगि क्य है। दुर्ग के अनुभार ये ज्वनाप् है। पर इस का
सूक्ष्म भाव दू इना नदिए। राक्षस क्य है। यह भी ज्ञान्य है। इसी प्रकार
अग्नि क कष भी ज्ञानन धारिए। वे उनही रूप के साथ जुड़त है और स्वयंभू
दात है। रोहितोऽग्ने (निषद्यु १।१२ ॥) यत्र करने पर यद् रदस्य भुव
सक्य है ॥ १८ ॥

देवा नो यथा मदा मृदमिदृषे अममप्रायुको गतितार्ग दिनेर्दिवि ॥

[श्रु० १।८६।१ ॥]

देवा नो यथा मदा वर्धनाय स्युः । अप्रायुकोऽप्रमाद्यन्व । रजिता
रथ । अहन्यदति ।

अयत्र कृषिर्भवति । व्यासयिता स्नेहाताम् । अयानमिदमिदम्य
निगमा भवन्ति ।

सुवं व्यसनिं मनयं यथा स्यं पुनर्बुधानं सुर्याय तत्रपुः ॥

[श्रु० १०।-६।४३]

सुवा व्यसन्म् । सनय पुराणम् । यथा म्य पुनर्बुधानं वरणाप
तन्पुः । सुवा प्रयैति कर्माति । तत्रति करोतिहता । रथो रजत ।
व्योर्त् रथ उच्यते । उदकं रथ उच्यते । सोऽथ रजन्मुच्यते ।
असुतदनी रजसी उच्यते ।

[रजांसि चित्रा वि चरन्ति तन्यवः । [ऋ० ५। ६३। ५ ॥]
इत्यपि निगमो भवति ।]

हरौ हरतेः । ज्योतिर्हृत् उच्यते । उदकं हर उच्यते । लोका हरस्यु-
च्यन्ते । असृग्हनी हरसी उच्यते ।

[प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि । [ऋ० १० । २७ । २५ ॥]
इत्यपि निगमो भवति ।]

अर्थ—३७. अप्रायुवः=अप्रमाद्यन्तः । (देवाः) देव हमारे लिए,
जिस प्रकार, (सदम् इत् वृधे) सदा ही वर्धन=वृद्धि के लिए (असन्)
होवें, (अप्रायुवः) न प्रमाद=न असावधानी करते हुए (रक्षितारः) रक्षा
करने वाले दिन दिन । (देवाः) देव हमारी जिस प्रकार सदा वृद्धि के लिए
हों, (अप्रायुवः) न प्रमाद करने हुए, रक्षक, दिन-दिन में ।

३८. च्यवन, च्यवन ऋषि होता है । च्यावयिता=चुआने वाला=
निकालने वाला स्तोमों का । च्यवान, इस नाम से भी इस [च्यवन] के
निगम होते हैं । (युवम्) तुम [अश्विद्वय] ने (च्यवानम्) स्तोम चुआने
वाले (सनयम्) पुराने=वृद्ध को (यथा रथम्) जिस प्रकार [पुराने]
रथ को (पुनः युवानम्) फिर युवा=नया (चरथाय) चलने के लिए
(तक्षथुः) तक्षण करके, छील छाल कर, कर दिया । तुमने च्यवन को
सनयम्=पुराने को, जैसे रथ को पुनः युवा चलने के लिए [करते हैं, वैसे]
कर दिया । यु+वाः प्रयौति=[मिश्रणामिश्रणयोः] मिलाता वा पृथक्
करता है, कर्मों को । तक्षति=करता है, अर्थ वाला [है ।]

३९. रजः, रजति से । ज्योतिः रज कही जाती है । उदक रज कहा
जाता है । लोकाः रजांसि कहे जाते हैं । असृक्+अहनी=रक्त तथा दिन
रजमी कहे जाते हैं । (रजांसि) लोकों को [जो] (चित्रा) कामना योग्य
हैं, (वि चरन्ति) विविध प्रकार से चलते हैं [मरुतः] (तन्यवः) फैले
हुए । यह भी निगम होता है ।

४०. हरः, हरति से । ज्योतिः हर कही जाती है । लोकाः हरांसि कहे
जाते हैं । असृक्+अहनी=रक्त=रुधिर और दिन हरसी कहे जाते हैं ।
(अग्ने) हे अग्ने (हरसा) [अपनी] ज्योति से (हरः) हमारी ज्योति
को । (प्रति शृणीहि) पका । यह भी निगम होता है ॥ १६ ॥

भाष्य—भगवान् की विभूतियों ही देव हैं । उन से सहायता ली जा सकती है । यह यज्ञ द्वारा संभव है । यज्ञों से देव बल प्राप्त कर के प्रमाद-रहित होते हैं ।
 च्यावयिता=बुझाने वाला=निकालने वाला । च्य-ययिता का ङीठ अर्थ लक्ष्य
 घा० स ज्ञात होता है यथा—एभ्यो वै लोकेभ्यो वृष्टिरपावामत् । ता
 प्रजापति च्यायनेन अच्यारयन्, यद् अच्यारयत् तत् च्यायनस्य
 च्यायनत्वम्, च्याययति वृष्टिं च्यायनेन तुष्टुवान् । १३ । १६ । १३ ॥
 मो० उमाशङ्कर शर्मा ने हिन्दी निरुक्त में इस का अर्थ किया है —“स्तोत्रों का
 समूह करने वाले ।” ताण्ड्य घा० के प्रमाण से यह इस प्रकरण में युक्त नहीं ।
 च्यवन=च्यायन । ये समानार्थक हैं । इन के दोनों रूप शुद्ध हैं । च्यवन
 आधिभौतिक है । सुकन्या का पति भी च्यवन था, पर यह मन्वन्त च्यवन
 नहीं है । मन्वन्त च्यवन किस प्रकार स्तोत्रों को बुझाता है यह अन्वेषणीय है ।

जुहुरे वि चितर्यन्तः । [ऋ० ५ । १६ । ० ॥]

जुद्धिरे विचेतयमाना ।

व्यन्त इत्येषोऽनेककमा ।

पद् देवस्य नर्ममा व्यन्तः । [ऋ० ६ । १ । ४ ।]

इति पश्यतिकर्मा ।

धीहि शूर पुरोळाराम् । [ऋ० ३ । ४१ । ३ ॥]

इति सादतिकर्मा ।

धीत पात पर्यस उस्त्रियायाः । [ऋ० १ । १२३ । ५ ॥]

अश्वीन पिशत पर्यस उस्त्रियाया । उस्त्रियेति गोनाम । उन्ध्रायि
 णोऽस्या भोगा । [उन्ध्रेति च ।]

त्वामिन्द्र मुतिभिः मुते मुनीधामो वसुयवः ।

गोभिः ब्राह्मण्यं धनूपत ॥

गोभिः कुर्वाणा अस्तोयत ।

आ तू पिञ्च हरिमीं द्रोःपस्ये वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः ॥

[ऋ० १०।२०१।२० ॥]

आसिञ्च हरिं द्रोःपस्ये द्रुममयस्यः । हरिः सोमो हरितवर्णः ।
अयमपीतरो हरिरेतस्मादेव । वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः । वाशीभिर-
श्ममयीभिरिति वा । वाग्भिरिति वा ।

स शर्धदुर्यो विपुणस्य जन्तोर्मा शिश्वदेवा अपि गुर्त्तं नः ।

[ऋ० ७।२१।४ ॥]

स उत्सहतां यो विपुणस्य जन्तोर्विषमस्य । मा शिश्वदेवा
अत्रह्यचर्याः । शिश्वं श्रथतेः । अपि गुर्त्तं नः । सत्यं वा यद्वा
वा ॥ १६ ॥

अर्थ—४१. जुहुरे=जुद्धिरे । हवियों को देते हैं, विविध रूप से जानते
हुए ।

४२. व्यन्तः, यह अनेक अर्थों वाला है । पद को देव के नमस्कार से
देखते हुए । यह, देखता है, अर्थ वाला [है ।] (वीहि) खाओ हे गुर
[इन्द्र, हमारे दिए] पुरोडाश को । यह, खाता है, अर्थ वाला [है ।]
(वीतम्) न अधिक द्रव, न अति कठिन उसे अग्न करो, तथा जो द्रव
(पातम्) [उसे] पीओ, [उस] पयसः=पायस रूप हविः को (उच्चियायाः)
गौ के [हे मित्रावरुणी] । अग्न करो, पियो पायस को गौः के । उच्चिया
यह गौ का नाम [है ।] उत्स्राविणः=उत्=ऊपर, त्राविणः=त्रवण करने
वाले=जाने वाले [क्षीर, दधि, नवनीत आदि क्रम से होते हैं] इस में भोग ।
उत्स्रा, यह भी [गौ का नाम है ।]

४३. क्राणाः=कुर्वाणाः । (त्वाम्) तुम्हे (इन्द्र) हे इन्द्र (मतिभिः)
मेधावी अध्वर्युओं से (सुते) बहाए जाने पर [सोम के] (सुनीथासः)
श्रेष्ठ, प्रशंसा योग्य [उद्गता और होता] (वसूयवः) धन के चाहने
वाले, (गोभिः) वाणियों से=मन्त्रों से [स्तवन] (क्राणाः) करते हुए
(अनूपत) स्तुति की [करते हैं ।]

४४. वाशी=वाशिनी=तक्षणसावनम्, सान । (आ सिञ्च)=प्रक्षिपत=
डालो (हरिम्) हरितवर्णा लता सोम को (द्रोः उपस्ये) द्रुममय=लकड़ी

के [फलक] के करार, याशीभि तद्वत् नानो से (अश्मन्मयीभि) पापाण स बनो हुई से, छोली=बनाओ । डालो हरित वर्ण [बाला ।] यह भी दूसरा हरि =मर्कट इन कारण स ही । वाशिया से अरममयी स । वाशिया स अथवा ।

४४ त्रिपुणस्य=विषमस्य । (स शर्धत्) वह उत्साह करे [हमारे यज्ञ म आने को] (अर्थ) जो समर्थ है (त्रिपुणस्य) विषम (अनो) पुरुष का [दण्डना होन मे ।] मत (शिक्षदेवा) प्रजनन इन्द्रिय क उपामर—राम (अपि) भी (सु) आए (मृतम्) यज्ञ को (न) हमारे । वह उत्साह कर जो विषम जन्तु का [दमन कर्ता है] मत ब्रह्मचर्य हीन [हमारे यज्ञ मे आए । शिक्षम्=शनयति से । आए हमारे मत्य [मय मे] वा यज्ञ म ॥ १९ ॥

भाष्य—स्वादन थीर अज्ञान का अन्तर ध्यान रखना चाहिए । धीतम् का अर्थ स्कन्द क अनुसार किया है । हरित वर्ण मर्कटों का उल्लेख दुर्गा ने रामायण के श्लोक स बनाया है । शिक्षदेवा , शिक्ष को देवमान कर जो ब्रह्मचर्य का नाश करते रहते हैं । एव पुरुष सत्य बोलन का सदा साइस नहीं करते, न हो वे यज्ञ क योग्य होते हैं । शान समार में एस पतित पुरुषों का बाहुस्य है ॥ १९ ॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा घुगानि यत्र जामयः कृणुन्नजामि ।

उप वर्द्धि वृषभाय वाहुमन्यमिच्छस्य सुभगे पतिं मत् ॥

[ऋ० १०।१०।१० ॥]

आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि । यत्र जामय करिष्यन्त्यज्ञा मिर्माणि । जाम्यतिरंकनाम । वालिशस्य था । समानजतीयस्य वा । उपजन । उपधदि वृषभाय वाहुम् । अन्यमिच्छस्य सुभगे पतिं मदिति म्याप्त्यात्मम् ॥ २० ॥

अर्थ—४६ जामि अनेकार्थ । (आ गच्छान्) आगे (ता=तानि) वे (उत्तरा=उत्तराणि) अगले युग जब भगिनिया (कृणुन्न) करेगी (अजामि) न भगिनियो वान [कम ।] (उप वर्द्धि)=उपधनी कुस्=मिरहना बनाओ (वृषभाय) वृषभ=गेत सिध्दन करने वाने के लिए (वाहुम्) [अपन] वाहु को दूसर को चाहो हे सुभगे (पतिम्) पति को यन्=मत्) मर से [अन्य को ।]

आएंगे वे उत्तर=अगले युग । जब बहनें करेंगी, न बहनों के काम ।
जामि=अतिरेकः=पुनरुक्त का नाम [है], (घालिशस्य) मूर्ख का
अथवा । समानजातीय=भगिनी का, अर्थात् जा=जन्मने वाली, [मिः]
उपजन [जा के साथ मिः] यह उपजन=प्रत्यय [है ।] (उपधेहि)
सिरहाना बनाओ, रेतः सिञ्चन मे मर्मथ के लिए बाहु को । दूसरे को चाहो,
हे सुभगे पति को, मेरे से [अर को ।] यह [स्वयं] व्याख्यात है ॥ २० ॥

भाष्य—यह ऋक् यम यमी संवाद में है । यम यमी की प्रार्थना का निषेध
करता है । यही भाव शौनक ने बृहद्देवता में लिखा है—

मैथुनार्थमभीप्सन्तीं प्रत्याचष्टे यमीं यमः । ६ । १५४ ॥

अब प्रश्न होता है कि ये यम और यमी कौन हैं ।

१. तैत्तिरीय संहिता में प्रवचन है—अग्निर्वाच यमः । इयं यमी ।
३ । ३ । ८ ॥ शतपथ ब्राह्मण में यजुः १२ । ६३ के व्याख्यान में प्रवचन है—
अग्निर्वै यमः । इयं [पृथिवी] यमी । आभ्यां हीद् सर्वं यतम् ।
७ । २ । १ । १० ॥ और यास्क निरुक्त १० । २० में लिखता है—अग्निरपि
यम उच्यते ।

२. पुनः यजुः ३७ । ११ के व्याख्यान में शतपथ का प्रवचन है—एष
वै यमो य एष [आदित्यः] तपति । एष हीद् सर्वं यमयति । एतेनेदं सर्वं
यतम् । १४ । १ । ३ । ४ ॥ निरुक्त १२ । २८ में ऋ० १० । १३५ । १ के
द्वितीय पाद—देवैः संपिबते यमः. का व्याख्यान यास्क ने किया—देवैः
संगच्छते यमः । रश्मिभिरादित्यः । अर्थात्—देवों=रश्मियों के साथ संगत
होता है यम=आदित्य । इस महान् विज्ञानाविष्ट अर्थ के विपरीत पक्षपाती ईसाई
मैन्डानल ने इस मन्त्र का अष्ट, अभिप्राय-शून्य और स्पष्ट को अस्पष्ट बनाने
वाला अर्थ अंग्रेजी में किया है—“Yama drinks together (in the
note—drinks Soma) with the gods,”¹

आदित्य का रश्मियों के साथ जुड़ना एक वैज्ञानिक घटना है । निरुक्तस्थ इस
यथार्थ विज्ञान की अवहेलना कर के, इस मन्त्र का भद्दा अर्थ करना ईसाई-यहूदी
गुट का घृणित काम है ।

६ यम शब्द का एक अन्य अर्थ, यन्तु ३म् । ३ के व्याख्यान में यतपय में ही है—अथ याव यमो योऽय [वायु] पवत । १४ । २ । २ । ११ ॥

इन प्रमाणां से स्पष्ट है कि अग्नि, आदित्य और वायु आदि देवों का नाम यम होता है । और यमी देवी पृथिवी ही है । अतः अग्नि और पृथिवी अथवा आदित्य और पृथिवी आदि विषयक ही वेद का यह आलङ्कारिक व्याख्यानमय सूक्त है ।

वेदगत यम और यमी के आधिदैविक आलम्बन को अत्यन्त स्पष्ट करने वाला मैत्रायणी संहिता का अगला प्रबचन है—

यमो वा अञ्जियत । त देवा यम्या यममपाद्भुवन् । ता यदपृच्छन् । सात्रधीत् । अचामृतति । तेऽद्भुवन् । न वा इयम् हमम् इत्य मृष्यत । रात्रौ सृजामहा इति । अहर्वात्र तर्हि आसीन् न रात्रिः । त देवा रात्रिम सृजन्ते । तत भ्वस्तममभवत् । तत सा तममृष्यत । १ । २ । १२ ॥

यम और यमी की यह सारी माया उस काल की है जब पृथिवी पर मानव जन्मा भी न था । जब पृथिवी और आदित्य दूर हो रहे थे पर अभी रात्रि परिभ्रमण में स्थिर न हुए थे । इसी अभिप्राय से तारुण्य ब्राह्मण में कहा है—
एतन् वै यमी यमं स्वर्ग लोकम् अगमयत् । ११ । १० । २२ ॥ यमी=पृथिवी ने ही यम=आदित्य को स्वर्ग लोक में पहुँचाया था ।

अपरञ्च, निदत्त ११ । २२ स—अथानो मध्यस्थाना स्त्रिय का प्रकरण आरम्भ होता है । उन देवियों का निवृत्त २ । २ अन्तर्गत संख्या १६ की अदिति स नामकीर्तन है । यमी संख्या २४ पर गिनी गई है । वह मध्य स्थानी है । वह मानुष जाति की कही हो ही नहीं सकती । इस २४ संख्यागत यमी के व्याख्यान में वादक ने निदत्त ११ । १४ में जो ऋक् उद्धृत की है, वह यम यमी सवाद सूक्त की १४ वीं ऋक है । अतः ऋग्वेद १० । १० सूक्त पृथिवी पर जन्मे देवधारी यम यमी परक कदापि नहीं है । अतः वेदार्थ करते हुए केवल मूढ लोग ही इस सूक्त को मानुष इतिहास में घटाते हैं । मौरदानस वैदिक शीघ्र में लिखता है—

As the first father of mankind and the first of those that died, Yama appears to have originally

been regarded as a mortal who became the chief of the souls of the departed. p. 212.

अर्थात्—मानव का आदि पिता यम था, और घड़ी सघ से पहले मरा । यम मृत में मरणधर्मो मनुष्य था ।

ऐसा क्षेत्र इतिहास से अनभिज्ञता का परिणाम है । मानुष इतिहास में त्रेता युग के आरम्भ में विवस्वान् के पुत्र और पुत्री यम और यमी थे । इन का पिता विवस्वान् कद्रप और अद्रिति का पुत्र था । अतः यम मानव का पिता नहीं था । मैत्रदानज आदि का ज्ञान सर्वथा कल्पित है । देव यम और इस ऐतिहासिक मानुष यम के पार्थक्य बताने के लिए ही शौनक ने दृष्टहेयता में लिखा है—

इह प्रजा प्रयच्छन्तस संगृहीत्वा प्रयाति च ।

ऋषिर्विवस्वतः पुत्रं तेनाह यमो यमम् ॥ २ । ४८ ॥

अर्थात्—[मानुष] ऋषि यम उस विवस्वान् के पुत्र [देव] यम को कहता है ।

दोनों का भेद यहां अत्यन्त स्पष्ट है । कहां केवल त्रेता के आरम्भ का यम, और कहां उसे मानव का आदि पिता मानना । ऐसे पुरुषों के लिए ही व्यास ने लिखा था—विभेत्यल्पश्रुताद्देवः ।

ऐसे अल्पश्रुत लोग अज्ञानियों के लिए ही पण्डित बने बैठे हैं । निस्सन्देह देव यम का मानुष यम से ऐक्य नहीं माना जा सकता । मानुष यम ने देव यम के नाम के अनुकरण पर अपना नाम यम रखा ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस आलङ्कारिक आख्यान से नियोग का वैदिक सिद्धान्त आकृष्ट किया है । वह अर्थ भी स्पष्ट ही है । यदि कोई ईसाई-यहूदी अथवा उन का उच्छिष्टभोजी कहे कि यास्क और ब्राह्मण-प्रवचनकर्ता चेदार्थ नहीं जानते थे, और वह स्वयं बहुत अधिक जानता है, तो ऐसे घृथाभिमानी मूढ़ पर विद्वान् घिफार करते हैं ॥ २० ॥

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र चन्द्रुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।

उत्तानयोश्चम्योश्च्योर्निरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥

घीमें पिता वा पालयिता वा जनयिता । नाभिश्च वन्धुमें माता
पृथिवी महतीयम् । वन्धु संवन्धनान् । नाभि सनहनान् ।

नाभ्या सञ्चद्धा गर्भा जायन्ते । इत्याहुः ।

एतस्मादेव ज्ञानीन् सनाभय इत्याचक्षत । सवन्धय इति च । ज्ञानि
संज्ञानात् । उत्तानयोश्चम्भोर्योनिरन्त । उत्तान उत्तान । ऊर्ध्वतानो
वा । तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्य पृथिव्या ।

[शयुः सुरययुः]

अथा नः शं योररपो दधात् । [श्ल० १० । १५ । ४ ॥]

रपो रिप्रमिति पापनामनी भवत । शमन च रागाणा यापनं च
भयानाम् । अथापि शयुर्नाहम्पत्य उच्यत ।

तच्छंपोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये ।

[ते० स० २ । ६ । १० । २ ॥]

इत्यपि तिगमो भवति । गमन यज्ञाय । गमन यज्ञपतये ॥ २१ ॥

अर्थ—४७ पिता । द्यौ मेरा (पिता) रक्तक पालक (जनिता)
[और] उत्पादक [है ।] (नाभि) नाभिभूत भौम रस (अन्न) यही ।
वन्धु = शरीर को बाधने वाली मेरी माता पृथिवी (मही इयम्) महती यह ।
(उत्तानयो चम्भो) दोनों दूर फैली हुई, अथवा उपर को विस्तृत हुई
(योनि) अन्तर्निहित स्थान एपी योनि (अन्न) मध्य म (अन्न) यहा ।
(पिता) पात्रक रक्तक [पर्जन्य] ने (दुहितु) दूर रखी हुई पृथिवी मे
(गर्भम्) गर्भ को (आ अघात्) धारण किया ।

द्यौ मेरा पिता = रक्तक अथवा पालक अथवा उत्पादक । नाभि यही ।
शरीर को बाधन करने वाली मेरी माता पृथिवी महती [है] जो । वन्धु =
भने प्रकार बाधन करने म । नाभि बाधन म । नाभिमे मन्त्रद = बाधे हुए गर्भ
उत्पन्न होने हैं यह [आयुर्वेदाचार्य] कहते हैं । इस कारण से ही ज्ञानियों
को सनाभय [= समाता हि तथा नाभिर्मानु] यह कहते हैं । सवन्धय =

१ ज्ञानता कथे, निरुक्त ३ । ४—दूरे क्षिता । = दूरे भूता ।

वन्धु यह भी । छातिः=संज्ञानात्=एक संज्ञा वाला होने से । दोनों
 दूर वा ऊपर फैली हुई छावापृथिवी के (अन्तः) मध्य में योनिः=
 अन्तरिक्ष [है ।] उत्तानः=उत्तम फैला हुआ । ऊपर को तानः=फैला हुआ
 अथवा । वहां [ठहरा] पिता=पालक [पर्जन्य] दुहितुः=दुहिता=दूर रखी
 हुई [पृथिवी] को गर्भम्=गर्भ दधाति=स्थापन करता है ! पर्जन्य पृथिवी
 का ।

४= शंयोः=शम् योः [दोनों उदात्त हैं, अतः दो पद हैं ।] शंयुः=
 सुख का मिलाने वाला । (अथ) और (नः) हमारे लिए (शं योः) रोगों
 और कष्टों की गान्ति (अरपः) निष्पान होना (दधात) धारण करे ।
 रपः और रिप्रम् ये दोनों पाप के नाम होते हैं । गमनः=गान्त होना रोगों
 का, और परे हटाना भयों का । और भी शंयुः बृहस्पति का पुत्र कहाता
 है । (तत्) वह (शंयोः) शंयु से (आवृणीमहे) [हम] मांगते हैं
 (गान्तुं यज्ञाय) प्राप्ति तथा गमन यज्ञ का देवों के प्रति (गान्तुं) जाना
 (यज्ञपतये) सुख विज्ञेप मे यज्ञपति का । यह भी निगमः=स्पष्टार्थ प्रमाण
 होता है । (गमनम्) प्राप्ति यज्ञ के लिए (गमनम्) जाना [सुखविज्ञेप में]
 यज्ञपति के लिए ॥ २१ ॥

भाष्य—पिता पद का यथार्थ भाव पालक वा रक्षक का है । इस के विना
 अर्थ पूरा नहीं जुड़ता । चौ पिता है, और मध्यस्थानी पर्जन्य भी पिता है,
 अर्थात् ये पालक और रक्षक हैं । पर्जन्य रूपी पिता ने दुहिता रूपी पृथिवी में
 गर्भ धारण किया । भौतिक पदार्थों अथवा देवों में जो अनेक घटनाएं होती हैं, वे
 सारी मानवों को अनुकरणीय नहीं, यह वैदिक सिद्धान्त है । इसी अध्याय के खण्ड
 २० में भी अन्यम् इच्छस्व सुभगे प्रति मत्, पाठ इसी सिद्धान्त को बताता
 है । इसी लिए उस मन्त्र से भी नियोग से अधिक कोई बात नहीं निकलती ।
 तुलना करो—दिवि ते जन्म परमन्तरिक्षे नाभिः पृथिव्यामधि योनिः ॥
 तै० सं० ४ । १ । १ । शंयुः बार्हस्पत्यः—अर्थशास्त्र के सुवित्यात आचार्य
 बृहस्पति का एक पुत्र भी शंयुः था । इन पिता, पुत्र, दोनों के नाम वैदिक पदों
 के अनुकरण पद है । बृहस्पति ग्रह का कोई पुत्र भी शंयुः है । तै० सं० गत
 पाठ में शंयु वही है ॥ २५ ॥

अदितिरदीना देवमाता ॥ २२ ॥

अदितिर्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

त्रियं देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

[अ० १ । २६ । १० ॥]

इत्यदितिर्भिभूतिमागच्छे । एनान्यदीनानीति वा ।

यमेतिरे भृगवः । [अ० १ । १७३ । ४ ॥]

परिर इतीतिरपस्वृष्टोऽभ्यस्त ॥ २३ ॥

अर्थ—२६ अदिति—अदीना=नही दीन कभी=नदा परिपूर्णा=मूल प्रवृत्ति । अदिनि द्यौ [है] अदिति अन्तरिक्ष [है] अदिति माता [है] वह पिता [है] वह पुत्र [है ।] (त्रियं देवा) सारे देव अथवा दिग्गात्रों में सम्बद्ध विरवेदेवा अदिनि [है] पञ्चजन अदिति है । (जातम्) उत्पन्न हुई वस्तु अदिति [है] (अनित्यम्) जो वस्तु उत्पन्न होगी [वह अदिति है ।] यह अदिति=प्रवृत्ति के लक्ष्य को कहता है [मात्र] । (एनानि) द्यौ आदि ये सारे वस्तु (अदीनानि) अक्षीण [हैं] अथवा ।

१० परिर=आ=ईरिरे । (यम्) जित [अग्नि] को (परिर) प्रेरित किया (भृगव) भृगुओं ने [नाभी पृथिव्या =नाभि म पृथिवी के ।] परिरं यह इति म (उपस्वृष्ट) उपसर्ग में मुक्त बनाया गया है और (अभ्यस्त) अभ्यास किया हुआ अर्थात् धातु का द्वित्व कर के ।

उत स्मर्तं वस्त्रमधि न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरंगु ।

नीचार्यमानं जमुरि न श्येनं श्रुधान्क्षी पशुमर्धे युथम् ॥

[अ० ४ । ३२ । १ ॥]

अपि स्मर्तं वस्त्रमधिमिव वस्त्रमाधिनम् । वस्त्र धस्त । तायुरिति स्तनताम । सस्त्यानमस्मिन्पापमिति नैरुत्रा । तस्यतया स्यात् । अनुक्रोशन्ति क्षितय क्षप्रमिषु । भर इति स्वप्नामताम । भरतयो । इत्यतया । नीचार्यमानं नीचैर्यमानम् । नीचैर्निचितं भवति । उच्चैर्निश्चिनं भवति ।

जस्तमिव श्येनम् । श्येनः शंसनीयं गच्छति । श्रवश्चाच्छा पशुमच्च
यूथम् । श्रवश्चाऽपि पशुमच्च यूथम् । प्रशंसां च यूथं च । धनं च यूथं
चेति वा । यूथं यौतेः । समायुतं भवति ।

इन्धान एनं जरते स्वाधीः । [ऋ० १०।४५।१ ॥] गृणाति ।

मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः ।

प्र मन्दिने पितुमर्चता वचः । [ऋ० १।१०१।१ ॥]

प्रार्चत मन्दिने पितुमर्चः ।

गौर्याख्यातः (२।५-८) ॥ २४ ॥

अर्थ—५१. जसुरिः, [दधिका देवता वाले सूक्त की यह ऋक् है ।]
(एनम्) इस [दधिका=आग्नेय परमाणुओं से बने अश्व को देख कर],
(वस्त्र-मर्थि न तायुम्) वस्त्र मर्थिन्=अपहारिन्=चोर को [देख कर जिस
प्रकार] (अनु क्रोशन्ति) [यह आया, यह आया, यह आया, ऐसा] एक
के पश्चात् दूसरा चिल्लाते हैं, [उसी प्रकार] (क्षितयः) मनुष्य (भरेपु)
संग्रामों में (उत स्म) भी [चिल्लाते हैं ।] (नीचायमानम्) नीचे आते
हुए (जसुरिं न श्येनम्) वेग से श्रान्त श्येन=वाज जैसे [पक्षी पर आ
पड़ते हैं,] वैसे शत्रु पर पड़ते हैं ।] (श्रवः च) और यज्ञ को (अच्छु)
आप्तुम्=प्राप्त करने के लिए, (पशुमत् च) पशु और [जैसे] (यूथम्)
यूथ को [मिलते हैं, वैसे अपने साथियों में मिलते हैं मनुष्य ।]

और इस वस्त्र चुराने वाले पर जैसे । वस्त्र वस्ति से । तायु यह चोर
का नाम [है ।] संस्त्यानम्=इकट्टा हुआ है इस में पात्र, यह नैरुक्तों का
[तायु=सं+स्त्यानम्, निर्वचन है ।] तस्यति से अथवा होवे । एक के पश्चात्
चिल्लाते हैं मनुष्य संग्रामों में । भर यह संग्राम का नाम [है ।] भरति से
अथवा । हरति से अथवा । नीचायमानम्=नीचे अग्रमानम्=आते हुए को ।
नीचैः=नि+चितम्=नीचे चिना हुआ होता है । उच्चैः=उत्+चितम्=ऊपर
चिना हुआ होता है ।

जसुरिः=[दुर्ग—जस्त=वद्धम् । स्कन्द—वद्धस्ताडितो वाहनं वेगश्रान्तो
जसुरिरुच्यते । सायण-क्षतम्] वन्धन से मुक्त किया गया वाज, जैसे ।

रथेन = पर्वणमनीय जाता है । [प०] यूथ भी और यज्ञ भी । प्रवामा और यूथ और । धन और यूथ और अथवा । यूथम् = योनि से । मिथिन = एकत्रित = मित्रा हुआ होना है ।

५२ जग्ते, (इन्धान) प्रज्वलित करता हुआ (एतम्) हम [अग्नि को] (जरत) स्तुति करता है (स्वार्धी) मुपन-गोभन बुद्धि वाला । [जरत] = तृणाति = स्तुति करता है ।

५३ मन्दी मन्दिनि से स्तुत्यर्थक से । (मन्दिने) स्तुति के योग्य [इद्र] के लिए (पितुमत्) अनशुक्त (प्र अर्चत) भवे प्रकार उच्चारण करो (यच्च) स्तुतिरूप वाक् को । (प्रार्चत) उच्चार्यो (मन्दिने) स्तुति योग्य के लिए (पितुमत्) अनशुक्त = हविषा वाचे (यच्च) वचन ।

५४ गौ व्याख्या किया गया है [२।५—८ ।]

भाष्य—भर पद का अमेनी अपभ्रस वात है । असुरि पद के कई अर्थ किए गए हैं । रथेन ऊपर जा कर नीचे की ओर भ्रष्टता है । वह यका हुआ है । निघण्टु २।७ के अनुसार पितु यह अज्ञ का नाम है ।

अत्राद् गोरमन्वत् नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्या चन्द्रमसो गृहे ।
[ऋ० १।८४।१२ ॥]

अत्र इ गो समभसतादित्यरश्मय इत्यनाम । अपीच्यम् । अपगतम् । अपचितम् । अपहितम् । अन्तर्हित वा । अमुच चन्द्रमसो गृहे ।
गानुन्यांश्यात् ।

[गार्तुं कृणुन्नुपमो जनाय । [ऋ० ४।५२।१] इत्यपि निगमो भवति ।]

दसय कामाणि । दसयन्वमानि ।

कुत्साय म-मन्नस्यश्च दसयः । [ऋ० १०।१३२।१] इत्यपि निगमो भवति ।

स तृताय नैनमश्रोत्यदतिः । [ऋ० १।६४।१॥]

स तृताय । नैनमदतिरश्रोति । अदतिश्चादद्यादुच्च दन्त । निरुद्धो पधाद्विपरीतात् ।

वृहस्पते चयस इत्पियारुम् । [ऋ० ३ । १६० । ५ ॥]

वृहस्पते यच्चातयसि देवपीयुम् । पीयतिर्हिसाकर्मा ।

वियुते द्यावापृथिव्यौ । वियवनात् ।

समान्या वियुते दूरेऽन्ते । [ऋ० ३ । ५४ । ७ ॥]

समानं सम्मानमात्रं भवति । मात्रा मानात् । दूरं व्याख्यातम् (३ । १६) । अन्तोऽन्तेः ।

अर्थ—(अत्र अह=ह) यहां ही (गोः) [सुपुष्ण] रश्मि के (अमन्वत) माना=मानती हैं, (नाम) नमन=भुक्ने=प्रतिहत हो कर परावर्तन को (त्रष्टुः) आदित्य की (अपीच्यम्) भिची हुई=सिकुड़ कर चन्द्रमण्डल में स्वायत्त होती हुई [अन्य रश्मियों ने ।] इस प्रकार चन्द्रमा के (गृहे) मण्डल में ।

यहां ही (गोः) सुपुष्ण रश्मि के, (सम् अमंसत) पूरा म.न लिया आदित्य रश्मियों ने (स्वं नाम) भुक्ने को । अपीच्यम्=अपगतम्=अलग रखी, अपचितम्=अलग हुई, अपहितम्=ढकी हुई, अन्तहितम् वा=अन्दर रखी हुई अथवा । अमुत्र=वहां चन्द्रमण्डल में ।

५५. गातुः, व्याख्या किया गया है [४ । २१, गमन अर्थ में ।] (गातुम्) गमन के लिए (कृणवन्) करती हुई [मार्गों को] (उपसः) उपाएं (जनाय) जनों के लिए । यह भी निगम होता है ।

५६. दंसयः=कर्म [हैं ।] दंसयन्ति=क्षीण करते हैं, एनानि=इनको, (कुत्साय) कुत्स=कर्पक के लिए (मन्मन्) स्तुति से [जल निकाले ।] (अह्यः च) अहि=वृत्र=मेघ के (दंसयः) कर्म विफल किए । यह भी निगम होता है ।

५७. [तूताव]—(सः तूताव) उस ने वृद्धि की, (न एनम्) नहीं इस को (अश्नोति) प्राप्त होता (अंहतिः) पाप । स तुताव, उस ने वृद्धि की, नहीं इस को पाप प्राप्त होता । अंहति=अंह.=अंहुः और हन्ति से [हैं ।] निरूढ+उपधात्=निकाल कर उपधा=अ को, विपरीतात् उलट कर [न को ह् से पहले रख कर ।]

५= चयसे=चातयसि=नाश करता है । हे बृहस्पते (चयसे) तू नाश करता है (इन् पियास्म्) [देवों के] हिमक को । हे बृहस्पते जो तू नाश करता है देवों के पीयुम्=हिमक को अथवा देवों द्वारा हिंस्य को । पियति. हिमा अर्थ वाला [है ।]

५६. विद्युत्ते=वि+युन=पृथक् हाते हैं, छावापृथिवी । विषयनात्=पृथक् होने से, [पास पास स्थिति से पृथक् होने के कारण ।] (सामान्या=सामान्यो) समान कर्म में प्रवृत्त (विद्युत्ते) पृथक् होती है (दूरेऽन्ते) दूर किनारों वाली छावापृथिवी । समान=सम्+मान+मात्रम्=एक समान मान की मात्रा वाली । मात्र=मापने से । दूरं, व्याख्यान किया गया है [३ । १९ में ।] अन्त, अतति से ।

भाष्य—आदित्य सहस्ररश्मि है । उस के सम्पूर्ण रश्मि चन्द्रमण्डल में प्रवेश करते हैं । वहाँ से केवल एक रश्मि प्रत्याइत हो कर परावर्तित होता है । वह है सुषुम्ण्य रश्मि । शेष रश्मि चन्द्रमण्डल में विलीन हो जाते हैं, अथवा सूर्य के संहार का भाग बनते हैं । इसी सारी माया का मन्त्रों से गम्भीर अध्ययन अभीष्ट है । इस का संक्षिप्त वर्णन हमने वेदविद्यानिर्द्शन पृ० २७०—२७१ पर किया है । वेद में गो-नाम=नमन, न्यायमंत्रों के वास्त्यायन=विष्णुस्त कौटिल्य भाष्य में रश्मिपरावर्तन, स्कन्द के ऋग्भाष्य में प्रतिद्वत, सन् पराचूत्य, और देवपालकृत काठकगृह्य भाष्य, भाग २, पृ० १०४ पर उद्धृत एक श्लोक में प्रतिद्वत रश्मि लिखे हैं । चन्द्र-गृह=चन्द्र मण्डल, वह मण्डल चन्द्रमा को कई सौ योजन ऊपर सब ओर से घेरे हुए है ।

उपा का गमन अध्ययन योग्य है । कुत्स, एक कुत्स औरव था । तां० मा० १४ । ६ । ८ ॥ वह इन्द्र के उरु से बना था । अर्थात् यति बलवान् था । जै० मा० ३।१६३ ॥ एक कुत्स ऐतिहासिक राजा प्रतीत होता है । परन्तु वेद का कुत्स घन्तरिच में किसी कर्षक का कर्म करता रहना है । उस का साथी और प्रतिद्वन्धी सुरा है । इन दोनों की माया जै० मा० १ । २१८ में वर्णित है । बृहस्पति देवों की सति नहीं होने देता ।

१. अम्मयध्वे ऽपि चन्द्रादे. सावित्रा एव रश्मयः ।

प्राप्य प्रतिहतास्त्वथ नैत्रसंलग्नमाग्निः ॥

विद्युते, पृथक् होते हैं। धावापृथिवी के पृथक् और शनैः शनैः दूर होने की घटना असीम महत्त्व की है। यह वैदिक विज्ञान की पराकाष्ठा है। इस का वर्णन हम ने वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ३१०, ३११ पर किया है। वहाँ पर दिए गए प्रमाणों के अतिरिक्त अगला वचन भी द्रष्टव्य है—धावापृथिवी सहास्ताम्। ते वियती अत्रूताम्। अस्त्वेव नौ सह यक्षियम् इति। तै० सं० ५।२।३॥ इन धावापृथिवी के पृथक् होने की माया विचित्र और परम आश्चर्यकारी है। तै० सं० ५।१।५ में भी प्रवचन है—अग्न आ याहि वीतय इति वा इमो लोको व्यैताम्। अग्न आ याहि वीतय इति यदाह—अनयोर्लोकयोर्वीत्यै ॥ शतपथ १।४।१।२२ में भी प्रवचन है—अग्न आयाहि वीतये इति। तद्वेति भवति वीतये-इति। समन्तिकमिव ह वा इमे ऽग्रे लोकाः आसुः इति। उन्मृश्या द्वैव द्यौरास ॥ निरुक्तस्य ऋक् में इसी माया का संकेत है। ऐसे महान् और अतीन्द्रिय ज्ञान के बताने वाले वेद को जो मूढ साधारण ग्रन्थ कहता है, उस की मतान्धता का क्या कहना। इन सब प्रमाणों में वियती, वीतये, व्यैताम् आदि प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं।

ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति। अथाप्युध्नोत्यर्थे दृश्यते।

ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः ॥ [यजुः ८।३० ॥]

ऋधुवन्नयाक्षीः। ऋधुवन्नशमिष्ठा इति च।

अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे। अनुदात्तमन्वादेशे। तीव्रार्थतरमुदात्तम्। अल्पीयोर्यतरमनुदात्तम्।

अस्या ऊ पु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ अजाश्व।

[श्रवस्यतामजाश्व ॥] [ऋ० १।१३८।४ ॥]

अस्यै नः सातय उपभव। अवहेळमानोऽकुक्ष्यन्। ररिवान्। रातिरभ्यस्तः। अजाश्वेति पूरणमाह। अजाश्व। अजा अजनाः।

अथानुदात्तम्।

दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्।

[ऋ० १०।८५।३६ ॥]

दीर्घायुर्म्या य पनिर्डीर्घु स शरत् शतम् । शरत्कृता अस्या
मोषधयो भवन्ति । शीर्णा आप इति वा । अस्येत्यस्या इति तन्
व्याख्यातम् ॥ २५ ॥

अर्थ—६० ऋधक्, यह पृथग्भाव=पृथक् होने का प्रवचनम्=विशेष
कहने वाला होता है । और भी ऋधोति=वृद्धि करता है के अर्थ में दीवना
है । (ऋधक्) समुद्र करके (अया) यज्ञ किया । (ऋधक् उत) और
समुद्र करके (अशमिष्टा) गमन = गान किया । ऋधुबन्=समुद्र करके
अयात्ती =यन किया । समुद्र करके गन्त किया यह भी ।

२१ ६२ अस्या और अस्य ओर, उदात्त [होने हैं,] प्रथम आदेश
=यन म । अनुदात्त अस्यादेश=दूमरी बार कथन में । तीम्+अर्थतरम्=
साष्ट रूप में पूर्ण अर्थ कहने वाला उदात्त [होता है ।] अरपीय अर्थतरम्
=वृत्त घोटा-अस्पष्ट अर्थ कहने वाला अनुदात्त [होता है ।]

(अस्या=अस्यै) इस [लाभ] के लिए (ऊ पु) [पदरूक हैं ।]
(न) हमारे (सातप) दान के (उप भुष । ममीप हो (अद्देष्मान)
न अनादम्=कोय करने हुए (ररिवान्) नेते हुए (अजाभ्य) हे अजन्मी
अथ वान [पूषन्] (अथस्यताम्) धन की कामना करने वाला [हमारे
पाम] (अजाभ्य) हे अजन्मी अथ वान ।

इस [लाभ] के लिए हमारे सातप=दान के उपभोग=वमीप हो ।
अद्देष्मान =न कोय करने हुए, ररिवान्=राति अथ्यस्त है [र को द्वित्व
हुआ है ।] अजाभ्य यह पूषन् को कहा [मन्त्र ने ।] अजा =वृत्त वान ।

अब अनुदात्त [का उदाहरण है अस्या का ।] (दीर्घायु) दीर्घ
आयु वाला (अस्या) इस [वधू] का जो (पनि) पनि [वद्]
(जीयानि) जीवे गरत् शतु मी अर्धात् मी वप । दीर्घायु इस का जो पनि,
आव वह गरत् मी । शरत् शृता पकी हुई इस में ओषधियां होती हैं ।
शीर्णा =धिरशीर्णां=अरपीभूता =घटे हुए [इस में] आप अथवा । अस्य,
मह अस्या इस से व्याख्यान किया गया है ॥ २५ ॥

भाष्य—वेदार्थ में स्वर की धिन्तनी मदिमा है, यह इस वास्तवीय भाष्य में सुस्पष्ट है ।^१ इसी विद्या को न जान कर आधुनिक फाल्क के अनेक पण्डितवृत्त वेदार्थ का घात करते हैं । स्कन्द के अनुसार अस्म्यं नः स्नातयं, शपभाठ है । अस्या नः स्नातये यथार्थ पाठ है । पर निरुक्त के उपलब्ध पाठों में स्कन्द स्वीकृत पाठ नहीं है । अजाश्वः, पूयन् अजम्भी अश्वो गान्ता है, इस वा शम्भोपण्य अभीष्ट है । मानव जीवन साह कर के सौ वर्ष जीना वेदोपदेश के अनुसार है । दीर्घायु में पुण्यों का मन्त्र अधिक होता है । ओषधयः, फलपाकान्ता ओषधयः । गेहूं, चने वीहृि आदि । ओषधि, वनस्पति, वीर्य और वृक्ष आदि में जो उद्भिजों का वर्गीकरण है, उस में अत्यन्त निहृष्ट वर्गीकरण योरोपीय उद्भिजों ने बनाया है ।

अस्य वामस्य पलितस्य द्योतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्वः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्पात्रापश्यं विश्वपतिं सप्तपुत्रम् ॥

[अ० १ । २६४ । १ ॥]

अस्य वामस्य वननीयस्य । पलितस्य पालयितुः । द्योतुस्तस्यस्य । तस्य भ्राता मध्यमोऽस्त्यश्वः । भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणः । हरते भागं, भर्तव्यो भवतीति वा । तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः । तत्रापश्यं सर्वस्य पातां वा पालयितारं वा । विश्वपतिम् । सप्तपुत्रं सप्तपुत्रम् । सर्पणपुत्रमिति वा । सप्त सृता संख्या । सप्तादित्यरश्मय इति वर्द्धन्ति ॥ २६ ॥

अर्थ—इस (वामस्य) सेवनीय (पलितस्य) पालनकर्ता (द्योतुः) आह्वान योग्य [जो आदित्य है,] (तस्य) उस का (भ्राता) भ्राता (मध्यमः) मध्यस्थानी वायु (अस्ति) है (अश्वः) व्यापी । तीसरा भ्राता (घृतपृष्ठः) नेहमय आपः से स्पर्श किया गया है [अग्निः] (अस्य) इस का (अत्र अपश्यम्) इन के मध्य में देखा-देखता हूँ मैं । (विश्वपतिम्) विश्व के पालक [आदित्य को] सप्त पुत्र वाले को ॥ इस

१. वेदार्थ में स्वर की उपयोगिता और उस की उपेक्षा से होने वाले दुपरि-
णामों के परिज्ञान के लिए पं० सुधिरि मीमांसक लिखित 'वैदिक-स्वर-मीमांसा'
ग्रन्थ देखें ।

सेवनीय का पात्रक वा, आज्ञान योग्य वा । उस का भ्राता मध्यम [वायु] है व्याधी । भ्राता, भरति से, हरने अर्थ जाने से । हरता है भाग को । भर्तृ-प=गालन पोषण योग्य होता है अथवा । तीसरा भ्राता स्नेहमय आत्मा म सार्ग किया गया यह अग्नि । इन में देखा सब क रक्षक को अथवा पात्रक को अथवा । सप्तपुत्रम्-सातवें पुत्र को । सर्पणशील [रश्मि हरी] पुत्र जाने को अथवा सप्त=सैनी हुई संख्या । मात आदित्य की रश्मिया यह कहने है [विद्वान्] ॥ २६ ॥

भाष्य—अथर्ववेद सूक्त १६४ की यह श्रुति है । इस सूक्त की दो श्रवाण पूर्व २ । ८ तथा ६ में व्याख्यान है । इस का भूमिस्वयम्क वक्ष्य २ । ८ के भाष्य में देखें । मृ व्याहृति से पृथिवी, भुव से अन्तरिक्ष, और स्व स दौ उत्पन्न हुए । अन्तरिक्ष में वायु व्याप्त हो गया । वह आदित्य का भ्राता माना गया है । तीसरा भ्राता मृगशृङ्ग अग्नि है । सम्पूर्ण स्नेहमय पदार्थ परमाणुओं के संयोग-विभाग स आप का ही रूपान्तर है । सप्तमपुत्रम्=अदिति का सातवाँ विशिष्ट पुत्र आदित्य है । अथवा सर्पणशील रश्मिया इस के पुत्रक है ॥ २६ ॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अरुणो वहति सप्तनामा ।

त्रिनाम चक्रमजरमनर्ग यत्रेमा विश्वा भुवनार्धि तस्थुः ॥

[श्रु० १ । १४ । २ ॥]

सप्त युञ्जन्ति रथम् । एकचक्रमश्चारिणम् । चक्र चक्रतर्था । चरतया । कामतर्था । एकोऽथो वहति सप्तनामादित्य । सप्तस्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयान्त । सप्तैर्नमृषय स्तुर नीति वा । इदमपीतर नामैतन्माद्य । अभिसन्नामात् । सप्तसप्तप्रधान उत्तरोऽर्धर्च । त्रिनामि चक्र यतु सप्तसर । प्रीष्यो यथा हेमन्त इति । सप्तसर सप्तसन्तः ऽस्मिन् भूतानि । प्रीष्या प्रस्यन्तऽस्मिन्प्रसा । यथा वर्षत्यासु पञ्चैव । हेमन्तो हिमवान् । हिम पुनर्हन्तर्था । दिनोत्तर्था । अजरमजरकथमाणम् । अनयमप्रत्यनमन्यस्मिन् । यत्रेमानि सवाणि भूतान्यभिसन्निष्ठन्त । तं सप्तसर सर्वमात्राभि स्तीति ।

अर्थ—(सप्त) सात रश्मि हरी अथ (युञ्जन्ति) जोड़ने है (रथम्) रथ को (एकचक्रम्) एक चक्र=पहिए जाने को । एक अथ [आग्नि] (वहति) न जाता है (सप्तनामा) सप्ता रश्मियाँ त्रिम में रनों की सब

ओर से ला कर झुकाती हैं। (त्रिनाभि चक्रम्) तीन नाभियों वाला पहिया=संवत्सर, (अजरम् अनर्वम्) जरा वर्जित और अप्रतिहंत, जिस में ये सारे भुवना=भुवनानि=भूतजातानि (अधितस्थुः) ठहरते हैं ॥ सात जोड़ते हैं एक चक्र=एकाकी, चलने वाले रथ को। चक्रम्=चकति से अथवा। चरति से अथवा। क्रामति से अथवा। एक अश्व=आदित्य ले जाता है सप्त नामा। सात इस के लिए रश्मियां रसों को (अभिसन्नामयन्ति) सब ओर से ला कर झुकाती हैं। सात इस को ऋषि स्तुति करते हैं अथवा। यह भी दूमरा (नाम) [प्राणियों तथा पदार्थों आदि का] नाम इस [कारण] से ही, (अभिसन्नामात्) [नामवारी पदार्थ की ओर] चारों ओर से झुकने से। [ऋक् के पूर्वार्ध का अर्थ हो गया।] संवत्सर-प्रवान [अर्थ वाला] उत्तर आधा ऋक् है। त्रिनाभि चक्रं=तीन ऋतुओं वाला संवत्सर। ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त ये। संवत्सरः=सभ्यक् वसते, है इस में भूत। ग्रीष्मः=ग्रसे जाते हैं इस में रस। वर्षा=वरसता है इन में पर्जन्य। हेमन्तः=हिम=वर्षा वाला। हिम पुनः हन्ति से अथवा। हिनोति से अथवा। अजरम्=अजरणधर्माणम्। जराधर्मवर्जितम्। अनर्वम्=अप्रत्यतम् अन्यस्मिन्=नहीं आश्रित दूसरे में। जहां ये सारे भूतजात ठहरते हैं। उस [संवत्सर को] सर्वमात्राभिः=ऋतु आदि की सारी मात्राओं से स्तुति करता है [मन्त्र]।

भाष्य—सप्त=सात रश्मियां। सहस्ररश्मि-आदित्य की सात प्रधान रश्मियां हैं। उन में से सुषुम्णः, हरिकेशः आदि सात सर्वश्रेष्ठ हैं। इन सब की रचना भिन्न भिन्न प्रकार की है। सप्तरश्मि का वर्णन ऋ० २। १२। १२, यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्, में है। इस मन्त्र की व्याख्या जैमिनि आरण्यक १। २८। ७ में है—सप्त ह्येता आदित्यस्य रश्मयः। ये सातों रश्मियां सूर्य के एकचक्र रथ में जुड़ी रहती हैं। रश्मियां ही उस के अश्वों का रूप बनती हैं। चक्र, सूर्य के रथ का चक्र विचित्र है। इसी सूक्त के मन्त्र १३ में कहा है—

तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः। अर्थात् उस चक्र का अक्ष भूरिभार होने पर भी, सदा घूमता हुआ कभी नहीं पीड़ित अथवा गरम होता। यह देवी कला है। इस मन्त्र में दो वैज्ञानिक सत्य दर्शाए गए हैं। प्रथम, चक्रों के अक्ष, उन पर वहन किए जाने वाले भार के अनुकूल सुदृढ़ होने चाहिए। तथा द्वितीय,

वे अथ तीव्र आग्नि द्वारा सग इतन खिन्ने रह कि वे अधिक गरम न हो अप्यं । पर सूर्य का अथ कभी गरम ही नहीं होता । यह अथ भव म निबद्ध है । वायु पुराण म इस का अधिक स्तरीकरण है—

अक्ष चक्र निरुद्ध तु भव 'वक्ष' समर्पित ।

सहचक्रो भ्रमत्यक्ष सदाक्षो भ्रमति ध्रुव ।

अक्ष सहैव चक्रेण भ्रमन् ऽसौ भ्रवति ॥ १२ । ६५ ॥

यह आग्नि एकाकी चरति । ती० आ० ३ । ६ । ४ । ४ ॥ रश्मिया पाथिव रस सूर्य मण्डल में पहुँचाती हैं । सात प्राण रूपी अग्नि स्य की स्तुति करते रहते हैं । एतन्म दक्षिण वे-विद्यानिर्गम ५० २४८ २४६ । ये पाथिव अग्नि नहीं हैं । वेगनमिन लाग इस अग्नि शक्त स अनेक परिणाम निकालते हैं ।

सर्वत्सर एक देव है अत भौतिक एगर्थ है । वह कालगणना के लिए विचारमात्र म कल्पित कोई एगर्थ नहीं है । इहदेवता में इसी अभिप्राय से कहा है—

एतन्मैव तु विष्णुषा ऽथा सम्भविकास्त्रय ॥ १५ ॥

चन्द्रमाश्चैव वायुश्च य च सर्वत्सर विदुः । अ० २ ।

अर्थात्—चन्द्रमा वायु और सर्वत्सर तीन सत्त्विक देव हैं । अत अत्यन्त स्पष्ट है कि चन्द्रमा और वायु क समान सर्वत्सर मी मूर्तों के योग का फल है । इसी सर्वत्सर की उत्पत्ति अधमर्षण सूक्त में कही है—समुद्रादर्णवाद् अग्निं सर्वत्सरौ ऽजायत । अर्थात्—अर्थात् समुद्र से सर्वत्सर अर्धजायत—उत्पन्न हुआ । यह घटना सूर्य और चन्द्र क वर्तमान रूप में धान से पहले की थी । अधमर्षण सूक्त क मन्त्र का क्रम इस अर्थ म भी पूरा ठीक बैठता है । उसी सर्वत्सर म अहोरात्र मास अतु और अयन मी परमाणुका कविभिन्न लयों मी स बन हुए अयन अयन स्थाना म लड़े हुए हैं । यदि अहोरात्र आग्नि मूर्तों स बन साकार न होते तो ब्रह्मण ग्रन्थ में यह पाठ कभी न होता—अहोरात्राणा वा एतद्रूप यद्धाना । शतपथ १३ । २ । १ । ४ ॥ अर्थात्—अहोरात्रों का स्वरूप धान क सदृश है । शतपथ ११ । २ । ७ । ५ म अहोरात्रों को धरन वाला लिखा है । यथा—अहोरात्र परिवर्षी । सर्वत्सर एक अत्यन्त सूक्ष्म किरणों के समान है

१ मन्वाण्य षष्ठ अतवस्तान् । अतव रितरो देवा इत्या

वेदकी भाव । वायु पुराण ३० । ४ ॥

जो आदित्य के गिर्द घूमती है । यजुः १८। ३६ तथा उस पर शतपथ ६। ४। १। ८ में आदित्य को संहितः कहा है । एष हि-अहोरात्रे संधधाति । आदित्य द्वारा ही अहोरात्र की संधियाँ हैं । संवत्सर और आदित्य की गतियों का कारण भ्रुव है । पृथिवी का गतिचक्रः इसी भ्रुव के आश्रय से सूर्य के सामने विचित्र प्रकार से होता रहता है । इस का उल्लेख पूर्व निरुक्त २। १४ के भाष्य में हो चुका है ।

इस संवत्सर का सृजन आग्नेय और आप्य परमाणुओं से हुआ है । अग्निर्वाव संवत्सरः । तै० ब्रा० १। ४। १०। १ ॥ वायु पुराण ३०। २१ के अनुसार संवत्सर एक अग्निः है । इसे विद्वान् अत भी कहते हैं । संवत्सर का एक नाम सुमेक है । शतपथ में प्रवचन है — सुमेकः संवत्सरः १। ७। २। २६ ॥ वायु पुराण ३०। १६ में संवत्सरः सुमेकस्तु, और १० में सुमेकपुत्रा विद्येया ह्यप्रधा तु पट्, कहा है । जै० ब्रा० २। २८, २६, ६० में अतिविभाग से आदित्य को भी संवत्सर कहा है । यह महीयसी विद्या अन्वेष्टव्या है ।

पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने । [ऋ० १। १६४। १३] इति पञ्चर्तु तथा ।

पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणम् । [शतपथ १। ५। २। १६ ॥]

हेमन्तशिशिरयोः समासेन । [ऐ० ब्रा० १। १। १]

पठर आहुरर्पितम् । [ऋ० १। १६४। १२ ॥]

इति पठृतुतया । अराः प्रत्यृता नाभौ । पट् पुनः सहतेः ।

द्वादशारं नहि तज्जराय ॥ [ऋ० १। १६४। ११ ॥]

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम् ॥ [ऋ० १। १६४। ४८ ॥]

इति मासानाम् । मासा मानात् । प्रधिः प्रहितो भवति ।

तस्मिन्त्साकं त्रिंशता शङ्कवोऽर्पिताः पृष्टिर्न चलाचलासः ॥

[ऋ० १। १६४। ४८ ॥]

पृष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः । [गो० ब्रा० १। ५। ५] इति च ब्राह्मणं समासेन ।

सप्त शतानि विंशतिश्च तस्युः ॥ [ऋ० १। १६४। ११]

सह च वै शतानि विशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः । [वे० ब्रा०
० । २७] इति च ब्राह्मणं विभागेन विभागेन ॥ २७ ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

अर्थ—पाच अरो वाले चक्र मे, चारो ओर से घेर कर घूमने वाले म,
[सब भूत ठहरे हुए हैं ।] यह पाच ऋतुओ वाला होने से [संवत्सर
अभिप्रेत है ।] पाच ऋतु हैं संवत्सर के, यह और ब्राह्मण [है ।] हेमन्त
और शिशिर के संक्षेप से । छ अरो [के चक्र पर] कहते हैं (अर्पितम्)
ठहरे हुए को । यह छ ऋतुओ वाला होने से । अरा, (प्रति ऋता) बीच
मे गई है, धसी हुई है नाभि मे । पट्ट फिर सदृति से, अभिभव करता है—वा
लेता है ।

बारह अरो वाला, नहीं है वह [चक्र], जराय, जीर्ण होने के लिए ।
बारह (प्रधय) परिधिया=घेरे चक्र एक, यह मासो वा [कथन है ।]
मासा =मापने से । प्रधि =प्र-हित =शुक्ल परा हुआ होता है ।

(तस्मिन्) उम चक्र मे (साकम्) साथ [ही] (विश्रुता पट्टि)
तीन सौ साठ (न शङ्कर) मानो कील (अर्पिता) जडे होने हैं (चला-
चलास) सदा चलने वाले । साठ और निधय से तीन सौ संवत्सर के
अहोरात्र [हैं ।] यह और ब्राह्मण [प्रवचन है] संक्षेप से ।

सात सौ बीस ओर ठहरे [अग्नि के पुत्र जो मिथुन हैं] ।

सात सौ बीस संवत्सर के अहोरात्र [हैं ।] यह और ब्राह्मण [है]
विभाग से, पृथक् पृथक् कर के ॥ २७ ॥

भाष्य—पञ्चारे चक्रों से इस खण्ड के अन्त तक का सारा पाठ एक ऐसी
विद्या से सम्बन्ध रखता है, जो भारतीय विद्वानों में कभी सर्वविदित थी । उस
का अद्भुत विस्तार और स्पष्टीकरण वासु पुराण २२ । २४—७६ तथा ब्रह्मसंह
पूर्व भाग २२ । ६०—८४ में मिलता है । सूर्य रथ के प्रत्येक चक्र की इस रथ
के अर्धों के साथ अरात कल्पित की गई तुलना वहीं दृश्य है ॥ २७ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

सस्त्रिमविन्दुच्चरणे नदीनाम् ॥ [ऋ० १० । १३१ । ६ ॥]
संस्नातं मेघम् ।

वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा ।

[ऋ० ८ । २६ । १६ ॥]

वोदृतमो हवानानां स्तोमो दूतो हुवन्नरौ । नरा मनुष्याः । नृत्यन्ति
कर्मसु ।

दूतो जवतेर्वा । द्रवतेर्वा । वारयतेर्वा ।

[दूतो देवानामसि मर्त्यानाम् । (ऋ० १० । ४ । ३) इत्यपि
निगमो भवति ।]

वावशानो वष्टेर्वा । वाश्यतेर्वा ।

सप्त स्वसूरुपीर्वावशानः । [ऋ० १० । ५ । ५] इत्यपि निगमो
भवति ।

वार्यं वृणोतेः । अथापि वरतमम् ।

तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम् । [ऋ० ८ । २५ । १३ ॥]

तद्वार्यं वृणीमहे । वरिष्ठं गोपायितव्यम् । गोपायितारो यूयं स्य ।
युष्मभ्यमिति वा ।

अन्ध इत्यन्ननाम । आघ्यानीयं भवति ।

आमंत्रैभिः सिञ्चता मद्यमन्धः । [ऋ० २ । १४ । १ ॥]

आसिञ्चतामत्रैर्मदनीयमन्धः । अमत्रं पात्रम् । अमा अस्मिन्नदन्ति ।
अमा पुनरनिर्मितं भवति । पात्रं पानात् ।

तमोऽप्यन्ध उच्यते । नास्मिन्ध्यानं भवति न दर्शनम् । अन्धन्तम
इत्यभिभाषन्ते । अयमपीतरोऽन्ध एतस्मादेव ।

पश्यदक्षएवान्न वि चैतदुन्धः । [ऋ० १ । १६४ । १६ ॥] इत्यपि
निगमो भवति ॥ १ ॥

अर्थ—? सक्षिम् । (सक्षिम्) सम्यक् ज्ञात अथवा धीन मेघ को (अधिन्दन्)=अन्वभत=या त्रिया [इन्द्र ने] (चरणे) चलने वाले स्थान में (नदीनाम्) नदियों के, अर्थात् अन्नरिक्त में । संज्ञात=सम्यक् ज्ञान किए हुए मेघ को ।

२ षादिष्ठः, षोढतम=स्तोमविशेष, सर्वथेष्ठ बुलाने वाला दयानां=ज्ञानानाम् बुलाने वालों में से (धाम्) तुम दोनों को (स्तोम दूत) स्तोमरूपी दूत (हुषन्) बुलाए (नरा=नरी) हे अश्वियो । सर्वथेष्ठ बुलाने वाला, बुलाने वालों में से, स्तोम दूत बुलाए, हे दोनों अश्वियो । नरा=मनुष्या । नाचने हैं कर्मों में ।

३. दूत* जवति=[वेग से गति करता है=दो दलों में जाता जाता है ।] से अथवा, द्रवति=[हठ से फिमलता है, फिमलता है] से अथवा, वारयति=[रोक्ता है अनर्थों को] से अथवा । दूत देवों के हो, [और] (मर्त्यानाम्) मरणधर्मा मनुष्यों के । यह भी निगम होता है ।

४ षावशान, वष्टि=कान्ति वाला है=चाहना है, से अथवा । वारयति =गन्ध करता है से अथवा । (सप्त स्वम्) सात बहनों, अर्थात् ज्वाला में सात विभिन्न रूप वालीयों (अरुषी) दौड़ि वालीयों को (षावशान) चाहने हुए । यह भी निगम होता है ।

५ वार्यम्, [=घन] वृणोति=वरता है, से, और भी वरतमम्=वरणीय पदार्थों में सर्वथेष्ठ ॥ उस (वार्यम्) वरणीय=स्वीकरणीय को (वृणीमहे) हम वरते हैं, (वरिष्ठम्) अत्यन्त थेष्ठ को (गोपयत्यम्) रक्षणीय को ॥ उस वरणीय को स्वीकार करने हैं । (वरिष्ठम्) वृत्त थेष्ठ गोपायित्वम्=रक्षणीय को । रक्षा करने वाले यूपम्=[मित्र, वरुण, अर्यमा] तुम [जिस घन के] स्व=हो । युष्मभ्यम्=तुम्हारे लिए [जो घन रमणीय है] अथवा ।

६ अन्ध, यह अन्न का नाम [है] आ+ध्यानीयम्=पार्षनीय होता है ॥ (अमत्रेभि) [यज्ञ] पात्रो-नीम नमसो से (आ सिञ्चन) हालां (मद्यम् अन्ध) मदनीय=मद देने वाले अन्न को ॥ अमत्र=पात्र । अमा=

अ+मा=विना मात्रा के=विना गितनी के=अनेक [अम+त्र] अस्मिन् इस में खाते है । [एक पत्तीली में से अनेक खाते हैं ।] अमा फिर अनिर्मित=अपरिमाण वाला होता है । पात्रं, पीने से । तमः=अन्धेरा भी अन्धः कहा जाता है । नहीं इस [अन्धेरे में] ध्यान=दर्शन होता । अन्धन्तमः ऐसा [लोक में] बोलते हैं । यह भी दूसरा अन्धः इस [कारण] से ही ॥ पश्यत्=देखता है अक्षगवान्=आंख वाला=ब्रह्मज्ञानी, न विचेतत्=नहीं जानता है अन्धः=नेत्रहीन=अज्ञानी । यह भी निगम होता है ॥ १ ॥

भाष्य—इन्द्र अन्तरिक्ष में है । वह अन्तरिक्ष में ही नदन करने वाली नदियों को पा लेता है । नराः, मनुस्मृति में आपः ही नर=अग्निः के सूनुवः है । पर नर जब मनुष्य अर्थ वाला होता है, तो अर्थ का सहायक निर्वचन कर्मों में नाचने वाला होता है । दूतः, दूत जब=वेगयुक्त गमन आगमन दोनों पक्षों के मध्य में करता है । वह दूत अपनी योग्यता और वाणी से दोनों पक्षों को पिघला कर सन्धि कराने का यत्न करता है । वही चारयति, रोकता है, निवारण करता है युद्धों =अनर्थों को । अग्निः की ज्वालायें सात बहनें हैं । इति+अभिभाषन्ते=लोक में बोलते है । ऐसा प्रयोग निरुक्त २ । २ में भी आ चुका है । यास्ककालीन जन साधारण ऐसा बोलते थे ॥ १ ॥

असंश्रन्ती भूरिवारे पर्यस्यती ॥ [ऋ० ६।७०।२ ॥]

असज्यमाने इति वा । अव्युदस्यन्त्याविति वा । बहुधारे । उदक-वत्यौ ।

वनुष्यतिर्हन्तिकर्मा । अनवगतसंस्कारो भवति ।

वनुष्याम वनुष्यतः । [ऋ० ८।४०।७ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः ॥

[ऋ० ७।८२।१ ॥]

दीर्घप्रततयज्ञमभिजिघांसति यो वयं तं जयेम पृतनासु । दूढ्यं दुर्धियं पापधियम् । पापः पाताऽपेयानाम् । पापत्यमानोऽत्राडेव पततीति वा । पापत्यतेर्वा स्यात् ।

इन्द्रेण युजा तरुपेम वृत्रम् । [ऋ० ७।४८।२ ॥] इत्यपि
निगमो भवति ।

अर्थ—७ (असञ्ज-नी)=नही परस्पर मिले हुए अथवा न क्षीण होने
वाने (भूरिधार) वृत्त प्रकार से एक दूसरे को धारण करने वाने
(पयम्बती) उदक वाले [चावापृथिवी घृत दुदात्=स्नेहमय उदक को
वपाने हैं] ॥ असञ्जमाने=न मिले हुए अथवा अञ्जयुदस्पन्धी= न क्षीण
होने वाने अथवा बहृत धारावा वान, [अथवा] वृत्त धारण करने वाने
उदक वाले [चावापृथिवी] ।

= वनुष्यति, हन्ति=मारता है अर्थ वाला [है ।] अनवगत सस्कार
=[यास्क के काल के व्याकरणो म] अनान सस्कार वाला होता है ॥
(वनुयाम) हम मारें (वनुष्यत) मारते हुआ को । यह भी निगम होता
है ॥ (दीर्घप्रयज्युम्) लम्बे काल तक पैर हुए यन वाले को (अति यो
वनुष्यति)=अभिजिघासति - जो मारना चाहता है (यय जयम) हम
जीते (घृतनासु) युद्धो म (दूढय) जो दुर्बुद्धि है [उमे] ।
दीर्घप्रततयशम् = लम्बे काल तक विस्तृत किया है यज्ञ को जिमने, उमे
अभिजिघासति=मारना चाहता है जो हम उसको जीते युद्धो म, दूढयम्
=दुर्बुद्धि को=पाप बुद्धि को । पाप =नीने वाला अपेयो का [निपिद्धो का]
पापत्यमान =बार-बार गिरता हुआ अथाङ्क एव=अथ =नीचे ही गिरता है
अथवा । पारत्यनि (स्कन्द—पनतेर्वृष्ट लुग-तात्) से [है ।] बार बार
गिरने वाला ।

६ तरुष्यति भी इसी अर्थ वाला [है ।] (इन्द्रेण) इन्द्र जैम (युजा)
घुत्त=जुडे हुए सहाम वाले=इन्द्र के साथी (तरुपेम) हम मारे (वृत्रम्)
वृत्र=मघ को ।

भाष्य—चावापृथिवी जो कभी साथ साथ थे परे जा कर फिर मिले हुए
नहीं रहे । पर भूरिधारे एक दूसरे को अनक प्रकार स धारण कर रहे हैं । वे
जोक परस्पर शीत-शीत हो रहे हैं । घृत दुदात्, परस्पर पृथक् होते हुए इन्होंने
एक दूसरे से प्रतिज्ञा की कि हम एक दूसरे के साथ विवाद सम्बन्ध रखेंगे ।^१

तभी से ये स्नेहयुक्त टुकड़ों को वर्षाते हैं । वनुष्यतः, मारते हुआ को । भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने महाभारत, भीष्मपर्व के आरम्भ में बताया है—न वधः पूज्यते वेदे । यह स्पष्ट है कि युद्ध श्रेयस्कर नहीं है । पर यदि कोई 'दुर्बुद्धि' व्यर्थ ही युद्ध करने पर उतारू हो जाए, तो उस को 'अवश्य मारना चाहिए' । यही अभिप्राय वनुष्यतः से है । अभिजिज्ञांसति, जो हमें मारने की इच्छा करता है, उसे तत्काल युद्ध कर के दण्ड देना चाहिए । दीर्घप्रतयज्ञम्, बारह-बारह वर्ष के भी यज्ञ हुआ करते हैं । उन की रक्षा राज्य पर होती है । इन पुण्यकर्मों में जो विघ्न डालता है, उसे नष्ट करना चाहिए । देवकीपुत्र भगवान् कृष्ण ने घहुधा कहा था—यज्ञविघ्नकरं हन्याम् ।

भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः ।

पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः । [ऋ० ३ । ३ । ४ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

स भन्दना उदियति प्रजावतीः । [ऋ० ६ । २२ । ४१] इति च ।

अन्येन मदाहनो याहि तूर्यम् ॥ [ऋ० १० । १० । २ ॥]

अन्येन मदाहनो गच्छ क्षिप्रम् । आहंसीव भाषमाणेत्यसभ्यभाषणादाहना इव भवति । एतस्मादाहनः स्यात् ।

ऋषिर्नदो भवति । नदतेः स्तुतिकर्मणः ।

नदस्य मा रुधतः काम आ गन् ॥ [ऋ० १ । १७६ । ४ ॥]

नदनस्य मा रुधतः काम आगमत् । संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिणः । इत्यपिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते ॥ २ ॥

अर्थ—१०. भन्दनाः, भन्दति से, स्तुति अर्थ वाले से । (पुरुप्रियः) बहुत [धार्मिक जनों] का प्रिय [अग्निः] (भन्दते) स्तुति करता है (धामभिः) नाम और जन्मों से (कविः) मेधावी । यह भी निगम होता है ॥ वह (भन्दनाः) स्तुतियों को (उदियति) [स्कन्द—उदीरणं=समुच्चारणं] उच्चारता है (प्रजावतीः) प्रजा वाली को । यह भी ।

११ [आह्वन=आहनम्=चोट करने वाली ।]-यम यमी के प्रति कहना है । (अग्नेम) दूमरे व पाम अयवा अय [मार्ग] मे (मत्) मुझ से (आह्वन) चोट करने वाली (पाहि) जाओ (मूषम्) गीघ्र । दूमरे व पाम मुझ से, चोट करने व ग गच्छ=जा क्षिप्रम्=गीघ्र । आहंसि इव=चोट सी देती है, [तू] भाषमाणा=भाषण करती हुई इम अमम्य भाषण से चोट करती हुई व समान होती है । इम कारण म आह्वन =चोट करने वाली [मग्वाधन म] होवे ।

१२ [नद्] [लोपामुद्रा ओर अगस्त्य के क्लिप्त संवाद में लोपामुद्रा कहती है] । श्रुति नद् होता है । तन्ति स स्तुति अर्थ वान म । (नदस्य) स्तुति करने वाले [अगस्त्य व कारण] मुझे (रघन) [इन्द्रिय वग को] रोकने वाले के (काम) काम (आ गन्) प्राप्त हुआ ॥ नदस्य=स्तीना के मुझे रघन=मण्ड प्रजनन वान शश्याचारी [अगस्त्य के कारण] काम =काम आगमन्-प्राप्त हुआ है । यह श्रुति पुरी [लोपामुद्रा] का विचार बताते हैं [आच य] ॥ २ ॥

भाष्य—अ दत् सायण का अर्थ है, स्तुति किया जाता है अग्नि । पर अन्दत् का स्तुति करता है यह अर्थ ठीक कैरता है । चाप्रेय परमाष्ट और इन से युक्त प्राण जो देवों के कवि हैं स्तुति करते हैं । बगला अगस्त्य यम यमी संवाद का है । निरुक्त ५। २० में इसी सूक्त की दसवीं श्लोक उद्धृत है । यास्क ने अमम्य भाषण कह कर बहिन भाई का विवाह त्रिविध बताया है । एवा भाषण आह्वन चोट सी देता है । नद् नामक कोई श्रुति है । इस सूक्त की प्रथम श्लोक के अनुसार इस की पत्नी जरा अवस्था की जा चुकी है । अत लोपामुद्रा का पूरा इतिहास इस मन्त्र वर्णन से पूरा सामञ्जस्य नहीं रहता । अत इतिहास पक्ष में जैसा पूर्व भी लिख चुके हैं इस सूक्त का मेल नहीं है । वस्तुतः वे पति पत्नी के लिए उपद्रव की श्लोकाएँ हैं ॥ २ ॥

न यस्य धारापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नार्द्रयः सोमो अद्याः ।

[ऋ० १०। ८६। ६ ॥]

अश्रोतरिरवके ।

अनुपे गोमान्गोर्भिरद्याः सोमो दुग्धाभिरद्याः ।

[ऋ० ६। १०७। ६ ॥]

लोपाशः मिहं प्रत्यश्चमत्साः । [ऋ० १० । १८ । ४ ॥]

क्षियतिनिगमः पूर्वः, क्षरतिनिगम उत्तर इत्येके । अनूपे गोमान् गोभिर्यदा क्षियत्यथ सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति । सर्वे क्षियति निगमा इति शाकपूणिः ।

श्वात्रमिति क्षिप्रनाम । आशु अतनं भवति ।

स पतत्रीत्वरं स्थं जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः ॥

[ऋ० १० । २२ । ४ ॥]

सं पतत्रि चेत्वरं स्थावरं जङ्गमं च यत्तन्क्षिप्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः । ऊतिरयनात् ।

आ त्वा रथं यथोतये । [ऋ० १० । १८ । १ ॥] इत्यपि निगमो भवति । हासमाने इत्युपरिष्ठात् (६ । ३६) व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—१३. सोमो अक्षाः=सोम ही एक व्यापता है=या लेता है । न जिस [इन्द्र] को द्यावापृथिवी, न (धन्य) अन्तरिक्षस्थ उदक, न अन्तरिक्ष, न पर्वत [पा सके, उसे ।] सोम ही (अक्षाः) व्यापता है, पा लेता है । अक्षाः=अश्रोति से, यह कई एक [आचार्य कहते हैं] ॥ (अनूपे) अनूप=जल से गीली रहने वाली भूमियों के देश में (गोमान्) गौओं वाला (गोभिः) गौओं के साथ (अक्षाः) क्षियति=निवसति=निवास करता है, [तो] (सोमः) सोम (दुग्धाभिः) दुही हुई गौओं से [अन्तिम वृद्धों में] (अक्षाः) क्षरति =वहता है ।

क्षियति=वसता है अथवा गति करता है, [इस विषय का] पूर्व निगम=[न यस्य... अक्षाः । है] क्षरति=वहता है का उत्तर निगम [अनूपं... अक्षाः । है] यह कई एक [आचार्य कहते हैं ।] अनूप भूमि पर गोमान् =गौओं वाला गौओं के साथ जब क्षियति=वसता है, अथवा अपनी गौएं लेकर चराता फिरता है, अथ=तब सोम दोही हुई गौओं से [भी] क्षरति वहता है ।

सर्वे=सारे=[ये तीनों] क्षियति=निवासार्थक निगम है, यह शाकपूणि [कहता है ।]

१४. श्वात्रम्, यह क्षिप्र=शीघ्र का नाम [है ।] श्वा+अत्रम्=आशु+अतनम् होता है=शीघ्र चला जाने वाला [समय] है ॥ (सः) उस ने

(पतत्रि)=उड़ने वाले, (इत्वर) गमनशील तरीमृपादि (स्या) स्थावर [और] (जगत्) जगम (यत्) जो कुछ है [उस सब को] (खात्रम्) शीघ्र (अग्नि) अग्नि ने (अकृषोन्) बनाया (जातवेदा) जो जातवेद है ।

[यास्क ने अर्य में दो चकार जोड़ दिए हैं ।]

१५ ऊति, अरनात्=रक्षा ते । (स्या) तुम्हें रथ को जैम रक्षा क लिए । यह भी निगम होता है ।

१६ दासमाने=स्पर्धमाने ह्यमाने यह आगे [९ । २९] में व्याख्या करेंगे ।

भाष्य—सोम चावापृथिवी आदि कोई भी जिसे नहीं व्यापता उस सोम व्याप होता है । अतः सोम इत्यन्त सूक्ष्म आप सार है । यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है । सोम — अक्षा । सोम संसार में जीवन का परम आधार है । पार्थिव पदार्थों में से यह गौ में सब से अधिक है । अतः गन्ध पदार्थ अति पवित्र समझे जाते हैं । यह सोम अरूप देश की स्थिति के कारण बोही हुई गौ में से भी बढ़ता है । आधिभौतिक पक्ष में यह सोम बोही हुई ररिमर्थों से भी बढ़ता है, देखा सकेत मन्त्र में प्रतीत होता है ।

शाकपृथि का निरुक्त—लोपाश इति निगम यास्क के निरुक्त का अर्थ नहीं है । यास्क ने अगली पंक्ति में पूर्व और उत्तर दोनों ही निगम माने हैं । यास्क ने लोपाश इति का अर्थ भी नहीं सोचा । अपरञ्च दुर्गा और स्कन्द की कृतियों में भी यह निगम पदा नहीं गया । पर धी लक्ष्मण सरूप के संस्करण में यह पदा गया है । इस विषय में एक गम्भीर बात विचारणीय है । यास्क लिखता है—सर्वे क्षियति निगमा इति शाकपृथि । यहाँ सर्वे बहुवचनान्त पद है । अतः शाकपृथि के निरुक्त में अवश्य ही ये तीनों निगम पड़े गए थे । अन्यथा दो निगमों के लिए बहुवचन पद न होता । शाकपृथि ने अपने निरुक्त में अक्षा ,

१ न्यूयार्क स्थित विज्ञान अकादमी की सम्मति ही जो एक बैठक हुई थी उस में इस बात की पुष्टि की गई कि गाय के दूध में कोई ऐसी विशेषता है जो वह संख्या के विषय को समाप्त कर देती है । डा० ए० ए० पीप्लस ने भी कहा है—आश्चर्य की बात तो यह है कि गाय के शरीर की अन्य मांस पेशियों आदि में रसिये के चिह्न पाए जाते हैं परन्तु दूध में रसिये का एक कण भी नहीं पाया गया है । नवमसत टाइम्स देहली २ १ ६४ । वस्तुतः यह विशेष प्रभाव सोम का है ।

अत्साः ये दोनों रूप एक ही प्रकार के माने हैं । पर यास्क ने निघण्टु में यहां पर अत्साः पाठ नहीं पढ़ा । इस लेख से शाकपणि के निरुक्त का घोड़ा सा आभास मिलता है ।

जातवेदाः अग्निः पृथी के समान उद्भूता है । उसके परमाणुओं का संयोग-विभाग अन्वेषणीय है । उसी ने सब स्थावर जड़म को घनाया है । जातवेदा स्तुतो मध्ये । बृहद्देवता १ । ६७ ॥ अर्थात् जातवेदा की स्तुति मध्यस्थान में है ।

वम्रकः पड्भिरुप सर्पदिन्द्रम् । [ऋ० १० । ६६ । १२ ॥]

पानैरिति वा । स्पर्शनैरिति वा । स्पर्शनैरिति वा ।

ससं न पक्वमविदच्छुचन्तम् । [ऋ० १० । ७६ । ३ ॥]

स्वपामेतन्माध्यमिकं ज्योतिरनित्यदर्शनम् । तदिवाविदज्जाज्वल्यमानम् ।

द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः । [ऋ० ३ । १७ । ५ ॥]

द्वैधं सत्ता मध्यमे च स्थान उत्तमे च । शम्भुः सुम्भुः ।

मृगं न त्रा मृगयन्ते ॥ [ऋ० ८ । २ । ६ ॥]

मृगमिव त्रात्याः प्रैषाः ॥ ३ ॥

अर्थ—१७. पड्भिः—[सोम] पानों से ॥ (वम्रकः) वम्रनामा [प्राण रूप] ऋषि अथवा ह्रस्वरूप वामन (पड्भिः) सोम पानों के साथ (उप सर्पत्) सरक कर समीप आया है, [आप] (इन्द्रम्) इन्द्र को ॥ [पड्भिः]=पानों के साथ अथवा । स्पर्शनैः=बन्धनों के साथ अथवा । स्पर्शनैः=स्पर्श करने वाले गुणों की स्तुतियों के साथ अथवा ।

१८. ससम्=स्वप्न वाली=मासों तक विलीन हुई (न पक्वम्) के समान [पुनः] अभिव्यक्त को (अविदत्) उपलब्ध किया=पाया (शुचन्तम्) दीप्यमान को ससम्=स्वप्नम्, सोई हुई को । यह माध्यमिकम् =मध्यम स्थान=अन्तरिक्ष की ज्योतिः=विद्युत्, अनित्य दर्शन वाली है । तत् इव=उस के समान अविदत्=पायाःजाज्वल्यमान को ।

१९. द्विजा=द्वैधम् ॥ (द्विजा) दो प्रकार से और (सत्ता) [त्रिजरी] सत्ता [मध्यम स्थान में वैद्युत् रूप से और उत्तम में शुचि वा आदित्य हा म] (स्वधया) उदक अथवा अन्न के माथ (शम्भु) कल्याणकारी [द्वै] द्वैध=दो प्रकार से सत्ता मध्यम स्थान में और, उत्तम में और । शम्भु=सुखकारी ।

२०. प्रा=व्रात्या ॥ मृग की जैसे (प्रा) बाल्य रूपी लुब्धक, निहारी (मृगयन्ते) दूढ़ने हैं । ब्रात्या=प्रेया=कर्मकर ॥ ३ ॥

भाष्य—वसक ऋषि अन्तरिक्ष में जो पदार्थ दे, वही सोम को छे जाता है । वही इस सोम के माथ इन्द्र के समीप सरकता है । ऋषियों ने इस विषय का दर्शन किया । अगले निगम भी मध्यम स्थान की विषय से सम्बन्ध रखने वाले हैं ॥ ३ ॥

वराहो मंजो भवति । वराहार ।

वरमादारमादार्षिरिति च ब्राह्मणम् ।

विध्यद्ब्राह्मि त्तुरो अद्रिमस्ता । [ऋ० १ । ६० । ७ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

अथमगीतरो वराह एतस्मादेव । वृद्धति मूलानि । वर वर मूल वृद्धतीनि वा ।

वराहमिन्द्र एमुषम् । [ऋ० २ । ७७ । १० ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्त ।

ब्रह्मणस्पतिर्षुर्षमिर्ब्राह्मेः । [ऋ० १० । ६७ । ७ ॥]

अथाप्यत माध्यमका वृषगणा वराहव उच्यन्त ।

परयन्तिहरण्यचत्रानपोदिप्रान्निधानतो वराहन् ॥

[ऋ० १ । ८८ । ४ ॥]

स्वसराण्यहानि भवन्ति । स्वर्ष सारीण्यपि वा । स्वरादित्यो भवति । स एतानि सारयति ।

उत्सा इव स्वसराणि । [ऋ० १।३।८ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

शर्या अङ्गुलयो भवन्ति । [सृजन्ति कर्माणि ।] शर्या इपवः शग्मयः । शरः शृणातेः ।

शर्याभिर्न भरमाणो गर्भस्तयोः । [ऋ० ६।११०।५ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

अर्को देवो भवति । यदेनमर्चन्ति । अर्को मन्त्रो भवति । यदनेना-
र्चन्ति । अर्कमन्नं भवति । अर्चति भूतानि । अर्को वृद्धो भवति ।
संवृतः कटुकिन्ना ॥ ४ ॥

अर्थ—?? [वराहः=मेघ=असुर वराह ।] वराहः मेघ होता है ।
वर+आहारः=उत्तम [उदक] आहार वाला । वरम्=उत्तम आहारम्=
आहार को आहार्यः=[स्कन्द—आहार्यत्] खाया । यह भी ब्राह्मण है ।
(विध्यत्) वीधां, वीधता है, ताडित किया (वराहम्) मेघ को (तिरः)
पहुँच कर, प्राप्त हो कर (अद्रिम्) वज्र को (अस्ता) फेंकने वाले ने ।
यह भी निगम होता है ।

यह भी दूसरा वराहः पशु वराह इस [कारण] से ही । वृहति=
उखाड़ता है [स्कन्द—उद्यच्छति, वक्त्रेण खनति] मूलानि=जड़ों को ।
(वरं वरम्) उत्तम उत्तम मूल को उखाड़ता है अथवा । वराहम्=असुर
वराह=कृष्ण मेघ को हे इन्द्र एमुपम्=आ+ईम्+उपम्=सब ओर से जल
को चुराने वाले को=चुरा कर उदकवान् वने हुए को । यह भी निगम
होता है ।

अङ्गिरस भी वराहाः कहे जाते हैं । ब्रह्मणस्पति=वेद का अधिपति
वृषभिः=श्रेष्ठ वर्षा करने वाले (वराहैः) अङ्गिरसों=सूर्यस्य अग्निः परमा-
माणुओं के साथ ।

और भी, ये माध्यमिक=अन्तरिक्षस्थ देवगण वराहवः कहे जाते हैं ।
(पश्यन्) देखते हुए (हिरण्यचक्रान्) हिरण्य चक्रों वाले (अयः-
दंष्ट्रान्) लोहे की दृढ दाढ़ों वाले (विधावतः) विविध प्रकार से इधर
उधर दौड़ते हुए (वराहवः) पशु वराह के समान ।

२२ स्वसराणि, दिन होने हैं । अपने आप-सारीणि=परवने वाले भी अथवा । स्वर् आदिभ्य होना है, वह इन [दिनों] को सारयति=चक्राना है । (उच्चा इव) रश्मियो ने समान स्वमराणि=अहानि । यह भी निगम होता है ।

२३ शर्यां=अंगुनिया होती हैं । शर्यां=इषवः=वाणा । धर के बने होत है । शरः शृणाति मे [हिमा करता है] ॥ (शर्याभिः न) बाणों से जेमे (भगमाणः) धारण करता हुआ [धनुष को] (गमस्त्योः) दोनों भुजाओं में । यह भी निगम होता है ।

२४ अर्कः, देव होता है । जो इन को पूजने हैं । अर्कः मन्त्र होता है । जो इन के द्वारा पूजा करने हैं । अर्कम् अन्न होता है, अर्चति=सत्कार=पूजा करना है भूतानि=प्राणियों की । अर्कः, वृक्ष [अक वा] होता है । संवृत = छाया अथवा व्याप्त होता है कट्टुकिष्ठा = कट्टे पत्र में ॥ ४ ॥

भाष्य—घराह = barah, यह अंग्रेजी का शब्द अक्षर ही घराह, का अपभ्रंश है । घराह मेव है क्योंकि उदक को खाता है । असुर घराह=कृष्य मेव । अङ्गिरसः, आदित्या और अङ्गिरसा, ये दोनों रश्मि भेदी मे हैं । अङ्गिरसा दक्षिण दिशा में हैं । देखो वेदविद्यानिदर्शन, पृष्ठ २२६ । चक्र पद का अंग्रेजी अपभ्रंश circle है । यहाँ प्रथम c का उच्चारण अक्षर्य कभी चकार का था । स्वसराणि, सकसर में ये अहानि स्वयं सरकती हैं । अर्कः=अक, यह पत्राओं में अपभ्रंश है ॥ ४ ॥

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उर्ध्वशर्मिरे येमिरे ॥

[ऋ० १ । १० । १ ॥]

गायन्ति त्वा गायत्रिण । प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किण । ब्राह्मणास्त्वा शतक्रत उर्ध्वशर्मिरे यशमिरे । वयो वनशयो भवति । वननाच्छ्रयत इति वा ।

पवी रथनेमिर्भवति । यद्विपुनाति भूमिम् ।

वृत पुण्या रथानामर्द्रि भिन्दुन्त्योर्जसा । [ऋ० ४ । ४२ । ६ ॥]

तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुः । इत्यपि निगमो भवतः ।

वक्षो व्याख्यातम् (४ । १६) ।

धन्वान्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादापः ।

तिरो धन्वाति रोचते । [ऋ० १० । १८७ । २ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

सिनमन्नं भवति । सिनाति भूतानि ।

येन स्मा सिनं भरथः सर्ष्विभ्यः । [ऋ० ३ । ६२ । १ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

इत्थामुधेत्येतेन व्याख्यातम् ।

सचा सहेत्यर्थः ।

वसुभिः सचाभुवा ॥ [ऋ० ८ । ३५ । १ ॥] वसुभिः सहभुवी ।

चिदिति निपातोऽनुदात्तः पुरस्तादेव व्याख्यातः । अथापि पशुनामेह भवत्युदात्तः ।

चिदसि मनासि । [यजु० ४ । १६ ॥] चितास्त्वयि भोगाः । चेतयस इति वा ।

आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः (१ । ३) । अथाप्यध्यर्थे दृश्यते ।

अभ्र आँ अभ्रः । [ऋ० ५ । ४२ । १ ॥]

अभ्र आ अपोऽभ्रे ध्यप इति । [अभ्रे आ अपः । अपोऽभ्रेऽधीति ।]

द्युम्नं द्योततेः । यशो वान्नं वा ।

अस्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि ॥ [ऋ० ७ ॥ ३ ॥]

अर्थ—गाने है तुम्हे (गायित्रण) गायत्र साम क गाने वाचे सामग (अर्चन्ति) पूजने है (अर्कम्) [देव अथवा पर ब्रह्म का] (अर्किण) मन्त्रा वान होना ।। (ब्रह्माण) ब्राह्मण श्रुतिक् तुम्हे (शतकतो) हे वृकर्मन् इन्द्र अथवा हे परमात्मन (यशम् इव) वास को जैम (उत् येमिरे) ऊपर उपर ऊड़ने हैं, [जैसे तेरी महिमा को सर्वोपरि करते हैं] ॥ गाने हैं तुम्हे सामग । प्र अर्चन्ति—बहुत पूजते है (अर्कम्) देव को (अर्किण) मन्त्रो वान । ब्राह्मण तुम्हे हे शतकतो, ऊ चा उठाते हैं, जैसे वाम को [ऊार उठाते हैं ।] वश = वन में ठहरने वाला होना है । वननात् = सेवन किए जाने में [गीत व्यसनियों से] धूयत = सुना जाना है अथवा ।

२५ पवि = रथ की नेमि—बक की धारा होती है । पत् = स्वीकृति रिपुनाति = [स्कन्द—विनायति] जताडती है भूमि को ॥ और (पथा) रथचक्र की धारा में (रथानाम्) अपने रथों के (अद्रिम्) घने मेघ रूपी पर्वतों को (भिन्दन्ति) विदारित करते हैं, तोड़ देते हैं (ओजसा) बल से ॥ (तम्) उस [वृथासुर] को (मरत) मरुतो ने (सुरपरिना) अपने चर की धारा से (व्यस्यु) विशिष्टसर्वाङ्गबन्धन किया = तोड़ फोड़ से छिन्न भिन्न कर दिया । ये भी दोनों निगम होने ह ।

२६ यद्य [पूर्व ४। १६ में] व्याख्यात है ।

२७ धन्व, अन्तरित [है ।] धन्वन्ति = आते हैं अस्मात् आप = इससे आप ॥ (तिर) तिरस्कृत्य = उलाध कर (धन्व) अन्तरित = अन्तरालवर्ती स्थानों को (अति रोच्यत) सुदीप्त होना है । यह भी निगम होना है ।

२ = सिनम् अन्न होना है । सिनाति—[पित्र् बन्धने] बाधना है भूतानि = प्राणी समूह को ॥ [ह इद्र भोर वरुण] (यन) जिस [कारण] से (स्म) पदपूरक (सिनम्) अन्न को (भरथ) धारने हो, वा देने हा (सधिम्य) मित्रों के लिए । यह भी निगम होता है ।

२६ इत्था, यह अमुथा एम [द० ३। १६ ॥] से व्याख्या किया गया है ।

३०. सचा=सह=साथ, यह अर्थ है ॥ वसुओं के (सचाभुवा)=सचा=साथ भुवों=होने वाले [हे अश्वियो ।]

३१. चित्, यह निपात अनुदात्त पहले ही १-। ४ में व्याख्या किया गया है । और भी पशु का नाम इह=यहां=इस पृथिवी के पदार्थों में होता है, [तव] उदात्त [होता है ।] (चित्) सोमक्रयणी गौः=संचित भोगों वाली (असि) तुम हो । (मनासि) कमनीया हो । चिताः=संचित है तुझ में भोग । चेतयसे=प्रज्ञा का हेतु वा चेतना देने वाली हो अथवा ।

३२. आ, यह आकार उपसर्ग पूर्व ही [१ । ३ में] व्याख्या किया गया है । और भी अधि=ऊपर के अर्थ में देखा जाता है । (अम्ने) अम्नों पर (आ) ऊपर (अपः) आपः । अपः अम्नों के ऊपर ।

३३. द्युञ्जम्, द्योतति से । यश अथवा, अन्न अथवा । (अस्मे) हम में (द्युञ्जम्) यश वा अन्न (अवि=नि) (रत्नं च) और रत्न (धेहि) स्थापित करो ॥ ५ ॥

भाष्य—पूर्व १ । ८ में—गायत्रं त्वो गायति शकरीषु, अर्थात् उद्गता गांता है, लिखा गया है । वैसा भाव गायन्ति त्वा गायत्रिणः, ऋगंश में है । पव्या रथानाम् में बहुवचन हैं । निरसन्देह इस अन्तरिक्ष में इन्द्र के बहुत रथ हैं । क्षुरपविना, मरुतों के क्षुर तीक्ष्ण धारा वाले हैं । उन के इस गुण की सहायता से वृत्र के नाश में इन्द्र समर्थ हुआ । धन्व का अपभ्रंश रूप अंग्रेजी में heaven है । ध=hea न्व=ven, न्व का ven विपर्ययमात्र है । चित्, स्वरभेद से एक ही पद दो अर्थों में इस प्रकार होता है । अम्नों के ऊपर आपः, यह विज्ञान जानने योग्य है ॥ ५ ॥

पवित्रं पुनातेः । मन्त्रः पवित्रमुच्यते ।

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा । [सा० उ० १।२।२५ ॥]
इत्यपि निगमो भवति । रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते ।

गर्भस्तिपूतो [नृभिरद्रिभिः सुतः ।] [ऋ० ६ । ८६ । ३४ ॥]
इत्यपि निगमो भवति ।

आपः पवित्रमुच्यन्ते ।

शतपवित्राः स्वधया मद्गन्तीः । [ऋ० ७ । ४७ । ३ ॥]

बहूदकाः ।

अग्निः पवित्रमुच्यते । वायुः पवित्रमुच्यते । सोमः पवित्रमुच्यते ।
सूर्यः पवित्रमुच्यते । इन्द्रः पवित्रमुच्यते ।

अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः ।

पवित्रं ते मा पुनन्तु ॥ [आप० श्रौ० १२ । १६ । ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

तोदस्तुद्यते' ॥ ६ ॥

अर्थ—३४. पवित्रम्, [इस प्रकरण में अनवगत संस्कारो का व्याख्यान हो रहा है । पुन इस अवगत संस्कार का व्याख्यान बयो है । संज्ञा वाची अथवा नामकरण हुआ पवित्रम् पद यहा व्याख्यातव्य है ।] पुनान्ति से [है ।] मन्त्र पवित्र कहा जाता है ॥ जिस के द्वारा, देव, पवित्र के द्वारा, अपने आप को [अथवा] अपने शरीर को पवित्र करते हैं सदा । यह भी निगम होता है । रश्मय, पवित्र कहाते हैं । (गभस्तिपूत') रश्मियो से पवित्र हुआ, (शुभि) [मस्तो के अङ्ग नेता रूपी] नरो से (अद्रिभि) भेषरूप प्रायो से (सुत) निकाला वा बहाया गया । यह भी निगम होता है । आप, पवित्र कहाती हैं । (शतपवित्रा') बहुत उदकी वाली (स्वधया) अन्न के साथ (मद्गन्ती) [सब प्राणियो को] वृत्त करती हुई शतपवित्रा' = बहूदका । अग्नि, पवित्र कहाता है । वायु पवित्र कहाता है । सोम पवित्र कहाता है । सूर्य पवित्र कहाता है । इन्द्र पवित्र कहाता है । अग्नि पवित्र है, वह मुझे (पुनातु) शोधे = पवित्र करे, वायु सोम, सूर्य, इन्द्र [सब] [पवित्रम्] पवित्र हैं, वे मुझे पवित्र करें । यह भी निगम होता है ।

३५. तोद , तुद्यति से ॥ ६ ॥

भाष्य—स्कन्द ने स्पष्ट किया है कि षाड पदार्थ—मन्त्र, रश्मय, आप, अग्नि, वायु, सोम, सूर्य और इन्द्र वे पवित्र नाम से वेदों में कहे गए हैं । इन में से मन्त्रवाची पवित्र पद सर्व प्रथम गिनाया गया है । इस के उदाहरण में ओ निगम पदा गया है, वह इस समय सामवेद में मिलता है । निश्चय ही वह किसी

आचं शाला में भी होगा । देवाः येन पवित्रेण, देव अपने आप को मन्त्र से पवित्र करते हैं । मन्त्र छन्दोमय हैं । वे छन्द अपने विभिन्न स्वरों और तरङ्गों से वायु आदि देवों को पवित्र करते रहते हैं । गभस्तिपूतः, सोम द्यौः से अन्तरिक्ष में उतरता है और वहां से पृथिवी पर । वह सोम रश्मियों से पवित्र होता रहता है । इसी प्रकार अग्निः आदि भी अपने अपने गुणों के कारण पवित्र संज्ञा धारण करते हैं ।

तोदः, तुघति से । स्कन्द लिखता है कि यास्क स्मृत तुघति धातु वर्तमान काल में स्वीकृत तुघति नहीं था । दुर्ग के अनुसार तोद का अर्थ श्वभ्र कूप वा श्वभ्र बिल है ॥ ६ ॥

पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव सिद्धा ।

तोदस्यैव शरण आ महस्य ॥ [ऋ० १ । १५० । १ ॥]

वहु दाश्वान्स्त्वामेवाभिद्वयामि । अरिरमित्र ऋच्छतेः । ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव । यदन्यदेवत्या अग्नावाहुतयो ह्यन्त इत्येतद् दृष्ट्वैवमवचयत् । तोदस्यैव शरण आ महस्य । तुदस्यैव शरणोऽधिमहतः ।

स्वञ्चाः सु अञ्चनः ।

आ जुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः । [ऋ० १ । १५० । १ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्धे नामनी भवतः । कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः ॥ ७ ॥

अर्थ—(पुरु) बहुत [हवि] ('त्वा) तुझे (दाश्वान्) देते हुए (वोचे) बोलता हूँ । (अरिः) ईश्वर=समर्थ [तू] (अग्ने) हे अग्ने (तव) तेरा (स्वित्) आत्मीय ही [मैं हूँ ।] (तोदस्य इव) गृहस्थ, शिक्षक वा स्वामी के जैसे (शरणे) घर में (आ) पदपूरक (महस्य) महान् के । [जैसे महान् स्वामी के घर में भृत्य आत्मीय भाव से रहता है, वैसे मैं तेरे साथ हूँ, हे अग्ने ।] घृत देता हुआ तुझे ही अभिद्वयामि=बुलाता हूँ । अरिः=अमित्रः,=शत्रु, ऋच्छति से । ईश्वर=समर्थ भी अरिः इस ही [कारण] से । यत्, क्योंकि अन्यदेवत्याः दूसरे देवता की अग्नि

म आहृतिया इयत्त=होमार्थ डाली जाती हैं। इति यह देख कर ही एसा (अवद्यत्) कहा होगा। तोदस्य-तुदस्य स्वामी के ही घर में जो महान् है।

३६ स्वञ्जा अथ अञ्जन गति वाला (आञ्जुञ्जान) चारों ओर से आहूयमान अथवा आहूवनीय (घृतपृष्ठ) घृत है पृष्ठ पर जिस के अथवा घृत कणा स स्पृष्ट (स्वञ्जा) अथ गति वाला। यह भी निगम होता है।

३७ ३= शिपिविष्ट [और] विष्णु ये विष्णु के दो नाम होने हैं। कुसितार्थीय-निन्दित अथ वाला पूर्वम्=पहला होता है यह औपम-यन [अपने निरुक्त म निखता है] ॥ ७ ॥

भाष्य—गृहस्य अथवा शिषक के श्रुत्य अथवा अन्तवासी उत्तम ही मुख स रह जितन मुख स वह अपने घर में रहता है। इसी विष्ट महाभारत शान्ति पर्व में कहा है कि श्रुत्य का भोजन भी स्वामी के भोजन के समान ही होना चाहिए। ऐसा उन्नत जीवन केवल वैदिक शिक्षा से ही संभव सा और होगा।

किमिच्छ विष्णो परिचक्ष्य भूत् यद्भवत्ते शिपिविष्टो अस्मि ।

मा वर्षो अस्मदप गृह पतद्यदन्यरूपं समिधे वभूर्य ॥

[ऋ० ७ । १०० । ६ ॥]

किं त विष्णोऽप्रक्ष्यानमतद्भवत्यप्रक्ष्यानपीव यन्न प्रव्रजे शुप इव
 वैष्टिनोऽस्मीयप्रतिपन्नरश्मि । अपि वा प्रशसानमैवाभिप्रेत स्यात् ।
 त विष्णो प्रक्ष्यानमतद्भवति प्रक्ष्यानपीव यदुत प्रत्रूप शिपिविष्टो
 ऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मि । शिपयोऽथ रश्मय उच्यत्त तैरविष्टो भवति ।
 मा वर्षो अस्मदप गृह अस्मत्प गृह पतत् । वर्ष इति रूपनाम । पृष्टोतीति
 सन्न । पदन्यरूपं समिधे सडग्राम भवसि । सयतरश्मि ।

तस्योत्तम भूयस निरचनाथ ॥ ८ ॥

अर्थ—(किम् इत् त) क्या यह तरा (विष्णो) है विष्णो
 (परिचक्ष्यत्) स्वाननीय-रहने योग्य [रूप] (भूत्) होता है ?
 [अरञ्जोत्त उपाय क योग स नहीं न्यापनीय यह अभिप्राय है ।] (यत्
 पयसे) जो [त] कहना है कि यह गति करता है शिपिविष्ट =

[यास्क, दुर्ग—शेष इव निर्वेष्टितोऽस्मीति स्कन्द—यादृशः शेषो निर्वेष्टितः] अर्थात् शेष के समान निर्वेष्टित=नंगा (अग्नि) हैं । (मा वर्षः) मत इम ह्य को (अस्मन्) ह्य मे. (अप गृहः) शिवा अथवा डांप, (एनत् यन् अन्यरूपः) यह जो तू अन्य ह्य वाजा (समिधे) मंग्राम में (यभूय) होता है ॥ क्या तेरा है विष्णो, अप्रमन्यातम्=अप्रसिद्ध यह होता है, अर्थात् न व्यापनीय [रूप] होता है, जो हमें कहता है, [कि] शेष के ममान नंगा हैं, इति । अप्रतिपन्नरश्मि=न युक्त रश्मियों से । [यह कुत्सित उपमा है, औपमन्यव के अनुसार ।] और भी प्रमंग्राम वाला नाम ही [यह शिपिविष्ट] अभिप्रेत हो । क्या तेरा है विष्णो प्रसिद्ध करने योग्य यह [रूप] होता है, जो कहता है, शिपिविष्ट हूँ, इति । युक्त रश्मियों में । शिपयः यहां रश्मियां कही जाती हैं । उन में घिरा हुआ होता है । मत ह्य हम ने डांप यह । वर्षः यह ह्य का नाम है । वर नेता है=स्वीकार करता है, ऐसा होने से । जो दूसरे रूप वाला समिधे=सङ्ग्राम में होता है [तू ।] संयतरश्मिः=[दुर्ग—संबद्धानेकरश्मिजानः । स्कन्द—संगृहीतरश्मिः]=संग्रह की है, अनेक रश्मियां जिम ने ।

तस्य=इम प्रमंग्राम नाम के अधिक निर्वचन के लिए उत्तर श्रुक् है ॥ ८ ॥

भाष्य—वैश्विक विज्ञान के परम रहस्यों को बताने वाला यह मन्त्र है । सूर्य रश्मियां क्या हैं, कभी सूर्य अप्रतिपन्न रश्मिः होता है और कभी संयुत रश्मिः, यह विद्या समझनी चाहिए । औपमन्यव ने अपने निरुक्त में विष्टः का अर्थ निर्वेष्टितः=नंगा किया होगा । सूर्य की यह अवस्था होती रहती है । प्रति प्रातः सायं कुछ काल के लिए सूर्य विरश्मि रहता है । योरोपीय लोगों को इस तथ्य का अभी ज्ञान नहीं हुआ । अपने अज्ञान में वे इस पर उपहास भी कर सकते हैं । इस विषय का अधिक वर्णन वेदविद्यानिदर्शन पृ० १६६-२०० पर है । इस विषय के एक अङ्ग पर प्रकाश डालने वाला एक मन्त्र पूर्व ४।११ में व्याख्यात है । उस में कहा है—मध्या कर्तोर्विततं सं जभार । सायं समय रश्मिसंहार होता है । विरश्मि रूप का ज्ञान करने के लिए, अन्य मन्त्र, भी जानने चाहिए । यास्क ने प्रमंग्राम अर्थ दिखाते हुए ही अप्रतिपन्नरश्मि अर्थ किया है ॥ ८ ॥

प्रतर्कं अथ त्रिपिपिष्ट नामार्यः शंभामि वृषुनांनि विद्वान् ।
त त्वां गृणामि तत्रममतेव्यान्वयन्तमस्य गजेवः पगरे ॥

[ऋ० ७ । १०० । १४]

नल्लेऽथ त्रिपिपिष्ट नामार्यं प्रशंसामि । अर्याऽदिमन्मीऽथर ।
शंभामिनाम् । अर्यस्त्वमर्वाति वा । तं त्वां शंभामि तत्रसमतेव्यान् । तत्रस
इति महतो नामधेयम् । उदितो भवति । निवसन्तमस्य रजसः पगक
परिमान्त ।

आपृष्टिदागतहृषि ।

आपृष्टे स मन्वावदे ॥ [ऋ० ६ । ४५ । १ ॥] आगतहृषे
ससथावदे ।

पृथुजया पृथुजय ।

पृथुसया अमिनादायुर्दस्याः । [ऋ० ३ । ४० । २ ।] आमाप
यदायुर्दस्या ॥ ६ ॥

अर्थ—(तन् त्वां) तरे (अथ) आज (त्रिपिपिष्ट) ह त्रिपिपिष्ट-
रश्मिभूषण (नाम) नाम को (अर्यं) समर्थ हुआ (शंसामि) स्तुति
करता ह (गृणामि) [प्रशंसा कर] कर्मों को (विद्वान्) जानता
हूँ । (तं त्वां) उम तरो (गृणामि) स्तुति करता हूँ (तत्रसम्) [जो
तू महान् है] महान् को (अन्वयान्) नहा अतिक्रम प्रतापान् मे
(क्षयन्तम्) [तुज] बमने हुए को (अम्य रजसः पराक) हम अन्तरिक्ष
आदि लोक के वस्तु दूर म ॥ वहूँ तेरा आज हे त्रिपिपिष्ट नाम [मैं] समर्थ
प्रशंसामि-स्तुति करता हूँ । अथ हूँ मे समय-अध्वरवान् स्तोमो वा ।
समय तुम हो अथवा । उम तुज को स्तुति करता हूँ । तत्रसम् अन्वयान् ।
तत्रस यह महान् का नामधेय [है ।] उदित-उदित हुआ होता है । निवाम
करत हुए को इन [अन्तरिक्ष] लोक से पराक-दूर चर-गए स्थान म ।

३१ आपृष्टि- [सन्ध-आहतदीप्ति आगतक्रोधो वा ।] आपन
हृषि-दीप्ति वाला ॥ (आपृष्ट) हे आई हुई दीप्ति वाल [शूयन्]
(सथावदे) हम देना संपत्त हा ॥ ह आपनहृष इन्द्रो हा ।

४०. पृथुज्जयाः=बड़े वेग वाला । बड़े वेग वाला [इन्द्र] (अग्निनात्) संग्रामों में] मारता है, (आयुः) अन्न वा प्राण को (दस्युः) दस्यु के । प्रामापयत्=समाप्त किया जीवन को दस्यु के ॥ ६ ॥

भाष्य—वेद ने स्वयं घताया है कि शिपिविष्ट का रहस्य कौन जानता है । अर्थात्—अयुनानि विद्वान्, जो प्रकाश रूप कर्मों को जानता है । प्रकाश की विधा का ज्ञान साधारण नहीं है । आघृणिः=आगत दीप्ति पालता । यह पद भी धताता है कि शिपिविष्ट में दीप्ति आती है । सदा दीप्ति एक समान नहीं रहती । पृथुज्जयाः, इन्द्र का वेग भी अच्यवन योग्य है ॥ ६ ॥

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् ।

दूरेदर्शनं गृहपतिमथर्युम् ॥ [ऋ० ७ । १ । १० ॥]

दीधिनयो ऽङ्गुलयो भवन्ति । धीयन्ते कर्मसु । अरणी । प्रत्यृत एने अग्निः । समरणज्जायत इति वा । हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्या । जनयन्त प्रशस्तम् । दूरेदर्शनं गृहपतिमतनवन्तम् ॥ १० ॥

अर्थ—४१. अथर्युम्, अतनवन्तम्=गमन वाले को । (अग्निम्) अग्नि को (नरः) ऋत्विजों ने । दीधितिभिः) अंगुलियों से (अरण्योः) अरणियों के अन्दर से (हस्तच्युती) हाथों के हिलाने से (जनयन्त) उत्पन्न किया (प्रशस्तम्) अन्य अग्निओं से श्रेष्ठ को । (दूरं दर्शनम्) दूर दीखने वा देखने वाले (गृहपतिम्) घर के स्वामी (अथर्युम्) [देवों के प्रति] गमन वाले को ॥ दीधितयः अंगुलियां होती हैं । धीयन्ते=लगाई जाती हैं कर्मों में । अरणी=प्रत्यृतः=चला गया है इन को अग्नि । सम् अरणात्=भले प्रवार हिलाने=मन्थन करने से [सन्द—सगमनाद्=साय जुड़ कर रगड़ से] उत्पन्न होता है अथवा । हस्तच्युती=हाथों के बहुत हिलाने से । उत्पन्न किया प्रशस्त को । दूरे दीखने वाले गृहपति अतनवन्तम् =गमन करने वाले को ॥ १० ॥

भाष्य—प्रत्यृतः एने अग्निः, अग्निः का वेणु अथत्थ और जगदी=शमी आदि उद्भिजों में कैसे प्रवेश हुआ, इस के लिए वेदविद्यानिर्देशन पृ० ११३-१२१ देखिए ॥ १० ॥

एकया प्रतिधा पिबत् साकं सरसि त्रिशतम् ।

इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥ [ऋ० ८ । ७७ । ४ ॥]

एकेन प्रतिधानेनापिबत् । साकं सहेत्यर्थं । इन्द्र. सामस्य काणुका । कान्तकानीति वा । मान्तकानीति वा । कृतकानीति वा । इन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा । कणेयात् इति वा । कणेइत कान्तिइत ।

तत्र तद्यादिका वदयन्त । त्रिशदुक्त्वाभाशि माष्यन्दिने सवन एकदेयतानि । तान्यतस्मिन्काल एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति । तान्यत्र सरास्युच्यन्ते । त्रिशदपरपक्षस्याहोरात्रा । त्रिशत्पूर्वपक्षस्यति नैदका । तथा पताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति । तथापि निगमो भवति ।

यमंच्छितिर्मञ्चितयः पिबन्ति । [यजु० ५ । ७ ॥] इति ।

त पूर्वपक्ष आप्यावयन्ति । तथापि निगमो भवति ।

यथा देवा अंशुमाप्यायन्तीति ।

अग्निगुमन्त्रो भवति । गन्धधिनस्वात् । अपि वा प्रशासनमेवा भिषेत स्यात् । तच्छब्दवत्त्वान् ।

अग्निगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमाग्निगो इति

[दे० ब्रा० २ । ७ । ११ ॥ मै० सं० ४ । १३ । ४ ॥]

अग्निरप्यग्निगुदच्यते ।

तुभ्यं श्रोतन्त्यग्निगो शचीयः । [ऋ० ३ । २१ । ४ ॥]

अधृतगमन कर्मयन् ।

इन्द्रोऽप्यग्निगुदच्यते ।

अग्निगुं ओहमिन्द्राय । [ऋ० १ । ६१ । १ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

आहमाह स्तोम आशोय ।

एनाङ्गुणे वृयमिन्द्रवन्तः । [ऋ० १ । १०५ । १६ ॥]

अनेन स्तोमेन वयमिन्द्रवन्तः ॥ ११ ॥

अर्थ—४२. काण्डिका=प्रिय । (एकया) एक (प्रतिधा)=[दुर्ग, स्कन्द—प्रणिधानेन] घूण्ट से (पिबत्) पिया (साकम्) साय ही (सरांसि) सरोवर (त्रिशतम्) तीस, (इन्द्रः) इन्द्र ने (सोमस्य काण्डिका) सोम के प्यारे ॥ एक प्रतिधानेन = चित् = मन से अपिबत् = पिया (साकम्) = साय ही, यह अर्थ है । इन्द्र ने सोम के काण्डिका = कान्तकानि = प्यारे अथवा । ऊपर तक भरे हुए अथवा कृतकानि = संस्कृत किए, बनावटी अथवा । इन्द्र सोम का कान्तः=प्रिय अथवा । कणेशतः=कामना के घात अर्थात् समाप्ति तक [पीने वाला ।] कणेशतः =कान्तिहतः, इच्छा की पूर्ति तक [पीने वाला ।] इस विषय में यह याज्ञिक जनाते हैं । तीस उक्थ पात्र माध्यन्दिन सवन में एक [इन्द्र] देवता वाले [होते हैं ।] उन सब को इस काल में एक प्रतिधान=घूण्ट=[पंजाबी-डीक] से पीते हैं । वे यहां सरांसि कहे जाते हैं । तीस अपर=कृष्ण पक्ष के अहोरात्र, तीस पूर्व शुक्ल पक्ष के, यह नैरुक्त [कहते हैं ।] तो जो ये चन्द्रमा की रातों में आगामिन्यः आने वाली श्रापः=आपः होती हैं । रश्मियां उन को अपर=कृष्ण पक्ष में पीती हैं । वैसा ही निगम होता है—जिस (अक्षितिम्) न क्षीण होने वाले [चन्द्र] को (अक्षितयः) न क्षीण होने वाले [सूर्य रश्मि] पीते हैं । इति । उस [चन्द्र] को पूर्व पक्ष में आप्याययन्ति=वृद्धि को प्राप्त कराते हैं । वैसा ही निगम होता है । जैसे देव [रश्मिजाल] (अंशुम्) सोम को वृद्धि को प्राप्त कराते हैं ।

४३. अधिगुः, मन्त्र होता है । गवि=गौः में अविकृत होने से । अथवा प्रशासनम्=प्रेरण ही अभिप्रेत होवे । [क्योंकि मन्त्र वैसा [अधिगो इस सम्बोधन] शब्द युक्त होने से । अधिगो, हे अधिगो शमीध्वम्=काटो सुशमि=अच्छा काट काटो, काटो हे अधिगो ।

अग्निः भी अधिगु कहा जाता है ॥ (तुभ्यम्) तेरे लिए (श्रोतन्ति) चरन्ति=चोती है [टप टप कर के गिरती हैं,] (अधिगो)=अधृतगमन= न रुकी गति वाले हे अग्ने (शचीवः) कर्म वाले । न रुकी गति वाले, कर्म वाले ।

इन्द्र भी अधिगु कहा जाता है। (अधिगवे) अप्रतिहत=न रुकी गति वाले इन्द्र के लिए (ओहम्)=[स्वन्द—अत्यन्त उत्कृष्ट] (इन्द्राय) इन्द्र के लिए [स्तोम ।] यह भी निगम होता है।

४४ आङ्गुष्प=स्तोम=ऊँचा घोषण। (एना)=अनेन=इम (आङ्गुष्पेण) स्तोम से हम (इन्द्रान्तः) इन्द्र सहायभूत जिस का, ऐमे [हैं।] इम स्तोम मे हम इन्द्रवान् [हैं] ॥ ११ ॥

भाष्य—अन्तरिक्षस्य सरासि क्या है, यह मैं अभी नहीं जान सञ्च। याज्ञिकों का व्याख्यान शारक ने स्वयं दे दिया है। मैरुह तीस सारोरात्रों को ही सरासि मानते हैं। 'प्रक्षिति' =न क्षीण होने वाले सूर्य रश्मि। चन्द्रमा से जो आप सोक चान्दनी रातों में अन्तरिक्ष से पृथिवी तक फैलते हैं इन्हें ही वे रश्मियां कृष्ण पत्र में पीनी हैं। अधिगु के-१ मन्त्र, २ अग्नि और ३ इन्द्र अर्थ यही दिए गए हैं। अधिगु से याज्ञिक काटने वाले का अर्थ लेते हैं। वह काटने वाला वस्तुन क्या था। इस का उत्तर ऐनरेय ब्राह्मण में है— अधिगुषै देवाना शम्निना ऐ० २।०। अर्थात् जो यज्ञ ऊपर के खोकों में होते हैं, उन में से काटने वाले यज्ञ में से काटने का कर्म करने वाला ही अधिगु है। वह काटने का कर्म इन्द्रों अग्नि और इन्द्र नामक अधिगुषों द्वारा हो रहा है। वडा जो काटना आदि कर्म था, उस का पृथिवी पर के यज्ञों में दोहराना उपादेय नहीं था। जिस प्रकार शर्करा द्वारा मिथिला पृथिवी के दृश्य की क्रिया को यज्ञ में बवल शर्करा रस कर ही मात्र भी काम चलाते हैं, और यज्ञ पूर्ण करते हैं, वही प्रकार काटने के बिना पशु के सर्प मात्र से ही यज्ञ फलदायक हो सकता है। शर्करा द्वारा दृश्य के कर्म का दोहराना आदि असंभव है, तो हिमा जैसे अनुचित कर्म से यज्ञ की पूर्ति भी हेय कर्म है। निरसन्देह मांसमिय लोगों ने प्रेता से यज्ञों में यह विधि प्रचलित किया। उसी का वर्णन कहीं कहीं ब्राह्मणों और श्रौतसूत्र आदिकों में दिखाई देता है। मन्त्रों में हिंसा मार्ग का अर्थ नहीं है ॥ ११ ॥

आपान्तमन्युस्तुपर्लप्रभर्मा धुनिः शिमीया=छरुमो श्रुजीपी।

सोमो विश्वान्यतसा वनानि नारागिन्द्रं प्रतिमानानि देसुः ॥

[श्रु० १०।२०।५ ॥]

१. अत एव इन यज्ञों का नाम 'पशुवध' है, 'पशुवध' नहीं।

आपातितमन्युः । तृप्रप्रहारी । [क्षिप्रप्रहारी सृप्रप्रहारी ।] सोमो येन्द्रो वा । धुनिर्धूतोतेः । शिमीति कर्मनाम । शमयतेर्वा । शक्नोतेर्वा । ऋजीपी सोमः । यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीपमपार्जितं भवति । तेनर्जीपी सोमः । अथाप्येन्द्रो निगमो भवति ।

ऋजीपी वृत्री । [ऋ० ५ । ४० । ४ ॥] इति ।

हयोरस्य स भागो धानाश्चेति । धानां भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति । फले हिता भवन्तीति वा ।

वृथां ते हरीं धाना उप ऋजीपं जिघ्रताम् । इत्यपि निगमो भवति ।

आदिनाभ्यासेनोपहितेनोपधामादत्ते । वभस्तिरुत्तिकर्मा । सोमः सर्वाण्यनसानि यनानि । नार्वागिन्द्रं प्रति मानानि दभ्नुवन्ति । येरेनं प्रतिमिमते नैनं तानि दभ्नुवन्ति । अर्वागैवैनमप्राप्य विनश्यन्तीति । इन्द्रप्रधानेत्येके । नैवण्टुकं सोमकर्म । उभयप्रधानेत्यपरम् ।

शमशा शु अश्नुत इति वा । शमाश्नुत इति वा ।

अर्वा शमशा रुध्र्याः । [ऋ० १० । १०५ । १ ॥]

अवारुधच्छमशा चारिति ॥ १२ ॥

अर्थ—४५. आपान्तमन्युः । (आपान्तमन्युः) डाले गए मन्यु=दीप्ति वाला अथवा क्रोध (तृपलप्रभर्मा) शीघ्र प्रहारी (धुनिः) भय से कंपाने वाला (शिमीघान्) कर्म वाला (शरुमान्) शस्त्रधारी (ऋजीपी) ऋजीप वाला (सोमः) सोम, (विश्वानि अतसायनानि) सारे [न क्षीण होने वाले=घने वन (न इन्द्रम्) नहीं, इन्द्र को (प्रतिमानानि) प्रतिनिधि रूप से (देभुः) मार सकते वा धोखा दे सकते, (अर्वाक्) पहले ही [स्वयं मर जाते हैं ।]

आपातितमन्युः=डाले गए तेज वाला, तृप्रप्रहारी=शीघ्र प्रहारी सोम अथवा इन्द्र अथवा । धुनिः, धूनोति से । शिमी यह कर्म का नाम [है ।] शमयति से अथवा । शक्नोति से अथवा । ऋजीपी=फोक वाला सोम

[है ।] जो सोम का प्यमानस्व=दाने ग्ण का अनिनिच्यने=गोक बन जाना है, वह श्रुजोप [है] अर्थात्त्रिभम्=कैरा हुआ होता है। इम [कारण] ने श्रुजोपी सोम [है ।]

और भी इन्द्र देवता का निगम होता है। श्रुजोपी=श्रुजोप बाना (पञ्जी) वय बाना। इति । (इष्या अम्य) इम व अघो का बहु भाग, और धाना भी। धाना ष्ट्रे=मट्टी म रगी होती है। फल=फल पर रगी हुई हीनी है अथवा। (यध्याम्) गार् (स हरी) तैरे दोनों अघ [है इन्द्र] (धाना) धाना को (जग) और (श्रुजोपम्) श्रुजोप को (मिप्रताम्) सूषे। यह भी निगम होना है। [यध्याम् पद म] आदि के [व] के अम्यम=द्वित्व ग, उपद्वितन=ममीन मे रग गार् स जग [व क अ] को आदत्त=नना है अर्थात् नोप करता है। यधस्ति, खाने अर्थ वाला [है ।] सोम सारे अतस्तानि=पने बन, नहीं, ये इन्द्र को प्रतिनिधि रूप हो कर दम्भुधन्ति=घोसा दते। जिन मे इम [इन्द्र] को प्रतिनिधिते=सादृश्य म रगने हैं नही इम [इन्द्र] को वे घोसा देते अथवा मारते। अवाक् पूव ही, इस को न प्राप्त कर के ही नष्ट हो जाने हैं।

इन्द्रप्रधाना [यह श्रुक् है,] यह कई एक आचार्य कहने हैं। नैघण्टुक =गोण है सोमवर्मे=सोम का वणन। [सोम और इन्द्र] दोनों प्रधानों वाली [है] यह दूसरा [मत है ।]

४६. इमशा, गीष्म व्याग्री है [नहर वा नदी] अथवा। इम=अपेर में व्याग्री है [नदी] अथवा। (इमशा) नहर वा नदी (अयधत्) रोकगी (वा) वारण करेगी ॥ अवारधत्=रोकेगी इमशा या=वारण करेगी। इति ॥ १२ ॥

भाष्य—इस श्रुक् का तात्पर्य गम्भीर है अत इस के अर्थ में दो पद हो गए हैं। इन्द्रप्रधाना और उमयप्रधाना। वास्तु में दोनों पदों से अर्थ दिखाया है। आश्रु में भूने वाक्ता=मङ्गुल्ल, यह पंजाबी अपभ्रंश है। इन्द्र के अर्थों का खाना धाना भी अन्तरिच में खोजनी चाहिये। कौषीतकि भा० १८। १ में पशुपति धाना कहा है। पर ऐसे प्रकरणों में क्या माना गया है यह अन्वेषण योग्य है ॥ ११ ॥

- उर्वश्यप्सरा । उर्वभ्यश्नुते । ऊरुभ्यामश्नुते । उरुर्वा वशोऽस्याः ।
अप्सरा अप्सारिणी । अपि वा अप्स इति रूपनाम । अप्सातेः ।
अप्सानीयं भवति । आदर्शनीयम् । व्यापनीयं वा । स्पष्टं दर्शनायेति
शाकपूणिः ।

यदप्स [यजु० ३० । १७ ॥ काठक सं० ६ । ४ ॥] इत्यभक्तस्य ।

अप्सो नाम । [मै० सं० २ । ८ । १० ॥]

इति व्यापिनः । तद्वा भवति रूपवती । तदनयात्तमिति वा ।
तदस्यै दत्तमिति वा । तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द । तदभि-
वादिन्येपग्भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—७७. उर्वशी, अप्सरा [है ।] उरु=वृत्त अथवा महत् [स्थान
वा यश को] अश्नुते व्याप्त होती है । ऊरुओं से व्यप्त होती है । उरुः
वा=महती निश्चय से वशः=इच्छा=कामना इस की । अप्सराः=आप में
सर्पण करने वाली । अथवा अप्स, यह रूप का नाम [है ।] अप्साति से ।
अ+प्सानीयम्=नहीं भक्ष्य होता है, आदर्शनीयम्=देखने योग्य, व्यापने योग्य
अथवा । स्पष्ट दर्शन के लिए, [नहीं स्पर्श के लिए] यह शाकपूणि [कहता
है ।] (यत् अप्सः)=जो अभक्ष्य [खाया हम ने ।] यह अभक्ष्य का
[कथन है ।] (अप्सः नाम) व्यापने वाली [है ।] यह व्यापने वाले का
नाम [है ।] तत्+रा=उस वाली होती है । [अर्थात्] रूपवती । तत्
अनया = वह इसे से अत्तम् = खाया गया अथवा । वह इस के लिए दिया
गया अथवा । उस के दर्शन से मित्र और वरुण का रेतः चस्कन्द = गिरा ।
इस माया को कहने वाली यह ऋक् होती है ॥ १३ ॥

भाष्य—उर्वशी मध्यमस्थानी देवता है । उस की माया के विषय में अगले
खण्ड के भाष्य में कहेंगे ॥ १३ ॥

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः ।

द्रुप्तं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ॥

[ऋ० ७ । ३३ । ११ ॥]

अप्यसि मैत्रावरुणो वसिष्ठः । उर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः । द्रुप्तं
स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन । द्रुप्तः सम्भृतप्सानीयो भवति । सर्वे देवाः

पुष्कर तथा अधारयन् । पुष्करमन्नरिदम् । पोषति भूतानि । उदकं
पुष्कर पूजाकर पूषयित्व्यम् । इदमर्षिनरत्पुष्करमेतस्मादथ । पुष्कर
वपुष्कर वा । पुष्पं पुष्पत ।

वयुर्न वत । वान्तिर्वा । प्रज्ञा वा ॥ १४ ॥

अर्थ—और हा मित्र और वरुण व पुत्र ह वनिष्ठ (उग्रया) उर्वशी
म ह ब्रह्मन [तू] मन ग (अधिपत) उदात्त हो । [मित्र और वरुण
की जब] (द्रप्सम्) वृत् (स्फुग्मम्) गिरी [तो] ब्रह्म दिव्य म
(निश्चरणा) मारे दवा न (पुष्कर) अन्नरिप म (तथा) तुम्हे
(अददन्) धारण किया ॥ द्रप्स सम्भूत-प्लानीय - पुष्ट हुआ भरण
योग्य होता है । मार दवा न पुष्कर म तुम्हे धारण किया । पुष्कर=
अन्नरिप [है ।] पुष्ट करना है भूता को । उदक पुष्कर [है ।] पूजा वा
करण [है ।] पूजनीय [है ।] यह भी दूसरा पुष्कर (-कमल) इस में
ही । व पुष्कर = गराव को सजान वा माधन अथवा । पुष्प पुष्पति से ।

४- वयुनम् वति म । वान्ति अथवा । प्रजा अथवा ॥ १४ ॥

भाष्य—वेद की द्विविधा में मित्र, वरुण उर्वशी और वनिष्ठ क्या पदार्थ
हैं जब इस का उल्लेख करते हैं । मित्र और वरुण कारक शक्तियों में से हैं ।
उन की माता अग्नि निरुक्त १ । २२ क अनुसार मध्यस्थाना शिवों में प्रथमा
गमिनी है । वे दोनों देव शु स्थानी हैं । पर ध्यान रह कि मानव इतिहास में वे
आदित्य पृथिवी पर भी हा शुक्त हैं । देवी और पार्थिव देवी के अनेक कर्म समान
और अनेक भिन्न भिन्न हैं । मित्र और वरुण दो हैं पर उन दोनों का रत एक
ही है । यह गम्भीर रहस्य है । क्या हि रत । श० मा० ३ । २ । १ । २५ ॥
रत आज्यम् । श० मा० १ । ३ । १ । १८ ॥ रता वै घृतम् । श० मा०
३ । २ । ३ । ४४ ॥ इन प्रमाणों से रत का कुछ ज्ञान हो जाता है पर यह
सभी तुम्हे ज्ञान नहीं कि इन म स मित्रावदथ के साथ किस का सम्बन्ध है ।
और यह रत किस प्रकार से शु लोक से गिरा ।

उग्रशी मध्यस्थाना ह । उर्वशी का मन क्या है यह भी ज्ञातव्य है । उर्वशी
अपसरायी म स एक है । अपसराय् सूर्य मपरत्त म शूल्य करती हुई चलती है ।^१

उर्वशी को मित्रावरुण ने किस समय देखा, यह विचारणीय है। इस प्रस्तुत मन्त्र की वृत्ति में रुद्र ने लिखा है—नित्यपदे तु उर्वशी विद्युत् । वसिष्ठोऽप्याच्छादितः उदकसंग्रातः ।..... । मित्रावरुणावपि घाट्यादित्यौ । विश्वे देवा रश्मयः । अर्थात्—उर्वशी विद्युत् है। तारा, धिप्पया, उल्का, विद्युत् और अशनि के रूप से विद्युत् शक्ति का कर्म होता है। उर्वशी इन में से कोई एक है। अप्सराएं ५ रश्मियों के रूप में भी चलती हैं।^१ ये रश्मियां विद्युत् प्रभाव से युक्त होनी चाहिए।

वैदिक देवों का वर्णन बृहद्देवता ५। १४८, १४९ में है। वहीं अगले श्लोकों में मित्र, वरुण और उर्वशी की माया का कथन है। तदनुसार उर्वशी के दर्शन पर मित्र और वरुण का रेतः वास्तीवर कुम्भ में गिरा। उस से मुहूर्तमात्र में अगस्त्य और वसिष्ठ जन्मे। परन्तु बृहद्देवता के मैग्जानल सम्पादित संस्करण के B संज्ञक पाठ में शुक्र का गिरना कलश में जल में और स्थल पर कहा है। स्थल पर वसिष्ठ, कलश=कुम्भ से अगस्त्य और जल से मास्य उत्पन्न हुए। प्रस्तुत मन्त्र में स्कन्न द्रव्य से अन्तरिक्ष में वसिष्ठ का धारण कहा है। बृहद्देवता के लेखानुसार अगस्त्य और वसिष्ठ भ्राता हैं। ऋग्वेद ७। ३३। १० में भी इस का स्पष्ट संकेत है। यह सारा वर्णन मानव इतिहास में कभी घट नहीं सकता। पर सृष्टि के इतिहास में हुई यह घटना अचरित है।

सृष्टि के इतिहास में अन्य अनेक उत्पत्तियां भी इस प्रकार हुई हैं। मित्रावरुण से सम्बन्ध रखने वाली एक दूसरी माया निम्नलिखित है—

आपो वै देवानां पलय आसन् । ता मिथुनम् पेच्छन्त । ता मित्रावरुणाव् उपेताम् । ता गर्भमदधत । ततो रंवतयः पशवोऽसृज्यन्त ।
जै० ब्रा० १। १४० ॥ सारी सृष्टि उत्पत्ति आपः से ही हुई है। उर्वशी अप्सरा भी आपः में ही सरकती है।

यह वसिष्ठ प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्मन् पद से सम्बोधित है। वह और उस के साथी वसिष्ठ अन्तरिक्ष में देवी वाक् अथवा मन्त्रों के कर्ता हुए। इसीलिए ऋग्वेद १०। ६६। १४ में कहा है—वसिष्ठासः पितृवद् वाचमक्रत । अर्थात् वसिष्ठों ने पिता के समान वाणी को किया। आकाशस्थ प्राणों का कोई

प्रकार की बलिष्ठ शक्ति है । प्राणो वै बलिष्ठ श्रुति । श० मा०
 ८ । १ । १ । १ ॥ वसिष्ठ'शौर राम का मन्त्री मिश्रावाक्यी बलिष्ठ मन्त्रों का
 कर्ता नहीं था । आकारास्य श्रुति ही ईशरीय नियमों में चलते हुए देववाक् को
 उत्पन्न कर रहे थे । वेद ईश्वरप्रेरणा का ही फल है । बलिष्ठ के अन्तरिक्षस्य धना
 अगम्य की एक माया पूर्व १ । ५ में कही गई है ।

वेदविद्या का उद्धार तप चाइता है ॥ ११ ॥

स इत्तर्मोऽप्युनं तंतन्वत्सूर्येण वृषुनपञ्चकार ॥

[श्रु० ६ । २१ । ३ ॥]

स तमो प्रज्ञानं तन्वन् । स तं सूर्येण प्रज्ञानपञ्चकार ।

वाङ्मन्त्र्यं वाङ्मपतनम् ।

सुनेम वाङ्मपस्त्यम् । [श्रु० ६ । २२ । १२ ॥] इत्यपि त्रिगमो

भयति ।

वाङ्मन्त्र्यं गध्यन्त्युत्तरपदम् ।

श्रुत्याम वाङ्मपत्तयम् । [श्रु० ६ । २३ । १२ ॥] इत्यपि त्रिगमो

भयन्ति ।

गध्य शुद्धान ।

श्रुञ्चा वाङ्म न गध्यं सुपूर्पन् । [श्रु० ४ । १६ । ११ ॥] इत्यपि

त्रिगमा भयति ।

गध्यनिर्मिथीभाषकमौ ।

आगंधिता परि गंधिता । [श्रु० १ । १०६ । ६ ॥] इत्यपि

त्रिगमो भयति ।

कीर्याण कृतयान ।

पार्श्वस्यामा कीर्याणः । [श्रु० ८ । ३ । २१ ॥] इत्यपि त्रिगमो

भयति ।

तीर्याणन्पूर्णात् ।

स तौर्याण उप याहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सुजोषाः ॥

इत्यपि निगमो भवति ।

अह्यारणोऽहीतयानः ।

अनुष्ठुया कृणुह्यद्र्याणः । [ऋ० ४ । ४ । १४ ॥] इत्यपि निगमो

भवति ।

हर्यारणो हरमारयानः ।

रजतं हर्यारणे । [ऋ० = । २५ । २२ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः ॥ [ऋ० १ । १०१ । ४ ॥]

प्रत्यृतः स्तोमान् ।

वन्दी वन्दते मृदू भावकर्मणः ॥ १५ ॥

अर्थ—(स इत्) उस [इन्द्र] ने ही (अवयुनम्) अज्ञात=न सूझने वाले=निरुद्धसर्वदृष्टि पथ वाले [वृत्र के उत्पन्न किए अन्वकार] को (ततन्वत्) विस्तृत किया । [तत्त्वश्चात्] (सूर्येण) [सूर्य को चुलोक में पहुँचा कर] सूर्य के द्वारा (वयुनवत्) प्रज्ञा वाला अर्थात् प्रज्ञासाधन प्रकाश वाले के समान (चकार) बनाया ॥ उस [इन्द्र] ने तमः=अप्रज्ञान =सूझ न पड़ने वाले अन्वकार को फैलाया । उसी ने (तम्) उस [अप्रज्ञान] को सूर्य के द्वारा प्रज्ञानवत्=सूझ पड़ने के स्थान के समान किया ।

४६. वाजस्पत्यम्, वाज=अन्न, जिस पर पतन [होता है] ॥ (सनेम) सेवन करें (वाजगन्ध्यम्) [उस सोम] अन्न को जिस पर देव गिरते हैं । यह भी निगम होता है ।

५०. वाजगन्ध्यम्, गध्यति उत्तरपद है ॥ (अश्याम) प्राप्त करें (वाजगन्ध्यम्) [हम सोम रूप] अन्न को, जो [अन्य द्रव्यों के साथ] मिलने योग्य है । यह भी निगम होता है ।

५१. गध्यम्, गृह्णाति,=ग्रहण करता है, से [है ।] (ऋज्जा) कोमल [मार्ग] से (वाजं न गध्यम्) ग्राह्य=ग्रहण करने योग्य अन्न को जैसे (युयूपन्न) [वैसे] मेल करता हुआ [इन्द्र ।] यह भी निगम होता है ।

५२ गच्छति मिथीभाज अथ यन्त्रा [है] ॥ (अथ गच्छिता) मव ओर से मिली हुई (परि गच्छिता) चारो ओर से मिला हुई । यह भी निगम होता है ।

५३ कौर्याण = कृत = मज्जिन = न्यप्यार रथ वात्रा ॥ (पाकस्यामा) परिपक्व अथवा महाप्राण वाला = महाबल (कौर्याण) सज्जित रथ वात्रा । यन् भी निगम होता है ।

५४ तौर्याण - तूर्णयान = गीघ्र गामी रथ वात्रा १। वह [वृ] (तौर्याण) गीघ्र गामी (उप याहि) गमीय आओ (यशम्) [हमारे] यज्ञ को (मरुच्छि) मरतो व साथ हे इन्द्र (सखिभि) [अपने] मन्त्राओ व साथ (सप्रोषा) सम्पक् प्रोति करत हुए । यह भी निगम होता है ।

५५ अहयाण = अह्वीत - यान = न ह्री = लज्जा वाली गति वात्रा ॥ (अनुष्टुया) अनुष्णन म (वृणुदि) करो (अहयाण) न लज्जा करते हुए । यह भी निगम होता है ।

५६ हरयाण = हरमाणयान = [गन्त्रो के जीवन क] हरणगीत यान वात्रा ॥ (रजतम्) चँदी के [रथ को] (हरयाण) [गन्तु जीवन के] हर्ता यान मे । यह भी निगम होता है ।

५७ आरित (य) ओ (आरित) पत्रैचा = प्राप्त हुआ (कर्मणि कर्मणि) कर्म मे कर्म मे (स्थिर) अविचलित ॥ प्रत्युत = प्राप्त हुआ (स्तोमान्) स्तोमो को ।

५८ अन्दी, अदति से मृदुभाव अर्थ वाले से ॥ १५ ॥

भाव्य—सूर्य पहले ऊपर में नहीं था । वह पृथिवी से ऊँचे शनैः दूर हो रहा था । उस समय वृत्र ने कोकों को घेर कर अन्धकार कर दिया । उस समय का घोरतक पूर्वार्ध है । इन्द्र सूर्य को पर कर रहा था पर जब तक सूर्य दीक अवस्था में स्थिर न हो जाए वह अन्धकार को दूर नहीं कर सकता था ।

१ इस पद पर विशेष विचार पं० सुषिष्ठिर मीमांसक कृत श्रुतवेद की कठिनय दानस्तुतियों पर विचार ' पुस्तिका में किया गया है । वह द्रष्टव्य है ।

घतः कहा है कि इन्द्र ने “न सूक्तने वाले तम को विसृत किया ।” पर जब सूर्य ठीक स्थिति और परिभ्रमण में टिक गया, तो प्रकाश हो गया । इस कर्म में भी इन्द्र सहायक था । ब्राह्मण ग्रन्थों में यह सत्य कई स्थानों पर वर्णित है । यस्तुतः ब्राह्मण ग्रंथों के अध्ययन के बिना ये रहस्य समझ में नहीं आ सकते । ईसाई-यहूदी लेखकों ने अल्प बुद्धि आदि के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों पर हीनतासूचक आरोप किए हैं । प्रस्तुत मन्त्रांश में देवविद्या का एक सूक्ष्म सत्य निहित है ।

वाजगन्धयम्, सो अन्य द्रव्यों के साथ मिल जाता है । घातित होने का, घुलने का सोम में अद्भुत सामर्थ्य है । कौर्याणः आदि पद इन्द्र के रथों का ज्ञान कराते हैं । ऐसे यान सेनाध्यक्षों के पास होने चाहिए । यानों की लज्जा वाली गति निषिद्ध है । इन्द्र का रथ रजत भी होता है । आरितः पद के विषय में स्कन्द का अभिप्राय है कि आ+ऋपति से कई एक मानते हैं । यास्क और पदकार यद्गुणन्त अर्ति का रूप मानते हैं । उस का सारा लेख द्रष्टव्य है ॥ १५ ॥

नि यद्वृणक्ति श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो

रोरुव्रना । [ऋ० १. ५४. ५ ॥]

निवृणक्ति यच्छ्वसनस्य मूर्धनि शब्दकारिणः । शुष्णस्यादित्यस्य [च] शोषयितुः । रोरुयमाणो वनानीति वा । वधेनेति वा ।

अत्रदन्त वीजिता । [ऋ० २. २४. ३ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

वीडयतिश्च व्रीडयतिश्च संस्तम्भकर्माणो । पूर्वेषु सम्प्रयुज्येते । निष्पपी ह्रीकामो भवति । विनिर्गतसपः । सपः सपतेः स्पृशतिकर्मणः ।

मा नो मधेव निष्पपी परा दाः । [ऋ० १. १०४. ५ ॥]

स यथा धनानि विनाशयति मा नस्त्वं तथा परादाः ।

तूर्णाशमुदकं भवति । तूर्णमश्नुते ।

तूर्णांशं न गिरेरधि । [ऋ० ८. ३२. ४ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति । यत्क्षुम्पते ॥ १६ ॥

अर्थ—(यत्) जिस कारण (नि वृणक्ति) [वृणक्ति=वधकर्मा
निघण्टु २ । १९ ॥] तू समाप्त कर देता है (श्वसनस्य) [शब्दकारी]
वायु के (मूर्धनि) ऊपर, (शुष्णस्य) सुखाने वाले आदित्य के (चित्)
भी [ऊपर, आसुरी तत्वों को इन्द्र] (व्रन्दिन) [वह आदित्य जो]
मृदु=कोमल करने वाला [है फलो का] (रोद्यत्) अत्यन्त शब्द करता
हूँ (धना = धनानि) जलो को [वनम्=उदकनाम, निघण्टु १।१२] ॥

समाप्त करता है, जिन कारण श्वसनस्य=शब्दकारी वायु के ऊपर,
शुष्णस्य=सोपयितु=सुखाने वाले आदित्य के और ऊपर । अत्यन्त शब्द
करने हुए, जलो को अथवा, वध=वञ्ज से अथवा । (अग्रदन्त) मृदु हो गए
(व्रीडिता) कठिन = कठोर [भी ।] यह भी निगम होना है । व्रीडयति
[और] व्रीडयति दोनों कठोर अर्थ वाले, पूर्व के [व्रन्द पद] में जुड़ने
हैं । [अर्थात् व्रन्द=मृदु, व्रीडित=कठोर]

५६ निष्पपी=पु अस्त्य =स्त्रीकाम होता है । निकले हुए प्रजननेन्द्रिय
वाता । सप सपति से, स्पर्श अर्थ वाले से । (मा न) मत हमें (मघा
इय) धनो को जैसे (निष्पपी) स्त्रीकामी [नष्ट] करता है, [वैसे]
(परा दा) नष्ट कर ॥ वह [कामुक पुरुष] जैसे धनो को विशेष रूप से
नष्ट करता है, मत हमें तू [है मघवन्] नष्ट कर ।

६० तूर्णाशम्, उदक होता है । वीघ्न व्याप्त हो जाता है, (तूर्णाशम्)
उदक को (न) वैसे (गिरः अधि) भेष के ऊपर में । यह भी निगम
होता है ।

६१. क्षुम्पम्, अहिच्छत्रक=क्षुम्ब होता है । यत्=कयोक्ति=क्षुम्पते=
हिल जाता है ॥ १६ ॥

भाष्य—निरुणक्ति दुर्ग=निवर्जयति । स्कन्द इस प्रकरण में वर्जने
अर्थ का उल्लेख कर के वर्ण करता है—निवर्जयति=प्रापयति । स्कन्द ही
अम्भाष्य में—इतथानसि वर्ण करता है । सीताराम ने—पेकना ही वर्ण
किया है । राजाराम—मुझगा है । इन्द्र आसुरी तत्वों को समाप्त करता है ।
कहाँ पर । श्वसन=वायु के मूर्ध पर । व्रन्दरिच में वायु के साग कर है ।
उन में स श्वसन किस का नाम है, इस का स्पष्टीकरण मुझे कहीं नहीं मिला ।

शुष्णस्य=आदित्यस्य । आदित्य के ऊपर घुलोक के किस स्थान में । इस का स्पष्टीकरण भी मुझे अभी तक नहीं मिला । व्रन्दिनः, सूर्य फठोर फलों में मृदुता उत्पन्न करने वाला है । यह विषय उद्भिज शास्त्र का है । सूर्य की फौन सी रश्मियां इस मार्दव को उत्पन्न करती हैं, इस का अध्ययन भी आवश्यक है । इन्द्र रोरूयमाणः है । यह सुविदित है ।

निष्पत्ती—यहां पर राजवादे ने निष्पत्ति रूप मुद्रित किया है । इस पर अनेक मत हैं । हम ने लघमणसरूप का पाठ धरा है । वेद में स्त्रीकाम और उस के धन नष्ट करने की निन्दा है । गिरेः अधि, मेघ के ऊपर कैसा उदक है, यह अन्वेषणीय है । एक मन्त्र के आधे भाग में कितनी ज्ञातव्य बातों का संकेत है, जिन्हें हम नहीं जानते । इस पर भी अनेक अर्थपठित लोग कहें कि वे घेद जानते हैं, तो यह घृष्टामात्र है ।

जुम्प=अहि=हृत्रक, इसे आज भी गङ्गा यमुना के द्वीप में रहने वाले लोग सांप की छतररी कहते हैं । पंजाबी का अपभ्रंश खुम्ब प्रसिद्ध है । साधारण हिलाने से खुम्ब जो जुम्भयते=हिल जाता है ॥ १६ ॥

कदा मर्त्तमराधसं जुम्पमिव स्फुरत् ।

कदा नः शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ [ऋ० १ । ८४ । ८ ॥]

कदा मर्त्तमनाराधयन्तं पादेन जुम्पमिवावस्फुरिष्यति । कदा नः श्रोष्यति च गिर इन्द्रो अङ्ग । अङ्गेति क्षिप्रनाम । अञ्चितमेवाङ्कितं भवति ।

निचुम्पुणः सोमः । निचान्तपृणः । निचमनेन प्रीणाति ॥ १७ ॥

अर्थ—कव (मर्त्तम्) मरणधर्मा मनुष्य को (अराधसम्) [इन्द्र= परमैश्वर्यवान् परमात्मा की] आराधना न करते हुए को (पदा) पैर से (जुम्पम् इव) खुम्ब को जैसे (स्फुरत्) ताडित करेगा । कव हमारी सुनेगा, स्तुतिरूप वाणियां (इन्द्रः) इन्द्र (अङ्ग) क्षिप्र=शीघ्र ॥ कव मनुष्य को अनाराधयन्तम्=न आराधना करते हुए को पांव से खुम्ब को जैसे, [वैसे] अवस्फुरिष्यति=ताडित करेगा, हिलाएगा । कव हमारी सुनेगा और स्तुतियां इन्द्र शीघ्र । अङ्ग यह शीघ्र का नाम है । अञ्चितम् एव=अङ्कितम्=पाया हुआ ही [अथवा] अत्यन्त लगा हुआ ही होता है ।

६- निचुम्पुण सोम [है।] निचान्तपूण—[स्वन्द—भक्ति' प्रीणानि] थाया हुआ ही तृप्त करता है। निचमनन=भक्षण स तृप्त करता है ॥ १७ ॥

भाष्य—परमात्मा की आराधना मनुष्य करते हैं। परन्तु देव इन्द्र की आराधना अन्तरिक्षस्थ कौन सा मर्न करता है यह शतभ्य है। मरुतो आदि में स ये कोई नर हैं। उन की आराधना कैसी होती है यह भी जानने योग्य है ॥ १७ ॥

पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति शीतये ।

अपा जग्मिनिचुम्पुणः ॥ [ऋ० = । ६३ । २० ॥]

पत्नीवन्त सुता इमेऽद्भि सोम' कामयमाना यन्ति शीतय पानाय ।
अपा गन्ता निचुम्पुण ।

समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यत । निचमनन पूर्यत । अथभृथोपि निचुम्पुण उच्यत । नीचैरस्मिन् कणन्ति । नीचैर्दधतीति था ।

अथभृथ निचुम्पुण । [य० ३ । ४८ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

निचुम्पुण निचुङ्कुणेति च । पदिर्गन्तुर्मवति । यत्पद्यत ॥ १८ ॥

अर्थ—पत्नियो वात्रे (सुता) निचोत्रे=निकाने हुए (इमे) ये [सोम] (उशन्त) कामना करते हुए (यन्ति) जाने हैं [इन्द्र को] (शीतय) [उस के द्वारा] लिए जाने के लिए । (अपा) आप [क प्रति] (जग्मि) जाने वाला तथा (निचुम्पुण) भक्षण से तृप्त करने वाला है ॥ पत्नियो वात्रे निकाले हुए ये । [पत्नीरूपी] आप के साथ सोम । कामना करते हुए लाते हैं । शीतये=लिए जाने के लिए । आप के प्रति जाने वाला पान स तृप्त करने वाला [सोम] ।

समुद्र भी निचुम्पुण कहा जाता है । निचमनेन=[स्वन्द—नियम वाचम्यन्ते] अर्थान् उदक से पूरा जाता है । अथभृथ=[सोम याग और अश्वमेधादि यज्ञो के अन्त में किया गया] स्नान भी निचुम्पुण कहा जाता है । नीचैर्=मन्दम । स्वर मे=उपा' इम [अथभृथ] इष्टी मे कणन्ति=गन्त

करते हैं। नीचैः दधति=अधोमुख पात्रों को धारण करते हैं [पुनः जन में छोड़ते हैं।] हे अवभृत्, हे निचुम्बुण । यह भी निगम होता है । निचुम्बुणः [भी और] निचुत्कुणः भी ।

६३. पदि, गन्तुः=चलने वाले का [नाम है।] यत् क्योंकि पद्यते= [आकाश में] जाता है पक्षी ॥ १८ ॥

भाष्य—पत्नीघन्तः का शास्त्र ने अर्थ किया है, अद्भिः=घ्रापः के साथ । एम जै० ब्रा० १।१४० के प्रमाण से पूर्व निक० ५।१४ के भाष्य में निरा चुके है कि घ्रापः ही देवपत्नियां थीं—आपो र्व देवानां पत्नय आसन् । तदनुसार सोम की पत्नियां ये घ्रापः ही हैं। र्वीतये, र्वीतये के कई अर्थ हैं। अन्न आ याति र्वीतये में र्वीतये का अर्थ शतपथ आदि के अनुसार है, पृथक् होने के लिए । निचमनम् का अर्थ उदक कैसे है, इस का स्पष्टीकरण स्कन्द के लेख से पहले दे दिया है ॥ १८ ॥

सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति ।

यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति ॥

[ऋ० १।१२७ ॥ २ ॥]

सुगुर्भवति । सुहिरण्यः । स्वश्वः । महच्चास्मै वय इन्द्रो दधाति । यस्त्वा यन्तमन्नेन । प्रातरागामिन्नतिथे । मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति । कुमारो मुक्षीजा मोचनाच्च सयनाच्च ततनाच्च ।

पादुः पद्यतेः ।

आविः श्वः कृणुते गृहते वुसं स पादुरस्य निर्गिजो न मुच्यते ।

[ऋ० १०।२७।२४ ॥]

आविष्कुरुते भासमादित्यः । गृहते वुसम् । वुसमित्युदकनाम । वधीतेः शब्दकर्मणः । अंशतेर्वा । यद् वर्षन् पातयत्युदकं रश्मिभिस्तत् प्रत्याददते ॥ १६ ॥

अर्थ—(सुगुः) शोभना गीओं वाला (असत्) होता है, (सुहिरण्यः) अच्छे सुवर्ण वाला, सुन्दर अश्व वाला, (बृहत् अस्मै) महत् इस के लिए (वयः) अन्न (इन्द्रः दधाति) इन्द्र [हवि रूपी]=

परमात्मा दत्ता है जो (त्वा) तुम्हें (आयन्त्वम्) आते हुए की (यसुना) धन म (प्राण इत्य) हे प्राण काल म आने वाले [अग्ने] (मुर्धाञ्जया इव) जान म जैसे (पदिम्) पत्नी की (उतिसनानि) बाध लता है [वैसे तुम्हें यज्ञार्थ बाधना है=प्रञ्जनिन करता है] ॥ गोपना गोओ वाला होता है । अचन्द्र हिरण्य वाला । सुन्दर अश्व वाला । प्रभूत और इम के लिए अन्न इद्र देता है जा तुम्हें आयन्तम्=आने हुए को प्रातरागामिन्=ह प्राण काल म अन आने [अन्न] हे अतिथे प्राण जैसे पत्नी को बाध लता है [वैसे तुम्हें बाध लता है] कोई कुमार । मुर्धाञ्जा—मोचनात् स = छुड़ाने म और सयनात् स = बाधन स ततनात् स = फैलाने म —जान । [पैर म रक्षा पत्नी गिकार क लिंग मुक्त किया जाता है । जाल म बाधा जाना है । भूमि पर फैलाया जाता है ।]

६५ पादु पद्यति स । (आयि कृणुत) प्रकट-प्रकाशित करता है । (स) नम कुछ [अथवा] आदित्य । (गृहत्) डागना है (वुसम्) आध को (स पादु) वह जो गति [है] (अस्य निर्गम) इस शोचन कर्ता की (न मुच्यत) नहीं छूटती ॥ प्रकाशित करना है भामम्-प्रकाश को आदित्य । धिया ता है वुम को । वुसम् यह उदक का नाम [है ।] वद्यति-शब्द वर्त्ता है अर्थ जाने से । अंशति से अथवा [गिरता है मय म ।] जो बरमता = आ गिराना है उक्त को रश्मियों मे उन [ही फिर] प्रत्यान्ते = अपने म लौटा लेता है ॥ १९ ॥

भाष्य—अग्नेद मण्डल प्रथम का सूक्त १२२ कधीवान् अग्नि का सूक्त है । अनुक्रमणी के अनुसार यह स्वनय नामक राजा की दानुस्तुति है । सुदरेवत् ३ । १४२—१२४ म इस सूक्त पर एक साख्यान उद्धिखित है । इस सूक्त स अथवा अर्थात् १२६ सूक्त भी दानुस्तुति विषयक है । स्वनय नाम १२१ । २ में है । सुदरेवत् ३ । १२४ क अनुसार यह नारायाणी सूक्त है । इन नारायणियों अथवा दानुस्तुतियों के वास्तविक अर्थ की कुन्जी इन सूक्तों में ही मिलती है । कधीवान् के लिण जो दान है उन में अमुरस्य गोनाम् अमुर के कधीवर्द पर्याय नहीं हैं अत इस दानुस्तुति का सम्बन्ध इह लोक में हुए दान स हो ही नहीं सकता । पुन एक और अग्नि भी विश्वारथीय है । राजा स्वनय विवाद म अपनी कन्या दनी चाहता था फिर उस ने रथों पर दान बधुए ही यह देस लुनेगा । जैसा हम पहले कह चुके हैं सारा इतिहास वेद में कदापि छट ही नहीं

सकता । इतिहास की आंशिक बात इन वेदमन्त्रों से जोड़ कर आख्यान बनाया गया है । इन स्तुतियों के पूरे अध्ययन के लिए वेदविद्या का उद्धार अत्यन्त आवश्यक है । प्रस्तुत मन्त्र में यह अग्निः के प्रति उच्चार्य गई ऋक् है ।

आदित्य गृहते वसुम्, ढांपता है आपः को । आदित्य रश्मियां आपः को कैसे ढांपती हैं । अन्यत्र रश्मियों को अपो वसानाः कहा गया है । दोनों भाव विचारार्ह हैं । भूमि पर के आपः सूर्य में पहुंचते हैं, यह आश्चर्यकरी विद्या वेद में ही है । योरोप और अमेरिका में इस का ज्ञान नहीं है ॥ १६ ॥

वृकश्चन्द्रमा भवति । विवृतज्योतिष्को वा । विकृतज्योतिष्को वा । विक्रान्तज्योतिष्को वा ॥ २० ॥

अर्थ—६५. वृकः, चन्द्रमा होता है । विवृत = खुली हुई ज्योति वाला अथवा । विकृत [= उष्ण से विकृत अर्थात् ठण्डी] ज्योति वाला अथवा । वि-क्रान्त = नक्षत्र आदिकों को उलांघ कर ज्योति वाला अथवा ॥ २० ॥

भाष्य—स्कन्द ने अविकृत और विकृत दो प्रकार से विग्रह किया है । अविकृत अर्थात् शीत होने से एक रस । और हास वृद्धि वाली ज्योति होने से विकृत ॥ २० ॥

अरुणो मासकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि ।

उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

[ऋ० १। १०५। १८ ॥ ॥]

अरुण आरोचनः । मासकृन्मासानां चाऽर्धमासानां च कर्ता [भवति] । चन्द्रमा वृकः । पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणम् । अभि-जिहीते । निचाय्य येन येन योच्यमाणो भवति चन्द्रमाः । तच्छुबन्निव पृष्टरोगी जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति ।

आदित्योऽपि वृक उच्यते यदा वृङ्क्ते ।

अर्थ—(अरुणः) प्रकाशक (मासकृत्-) मासों का बनाने वाला (वृकः) चन्द्रमा (पथा यन्तम्) पथ पर चलते हुए [नक्षत्र गण] को [उन से नीचा होने से] (ददर्श-) देखता है । (उज्जिहीते=उत् जिहीते) ऊर्ध्व जाता है । [प्रत्येक नक्षत्र के योग से], (निचाय्य) [उन को] देख

कर । (तष्टा इष) तरखान के समान (वृष्ट-आमयी) जो पीठ में रोगी है [अर्थात् भुङ्ग कर काम करने से थकी हुई पीठ वाला होता है, और विधाम के लिए उठना है, जैसे चन्द्र उठना है] (वित्तम्) जानो मेरे इस स्तोत्र को (रोदसी) हृद्यावापृषिवी ।

अरण्य = दीर्घि वाचा = प्रकाशक । मास-वृत्-नासो का और, अर्धमासो का वर्तन होना है, चन्द्रमा [जो] वृत् [है ।] अपने पथ पर जात हुए नक्षत्र गण को देखना है । ऊपर उठना है [उन उन नक्षत्रों को] निचाय्य = दक्ष कर, जिम जिस [नक्षत्र के साथ] जुड़ा हुआ होना है चन्द्रमा । तद्व्युत्पन्न इर = तरखान का काम = छीनना करना हुआ जैसे पड़रोगी । जाने मरे इम [स्तोम] को द्यावापृषिवी ।

अदित्य भी वृत् कहाना है, वृद्ध् = वर्जन करता है, अथवा विनाग करता है [अन्वकार को] ।

भाष्य—पद्या यन्तम् = आदित्य, मरु, नक्षत्र, चन्द्र आदि अपने-अपने पथों में चक्क घाट रहे हैं । वेद में पथों का निर्देश है । नक्षत्र चन्द्रमा से ऊपर है । नक्षत्रयोग से चन्द्रमा ऊपर जाता है । मा-सवृत्, मरु दूसरा पदपद शक्यवृत् है । मास चन्द्रमा के कारण बनते हैं । इस का ज्ञान भी वेद द्वारा आदि सृष्टि से चक्रा भा रहा है । चन्द्रमा कितना-कितना उठना है यह जानना चाहिए ।

अजोहवीदधिना वरिंका वामास्त्रो यस्मीमसुंश्चतं वृक्षस्य ।

[ऋ० १।११७।१६ ॥]

आह्वयदुषा अश्विनावादित्येनाभिप्रस्ता । तामश्विनो प्रमुमुचतु
रित्याख्यातम् ।

आपि वृक्ष उच्यते । विकर्तनात् ।

वृक्षश्चिदस्य वारुण उरामथिः । [ऋ० ८।६६।८ ॥] उरण

मथि ।

उरण ऊर्णावानभवति । ऊर्णा पुनर्वृणोत । ऊर्णोतर्वा । वृक्षश्चा
शिन्यपि वृक्षमुच्यते ।

शतं मेपान्वृक्य चक्षदानमृज्जाश्वं तं पितान्धं चकार ।

[ऋ० १। ११६। १६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

जोषवाकमित्यविदातनामधेयम् । जोषयितव्यं भवति ॥ २१ ॥

अर्थ—(अजोहवीत्) बुलाया=पुकारा (अश्विनो) हे अश्विद्वय, (वर्तिका) आवर्तन स्वभाव वाली [उपा ने] (वाम्) तुम दोनों को (आन्तः) मुख से, यत् जो (सीम् अमुञ्जतम्) छुड़ाया (वृकस्य) सूर्य से [ग्रसी हुई को] ॥ आदयत् बुलाया उपा ने है अश्विनो, आदित्य से पूर्ण ग्रसी हुई ने । उस को अश्विद्वय ने प्रमुमुचतुः=छुड़ाया, यह आख्यान है ।

श्वः अपि=कुत्ता भी वृक कहा जाता है । विकर्तनात्=काटने फाड़ने से ॥ (वृकः चित्) कुत्ता भी (अस्य) इस [इन्द्र] का (वारणः) हटाने वाला [तथा] (उरामथिः) उरा=मेढों को मन्यन करने वाला । उरामथिः =उरणमथिः । उरणः, ऊन वाला होता है । ऊर्णा, फिर वृणोति से=वरी जाती है [शीत पीड़ित से ।] ऊर्णोति=आच्छादित करती है अथवा, [शरीर को ढांपती है ।]

वृद्धवाशिनी=ब्रह्मा हुआ शब्द करने वाली=गीदड़ी भी वृकी कही जाती है ॥ (शतं मेपान्) सौ मेढों को (वृक्ये) गीदड़ी के लिए (चक्षदानम्) मारते हुए को अथवा देते हुए को (ऋज्जाश्वम्) ऋज्जाश्व को (पितान्धं चकार) पिता ने अन्धा कर दिया । यह भी निगम होता है ।

६६. जोषवाकम्, यह अविज्ञात=सर्वथा अज्ञात का नाम है । सेवनीय होता है ॥ २१ ॥

भाष्य—यह ऋगंश अश्वि देवताओं के विषय में है । अजोहवीत्—उपा आदित्य से अभिप्रस्ता हुई । उस ने अश्विद्वय का आह्वान किया । अश्वियों ने उसे छुड़ाया । अश्वियों ने उपा को आजि में जीता था (ऋ० १। ११६। १७ के स्कन्द भाष्य का आरम्भ) । इस आख्यान का आधिदैविक अर्थ गवेषण योग्य है । वृक्ये, वृकी के लिए सौ मेढे मारे जाएं । मेप वरुण का पशु है, श० धा० २।५।२।१६ ॥ यह वृकीकौन सी है और सौ मेपों से क्या करेगी । ऋज्जाश्वका

पिता कौन है । इत्यादि अनेक उभ प्रथम मसङ्ग के ११६ और ११७ सूक्त के अध्ययन से उत्पन्न होते हैं । वृक का अंग्रेजी अपभ्रंश wolf, और हिन्दी, पन्जाबी में भेड़िया । वृकी को गीदड़ी भी कह देते हैं ॥ २१ ॥

य इन्द्राग्नी सुतेषु वा स्तुनेष्वृतावृथा ।

जोषवाकं वदतः पञ्चहोषिणा न देवा भसथञ्चन ॥

[ऋ० ६ । ५६ । ८ ॥]

य इन्द्राग्नी सुतेषु वा सोमेषु स्तौति तस्याञ्जीथ । अथ योऽथ जोषवाक वदति रिञ्जन्नप प्राञ्जिनहोषिणी न देवो तस्याञ्जीथ ।

वृत्ति. वृत्तते । पशो धान्न वा ।

महीन् कृत्तिः शरणा तं इन्द्र । [ऋ० ८ । ६० । ६ ॥]

सुमहत्त इन्द्र शरणमन्तरिक्षे वृत्तिरिवेति । इयमपीतया वृत्तिरेतस्मादेव । मूत्रमयी । उपमार्थे वा ।

कृत्तिं वसान् आ चर पिनाकं विभ्रदागाहि । [य० २६ । ५१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

श्वमी कित्तवो भवति । स्व इन्ति । स्व पुनराश्रित भवति ।

कृतं न श्वमी पि चिन्वोति देवने । [ऋ० १० । ४३ । ४ ॥]

वृत्तमिव श्वमी विचिन्वोति देवने । कित्तव किं तयास्तीति शब्दानुवृत्ति । कृतवान्वाशनीनामक ।

सममिति परिग्रहार्थाव सर्वनामानुदात्तम् ॥ २२ ॥

अर्थ—' य) जो. (इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी (सुतेषु) सोम के निचोटे जाने पर (वाम्) तुम दोनों को (स्तवत्) स्तुति करता है (तेषु) = तस्ये=उम का [सोम आदि खाने हो] (ऋतावृथा=ऋतावृथी) हे मत्स्य, यज्ञ वा उदक के बढ़ाने वाले, (जोषवाकम्) चुप वाक् को=जप करत वाले वा थोथा बोलने एए क (पञ्चहोषिणा=पञ्चहोषिणी) हे बहुत यन वाले (देवा=देवी) देवो (न) मही (भसथञ्चन) खाने हो ॥ जो, ह

इन्द्राग्नी, निचोड़े जाने पर, तुम दोनों की, सोमों के, स्तुति करता है, उसका अश्रीयः=नुम खाते हो । अब जो यह जोषवाकं=अज्ञात वाक् को बोलता है, विजञ्जपः=केवल जपगील है, प्रार्जितहोषिणो देवी=हे वहुत यज्ञ वाले देवो, न उसका खाते हो ।

६७. कृत्तिः, कृन्तति से [है । काटता है] यश अथवा, [काटता है शत्रु को], अन्न अथवा [अधिक भक्षित काटता है] । (महि इव कृत्तिः) बड़े यग वा अन्न के समान (शरणा=शरणम्) घर [अन्तरिक्ष में] तेरा हे इन्द्र ॥ बड़ा महान् तेरा हे इन्द्र घर अन्तरिक्ष में यग वा अन्न के समान है । यह भी दूसरी कृत्तिः सूत्रमयी कृत्तिः=कन्था=गुदड़ी इस [कारण] से ही [है । कटे हुए टुकड़ों से बनी होती है ।] उपमार्थ में अथवा, चर्ममयी । (कृत्ति वसानः) चर्ममयी ओढनी को पहने हुए (आचर) आ । (पिनाकं विभ्रत्) पिनाक [धनुष] को धारण किए हुए (आगहि) आ, [हे रुद्र] ॥ यह भी निगम होता है ।

६८. श्वघ्नी=जुआरिया होता है । स्वं=धन को नष्ट करता है । स्वम्=अपने स्वामी के पुनः आश्रित होता है । (कृतम्) कृत को जैसे (श्वघ्नी) जुआरिया (वि चिनोति) ध्यान से ढूँढता है, (देवने) जुए में । कृत के समान जुआरिया ढूँढता है, जुए में । कि-तवः=किं तव क्या तेरे [पास] है, यह किं तव शब्द की अनुकृति है । कृतवान् कृत वाला=पूरे काम वाला [हो] अथवा । आशीः नामकः=यह आशीर्वाद के नाम वाला [है ।]

६९. समम्, सम्पूर्ण=चारों ओर अर्थ वाला सर्वनाम और अनुदात्त है ॥ २२ ॥

भाष्य—य इन्द्राग्नी, मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि यज्ञों में मन्त्रोच्चारण द्वारा स्तुतियां होनी चाहिए । कर्मकाण्ड के विधि का त्याग कर के उस में केवल जप द्वारा देवी सहायता की इच्छा निष्फल होती है । संसार के पुराने इतिहास में तीन धनुष अति प्रसिद्ध थे, पिनाक, आजगव और गाण्डीव । पिनाक शिव का धनुष था । पिनाक नाम वेद के आश्रय से रखा गया था । आजगव भी शिव का ही धनुष था (हेम कोश) । गाण्डीव धनुष अर्जुन का प्रसिद्ध है । अग्नि ने उसे दिया था । कृतम्, जुआ खेलने के लिए जो ढीपा फेंकते हैं, उस के एक पार्श्व को कृत कहते हैं ॥ २२ ॥

मा नः समस्य दूढधरः परिद्वेषतो अहतिः ।

ऊर्मिर्न नावमा बंधीत् ॥ [ऋ० = १ ७५ । ६ ॥]

मा न सर्वस्य दुर्धिय पापधिय सर्वतो द्वेषतोऽहति । ऊर्मिर्न नावमावधीत् । ऊर्मिरूर्णोति । नौ प्रणोक्तया भवति । नमतरा । तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् । दृष्टव्यं तु भवति ।

उतो समस्मिन्ना शिशीहि नो वसो । [ऋ० = १ २१ । = ।]

इति सप्तम्याम् । शिशीतिर्दानकर्मां ।

उरुष्या णौ अघायतः समस्मात् । [ऋ० ५ । २४ । ३ ॥] इति

पञ्चम्याम् । उरुष्यतिरकर्मक ।

अथापि प्रथमावदुवचने ।

नभन्तामन्यकं समे ॥ [ऋ० = १ ३६ । १ ॥] ॥ २३ ॥

अर्थ—मत हमे (समस्य) सब के प्रति (दूढधर) पाप बुद्धि जाने के (परिद्वेषतो) सब ओर क द्वेष की (अहति) हिंसा (बंधीन्) मारे । (ऊर्मि न) जल तरङ्ग जैसे (नावम्) नौका को (आ बंधीन्) मारती है ॥ मत हमे सब क प्रति दुर्धिय पापधिय पाप बुद्धि की सब ओर से द्वेष की अहति = हिंसा, तरङ्ग जैसे नाव को मारता है वैसे मारे । ऊर्मि = ऊर्णोति से आश्रयान्ति करती है । नौ = प्रणोक्तया = पार के तट के प्रति प्रेरित की जाने वाली होती है । नमति से अथवा भुजती है । पर वैसे अनुदात्त स्वभाव वाला नाम होवे । [यह निपात होना चाहिए ।] दृष्टव्यं = [पर नहीं] देने हुए व्यय वाला = विभिन्न विभक्तियों के रूप वाला होता है ॥ (उतो) और (समस्मिन्) सब वाला वा स्वानो मे (आ शिशीहि) वाञ्छित = अभीष्ट दो (न) हमे (वसो) ह धनवान [इन्द्र] यह सप्तमी मे [व्यय है ।] शिशीति दान अर्थ वाला [है ।] (उरुष्य) रक्षा करो = बचाओ (ण = न) हमे (अघायत) पाप चाहने हुए स (समस्मात्) सब से । यह पञ्चमी म [व्यय है ।] उरुष्यति अनर्भव [है ।] और भी प्रथमा के बहुवचन मे [व्यय है ।] (नभन्ताम्) मत होवें (अन्यक) दूसरे [हमारे द्वेषी] (समे) सार ॥ २३ ॥

भाष्य—पाप बुद्धि घाले के सच और के द्वेष की हिंसा । जो अपने स्वार्थ के कारण सच का द्वेषी है अर्थात् मानव में कलुषित भाव उत्पन्न कर देता है, वह महानीच है । उस की हिंसा हमें मत मारे । उसे ही नष्ट करें । नाव इतने सुदृढ़ होने चाहिये कि तरङ्गों उन्हें हानि न पहुंचा सकें । यास्क और उसके पूर्ववर्ती नैरुक्तों के, कि जिन से ले कर उस ने विभिन्न विभक्तियों के प्रयोग निगमों में दर्शाए, ज्ञान का विस्तार इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है ॥ २३ ॥

हविषां जारो अपां पिपर्तिं पपुरिनरा ।

पिता कुटस्य चर्षणिः । [ऋ० १। ४६। ४ ॥]

हविषापां जरयिता । पिपर्तिं पपुरिरिति पृणातिनिगमो वा ।
प्रीणातिनिगमो वा । पिता कृतस्य कर्मणश्चायितादित्यः ।

शम्ब इति वज्रनाम । शमयतेर्वा । शातयतेर्वा ।

उग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन । [ऋ० १०। ४२। ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

केपयः कपूया भवन्ति । कपूयमिति पुनाति कर्मकुत्सितम् ।
दुष्पूयं भवति ॥ २४ ॥

अर्थ—७०. कुटस्य । (हविषा) हवि द्वारा, (जारः) जीर्ण करने वाला (अपाम्) आपः का (पिपर्ति) पूर्ण अथवा तृप्त करता है (पपुरिः) पूर्ण करने वाला (नरा=नरी) हे अश्विद्वय, (पिता) [जो सब का] पालक (कुटस्य) किए गए कर्मों का (चर्षणिः) देखने वाला [आदित्य ।]

७१. चर्षणिः । हवि से आपः का जीर्ण करने वाला । पिपर्ति [और] पपुरिः ये दोनों पृणाति=पूर्णकर्ता है, [का अर्थ देने वाले] निगम [हैं] अथवा । प्रीणाति [=तृप्त करता है का अर्थ देने वाले] निगम [हैं] अथवा । पालक [कुटस्य] =कृतस्य=किए गए कर्म का [चर्षणिः] =चायिता=देखने वाला आदित्य [है ।]

७२. शम्बः । यह वज्र का नाम [है ।] शमयति से अथवा । शातयति से अथवा ॥ (उग्रः) कठोर जो (शम्बः) वज्र है, (पुरुहूत) हे इन्द्र (तेन) उस से [असुरों को मार ।] यह भी निगम होता है ।

७३. केपय, कूपया होन है । कूपयम् मह पवित्र करना है कुत्सित= निन्दित कर्म को । दुष्पूयम्=कटिनाई म धोया जाने योग्य होना है ॥ २४ ॥

भाष्य—अथा अग्नित्वा—आप का जीर्ण करन वांछा । आप परमाप्तुर्वो को जीर्ण आग्नि किम इ ग स करता है, यह सूक्ष्म विद्या है । पुनाति कर्म कुत्सितम् । यह किसी भोक का एक चरण भी हो सकता है ॥ २४ ॥

पृथक् प्रायन्प्रथमा देवहृतयोऽकृण्वन्त अरस्यानि दुष्टरा ।

न ये शेकुर्यद्विषां नार्यमाहर्मिर्मिव ते न्यविशन्त केपयः ॥

[अ० १० । ४० । ६ ॥]

पृथक् प्रायन् । पृथक् प्रयतः । प्रथमा देवहृतयः । ये देवताह्वयन्त । अकुर्यन्त अघनीयानि यथासि । दुरनुकराण्यन्ये । येऽशकनुष्यद्विषा नानमारोहम् । अथ य नाशकनुष्यद्विषा नानमारोहम् । ईर्मिव त न्यविशन्त इदृशे त न्यविशन्त । ऋणे दृशे त न्यविशन्त । अस्मिन्नेव लोके इति वा । ईर्मि इति वादुनाम । सर्मारित्तनरो भवति ।

पता विधा सर्वना तूतुमा कृपे स्त्रयं सूनो सहस्रां यानि दधिपे ।

[अ० १० । ५० । ६ ॥]

पताति मशालि म्यातानि तूर्णमुपाकुर्ये । म्वथ बलस्य पुत्र यानि धन्व ।

असन्नमदस प्राणम् । धनुर्वा । कश्च वा । कश्च कु अश्विन भवति । काञ्चित् भवति । कावऽश्विन भवतीति वा ॥ २५ ॥

अर्थ—(पृथक् प्रायन्) पृथक्=नाना=विभिन्न [मार्गो स] प्रायन्= पद्वे है (प्रथमा) मुख्य [यनकता अथवा योग-भ्यामी] (देवहृतयः) देवों का आह्वान करन वान [=रश्मियो आदि देवों का, अथवा परमेश्वर का आह्वान करन वान (अह्वयन्त) किए हैं (अरस्यानि) अघनीय यग क काम (दुष्टरा=दु +तरा) [जो] दुस्तर=अत्यन्त कठिन है । (न) नहीं जा (शेकु) समर्थ हुए (यद्विषाम्) यज्ञ की (नात्रम्) नीरा को (आरुहम्) चढ़ने को (ईर्मि+एव) यहा [इन लोक में] ही वे (न्यविशन्त) [जन्म-जन्मान्तरो पर्यन्त] वास वान हुए (केपय) पाग चरण वान ॥

पृथक् प्रायन्=नाना मार्गों से पहुँचे । पृथक् प्रयति से । प्रथमाः=मुख्य=सब में प्रधान देवहृतयः=[यज्ञादिकों में] देवों के आह्वानकर्ता= जिन्होंने देवों का आह्वान किया । किया श्रवणीययज्ञ के कामों को, जो कठिनता से अनुकरणीय हैं, दूसरों के द्वारा । जो समर्थ न हुए यक्षियां नावम् आरोढुम्=यज्ञीय नाव को चढ़ने को, ईर्म एव ते=इहैव=यहां, इस लोक में ही वे प्रविष्ट हुए । ऋणे=ऋण [देव-ऋण, तितृ-ऋण, मातृ-ऋण] में ही वे प्रविष्ट हुए । इस लोक में ही अथवा ।

ईर्म=यह वाहू का नाम [है ।] सम्+ईरित+तर=अच्छे प्रकार [अन्य अङ्गों से] अधिक दूर गई होती है ।

७४. तूतुमाकृषे । (एता विश्वा सवना)=एतानि विश्वानि सवनानि =इन सारे स्थानों को (तूतुम्) शीघ्र (आकृषे) करते हो, बनाते हो, (स्वयम्) अपने आप (सूनो सहसः) हे पुत्र बल के, (यानि) जिन को (दधिषे) तू धारण करता है ॥ इन सारे स्थानों को शीघ्र बनाते हो, अपने आप, हे बल के पुत्र, जिन को धारण करते हो ।

७५. अंसत्रम्, अंहसः=पाप=कष्ट वा दुःख से त्राणम् बचाने का साधन । धनुष अथवा । कवच अथवा । कवचम्=कु+अञ्चितं=कुटिल वा टेढ़ा खिंचा हुआ होता है । क+अञ्चितं=थोड़ा खिंचा हुआ होता है । शरीर में खिंचा हुआ होता है अथवा ॥ २५ ॥

भाष्य—जीव प्रायन्=पहुँचे है । कव पहुंचे हैं । मृत्यु के पश्चात् । यह भाव स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है । कौन जीव । मुख्य जीव=संसार के श्रेष्ठतम जीव कौन हैं । जो यज्ञों में देवों का अथवा महादेव=परमात्मा का आह्वान करते हैं । यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है । वे जीव मृत्यु के पश्चात् रश्मि आदि देवों की सहायता से देवयान मार्ग से जाते हैं । यज्ञ की महिमा अपार है । इन यज्ञों के साथ ही जिन्होंने दुस्तराणि श्रवस्यानि=अत्यन्त कठिन श्रवणीय कीर्ति और यश के कर्म किए हैं । जिनका यश श्रेष्ठ पुरुषों में संसार भर में फैल रहा है । इस के विपरीत जो यज्ञ नहीं करते, जो अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास से अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ नहीं करते, जो वेद मार्ग से परे रहते हैं, और जो दान, पुण्य में सदा रत नहीं हैं, उन का लोक इह लोक=मर्त्य लोक है । वे सदा जन्म-मरण के बन्धन में बन्धे रहते हैं । मुक्ति उन से परे है । वे केपयः=पापाचरण वाले हैं । मिथ्या भाषण, चोरी आदि भी पाप कर्म हैं, पर यज्ञ से परे रहना भी पाप है ।

वेद में पुनर्जन्म—मन् १६३४ त पूर्व की घना है । मोक्षेभ्यः प्रैश्वानञ्च
ने काहीर में पंजाब विश्वविद्यालय में व्याख्यान दिया कि आपों का पुनर्जन्म का
मिद्धाना वेद में नहीं है । यह बहुत उत्तर काळ में उपनिषदों में शिखा गया ।
हम व्याख्यान से अगले अथवा एक दो दिन पश्चान वे दयानन्द महाविद्यालय
काहीर के अनुसंधान विभाग में आए । पुनर्जन्म के विषय पर बात करते हुए
मैंने अथर्व वेद का मन्त्रार्थ—अपो वा शकलु यदि तत्र त दिनमोषधीषु प्रति
तिष्ठा शरीरे ॥ १० । १६ । ३ पत्र । तत्र अथवा एक वैकृतानञ्च ने कहा कि
यह इस पर विचार करते । प्रस्तुत मन्त्र भी स्पष्ट शब्दों में पुनर्जन्म और मुक्ति
का विधान करता है ।

अथ में प्रविष्ट होते हैं । मोक्ष मार्ग में सकलता के लिए अर्थों का उत्तरना
परम-अवश्यक है । वेद धर्म में देव अथ आदि अथ सुप्रसिद्ध है । ईमे=बाहु का
नाम है । अमेती में इस पद का अर्थ अथ अथ है । असत्रम्=पाप अथवा कर्म
से बचाने का साधन होता है । धनुष दुष्ट, पापी चोर आदि दूरस्थ से बचना
है और कवच सीधा शरीर की रक्षा करता है ॥ २२ ॥

प्रीणीताभ्यास्तुहितं जयाय स्वस्तिनाहं रथमित्कृणुचम् ।

द्राणाहात्रमवृतमश्मचकर्मन्त्रकोशं सिञ्चता नृपाणाम् ॥

[अ० १० । १०६ । ७ ॥]

प्रीणीताभ्यास्तुहितं जयाय । जयन को हितमस्तु । स्वस्तिनाहं रथं
कुरुष्वम् । द्रोणाहात्रम् । द्रोण द्रममय भवति । आहात्र आहात्रान् ।
आवह आवहनात् । अत्रतोऽश्वातिनो महा-भवति । अश्मचकर्ममश्मच
कर्म । असत्रचकमिति वा । असत्रकोशम् । असत्राणि व कोशस्थानी
यानि सन्तु । कोश कुष्णाते । विकुपितो भवति । अयमर्षीतर कोश
पतस्मादेव । संचय आचितमात्रो महान्भवति । सिञ्चत । कृणुत
नृपाणाम् । कृपकर्मणा अपाममुपमिमीते ।

काकुद् ताहिरस्याचक्षत । जिह्वा फोकुवा । सास्मिन्धीयत । जिह्वा
फोकुवा । फोकूपमाना वर्णान्नुदतीति वा । [फोकूपतर्वा रथाचक्षुष्य
कर्मण ।] जिह्वा जोहुवा । तालु तरते । तीर्णेतममङ्गम् । अतन्वर्वा
स्याद्विपरीतात् । यथा तलम् । अतस्यविपर्यय ॥ २६ ॥

अर्थ—(प्रीणीत) तृप्त करो (अश्वान्) अश्वों को, (हितम्) हित को, भलाई को (जयाथ) जीतो । [स्कन्द, हितमिति क्रियाविशेषणम् ।] (स्वस्ति-वाहम्) अविनाश वाहन=उठाने वाला रथ (कृष्णध्वम्) करो= बनाओ । (द्रोण+आहावम्) द्रोण=द्रुम=लकड़ी के आहाव स्थानीय (अवतम्) कूप को (अश्मचक्रम्) पत्थर के समान सुदृढ़ चक्र वाले को (अंसत्रकोशम्) कष्ट से बचाने वाले कोश वाले को (सिञ्चत) सिञ्चित करो (नृपाणम्) नरों के पानी वाले को, अथवा जहां नर मारे जाते हैं, ऐसे को ॥ तृप्त करो अश्वों को, श्रेष्ठ हित को जीतो । जयनम्=विजय तुम्हारा हित हो । अविनाश के वाहक रथ को बनाओ । द्रोण+आहावम्=लकड़ी के आहाव स्थानीय को । द्रोणं=लकड़ी का होता है । आहावः=आह्वान करने से । आवहः=ले चलने से । अवतः=अव+अतितः=नीचे को गया हुआ महान् होता है । अश्मचक्रम्=अशनचक्र=व्यापक चक्र वाला, असनचक्रम्, फेंकने के चक्र वाला अथवा । अंसत्रकोशम्=धनुष वा कवच तुम्हारे कोषों के स्थानीय हों । कोशः, कुष्णाति से, विकुण्ठितः=अनेक स्थानों में फाड़ा हुआ होता है । [फाड़-फाड़ कर सिया होता है ।] यह भी दूसरा [धन] कोश इम से ही है । सञ्चयः=कोश, आचितमात्रः=एकत्र की गई मात्रा वाला महान् होता है । सिञ्चत=सींचो । नृपाणम्=नरपाणम्=नर है पानी जिस [कूप] का । कूप के कर्म से संग्राम को उपमा देता है ।

७६. काकुदम्, तालु को कहते हैं, जिह्वा कोकुवा [होती है ।] वह इस [तालु] में धीयते=धारण की=रखी जाती है । जिह्वा कोकुवा [है ।] कोकूयमाना=कूकती हुई=शब्द करती हुई वर्णान्=वर्णों को नुदति=प्रेरित करती है अथवा । [कोकूयति से अथवा होवे, शब्द अर्थ वाले से । जिह्वा=जोहूवा है=वार-वार बुलाते हैं । [अथवा उस से अन्न का] होम करते हैं । तालु, तरति से=तीर्णतमम्=कैला हुआ अङ्ग [है ।] नतति से अथवा होवे, विपरीत किए गए से । जैसे तल । लता यह [उस लतति से] विना विपर्यय के [है] ॥ २६ ॥

भाष्य—युद्ध में अश्वों को, पशु अथवा यान्त्रिक अश्वों को सदा तृप्त करो । तुम्हारा विजय भी भलाई का कारण हो । इससे इन्द्रिय-लोलुपता और हेय-स्वार्थों की सिद्धि न हो । तुम्हारे रथ स्वस्ति ऐसे हों, जो नष्ट न हो सकें । ऐसा

रथ अर्जुन का था । तुम्हारे रथ स्थानी आबुध शत्रु द्वारा नष्ट न हो सकें । आप कुप स उपमा में । युद्ध भला नहीं । पर यदि सत्य के लिए युद्ध द्विद जाए तो शत्रु शत्रुओं स कुप भर ले । तुम्हारा क्रोध-रात्रकोश युद्ध सामग्री स सदा भरपूर रह ॥ २६ ॥

मुद्गेनो अग्नि वरुण यस्य ते मम मिन्वयः ।

अनुत्तरन्ति वाक्चुर्द मूर्ध्म सुपिरामिन ॥ [अ० = १६६।१० ॥]

[सुन्वस्व कत्याणदेव । कमनीयदेवो जा भवसि वरुण । यस्य त सप्त सिन्धुव । सिन्धु अघणात् । यम्य त मम श्रोतामि । तानि त काकुदमनुत्तरन्ति । मूर्ध्मि कत्याणोर्मि । श्रोत सुपिरमनु यथा ।

वीरिष्ट नैत्रीकिरन्तरिक्षमजमाह । पूर्वं वयन । उत्तरमिरत । यथासीरन्त्यम्मिन् । भासि वा । तदन्तम्यामृच्युदाहरन्ति । अपि निगमो भवति ॥ २७ ॥]

[अत्र पाठ] सुन्वस्व कत्याणदेव । यस्य त देव मम सिन्धुव प्राण्यायानुत्तरन्ति वाक्चुर्दम् । मूर्ध्म सुपिरामिन । अपि निगमो भवति ॥ २७ ॥

अर्थ—जाभन देव तुम कत्याण देव । सुन्दर देव अथवा होने हो तुम ह वरुण । जिस क तरे सप्त सिन्धु । सिन्धु = अघणात् = वहन स । जिस क तर सप्त श्रोतामि = भरने । व [साता] तरे काकुद = आनु = ममुद्र की ओर अनुत्तरन्ति = वहने हैं । मूर्ध्मि = कत्याण तरङ्ग वाला । श्रोत = सुपिरम् अमु = अचुर्द नाम क पीठ यथा ।

७७ वीरिष्टे । वीरिष्टम् नैत्रीकि [का पाठ है ।] अन्तरिक्ष को जमा कहा [नैत्रीकि न ।] पूर्व [माग = वी] वयति म [है ।] अगत्या [रि] इरति म [३ ।] यथासिन्धुमी इरन्ति = उडहन है इम म । भासि = अजय अथवा । यह इम अत्र म उदाहरण से हैं । [यद् अर्] निगम भी ३ ॥ २७ ॥

माध्य — सुन्व अच् व्याकरण महाभाष्य १।१।१ में उरुल है । वरुण कत्याण देव है । आप क मध्य में ही वरुण जाता है । मन्त्र कहता है— यथासा गता यदणा यानि इत्य । अ० ७।११।३ ॥ देव कण्य की

परमात्मा दोनों कल्याण के पुञ्ज हैं । निरुक्त के लघुपाठ में देव का अर्थ दान किया गया है । इस का भी वही भाव है, अर्थात् कल्याण का दान देता है । अन्तरिक्षस्थ सातों नदियां अन्तरिक्षस्थ समुद्र की ओर दौड़ती हैं । उन की उर्मियां कल्याणकारिणी हैं ।

विरिट्टे, यह यास्क पठित रूप है । परन्तु तैटीकि ने वीरिट्टम् रूप पढ़ा था । वह इस का अर्थ अन्तरिक्ष करता है । अन्तरिक्ष के वयांसि पत्नी, ये पार्थिव पत्नी नहीं हैं । देखो वेदविद्यानिदर्शन पृ० १२७-१४२ ॥ २७ ॥

प्र वावृजे सुप्रया वह्निरेपामा विश्पतीव वीरिट्ट इयाते ।

विशामक्नोरुपसः पूर्वहृतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ॥

[ऋ० ७ । ३६ । २ ॥]

प्रवृज्यते सुप्रायणं वह्निरेपाम् । एयाते सर्वस्य पातारो वा पालयितारो वा । वीरिट्टमन्तरिक्षम् । भियो वा भासो वा ततिः । अपि वोपमार्थे स्यात् । सर्वपती इव राजानो । वीरिट्टे गणे मनुष्याणाम् । राज्या विवासे पूर्वस्यामभिहृतौ । वायुश्च नियुत्वान् । पूषा च स्वस्त्ययनाय । नियुत्वान्नियुतोऽस्याश्वाः । नियुतो नियमनाद्वा । नियोजनाद्वा ।

अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः ।

परौ सीमिति व्याख्यातम् ।

एनमेनामस्या अस्येत्येनेन व्याख्यातम् ।

सृणिरङ्कुशो भवति सरणात् । अङ्कुशोऽञ्जतेः । आकुचितो भवतीति वा ।

नेदीय इत्सृण्यः पक्रमेयात् । [य० १२ । ६८ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

अन्तिकतममङ्कुशादायात् । पक्रमौपधामागच्छत्विति । आगच्छत्विति ॥ २८ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

अर्थ—(प्रमात्रे) = [सत्य—प्रत्यक्ष, प्रतीति] मित्रं ज्ञो
 है (सुप्रभा) मृत्यु न ममन करने है देवता त्रिप पर [गी] (ब्रह्म)
 का अन्तर्गत धर्म का शरी, (एवम्) इन [अत्रिह् यत्रनातो] की
 (विद्वन्) मत्र न म्यामी तथा देता (इव) पदार्थ (ब्रह्मिटे)
 अनरिक्त म (का इवाव) अर्थ । (विद्याम्) इतिह् और यत्रना के
 (इत्यन्ते) कल्याण व त्रि (अन्तेयस) रानि व [पञ्च] उदा व
 (पूर्णतः) प्रथम बुनाये म (वायु पूना त्रिपुत्रान्) वानु-निदुतों वायु
 और दूता ॥ प्रकृत्यन्त=बिनाई ज्ञो है सुमात्रम्= देवताओं व त्रि
 कल्याण पूना त्रि वाती ब्रह्म = दूता अन्तर्गत एवाम्=अन [देवताओं]
 की । एवान्=आ+इवान्=अर्थे मत्र के रक्षक वा पानक अन्तर्गत । ब्रह्मिटे=
 अनरिक्तम् । [इन अनरिक्त म] त्रियो वा=अर्थ वा अन्तर्गत भास वा
 प्रभावा का अन्तर्गत त्रि-विस्तर होता है । अन्तर्गत उदा अर्थ म ही ।
 मत्र क रक्षक शक्तौ=ले रक्षक=दूता और प्रथम मेत्रानि क सन्तान
 [जै व] ब्रह्मिटे=अन मनुज्यान्=अने मनुष्यों=निदुतों के समूह म
 टहरे हुए । त्रि की विमाने=मन्त्रानि पर, पटन बुनाये में, वानु जो निदुतों
 वायु [=निदुत नानक अर्थों वायु] और पूना कल्याण क त्रि ।
 =निदुतन=त्रिद्व [है] इन के छोडे । त्रियुत=त्रिपमनात् वा=त्रिपमन म
 रक्षने=तोकन म अन्तर्गत । त्रिपेदन=बोडने से अन्तर्गत ।

७८= अत्रि अत्रि [अन्तर्गत] स, कात्तुम्=अन के त्रि, यह गात्रि
 [कहता है ।]

७९ परि ८० इम् ८१ सभिम् यह [१।३, १।९ १।७ में]
 व्याख्यान है ।

८२ एतम् ८३ एताम् । अत्रा, अत्र [इन दो पदा न व्याख्या
 किना म्या [है ।]

८४ सुखि अहुता होता है, सख्यन्=वक्तने स, कल्पे स । अहुता
 अत्रि स कल्पा है [हाथों के त्रि पर ।] अहुतानि कुत्रि कर्पन्
 देता होता है अन्तर्गत ॥ (नेदीव) अन्तर्गत सपीन (इव) पदार्थ
 (सुख) अहुता [प्रयोग] म [पहले ही] (पदम्) अत्र (एवम्)
 आत्र [हमात्र पर मे ।] यह भी निगम होता है । अन्तर्गतमम्=अन्तर्गत
 सपीन अहुताम्=अहुता से [पहले] आपात्=आये । पदम्+अत्रिपम्
 का औपव=अत्र आये । आये ॥ १८ ॥

भाष्य—बर्हि, वेदी पर कुशा के बिछाने पर जर्मन श्रोतबनवर्ग ने उपहास किया है ।^१ वह कहता है कि यह असभ्य पुरोहितों का कर्म है ।^१ अज्ञानी को दर्भ की पवित्रता का ज्ञान नहीं था । ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है—ता ह्यैताः शुद्धा मेध्या आपो वृत्राभिप्रक्षरिता यद्दर्भाः । अर्थात्—वृत्र=महान् मेघ से गिरने वाले वे शुद्ध. पवित्र आपः थे, जो दर्भ के रूप में ओपधि बन कर उगे । इसी लिये दर्भ वेदि में बिछाये जाते हैं । इस लिए इस के पवित्रे बनते हैं । पुनश्च मैत्रायाणी संहिता में प्रवचन है—अच्छिद्रेण पवित्रेण-इति । एतद्वा अच्छिद्रं पवित्रं यत्सूर्यस्य रश्मयः ।.....इन्द्रो वै वृत्रमप्सु अध्यहन् । तासां यद्यज्ञियं मेध्यमासीत् तदुदक्रामत् । ता इमा ओपधयोऽभवन् । तासां वा एतत्तेजो यद्दर्भाः । एता वै शुष्का आपः । यद्देवासांस्तेजस्तद्वरुन्धे । त्रयीर्वा आपः । दिव्याः पार्थिवाः समुद्रियाः । ताः सर्वा दर्भो विवस्थैत् । तस्माद्दर्भः पवित्रम् । ३ । ६ । ३ ॥ दर्भ की पवित्रता का यह रहस्य है । पक्षपाती ईसाई इसे क्या जान सकता है । यह पवित्रता गिरजाघरों की पवित्रता से शतशः गुणा बढ़ी है । ईसाई यहूदी गुट के पक्षपाती लोग इसे क्या जानें । अन्तरिक्ष में भय=अन्धकार और प्रकाश का विस्तार होता है । लोकालोक यहीं हैं । प्रकाशमयी रश्मियों के लिए यहां खुला क्षेत्र है । वायु अपने नियुक्तों के साथ और पूषा स्वस्ति के लिए । वायु के अथवा वायव्य परमाणुओं के योग-विभाग से- बने है । आपः का उन में प्रभाव है । पक्क=रसमय अन्न ॥ २८ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

त्वमग्ने शुभिस्त्रमांशुशुक्लशिश्रुमद्भयस्त्वममनस्परि ।

त्वं वनेभ्यस्त्वमोर्षधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायमे शुचिः ॥

[ऋ० २ । १ । १ ॥]

त्वमग्ने शुभिर्होभि त्वमांशुशुक्लशिश्रु । आशु इति च शु इति च
क्षिप्रनामनी भवन् । शिश्रुत्तर । सणोत् । आशु शुचा सणोतीति
षा । सतोनीति षा । शुक् शोचत पञ्चम्यर्थे षा प्रथमा । तथा द्वि
षाक्यसंयोग । आ इत्याकार उपसर्गं पुग्स्तान् । विर्धीर्धितञ्ज उत्तर ।
आशुशोचयिषुरिति । शुचि शोचत । उपसर्गनिर्गमणं । अयमपीतर
शुचिरेतन्मादेव । नि पित्तमस्त्रापापकमिति नैरुक्ता ।

इन्द्र आगांभ्यस्परि मर्षीभ्यो अमर्षं कर्तु ।

[ऋ० २ । ४ । १२ ॥]

आशा दिशो भवन्ति । आसदनात् । आशा उपदिशो भवन्ति ।
अभ्यशनात् ।

काशिमुष्टि प्रकाशनात् । मुष्टिमौचनाद्वा । मोपलाद्वा ।
मोहनाद्वा ।

इमे विदिन्द्र रोदसी अपारे यत्सद्गृभ्णा मंधरन्काशिरित्तं ।

[ऋ० ३ । ३० । २ ॥]

इमे विदिन्द्र रोदसी रोधसी दानापृथिव्यौ । विरोधनात् । रोध
कूल निरुणद्धि स्रोत । कूलं रजत । विपरीतात् । लोष्टोऽविपर्ययेण ।
अपारे दूरपारे । यत्सद्गृभ्णसि मभवन् । काशिरित्तं महान् ।

अहस्तमिन्द्र सं पिणकुणास्म । [ऋ० ३ । २० । २ ॥]

अहस्तमिन्द्रं कृत्वा सम्पिण्डं परिकल्पन् मेघम् ॥ १ ॥

अर्थ—१. आशुशुक्षणिः, तू हे अग्ने (द्युभिः) अहोभिः=अहः से, [उत्पन्न होता है], तू (आशु शुक्षणि)=आशु+शु+क्षणिः=शीघ्र दीप्ति द्वारा [अन्वकार का] हिंसक [है], तू (अद्भ्यः) आपः से [आदित्य मण्डल में], (त्वम्) तू (अश्मनः) अश्मा पृथ्वि के घर्ष से (परि) चारों ओर से [उत्पन्न होता है ।] तू (वनेभ्यः) [अन्तरिक्षस्थ] वनों से, तू ओषधियों से, तू नरों के हे नरपते (जायसे) उत्पन्न होते हो, [तुम जो] शुचिः [हो] ॥

तू अग्ने, द्युभिः=अहोभिः=अहों से, तुम आशुशुक्षणिः। आशु और शु शीघ्र के नाम होते हैं। [आशु और शु से] क्षणिः उत्तर [पद है।] क्षणोति से, नाश करता है। शीघ्र दीप्ति से क्षय करता है [अन्वकार का] अथवा। सनोति=देता है अथवा। शुक्र, गोचति से, दीप्त करता है। पञ्चमी के अर्थ में अथवा आशुशुक्षणि प्रथमा [मे है।] वैसे ही [मन्त्र के अधिक पदों अद्भ्यः, अश्मनः आदि में—] वाक्य का संयोग है। [आशुशुक्षणिः में] आ यह [जो] आकार [है] उपमर्ग [है] पहले। चिकीर्षितजः=सन्नन्त से उत्पन्न हुआ उत्तर [भाग शुशुक्षणिः है।] आशुशोचयिषुः इति=बार-बार प्रदीप्त करने वाला [यजमान।] शुचिः, गोचति से, ज्वलति अर्थ वाले से [है।] यह भी दूसरा शुचिः [=शुद्ध=अर्थगोचता वाला] इस [कारण] से ही [है।] निः पिक्तम्=निकला गया है इस से पापकम्=पाप, यह नैरुक्त [कहते हैं।]

२. आशाभ्यः (इन्द्र) इन्द्र (आशाभ्यः) दिशाओं और उपदिशाओं से (सर्वाभ्यः) सारी से (अभयम्) निर्भय हमें (परि करत्) [आप] करो ॥ आशा, दिशाएं होती हैं। आसदनान् [स्कन्द—शदिर्गत्यर्थः। तं तमर्थं प्रत्यागमनात्।] आ+सदनात्=एक दूसरे के प्रति ठहरने से। आशाः, उपदिशाएं होती हैं। अभ्यशनात् सर्वत्र व्यापने से।

३. काशिः=मुष्टिः=मुट्टी, प्रकाश करने से। मुष्टिः=मोचन करने से अथवा। मोषणात्=चुराने से अथवा, [इस में चोरी करके छिपा कर ले जाते हैं।] मोहनात्=अज्ञान में डालने से अथवा [इस में क्या है, इस का ज्ञान न होने से] ॥ (इमे चित्) इमे वा=ये अथवा (इन्द्र) हे इन्द्र (रोदसी) घावापृथिवी (अपारं) नहीं पार वाले=अति दूर पार वाले (यत्) जिस से

(संश्रृम्णा) [तुम्] पकड़े हुए हो, (मघवन्) हे महान धन, (काशि) मुष्टि म (इत्) अहो [वह] (तै) तेरी [मुष्टि ।] ये अथवा हे इन्द्र रौदसी=रौधसी=धावापृथिवी । विरोधनात्=विशेष रोक्ने से । रोध=कूलम्=किनारा [होता है ।] नि+रुधञि=रोक्ता है, स्रोत=प्रवाह को । कूलम्, रजति से है, [रुक् ने] निपरीतात्=उलट करके स रुक्=कूल । लोट [उस रुक्+त से, अर्थात् लुग्+त=चोट] अविपर्ययण=बिना उलटा करने से । अपारे=दूर पारे=दूर किनारे वाले । जो पकड़े हुए हो, हे मघवन् [वह] मुष्टि तेरा महान् [है] ॥

४ कुणारुम्, (अहस्तम्) बिना हाथ [वा करके] इम को (इन्द्र) हे इन्द्र (संपिणक्)=संपिण्डि=सचूर्णय=पीस डे, कुणारुम्=[इम] वणने=गूद करने वाले [मेष] को । बिना हाथ वा हे इन्द्र कर के सम्यक् पीस दो इम शब्दशील मेष को ॥ १ ॥

भाष्य—शुचि —यह मन्त्र शुचि अग्नि की स्तुति में है । शुचि अग्नि आदित्य में है । वायु पुराण २६।२ का श्लोकार्थ है—शुचि सौरस्तु विज्ञेय । इसी प्रकार बृहदेवता १।६६ का उत्तरार्थ है—अमुग्निमन्त्रेण विज्ञेस्तु लोचि ऽग्नि शुचिरुच्यते ॥ पवमान=भूमिस्य, पावक=अन्तरिक्षम् और शुचि = सौर, इन तीनों का भेद न समझने से वेदार्थ कदापि ज्ञान नहीं होता । इन तीनों में परमाणुओं का योग विभाग विभिन्न है । शुचि अग्नि के रूप पर प्रकार चलने वाला एक शब्द का उत्तरार्थ है—घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा शुमद्वि भाति भरतेभ्य शुचि ॥ श्व० ५।११।१ ॥ अर्थात्—घृत की प्रतीक वाजा, महान् तेज से युक्त, दीप्तिमान् विशेष चमकता है, भरताग्नि के परमाणुओं से शुचि =सौराग्नि ।

शुभि जायसे । इस अग्नि की उत्पत्ति में अनेक कारण हैं । एक कारण शु =अह है । निवण्टु १।२ में शु पद अहर्नामों में पढ़ा गया है । यदि वाक् का यह परम्परागत प्रामाणिक अर्थ न माना जाए तो एक महान् सत्य दृष्टि से ओझल हो जाएगा । दुर्ग और रक्तु ने वाक्यिक प्रक्रिया में ही निमज्जित होन के कारण इस अर्थ के मूल तत्त्व पर विचार नहीं किया । श्रद्धोपात्र में अह क्या पदार्थ है यह जानना आवश्यक है । अहोरात्र सवसर का विभाग है । आदित्य मण्डल में सवसर का घेरा है । यह सवक्षर दैवात्तर अग्नि का योग रहता है ।

मै० सं० में प्रवचन है—संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः । २ । ६ । २ ॥ इस संवत्सर में ३६० अहः और ३६० रात्रि हैं । इन का चक्र चल रहा है । अहः के सम्मुख भाग विशेष के खाने से शुचिः अग्निः उत्पन्न होता रहता है । अहः सुवर्णा कुशी है—ती० मा० का प्रवचन है—स यदादित्य उदेति । एतामेव तत्सुवर्णा कुशीमनुसमेति । अहरंय सुवर्णा [कुशी] अभवत् । १ । ५ । १० । ० ॥ इसी के कारण शुचि अग्निः उत्पन्न होता है । यही आदित्य में—अद्भ्यः=आपः परमाणुओं से भी यही अग्निः उत्पन्न होता है । अश्मा भी यहीं पर और अन्तरिक्ष में भी है । अस्तौ वा आदित्यो ऽश्मा पृथ्विः । २० मा० ६ । २ । ३ । १४ ॥ यो अश्मनोऽन्तरिक्षि जजान । अ० २ । १२ । ३ ॥ अर्थात् अश्मा के अन्दर इन्द्र अग्नि को उत्पन्न करता है । वन और ओषधियाँ अन्तरिक्ष में हैं । ये सब ही शुचि अग्निः की उत्पत्ति में योग देते हैं । ऐसी माया का स्पष्ट करना भविष्य के वेदाभ्यासियों का काम है ।

आशा=दिशाओं और उपदिशाओं से ही आवापृथिवी स्तम्भित है । इन की सहिमा भी अनुपम है । इसी प्रकार इन्द्र की मुष्टि से बाहर के घबुत घेरे से अपारं रोदसी, पकड़े गए हैं । जैसा आरम्भ में ये दूर दूर हो रहे थे, अब ये दूर नहीं हो रहे हैं । आधुनिक वैज्ञानिकों का यह विचार सत्य नहीं कि ये अब भी दूर-दूर हो रहे हैं । कुणारुम्=मेघ । इसे इन्द्र पीसता है ॥ १ ॥

अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार ।

सुगान्पथो अक्रणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः पुरुहृतं धमन्तीः ॥

[अ० ३ । ३० । ६० ॥]

अलातृणोऽलमातर्दनो मेघः । वलो वृणोतेः । व्रजो व्रजत्यन्तरिक्षे गोरेतस्या माध्यमिकाया वाचः । पुरा हननाद्भयमानो व्यार । सुगान्पथो अक्रणोन्निरजे गाः । सुगमनान्पथोऽकरोत् । निर्गमनाय^३ [= निरजाय] गत्राम् । प्रावन्वाणीः पुरुहृतं धमन्तीः । आपो वा वहनात् । वाचो वा वदनात् । बहुभिगाहृतमुदकं भयति । धमतिर्गतिकर्मा ॥ २ ॥

अर्थ—५. अलातृणः । (अलातृणः) अल=अलम्, आतृणः=आतर्दनः जो समर्थ=पर्याप्त है आतर्दन=छेदन के लिए, (वलः) मेघः

१. जैनों का भी यही मन्तव्य है ।

२. सायण द्वारा ऋग्भाष्य में स्वीकृत पाठ ।

(इन्द्र) हे इन्द्र, (यज्ञः) [जो मेष] चलने-फिरने का स्थान है (गोः) माध्यमिक स्तनमित्यु वाक् का (पुग) पूर्व ही (इन्द्रोः) [तुभ] हिनर = ताडन के ताडन से (भयमानः) डरना हुआ (व्याट) विशिष्ट हो गया । (सुगान्) सरचना में गमन योग्य (पथ) मार्गों को (अहृणोत्) बनाया (निरजे) निर्गमन के लिए (गाः) जलो के (प्र आरन्) निरन आई (घाली) आप. (पुरहृतम्) बहूतो से आहत की गई = उदक रूप वाली (धमन्तीः) गति करती हुई ॥ छेदन योग्य मेष, वरुः = वृणोति से, [अ वरण करना है भूमि पर] यज्ञ = चरना है अन्नरिक्त में, गो = इन्द्र माध्यमिक वाक् का । पूर्व हनन से डरता हुआ छिद्र भिन्न हो गया । सरलता से गमन योग्य मार्गों को बनाया, निर्गमनाय = निरनने के लिए गोओं के । प्रारन् = निरन आई घाली = आप, उदक स्तोक, बहूतो में बुनाई गई, चरनी हुई । घाली = आपः अथवा, घट्टनात् = बहने से, वाच अथवा, बोलने से, पुरहृतम् = बहूतो से बुनाया गया उदक होता है । धमति गत्यर्थक है ॥ २ ॥

भाष्य — अलात्सु, जो वेदा वा सके । मेष वेदां वा सक्त है, ऐसा मेष । चल = प्रादित्य को अथवा भूमि को टाँपने वाला मेष । यह नाम इन्द्र के विषय में बहुधा मिलता है । यज्ञ = मेष । ये तीनों नाम मेष के हैं । पहले गो पद का वाक् अर्थ है, और अगले गा पद का अर्थ उदक है + घाली और पुरहृतम् पद भी उदक अर्थ में हैं । योरोप का कश्चित् "भाषा विज्ञान" यही अशुभाग्र सहायक नहीं हो सकता । यह युवा आद्यम्बर है ॥ २ ॥

उद्धृत् रत्नः सहमूलमिन्द्र वृक्षा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि ।

आ कीर्ततः सल्लूकं चकथं ब्रह्मद्विषे तपुषि हेतिमेस्य ॥

[श्रु० ३।२०।१७ ॥]

उद्धर रक्ष. सहमूलमिन्द्र । मूलं मोचनाद्या । मोपलाद्या । मोहनाद्या । वृक्ष मध्यम् । प्रति शृणीहाग्रम् । अग्रमागतं भवति । आ कियतो दशान् । सल्लूकं संलुब्ध भवति । पापकर्मिणि नेरुक्ता । सरहक वा स्यात् । सत्तैरभ्यस्तान् । तपुषिस्तपनेः । हेतिर्हेतेः ।

त्यं चिदिस्था कंतपर्यं शयानम् ॥ [ऋ० ५।३२।६ ॥]

सुखपयसं सुम्बमस्य पयः ।

विन्नह् आपो भवन्ति । विन्नवणात् ।

व्या इव रुरुहुः सुप्त विमुहः । [ऋ० ६।७।६ ॥]

इत्यपि निगमो भवन्ति ।

वीरुध ओपधयो भवन्ति । विरोहणात् ।

वीरुधः पारयिष्णवः । [ऋ० ६०।६७।३ ॥]

इत्यपि निगमो भवन्ति ।

नक्षदाभम् । अशनुवानदाभम् । अभ्यशनेन दम्नोतीति वा ।

नक्षदाभं ततुरिं पर्वतेष्णाम् । [ऋ० ६।२२।२ ॥]

इत्यपि निगमो भवन्ति ।

अस्कृधोयुरकृधवायुः । कृध्विति हस्यनाम । निरुत्तं भवति ।

यो अस्कृधोयुरजरः सर्वान् । [ऋ० ६।२२।३ ॥]

इत्यपि निगमो भवन्ति ।

निश्रम्भा निश्रथ्यहारिणः ॥ ३ ॥

अर्थ—६. सललूकम् । (उत् वृद्ध) उखाड़ी (रक्षः) राक्षस को (सह मूलम्) साथ मूल के (इन्द्र) हे इन्द्र (वृश्च) छेदन करो (मध्यम्) मध्य को, (प्रति अग्रम्) जो आगे हुआ (शृणीहि) उसे स्रष्ट करो । (आ कीवतः) किसी स्थान से=दूर से (सललूकम्)=संलुब्धं=लोभी को (चकर्त्त) [समाप्त] करो । (ब्रह्मद्विपे) वेद अथवा ब्राह्मण द्वेषी के लिए (तपुर्वि हेतिम्) तापक वज्र को . (अस्य) फेंक ॥ उखाड़ी राक्षस को साथ मूल के हे इन्द्र । मूलं=छुड़ाने से, मोपणात्=चुराने से । मोहनात्=धोखा देने से, मोहित कर देने से । काटो मध्य को, नाश करो अग्र को । अग्रम्=[बढ़ कर]-आया हुआ होता है । आ कियतो देशात्=

किमी देश में ने कर । सनलूकम्=तोभी होता है । पापी यह नैस्त
[कहते हैं ।] सरम्क [मायण पाठ - सरम्क] अयया होवे । सति म
अभ्याम=द्वित्व हो कर । तपुवि तपनि स । हेति हन्ति से ।

७ कल्पयम् । (त्यम् चित्) उम को ही (इत्था) उस अन्तरिम में
(कल्पयम्) मुखकर पय जाने को (शपानम्) ठहरे हुए को [इद्र न
मारा ।] मुखकर पय जाने को । मुखकर है इम का पय ।

८ विष्णुद आप होन है । विष्णवणान्=विविध रूप में बहने से ।
(यथा इव) शाखाओं के समान (रुद्रु) जगे सात (विष्णुद) विविध
सवण करने वाले नद । यह भी निगम होता है ।

९ वीरुध ओपधिया होनी हैं । वि+गेहणात्=विगेप उगने से ॥
(वीरुध) ओपधिया (पारयिष्णुम) पार ल ने वाली । यह भी निगम
होता है ।

१० नक्षदाभम्=अशनु गानदाभम्=अभ्यशनेन=समीप पहुँच कर
इच्छोति=मास्ता है ॥ (नक्षदाभम्) समीप पहुँच कर मारने वाले को
(तनुरिम्) खरिल गति वाले को (पर्यतष्ठाम्) पवत=मय पर स्थित
[इद्र को ।] यह भी निगम होता है ।

११ अस्फुधोयु=अस्फु-आयु =न अल्प आयु वाला । इधु यह हस्व=
अल्प का नाम है । निरुक्तम्=कटा हुआ होता है । (य) जो (अस्फुधोयु)
न अल्प आयु वाला=खर स्वाधी (अजर) न जीर्ण होने वाला (स्वाम्)
मुख वाला [धन है तम् ईमहे=उपे हम चाहते हैं ।] यह भी निगम
होता है ।

१२ निभृम्भा=निभ्रथ्य द्वारिण्=अशिथिल गति में ले जाने
वाले ॥ ३ ॥

भाष्य—अन्तरिक्षस्य राक्षस और उसके मूत्र का ज्ञान आवश्यक है । वह
सैव आदि अमुर नहीं हो सकता । उस का म य और प्रयम भी जानना चाहिए ।
राक्षसों का अमीय=रोग से सम्बन्ध चक्रव है । याधस्व द्विपो रक्षसो
अमीया । तै० स० ४।१।२ ॥ ब्रह्मद्विषे=वद और प्राण्य इंधी की

पति अभीष्ट है। आज संसार में ज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानता से ही लोग बलद्वेषी हो रहे हैं। (सलालूकम्) लोभ से सृष्टि में मानव का दुःख बढ़ता है। यह लोभ त्रेता युग से सारी कलह का प्रधान कारण बन रहा है। वीरुधः— उद्भिजों का जो वर्गीकरण है, तदनुसार इन के चार भेद हैं—ओपधि, घनस्पति, वीरुध और वृष। पर इस मन्त्र में वीरुध भी ओपधि माने गए हैं। ऐसा क्यों। वीरुधः पद के प्रयोग के नियमों पर सूक्ष्म विचार की आवश्यकता है। इन्द्र समीप पहुंच कर मारता है, नक्षत्राभं, इस का भाव जानना चाहिए ॥ ३ ॥

आजासः पूषणं रथे निश्रुम्भास्ते जनश्रियम् ।

देवं वहन्त विभ्रतः ॥ [ऋ० ६।५५।६ ॥]

आवहन्त्यजाः पूषणं रथे । निश्रुम्भ्यास्ते । जनश्रियं जात-
धियम् ।

वृद्धदुक्थो महदुक्थाः । चक्रव्यमस्मा उक्थमिति । वृद्धदुक्थो वा ।

वृद्धदुक्थं हवामहे । [ऋ० = । ३२ । १० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

ऋदूदरः सोमः । मृदूदरः । मृदूदरं धिविति वा ।

ऋदूदरेण सख्या सचेय । [ऋ० = । ४२ । १०]

इत्यपि निगमो भवति ।

ऋदूये इत्युपरिष्ठाद् व्याख्यास्यामः ।

पुलुकामः पुरुकामः ।

पुलुकामो हि मर्त्यः । [ऋ० १।१७६।५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

असिन्वती असह्यदन्त्यो ।

असिन्वती वप्सती भूर्यत्तः । [ऋ० १०।७६।१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

कपनाः कम्पनाः । क्रिमयो भवन्ति ।

मोर्वथा वृद्धं कपनेत्रं वेधसः । [ऋ० ५।५६।६॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

भाऋजीक । मसिऋभा ।

धूमर्केतुः सुमिधा माऋजीकः । [ऋ० १०।१२।२॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

रुजाना नद्यो भवन्ति । रुजन्ति कूलानि ।

सं रुजानां पिपिषु इन्द्रशत्रुः । [ऋ० १।३०।६॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

जूर्णिर्भवतयां । द्रवतयां । दूनोतयां ।

विप्ता जूर्णिर्न वृत्ति । [ऋ० १।१२६।८॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

परिं धुसमोमनां वा धयो गात् । [ऋ० ७।६६।४॥]

पर्यगाद्वा धसमहरवनायाधम् ॥ ४॥

अर्थ - (आ) (अजास) अजा = रूपन के अश्व (पूषणम्) पूषा को (रथे) रथ मे (निःश्रमा) अशियिल गति से ले जाने वाले = शाम्र गामी [अश्व] (जनधियम्) दीप्त (देधम्) देव [पूषा] को (आचदन्तु) वहन कर के लावें (विश्वन) सम्यक् धारण करते हैं ।

आचदन्तु = गावे अजा पूषा के अश्व पूषण को रथ मे निःश्रम + दारिण - विना विधाम = अशियिल गति से वहन करन वाव वे ऐसे [अश्व] । जालधियम् = उत्पन्न हुई थी = दीप्ति वाले को ।

{ ३ वृषदुक्थ = महत् + वृक्थ = महान स्तोत्र वाला । कहना चाहिए (अस्मे) इस के लिए उक्थ अथवा वृषदुक्थ यह [है] ।

(वृषदुक्थम्) वृहन् उक्थ = स्तोत्र वाले [इन्द्र] को (इवामहे) हम बुजात है । यह भी निगम होना है ।

१४. ऋदूदरः=सोमः=ऋदु=मृदु उदर वाला । मृदु उदरों में [हो] अथवा ॥ (ऋदु उदरेण) मृदु उदर वाले (सख्या) मखा सोम ने (सचेय) संगत होऊँ । यह भी निगम होता है ।

१५. ऋदूपे, यह ऊार=आगे [६।३३ में] व्याख्या करेंगे ।

१६. पुलुकामः=पुरुकामः=बहुत कामनाओं वाला । (पुलुकामः) बहुत कामनाओं वाला निश्चय से (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य होता है । यह भी निगम होता है ।

१७. असिन्वती=अ+सम्+ग्वादन्त्यो=नहीं अच्छे प्रकार खाती हुईं, [प्रत्युत चूर्ण करती हुईं ।] (असिन्वती) न खाती हुईं भी मानो चूर्ण करती हुईं (वप्सती) खाती हुईं (भूरि) वृत्त (अत्तः) खा लेती हैं, [अन्य देवों का भाग भी, ये अग्निः के ज्वाला हूँगी हन् ।] यह भी निगम होता है ।

१८. कपनाः=कम्पनाः=कांपते वा कंपाते हुए । क्रिमयः घुण रूपी कृमि ॥ (मोषथा)=मुष्णीथ=चुराओ=निरुदक करो (वृत्तं कपना इव) वृत्त को जैसे कपना=घुण आदि क्रिमि निस्सार वा निरुदक करते हैं (वेधसः) मेघावी अर्थात् ज्ञान से बंधने वाले, [वैसे हे मरुतः, उदकवान् मेघ को ।] यह भी निगम होता है ।

१९. भाऋजीकः=प्रसिद्ध भाः=कोमल, सरल, प्रसिद्ध दीप्ति वाला ॥ (धूमकेतुः) धूम के केतु वाला समिधा से प्रसिद्ध दीप्ति वाला । यह भी निगम होता है ।

२०. रुजानाः, नदियां होती हैं । रुजन्ति=तोड़ती हैं किनारों को ॥ (रुजानाः) नदियों को (सं पिपिये) पीस डाला (इन्द्रशत्रुः) इन्द्र है शातयिता जिस का, उस वृत्र ने । यह भी निगम होता है ।

२१. जूर्णिः, जवति से अथवा । गति करता है । द्रवति से अथवा । वहता है । दूनोति से अथवा । तापित करता है, मारता है । [सेना वा शक्ति : अर्थ है ।] (क्षिप्ता) फेंकी हुई (जूर्णिः) शक्ति वा [युद्ध क्षेत्र में झोंकी हुई] सेना, (न वक्षति) नहीं प्राप्त होती । यह भी निगम होता है ।

२२. ओमना=[अवनाय, अवेनेन वा ।] (घसम्) प्रति दिन (ओमना) रक्षा द्वारा (याम्) तुम दोनों [अधियो] की, (यप) [हृविर्नक्षत्र] अन्न (परि गान्) सब ओर से प्राप्त होना है ॥ परि+अगात्=प्राप्त होता है, याम्=तुम दोनों की [रक्षा द्वारा] घसम्=जहाँ, दिन दिन । अवनाय=रक्षा के लिए अन्न ॥ ४ ॥

भाष्य—अज्ञा रूप में है पूरा के अर्थ । गति में वे चकते नहीं अन्न अविश्राम चलते हैं । कर्गना, ये कैसे हर्मि है, यह भेद जानना चाहिये । दुर्ग और स्कन्द ने काष्ठ के पुण्य का संकेत दिया है । धूमकेतु यह अक्षु अग्नि विषयक है । पर धूमकेतु नामक केतु से इस का सम्बन्ध अन्वेषणीय है । राजाना, किन नदियों को वृष ने पीसा, यह ज्ञातव्य है । जूर्धि, यह किसी शक्ति रूपी आधुष का वाची है, यह भी अन्वेषणीय है ॥ ४ ॥

उपलप्रक्षिणी । उपलेषु प्रक्षिणाति । उपलप्रदोषिणी वा ।

[इन्द्र श्रुपीन् पप्रच्छ । दुभिश्चे तेन जीवतीति । तपामेक प्रत्युत्तर ।

शकटं शाकिनी गात्रो जालमस्यन्दनं वनम् ।

उदधिः पर्वतो राजा दुभिश्चे नर वृत्तयः ॥

इति सा निगदव्याख्याता] ॥ ५ ॥

अर्थ—२३ उपलप्रक्षिणी, उपल=धूमकेतु बालुका पर प्रक्षिणी=प्रक्षिणाति=पीसने वाली । उपलो पर [भूजने वा पीसने के लिए] प्रक्षेपण करत वाली अथवा=सत्तू बनाने वाली । [मानव=पृथिवी पर के] इन्द्र ने [सप्त] अधियो से पूछा । दुभिश्च [के दिना] ने [मनुष्य] किस [उपाय से] जीता है । उन [सप्त अधियों] में से एक ने प्रत्युत्तर दिया । शकटम्=छकड़ा शाकिनी=[जगनी] शाक वाली भूमि, गोए, जाल अस्स्यन्दनम् बहने जल का रोकना, वन, समुद्र, पर्वत और राजा [ये] दुभिश्च में नौ जीवनोपाय [हैं ।] यह [कारिका] पाठ मात्र में व्याख्या की गई है ॥ ५ ॥

भाष्य—इन्द्र श्रुपीन् "से इस शब्द के अन्त तक का पाठ निरुक्त के अर्थ पाठ में नहीं है । दुर्ग और स्कन्द की टीकाओं में भी यह पाठ नहीं है । दुर्ग उन्म

मार्ग आश्रम वासी था । स्कन्द बलभी का रहने वाला था । इस प्रकार ये दोनों सौराष्ट्र के हैं, और इन का निरुक्त लघुपाठ का है । महाराष्ट्र पाठ दीर्घ अथवा वृहत्पाठ में है । उस में उपस्थित पाठ विद्यमान है । अतः यह पाठ तत्काल त्याज्य नहीं । वृहत्पाठ के अनेक अधिक पाठ निरुक्त का निर्विवाद अङ्ग हैं । इसी खण्ड के अगले छठे खण्ड के अन्त में क्षीणस्य, से आरम्भ हो कर खण्डान्त तक का पाठ लघुपाठ में नहीं है । परन्तु यह निरुक्त का आवश्यक अङ्ग है । कारण स्पष्ट है । निघण्टु ४ । ३ में २८ संख्या वाला पद क्षीणस्य है । उस का व्याख्यान यास्क ने अवश्य किया है । अतः वह निरुक्त का प्रामाणिक पाठ है । उसी प्रकार संभवतः यास्क ने ही यह दीर्घ पाठ पढ़ा है । वृहद्देशता ६ । १३८ के एक पाठ में यही कारिका पठित है । पर इस पद्य में एक अल्पा कठिनाई है । इस पाठ का यहाँ दूर का ही प्रसङ्ग दिखाई देता है । यह कठिनाई अगले खण्ड के भाष्य के आरम्भ में स्पष्ट कर दी गई है । यदि यह पाठ प्राचीन पाठ है, जैसा कि बहुत संभव है, तो एक सत्य पद्य अधिक सुदृढ़ होता है ।

शकटं शाकिनी—पाठ द्वागलेय स्मृति का वचन है । याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार वीरमित्र ने इसे द्वागलेय वचन मान कर उद्धृत किया है ।^१ तथाच वीरमित्र के पूर्ववर्ती लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ्य काण्ड, पृ० २२३ पर भी यह कारिका द्वागलेय के नाम से ही उद्धृत की है । मूल में यह सप्तर्षियों के चित्रशिखण्डी धर्मशास्त्र में थी । इसी लिए—इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ, पाठ में ऋषीन् बहुवचनान्त है ॥ ५ ॥

कारुरहं ततो भिपगुपलप्रक्षिणीं नना ।

नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिमे इन्द्रायेन्दो परिं स्रव ॥

[ऋ० ६ । ११२ । ३ ॥]

कारुरहमस्मि । कर्ता स्तोमानाम् । ततो भिपक् । तत इति सन्ताननाम । पितुर्वा पुत्रस्य वा । उपलप्रक्षिणी सक्तुकारिका । नना नमतेः । माता वा दुहिता वा । नानाधियो नानाकर्माणः । वसूयवो वसुकामाः । अन्वास्थिताः स्मो गाव इव लोकम् । इन्द्रायेन्दो परिस्रव । इत्यध्येपणा ।

आमीनं लुध्वामुपमिं चिणाति । [ऋ० १०।७।१३ ॥] उपस्ये

प्रकलविट् वशिभ्यति । कलाश्च वेद प्रकलाश्च ।

दुर्मिप्रामः प्रकलविन्मिर्माना । [ऋ० ७।१२।१५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अभ्यर्धयज्वाभ्यर्धयन् यजति ।

मिपत्रि पृषा अभ्यर्धयज्वा । [ऋ० ६।५०।५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

ईस ईशिपे ।

ईसे हि वस्त्रं उभयस्य राजन् । [ऋ० ६।१६।१० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

क्षोणस्य क्षयणस्य ।

महः क्षोणस्याश्विना कण्णाय । [ऋ० १।११७।८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(काट् अहम्) कर्ता [इ] स्तोमों का मै (तत) [मन्तान नाम भय] पिता वा पुत्र (मिपक) भेषजकृत् [यज्ज वा अथान् ब्रह्मा] [है] (उपलप्रक्षिणी) सत्तु [=धाना आदि सबजीय सामग्री को] वनान वानी (नना) माता [है ।] (जानाधिप) नाना कर्मों वान (यमूपव) धन की कामना वान (इव) गौओं क सम्पत्त (अनु तन्धिम) [हम] ठहरे हुए हैं [जैसे गों दूध आदि ले लेने के कर्म में बाधा नष्ट जानता, वैसे हम परोपकार के लिए ठहरे हैं ।]

इट्ट के लिए (इट्टो) हे सोम (परिस्त्रय) [जैसे तू भी परोपकार के लिए] ब्रह् ॥ काट् मै इ । काट्=कर्ता स्तोमो का । तत=यह मन्तान का नाम है । पिता का अथवा पुत्र का । [ये] मिपक है । उपल प्रक्षिणी=

सत्तु बनाने वाली । नना=नमति से [है।] माता अथवा दुहिता अथवा । नानाधियः=नाना कर्मों वाले । वसूयवः=वमु=वन की कामना करने वाले । अनु+आस्थिताः स्मः=वैसे ठहरे हुए हैं, जैसे गीएं लोक में । इन्द्र के लिए हे सोम, वह । यह अध्येयणा=प्रार्थना है ।

२४. उपसि । (आसीनः) घैठा हुआ (ऊर्ध्वाम्) ऊपर की (पृथिवी अन्तरिक्ष) पर (उपसि)=उपस्थे=निकट मे [इन्द्र] क्षिणाति=नाश करता है [शत्रुओं का ।] उपस्थे=निकट में ।

२५. प्रकलधित्=वणिक्=वनियां होता है । प्र+कल कला तथा प्रकला को [व्यवहार के मान, उन्मान प्रतिमान को] वेद=जानता है ॥ (दुर्मित्रासः) दुष्ट मित्र=वन-परायण मित्र (प्रकलधित्) वणिक् के समान (मिमानाः) [सुवर्ण आदि को ध्यान से] मापते हुए [न दे सकने वाले से मैत्री त्यागते हैं ।] यह भी निगम होता है ।

२६. अभ्यर्धयज्वा=बढ़ा कर देता है ॥ (सिपक्ति) [रश्म्याहत रस अथवा प्राण से] सेवता है (पूषा) देव पूषा (अभ्यर्धयज्वा) बढ़ा कर देने वाला । यह भी निगम होता है ।

२७. ईक्षे=ईगिपे । (ईक्षे) शासन करता है । (हि) क्योंकि (वस्वः) धन का (उभयस्य) [मानुष और दिव्य] दोनों प्रकार के, (राजन्) हे राजन् [इन्द्र ।] यह भी निगम होता है ।

२८. क्षोणस्य=क्षयणस्य=निवास=वर ॥ (महः) महत् (क्षोणस्य) निवास (अश्विना) हे अश्विद्वय [तुम ने] (कण्वाय) कण्व के लिए [अदत्तम्=दिया] ।

भाष्य—कारुः, इस ऋक् का ऋपि शिशुः आक्षिरस है । एक शिशुः आक्षिरस मानव ऋपि था । उस का वर्णन मनुस्मृति में है । दूसरा शिशुः दिव्य है । इस ऋक् में अहम् का संकेत उसी दिव्य ऋपि की ओर है । मानव आक्षिरस उस का आरोप अपने में करता है । उस के विषय में एक आख्यान स्कन्द ने इस खण्ड की निरुक्तवृत्ति में दिया है । शिशुराक्षिरसः । तस्यार्पम् । स हि दुर्भिक्षानन्तरं प्रवृत्तसोगयागः सन्.....अनेन किलाध्येयणा चक्रे ।

दुर्भिक्ष का संकेत निरुक्त के पूर्व खण्ड में है। संभव है खण्ड २ और ६ के पाठक्रम में कुछ विपर्याय हो। अन्नास्थिता स्मो गार इव लोकम् । गौ का सस्यार पर महान् उपकार है। दूध तो बकरी और भैंस आदि भी देती हैं, पर सोम मिश्रित दुग्ध गौ का ही है। गौ का मूत्र और गोबर भी सोमयुक्त है। और गौ उस के देने में बाधा नहीं डालती। वह परोपकार का उत्कृष्टतम रूप है। ऐसा परोपकार हमें सीखना चादिष्ट।

प्रकलत्रित् । वाणिज्य में भी कलाप और उपकलाप मान आदि में होती हैं। उन का ज्ञान आवश्यक होता है। मणिया, सुवर्ण और धातु आदि भिन्न भिन्न मान कलापों से मापे तोले जाते हैं। ईश्वर यज्ञ, का शासन इन्द्र करता है। अतः पृथिवी पर के घन के शासन के लिष्ट राजा नियम बनाता है। ये नियम राष्ट्र रक्षा का साधन होते हैं। कर्णाय, वह कण्व भी दिव्य है, मानुष नहीं ॥ ६ ॥

अस्मे ते वन्धुः । [यजु० ४।२२ ॥] धर्ममित्यर्थ ।

अस्मे यातं नासत्या सजोषाः । [ऋ० १।११८।११ ॥]

अस्मानित्यर्थ ।

अस्मे समानेर्भिर्भृषभ पौस्पेभिः । [ऋ० १।१६५।१० ॥]

अस्माभिरित्यर्थ ।

अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीपिन् । [ऋ० ३।३६।१० ॥]

अस्मभ्यमित्यर्थ ।

अस्मे आराचिद् द्वेषः सनुतयुंयोतु । [ऋ० ६।४७।१३ ॥]

अस्मादित्यर्थ ।

उर्व इत् पप्रथे कामो अस्मे । [ऋ० ३।३०।११ ॥]

अस्माकमित्यर्थ ।

अस्मे धत्त वसवो वसूनि । [यजु० ८ । १८ ॥]

अस्मास्वित्यर्थः ।

पाथोऽन्तरिक्षम् । पथा व्याख्यातम् ।

श्येनो न दीयन्नन्वेति पार्थः । [ऋ० ७ । ६३ । ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

उदकमपि पाथ उच्यते । पानात् ।

आ चष्ट आसां पाथो नदीनाम् । [ऋ० ७ । ३४ । १० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अन्नमपि पाथ उच्यते । पानादेव ।

देवानां पाथ उषं वक्षि विद्वान् । [ऋ० १० । ७० । १० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

सवीमनि प्रसवे ।

देवस्य वयं सवितुः सवीमनि । [ऋ० ६ । ७१ । २ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

सप्रथाः सर्वतः पृथुः ।

त्वमग्ने सप्रथा असि । [ऋ० ५ । १३ । ४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

विदथानि वेदनानि ।

विदथानि प्र चोदयन् । [ऋ० ३ । २७ । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—२६. अस्मे । [यही एक रूप सातों विभक्तियों में] (अस्मे) = वयम्, हम, तेरे वन्दु [हैं ।] (अस्मे) = अस्मान्, हम को, (आ यातम्)

आओ (नासत्या) हे अश्विद्वय (सज्जोगा=सज्जोगसी) प्रीति वानो ।
 (अस्मे)=अस्माभिः, हमारे [=मरतो के] साथ (समानेभिः) अने
 समान वालों के साथ (धृषम) हे वज्रिन=इन्द्र, (पौंस्येभिः) वन वानों
 के साथ । (अस्मे)=अस्मभ्यम्=हमारे लिए (प्र यन्धि)=प्रयच्छ=दो
 (मघयन् ऋजीपिन्) धन वाने, गनमार सोम वाने । (अस्मे)=अस्मिन्
 =हम में (आरात् चित्) इर [मित] भी (द्वेषः) द्वेषो को (सनुत)
 टिने-छिदा (सुयोतु) पृथक् कर ॥ (ऊर्व इय) बड़वाभिः के समान
 (एप्रथे) विस्तार पकड़नो है (काम) कामना (अस्मे)=अस्माकम्=
 हमारी । (अस्मे)=अस्मासु=हम में (धत्त) रनो (षसव) हे
 वमुओ (धमृति) धनो को ।

३० पाथ, अन्तरिक्ष [है ।] पथा=न्या से व्याख्या किया गया है ।
 (श्येन. इय) श्येन के समान (दीपन्)=अच्छन्=जाने हुए=उड़ते हुए
 (अन्वति) पीछे जाता है (पाथः) अन्तरिक्ष को । यह भी निगम होता है ।

उदक भी पाथ कहा जाता है । पीन में । (आ चष्टे) देरता है
 (आसाम्) इन के (पाथ) उदक को (नदीनाम्) नदियों के । यह भी
 निगम होता है ।

अत्र भी पाथ कहा जाता है । पीने से ही । (देनानाम्) देखो के
 (पाथ) अत्र को (उप धत्ति) पाम बहन कर=ने जा (विद्वान्) जानना
 हुआ । यह भी निगम होता है ।

२१ सवीमिति=प्रसवे=अभि अनुज्ञा में । (देवस्य) देव परमात्मा की
 हम (सधितु) मकल जगद् उत्पादक की (सवीमिति) अनुज्ञा में । यह भी
 निगम होता है ।

३२ सप्रथा=सब ओर (पृथु) फैला हुआ । (त्वम् अग्ने) तू हे
 अग्ने, सब ओर फैले हुए ही । यह भी निगम होता है ।

३३ विदधानि=वेदनानि=विज्ञानो को । विज्ञानो को (प्रखीदयन्)
 प्रेरित करता हुआ । यह भी निगम होता है ॥ ७ ॥

भाष्य—एक ही अस्मे पद सातों विभक्तियों का अर्थ कैसे देता है, इस का
 एक परियाम स्पष्ट है कि भाषा में पद प्रधान नहीं है, प्रत्युत वाक्य प्रधान है ।

अतः वेदार्थ के जानने में मन्त्र और निगमों का ही अधिक साहाय्य है । और इन के अर्थ में अदृष्ट परम्परा की महती सहायता है । इसी अदृष्ट परम्परा का स्रोत आपं ग्रन्थ हैं । ऊर्व=वडवाग्निः । इसे ही ऋ० ८ । १०२ । ४ में अग्नि समुद्रवाससम्, कहा है । पराशर की ज्यौतिष संहिता का वचन अद्भुत सागर पृ० २६१ पर उद्धृत है । वह है—अतः परं महार्णवो यत्रोर्व-कोपजो' ऽग्निः वडवामुखः । भवभूति रचित उत्तररामचरित नाटक ५ । ६ में इसे—वडवावक्त्रहुतभुक्, कहा है । वायु पुराण अ० २६ में श्लोक है—

पुत्रः सोऽग्नेर्मन्युमतो घोरः संवर्तकः स्मृतः ।

पिवन्नपः स वसति समुद्रे वडवामुखः ॥ ३३ ॥

इस ऊर्व अग्निः के वडवामुख नाम का कारण है । समुद्र के नीचे जो ऊर्व अग्निः के पर्वत हैं, उन का समुद्र तल में खुलने वाला मुख वडवा मुख के समान होता है । उस मुख के द्विद्र से समुद्र जल नीचे नहीं जाता । पर जब ऊर्व अग्निः अन्दर से निकलता है, तो वह समुद्र जल को चीरता और सुखाता हुआ ऊपर तक आ जाता है । वडवामुख का भाव दुर्ग के लेख से भी स्पष्ट होता है—यथा वडवामुखे ऽवस्थित ऊर्वो ऽग्निः अपः पिवन् । मन्त्र के अनुसार यह ऊर्व अग्निः फैलता है । आदित्य की गति को श्येन की गति से उपमा दी है ।

आयन्त इव सूर्य विश्वेदिन्द्रस्य भक्त ।

वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम् ॥

[ऋ० ८ । ६६ । ३ ॥]

समाश्रिताः सूर्यमुपतिष्ठन्ते । अपि वोपमार्थे स्यात् । सूर्यमिवेन्द्र-मुपतिष्ठन्त इति । सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्ष्यमाणाः । स यथा धनानि विभजति जाते च जनिष्यमाणे च । तं वयं भागमनुध्यायाम् । ओजसा वलेन । ओज ओजतेर्वा । उब्जतेर्वा ।

आशीराश्रयणाद्वा । आश्रयणाद्वा । अथेयम् इतराशीराशास्तेः ।

इन्द्राय गाव आशिरम् । [ऋ० ८ । ६६ । ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

१. और्व कोष को भी जानना चाहिए । कोष ग्रन्थों में समुद्राग्नि को 'और्वकोषज' कहा है । अतः सम्भव है यहां 'और्वकोषजः' शुद्ध पाठ हो ।

सा मे सुत्याशीर्देवेषु । [तै० ख० ३।२।७ ॥] इति वा ।

यदा ते मर्तो अन्नु भोगमानुळादिद् ग्रसिष्टु ओषधीरजीगः ।

[ऋ० १।१६३।७ ॥]

यदा त मर्तो भोगमन्त्रापदथ मसितुतम ओषधीरगारी । जिगर्ति
गिरतिकर्मा वा । [गृणातिकर्मा वा ।] गृह्णातिकर्मा वा ।

नूरा अमूर न धयं चिन्वित्यो महित्वमग्ने त्वमद्ग वित्से ॥

[ऋ० १०।४।४ ॥]

मूढा धयं स्म । अमूढस्यमसि । न धयं विद्मो महस्यमग्ने । त्वं
तु वेत्थ ।

शशमान शसमान ।

यो वां यज्ञैः शशमानो इ दाशति । [ऋ० १।१५१।७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

देवी देवास्या कृपा ॥ [ऋ० १।१२७।१ ॥]

देवी देवान्प्रत्यक्तया कृपा । [कृप् कृपतर्था । कृपतर्था] ॥ = ॥

अर्थ—३८ आद्यन्त = समाधिता = आश्रय लिए हुए मानो [रविम
ममूह] (मूर्धम्) मूर्ध के [वास आने हैं] (विश्वा इत्) सारी (इन्द्रस्य)
इन्द्र के [धनो को] (भक्षत) विभागे म करते हैं = वाग्ने हैं । (यस्मिन्)
[आप रूप मे रहने] धनों को । (जात) उत्पन्न हुए (जनमाने) [तथा]
उत्पन्न होने जाने मे (आजन्मा) बल से । (मति भागम्) उम भाग को
[हम] (न) अनर्थक अथवा अनु (दीधिम) अनु दीधिम = प्यान करते हैं ।

समाधिता = आश्रय लिए हुए मूर्ध के समीप आने हैं । [इष, इम अर्थ
मे अन्वय है ।] अथि वा = अथवा = [यह इव पद] उमा के अर्थ मे होने ।
मूर्ध के समान इन्द्र को उपनिच्छन्त समीप आने हैं । सारे इन्द्र के धनो को
(विभन्वयमाना) बाटना चाहते हुए । वह [मूर्ध अथवा इन्द्र] धनो को
विभाग करता है उत्पन्न हुए और उत्पन्न होने जाने मे । उम हम भाग को
(अनु प्यायाम) प्यान मे करें अजिज्ञा = जन ए । अजिज्ञ अजिज्ञ मे
अथवा । उन्वति मे अथवा ।

३५. आशीः=आश्रयणात्=मिलाए जाने से [सोम के साथ] अथवा ।
आश्रयणात्=किञ्चित् पकाने से और इयम् इतरा=यह दूसरी [प्रार्थना
रूपी] आशीः [आशीः=आशीष वाली] आशास्ति से [है।]
(इन्द्राय) इन्द्र के लिए (गावः) गौएं (आशिरम्) [सोम के मिलाने के
लिए] दूध [दुदुह्ने=दुहाती हैं।] यह भी निगम होता है ॥ (सा) वह
मेरी (सत्य आशीः) सत्य आशा (देवेषु) देवों में [पहुँचे।] यह भी ।

३६. अजीगः=[निगरण=निगलना अथवा ग्रहण करता है।] जब तेरे
(मर्तः) मनुष्य (भोगम्) भोग को (अनु आनट्) प्राप्त होता है=[तुझ
अश्व का वाहन करता है] (आत् इत्) तब ही (असिष्ठः) वृद्ध खाने
वाला हो कर (ओपधीः) ओपधियों को [तू] (अजीगः) निगलता
है । जब तेरे [हे अश्व] मनुष्य भोग को अनु आपत्=प्राप्त होता है,
अथ=तत्र असितृतमः=अत्यन्त खाने वाला [तू] ओपधियों को अगारीः=
निगलता है । जिगर्तिः=गिरति खा जाता है, अर्थ वाला अथवा । गृणाति=
शब्द करता है अर्थ वाला अथवा । गृह्णाति=ग्रहण करता है अर्थ वाला
अथवा ।

३७. अमूरः=अमूढः । (मूराः) मूढ [हम] (अमूर) हे अमूढ
(न वयम्) नहीं हम [जानते] (चिकित्त्वः) हे चेतन (महित्वम्)
माहात्म्य [तेरा] (अग्ने) हे अग्ने, (त्वम् अङ्ग) तू ही (वित्से)
जानता है ॥ हम मूढ हैं, अमूढ तू है । नहीं हम जानते महत्त्व [तेरा हे]
अग्ने । तू ही जानता है ।

३८. शशमानः=स्तुति करता हुआ । जो (वाम्) तुम दोनों को [हे
मित्र और वरुण] (यज्ञैः) यज्ञों द्वारा (शशमानः) स्तुति करता हुआ,
(दाशति) देता है । यह भी निगम होता है ।

३९. देवो देवाच्या कृपा=[निघण्टु में एक साथ पढ़े गए तीन पद] न
(देवः) दिव्य गुण युक्त (देवाच्या) देवों के प्रति प्राप्त हुई, (कृपा)
सामर्थ्य से । देवः=देव, देवों को अक्तया=पहुँची हुई सामर्थ्य से । कृप्, कृपति
से अथवा । कल्पति से अथवा ॥ ८ ॥

भाष्य—रश्मि सूर्य के समीप आते हैं । कहां से आते हैं । किस शक्ति के
बल से आते हैं । ये गम्भीर प्रश्न हैं । इस का उत्तर वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों से

मिल सकेगा । दूसरे अर्थ में यह भी बताया है कि रश्मि ही इन्द्र के समीप भी आते हैं । किस लिए आते हैं । इस का उत्तर इसी मन्त्र में है । इन्द्र के अथवा सूर्य के धनों के विभाग में सहायक होने के लिए । इन्द्र अथवा सूर्य का धन क्या है । इन दोनों का धन आप परमाणु हैं । वे ही विभक्त होते रहते हैं । ज्ञात न्य अनिध्यमाणे न्य । उपलब्ध हुए और उत्पन्न होने वाले में उस धन का विभाग होता है । प्रतिभाग=उस भाग का हम स्थान करते हैं । यह मन्त्र परम तन्मीर तत्वों का संकेत कर रहा है । हम वेदविद्या पर पूरा प्रकाश पड़ना चाहिए ।

इन्द्राय गात्र = अन्तरिक्ष गोए कौन सा दूध देती हैं जो सोम में मिलता रहता है । यह ज्ञातव्य है । चिकित्थ अग्ने । इ चेतन प्रकाश स्वरूप धर्म । यह स्पष्ट परमात्मा का वर्णन है । यज्ञे शशमानि । यज्ञों के द्वारा मित्र और वरुण की स्तुति होती है । वे देवी यज्ञ हैं । इ हीं के अनुकरण पर पृथिवी के धनु भी होने लगे थे । देवों देवाद्या कृपा । वे तीनों पद विषय में एक साथ क्यों पड़े गए इस विषय में कन्द की उदा द्रष्टव्य है ॥ ८ ॥

अर्थः हि भूरिदात्र तरा या विजांमातुस्त नो धा स्यात्तात् ।

अग्ना सोमस्य प्रयती शुवम्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम् ॥

[अ० १।१०६।२ ॥]

अधीप हि वहृदात्तरौ याम् । विजांमातु । अनुसमानाजामातु । विजांमातति शब्द दक्षिणाया क्रीतापनिमाचक्षत । अनुसमान इय वरोऽभिर्मेत । नामाता । आ अवत्यम् । तन्निर्माता । उन वा धा स्यात्तात् । अपि च स्यात्तात् । स्यात् आसन्न संयोगतति मैत्राना । स्यात् लाजानावपनीति या । लाजा लाजत । स्य शूर्पे स्यत । शूर्पमग नपयन्तम् । शृणुतयो । अथ सोमस्य प्रदानत शुवाम्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि [न-यम्] नपयन्तम् ।

ओमास इत्युपरिष्ठाद् [नि० १० । ४०] व्याख्यास्याम ॥ ६ ॥

अथ—१० विजांमातु । [कृष्ण कहता है] (अथयम् हि) मुता क्याकि [मैने] (भूरिदायन् तरा तरौ) यन्त अथि दन वान (याम्) नुम दौना को (वि जांमातु) विजांमाता मे [इन्द्र-विजां जामातुगुणा

पस्य सः] (उत वा घ) अपि च (स्यात्वात्) साले से । (अथ) अव
 (सोमस्य) निकाले गए सोम के (प्रयती) प्रदान के साथ (युवभ्याम्=युवा-
 भ्याम्) तुम दोनों के लिए (इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी (स्तोमम्) स्तोम को
 (जनयामि) उत्पन्न करता हूँ (नव्यम्) नए को ॥ मुना द्वि=क्योंकि बहुत
 अधिक देने वाला तुम दोनों को, विजामाता मे असुसमाप्तात्=नहीं युक्त
 रूप से समाप्त=पूर्ण हुए जामाता मे । विजामाता, यह शश्वत्=नित्य
 दाक्षिणाजाः=दक्षिणस्यां दिशि अजायन्त=दक्षिण देश मे जन्मे
 क्रीतापतिम्=खरदी हुई के पति को कहते हैं । नहीं युक्त रूप से पूर्ण हुए
 के समान वर अभिप्रेत है [गुणहीन को स्त्री नहीं मिनती, अतः वह
 खरीदता है ।] जा+माता, जा=अपत्यम्=पुत्र आदि सन्तान तत् निर्माता=
 उस का बनाने वाला । अपि च साले से । स्यात्ः, आसन्नः=निकट ठहरता
 है, संयोगेन=मन्त्रन्व से यह नैदाना=निदान गात्र जाता कहते हैं ।
 स्यात्=शूर्प से लाजान्=लाजाओं को आवपति=देता है [भगिनी के विवाह के
 समय होमार्थ] अथवा । लाजाः, लाजति=राजति से, शोभा देती हैं । स्यम्=
 शूर्प=छाज [है ।] स्यति से । शूर्पम्=अशन=अन्न का पवनम्=पावक=
 शोधक । शृणाति से अथवा । अव सोम के प्रदान के साथ । तुम दोनों के
 लिए हे इन्द्राग्नी स्तोम को उत्पन्न करता हूँ नूतनतर को ।

४१. ओमासः । यह आगे [१२। ४०] में व्याख्या करेंगे । ६ ॥

भाष्य—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १०६ सूक्त आङ्गिरस कुत्स का सूक्त
 है । वह इन्द्र का सखा है । ऋ० १ ६४-६८ तथा १ । १०१-१०४ कुत्स के
 सूक्त हैं । १ । १०५ का त्रित वा कुत्स ऋषि है । मन्त्रों के अनुसार ये दोनों कृप
 में पतित हैं । कृप दिव्य है । सायण ने यह वृत्तान्त अपने ऋग्भाष्य सूक्त १०५ की
 भूमिका में सप्रमाण स्पष्ट कर दिया है । एकत, द्वित और त्रित—अद्भ्यो
 ऽजायन्त [तै० ब्रा० ३। २। ८। १०-११] अर्थात् आपः से उत्पन्न हैं ।
 सायण ने तै० ब्रा० का प्रमाण दे कर भी इस देवी माया को पूर्णतया नहीं
 समझा । इसी लिए उस के भाष्य में त्रित विषयक मन्त्रों के भाष्य में ऐतिहासिक
 ऋत्नक दिखाई देती है । कुत्स आङ्गिरस है । अतः वह आग्नेय है । त्वमग्ने
 प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः । ऋ० १ । ३१ । १ ॥ अर्थात् आग्नेय परमाणुओं का
 कोई रूप अङ्गिरा ऋषि है । कुत्स और त्रित के आख्यान देवी जगत् से

सम्बन्ध रखते हैं। मन्त्र (अ० १।१०६।१) स्वयं कहता है कुस अग्नि है ' यह दिव्य कुस—स्तोम जनयामि नव्यम् नव्य स्तोमों का जनयिता है। उसी के नाम पर लौकिक अग्नि का नाम कुस हुआ। इस लौकिक के कुस में आगे कौत्म हुआ। यदि कोई कहे कि कुस और अग्नि आदि के दिव्य होने का पक्ष उस की समझ में नहीं आता, तो उसे किसी वैदिक विद्वान् स वेदविष्णु की ये आधार मूल बात सीखनी चाहिये। विज्ञामाना और स्थाला का उदाहरण लोक में से है। दक्षिणाजा। तुलना करें, निरुक्त ३।२—दक्षिणाजी। पारक दक्षिण के स्थान में दक्षिण रूप का प्रयोग करता है। यह ध्यान देने योग्य है। कीर्तापति, खरीदी हुई की का पति हीन होता है, यह स्पष्ट है। कन्या विक्रय निन्दित क है। युवभ्याम्=युवाभ्याम्। वेद का व अक्षर के साथ ह्रस्व अकार का प्रयोग स्पष्ट है।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीयन्तं य औशिजः ॥

[अ० १।१८।१॥]

सोमान सोतार प्रकाशनवन्त कुरु ब्रह्मणस्पत कक्षीयन्तमिव य औशिज। कक्षीवान्कक्ष्यावान्। औशिज उशिज पुत्र। उशिक्वष्टे कान्तिकर्मण। अपि त्यय मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेत स्यात्। त सोमानं सोतार मा प्रकाशनवन्त कुरु ब्रह्मणस्पत ॥ १० ॥

अर्थ—४२ सोमानम्। (सोमानम्) सोम के बहाने वाल को (स्वरणम्) प्रकाश वाला (कृणुहि) करो (ब्रह्मणस्पत) हे वेद के पति=पालक, रक्षक। (कक्षीयन्तम्) कक्षीवान् को (य) जो (औशिज) उशिज् का पुत्र है ॥ सोमानम्=सोम के बहाने वाले को प्रकाशवान् करो हे ब्रह्मणस्पत कक्षीवान् क सोमान जो औशिज है। कक्षीवान्=कक्ष्यावान्=कक्ष्या वाला। औशिज=उशिज का पुत्र। उशिक्=उशिक्=कामना करता है, स [है।] और भी अयम्=यह मनुष्य का कक्ष=बद म्यल ही अभिप्रेत होवे। उस सोमो के बहाने वाले मुच को प्रकाशवान् करो, हे ब्रह्मणस्पत ॥ १० ॥

भाष्य—मेधातिथि काख की यह ऋक् है । वेदविद्या में दिव्य अथवा भौतिक पदार्थों में भी उत्तरोत्तर उत्पत्ति के भाव से पुत्र, पौत्र माने गए हैं । यथा—अग्निः के वंश का कथन वायु पुराण अ० २६ में है । वहां दध्यद् आयु, भरत आदि विभिन्न अग्निओं के पुत्र, पौत्र हैं । यह दध्यद् ही वेद में ऋषि है । इन सूक्ष्मताओं को जाने बिना वेदार्थ में प्रवेश बाललीला मात्र है । मेधातिथि का वेदिक आख्यान जैमिनि ब्राह्मण ३।२३४, २३५ में है । वहां दिव्य ऋषियों के 'दिव्य सत्र' का निर्देश करते हुए अर्वाचीन लौकिक 'इन्द्र' के मेधातिथेमेंप संबोधन का कारण बताया है । इस प्रकरण में दिव्य और लौकिक इन्द्र का भेद स्पष्ट है । ब्रह्मणस्पति नामक वेद को पालने और रक्षा करने वाली परमात्मा की जो विभूति देवों में है, उसे जानना चाहिए । वह बृहस्पति से विभिन्न है ॥१०॥

इन्द्रासोमा समवशंसमभ्यर्ध्वं तर्पुयस्तु चरुरग्निवाँ इव ।

ब्रह्मद्विपे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥

[ऋ० ७।१०४।२ ॥]

इन्द्रासोमावयस्य शंसितारम् । अघं हन्तेः । निर्हंसितोपसर्गः । आहन्तीति । तपुस्तपतेः । चरुमृच्चयो भवति । चरतर्वा । समुच्चरन्त्यस्मादापः । ब्रह्मद्विपे [ब्राह्मणद्वेष्ट्रे । क्रव्यादे] क्रव्यमदत्ते । [घोरचक्षसे] घोरख्यानाय । क्रव्यं विकृताज्जायत इति नैरुक्ताः । द्वेषो धत्तम् । अनवायमनवयवम् । यदन्ये न व्यव्युः । अद्वेषस इति वा । किमीदिने । किमिदानीमिति चरते । किमिदं किमिदमिति वा । पिशुनाय चरते । पिशुनः पिशतः । विपिशतीति ॥ ११ ॥

अर्थ—४३. अनवायम् । ४५. किमीदिने । (इन्द्रासोमा = इन्द्रा सोमौ) हे इन्द्र और सोम (सम्) (अवशसम्) पाप की अन्यों के लिए प्रशंसा करने वाले को (अघम्) पापी को (अभि) संतप्त करो, (तपुः) संताप करता हुआ [वह] (ययस्तु) क्षीण हो. (चरुः अग्निमान् इव) जैसे अग्नि संसृक्त चरु [क्षीण होता है ।] (ब्रह्मद्विपे) वेद और ब्राह्मण के द्वेषी के लिए (क्रव्यादे) कच्चा मांस खाने वाले के लिए, [स्कन्द—जो परोक्ष मे=पीठ पीछे आक्रोश करता है उस के लिए] (घोरचक्षसे) भयंकर दृष्टि वाले के लिए (द्वेषः) सर्वलोक के द्वेष मे है, [उस को] (धत्तम्) धारण करो (अनवायम्) = अन् अवयवम् = सकल प्रकार से

(किमीदिने) पिशुन के लिए ॥ हे इन्द्रासोमो, अघ=पाप के प्रधानक को। अघम् हन्ति से । निर्द्दमित+उपसर्ग =ह्रस्व हूया आ उपसर्ग । आ+हन्ति =अ+हन्ति=अघ=सब ओर से चोट देता है । श्रेय को मारता है । तपु तपति से । चरु =मृत्+चय =मट्टी का ढेर होता है । चरति से अघवा । सम्+उत्+चरन्ति=मने प्रकार ऊपर को निचलते हैं अस्मात्=इम [तस] से आप । ब्रह्मद्विपे=ब्राह्मण द्वेपी के लिए । कथ्यादे=कथम् अदत्त =कण मांस खाने वाले के लिए । घोर दर्शन बाने के लिए । कथ्यम् काटने से उत्पन्न होता है, यह नैरुक्त [कहते हैं ।] द्वेप जिस का [उम को] धारण करो । अनयायम्=अन् अवययम्=नही अवयवों वाला=पूरा । जिसे दूसरे नहीं ध्यवेयु =हटा सके, [पाप के] अद्वेपी भी अघवा । किमीदिने=क्या अब [है], यह आचरण करने बाने के लिए । क्या है, क्या है, ऐसा [कहने वाले] पिशुनाय=चुगलखोरी के लिए जो आचरण करता है उस के लिए । पिशुन पिशति से [है ।] वि पिशति=विविध रूप बनाता है ॥ ११ ॥

भाष्य—पापी सतस हो, तभी वह पाप छोड़ेगा । ब्रह्मद्वेपी संभारमात्र का द्वेपी है । इस प्रकार पिशुन=दुजन आदि की निन्दा इस मन्त्र में है ॥ ११ ॥

कुशुप्स पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं यादि राजेशामर्षो इमेन ।

तृथ्वीमनु प्रसितिं दृणानोऽस्तर्गमि विध्य रत्सस्तर्पिष्ठिः ॥

[अ० ४ । ४ । १ ॥]

कुशुप्स पाज । पाज पालनात् । प्रसितिभिन् पृथ्वीम् । प्रसिति प्रसयनात् । तन्नुर्वा । जाल वा । यादि राजेशामर्षान् । अभ्यमन पान् । स्वधा-वा । इराभूता गणैः । गतमध्येन हस्तिनेति वा । कुशुप्यानु प्रसित्या दृणान् । तृथ्वीति क्षिप्रनाम् । तत्तर्था । स्वरत्तर्वा । असिवा असि । विध्य रत्स । तपिष्ठैस्तत्तर्गमै । तृप्ततर्गैः । प्रपिष्ठतर्गैरिति वा ।

यस्ते गर्भममीवा दुर्गामा योर्निमाशयै ।

[अ० १० । १६२ । २ ॥]

अमीवाभ्यमनेन व्याख्यातः । दुर्णामा क्रिमिर्भवति । पापनामा ।
क्रिमिः क्रव्ये मृद्यति । क्रमतेर्वा स्यात्सरणकर्मणः । क्रामतेर्वा ।

अति क्रामन्तो दुरितानि विश्वा ।

[तुलना—अथ० १२। २। २८ ॥]

अतिक्रममाणाः । दुर्गतिगमनानि सर्वाणि ।

अप्या । यदेनया विद्धोऽपवीयते । व्याधिर्वा । भयं वा ।

अप्ये परेहि । [ऋ० १०। १०३। १२ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अमतिः । अमामयी मतिः । आत्ममयी ।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अर्दिद्युत् [सवीमनि]

[अथ० ७। १४। २ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

श्रुष्टि इति क्षिप्रनाम । आशु अष्टीति ॥ १२ ॥

अर्थ—४५. अमवान् । [हे अग्ने] (कृणुष्व)=कुरुष्व=करो (पाजः)
[तेजोमय] बल को [विस्तीर्ण] [प्रसितिं न पृथ्वी] जाल जैसे विस्तीर्ण
अर्थात् फैला हुआ होता है । (याहि) जाओ (राजा इव) राजा के समान
(अमवान्) अम=अमात्यों वाले, [तथा] (इभेन) गतभय हाथी के साथ,
(तृष्णीम्) शीघ्र गति से (अनुप्रसितिम्) अनुबद्धा संतत गति से
(द्रुणानः) मारते हुए, (अस्ता असि) फेंकने वाले हो [शत्रुओं के],
(विध्य) ताडित करो (रक्षसः) राक्षसों को (तपिष्ठैः) परम तापित
करने वाले [गुणों से] । करो=फैलाओ बल को पाजः=पालन करने से [बल
से पालन होता है], जाल के समान फैली हुई । प्रसितिः=वान्वने से । तन्तुः=
फन्दा अथवा । जाल अथवा । याहि=जाओ राजा के समान [जो] अमात्यों
वाला [फैला हुआ जाता है ।] अभि+अमनवान्=रोग वाला [शत्रुओं
पर रोग फैलाता हुआ] स्ववान्=अपने [विश्वस्त साथियों] वाला ।
इराभृता=अन्न [भण्डारों] के धारण करने वाले गणैः=जन समूहों के

माय । इ=इ, भेन=भय, गनभय हस्ति के माय अथवा । तुष्या अनु
प्रसित्या द्रुणान्=गोध्र गनि [क आक्रमण] म मारता हुआ । तृष्वी यह
गोध्र का नाम [है ।] तरति स अथवा । त्वरति म अथवा । अभिना=
फैकने वाला है । विध्य रक्षस्=वीधो=नादित करो यक्ष्मो को । तपिष्ठे=
तप्तनमै=अत्यन्त तारन वालो म तप्तनमै=अत्यन्त तृप्तो से । प्रभिष्टनमै
=अत्यन्त रिमा हृई=अत्यन्त सूक्ष्म ज्वालाओ स ।

४६ अर्माग । जो नेरे गर्भ म (अर्माग) रोग [रूप] (दुष्णमा)=
दुर नाम वाला [कीगणु=किमि] यानि म (आशये) सोना है । अर्माग
अभि+अमनेन=अभि+अमन से [इमी मण्ड क आरम्भ म] व्याख्यान है ।
दुष्णमा किमि हाना है । पायान वाका । क्रिभि=ज्जे पास स मयति=
मदयुक्त=पुष्ट होना है । कर्मानि म अथवा होव, मरण अर्थ ज्ञान स=गम्कना
है । कामनि से अथवा ।

४७. दुरितम् । (अति कामन्त) अनिक्रमण=उत्कण्ठन करते हुए ।
(दुरितानि) दुर्गति=अयोगति प्राप्त होनी है जिन स उन पापों को
(विभ्या=विभ्यानि) मत्र को । अनिक्रमभाणा=उत्कण्ठन करते हुए दुर्गति
को [न] जान वाले मत्र पापा को ।

४८ अश्वा=यन्=स्वीवि एनया=उभ [वाली] म विद्ध=वीवा हुआ
=ताडित [मनुष्य] अपवीयत=[प्राणा म] पृषक किया जाना है मर
जाता है । श्यात्रि =रोग की कोई जाति अथवा । भय अथवा । (श्वे) है
रोग अथवा है मय (परदि) परे=[दुष्टो मे] चला जा ।

४९ अमति । अमा मयी=आत्ममयी=अपने [गुड ह्य] म ठहरो
मति=मति अथवा दीप्ति । (ऊष्या) ऊ ची (यस्य) जिन का (अमति)
आत्ममयन सायना वाली (भा) दीप्ति (अदिद्यत्) चमपी व
चमकतो है (सधीमति) =तात्ति मयय म । यह भी निगम होना है ।

१० ध्रुवी यह गीज का नाम [है ।] आ+गु+जष्टि=गोध्र
व्यापना ॥ १२ ॥

भाष्य—पाद=पत्र । यहाँ कैचने वाला बल अभिनेन है । प्रसिति म
पृथ्वीम्—आज जीव कैचने हुआ काम करता है, पैल ही अभि का बल कैचने स

प्रकट होता है। अग्निः के इसी बल से ये दोनों लोक पृथक्-पृथक् हो कर दूर में ठहर गए।^१ राजा बल सं दूर तक फैलाव रखे। आक्रमण के समय उस के साथ अमात्य, हाथी और अन्न आदि के भण्डारों के रक्षण और वहन करने वाले गए होने चाहिए। हाथियों की शिक्षा ऐसी हो कि वे सदा गतभय रहें। युद्धों में राजसों का हनन होना चाहिए।

। दुर्णामा, यह स्त्री के गर्भ में हो जाने वाला क्रिमि होता है वह कच्चे मांस से मोटा होता है। अतिक्रामन्तः, यह मन्त्रांश उपलब्ध वेद संहिताओं में नहीं है। अथर्ववेद १२।२।२८ मन्त्र सं इस का थोड़ा सा पाठान्तर है। संभवतः यह आथर्वण पैप्पलाद आदि किसी संहिता में हो ॥ १२ ॥

ताँ अध्वरे उशतो यद्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम् ॥

[ऋ० ७।३६।४ ॥]

तानध्वरे यज्ञे। उशतः कामयमानान्। यजाग्ने। श्रुष्टी भगम्। नासत्यौ चाश्विनौ। सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः। सत्यस्य प्रणेतारवित्याग्रायणः। नासिकाप्रभवौ वभूवतुरिति वा।

पुरन्धिर्वहुधीः। तत्कः पुरन्धिः। भगः पुग्स्तात्। तस्यान्वादेश इत्येकम्। इन्द्र इत्यपरम्। स बहुकर्मतमः। पुरां च दारयित्तमः। वरुण इत्यपरम्। तं प्रज्ञया स्तौति।

इमामू नु कवितमस्य मायाम्। [ऋ० ५।८५।६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति।

रुपत् इति वर्णनाम। रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः।

समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः। [ऋ० ५।१।२ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—(तान्) उन [देवों] को (अध्वरे) यज्ञ में (उशतः) कामना करते दृष्टों को (यद्भि) = यजामहे = हम पूजते हैं, (अग्ने) हे अग्ने (श्रुष्टी) शीघ्र, भग को (नासत्यौ) अश्विद्वय को [और] पुरन्धि को।

५१ पुरन्धि । उन देवों को, यत्र मे कामना करते हुआ को यत्र पूजा है अन्ने गीघ्र भग को, न-त्यौ=अधिष्ठय को । सत्य ही [वे दोनों] नहीं असत्यौ, यह और्ध्वरथ [कहना है ।] मत्स्य के प्रयेनागी=चलने वाले, यह आपयण [कहना है ।] नामिका मे प्रभवी=उत्पन्न ए ये अथवा । पुरन्धि=वृत्त प्रजा वाजा अथवा वृत्त कर्म वाला । तो कौन [है] पुरन्धि । भग पुरम्नात्=ओ नासत्यौ'य पूर्व स्तुति है, उन का अन्धादेश=अनु आदेश=पुन आदेश=नेवारा कथन [है] यह एक मत है । पुरन्धि इन्द्र है, यह अन्न मत है । वह [इन्द्र] वृत्त मे भी कही अधिक कर्म वाला [है ।] पुराम=अमुर सम्बन्धिनी पुरियो को अनिगम विशेष करने वाला [है ।] पुरन्धि यरुण ३ यह और मत है । उम [वधु] को प्रशया=वृद्धि से स्तुति करता है । (इमाम्) इस को (ऊ नु) पद पूरक (कवितमस्य) अत्यन्त मेधा वाले [वरण] की (मायाम्) प्रजा को । यह भी निगम होता है ।

५२ रशत्, यह वर्ण=रथ का नाम [है ।] रोचनि=चमकता है अर्ध वाचे स । (समिद्धस्य) प्रदीप्त [अग्नि] का (रशत्) चमकता हुआ रथ (अदर्शि) [मुन से] देखा गया है (पात्र) तेनामय बल वाज्य । यह भी निगम होता है ॥ १३ ॥

भाष्य—पुरन्धि के अर्थ में तीन मत हैं । ऐम अर्थों के विषय में जो वाद होने थे वे वेदवाद कहाते थे । परन्तु ऐस कति साधारण मत भेदों स यह नहीं समझना चाहिए कि वास्क के काल में वेदार्थ भूल लुप्त था । हा, इस बात स एक दूसरा ही परिणाम निकलता है । वह यह है कि मन्त्रद्वारा अग्निों के काल और वास्क के काल में सदस्यो वर्ष का अन्तर अवश्य था ॥ १३ ॥

अस्ति हि वः सजात्यं रिशादमो देवामो अस्त्याप्यम् ।

[अ० = । २७ । १० ॥]

अग्नि हि वः समानजातिता रथयदारिणो देवा । अस्त्याप्यम् ।
आप्यमान्तोत् ।

सुदत्र कल्वाणदान ।

१. वेदवादता पार्थ भावद्वारा ।

त्वष्टां सुदत्रो वि दधातु रायः । [ऋ० ७ । ३४ । २२ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

सुविदत्रः कल्याणविद्यः ।

आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् । [ऋ० १० । १५ । ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

आनुपक् इति नामानुपूर्वस्य । अनुपक्तं भवति ।

स्तृणन्ति वृर्हिरनुपक् । [ऋ० ८ । ४५ । १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

तुर्वणिः । तूर्णवनिः ।

स तुर्वणिर्महौ अरेणु पौंस्ये । [ऋ० १ । ५६ । ३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

गिर्वणाः देवो भवति । गीर्भिरेनं वनयन्ति ।

जुष्टं गिर्वणसे वृहत् । [ऋ० ८ । ८६ । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—५३. रिशादसः । (अस्ति) है (हि) क्योंकि (वः) तुम्हारी (सजात्यम्) आपस मे समान जातिता रिशादसः) है हिन्नों के फेंकने वाले (देवासः) देवो, (अस्ति) है [हमारे साथ] (आप्यम्) वन्दु भाव । है क्योंकि तुम्हारी समान जातिता, है हिन्नों के फेंकने वाले देवो । है वन्दु भाव [परस्पर और हमारे साथ । आप्यम् आप्रोति से ।

५४. सुदत्रः=श्रेष्ठ दान वाला ॥ त्वष्टा, श्रेष्ठ दान वाला, (वि दधातु) विविध प्रकार से देवे (रायः) धन यह भी निगम होता है ।

५५. सुविदत्रः=श्रेष्ठ विद्या वाला । (अग्ने) है अग्ने (आ याहि) आओ, (सुविदत्रेभिः) श्रेष्ठ विद्या वाले [पितृभिः] पितरों के साथ (अर्वाङ्) हमारी ओर । यह भी निगम होता है ।

१६. आनुपक्त्=यह नाम [है], आनुपूर्वम्य=जगात्तर का, ऊपर-ऊपर आगे आगे लगे हुए का । आनुपक्तम्=अनु+सक्तम्=पाय लगा होना है ॥ स्तुणन्ति=विद्यते है (वहि) कुशा को [वेदि पर] लगातार । यह भी निगम होना है ।

१७. तुर्वणि =तूर्णवनि =शीघ्र सवन करने वाला ॥ (स) वह [इन्द्र] (तुर्वणि) विना विनम्ब=ठीक समय पर काम करने वाला (महान्) महा [है ।] (अरेणु)=[स्वन्द-अरेणुनि] पामुर्वजिन (पौंस्ये) [मेना क्त] स्वयम्, मे [स्थित है ।] यह भी निगम होता है ।

१८. गिर्णसे=गिर्वणा, देव होता है । गीर्भि =वाणियो से=स्तुतियो से एनम्=इम [देव] को घनयन्ति=मेवने हैं ॥ (जुष्टम्) सेवन योग्य को (गिर्णसे) स्तुतियो से (वृहत्) वृहत् साम द्वारा [गाओ ।] यह भी निगम होता है ॥ १४ ॥

माध्य—सजात्यम्, आप्यम् । देवों की उत्पत्ति भौतिक नियमों के आधार पर हुई । वे भौतिक नियम प्रति सृष्टि समान रहते हैं । इसी कारण उत्पत्ति के सम्बन्धों के बद रहने से देवों की समान जातिता सदा से है और सदा रहेगी । ये नियम ईश्वर की मूल प्रेरणा से काम कर रहे हैं । उस के कारण देवों का परस्पर और हमारे साथ ब-धुभाव है । सुविद्वन्, पितर अर्थात् अगुर्ण सुविद्य हैं । अग्नि इन अतुरूपी पितरों के साथ हमारी ओर आता है । निरुक्त ७ । ६ में सुविद्वन् का अर्थ घन भी किया है ।

वृहत् वृहत् एक साम है । पहले भी गायत्र आदि सामों का कथन हो चुका है । निरुक्तदेह सार वेद एक साथ आ रहे हैं । ऋग्वेद पूर्वकाज का और सामवेद उत्तर काज का है, यह कल्पना निर्मूल है ॥ १४ ॥

अमूर्ते मूर्ते रजसि निपत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ।

[ऋ० १० । ८० । ४ ।]

असुसमीरिता सुसमीरिते । पालसमीरिता । माध्यमया
देवगणा । त रसेन पृथिवी तर्पयन्तो भूतानि च कुर्वन्ति ।

त आयजन्तु । [ऋ० १०। ८२। ४ ॥]

इत्यतिक्रान्तं प्रतिवचनम् ।

अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः । [ऋ० १। १६६। ३ ॥]

अमाक्तेति वा । अभ्यक्तेति वा ।

यादृशिमन्धायि तमपस्यया विदत् । [ऋ० ५। ४४। ८ ॥]

यादृशेऽधायि तमपस्ययाविदत् ।

उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः ॥ [ऋ० ६। १२। ४ ॥]

उस्र इव गोपिता अजायि यज्ञैः ॥ १५ ॥

अर्थ—५६. असूतेँ सूतेँ । (असूतेँ सूतेँ) वात से प्रेरे हुए [माध्यमक देवगण] (रजसि) [अन्तरिक्ष] लोक मे (निपत्ते) निश्चल ठहरे हुए, (ये) जो (भूतानि) प्राणियों को (सम् अकृण्वन्) सब प्रकार से बनाते हैं, (इमानि) इन को ॥ असु-समीरिताः=वातसमीरिताः। सुसमीरिते । [ये] माध्यमिक देवगण [हैं ।] वे रस से पृथिवी को (तर्पयन्तः) तृप्त करते हुए प्राणों को उत्पन्न करते हैं । (ते आयजन्त) उन्होंने मर्यादा पूर्वक यज्ञ किया+अथवा करते हैं । यह [इसी मन्त्र के आरम्भ मे] [अतिक्रान्तम्] पहले आं चुका (प्रतिवचनम्) अगले पाठ के उत्तर मे वचन है ।

६०. अम्यक् । (अम्यक्=अ+मा+क्तः) न मुझे प्राप्त हो, (सा) वह (ते) तेरी (इन्द्र) हे इन्द्र (ऋष्टिः) शक्तिका, बर्छी । अ+मा+अक्ता अथवा । अभि+अक्ता=सीधी गई, अथवा ।

६१. यादृशिमन् । (यादृशिमन्)=यादृशे=जैसे ही [काम] में (धायि)=[स्कन्द-वत्ते] धारण करता है [मन को], (तम्) वैसे को ही (अपस्यया) कर्म से (विदत्) प्राप्त करता है ॥ जैसे [काम] में अधायि=धारण करता है, उसे कर्म से अविदत्=प्राप्त करता है ।

६२. जारयायि । (उस्रः पिता इव) गौओं के पिता [=ब.तीवर्द=वैल] के समान(जारयायि)=अजायत=उत्पन्न हुआ [अग्नि.] (यज्ञैः)

[मानव और देवी] यज्ञो द्वारा ॥ उम्न इव गोपिना=गोपिना=वैश के समान उत्पन्न हुआ [अग्नि] यज्ञो से ॥ १४ ॥

भाष्य—असर्गे स्तुं रजसि, नियुक्ते ये चारों पद सवमी में अन्ततः स सम्बन्ध उत्पन्न करते हैं कि पहले दो पदों का क्या अर्थ है । अतः वास्तव ने स्पष्ट किया कि इन का अर्थ है—अग्नि इव । अग्नि=वायु=वात । वात स प्रेरित । भाष्यमङ्क देवगाण=मरुत और मेघ आदि । वात और वायु का भी अन्तर अवरय है । यह जानना चाहिए । अग्नि, यह आयुधविशेष है । इस का वास्तविक स्वरूप शक्ति का अथवा किसी प्रकार की शक्ति के समान होगा । यादृशिमः, इस मन्त्राण पर माह्वय और धर्मशास्त्र का यह भाव है कि जो मन स ध्यान करता है उस वाणी स बोलता है । और जो वाणी स बोलता है वैसा कर्म करता है और जो कर्म स करता है उस का प्राप्त होता है । अग्नि वैश के समान कैसे उत्पन्न वा प्रकट हुआ यह ज्ञानम् है । अथवा उम्न विस्तार=विशेषों का पिता=गोपिना=गापापिना=आदित्य देता अर्थ होवे ॥ १५ ॥

प्र योऽङ्गा जुमुपाणामो अस्थुरभूत निधे अग्रियोत वाजाः ॥

[अ० ४। ३४। ३॥]

प्रास्थुरां जोष्यमाणा अभवत् सर्वे । अग्रगमनेनति वा । [अग्रगण्येनेति वा ।] अग्रसम्पदादिन इति वा । अग्नि वा अग्रमित्यन्तु अन्वयकमुपरन्धमाददीत ।

अङ्गीर्दिन्द्र प्रस्थितानीमामि द्वौपि चनो दधिप्य पचतोत सोमम् ॥

[अ० १०। ११६। २॥]

अङ्गीन्द्र प्रस्थितानीमामि द्वौपि । चनो दधिप्य । चन इत्यधनाम । पचतिर्नामीभूत ।

तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम् । [य० २१। ६० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अपि वा मेदस्तश्च पशोश्च । सारथं दिवचन स्यात् । यत्र लोकवचनार्थं प्रसिद्धं लभ्यते ।

पुरोळा अग्ने पचतः । [ऋ० ३।२८।२ ॥] इति यथा ।

शुरुधः आपो भवन्ति । शुचं संरुन्धन्ति ।

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वाः । [ऋ० ४।२३।८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अमिनः अमितमात्रः । महान्भवति । अभ्यमितो वा ।

अमिनः सहोभिः । [ऋ० ६।१६।१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

जज्भृतीः आपो भवन्ति । शब्दकारिण्यः ।

मरुतो जज्भृतीरिव । [ऋ० ५।५२।६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अप्रतिस्कृतः । अप्रतिस्कृतः । अप्रतिस्खलितो वा ।

अस्मभ्यमप्रतिष्कृतः । [ऋ० १।७।६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

शाशदानः शाशाद्यमानः ।

प्र स्वां मतिमतिरुच्छाशदानः । [ऋ० १।३३।१३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—६३. अग्निया । (वः) तुम्हारे लिए (जुजुपाणासः) सेवन करते हुए [सोम] (अच्छ्र=अभि । प्र अस्थुः=अभिप्रास्थुः) प्रस्थित हुए हैं । (अभूत) होवो (विश्वे) सारे [तुम] (अग्निया) अग्रता के योग्य (उत वाजाः) हे ऋभुओ ॥ प्र अस्थुः=प्रस्थित हुए हैं, तुम्हारी ओर जोषयमाणाः=सेवन करते हुए । भवत=होवो सारे । आगे गमन करने से अथवा । [आगे गरशेन=निगलने से अथवा । आगे] सम्पादिनः=काम को सम्पादन करने वाले, अथवा । अथवा अग्रम्, इति एतत्=अग्र यही ठीक रूप है । अनर्थक है उपबन्ध=प्रत्यय जो आददीत=ग्रहण किया है । अर्थात् अग्र ही अग्निया है ।

६४. चन । (अद्भि) खाओ (इत्) पदपूरक (इन्द्र) हे इन्द्र (प्रस्थित) प्रस्थित हुई (इमा) इन (हवीषि) हवियों को । (चन) अन्न को (दधिष्य) धारण करो और (पचता) पके हुए पुरोडाश आदि को (उन सोमम्) और सोम को । खाओ हे इन्द्र प्रस्थित इन हवियों को । चन को दधिष्य=धारण करो । चन यह अन्न का नाम [है ।]

६५ पचता, पच् धातु, नाम हुआ है [क्रिया रूप नहीं ।] (तम्) उस को (मेदस्त) चर्बी से (पचता) पके हुए को (अमभीष्टाम्) ग्रहण करो । यह भी निगम होता है । अथवा मेद का और पचु का साश्चम्=सत्त्व वाला=द्रव्यप्रधान द्विवचन होवे । [अधिना के समान पचना द्विवचन, है । तब अर्थ होगा—पके हुआ को ।] यत्र द्वि=जहाँ क्योंकि एकवचनार्थ एक वचन का अर्थ है, प्रसिद्ध रूप यह होता है । (पुरोडा) पुरोडाश (अग्ने) हे अग्ने (पचत)=पक=नका हुआ [तेरे लिए ।] जैसा यह । [यहाँ 'पचत' शब्द एकवचन में स्पष्ट है ।]

६६ शुरुध, आप होती है । शुचम्=दीप्ति अथवा ताप को संरन्धन्ति सम्यक् रोकती है । (अशुतस्य) अशुत की (द्वि) क्योंकि (शुरुध) आप (सन्ति) होती हैं (पूर्धा) बहूत । यह भी निगम होता है ।

६७ अमिन । अमित-मात्र =न मापी हुई मात्राओं वाला, महान् होता है । अभ्यमिन=[मिनोति वधकर्मा] अभि+अमित =अहिमित । (अमित) महान् अथवा अहिंसित (सद्योभि) बलो से [तू इन्द्र ।] यह भी निगम होता है ।

६८ अज्झती आप होती हैं । शब्द करने बातियाँ । (मस्त) मस्त [शब्द करते हैं] (अज्झती एष) आप के समान । यह भी निगम होता है ।

६९. अप्रतिस्वृत=अप्रतिस्वृत=न पराङ्मुख किया हुआ । न प्रति स्तलित=विमता हुआ । (अम्मम्यम्) हमारे लिए [अपावृषि=अपावृष्टु=क्षौन दे, मेघ को तुम जो] (अप्रतिस्वृत) निमी से पराङ्मुख नहीं किए गए । यह भी निगम होता है ।

७०. शाशदानः=शाशद्यमानः=वार-वार मारते हुए । (स्वां) अपनी (मतिम्) मति को (प्र अतिरत)=प्रकर्षण अवर्धयत् बहुत बढ़ाया [इन्द्र ने] (शाशदानः) [वृष को] वार-वार मारते हुए । यह भी निगम होता है ॥ १६ ॥

भाष्य—वाजाः=अभु । ये अभिया है । अभिया का एक अर्थ अभ्यगरण=निगलने वाले है । ये क्या गरण करते हैं, इस का अध्ययन होना चाहिए । इन्द्र चनः रूप किस अक्ष को धारण करता है, यह ज्ञातव्य है । शुभ्रः=आपः । ये आपः दीप्ति तथा ताप को रोकती है । कटां और जैसे रोकती है, यह भी ज्ञातव्य है । ऋतस्य, ऋत की बहुत आपः हैं । इतने वचन से यह निश्चित है कि अनेक मन्त्रों में ऋत एक पदार्थविशेष है । उस की रूपान्तर अवस्थाएं आपः के अनेक रूप बना देती हैं । जज्भृतीः, ये शब्द करने वाली आपः हैं । इन का शब्द जानना चाहिए । मस्त भी ऐसा शब्द करते हैं । इन्द्र का अर्थ आत्मा और परमात्मा भी होता है । पर भौतिक इन्द्र की मति क्या है, यह समझना चाहिए ॥ १६ ॥

सृष्टः सर्पणात् । इदमपीतरत् सृष्टमेतस्मादेव । सर्पिर्वा । तैलं वा ।
सृष्टकरस्तमूतये । [ऋ० ८ । ३२ । १० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

करस्तौ वाह । कर्मणां प्रस्नातारौ ।

सुशिप्रम् पतेन व्याख्यातम् ।

वाजे सुशिप्रु गोमति । [ऋ० ८ । २१ । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

शिप्रे हनू नासिके वा । हनुर्हन्तेः । नासिका नसतेः ।

विष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने । [ऋ० १ । १०१ । १० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

धेना दधातेः ।

रंसु रमणात् ।

स चित्रेण चित्रिने र्गुं मामा । [ऋ० २ । ४ । ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

द्विबर्हाः । द्वयोः स्थानयो पञ्चिष्टः । मध्यमे च स्थान उत्तमे च ।

उत् द्विबर्हो अभिनः सहोमिः । [ऋ० ६ । १६ । १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अक । अक्रमरात् ।

अक्रो न वृन्निः समिधे मृदीनाम् । [ऋ० ३ । १ । १२ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

उराणः । उरु कुर्वाणः ।

दुत ईषसे प्रदिषे उराणः । [ऋ० ४ । ७ । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

स्तिया । आपो भवन्ति । स्थापनात् ।

वृषा मिन्धूनां वृषभः रितर्यानाम् । [ऋ० ६ । ४४ । २१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

स्तिपा स्तिपापालनः । उपस्थितान्यालयतीति वा ।

स न स्तिपा उत भवा तनूपाः । [ऋ० १० । ६६ । ४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

जवारु जवमानरोहि । जरमाणरोहि । गरमाणरोहीति वा ।

अग्ने म्प आर्हपित्तं जवारु । [ऋ० ४ । ४ । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

जरुष गरुष्य गृणातेः ।

जरुयं हृन्यन्ति राये पुरन्धिम् । [ऋ० ७। ६। ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

कुलिश इति वज्रनाम । कूलशातनो भवति ।

स्कन्धासीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ।

[ऋ० १। ३२। ५ ॥]

स्कन्धो वृक्षस्य । समान्कन्नो भवति । अयमपीतरस्कन्ध पतस्मादेव ।
आस्कन्नं काये । अहिः शयते । उपपर्चनः पृथिव्याः ।

तुञ्जः तुञ्जतेर्दानकर्मणः ॥ १७ ॥

अर्थ—७१. सृप्रः । सर्पण करने=कैलने से । यह भी दूसरा नृप्र इम
[कारण] से ही । सर्पिः अथवा । तैल वा । (सृप्रकरन्तम्) सृप्र +
करन्तो=फैली हुई भुजाओं वाले [इन्द्र] को (ऊतयं) रक्षा के लिए
[हवामहे=बुलाते हैं ।] यह भी निगम होता है । करन्तो=दो बाहू ।
प्रस्नातारो=कर्मों के प्रकर्षता से ज्ञान करने वाले, संवारने वाले ।

७२. सुशिप्रः, सुशिप्रम्, पत्तेन=इम नृप्र से व्याख्या किया गया ।
(वाजे) संग्राम में, (सुशिप्र) हे श्रेष्ठ हनु वाले, अथवा हे श्रेष्ठ नासिका
वाले, अथवा हे श्रेष्ठ हनु ओर नासिका वाले [इन्द्र] (गोमति) गौओं
वाले, [संग्राम में ।] यह भी निगम होता है । शिप्रे=दोनों हनु, दोनों
नासिकाएं अथवा । हनुः हन्ति से । नासिका नसति [=नतिकर्मा,
नमतिकर्मा] से ॥ (शिप्यस्व)=विमुञ्च=खोलो (शिप्रे) दोनों हनु [हविर्भक्षण
के लिए] (वि सृजस्व)=प्रेरय=प्ररित करो (धेने) जिह्वा और उपजिह्वा
को । यह भी निगम होता है । धेना दधाति से ।

७३. रंसु, रमण से । [सोमाहुति नामक ऋषि की अग्निदेवता की
ऋक् ।] (सः) वह [अग्निः] चित्रेण=विचित्रा-विचित्रा से (चिकित्ते)
जाना जाता है (रंसु) रमणीय स्थानों में (भासा) नाना वर्णों की दीप्ति
से । यह भी निगम होता है ।

७४. द्विवर्धाः, [महान् इन्द्र] दोनों स्थानों में परिघृढः=बढ़ा हुआ ।
[दोनों स्थान=] मध्यम स्थान में और, उत्तम स्थान में=द्वीः लोक में ।

(उत) और (द्विवर्धा.) दोनों मध्यम और उत्तम स्वानो मे बदा हुआ,
(अमिनः) अपरिमित मात्रा वाला (सद्दीभिः) बलो से । यह भी निगम
होता है ।

७४. अक्रः, आक्रमण से । (अक्रः न वञ्चि) प्राशर=सोट=दुर्ग के
समान [सेना और उस की सामग्री को अथवा परचक्र के आवरण को]
धारण करने यात्रा (समिधे) सशाम मे (महीनाम्) महीनी शत्रु सेनाओ
वाले । यह भी निगम होना है ।

७६ उराण , बद्ध करता हुआ ॥ (ईयसे) दूतरूप मे [तू] जाता
है, (प्रदिथ) पुराना, चिरन्तन (उराण.) अल्प को बहुत करता हुआ ।
यह भी निगम होना है ।

७७ स्तियानाम् । स्तिषा आप होती है । स्त्यायनात्=[हिमभाज से]
सह्य होने से, अथवा शब्द करने से ॥ (वृषा) [इन्द्र] वर्षिता=वेष्ठा
(सिन्धूनाम्) [अन्तरिक्षस्थ आदि] नदियो का (वृषभः) [ओर]
वर्षिता (स्तियानाम्) अल्प. का ॥ यह भी निगम होता है ॥

७८. स्तिषा , आप. का पालक । उपस्थितो को पालता है अथवा ।
=अस्ति+पा.=स्ति+पा ॥ वह [अग्निः] हमारी (स्तिषाः) उपस्थित
[हवियो] का पालक (उत) और [भव] हो (तनूपाः) धरीरो का
रक्षक । यह भी निगम होता है ।

७९ जराह । जरमान्=जग वाला [आदित्य मण्डल] रोहि=
आरोहण करता है । जरमाण =जरण करता हुआ रोहि=आरोहण करता है ।
गरमाण=निगलता हुआ रोहि=आरोहण करता है, अथवा ॥ (अग्ने) मृष्टि
के आरम्भ मे (रूप.)=रिप=मृषिवी से [ऊर] (आरपितम्)=
आरपितम्=रखा (जवारु) वेग से आरोहण करने वाले आदित्य मण्डल
को [देवो ने] । यह भी निगम होता है ।

८० अरुधम्, गरुधम्=गृणाति से स्तुति वाचा और गति वाला ।
(अरुधम्) स्तोत्र को (हर) पढ़वाना वा स्तुति करता हुआ (पक्षि) पूजो,
(रावे) धम के लिए (पुरन्धिम्) बृहकर्मा को वा बृहप्रज्ञा वाले को ।
यह भी निगम होना है ।

८२. कुलिशाः, यह वज्र का नाम [है ।] कूलशातनः=किनारों को काटने वाला होता है ॥ (स्कन्धांसि इव) वृत्तों के स्कन्धों के समान, [जैसे वे] (कुलिशेन) वज्र से (यिवृत्तणा) विविध प्रकार से छिन्न होते हैं, [जैसे] (अद्भिः) [छिन्न हुआ] वृत्र (शयते) लेटता है (उपपृक् पृथिव्याः) आलिङ्गन कर के पृथिवी का ॥ स्कन्धः=ऊन्त्रावृथा का । समा-स्कन्धः, भले प्रकार [वृत्त पर] लगा हुआ होता है । यह दूसरा स्कन्ध [मनुष्य का] भी इसी कारण से [है ।] आ+स्कन्धं=लगा हुआ होता है, कायं=शरीर पर । अद्भिः शयते=वृत्र लेटता है, उपपर्चनं=आलिङ्गन कर के पृथिवी का ।

८२. तुञ्जः, तुञ्जति, दान अर्थ वाले से ॥ १७ ॥

भाष्य—इन्द्र की कैली हुईं भुजाएं । इन का भौतिक रूप अन्वेपणीय है । गोमति चाजे । गौश्रीं वाले संग्राम में । रश्मि विशेषों के संग्राम का इन शब्दों में संकेत है । द्विवर्हाः । महान् इन्द्र मध्यम स्थान और द्युः स्थान में चढ़ा हुआ है । इन्द्र का अपना स्थान अन्तरिक्ष में है, पर वह तृतीय स्थान में भी चढ़ा हुआ है । इस वृद्धि का प्रकार भी मन्त्रों से देखना चाहिए । स्तियाः, ये कैसे आपः हैं । इन आपः से अन्तरिक्षस्थ नदियां कैसे भरी रहती हैं । इन का स्त्यायन किन नियमों के अन्तर्गत होता है, ये सब वेद की विद्याओं के विषय हैं ।

जयारु, वेग से आरोहण करने वाला आदित्य मण्डल देवों द्वारा पृथिवी से ऊपर चढ़ा कर आरोपित किया गया । इसी भाव को एक ऋक् कहती है— [इन्द्र] आ सूर्यं रोहयद् दिवि । १ । ७ । ३ ॥ इन्द्र ने सूर्य को आरोहयत्=चढ़ाया छुलोक में । पुनश्च तैत्तिरीय संहिता का प्रवचन द्रष्टव्य है— असाधाद्रिष्यो ऽस्मिन् लोक आसीत् । तं देवाः पृष्ठैः परिगृह्य सुवर्गं लोकम् अगमयन् । ७ । ३ । १० ॥ मै० सं० में भी ऐसा ही विज्ञान बताया गया है—इह वा असा आदित्य आसीत् । तमितो ऽध्यमुं लोकम् अहरन् । १ । ११ । ७ ॥ यह सूर्य पहले पृथिवी के पास ही था । तदनु उसे देवों ने ऊपर-ऊपर चढ़ा कर छुलोक में स्थापित किया । यास्क ने जयारु पद के निर्वचन जयमानरोहि=वेग पूर्वक आरोहण करने वाला कह कर सारा भाव स्पष्ट किया है । यास्क के इस पद के शेष दो निर्वचन भी गम्भीर तथ्यों का संकेत करते हैं । जब आदित्य मण्डल ऊपर की ओर वेग से चढ़ रहा था, तब यह अनेक पदार्थों को जीर्ण करता जा रहा था । और अनेक पदार्थों को गरमाय

करना हुआ, अर्थात् निगलता हुआ ज्ञा रहा था । दुर्ग और स्कन्द ने इन दोनों भावों को स्पष्ट नहीं किया । साथ ही इन भावों को समझ नहीं पाया । वेदविद्य बहुत काल से लुप्त सी हो रही है ॥ १८ ॥

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः ।

न विन्धे अस्य सुप्रतिम् ॥ [ऋ० १ । ७ । ७ ॥]

दाने दाने य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो नास्यते विन्दामि समाप्तिं स्तुते ।

वर्हणा परिर्वहणा ।

बृहत्त्वा असुरो वर्हणा कृतः । [ऋ० १ । १४ । ३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—(तुञ्जे-तुञ्जे) दान म, दान में (ये उत्तरे स्तोमा) जो उत्कृष्ट स्तोत्र हैं इन्द्र के, ब्रह्म धारण करने वाले के, (न विन्धे) न जान सका है (अस्य) इस की [उन से] (सु प्रतिम्) पूर्ण स्तुति को, [इन्द्र के गुणाधिक्य के कारण ।] दान में दान म जो उत्कृष्ट स्तोत्र [हैं] इन्द्र के बली के, नहीं इस की (ते) उन स्तोत्रों से जानता है समाप्तिं स्तुते = स्तुति की समाप्ति को ।

८३ वर्हणा=परिवर्हणा=बड़े हुए से । (बृहत् अथा) महाबल असुर बड़े हुए [इन्द्र] से (कृत) किया गया । यह भी निगम होता है ॥ १८ ॥

भाष्य—इन्द्र की अर्थात् देव इन्द्र अथवा परमात्मा की विभूति मन्त्रों में स्तुति वाले कथनों से समाप्त नहीं होनी । वह अर्थनातीत है । असुर, वेद में असुर पद ब्रह्म और ब्रह्म आदि के लिए है ॥ १८ ॥

यो अस्मै प्रंस उत वा य ऊर्ध्वनि सोमं सुनोति भवति पुमो अर्ध ।
अपाप शमस्तनुर्दिभूति तनुशुभ्रं मघना यः क्वामस्रः ॥

घंसः इत्यहर्नाम । अस्यन्तेऽस्मिन् रसाः । गोरूध उद्धततरं भवति । उपोन्नद्धमिति वा । स्नेहानुप्रदानसामान्याद्रात्रिरप्यूध उच्यते । स योऽस्मा अहन्यपि वा रात्रौ सोमं सुनोति भवत्यह द्योतनवान् । अपोहत्यपोहति । शक्रः । तितनिपुं धर्मसन्तानादपेतमलङ्करिष्युमयज्वानम् । तनूशुभ्रं तनूशोभयितारम् । मघवा । यः कवासखः । यस्य कपूयाः सखायः ।

न्याविध्यदिलीविशैस्य दृब्हा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्मिन्द्रः ।

[ऋ० १।३३।१२ ॥]

निरविध्यदिलाविलशयस्य दृढानि । व्यभिनच्छृङ्गिणं शुष्मिन्द्रः ॥१६॥

अर्थ—=४. ततनुष्टिम् । (यः) जो [यजमान, धर्म का पालक] (अरभै) इस [इन्द्र] के लिए (घंसे उन वा य ऊधनि) दिन में अथवा जो रात्रि में (सोमम्) सोम को (सुनोति) बहाता है, अर्थात् यज्ञ करता है, [वह] (भवति) होता है (द्युमान्) दीप्तिमान्, ऐश्वर्यवान् (अह) ही । (शक्रः) इन्द्र=परमात्मा (ततनुष्टिम्) [अधर्म में धन] फैलाने वाले को [अथवा इन्द्रिय विषय भोगों में रत रहने वाले को] (अप अप ऊहति) नष्ट करता है, नष्ट करता है, (तनूशुभ्रम्) तनू=शरीर को [स्रग् अनुलेपन आदि से] सजाने वाले को (मघवा) धनवान् इन्द्र (यः कवासखः=कवसखः) जो कुमखा अर्थात् पापमयी भोगवृत्ति वालों का सखा पुरुष है, [ऐसे पापी को ।]

घंसः यह दिन का नाम है । अस्यन्ते=घंसे जाते हैं [आदित्य द्वारा] इस में रस । गोः ऊधः, उद्धततरम्=अन्य शरीर अङ्गों से अधिक ऊपर को उठा हुआ होता है उप उन्नद्धम्=[उदर के] समीप बन्वा होता है, अथवा । स्नेह अनुप्रदान=स्नेह के अनु+प्रदान की समानता से रात्रि भी ऊधः कहाती है । वह [पुरुष] जो इस [इन्द्र] के लिए दिन में अथवा रात्रि में सोम को उत्पन्न करता है, होता है निश्चय ही द्योतनवान्=ऐश्वर्यवान् । नष्ट करता है, नष्ट करता है शक्र, तितनिपुम्=धर्मसन्तानात् अपेतम्=धर्म के विस्तार करने से पृथक् हुए को, अलङ्करिष्युम्=अपने को अलंकृत करते रहने वाले को, अयज्वानम्=यज्ञ न करने

बाने को, तनूशुभ्रम्=तनूशोभयितारम्=[सदा] शरीर को सजाते रहते बाने को । मघना=मनयुक्त इन्द्र । य' क रासख =जो कुत्सिन=निन्दित=नीच पुरुषों का सखा है । जिम के कपूया=वापी साथी हैं ।

=५ इलीयिश् । (नि अत्रिध्यत्) नि=निरुक्त्य=वीर फाड़ कर बीच दिया (इलीयिश्य) =इला+यिल+शुयस्य=पृथिवी के बिल में शयन करने वाले [वृत्र] के (इल्हा) दृढ़ स्थाना को । (शृङ्गिणम्)=सींगों वाले=चोटियों वाले को (वि+अभिनत्)=विविध प्रकार से तोड़ दिया (शुष्णम्)=बल वाले [वृत्र] को (इन्द्र) इन्द्र ने ।

निर् अत्रिध्यत्=पूरा बीच दिया=पृथिवी के बिल में शयन करने बान के इद्वानि=दृढ़ स्थानों को । वि+अभिनत्=तोड़ दिया सींग वाले, बलगाली वृत्र को इन्द्र ने ॥ १९ ॥

भाष्य—धर्म के पाक्षक, यज्ञ कर्ता की महिमा का वर्णन इस श्लोक में है । जो याज्ञिक दिन और रात में सोम बढ़ाता है, धन्यवाद का पात्र है । जो केवल शरीर सजाता है और धर्म का विस्तार नहीं करता, यह नष्ट होता है । भात्र के दुग में पापी पुरुष शरीर ही सजाते रहते हैं ।

इलीयिश् का अरबी में अपभ्रंश इबलीस-ईतान है । वृत्र के शत्रु का उस की चोटिया, मेघ के अङ्ग हैं ॥ ११ ॥

अस्मा इद्दु प्र मरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः ।

गोर्न पर्न वि रदा तिरश्रेष्यन्नर्णीस्यपां चरध्वे ॥

[ऋ० १ । ६१ । १२ ॥]

अस्मि प्रहर । तूर्णै ररमणा । वृत्राय वज्रमीशान' । कियेधा' कियेधा इति वा । क्रममाणथा इति वा । गोर्न वि पर्याणि विरद मेघस्य । इष्यन्नर्णा सि । अपा चरणाय ।

मृमि आन्यत ।

मृर्मिरस्पृषिङ्मर्त्यानाम् । [ऋ० १ । ३१ । १६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

विधितो विप्राप्त' ।

पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन् ॥ [ऋ० ७।६०।७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

अर्थ—=६. कियेधाः । (अस्मा=अस्मै) इस के लिए (इत उ) पदपूरणी (प्र भर)=प्रहर=प्रहार कर (तूतुजानः)=त्वरमाणः=तेजी करता हुआ [हे इन्द्र] (वृत्राय) वृत्र के लिए (वज्रम्) वज्र को (ईशानः) [तू जो] ईशानकर्ता है [सब का] (कियेधाः)=कितने ही बल का धारक । (गोः न पर्व) रश्मि के पर्व=जोड़ों को जैसे (वि रद्) [असुर काटता है, वैसे] काटो (तिरश्चा) टेढ़े [चोट करने वाले वज्र] से । (इष्यन्) चलाते हुए (अर्णासि) आपः को । (अपाम्) आपः के (चरध्वै) चलाने को [पृथिवी की ओर ।]

इम के लिये प्रहार कर । तूर्णम्=त्वरमाणः=शीघ्र करते हुए । वृत्र के लिए वज्र को, ईशान करता हुआ [जो तू है ।] कियेधाः=कियत्=कितने [बल] का धारण करने वाला अथवा । क्रममाणः=चलते हुए को धाः=धारण करने वाला अथवा । गोः इव पर्वाणि=रश्मि के पर्वों को जैसे [काटता है] वैसे काटो मेघ के [पर्वों को ।] इष्यन् अर्णासि=गति देते हुए जलों को, [इन] आपः के [पृथिवी की ओर] जाने के लिए ।

=७. भूमिः, भ्राम्यति से । (भूमिः असि) [तीनों लोकों में] भ्रमण करने वाले=अप्रतिहतगति हो [हे अग्ने] (ऋषिकृत्) ऋषि बनाने वाले [दृष्टि देने वाले]^१ हो (मर्त्यानाम्) मरणवर्मा मनुष्यों के । यह भी निगम होता है ।

=८. विष्पितः=वि प्राप्तः=विविध रूप से प्राप्त हुआ ॥ (पारम्) पार को (नः) हमें (अस्य) इस [नदी रूप संसार] के (विष्पितस्य) विविध रूप से प्राप्त हुए के (पर्षन्) ले जाएं [ये मित्र, वरुण और अर्यमा ।] यह भी निगम होता है ॥ २० ॥

भाष्य—अस्मा इदु ऋक् नोधा ऋषि की है । वेद का मन्त्रकृत् नोधा ऋषि पृथिवी पर का मानव नहीं है । गोः न पर्व=रश्मि के जोड़ों को जैसे ।

१. अग्नेर्वै मनुष्या नक्तं चक्षुषा पश्यन्ति । सूर्यस्य दिवा । एतौ वै चक्षुषः प्रदातारौ । मै० सं० २ । ३ । ६ ॥

यह सुविदित है कि इन्द्र ऋषया सूर्य के जो हरि हैं वे रश्मय ही हैं। एक एक हरिम के दो वर्ण गोपथ प्रा० उ० ६। ६ में कहे हैं। समस्त वर्णों का सन्धि स्थान काई पूर्व भी हो। मन्त्र भी हरिमवाँ रहते हैं। यथा—मरुतो रश्मयः। तायस्य प्रा० १४। १२। ३ इ हरिमवाँ के पूर्व हैं। निरुक्त २। ६ में पूर्व कहा गया है—सर्वे ऽपि रश्मयो गावः उच्यन्ते। तथा च—आदिन्यो ऽपि गौः उच्यन्ते। ऋषिमन्थव कहता है कि इस में भी पूर्व हैं। यह वही यास्क के एक अन्य मन्त्र के प्रमाण से दर्शाया है।

अब प्रश्न होता है कि हम ने इस ऋक् में गो पद का पशु रूपी गौ अर्थ न कर के हरिम अर्थ क्यों किया है, तो हम का उत्तर यह है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ११ सूक्त में यह ऋक् है। उस का ऋषि नोधा है। वेदमन्त्रों में जिनने ऋषि नाम हैं, वे सब दिव्य विभूतियाँ हैं। उन के द्वारा प्रजापति-ईश्वर की प्रेरणा से स्वाभाविक रूप में ही मन्त्र ऋषया प्रसू किये गए। उन्हीं मन्त्रों और उन के अर्थों का दर्शन करने वाले पार्थिव ऋषि हुए। पार्थिव ऋषियों ने दिव्य विभूतियों के नाम पर ही अपने नाम रखे।

अब यास्क मुनि की महती सूक्ष्मदृष्टि देखिए। उस ने जब भी केवल दिव्य ऋषियों का उल्लेख किया, तब उस ने उन के नामों के व्याख्यान के समय क्रिया के वर्तमान काल का रूप लिखा। वे दिव्य ऋषि अनादि हैं, वे सदा हैं। अतः उन के नामों के साथ वर्तमान काल के रूप का प्रयोग ही शोभा देता है। यथा—ऋषि भुवसो भवति। ३। ११ ॥ नोधा ऋषिर्मरति। ४। १९ ॥ उच्यन्ते ऋषिर्मरति। ४। १२ ॥ ऋषिर्नदो भवति। २। २ ॥ पर जब इन नामों के अनुकरण पर अपना नाम रखने वाले पार्थिव ऋषियों, पार्थिव राजाओं अथवा तद्विषयक पार्थिव घटनाओं का उल्लेख अभिप्रेत हुआ, तो वही यास्क ने वभूज किराहण का प्रयोग किया।

दिव्य नोधा —अब नोधा ऋषि का प्रसङ्ग देखिए। अस्मा इदु इन प्रतीक वाले १२ वें मन्त्र से आगे इस सूक्त के १४ वें मन्त्र में—सद्यो भुवद् धीर्याय नोधा। अर्थात्—नोधा ऋषि तत्काल धीर्यवान् हो गया ऐसा कथन है। यही दिव्य नोधा का वर्णन है। अब नोधा विषयक तायस्य प्रा० ७।१०।१० का प्रवचन देखिए। तदनुसार सृष्टि बनते समय देवों ने ऋषि-वेदमन्त्रों का विभाग करते हुए कधीवद् के पुत्र नोधा को एक साम दिया। वह नोधास साम हुआ। उस दिव्य कधीवद् के नाम पर किसी पार्थिव ऋषि ने भी अपना नाम कधीवान् रखा।

दिव्य नोधाः की गौएं—वही दिव्य नोधाः ऋक् १० में कहता है—
 गा न ब्राणा अवनीरमुञ्चत् । गौएं हमारी [जो] वृत्र से आवृत हो गईं,
 [उन्होंने ने] अवनीः=रक्षा करने वाली आपः अमुञ्चत्=छोड़ीं । ये वृत्रासुर
 से आवृत गौएं पार्थिव गौएं नहीं हैं । ये मरुतों की रश्मियां ही गावः हैं,
 जिन्होंने आपः छोड़ीं । मरुत ही आपः का न्यावन करते हैं । अग्निर्वा इतो
 वृष्टिमीदृष्टे । मरुतो ऽमुतश्चयावयन्ति । मै० सं० २ । १ । ८ ॥ नोधा की
 वैसी गौएं=रश्मियां ही प्रस्तुत ऋक् में वर्णित हैं । ये पार्थिव गौएं नहीं हैं, प्रथुत
 अन्तरिक्षस्थ रश्मियों का कोई प्रकार हैं । उन में से किसी रश्मि के पर्वों के कटने
 का संकेत यहां है ।

गौएं रश्मियां भी हैं, ऐसे प्रमाण वेद में बहुधा मिलते हैं । उपायन उपसां
 गोमतीनाम् । ऋ० २ । २८ । २ ॥ अर्थात्—आगमन पर उपाश्रों के, रश्मियों
 से युक्त हुईं के । गो का रश्मि अर्थ वेद के चिह्नों में अति प्रसिद्ध है ।

अतः इस मन्त्र से यह कभी सिद्ध नहीं हो सकता कि वेदधर्म को मानने
 वाले प्राचीन आर्य गोवध करते थे । ऐसा कथन वेदविद्या से अनभिज्ञ लोग ही
 करते हैं । यदि कोई कहे कि यह अर्थ उसे मान्य नहीं, तो उसे इन तर्कों का
 खण्डन तर्कयुक्त मार्ग से करना चाहिए ।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय के प्रसङ्ग में—गौः के
 प्रसङ्ग में भारत के सर्वोच्च न्यायालय का एक निर्णय मेरे सामने है ।^१ उस निर्णय
 पर, १. श्रीएस. आर. दास, प्रधान न्यायधीश, २. श्री टी. एल. वेङ्कट राम अय्यर,
 न्यायधीश, ३. श्री एस. के. दास, न्यायधीश, ४. श्री पी. वी. गजेन्द्र गद्कर,
 न्यायधीश और ५. श्री विवीयन बोस, न्यायधीश के हस्ताक्षर हैं । इस निर्णय
 पर दी गई तिथि एप्रिल २३, सन् १९५८ है । मैंने उस निर्णय के विषय में कुछ
 नहीं कहना । पर उस के लगभग मध्य में लिखी गई निम्नलिखित पंक्तियां ध्यान
 देने योग्य हैं—

In Rig Vedic times goats, sheep, cows, buffaloes,
 and even horses were slaughtered for food and for
 religious sacrifice and their flesh used to be offered
 to the Gods. Agni is called the "eater of ox cow" in
 Rig Veda (VIII. 43, 11).

१. गो हत्या निरोध समिति, देहली, द्वारा मुद्रित ।

अर्थात्—ऋग्वेद के काल में बकरे, भेड़े गीए, भैंसे और घोड़े तक भी भोजन और धार्मिक बलि के लिए बध किए जाते थे । और इन का मांस देवताओं को भेंट किया जाता था । अग्नि को ऋग्वेद में 'ईश्वर गाय का खाने वाला' (= ४३, ११) कहा है । इति ।

भैंसे शतपथ ब्राह्मण आदि से भी कई इस प्रसङ्ग की अगची पकियां यहां उद्धृत नहीं कीं । उन का ऋग्वेद से सीधा सम्बन्ध नहीं है ।

उक्षा और वशा का अर्थ—इस लेख में जिस ऋक् का प्रमाण है, वह निम्नलिखित है—

उक्षाध्याय वशाध्याय सोमपृष्ठाया वधमे । स्तोमैर्विधेमागतये ॥
 ऋ० ८ । ४३ । ११ ॥^१ इस ऋगन्तर्गत उक्षा और वशा पदों का दीर्घ अर्थ जानने के लिए इस ऋक् वाले सूक्त का अर्थ और देवता जानना आवश्यक है । अग्नि है इस का विरूप आह्निरस और देवता अग्नि । अह्निरा अग्नि अग्नि के योग से जन्मा एक प्राणविशेष है । उस के आठ पुत्र हैं । पार्थिव अह्निरा के आठ पुत्रों में स भी विरूप आह्निरस एक है ।^२ दिव्य अह्निरा की सन्तति शुक्राक और अन्तरिक्ष में है । उपरिष्ठत सूक्त में अन्तरिक्षस्थ जानवेद अग्नि का भी कई बार (मन्त्र २, ६ २३ में) स्मरण है । अतः इस सूक्त की देवता अग्नि का सम्बन्ध अन्तरिक्ष जाक से अवश्य है । उस अन्तरिक्षस्थ अग्नि के प्रकरण में उक्षा पद का संगत अर्थ आग स्पष्ट करत है ।

^१ उक्षा पद का अर्थ—उक्षा का साधारण अर्थ सन्ध है । यह अर्थ ऋग्वेद से ही स्पष्ट है । यथा, मरुतों के सूक्त में उत्तन्त अभ्वान् [मरुत] । २ । ३४ । ३ ॥ अर्थात्—सोचने हैं [मरुत] अर्थात् को [आदित्य आदि के अर्थों को ।] यहां उत्तन्त कियापद है । उस का दूसरा अर्थ बनता ही नहीं । ध्यान रहे कि मरुतों का यह लिखन कर्म अन्तरिक्ष में है ।

ऋग्वेद का अगज्ञा मन्त्राला भी दृश्य है । प्राञ्चो मदन्त्युत्तयो अजुर्था देवा । ऋ० ३ । १० । १० ॥ अर्थात्—प्राची दिक् की ओर जाते हुए एवं को प्राप्त करते हैं, उद्गण [=साम] सन्ध जीर्ण न होने वाले देव । यहां उद्गण विशय्य है देवा का ।

अगला ऋगंश भी अत्यधिक स्पष्ट है । [देवाः] श्रीक्षन् वृत्तैः ।

अर्थात्—[देवों ने] सींचा [इस अग्निः को] धृत्तों से ।

अतः उच्चा जब नाम पद होता है, तो वह सिद्धन समर्थ पदार्थ का द्योतक है । क्योंकि वैल सिद्धन समर्थ है, अतः वह भी उच्चा कहाता है । पर यह निर्विवाद है कि वैल के अतिरिक्त अन्य अनेक पदार्थ भी जो सिद्धन समर्थ हैं, प्रकरणानुकूल उच्चा नाम धारते हैं ।

२. उक्षा अन्तरिक्ष में—ऋग्वेद का अगला मन्त्र उच्चा पद का अर्थ खोलने में अत्यन्त सहायक है—

उच्चा समुद्रो^१ अरुपः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश ।

मध्ये दिवो निहितः पृश्निर्गश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तो ॥

॥ ५।४७।३ ॥

अर्थात्—उच्चा समुद्र है, अरुपः=दीप्तिमान् है, सुपर्णः श्रेष्ठ परों वाला है । उस ने पूर्वपिता की योनि को घेर लिया । मध्य में द्युलोक के रखा है अश्मा पृश्नि, वह घूमता है, रजसः=लोकों के, पाति=रक्षा करता है, अन्तो किनारों को ।

मै० सं० गत समुद्रे पाठ के अनुसार अर्थ है—उच्चा समुद्र में [अन्तरिक्ष रूप समुद्र में ।]

निश्चय ही यहां उच्चा पद वैल का वाचक नहीं है । और पिता की योनि पद भी ध्यान देने योग्य हैं । क्योंकि पिता जो पुमान् है, उस की योनि नहीं होती । अतः यहां योनि का अर्थ उत्पत्ति-स्थान ही लिया जा सकता है । वह उच्चा पूर्व पिता (=द्युलोक ?) के उत्पत्ति-स्थान को घेरता है । अतः उच्चा का सर्वत्र वैल अर्थ करना वेदविद्या के नितरां विपरीत है ।

३. उच्चा पृश्निः—ऋग्वेद १।१६४।४३ मन्त्र का उत्तरार्ध भी द्रष्टव्य है—

उक्षाणं पृश्निमपचन्त^२ वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥

१. मै० सं० २।१०।४३ ॥ में समुद्रः के स्थान में समुद्रे पाठ है ।
तै० सं० ४।६।३, ११ में ऋग्वेद के समान ही पाठ है ।

२. वीराः, वेद में यह प्रायः मर्तों का विशेषण है । देखिए ऋ० ५।८५।४॥
४५

अर्थात्—उषा पृथिवी को पकाया धीरों ने, ये धर्म पहले थे ।

शौनक का प्रामाणिक अर्थ—इस मन्त्र पर बृहदेवता ४।४१ में एक शाला के कोपों का पाठ है—सोम उषा । अर्थात्—इस मन्त्र में उषा पद का अर्थ सिद्धन समर्थ सोम है । इस अर्थ की कोई विज्ञ पुरुष अवहेलना नहीं कर सकता । अनुक्रमणी में कात्यायन ने भी उषा पद से सोम का ग्रहण किया है । अतः इस मन्त्रार्थ का अर्थ है—बहुवर्षा सोम को पकाया धीरों ने ।

इस प्रकार ऋ० ५।४०।३ का स्पष्ट अर्थ हुआ, सोम ही समुद्र आदि है । यह समुद्र अन्तरिक्षस्थ है । अन्तरिक्ष में ही सोम का उषा रूप न्यास है । वही स वह पृथिवी पर की आपधियों आदि में जीवन का सिद्धन करता है । वही सोम पूर्व पिता=पृथ्वी में होने वाले अपने उत्पत्ति स्थान में प्रविष्ट हो गया ।

उषा, छायापृथिवी का धारक, पोषक—ऋग्वेद में एक और मन्त्रांश है—उषा स छायापृथिवी विभर्ति । १०।३१।८॥ अर्थात्—उषा वह पृथ्वी और पृथिवी लोक का धारणकर्ता है । पृथ्वी का वह पार्थिव पशु बैल धारण करता है, यह कथन बनता ही नहीं । अतः यह उषा बैल पशु नहीं है । वह सूक्ष्म सोम और परमात्मा है । इस प्रकार समझना चाहिए कि उषा पद दण्ड कर उस का बैल अर्थ कर देना विज्ञ पुरुषों को शोभा नहीं देना ।

८ देव पशु—वेद में जहाँ जहाँ देवों और वितरों=नाशों के लिए पशुओं का किसी प्रकार का भी विधान है वह सब इन देव पशुओं का है । पृथ्वी और अन्तरिक्ष के अनेक सूक्ष्म पदार्थ ही देव पशु हैं । उन का स्वरूप और ठीक अर्थ समझने के लिए वैदिक विज्ञान में अध्ययन की आवश्यकता है । इस विषय में निम्न उद्धृत प्रवचन बहुत प्रकाश डालता है—

स्वर्भानुर्वा आसुर सूर्य तमसाविष्यन् । तस्य देगस्तमो ऽपाग्रन् ।
पत् प्रथम तमो ऽपाग्रन् सावि वृष्णामवन् । । यद् अघ्यन्ताद्
अपाग्रन्तात् साविर्दशाभवत् । त ऽनुपन् देवपशुमिर्म कामायातमामदा
ति । अथ वा इय तर्हि ऋक्षासीत् । अलोमिका ।

अर्थात्—जब पृथिवी पर अभी कोई वनस्पति और आपधि नहीं उगी थी, तब असुर के पुत्र स्वर्भानु ने सूर्य को तम=अंधकार से भीषा । उस सूर्य के

अन्धकार को देवों ने नष्ट किया । वह अन्धकार चार वार नष्ट किया गया । चौथी वार जो नीचे से तमः काटा गया, वह अविर्वशा हो गई ।

आगे पाठ है—

अथो आहुः—यः प्रथमः तमस्यपठते सूर्यस्य रश्मिर्यूपस्य चषाले चातनोत् साविर्वशाभवत् इति । मै० सं० २ । १ । २ ॥^१

अर्थात्—वेद ज्ञाता ब्रह्मवादी कहते हैं । उस देवी यज्ञ में सूर्य की जो पहली रश्मि यूप के चषाल में फैली, वही अविर्वशा हुई ।

५. वेद के ईसाई यहूदी अनुवादक—वैदिक पदों के इन गम्भीर अर्थों के होते हुए, जो अत्याचार इन ईसाई स्कालर नामधारी अनुवादकों ने वेदार्थ पर किया है, वह अक्षम्य है । उन्हीं का अनुकरण कर के भारतीय लोग भी वेद में एक कसाई खाना मानने लगे हैं ।

इसी प्रसङ्ग में वैदिक विद्वानों को एक दूसरा मन्त्र भी देखना चाहिए—

पीवानं मेपम् अपचन्त वीराः । ऋ० १० । २७ । १७ ॥

अर्थात्—मोटे मेप को पकाया वीरों ने [इन्द्र के लिए ।] मेप और मेपी विषयक अनेक मन्त्र वेद में हैं । इन्द्र स्वयं एक मेप बना था । उन को पार्थिव मेढा समझना सरासर भूल है । ये सब अन्तरिक्ष के पदार्थ हैं ।

६. वशा—उष्ण पद के साथ वशा पद पर पहले कुछ प्रकाश डाल दिया गया है । अब अधिक देखिए । भगवान् ऐतरेय का प्रवचन है—यद् वशम् अस्त्रवत् सा वशाऽभवत् । तस्मात् सा हविरिव । १३ । २६ ॥

अर्थात्—जब गायत्री छन्द सोम को नीचे लारहा था, तब सोमपाल कृशानु ने उस के एक पाद में एक तीर मारा । उस तीर के व्रण से जो मेद बहा, वह वशा हुई । विचारने का स्थान है कि आग्नेय परमाणुओं का संयोगविशेष ही सोमपाल कृशानु है । उस का तीर कोई विद्युत् धारा है । उसी धारा से वायव्य

१. यह सारा प्रकरण तै० सं० २ । १ । १—२ से भी तुलना करने योग्य है । वहां खण्ड ७ में—शित्तिपृष्ठा वशा, द्विरूपा वशा, बहुरूपा वशा, उच्चवशः आदि स्मृत हैं । इन सब का भाव वहाँ से जान लें ।

देश में सुन्दों में गतिरोध हो कर बन्ध हुआ । उस से ही मेरू बड़ा और तब वशा जन्मी । यह वशा पार्थिव बन्ध्या गौ नहीं है । परन्तु उस देवी श्रद्धा की दृष्टि से याज्ञिक लोग किसी यज्ञ में किसी वशा=बन्ध्या गौ का आश्रमन करते थे । बड़ी आश्रमन क्रिया उत्तर काल में बदली और मास भक्षण त्रिव लोकों ने यज्ञ में पशु बध आरम्भ कर दिया । अतः मूल मन्त्र में वशा का अर्थ बन्ध्या गौ नहीं, अग्नि आदित्य रश्मियों का कोई प्रकार है ।

७. मन्त्रार्थ—अत आग्नेद ५ । ४३ । ११ का टीका अर्थ है—उदाश्राय =सोम का एक प्रकार जिस का अन्न है^१, उस के लिए, यशाश्राय=आदित्य की रश्मि का अन्तरिक्षस्थ स्नेहाश युक्त जिस का अन्न है, उस के लिए, सोमपृष्टाय =विशुद्ध सोम जिस के पृष्ठ भाग पर है, उस अग्नि के लिए ।

इस देवपशु वशा का स्नेहाश ही वर्षा के साथ पृथिवी पर आकर ओषधियों और वनस्पति आदिकों में स्नेह का रूप धारण करता है । और अग्नि जो अमा-घमां हो कर अन्तरिक्ष में सदा जातिवेद रूप में वर्तमान है वह अपना अन्न सोम और स्नेह से ग्रहण करता है । इस अर्थ के बिना इस मन्त्र की सृष्टिक्रिया दर्शाने वाली स्थिति कदापि सम्भव में नहीं आ सकती । विदित रहे कि उदा और वशा के ही नहीं, प्रयुज अन्न, मेरू और अन्न आदि के अर्थ भी जानने चाहिए ।

यदि और यज्ञ ही पशु—अन्तरिक्ष में अगणित पशु है । पार्थिव पशुओं में उन का क्या स्थान है और कौन उन का प्रतिनिधि है इस विषय में किसी को जोसा न रहे, अतः प्रवचनकर्ता मुनियों ने स्पष्ट कहा है—एत च पशवो यद् यदियञ्च यथाश्च । मै० सं० १ । ५ । ११ ॥ अर्थात्—ये पशु हैं जो ग्रीहि और यज्ञ हैं ।^२

१ सोम स्वयं कृता है—अग्निर्वागर तमसं सोम आह तवाहमग्निं हवो-
-योका ॥ श्रु० ५ । ४५ । १५ ॥

२ इसी भाव से पञ्चमंत्र में लिखा है—ये यज्ञकर्मणि पशून् आगदयन्ति
तेऽग्निं सुखा. परमार्थं भुजं जाति । यथ केनचिदुक्तम्—यत्रैव अग्निः ।
तत्रैव शीघ्रं शतविका उच्यते । न जायते, ह्युत्पद्यतेनात् । काश्यायनीय,
श्लो० १५ के पश्य त् ।

सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय में, इस से आगे शतपथ ब्रा० ३ । ४ । १ । २ का उल्लेख है । जैसा वहाँ शतपथ का संकेत है, वैसा भाव ऐतरेय ब्राह्मण अध्याय ३ खण्ड ४ में भी है । ये लेख बहुत उत्तर काल के हैं । अतः उन पर यहाँ विचार नहीं किया ।

ऐतिहासिक वृत्तों से इतना ठीक प्रतीत होता है कि भारतीय इतिहास के बहुत उत्तर काल में यज्ञों में पशुवध आरम्भ हो गया था । परन्तु यह सत्य है कि सतयुग में और त्रेता के आरम्भ में जब मांसाहार ही नहीं था, तो गोमांस की बात कैसे हो सकती है । वेद मन्त्रों में गोमांस खाने आदि का विधान कहीं नहीं ।

भूमिः, अग्निः का तीनों लोकों में भ्रमण है । इन तीनों लोकों में इस के परमाणुओं का संयोग-विभाग विभिन्न प्रकार का हो जाता है । यह अग्निः सरण-धर्मा मनुष्यों को दृष्टि देता है । प्राणियों के नेत्रों में दर्शन की शक्ति इन आग्नेय परमाणुओं से ही है । पूर्व इस मन्त्र के अर्थ पर टिप्पण १ में इस का प्रमाण है । पारं नः अस्य, इस नदी रूप संसार के पार हो कर मोक्ष का प्राप्त करना मनुष्य का परम ध्येय है ॥ २० ॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना ।

त्वष्टा पोषाय विष्यतु राये नाभा नो अस्मयुः ॥

[ऋ० १ । १४२ । १० ॥]

तन्नः । तूर्णापि । महत् । सम्भृतम् । आत्मना । त्वष्टा धनुस्य पोषाय विष्यतु । इति । अस्मयुः । अस्मान्कामयमानः ।

रास्पिनो रास्पी । रपतेर्वा । रसतेर्वा ।

रास्पिनस्यायोः । [ऋ० १ । १२२ । ४ ॥]

इत्यपि निर्गमी भवति ।

ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा ।

१. देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २१०-२१२ । द्वितीय संस्करण ।

[आ वं श्रुञ्जस ऊर्जा व्युष्टिषु । [श्रु० १० । ७६ । १॥]

इत्यपि निगमो भवति ।]

श्रुञ्ज इत्यप्यस्य भवति ।

श्रुञ्जनीती नो वरुणः । [श्रु० १ । १० । १॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

प्रतद्वम् प्राप्तवम् ।

इरी इन्द्र प्रतद्वम् अभि सरं । [श्रु० = । १३ । २७॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २१ ॥

अथ—=६ तुरीयम् [दीर्घतमा कृता है] (तन् न) हनारे निष्
(तुरीयम्)=गीघ्र व्याजने वाजा [उदक] (अद्मुनम्) महान्, आश्वर्यं
वरञ्जए ह्य म उपस्थित होने वाला (पुष्करम्) कृत स्थान को कारण=

निवारण=झापने का

स्थानो त्वष्टा (पोषा

करे (गव) घन [

म [अन्वित म ठहरा त्वग] (न) हमारी (अस्मयु) कामना करने

वाला [त्वष्ट] ।

तत् न =हनारे निष् [तुरीयम्]=पूर्णापि=पूर्ण वापि-गीघ्र व्याजने
वाजा [उदक] [अद्मुनम्]=महान्=पदान् सम्भृत=अपने स्वह्य द्वारा ।
त्वष्टा घन की पुष्टि के लिए विध्यतु=मुञ्चित करे । इति । अस्मयुः=हमे
कामना करने वाला=हमारा भाग चाहने वाला ।

६० राक्षिण । राक्षी । राक्षि से अथवा । राक्षि से अथवा ॥
(राक्षिणम्) गद्द करने वाले [उदक का] (आषो) [अथवा]
मनुष्य [स्तोत्रा का है अधिगो ।] यह भी निगम होता है ।

६१ श्रुञ्जनि =प्रसाधन=पानना अथ वाजा [है ।] [(ष) तुष्टे
(आ श्रुञ्जस)=श्रुञ्जे-पत्रात् [(ऊर्जा व्युष्टिषु) उदका के तुष्टने पर ।
यह भी निगम होता है ।

६२. ऋजुनीती, ऋजु, यह भी इस [ऋजतिः] का होता है ।
 (ऋजुनीती) सजी सजाई गति में हमें वरुण [चलाए ।] यह भी निगम
 होता है ।

६३. प्रतद्वसू=प्राप्तवसू=प्राप्त किए धन वाला । (हरी) [आत्नीय]
 दीनों अश्वों को, हे इन्द्र, (प्रतद्वसू) प्राप्त किए धन वालों को [जोड़ कर]
 (अभिस्वर)=अभिगच्छ= [यज्ञ की ओर] जाओ । यह भी निगम होता
 है ॥ २१ ॥

भाष्य—तुगीपम्, शीघ्र व्यापने वाला उदक । आपः और वायव्य परमाणु
 शक्ति शीघ्र व्याप्त हो जाते हैं । वरुण के सूक्तों में परमात्मा की विभूतियों और
 कृपाओं का अतुलनीय वर्णन मिलता है ॥ २१ ॥

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम् ।

ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीभूतनास्मभ्यमापः ॥

[ऋ० १०।३०।११ ॥]

प्रद्विणुत नोऽध्वरं देवयज्यायै । प्रद्विणुत ब्रह्म धनस्य सनयाय ।
 ऋतस्य योगे । यज्ञस्य योगे । याज्ञे शकटेः इति वा । शकटं शकृदितं
 भवति । शनकैस्तकतीति वा । शब्देन तकतीति वा । सुखवतीः ।
 [श्रुष्टीवरीः] भूतनास्मभ्यमापः । [सुखवत्यो भवतास्मभ्यमापः ।]

चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामम् । [ऋ० १।३३।३ ॥]

दददिन्द्र बहु वननीयम् ।

पधमानद्विभुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान् ।

[ऋ० ६।८७।१६ ॥]

व्युदस्यति । पधमानानहः द्वेष्टि असुन्वतः । सुन्वतोऽभ्यादधाति ।
 उभयस्य राजा । दिव्यस्य च पार्थिवस्य च । चोष्कूयमाण इति चोष्कूयतेः
 चर्करीतवृत्तम् । सुमत् स्वयमित्यर्थः ।

उप प्राणात्सुमन्मेऽध्यायि मन्म । [ऋ० १।१६२।७॥]

उपमेतु मा [स्वय] यन्मे मनोऽध्यायि यत्न । इत्याश्वमेधिकी मन्त्र ।

दित्रिष्टिषु दित्र एष्येषु ।

स्वरं राधः श्रुताश्च कुरुङ्गस्य दित्रिष्टिषु । [ऋ० २।४।१६॥]

स्वर । समाश्रितमाश्रो महान् भवति । अणुरणु स्वर्गीयासम् । उपसर्गो लुप्तनामकरण । यथा सम्प्रति । कुरुङ्गो राज्ञ वसूव । कुरुगमपाडा । कुलगमनाद्वा । कुरु वृन्तत । क्रूरमित्यप्यस्य भवति । कुल कुण्पात । त्रिकुपित भवति ।

दूतो व्याख्यात ।

जिन्वति प्रीतिरमा ।

भूर्मि पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यप्रयः ।

[ऋ० १।१६४।५१॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २२ ॥

६४ दिनोत् । (दिनोत्=दिनोत्) भेजो (न) हमारे (अचरम्) हिमा रहिन कर्म=यत्न को (देवयज्या)=देवयज्यायै=भेजो के याग के लिए (दिनोत्) भेजो (ब्रह्म) मन्त्ररूपी स्तुतियो को (सनये) प्राप्ति के लिए (धनाताम्) धना की । (ऋतस्य) यत्न के (योग) संयोग मे (विष्यध्यम्)-विमुञ्चन=स्रोत दो [सोम स्रोत को] (ऊध) हवाने को [जैम गौ खोलनी है] (श्रुणीवरी) सुलकरी (भूतन) होवो (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (आप) हे आप ।

दिनोत्-प्रदिष्टुत्-भेजो हमारे अध्वर को देवयाग के लिए । भेजो धन्य=मन्त्रो को धन की प्राप्ति के लिए । ऋतस्य योगे=यत्न के संयोग मे । याज्ञ=यत्न सम्बन्धी छन्दे मे अथवा । शकटम्=गर्हत्+इतम्=गोबर से युक्त होता है । शनके=गने शनै तपति=व्रता है अथवा । गब्देन=गब्द करता हुआ धनता है अथवा । शशोवरी=मुखवती होवें हमारे लिए आप ।

६५. चोष्क्यमाणः । (चोष्क्यमाणः) देते हुए, हे इन्द्र, (भूरि) बहुत (वामम्) वननीय=चाहने योग्य अत्यन्त उत्कृष्ट [धन ।]
चोष्क्यमाणः=ददत्=देते हुए हे इन्द्र बहुत चाहने योग्य [धन ।]

६६. चोष्क्यते । (एधमानद्विट्) [अधर्म से] बढ़े हुआ का शत्रु (उभयस्य राजा) दोनों दिव्यों और पार्थिवों का राजा (चोष्क्यते) परे फेंकता है [अधर्मी अयज्ञशील को] (विशः) आत्मीय प्रजा को इन्द्र मनुष्यों को [धर्मशीलों को साथ रखता है । चोष्क्यते=व्युदस्यति=परे फेंकता है, एधमानान्+अहः=बढ़ते हुआ को ही द्वेषि, द्वेष करता है, असुन्वतः=सोम न वहाने वाले अयज्ञशील का । सुन्वतः=सोम वहाने वाले को अभि+आद्धाति=चारों ओर से स्थापन करता है । दोनों का राजा । दिव्य का और, पार्थिव का और । चोष्क्यमाणः यह पद और चोष्क्यते चर्करीतवृत्तम्='कु' के यद्गुणन्त के रूप हैं ।

६७. सुमत्=स्वयम्, यह अर्थ है । (उप+प्र+अगात्) प्रकर्षता से प्राप्त हो (सुमत्) स्वयं, (मे) मुझे (अधायि) रखा गया है (मन्म) जो मन में [मेरे, फल वा विज्ञान] ॥ उपप्रैतु=प्रकर्षता से प्राप्त हो मुझे स्वयं, जो मेरे मन में रखा गया=ध्यान किया गया है फल वा विज्ञान, यज्ञ द्वारा । यह आश्वमेधिकः=अश्वमेध विषयक मन्त्र है ।

६८. दिविष्टिपु=दिवः=द्युलोक के अथवा प्रकाशशील परमात्मा के एपरोपु=चाहने वालों में [यह पद प्रयुक्त होता है ।] (स्थूरम्) महान् (राधः) धन (शताश्वम्) सैकड़ों अश्वों वाला (कुरुङ्गस्य) कुरुङ्ग [राज्ञः] राजा की (दिविष्टिपु) दिव्य लोक चाहने वाली क्रियाओं में ।

स्थूरः । सम्+आ+श्रित+मात्रः=एक मूल का आश्रय लेने वाले अवयवों वाला, महान् होता है । अणुः, अनु=पीछे होता है स्थवीयांसम्=स्थवीयान्=स्थूल के । [अनु] उपसर्ग है, लुप्तनामकरणः [जिस का] लुप्त हैं [अगला] प्रत्यय । जैसे सग्नति [में तद्वित प्रत्यय वाले साम्प्रतं का प्रत्यय लुप्त मान कर, रूप मान लिया जाता है ।] कुरुङ्ग राजा हुआ था । कुरुगमनात्=कुरुओं में चले जाने=लीन हो जाने से अथवा । कुलगमनात्=[मूल] कुल में चले जाने से अथवा । कुरुः कृन्तति से [है ।] क्रूरम् [पद] यह भी इसी का [एक रूप] होता है । कुलम्

बुष्णति [वृद्धि अर्थ वाले] से [है ।] वि+कुपितम्=विशेष बड़ा हुआ= फेला हुआ होना है ।

६६ दूतम्, व्याख्या किया गया है [पूर्व ५।१ मे ।]

१०० जिवन्ति=प्रीति अर्थ वाला [है ।] (भूमिम्) भूमि को (पर्जन्या) पर्जन्य (जिवन्ति) प्रीति करते हैं । (दिवम्) दृजोक को प्रीति करने है (अन्नय) पावन, पावक और गुचि अमिया । यह भी निगम होता है ॥ २२ ॥

भाष्य—दिनोता इति । कवर देलूप अपि ने आप विद्या का इस १०।१० सूक्त में दर्शन किया । यहाँ एकधना आप की माया है । मन्त्र का धनानाम् पद उन का संकेत करता है । सूक्त की देवता आप भी है । आपरर=हिंसा रहित कर्म । ऊध =इवाना । इस का अमेनी में अपभ्रंश उद्धर है । शुर्षीवरी, सुस्वरी । वस्तीवरी का रूप इसी प्रकार का है । एकधना और वस्तीवरी दोनों आप के भेद हैं । सुन्वत =वर्णन की भूरि महिमा है । उसे परमात्मा सुख का स्थान देना है । उप प्रागात् । जो मेरा मन ध्यान करता है, वह मेरे पास आए । अपि का मन सदा ज्ञान और कल्याण का ध्यान करता है । हम मनुष्यों का मन भी वैसा शुद्ध होना चाहिए । स्थूर राध', इति । यह कुर्व की दानस्तुति के तीन अ० ८।४।१५—२१ मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र है । कुर्व अन्तरिक्ष राजा था । यदि वह सदा रहता तो वास्क उस का उल्लेख भवति, किया स करता । परन्तु वास्क ने यहाँ यभूव, किया का प्रयोग किया है । वह कुर्व दिविहिपु अर्थात् दृष्टाक अथवा ईश्वर प्राप्ति का इच्छुक था । क्योंकि वह दृजोक का इच्छुक था, और तर्प ही शुभ कर्म करता था, अतः वह दृजोक को प्राप्त हुआ । इसीलिए वास्क ने यभूव किया जिन्नी । वह कुर्व कुर्वगमन कर गया । वेद के विद्वान् जानते हैं कि एक कुर्वत्र हम पृथिवी पर है, और एक कुर्वत्र दिव्य है । उम दिव्य कुर्वत्र पर दिव्य देव प्राप्त करने रहे हैं । कुर्व नामक राजा, जो भौतिक पदार्थों में स था, उसी कुर्व स्थान को गया । वही पुण्यकर्मा थे । वहाँ वह अपने कुल में अज्ञा गया । अन्तरिक्ष में ही कुर्व मुद्राम, अम्बरीष आज्ञाच आदि अन्य राजा भी कहे गए हैं ।

वेद में मानव इतिहास इन्होंने घाले विद्वद्गुण वेदार्थ के समीप भी नहीं पहुँचे। वेद को मानव कृति समझने वाले और मिथ्या "भाषा विज्ञान" की टाँग मारने वाले वेदार्थ को अणुमात्र भी नहीं जानते। कुरुक्ष पाण्डित्य नहीं, इस सत्यता का प्रमाण इसी मन्त्र में है। इस मन्त्र के शन्त में तुर्वशेषु, यह पद है। शब्द ध्यान रखना चाहिए कि —यद्, तुर्वश, द्रष्टु, अनु, पूरु आदि सारे नाम शन्तरिचस्थ पदार्थों के ही हैं। वैसे ही कुरुक्ष भी उन के साथ का ही था। यास्क ने महती कृपा कर के ये सब पद मनुष्य नामों में पड़े हैं। अतः कुरुक्षों राजा वभूव, का जो गम्भीर अर्थ यास्क को अभिप्रेत था, यह हमने स्पष्ट कर दिया है। इस विषय में महान् वैदिक विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेदार्थ शैली ही ठीक है, जहाँ इन सब पदों के यौगिक रीति से अर्थ कर दिए गए हैं। यास्क के काल में ये सब तत्त्व ज्ञात थे, अतः यास्क ने अधिक नहीं किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अधिक स्पष्टीकरण कर के साधारण पाठकों के भ्रम निवारण का भी उपाय कर दिया ॥ २२ ॥

अमत्रो ऽमात्रो । महान्भवति । अभ्यमितो वा ।

महाँ अमत्रो वृजनै विरप्शी । [ऋ० ३ । ३६ । ४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

स्तत्रै वृज् वृचीपमः । [ऋ० १० । २२ । २ ॥]

स्तूयते वज्री ऋचा समः ।

अनर्शरातिम् अनश्रीलदानम् । अश्रीलं पापकम् ।

१२५ अश्रिमद्विपमम् ।

अनर्शरातिं वसुदामुपं स्तुहि । [ऋ० ८ । ६६ । ४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अनर्वा अप्रत्यतो ऽन्यस्मिन् ।

अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं वृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्केः ।

[ऋ० १ । १६० । २ ॥]

अनर्थमप्रत्युतमन्यस्मिन् । घृषभम् । मन्द्रजिह्वं मन्दनजिह्वम् ।
मोदनजिह्वमिति वा । वृहस्पतिं वर्धय नय्यमकै । अर्चनीयैः स्तोमै ।

असामि सामिप्रतिपिद्धम् । सामि स्यतेः ।

असाम्योजो विभृया सुदानुरः॥ [ऋ० १ । ३६ । १० ॥]

असुसमाप्तं धलं विभृन कल्याणदाना ॥ २३ ॥

अर्थ--१०१ अमत्र =अमात्र =नही परिमाण जिस का । महान् होता है । अभि+अमित =गामने जाने वाला अथवा । [इन्द्र] महान् (अमत्र) परिमाण रहित (वृजने) सप्राप्त में (विरप्शी) रलाने वाला अथवा आह्वानकर्ता शत्रु का । यह भी निगम होना है ।

१०२ ऋचीपम । (स्तवे) स्तुति करना हू=स्तुति किया जाता है । (वज्री) वच वाला [इन्द्र] [ऋची सम.] जो ऋक् के तुल्य है ॥ स्तूपते=स्तुति किया जाता है वची ऋचा सम =जो ऋक् के तुल्य है ।

१०३ अनर्शरातिम्=अन्+अर्शरातिम्=अन्+अश्लीलदानम्=नहा अश्लील=नही पापमय दान वाले को । अश्लीलम्=वापकम्=पाप म् । अ+धि+मत=अ+धी+भत्=नही भी वाला=नही शोभा वाला, वि-समम्=जो टेढ़ा है, सम नहीं है ॥ (अनर्श रातिम्) नही पापमय दान वाले (वसुदाम्) धन दाता [इन्द्र को, परमात्मा को] (स्तुष्टि) स्तुति करो । यह भी निगम होता है ।

१०४ अनर्था—अ+प्रति+श्रुत =नही सहाय लिए अन्यस्मिन्=दुनर पर ॥ (अनर्थाणम्) नही दूसरे पर आधिन (घृषभम्) [सुभ] वर्धक (मन्द्रजिह्वम्) स्तुति करने वाली वाक् वाले को (वृहस्पतिम्) वृहस्पति को (वर्धय) बढ़ाओ (नय्यम्) [स्वन्द—नवनोदम्=स्तुत्यम्] स्तुति योग्य (अकै) स्तोत्रा म ॥ अनर्थम्=अ+परार्थ को, वर्धक को, मन्दनजिह्वम्=प्रसन्न वाक् वान को, मोदनजिह्वम्=हर्षरागी वाक् वाने को अथवा । वृहस्पति को बढ़ाओ, स्तुति योग्य स्तोमों में ।

१०५ असामि, सामि अथान् समाप्त वा निषेध । सामि स्यनि, समाप्त होना है, ये । (असामि) न समाप्त होने वाले (ओज) रत्न को

(विभृध) धारण करो, (सुदानशः) कल्याण दान वाले [मरुतो] ।
अनुसमाप्त बल को विभृत=धारण करो हे कल्याणदानवाले [मरुतो] ॥२३॥

भाष्य — ऋचा समः, ईश्वर की वास्तविक स्तुति ऋचाओं से ही संभव है । मानव वाणी वहां तक पूरी नहीं पहुँचती । अत एव यज्ञ में भी मानुषवाक् का सर्वत्र निषेध है । वृषभम्, यहां वृहस्पति का विशेषण है । वृहस्पति मन्द्रजिह्व है ॥ २३ ॥

मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा ।

भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिपत् ॥

[ऋ० ८। १। २० ॥]

मा चुक्रुधं त्वां सोमस्य गालनेन सदा याचन्नहम् । गिरा गीत्या स्तुत्या । भूर्णिमिव मृगम् । न सवनेषु चुक्रुधम् । क ईशानं न याचिप्यत् इति । [गल्दा धमनयो भवन्ति । गलनमासु धीयते ।]

आ त्वा विशन्त्विन्दव आ गल्दा धमनीनाम् ।

नानाविभक्तीत्येते भवतः । आगलनाः धमनीनाम् । इति अत्रार्थः ॥ २४ ॥

अर्थ—१०६. गल्दया । (मा) मत, (त्वा) तुम्हे (सोमस्य) सोम के (गल्दया) गालने से=पूर्ण होने से (सदा याचन्) सदा याचना करता हुआ [भी] (अहम्) मैं (गिरा) गीति अथवा स्तुति से, (भूर्णिं मृगं न) भ्रमणशील सिंहादिक को जैसे (चुक्रुधम्) कोई क्रुद्ध करे, [वैसे नहीं क्रुद्ध करने वाला हुआ] (सवनेषु) सवनों में । (कः) कौन (ईशानम्) अपने ईश=स्वामी से (न) नहीं (याचिपत्) याचना करता । [अतः मेरी याचना स्वीकार करो ।] मा=मत=नहीं क्रुद्ध किया तुम्हे, सोम के गालनेन=ब्रह्मणे से सदा याचन्=याचना करते हुए, अहम्=मैंने गिरा=गीति से अथवा स्तुति से ।] भूर्णिम् इव मृगम्=भ्रमणशील सिंहादिक को जैसे । [मा=नहीं] सवनों में चुक्रुधम्=क्रुद्ध किया । कौन

१. याचिप्यति—लघुपाठ ।

२. ऋग्वेद १। १५। १ में पूर्वार्ध मात्र । आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ८। ७। १० ॥
मानव श्रौत सूत्र १। ७। २। १८ ॥

[त्रै जो] ईशानम्=स्वामी को नहीं याचिष्यते=याचना करे । गल्दा धमनियो=नाडियो होती है । गलनम्=बहुत वाता रम [=रक्त अथवा प्राण] आसु=इन में धीयते=रखा जाना है ॥ (स्या) तुम्ह को (आ विशन्तु) सब ओर से प्रविष्ट हो (इन्द्रयः) विभिन्न सोम, (आ गल्दा धमनीनाम्) [स्वन्द—धमन्यो द्वि ग्रीवाताड्य उच्यन्ते] जहाँ तक कण्ठ नाडिया है, वहाँ तक [आगलनान्=पूर्ण हो कर ।] नानाविधकी =विभिन्न विभक्तियों में इति पेटे=ये दोनों पद [गल्दया, गल्दा, मृतीया एव वचन स्त्री लिङ्ग, और प्रथमा एव वचन] हैं । आ गलना =पूर्ण होने हुए धमनीनाम्=गाने की नाडियो के [=गाने की नाडियो में पूर्णता तक । स्वन्द के अनुसार उत्तर उदाहरण गल्दा पश्चम्यन्त नपु मव दिङ्ग में है ।] यह यहाँ अर्थ है ॥ २४ ॥

भाष्य—पूर्व मन्त्र का पदक्रम वर्तमान शैली के अनुसार दृगान्वयी है । इस लिए यास्क ने मा सुक् धम् को चारम्भ में ही जिस कर अर्थ स्पष्ट किया है । गल्दा, पद वाले उदाहरण इस समय आपस्तम्ब और मानव श्रौत सूत्रों में ही उपलब्ध होता है । किसी मूल शाखा-संहिता में यह अवरय होगा । स्कन्द ने अपने निष्पत्तिसमुच्चय में इस मन्त्र का उत्तरार्ध भी पड़ा है । निषण्डु ४।३ में केवल गल्दया पद पढ़ कर तथा भाष्य में दूसरी विभक्ति वाले गल्दा रूप के पदने और सदर्ध उदाहरण में किसी संहिता का पाठ देने से यास्क ने स्पष्ट किया है, कि मूल निषण्डु के सकलान में उस ने अपने से पूर्व के निषण्डुओं का अनुसरण किया है । परन्तु अपनी व्यापक बुद्धि के कारण उस ने भाष्य में दूसरा उदाहरण भी दे दिया है । पहले निषण्डुओं में ऋग्वेद का ही अधिक आशय होगा । स्कन्द के अनुसार धमनियाँ गले की नाडियो होती हैं । अन्यत्र सब नाडियाँ ही धमनी नाम से कही जाती हैं ॥ २४ ॥

न पापासां मन्नामहे नारायामो न जब्ध्वयः ।

[श्रु० ८।६१।११ ॥]

न वापा मन्यामहे । नाधना । न उबलनेन हीनाः । अस्त्यत्मासु प्रसन्नचर्यमध्ययनं तपो दानकर्मैन्वधिरयोचत् ।

यकुरो भास्कर । भयङ्करः । भासमानो द्रवतीति वा । २५ ॥

अर्थ—१०७ जब्ध्वयः । नहीं (पापास) पापो (मन्नामहे) हम अपने को मानते हैं, नहीं (अरायास) नहीं दान दे सकने वाले=निर्धन

हम, नहीं (जळहवः) ज्वलन हीन=अग्निः से रहित ॥ नहीं पापी [मनामहे]
=मन्यामहे=हम अपने को मानते हैं । नहीं अधन=धनहीन । नहीं ज्वलन
से हीन । अस्ति अस्मानु=है हमारे में, ब्रह्मचर्य, अध्ययनम्=स्वाध्याय,
तप, दानकर्म, ऐसा ऋषिः=मन्त्रकृत् दिव्य ऋषि बोला ।

१०८. वकुरः=भास्करः=भाः+कर=प्रकाश करने वाला । भय को
करने वाला । भासमानः=चमकता हुआ द्रवति=ब्रह्मता जाता है
अथवा ॥ २५ ॥

भाष्य—ब्रह्मचर्यं, अध्ययन और दान । ये तीनों गुण छान्दोग्य उपनिषद्
के धर्मस्कन्ध ब्राह्मण में कहे गए हैं । यास्क ने इन के साथ तप भी जोड़ा है ।
इन चारों से ही मानव जीवन पूर्णता को प्राप्त होता है । वेद के इस मन्त्र से ये
सब गुण आकृष्ट किए गए हैं । दान की महती महिमा है । जळहवः, स्वाध्याय
और तप से पुरुष ज्वलन गुण युक्त होता है, ब्रह्म तेज प्राप्त करता है । ऋषिः
अवोचत्—दिव्य ऋषि बोला । ऋग्वेद के इस सूक्त का ऋषि भर्गः प्रागाथः
है । वह कौन दिव्य विभूति है, यह जानना चाहिए ॥ २५ ॥

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेपं दुहन्ता मनुषाय दत्ता ।

अभि दस्युं वकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रयुरार्याय ॥

[ऋ० १ । ११७ । २१ ॥]

[यवमिव वृकेणाश्विनौ निवपन्तौ ।] वृको लाङ्गलं भवति ।
विकर्तनात् । लाङ्गलं लगतेः । लाङ्गूलवद्वा । लाङ्गूलं लगतेः ।
लङ्गतेः । लम्बतेर्वा । अन्नं दुहन्तौ मनुष्याय दर्शनीयो । अभिधमन्तौ
दस्युम् । वकुरेण ज्योतिषा वा । उदकेन वा । आर्य ईश्वरपुत्रः ।

वेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति । द्विगुणकारिणो वा द्विगुण-
दायिनो वा । द्विगुणं कामयन्त इति वा ।

इन्द्रो विश्वान्वेकनाटाँ अहर्दृशं उत क्रत्वा पराणीभि ॥

[ऋ० ८ । ६६ । १० ॥]

इन्द्रो [यः] सर्वान् वेकनाटान् । अहर्दृशः सूर्यदृशः । य
इमान्यहानि पश्यन्ति न पराणीति वा । अभिभवति कर्मणा । परांश्च
वणिजः ॥ २६ ॥

अर्थ—(यथम्) जो को (वृत्तेण)=लाङ्गल=हल से (अश्विनो)=अश्विनो हे अश्विनो (वपन्ता)=वपन्ती=बोते हुए (इयम्) अन्न को (दुहन्ता)=दुहन्ती=दुहते हुए (मनुष्याय) मनुष्य के लिए (दस्त्रा)=दस्त्री=हे सुन्दर रूप वाली । (दस्युम्) दस्यु को (वकुरेण) प्रकाश से (अभि धमन्ता)=अभि धमन्ती=ताडते हुए (उरु) विस्तृत (ज्योति) ज्योति को (चक्रधु) किया (आर्याय) आर्य के लिए [तुम दोनों ने] ।

[जो को जैसे हल में, हे अश्विनो, निवपन्ती=बोते हुए ।] वृत्, लाङ्गल=हल होता है, विकर्तनात्=[पृथिवी को] छेदन करने से। लाङ्गलम् लङ्गति से, चनता है। लाङ्गूल वन्=वृत् के समान अथवा वृत्त वाला अथवा। लाङ्गूलम्, लङ्गति से, लगा होता है। लङ्गति में, चनता है। लम्बति से अथवा, लम्बाई में लटकता है। अन्न को दुहन्ती=दोहने हुए, मनुष्य के लिए, दर्शनीय=सुन्दर अश्विनो। अभिधमन्ती=ताडते हुए दस्यु को। वकुरेण=प्रकाश में अथवा। उदक से अथवा। आर्य=ईश्वर का पुत्र।

१०६ येकनाटान्। येकनाटा, ये तो कुसीदिन =व्याज लेने वाले होने हैं। [मूल धन को] दुगना करने वाले अथवा। दुगने पर देने वाले अथवा। दुगने को चाहने वाले अथवा।

(इन्द्र) इन्द्र (विश्वान्) सारे (येकनाटान्) वृद्धि जीवियो=वार्षिकियों को (अदृष्टंश) [इसी जन्म में] दिन वा सूर्य के देखने वालों को [=दृष्टप्रधान नास्तिकों को] (उन कृत्या) कर्मातुष्टान में ही (पत्नीन्) वणिजों को=वनिया को (अभि + भवति) विनाश करता है।

इन्द्र [जो] सार वणिजों का अदृष्टंश=सूर्यदृष्टं=[इसी जन्म में] सूर्य देखने वालों को। जो इन्ही दिनों को=उत्तमान को देखने हैं, नहीं परवर्ती दिनों को अथवा। [धन के लोभ में पाप करते हुए जो पर जन्म का ध्यान नहीं रखने।] अभिमयति=नाश करना है, कर्म से। पत्नीन् च=और वणिज्ज=वनियों को ॥ २६ ॥

भाष्य—अभिद्वय वृत्ति के सहायक, दस्यु के ताकत और आर्य को उपरति साधक हैं। आर्य का अर्थ है ईश्वर का पुत्र। आगे येकनाटान् पर के व्याख्यान में वार्षिकिक की निम्ना है। जो एक वर्ष में द्विगुण करना चाहता है जो मासगोत्र में पाप वृद्धि से व्यापार करता है, वह निरुप है। मनु कहता है—प्रेष्यान् वार्षिकिक।

धैव विमान् यद्भवदाचरेत् ॥ ८। १०२ ॥ जो ज्ञान का धैविक रूप काम करता है, उस के साथ शुद्ध के तुल्य बनता करे। इसी विषय मनु इत्यादि में धैविक वृद्धि की मर्यादा स्थापन रखी है। तथा मारुत के कृष्ण व्यापार की महती निन्दन की है ॥ २६ ॥

जीवात्तो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथान् ।

कन्द् स्थ हवनश्रुतः ॥ [ऋ० = १६७। ४ ॥]

जीवतो नोऽभिभावनादित्याः पुरा हनान् । क नु म्य हानश्रुतः । इति ।

मत्स्यानां जालमापणानामेतदायं घञ्गन्ते । मत्स्या मधी उद्देकं म्यन्दन्ते । माणन्तेऽन्योन्यं भक्षणायेति या । जालं जलचरं भयति । जलोभयं या । जलेशयं या ।

श्रंहुः । श्रंहुमान् । श्रंहुगमित्यप्यस्य भयति ।

कुम्भान्द्वारगादुरु । [ऋ० १। १०४। १७ ॥]

इत्यपि निगमो भयति ।

सप्त मर्यादाः कवयस्ततनुस्तामामेकामिदुभ्यंद्दुरो गात् ।

[ऋ० १०। ५। ६ ॥]

सप्तैव मर्यादाः कवयश्चक्रुः । तासामेकामप्यभिगच्छन्तं हस्यान् भयति । स्तेयं तल्पारोहणं व्रतहत्यां श्रृणुहत्यां मृगपानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति ।

घत इति निपातः । नन्दानुकम्पयोः ॥ २७ ॥

अर्थ—११०. अभिधेतन । [मत्स्य रूप वाने ममन्द पुत्र की यह ऋत् है ।] (जीवात्तः) जीते हर्षों को हम को (अभिधेतन) दीड़ो (आदित्यासः) हे आदित्य रश्मियो (पुरा हथात्) पूर्व [हमारे] मारे जाने मे । (कत् ह) कहां नुम (म्य) ठहरे हो (हवनश्रुतः) हे आह्वान के सुनने वालो ।

जीने हुआ को हम को दीको, हे आदिन्यो पूर्व [हमारे] हनन से ।
कहा टहरे हो, हे पुकार के सुनने वालो ।

मलयो का जाल मे फ से हुआ का यह श्रुति-वचन है [एमा आचार्य]
बनाते हैं । म-स्या=मधी अर्थात् उदक मे स्पन्दन्ते=बहते हैं । भाषन्ते=
प्रसन्न होन हे एक दूसर को सान के लिए अथवा । आलम्=जल मे चलने
वाला होना है । जन मे होने वाला अथवा । जल मे गायन करने=नेने
वाला अथवा ।

२११. अद्भुर=अद्भस्वान्=नाम जाना । अद्भुरणम्=यह शब्द ह्य भी
इम का हीना है । (उरु हृणवत्) विस्तीर्ण [रक्षा] करते हुए
(अद्भुरणात्) पाप वान [अन्धकूप] स [जिन की ।] यह भी निगम
होता है ।

मात मयादात् (कथय) कान्तदगीं श्रुतियों ने (ततस्तु) [सम्पूर्ण
धर्म को] तक्षण कर के बनाई हैं । (तासाम् एकाम् इत्) उन मे से एक
को भी (अभि गान्) उल्लघन कर के (अद्भुरः) पापवान् [होता है
मनुष्य ।] सान ही मयादात् कवियों ने की । उन मे से एक को भी
(अभिगच्छन्) अति कथय करता हुआ अद्भस्वान्=पापी होता है ।
स्तयम्=चोरी, तरपारोहणम्=[दूसरे क] विस्तार पर चढ़ना=अभिकार
कर्म, अद्भस्वत्याम्=इद पाठ करने वान काह्यण की हत्या, अद्भस्वत्याम्=अर्ध
हत्या, सुरापानम्=शुगपान दुष्टवृत्त कर्म की पुन पुन सेवा, पानके=पानक
मे अचूनीयम्=अनन्य बोनना, ये ।

२१२ वत यह निदान है, मेड और अनुकम्पा के अर्थ मे ।

साध्य मन्त्र्य रूपी श्रुति—अन्तरिक्ष और पृथ्वीकस्य त्रिषी मे कोर्
शब्द मन्त्र्यरूप में चलते हैं । वे उन त्रिषी के आश्र में रहस कर अपनी सख
कोने काज हैं । उन का वचन है । सूर्य में उत्तर और त्रिषी मुख हैं । उत्तर से
आदिन्या त्रिम-सम्बद्ध चलते हैं । त्रिषी से आदिनस । उत्तर के आदिन्या उन
मधी को जो नदी आश्र में रहस रहे हैं, वच्य सकते हैं । अतः उन के पुकारने के
विध चक्षु है । हम सम्मोद त्रिषी के पूरा ज्ञान अभीष्ट है । अद्भस्व का निर्बचन
है—मन्+स्य=मधी+स्पन्दन्त । आश्र पर का उरु स सम्बन्ध है । त्रिषी के
बाँसने काका आश्र इमी के अनुकरण पर नाम दिया गया प्रतीत होता है ।

स्तनमदादा—अर्धमान पुग मे वे पाप अतिवृद्धि पर है ॥ २७ ॥

वतो वतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।

अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥

[ऋ० १०। १०। १३ ॥]

वतो वलादतीतो भवति । दुर्बलो वतासि यम । नैव ते मनो हृदयं व विजानीमः । अन्या किल त्वां परिष्वङ्क्ष्यते कक्ष्येव युक्तं लिबुजेव वृक्षम् । लिबुजा व्रततिर्भवति । लीयते विभजन्तीति । व्रततिर्वरणाच्च । सयनाच्च । ततनाच्च ।

वाताप्यम् उदकं भवति । वात एतदाप्यायति ।

पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम् । [ऋ० ६। ६३। ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

वने न वायो न्यधायि चाकन् । [ऋ० २०। २६। १ ॥]

वन इव वायो वेः पुत्रः । चायन्निति वा । कामयमान इति वा । वेति च य इति च चकार शाकलयः । उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत् । असुसमाप्तश्चार्थः ।

रथर्यति इति सिद्धः । तत्प्रेप्सुः रथं कामयत इति वा ।

एष देवो रथर्यति । [ऋ० ६। ३। ५ ॥]

अर्थ—[यमी यम के प्रति कहती है ।] (वतः) दुर्बल [अहो] (वत + असि) तुम अनुकम्पा योग्य हो, हे यम, तेरे मन और हृदय को (नैव अविदाम) नहीं जानते हैं । (अन्या) कोई दूसरी स्त्री अर्थात् कोई स्त्री स्थानी शक्ति (किल त्वाम्) निश्चय तुम्हें (कक्ष्या इव युक्तम्) कक्ष्या=रस्सी के समान [अपने से] युक्त=सम्बद्ध अश्व आदि को (परिष्वजाते)=परिष्वजते=आलिङ्गन करती है, [अथवा द्वितीयोपमा] (लिबुजा इव वृक्षम्) वली जैसे वृक्ष को आलिङ्गन करती है ।

वतः=व

तेरे मन और

करेगी । ररमी जैसे सम्बद्ध अक्षर आदि को [आलिङ्गन करती है, अथवा] वही जैसे वृष को । त्रियुजा-प्रतनि=वही होती है । लीपत=लीन होती है विभजन्ति इति=पृथक् होती हुई ही [वृक्ष में ।] प्रतति=वरणात् च=वरण=स्वीकार करने से । सयनात् च=पी देने, बाधने से । ततनात् च= फैलते जाने से ।

११३ घाताप्यम्=उदक होना है । घान +णत्=इस को आप्यायति-बढ़ाता है । (पुनाण) पुना जाता हुआ [सू हे सोम] (घाताप्यम्) [वृष्टि से होने वाले] उदक को [देता है] (विश्व चन्द्रम्) सब को ज्ञानन्द देने वाले को । यह भी निगम होता है ।

११४ चाकन्=(घने न) वनावयव वृक्ष पर जैम (घाय) पत्ती का बच्चा (न्यधायि) रखा हुआ (चाकन्) दखता वा कामना-करता रहता है [अपने घोलने से उड़ कर गए माता पिता को ।] वृक्ष पर जैम घाय =ध पुत्र-पत्नी का बच्चा । चायन् इति चा=खता हुआ अथवा । कामना करता हुआ अथवा । [इस घाय पद को] वा इति, और य इति [इन दो में विभाग] किया [पदकार] शाकल्य ने । [यदि यही भाव होना, तो] उदात्त स्वर वाला इम प्रकार आख्यात [अधायि पद] होता । और असुसमाप्त =नहीं भन्ने प्रकार समाप्ति वाला अर्थ [इम विभाग में, यत् को तत् की आकाञ्छा होने से ।]

११५ रथयति—यह सिद्ध रूप है । तत् प्रप्नु=रथ कामयत उस रथ को कामना करता है अथवा । (एष) यह (देव) देव सोम (रथयति) रथ को चाहता है । यह भी निगम होता है ।

भाष्य—यम यमी का आख्यान पूर्व ४ । २० में स्पष्ट किया गया है । घाताप्यम् वृष्टि का उदक बात से बढ़ता है । घान और वायु का भेद अवेष्टय है । शाकल्य पदकार शाकल्य यास्क से अर्थात् भारत युद्ध से २०—१०० वर्ष से पहले था । यदि यास्क के काल में होना, तो दोनों का संवाद कहीं संभव हो सकता था । शाकल्य के पदपाठ का क्या कारण था, यह जानना चाहिए । देव सोम रथ को चाहता है । जब सोम शुद्धोक्त म था तब भी उस नीचे जाने के लिए माप्यम की आवश्यकता थी । वह माप्यम अथवा वाहन आदि के बिना अमान्यतर में नहीं जाता ॥ २८ ॥

धेनुं न इपं पिन्वतमसक्राम् । [ऋ० ६।६३।८ ॥]

असङ्क्रमणीम् ।

आधवः । आधवनात् ।

मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम् । [ऋ० १०।२६।४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अनवग्रवः अनवक्षितवचनः ।

विजेपकृदिन्द्रं इवानवग्रवः । [ऋ० १०।८४।५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २६ ॥

अर्थ—११६. असक्राम् । [हे प्रभूत देने वाले अश्विद्वय] (धेनुम्) दोग्ध्री गौ को (नः) हमारे लिए (इपम्) अन्न को और (पिन्वतम्) क्षारिन करो अर्थात् दो, (असक्राम्)=असङ्क्रमणीम् [ऐसा अन्न जो] यावज्जीवन हम से परे न जाने वाला [हो ।]

११७. आधवः=आ+धवनात्=चारों ओर से कंपाने से । [हे देव पूषन्] (मतीनाम्) बुद्धियों के और (साधनम्) साधयिता को अथवा प्रज्ञाओं के प्रवर्तयिता को (विप्राणाम्) मेधावियों के और (आधवम्) सब ओर से कंपाने अर्थात् मेधाओं में स्फूर्ति देकर हिलाने वाले को [आप को स्तुति द्वारा पूजते हैं ।] यह भी निगम होता है ।

११८. अनवग्रवः=अन्+अव+क्षित+वचनः=नही अनादर जिस के वचन का कोई करे । [हे मन्यो] (विजेपकृत्) तू विजय का कर्ता (इन्द्रः इव) इन्द्र के समान [है] (अन्+अवग्रवः) तेरे वचन का कोई अनादर नहीं करता है । यह भी निगम होता है ॥ २६ ॥

भाष्य—मन्युः—इन्द्र सम्बन्धी मध्यम स्थान का जो गण वृहद्देवता १।१२१ से गिनाया गया है, उस में मन्यु भी गिना गया है । मन्यु का भौतिक रूप समझ कर ही मन्यु सूक्त, ऋ० १०।८३, ८४ समझ में आ सकते हैं । उन का ऋषि मन्युः तापसः है । वह अवस्था किस ताप से उत्पन्न होती है, यह भी जानना चाहिए । प्रस्तुत ऋक् के अनुसार मन्यु इन्द्र के समान है ॥ २६ ॥

अरायि काणे विकटे गिरि गच्छ सदान्वं ।

शिरिर्भ्यठस्य सत्त्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि ॥

[ऋ० १०।१५५।१ ॥]

अरायिनि काणे विकटे । काणो विक्रान्तदर्शन इत्योपमन्यव ।
कणनेर्वा स्यादणुभावाकर्मण । कणति शब्दाणुभावे भाष्यत ।
अनुकणतीति । भाषाणुभावात्कण । दर्शनाणुभावात्काण । विकटो
विक्रान्तगतिगित्योपमन्यव । कुटतर्वा स्यात् [विपरीतस्य] विकुटितो
भवति गिरि गच्छ । सदानोनुव शब्दकारिक । शिरिर्भ्यठस्य
सत्त्वभि । शिरिर्भ्यठो मेघ । शीर्षत विठे । [विठमन्तरिक्षम् ।] विठ
धीरिटेन व्याख्यानम् । [निर० ४।२७] तस्य सत्त्वैरुदकैरिति स्यात् ।
तैष्ट्वा चातयाम । अपि वा शिरिर्भ्यठो भद्रद्वाज कालकर्णपित ।
अलक्ष्मीनिर्णयशपाञ्चकार । तस्य सत्त्वैर् कर्मभिरिति स्यात् । तैष्ट्वा
चातयाम । चातयतिर्नाशने ।

पराशर पराशीर्षस्य यसिष्ठस्य स्थधिरस्य जज्ञे ।

पराशरः शतय्यातुर्नर्मिष्ठः । [ऋ० ७।१८।२ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

इन्द्रोऽपि पराशर उच्यत । [परा] शतयिता यातूनाम् ।

इन्द्रो यातूनार्मभवत्पराशरः । [ऋ० ७।१०४।२ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

त्रिभिर्दती विकर्ततदन्ती ।

यत्रा वो दिष्टुद्रदति त्रिभिर्दती । [ऋ० १।१६६।६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

कुरुक्ष्णी वृत्तदती । [अपि या इव कश्चित् वृत्तदन्तं वृष्ट्वैयम
यदवत् ॥ ३० ॥]

अर्थ—११६. सदान्वे । १२०. शिरिम्बिठः । (अराधि) हे दान देने का विरोध करने वाली, (कारणे) हे कारणी (विकटे) हे विकृत अङ्गों वाली (गिरिं गच्छ) गिरि को चली जा (सदान्वे) हे सदा पुकार कराने वाली (अलक्ष्मी) । (शिरिम्बिठस्य) मेघ के (सत्त्वभिः) उदकों से, (तेभिः)=तैः=उन उदकों से (त्वा) तुम्हे=तेरा (चातयामसि) नाश करते हैं ।

हे न देने वाली, हे कारणी, हे विकृत अङ्गों वाली । कारणः विक्रान्त-दर्शनः=न पूरा देखने वाला=विगतचक्षुः=जिस का एक नेत्र चला गया है, यह औपमन्यव..... [कहता है ।] कणतिः से अथवा होवे, अणुभाव-कर्मणः=सूक्ष्म होने अर्थ वाले मे । कणतिः शब्द के अणुभाव=सूक्ष्म होने मे भाष्यते [लोक में] बोला जाता है । [यथा—] अनुकणति, इति । मात्राणुभावात्=मात्रा के अणुभाव=सूक्ष्म होने मे कणः [कहा जाता है ।] दर्शन के सूक्ष्म होने से कारणः [होता है ।] विकटः=विक्रान्तगति=विकृत गति वाला, यह औपमन्यव [कहता है ।] कुटति से अथवा होवे [उलटा हुए का रूप है] विकुटित=कुब्जीभूत होता है । गिरि को जा सदा+नोनुवे=शब्दकारिके=सदा शब्द कराने वाली । शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिः । शिरिम्बिठः=मेघ है । शीर्यते=शीर्ण हो जाता है, टूट फूट जाता है विठे=अन्तरिक्ष में । [विठम्=अन्तरिक्ष है ।] विठं, वीरिट से व्याख्या किया गया है, [निरुक्त ५ । २७ में ।] उस के उदकों से, यह [अर्थ] होवे । उन उदकों से तुम्हे [अलक्ष्मी वाले अकाल=दुर्भिक्ष को] नष्ट करते हैं ।

अपि वा=और भी अथवा शिरिम्बिठः, भारद्वाजः=भरद्वाज का पुत्र है । [वह] कालकर्णोपेतः=काले कानों वाली [अलक्ष्मी] से युक्त, [अथवा] कालकर्णि=अलक्ष्मी से युक्त [हुआ । उस ने इस सूक्त के जप से] अलक्ष्मी को निर्णशयाञ्चकार=नाश किया । तस्य=उस के सत्त्वभिः कर्मों से होवे । उन के द्वारा तुम्हे नाश करते हैं । चातयति, नाशन अर्थ में [है ।]

१२१. पराशरः=पराशीर्णस्य=बहुत शीर्ण हुए=अति वृद्ध हुए=स्थवि-वसिष्ठ से जज्ञे=जन्मा था । (पराशरः) पराशर (शतयातुः) सैकड़ो यातुधानों [वालों=से घिरा हुआ] (वसिष्ठः) और वसिष्ठ [इन्द्र के सख्य को नहीं भूलते] यह भी निगम होता है ।

इन्द्र भी पराशर, कहा जाता है । [परा=दूर] शतयिता=मारने वाली यानूनाम्=राक्षसों का । (इन्द्र) इन्द्र [अपने रत्नोन्न शस्त्र के कारण] (यानूनाम्) राक्षसों का (अभयत्) हुआ (पराशर) दूर तक मारने वाला । यह भी निगम होता है ।

१२२ क्विर्विर्दती=विकर्तन + दन्ती=काटने वाले दान्तों वाली । (यथा=यत्र) जहा (य) [हे मरुतो] तुम्हारी (विशुद् रवति) विशुत् रूप वाली [अथवा] वज्ररूपा काटती है (क्विर्विर्दती) काटने वाले दांतों वाली । यह भी निगम होता है ।

१२३ करुळनी=वृत्तदन्ती=बड़े दांतों वाली । [और भी अथवा देव कश्चित्=देव किसी को वृत्तदन्तम्=बड़े=टूटे हुए दान्तों वाले को देख कर अवश्यत्=वहा,] ॥ ३० ॥

भाष्य—श्रीपमन्यव । इस एक ही मन्त्र के व्याख्यान में दो बार श्रीपमन्यव के निरुक्त में यह मन्त्र पढ़ा गया था, और व्याख्यात हुआ था । दुर्ग आदि के अनुसार जल में खड़े हो कर इस सूक्त अथवा मन्त्र के जप से अक्षयणी का नाश माना गया है । मन्त्रगत पराशर और वसिष्ठ मानव देवधारी नहीं हैं । वे अन्तरिक्ष के पदार्थ हैं और यानुषों का नाश करने वाले हैं । प्रसङ्ग से यारुत् ने पराशर के जन्म की एक ऐतिहासिक घटना भी कह दी है । यही वसिष्ठ बृह वसिष्ठ स जन्मा था । विशुत् और क्विर्विर्दती पद मरुतों के विशेषण हैं । मरुत् ही विशुत् राक्षों वाले हैं ॥ ३० ॥

वामं वामं त आदुरे देवो ददात्वयमा ।

वाम पूषा वामं भगो वामं देवः करुळती ॥

[ऋ० ४ । ३० । २४ ॥]

वामं वरुणीय भवति । आदुरिरादरणात् । तत्क करुळनी । भग पुरस्तात्तस्या-वादेश इत्येकम् । पूषेत्यपरम् । सोऽदन्तक ।

अदन्तकः पूषा । [गो० भा० ३० १ । २ ॥ शत० भा०

१ । ७ । ४ । ७ ॥]

इति च ब्राह्मणम् ।

दन्नो विशा इन्द्र मृध्रयाचः । [ऋ० १ । १७४ । २ ॥]

दानमनसो नो मनुष्यानिन्द्र मृधुयाच इन्द्र ।

अवीरामिव मामयं शरारुभि मन्यते ॥ [ऋ० ६। ६१ ॥]

अत्रलामिव मामयं बालोऽभिमन्यते संशिशरिपुः ।

इदंयुः, इदं कामयमानः । अथापि तद्वदर्थे भाष्यते । वसूयुरिन्द्रः ।

वसुमान् इति अत्र अर्थः ।

अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुरिन्द्रः । [ऋ० १। ५१ । १४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ ३१ ॥

अर्थ—(वामं धामं) चाहने योग्य=प्रशस्य (ते) तेरे लिए (आदुरे) हे [देवों के] आदर योग्य [यजमान] (देवः ददातु अर्थमा) देव देवे [धन] अर्थमा (वामं) प्रशस्य [धन] पूपा, प्रशस्य [धन], भग, प्रशस्य [धन] देव (करुळती) कटे हुए दान्त वाला ।

धामम्=वननीय=प्रशस्य=चाहने योग्य [उत्तम धन] होता है । आदुरि=आदर से । तो कौन कटे दान्त वाला है । भग [है] । पुरस्तात्=पूर्व [लिखा है] । तस्य अन्वादेशः=उस का पुनः कथन है, यह एक [दर्शन] है । पूपा [है] यह अपर दर्शन [है] । वह विना दान्त का है । अदन्त [है] पूपा, यह ब्राह्मण [वचन] है ।

१२५. दनः । (दन्ः) दान में मन वाला (विशः) प्रजाओं को=मनुष्यों को (इन्द्र) हे इन्द्र (मृधवाचः) मृदु वाणी वाला [वना दो ।] दान मन वाला हमारे मनुष्यों को हे इन्द्र मृदुवाणी वाला करो ।

१२६. शरारुः । (अवीराम् इव) अवीरा=वीर=मालक से हीना के सदृश (माम् अयम्) मुझे यह (शरारुः) मारने की इच्छा वाना (अभिमन्यते) [दुष्ट भाव से] दवाना चाहता है । अत्रला के समान मुझे यह बाल दवाना चाहता है, मारने की इच्छा वाला ।

१२७. इदंयुः=इदं+युः=इस वस्तु की कामना करता हुआ । और भी अथवा तद्वत्=उस वाले के अर्थ में [यु, लोक में] बोला जाता है । वसूयुः=धन वाला इन्द्रः=इन्द्र । वसुमान्=धन वाला, यह यहाँ अर्थ [है] । (अश्वयुः) घोड़ों वाला (गव्युः) गोमान् (रथयुः) रथ वाला (वसूयुः) धन वाला इन्द्र । यह भी निगम होता है ॥ ३१ ॥

भाष्य—पूरा क्या है, उस के दात क्या थे, वे कैसे बट गए यह विषय जाननी चाहिए । मृधशब्द = मृदुवाणो की मदती प्रशंसा है ॥ ३१ ॥

किं तं कुरुवन्ति कीकटेषु गात्रो नाशिरं दुह्ने न तपन्ति धर्मम् ।

आ नो भरु प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मध्वान् रन्धया न ॥

[ऋ० ३ । १३ । १४ ॥]

किं तं कुरुवन्ति कीकटेषु गात्र । कीकटा नाम श्लोऽनार्यनिवास । कीकटा किंठना । किं क्रियामिरिति प्रेप्ता [वा] । नैच आशिरं दुह्ने । न तपन्ति धर्मं हर्म्यम् । आहर न प्रमगन्दस्य धनानि । प्रमगन्द कुसीदी । माह्वद । मामागमिभ्यतीति च ददाति । तदपत्य प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीन । प्रमदको वा । याऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सु । परदको वा । पगडक परदग । प्रार्दको वा । प्रार्दयत्याहो । आण्डावाणी इव व्रीडयति तत् स्वम् । नैचाशाखम् । नीचाशाखो नीचैः शाख । शाखा शक्नोत । आशि अरणात् । तं नो मध्वान् रन्धयति । रन्धयतिर्गमने ।

बुन्द इषुर्मवति । [विन्दो वा ।] भिन्दो वा । भषदो वा । भालमामो द्रवतीति वा ॥ ३० ॥

अर्थ—१२= कीकटेषु । क्या तेरी करती है कीकटो मे गौए (न आशिरम्) नही सोम मे मिलाने का दूध (दुह्ने) दुहाती हैं, नही (तपन्ति) तपाती हैं (धर्मम्) महावीर पात्र को । (आ भरु) = आहर = लाओ (न) हमारे लिए (प्रमगन्दस्य) अत्यन्त मूद ग्रहण करने वाले प्रमादी, यज्ञहीन के (वेद) धन को । (नैचाशाखम्) नीच वंश वाले को, स्वयं नीच और नीच ही पुत्र पुत्र आदि शाखा वाले को । (मध्वान्) है धनवान इन्द्र (रन्धय) वशीभूत करो (न) हमारे ॥

क्या तेरा करती है बनाती है कीकटो मे गौए । कीकटा नाम देश अनार्य निवास [है ।] कीकटा - किंठना = क्यों उत्सन्न किए गए । क्या है [पुरण और मुक्त] क्रियाओ से ऐसी इच्छा वाले अववा । न ही और आशिरम् = सोम मे मिलाए जाने वाले दूध को दुह्ने = दुहाती हैं न तपती हैं धर्म = हर्म्य = महावीर पात्र को । आहर = ने आओ हमारे लिए प्रमगन्दस्य =

अत्यन्त कुसीदी के धनानि=धनों को । मगन्दः=कुसीदी=सूद लेने वाला । माङ्गदः=मेरे पास आएगा [यह धन, दुगना-चौगना होकर] इस विचार से और [सूद पर] देता है । उस का अपत्य प्रमगन्दः । अत्यन्त व्याज लेने वाले के कुल वाला । प्रमदकः=बहुत प्रमाद करने वाला अथवा । जो, “यह ही है लोक, नहीं परलोक” ऐसी इच्छा वा अभिप्राय वाला [है ।] परडकः=नपुंसक अथवा । परडकः=परडगः=नपुंसकता को प्राप्त हुआ । प्र+अर्दकः=वहृत पीड़ा देने वाला अथवा । प्र+अर्दयति=वहुत पीड़ा देता है, आण्डौ=अण्ड कोषों को । आण्डौ=आणी इव=रथचक्रों के समान मर्दन करके पीड़ित करते हैं, उन के समान ठहरे हुए को । नैचाशाखम्=नीचे हैं शाखाएं जिस की । शाखा, शकृति से । आणिः अरण्णात्=गति के कारण । उसे हे मघवन् रन्धय इति=वश में करो । रन्धयति=वशगमन में ।

१२६. वुन्दः=वाण होता है । विन्दः अथवा । भिन्दः=भेदन करने वाला अथवा । भय देने वाला अथवा । भासमानः=चमकता हुआ बहता जाता है अथवा ॥ ३२ ॥

भाष्य—गोदुग्ध और गोघृत यज्ञ के श्रेष्ठ साधन हैं । जब उन साधनों से यज्ञ नहीं होता, तो मानव जीवन निष्फल है । उन यज्ञहीन देशों वाले, अनाय लोग गौश्रों से लाभ नहीं उठाते । ते=तेरी गौएं, मघवा अथवा इन्द्र की गौएं । ये रश्मि रूपी गौएं अन्तरिक्ष में हैं । उन्हीं की उपमा से पार्थिव गौश्रों से पूर्ण लाभ उठाने का तथ्य इस ऋक् में है । कीकट देश मूलार्थ में पृथिवी पर का नहीं है । प्रमगन्दः=अत्यन्त कुसीदी की बहुत निन्दा है । जो लोग अपने वंश को धर्म, ज्ञान और सुकृत कर्मों में उन्नत नहीं करते, उन की भी निन्दा है । उन का धन राजा को ले कर श्रेष्ठ कर्मों में लगवाना चाहिए । इस लिए महाभारत, शान्तिपर्व में कहा है—

अदातृभ्यो हरेद् वित्तं विख्याप्य नृपतिः सदा । १६३ । १० ॥

यज्ञ कर्म में धन न देने वालों का वित्त राजा हर ले ॥ ३२ ॥

तुष्टिं ते सुकृतं सूमयं धनुः साधुर्वुन्दो हिरण्ययः ।

उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिहद्वृधा ॥

तुरिसं बहुविधेषु महाविशेषं वा । ते सुरतं स्मर्यं सुमुखं धनु ।
साधयिता ते वुन्दो हिरण्ययः । उमी ते वाहू [रण्यो] रमणीयो
साङ्ग्राम्यो [वा ।] श्रुदूरे अर्दनपातिनी गमनपातिनी [शब्दपातिनी
दूरपातिनी] वा । मर्मगण्यर्दनवेधिनी । गमनवेधिनी [शब्दवेधिनी
दूरवेधिनी] वा ॥ ३३ ॥

अर्थ—(तुविद्यम्) दूर फे कने वाला (ते) तेरा (सुरतम्) श्रेष्ठ
वना हुआ (स्मर्यम्) मुझ वाला (धनुः) धनुष [उस के लिए] (साधु
वुन्द) अति श्रेष्ठ बाण (हिरण्ययः) सुनहरी [है ।] (उमा=उमी ते
वाहू) दोनो तरी भुजाए, (रण्यो=रण्यी) संग्राम योग्य (सुसंस्कृता)=
सुसंस्कृतौ=अति सुदृढ़ बनाई गई । (श्रुदूरे) [शत्रुओं के मर्दनार्थ] दूर
तक फे कने में समर्थ (चित् श्रुदूवृथो) मर्मवेधन करने वाली [है ।]

तुविद्य=वः फे कने वाला, दूर फे कने वाला अथवा । तेरा सुरत
स्मर्यं=श्रेष्ठ मुझ वाला धनु [है ।] अति श्रेष्ठ कर्म सिद्ध करने वाला बाण
[जो] सुनहरी [है ।] दोनो तेरी भुजाए [रण्यो] सुन्दर और संग्राम
योग्य अथवा । श्रुदूरे=अर्दन=वीधन करके गिराने वाली, बार बार गमन
कर क=नीत्र वेग से गिराने वाली, [टंकार का] [शब्द कर के गिराने
वाली, दूर तक गिराने वाली] अथवा । मर्म म पीड़ा-पूर्वक वीधने वाली,
वग म वीधन वाली [शब्द कर के वीधने वाली, दूर वीधने वाली]
अथवा ॥ ३३ ॥

भाष्य—धनुष, बाण और घोषा की मुद्राओं का अष्टितीय वर्णन इस शब्द
में है । बाण को बंद करने की पूर्ण विद्या का भी यहाँ निरुक्ति है ॥ ३१ ॥

निराविध्यद् गिरिभ्य आ धार्यन्पुक्रमोत्तनम् ।

इन्द्रो वुन्दं स्वातनम् ॥ [श्रु० = १ । ७७ । ६ ॥]

निराविध्यद् गिरिभ्य । आधार्यन्पुक्रमोत्तनम् । उदकदानं वेधम् ।
इन्द्रो वुन्दं स्वातनम् ।

वुन्दं वुन्देन व्याख्यातम् । (निरु० ६ । ३२) । गृह्यसूत्र ॥ ११ ॥

अर्थ—(निराविध्यत्) पूर्ण रूपेण वीधा (गिरिभ्यः) मेघों में से (आ धारयत्) अभिमुख्यता से धारण किया (पक्कम् ओदनम्) पके हुए मेघ को (इन्द्रः) इन्द्र ने, (वुन्दम्) वाण को (स्वाततम्) सुन्दर रूप से खींच कर ।

वीधा मेघों में से, धारण किया अथवा फाड़ा पके हुए ओदन को । ओदनम्=उदक के देने वाले मेघ को । इन्द्र ने वाण को सुन्दर रूप से खींच कर ।

१३०. वृन्दम् । वुन्द से व्याख्या किया गया । वृन्दारक पद का भी [वही निर्वचन है] ॥ ३४ ॥

भाष्य—पक्कम् ओदनम्=पका हुआ मेघ, यह विद्या अन्वेपणीया हैं ॥३४॥

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्युहे यत्समञ्जन्ति देवाः ।
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम् ॥

[ऋ० १०। ५२। ३ ॥]

अयं यो होता कर्ता स यमस्य । कमपि [ऊहे] । अन्नमभिवहति यत्समश्नुवन्ति देवाः । अहरहर्जायते । मासे मासे । अर्धमासे अर्धमासे वा । अथ देवा निदधिरे हव्यवाहम् ।

उत्वम् । ऊर्णोतिः । वृणोतेर्वा ।

महत्तदुल्वं स्थर्विरं तदासीत् । [ऋ० १०। ५१। १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

ऋचीसम् अपगतभासम् । अपहतभासम् । अन्तर्हितभासम् । गतभासं वा ॥ ३५ ॥

अर्थ—१३१. किः । सौचीवग्निः और विश्वेदेवाः के संवाद में ऋक् । (अयम्) यह (यः) जो (होता) होता=आह्वानकर्ता [अग्निः है] (किः) कर्ता (उ) पदभूरक (सः) वह (यमस्य) वायु का, [अयंवा] आदित्य का, (कम्) अन्न को (अपि ऊहे) भी=वहति=उठा कर ले जाता है । (यत्) जिसे (समञ्जन्ति) व्यापते हैं=खाते हैं

(देवा) देव । (अह अः) दिन दिन (जायत) उत्पन्न होना है [होम मे] (मासि मासि) मास मास म (अथ) क्योंकि (देवा) देवो ने (दधिरे) नियत किया [हमे] (हव्यशदम्) हवियों के ले जाने वाले को ।

यह जो होता [अग्नि] कता वह यम का । यम् अपि [ऊह] =अन्न को अभिषदति=उठा कर ले जाता है । यत्=जिस को समस्तवृत्ति सम्यक् प्राप्त होने हैं देव । दिन दिन उत्पन्न होता है । मास में मास में । अर्धमास में, अर्धमास म अथवा । क्योंकि देवा ने निदधिरे=नियत किया [हम] हवियों के ले जाने को ।

१३२ उत्पम् [=गर्भाच्छादन] । ऊर्णोति से, अष्टादिन करता है । वृणोति म अथवा । आवृत्त करता है । (महत् तत्) महान् वह (उत्पम्) जेर था, (स्थिरम्) वृत्त वृद्ध (तत्) वह (आसीत्) था । यह भी नियम होता है ।

१३३ ऋषीसम्=[पृथिवी] चला गया है मास-प्रवाग=चमक दिन का । अपहन=हटा गया है छोना गया है मासम्=प्रवाग त्रिम का । अन्तर्हित मासम्=छिप गया है, अन्दर चला गया है प्रवाग त्रिम का । गए हुए प्रवाग वाली ॥ ३५ ॥

भाष्य — सौषोक्त अग्नि उक्त्वा में आयेहिन अथ में प्रविष्ट हुआ । इसी मन्त्र के अगले भाग में यह भाव है । सौषोक्त अग्नि का आख्यान बृहदारण्यक १२-१० में किया है । उस अग्नि का पृथिवी की ऋषीस अवस्था ससम्बन्ध है । ऋषीस अवस्था स पूर पृथिवीत्वक सनु मासमान था । उस में आग्नेय वरमातु आगना देवर्ष दिनाते थे । मन्त्र कहता है— उयोनिधनीमदिति धारया-सुतिम् । अ० १।१.३९ ३॥ चमकन वाली अदिति=अदीना-संपूर्ण सससों वाली अदिति को धारया किया । अदिति पर पृथिवी की उस चमकोली पूर्णतया के अिष्ट है । पुन उन वरमातुओं का अघिकोस पृथिवी के अन्दर चला गया अथवा पृथिवी में दिष्ट गया । अन्दर के भाग स वह अकार देव हर किया गया यह जानना अदिष्ट । भासन को देने काज वाम तु उमचन आतु रूप धारण करके पृथिवी के अन्दर चले गए । अथ पृथिवी पर अति स्वप्न भासन रह गया । यह अति क समय पृथिवी का ही दिनाई बना है । पृथिवी की परि तीक्ष्ण होती है । अत पृथी उस भासन का

देखते हैं । इसलिए तै० सं० में प्रवचन है—सर्वा ह वा इयं त्रयोभ्यो नक्तदृशौ दीप्यते । तस्मादिमां वयांसि नक्तं नाध्यासते । ५ । ६ । ४ ॥ वेद का एक-एक शब्द अपूर्व ज्ञान देता है । यास्क को इन तथ्यों का पूर्ण ज्ञान था । अतः उस ने निर्वचनों द्वारा वह ज्ञान प्रकट कर दिया । राजवाड़े और सिद्धेश्वर जी इस निर्वचन-विद्या को क्या जानें ॥ ३५ ॥

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम् ।

ऋवीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥

[ऋ० १ । ११६ । ८ ॥]

हिमेनोदकेन ग्रीष्मान्तेऽग्निं घ्रंसमहरवारयेथाम् । अन्नवतीं चास्मै ऊर्जमधत्तमश्रये । योऽयमृवीसे पृथिव्यामग्निरन्तरीपधिवनस्पतिष्वप्सु तमुन्निन्यथुः । सर्वगणं सर्वनामानम् । गणो गणनात् । गुणश्च । यद् वृष्टे ओषधय उद्यन्ति प्राणिनश्च पृथिव्यां तदश्विनो रूपम् । तेनैवो स्तोति स्तोति ॥ ३६ ॥

इति पष्ठोऽध्यायः समाप्तः

॥ इति नैगमं काण्डं पूर्वाधश्च समाप्तम् ॥

अर्थ—(हिमेन) हिम से निकले उदक से (अग्निम्) अग्नि [सदृश] को (घ्रंसम्) दिन को (अवारयेथाम्) रोका [अर्थात् ठंडा कर दिया ।] (पितुमतीम्) अन्न युक्त (ऊर्जम्) ऊर्ज् रस को (अस्मै) इस अग्नि के लिए (अधत्तम्) दिया । (ऋवीसे) पृथिवी में [से] (अत्रिम्) [अन्दर गए] अग्नि को (अश्विनौ) हे अश्विद्वय (अवनितम्)=अधोनीतम् =नीचे ले जाए गए को (उन्निन्यथुः) ऊपर निकाला (सर्वगणम्) [उस अग्निः को] सारे गणों वाले को (स्वस्ति) कल्याण रूप=अविनष्ट रूप=जीवित को ।

हिमेन=उदक से ग्रीष्म के अन्त में अग्नि को घ्रंसम्=दिन रूप को अवारयेथाम्=रोका । अन्न वाली और इस के लिए ऊर्जम्=रस को अधत्तम्=दिया, अग्निः के लिए । जो यह ऋवीसे=पृथिवी में अग्निः=अग्निः है, ओषधियों और वनस्पतियों और आपः में तम्=उस [अन्दर की अग्निः

को] उत् नित्यद्यु कार निबाला । सारे गणो वाले अग्नि को और सत्र नामो वाले अग्नि को । गणु=गिनने मे । गुणु भी [इस से ।] जो वर्ग होने पर ओषधि उच्यन्ति=उत्पन्न होने हैं, प्राणि भी पृथिवी पर, यह अधिया का ह्य=रेधर्ष है । इष [रेधर्ष] से एनो=इन दोना अधियों की [मन्त्र] स्तुति करता है, स्तुति करता है ॥ ३६ ॥

भाष्य—अभिद्रव ग्रीष्म के अन्त में अपना रेधर्ष दिखाते हैं । अब पुनः ऊर्ध्व को देत है । ऊर्ध्व विषा भी पढ़ने योग्य है । इस पर वेदवाणी के विशेषार्थ में मेरा श्लेष देखें । ओषधि, वनस्पति और आप में पृथिवी गर्भ का अग्नि प्राण और आप के योग स प्रवेग करता है । वह ऊपर को उठ जाता है । ओषधि की उत्पत्ति में और पृथिवी पर के प्राणियों के जीवनदान में अभिद्रव का योग है । इन के अनिदित अधियों के जो कर्म हैं, वे अनेक मन्त्रों में उपदिष्ट हैं ।

अधियों ने हिम से अग्नि को रका । इन्द्र ने हिम से अर्जुं द को वीधा—
द्विमेनाधिष्यद् अर्जुं दम् ॥ ८ । ३२ । २६ ॥ ३६ ॥

॥ नैगम काण्ड और पूर्वपट्क समाप्त ॥

अथोत्तरषट्कं प्रारभ्यते

अथ दैवतकारणम्

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथातो दैवतम् । तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा । यत्कामं ऋषिर्यस्यां देवता-यामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । तस्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते । प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य ॥ १ ॥

अर्थ—अब दैवत [प्रकरण का आरम्भ होता है ।] तत्=तो जो नाम [निघण्टु के पञ्चम अध्याय में] प्राधान्यस्तुतीनां=प्रधान स्तुति वाले देवतानाम्=देवताओं के [हैं], तत् दैवतम्=उस को दैवत [प्रकरण] इति आचक्षते=इस नाम से कहते हैं । सा=वह [पूर्व १ । २० ॥ में कही] एषा=[और] यह [आगे लिखी] देवता की उप-परीक्षा=बहुत सूक्ष्म परीक्षा है । यत्कामः =जिस कामना वाला ऋषि [=ईश्वर वा दिव्य] ऋषि यस्याम् देवतायाम्=जिस देवता में आर्थपत्यम्=अर्थ=पदार्थ का बल, कर्म इच्छन्=चाहते हुए स्तुतिम्=स्तुति को प्रयुङ्क्ते=प्रयुक्त करता है, उसी देवता वाला वह मन्त्र होता है । ताः=त्रे त्रिविधाः=तीन प्रकार की ऋचः=ऋचाएँ [वेद में हैं ।] परोक्ष कृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यः और । तत्र=उनमें से परोक्षकृताः सारी नाम की विभक्तियों से युज्यन्ते=युक्त होती हैं । प्रथम पुरुषों से और आख्यात के ॥ १ ॥

भाष्य—स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयंभुवा । यह श्लोकार्थ महाभारत, शान्तिपर्व, ३३५ । ४६ है । इस से ज्ञात होता है कि वेद में देवों की स्तुति का असाधारण रूप मिलता है । देवों का देव महादेव ईश्वर है । उसकी स्तुति भी अनायास ही वेद में है । इसी लिए शारीरक सूत्र १ । १ । ४ में कहा

है—तत्तु समन्वयान् । उन मन्त्र का सम्पूर्ण अतिवक्त्यों में समन्वय है । निरुक्त के उत्तर पदक में अब देवस्तुति आरम्भ होगी है । इन अध्यायों में कर्ष वैभव स ईश्वर स्तुति भी है पर ईश्वर स्तुति का प्रदर्शन यास्क ने परिशिष्टों में कति स्तुतियों के अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्मता से किया है ।

श्रुति और देवता—वेद के ऋषि दो रूपों में हैं । एक है अन्तरिक्षस्थ अथवा सृज्जोक्त्वा और दूसरे हैं पृथिवी पर होने वाले मानुष ऋषि । दिव्य ऋषियों के नामों को लेकर ही पार्थिव ऋषियों ने अपने वे ही नाम रखे थे । इतिहास में इसके सुदृढ़ प्रमाण हैं ।^१ मन्त्रपाठ में जो ऋषि नाम हैं वे विल दिव्य ऋषियों के नाम हैं । यथा—य सष्ट विधामित्र जमदग्नि, भरद्वाज आदि । इन्हीं ऋषि यास्क आदि ने इन का प्रस्तावना, मनुष्य आदि सामान्य अर्थों में अर्थ दर्शाया है । वेद में पृथिवी पर के मनुष्यों का इतिहास नहीं है । वेद मन्त्र ता पार्थिव मानव सृष्टि से पहले ही सृष्टि में उद्भूत हो चुके थे, पार्थिव ऋषियों ने ईश्वर प्रेरणा और प्रकल्प से उन्हें ही मुना ।

महाभारत और बृहद्देवता में स्पष्ट कहा है—

(क) यस्य रश्मिसदृशेषु शाखास्त्रिय विहगमा ।

वसन्त्याश्रित्य मुनय ससिद्धा देवर्त सह ॥ शान्तिप्र,

(ख) दवान् यथायथ सवान् निवश्य स्वेषु रश्मिषु ॥

बृहद्देवता १ । ६३ ॥

अर्थ—सूर्य रश्मियों के साथ अब भी ऋषि और देव रहते हैं ।

वे देव और ऋषि भौतिक हैं, और मूर्तों का परिणाम हैं, ईश्वर की महती शक्ति से उन की बहुविध क्रियाएँ हो रही हैं । उन ऋषियों के द्वारा ही कर्मो मन्त्र सृष्ट हुए थे । यथा—

(क) यथा त द्वारियोजना सुवृक्षीन्द्र प्रहाणि गोतमासोऽवन् ।

ऋ० १ । ११ । १६ ॥

१ ऋषय सप्त देवा । ऋ० १० । १३० । ७ ॥

२. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २ पृ० १४८ ।

- (न) सनायते गोतम इन्द्र नद्यम् अतज्ञद् ब्रह्म दारियोजनाय ।
 ऋ० १ । ६३ । १३ ॥
- (ग) ब्रह्म स्तोमं गृन्समदासो अक्रन् । ऋ० २ । ४० । ८ ॥
- (घ) ब्रह्मकृता माकृतेना गणेन । ऋ० ३ । ३२ । २ ॥
- (ङ) उप ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः । ऋ० ७ । १८ । ४ ॥
- (च) ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
 ऋ० ७ । १०३ । ८ ॥
- (ज) वसिष्ठासः पितृवद् वाचमक्रत । ऋ० १० । ६६ । १४ ॥
- (झ) तस्मिन्नसौ सूक्तयागेन देशा हविर्विश्व आजुहवुस्तनूपाः ॥
 ऋ० १० । ८८ । १० ॥
- (भ) सुपर्णा वाचमक्रत । ऋ० १० । ६४ । ५ ॥

पूर्वोद्धृत नव प्रमाणों में (घ) प्रमाण में अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है कि मध्यमस्थानी मरुद्गण ब्रह्मकृत हैं। जय ये मरुद्गण ब्रह्मकृत हैं, तो अन्य देव क्यों नहीं। (ज) प्रमाण में कहा है कि विश्वे देवा "सूक्तयाक्" से हविः देते हैं। इस विषय का थोड़ा सा व्याख्यान पूर्व निरूक्त २ । १० । के भाष्य में भी देखें।

वेद की इस अपूर्व महिमा को न समझ कर अनेक लोग अपने अधूरे ज्ञान से वेद को मानव कृति समझते और उस में पार्थिव मानव और राजाओं का इतिहास ढूँढते रहते हैं।

कविः—देव कविः हैं। मन्त्र कहते हैं—

- (क) अग्निर्होता कविक्रतुः । ऋ० । १ । १ । ५ ॥
- (ख) इदं कवेगादित्यस्य । ऋ० २ । २८ । १ ॥
- (ग) कवी नो मित्रावरुणा । ऋ० १ । २ । ६ ॥

इन मन्त्रों में ईश्वर परक अर्थ भी है, और भौतिक शक्ति-परक अर्थ भी। ये भौतिक शक्तियाँ ईश्वरीय नियमों में ही चल रही हैं। आधिदैविक पक्ष में ये घटनाएँ अति स्पष्ट हैं।

प्रमाण (ग) में जिन मित्रावरुणों का कथन है, उन के सदन स जो देवी वाणी निकल रही है उस का स्पष्ट उक्तेन देवकीपुत्र कृष्ण रचित साम्बपञ्चाशिका के श्लोक ५ में है ।

जिस प्रकार गणित, उद्भिन्न शास्त्र और ज्योतिष आदि को पढ़े बिना उन उन शास्त्रीय विषयों का ज्ञान नहीं हो सकती उसी प्रकार वाग्बिद्या को पढ़े बिना वेद की अपौरुषेयता का ज्ञान भी नहीं हो सकता । निस्सन्देह मूत्र मन्त्र नित्य हैं, पर वेद शास्त्रार्थों में कहीं-कहीं प्रवचन भेद से पाठ विक्षेप किया गया है ।^१ वर्तमान काळ के नामधारी अधिकार वेदाध्यापक इस विषय से बचन हैं और वेद पाठकों का ही काम करते हैं । अस्तु ।

इन्द्र और अश्व — सूर्य के अथ जिन परमाशुओं और रश्मियों के संयोग से बने हैं वे इन्द्रों को उत्पन्न करते रहते हैं । मन्त्रों और ब्राह्मणों में उन का विलून बर्णन है । उन की सुन्दर व्याख्या पुराणों के निम्नलिखित वचनों में देखिए—

(क) इयाश्च सप्त इन्द्रासि तथा नामानि मे शृणु ।

गायत्री च बृहत्सुष्णिक् जगती त्रिष्टुभेव च ।

अनुष्टुप पँक्तिरित्युक्ताश्चन्द्रासि हरयो रवे ॥

विष्णु द्वितीयः ॥ १० ॥

(ख) इन्द्रोभियाजिरूपैस्तु यनञ्च तत स्थिते ।

सप्ताश्वरूपाश्चन्द्रासि बहन्त वामनो ध्रुवम् ॥

ब्रह्मसूत्र, पूर्वभाग, २२ । १२ ॥ १ ॥

(ग) अश्वैः स्पन्दत वैदिकक्षयः । ब्रह्मसूत्र पूर्वभाग २२ । २४ ॥

(घ) अश्वं ब्रह्मणादिभिः ॥ २२ । ४० ॥ वायु २२ । ४६ ॥

वास्तु आदि ऋषि मुनि इन सव्यों को हम स शतश गुणा अधिक जानते थे । अतः उन के वचनों का टाँही की दृष्टि से व्याख्यान युक्त है । तदनुसार 'वकाम ऋषि' की प्रतीक वाणी पत्कि म ऋषि पद स टाँही दिव्य ऋषियों

१ प्राजापत्या भूनिर्निव्या तद्विकल्पान्वयम स्मृता ॥ वायु पु० ६१ । ७८ ॥

२ ऋषि मुनि करता है । दसो—ऋषिर्न शुभ्वा वित्तु प्रशस्त ।

ऋ० १ । ६६ । २ ॥

का प्रहण है, जो सृष्टि में वेद मन्त्रों के मूल में उच्चारण करने वाले थे । उन्हीं ऋषियों के द्वारा देवता निश्चित हुए । उस दैवत ज्ञान के बिना जो कोई मन्त्रार्थ करता है, वह वेद ज्ञान विहीन है । उस दैवत ज्ञान को स्पष्ट करने के लिए नेरुक्त के उत्तरपदक का भाष्य प्रारम्भ किया जाता है ।

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः । [ऋ० १० । २६ । १० ॥]

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत् । [ऋ० १ । ७ । १ ॥]

इन्द्रैरैते तृत्सवो वेविपाणाः । [ऋ० ७ । १८ । १५ ॥]

इन्द्राय सामं गायत । [ऋ० ८ । ६८ । १ ॥]

नेन्द्राहते पवते धाम किं चन । [ऋ० ६ । ६६ । ६ ॥]

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वीचम् । [ऋ० १ । ३२ । १ ॥]

इन्द्रे कामा अयंसत । इति ।

अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगाः । त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना ।

त्वमिन्द्र वलादधि । [ऋ० १० । १५३ । २ ॥]

वि न इन्द्र मृधो जहि । [ऋ० १० । १५२ । ४ ॥] इति ।

अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति । परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि ।

मा चिद्व्यद्वि शंसत । [ऋ० ८ । १ । १ ॥]

करवा अमि प्र गायत । [ऋ० १ । ३७ । १ ॥]

उप प्रेतं कुशिकाश्चेतयध्वम् । [ऋ० ३ । ५३ । ११ ॥] इति ।

अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगाः । अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना । यथैतदिन्द्रो वैकुरठः । [ऋ० १० । ४७-४८] । लवसूक्तम् । [ऋ० १० । ११६] । वागाम्भृणीयम् । [ऋ० १० । १२५] इति ॥ २ ॥

अर्थ—इन्द्र को का इन्द्र सामन करता है पृथिवी का । [प्रथमा]

इन्द्र को (इत्) ही (गाधिन') सामग विद्वानो ने (वृद्धन्) वृद्ध साम से स्तुति किया । [द्वितीया]

(इद्रेण) इन्द्र के माय (पते) ये (गृत्सय.) वृन्तु (वेयिगाणा.) लगे हुए । [तृतीया]

इन्द्र के लिए साम को गाओ । [चतुर्थी]

मही इन्द्र के बिना (पथते) पवित्र करता है [सोम] (धाम) स्थान आदि किसी को । [पञ्चमी]

इन्द्र के (धीर्षणि) बल शाली [नमो को] (प्र धोचम्) रहता है । [षष्ठी]

इन्द्र मे (कामाः) सारी कामनाएं (अयंसत) बची हुई हैं । [सप्तमी]

अब प्रत्यक्षकृता [श्रुचाए] । [ये] मध्यम पुरुष के योग वाली [हैं ।] स्वम् इति, और इम सर्वनाम मे [युक्त होनी है ।]

(त्यम्) तू (इन्द्र) है इन्द्र (बलात्) बल से (अधि जातः) प्रकट हुआ है ।

(न) हमारे (इन्द्र) है इन्द्र (मृध') सप्तमी को (विजहि) विनेप रूप से नाश कर । इति ।

और भी प्रत्यक्षकृत स्तोत्र होते हैं । परोक्षकृत [होने हैं] स्तोत्र व्यानि=स्तोत्रव्य ।

(मा) मत (चिन् अन्यत्) किसी और की (विशसत) स्तुति करो ।

[शर्धं माहृतम्=बल को मरतो के] (कगम) है कएवो (अभि प्र माषत) गाओ ।

(उप प्रेत) समीप पहुँचो (कुशिका) है कुशिका (चेनयध्वम्) चेतो=भावधान होवो ।

अव आध्यात्मिकी [ऋचाएं] । [ये] उत्तम पुरुष के योग वाली [हैं] । अहम् इति, और इस सर्वनाम से [युक्त होती हैं] । यथा एतत् = जैसे यह इन्द्र वैकुण्ठ [सूक्त], लव सूक्त, वाक्+अम्भृणीय [=अम्भृण की कन्या वाक् का सूक्त] इति ॥ २ ॥

भाष्य—गाथिनः, तृत्सवः, कर्वाः, कुशिकाः, ये सब इन्द्र के समान मध्यम स्थानी हैं । इन को पार्थिव ऋषि आदि समझने से वेदार्थ का ज्ञान नहीं होगा । वेदार्थ का आधिदैविक और आधिभौतिक पक्ष समझे बिना वेदविद्या का महत्त्व अज्ञात रहेगा ॥ २ ॥

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः । अल्पश आध्यात्मिकाः ।

अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः ।

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम् । [ऋ० १।३२।१॥] इति ।

यथैतस्मिन्सूक्ते ।

अथाप्याशीरेव न स्तुतिः । 'सुचक्षा अहमर्क्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन । सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्' [मानव गृ० १।६।२५] इति ।

तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु ।

अथापि शपथाभिशापौ ।

अथा मुरीय यदि यातुधानो अस्मि । [७।१०४।१५ ॥]

अथा स वीरैर्दशभिर्वि यूयाः । [ऋ० ७।१०४।१५ ॥] इति ।

अथापि कस्यचिद्भावस्याचिख्यासा ।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि । [ऋ० १०।१२६।२ ॥]

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे । [ऋ० १०।१२६।३ ॥]

अथापि पस्विदेवना कस्माच्चिद्भावात् ।

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् । [१०।६५।१४ ॥]

न वि जानामि यदि वेदमस्मि । [ऋ० १ । १६४ । ३७ ॥] इति ।
अथापि निन्दाप्रशंसे ।

केपलाघो भवति केपलादी । [ऋ० १० । ११७ । ६ ॥]

भोजस्येदं पुष्करिणीं वेश्म । [ऋ० १० । १०७ । १० ॥] इति ।

पशमस्तूक्ते [ऋ० १० । ३४] द्युतनिन्दा च वृषिप्रशंसा च ।
पशमुखात्तैरभिप्रायैर्हृषीणा मन्त्रदृष्टव्यौ भवन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ—परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत मन्त्र अधिक हैं । अरपश = योडे से
आध्यात्मिक ।

और भी [अनेक मन्त्रों में] स्तुति ही होती है, नहीं आशीर्वाद =
प्रार्थना । [यथा—] इन्द्र के बरुशानी [कर्मों को] (प्रशोचम्) कहना
हू । इति । जैसे इम सूक्त में ।

और भी आशी = कामना = प्रार्थना ही [होती है] नहीं स्तुति ।
(सुचक्षा) थोड़ा देखने वाला मैं दोनों आँसों में होऊ । थोड़ा वर्चस्व = तेज
वाला मुख से । थोड़ा सुनने वाला दोनों कानों से होऊ । इति । तो यह
अधिक है आश्चर्यवे = ३ध्वर कर्म वाले = यजुर्वेद में, यज्ञ विषयक और
मन्त्रों में ।

और भी शपथ और अभिशाप [भी मन्त्रों में होते हैं ।]

आज ही (मुदीय) मैं मरू यदि मैं (यानुधान) जादू करने वाला =
किसी को बुरा रोकने वाला हू ॥ और वह (वरिरे) घोर पुत्रों से
(दशभि) दस से (वि यूवा) विद्युत् = रहित हो ।

और भी, किसी भाव के आच्छिष्यासा = कहने की इच्छा । [यथा—]
नहीं मृत्यु था [सृष्टि रचना से पूर्व], अमृत नहीं तब ॥ तम = प्रकृति धी =
अन्वकारमयी प्रकृति, तमसा = प्राकृतिक अन्वकार से ढकी हुई ।

और भी, परिदेयना = विलाप [होता है ।] किसी स्थिति के कारण से ।
[यथा—] थोड़ा देव [हो, जो] (अद्य) = आज, (प्रसतेत्) [कहीं से]
आ गिरे (अनाचूत्) बिना रोक के ॥ नहीं पूर्ण रूप से जानता है [आत्म
तत्त्व को] जैसा यह मैं हू ।

और भी, निन्दा तथा प्रशंसा [होती है] केवल (अथः) पाप होता है, [जो] केवल अकेला (आदी) खाता है । (भोजस्य) दाता का= खिलाने वाला का (इदम्) यह (पुष्करिणी) कमलों वाले सरोवर के (इव) समान (वेश्म) घर [है] पवम्=इस प्रकार अक्षसूक्त में द्यूतनिन्दा=जुआ खेलने की निन्दा और कृपि की प्रशंसा और [है] इस प्रकार उच्च+अवचैः=ऊँचे और नीचे अभिप्रायों से ऋषियों की मन्त्रदृष्टियाँ होती हैं ॥ ३ ॥

भाष्य—इस तीसरे खण्ड में मन्त्रों के प्रकार कहे हैं । यथा—

१. स्तुति । २. आशीर्वाद । ३. शपथ । ४. अभिशाप । ५. भाव-आचि-ख्यासा । ६. परिदेवना । ७. निन्दा । ८. प्रशंसा ।

इसी विषय में बृहद्देवता में निम्नलिखित श्लोक लिख कर आगे प्रकार गिनाए हैं—

मन्त्रा नाना प्रकाराः स्युर्दृष्टा ये मन्त्रदर्शिभिः ।

स्तुत्या चैव विभूत्या च प्रभावाद् देवतात्मनः ॥ १ । ३४ ॥

१. स्तुति । २. प्रशंसा । ३. निन्दा । ४. संशय । ५. परिदेवना । ६. स्पृहाशीः । ७. कथना । ८. याच्ना । ९. प्रश्न । १०. प्रैष । ११. प्रवलिहका । १२. नियोग । १३. अनुयोग । १४. श्लाघा । १५. विलाप । १६. आचिख्यासा । १७. संलाप । १८. पवित्राख्यान । १९. आहनस्या । २०. नमस्कार । २१. प्रतिराध । २२. संकल्प । २३. प्रलाप । २४. प्रतिवाक्य । २५. प्रतिषेध । २६. उपदेश । २७. प्रमाद । २८. अपह्वव । २९. उपप्रैष । ३०. संज्वर । ३१. विस्मय । ३२. आक्रोश । ३३. अभिष्टव । ३४. क्षेप । ३५. शाप । बृहद्देवता में आगे इन के उदाहरण भी दिए हैं । संख्या १८ के अन्तर्गत पवित्र विशेषण का कारण जानना चाहिए । वररुचि ने निरुक्तसमुच्चय के चतुर्थ कल्प में ३६ प्रकार के मन्त्रों की व्याख्या की है ।

स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद भाष्य के आरम्भ में—मन्त्राः पञ्चप्रकाराः । १. प्रैषाः । २. करणाः । ३. क्रियमाणानुवादिनः । ४. शस्त्राभिष्टव-नादिगताः । ५. जपानुवचनादिगताः, इति । लिखे हैं । यह विभाग यज्ञ के प्रयोगकाल का प्रतीत होता है ।

महायज्ञ पुराण पूर्वभाग अ० ३३ में--मात्रा नययिधा प्रोक्ता
प्रभृष्यु सामलक्षणा । ४२ । त्रिस कर—मन्त्रभेदाश्च यद्यामि चतुर्वि
शतिलक्षणान् ॥ ४३ ॥ लिखा है ।

वेदार्थ में परिधम करन वाला को वे सभ स्थान ध्यान से देखने चाहिये ॥ ३॥

तद्ध्येनादिदेवता मात्रास्तपु षेधनोपपरीक्षा । यद्देवत स यज्ञो
या यज्ञाङ्ग वा तद्देवता भवन्ति । अधान्यत्र यज्ञात्राज्ञापत्या इति
याज्ञिका । नाराशसा इति नैरुक्ता । अपि या सा कामदेवता स्यात् ।
प्रायोदयता वा । अस्ति ह्याचारो बहुल लोक । देवदेवत्वमतिषिदैष्य
पितृदेवत्वम् ।

याज्ञदेवतो मन्त्र इति । अपि ह्यदेवता देवतायत् स्तूयन्ते । यथास्त
प्रभृतीन्वोपधिपर्यन्तानि [निघण्टु ५ । ३ । १--२२] ।

अथाप्यणी द्व द्वानि [निघण्टु ५ । ३ । २६--३६] ।

स न मन्येतागतूनि राधां देवतानाम् । प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति ।

माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयत । एकस्यामनो
ऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।

अपि च सराना प्रकृतिभूमिर्हृष्य स्तुयन्तीत्याहु ।

प्रकृतिसार्वनाम्याच्चेतरतरजमानो भवन्ति । इतरेतरप्रकृतय ।
कमजमान । आ मजमानि । आमैवैषा रथो भवति । आमाभव ।
आमायुधम् । आमेव । आमा सर्व देवस्य ॥ ४ ॥

अर्थ—तो जो अन्+आदिष्ट=नही बताए गए देवता वाले मात्र उन में
देवता की पूरी परीक्षा [करते हैं ।] जिन देवता वाला वह यज्ञ वा
यज्ञाङ्ग वा तद्देवता=उन देवता वाले [वे मन्त्र] होते हैं । और अन्यत्र
यज्ञ से [किसी भी यज्ञ में जो विनियुक्त नहीं] प्राज्ञापत्या=प्राज्ञापति
देवता वाले [वे मात्र होते हैं] यह याज्ञिक [कहते हैं ।] [कहते हैं]
नाराशसा=नाराशस देवता वाले [वे मात्र होते हैं] यह नैरुक्त । और
अथवा सा=वह [शुक] इच्छानुसूलदेवता वाली होवे । प्रायोदेवता=

वहूत देवता यानी [होवे ।] है निश्चय मे आचारः=व्यवहार अविद्यता से लोक में । देव रूपी देवता वाली, अतिथि स्त्री देवता वाली, पितृदेवता वाली । [ऋक् ।] [ऐसी ऋचाओं में यथाविषय देवता होती है ।]

याज्ञदेवता याना मन्त्र [होता है ।] और अदेवता देवतावत् स्तुति किए जाते हैं । यथा—अश्व से लेकर ओषधि [निघण्टु ५।३।१-२२] पर्यन्त ।

और भी, आठ जोड़े [हैं ।] यथा—निघण्टु ५।३।२०—२६] (सः) वह [निरुक्त पढ़ने वाला यह] न माने, आगन्तून् इव अर्थान् [कि ये अश्व आदि, सूर्य आदि के] बाहर से आए हुए पदार्थों के समान [हैं ।] [प्रत्युत सूर्य के अश्व सूर्य मे ही उत्पन्न हुए है । वे दिव्य तो है, पर देवता नहीं ।] प्रत्यक्ष दृश्य यह [लोक मे] होता है [कि मनुष्यों के घोड़े बाहर से आए हुए होते हैं ।]

माहाभाग्यात्=अत्यन्त ऐश्वर्य वाला होने से देवतायाः=देवता के एकः आत्मा=एक ही आत्मा, बहुत प्रकार मे स्तुति किया जाता है । एक आत्मा के अन्य देव प्रत्यङ्ग होते हैं ।

और भी, सत्त्वानाम्=पदार्थों के प्रकृतिभूमभिः=मूल के महत्त्व से ऋषि स्तुति करते हैं, यह [आचार्य] कहते हैं । और प्रकृति=मूल के सब नाम होने से एक दूसरे मे जन्म वाले होते है । एक दूसरे की प्रकृति=मूल होते हैं । कर्मजन्मानः=कर्मों से जन्म वाले [होते हैं ।] आन्मजन्मानः=अपने रूप अथवा शरीर से जन्म वाले [होते हैं ।] आत्मा=शरीर ही इन का रूप होता है । शरीर अश्व । शरीर आयुध । शरीर बाण । शरीर [ही] सब कुछ देव का ॥ ४ ॥

भाष्य—वेद शाखाओं में अभिष्टोम आदि के प्रकरणों में जहां मन्त्र का देवता अनादिष्ट हो, उस का यहां कथन है । पाण्डिक लोग यास्क-प्रदर्शित इस प्रक्रिया को जानते हैं ।

अदेवता देवतावत् । निघण्टु के दैवत प्रकरण में ५।३।१—२२ तक पठित सब पद इस प्रकार के हैं । यथा—अश्व, मराडूक आदि भी देवतावत् माने गए हैं । इसी प्रकार निघण्टु ५।३ में इन से आगे विपाट्छुतुद्री आदि भी देवतावत् माने गए हैं । ऐसे सब स्थानों में—स न मन्येत्, वेदाध्येता, यद्

न समझे कि अशुभ, मरणाद्य विनाशानुत्पत्तीं करि मूष देना के वेद के अन्त
 य जाने कथे परार्थ है । अर्थात् शोक में देना होना है पर वेद में देना नहीं है ।

मादासायान् । परमेश्वर परमात्मा अत्यन्त देवर्ष कथा है । इती मरुत्
 देवी में स्थान है और विभिन्न देवी में उगी एक ही स्तुति है । इमी प्रकार जब
 इन्द्र करि देव स्तुति किए जाने हैं तो उन के अत्यन्त देवर्ष कथा होने से जब
 एक ही इन्द्र की विभिन्न करी में स्तुति होती है । उक्त समय करि मरुती में अन्त
 देवी का वर्णन का जना है, तो वे एक देव इन्द्र के ही मरुत् सात किए
 जाने हैं ।

मरुताना प्रवृत्तिममत्रि । परार्थों के मूष के अन्त न । यथा—अग्नि
 की स्तुति में जब उक्त के अर्थों और रूप करि का वर्णन होना है तो वे एक और
 रूप करि अग्नि में ही उक्तें होना है । मरुत्क भी पृथिवी पर के मरुत्क नहीं
 हैं । इमी प्रकार विराट् और सुवृत्ति करि इन्द्र द्वारा ही अन्तरिक्ष में उक्तें हैं ।
 तथा इन्द्र और मरुती के आशुष करि भी उक्तों में उक्तें हुए बर्णन जाने हैं ।
 अन्त मरुत्क में देवी के अन्त, रूप, आशुष करिओं को बाहर से आया हुआ नहीं
 समझना करिए । इमी प्रकार विराट् और सुवृत्ती भी बाहर की पार्थिव नदियों
 नहीं हैं । वे देवता में अन्तर्गम्यमान हैं । इस महान् तथ्य को न समझ कर
 योग्य और अन्तरिक्ष के वेदार्थ करने कथों ने वेदविद्या का विद्वान् और अन्त रूप
 मन्तर क समझे रखा है । अन्त उक्त का वेद में रूपों भी नहीं है ॥ ४ ॥

निध्न एव दयता इति नैमिता । अग्नि पृथिवीस्थान । वायुर्देन्द्रो
 धान्निविशुष्मान् । सूर्या सुष्मान् । तासां मादासायान् देवकस्यां अग्नि
 प्रवृत्ति नामधेयानि भवन्ति । अग्नि या अग्निपृथिव्यान् । यथा
 होनाऽयस्युर्ध्वोत्पत्तात्स्यस्य कस्य सत् । अग्नि या पृथिवी स्यु ।
 पृथिवी स्तुतयो भवन्ति । तथाविधानानि । यथो एतन्मृषपरमादिति ।
 बहुषोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्यु । तत्र सम्मोर्गैकत्वं सम्मोर्गैकत्वं
 चोपसितस्यम् । यथा पृथिव्या मनुष्या पशवो जेवा इति स्थानिकस्यम् ।
 सम्मोर्गैकत्वं च दृश्यत । यथा पृथिव्या पञ्चयन्त न वाय्वादित्याभ्याञ्च
 सम्मोर्ग । अग्निना क्षेत्रगम्य साकस्य । तत्रैतन्नरराष्ट्रमिय ॥ ४ ॥

अर्थ—तीन ही देवता [हैं] यह नैरक्त [मानने हैं] अग्नि पृथिवी
 स्थान वाता । वायु या इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान वाता । सूर्य स स्थान वाता ।
 तासाम्=उन [तीनों] के महान् एधय वाता होने से एक एक क भी

बहुत से नामधेय होते हैं । और भी अथवा कर्म के पृथक् होने से । यथा--
होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा- उद्गता भी एक [याज्ञिक के कर्मभेद] के होते
हुए से । अथवा पृथक् ही स्तुतियां होती हैं । तथा नाम [पृथक् पृथक् हैं ।]
यथो एतत्=जैसे यह [कहा है कि] कर्म के पृथक् होने से, इति । बहुत
भी विभज्य=वांट कर कर्मों को करें । तत्र=ऐसी अवस्था में संस्थान का
एकत्व, सम्भोग का एकत्व और, बहुत ध्यान से जानना चाहिए । जैसा
पृथिवी पर मनुष्य, पशु, देव [एक स्थान के कारण से, यह] स्थान का
एकत्व [है ।] सम्भोग का एकत्व भी दिखाई देता है । जैसा—पृथिवी का
[पृथक् स्थान वाले] पर्जन्य से और वायु और आदित्य से सम्भोग ।]
अग्निः का और इतर लोक=दुलोक [से सम्भोग ।] तत्र=ऐसी अवस्था में
यह नर-राष्ट्र के समान [है] ॥ ५ ॥

भाष्य—पृथिवी का पर्जन्य से सम्भोग । यहां पर्जन्य का अर्थ साधारण
मेघ नहीं है । साधारण मेघ पृथिवी लोक से सम्बन्ध रखता है । पर्जन्य मध्यम
स्थान वाला है । वह मेघ से बहुत पूर्व की अवस्था का द्योतक है ॥ ५ ॥

अथाकारचिन्तनं देवतानाम् । पुरुषविधाः स्युरित्येकम् । वेतना-
वद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति । तथाभिधानानि ।

अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते ।

ऋष्या तं इन्द्रं स्वविरस्य वाहू । [ऋ० ६ । ४७ । ८ ॥]

यत्सङ्गृह्णा मघवन्काशिरित्तै । [ऋ० ३ । ३० । ५ ॥]

अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः ।

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि । [ऋ० २ । १८ । ४ ॥]

कल्याणीर्जाया सुरगं गुहे तै । [ऋ० ३ । ५३ । ६ ॥]

अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः ।

अद्दीन्द्रं पिवं च प्रस्थितस्य । [ऋ० १० । ११६ । ७ ॥]

आश्रुत्कर्णं श्रुधी हवम् । [ऋ० १ । १० । ६ ॥] ॥ ६ ॥

अर्थ—भव आमार चिन्तन [करने हैं] देवताआ वा । पुरुषों के समान हो यह एक [मत है ।] चेतना वाला क समान ही [उन की] स्तुतिया होती हैं । तथा=तैम [उन क] अभिधानानि=कथन [होने हैं ।]

और भी पौरुषविधिर्नि-पुरुषो क सदृश अङ्गो म [देवता] स्तुति लिए जाते हैं ।

(अग्न्या) वडे अथवा दशनीय (त) तेरे (इन्द्र) हे इन्द्र (स्वविरम्य) वृद्ध के (याद्) दोना वाद् ॥ (यत्) जो (सङ्गृभ्या) पकडे हुए हैं [यावापृथिवी को] ह मत्रयन्-वनवर [यह] (कारि) मुट्टी ही है तेरी ।

और भी पुरुषों के सदृश द्रव्यो क संयोग से [भी स्तुति लिए जाते हैं ।] (द्वाभ्याम्) दोना (हरिभ्याम्) अश्वों के साथ (इन्द्र) हे इन्द्र (आ याहि) आओ ॥ (कट्याणी) क याणकारिणी=भद्रा=मुन्दर रूप वाली (जाया) पत्नी [वाक्] (सुरणम्) शोभनध्वनि (गृहे) घर में तेरे ।

और भी, पुरुषों के सदृश कर्मों से [भी स्तुति लिए जाते हैं ।] (अद्भि) साथों हे इन्द्र पियो और (प्रस्थितस्य) अपनी ओर चले [सोम को] ॥ (आशु कर्ण) हे सब ओर से सुनने वाले काना वाले [इन्द्र] (श्रुधि) सुनो (हवम्) [हमारे] आह्वान को ॥ ६ ॥

भाष्य—चेतनायद्वात् इति । चेतना वालों के समान । यत् प्रयोग से ज्ञात होता है कि चेतना वाले न मानने पर भी उन देवताओं की स्तुतियां चेतना वालों की स्तुतियों के समान ही होती हैं । यत् सङ्गृभ्या । इन्द्र ने ही यावापृथिवी को पकड़ा हुआ है कट्याणीर्जाया=माध्यमिका वाक परम कल्याण कारिणी है वही इन्द्र की जाया है । सुरणम् गृहे त । इन्द्र के चरण में शोभना ध्वनियां होती रहती हैं । इस ध्वनियों का अन्तरिक्ष में क्या कारण है यह जानना चाहिए ॥ ६ ॥

अपुरुषविधा स्तुरित्वपरम् । अपि तु यद् दृश्यत अपुरुषविध तत् । यथाग्निर्वायुरादित्य पृथिवी चन्द्रमा इति । यथो एतच्चेतनाव

इद्धि स्तुतयो भवन्तीति । अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते । यथाक्षप्रभृतीन्यो-
पधिपर्यन्तानि । [निघण्टु ५ । ३ । ४—२२] । यथो एतत्पौरुपविधि-
कैरङ्गैः संस्तूयन्त इति । अचेतनेष्वप्येतद्भवति ।

अभि क्रन्दन्ति हरितैभिरासभिः । [ऋ० १० । ६४ । २ ॥]

इति ग्रावस्तुतिः ।

यथो एतत्पौरुपविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरिति । एतदपि तादृशमेव ।

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम् । [ऋ० १० । ७५ । ६ ॥]

इति नदीस्तुतिः ।

यथो एतत्पौरुपविधिकैः कर्मभिरिति । एतदपि तादृशमेव ।

होतुश्चित्पूर्वे हविरर्धमाशत । [ऋ० १० । ६४ । २ ॥]

इति ग्रावस्तुतिरेव ।

अपि बोभयत्रिधाः स्युः । अपि वा पुरुपविधानामेव सतां कर्मात्मान
एते स्युः । यथा यज्ञो यजमानस्य । एष चाख्यानसमयः ॥ ७ ॥

नहीं पुरुषों के समान हों, यह अपर [मत है ।] और तो, [देवताओं
का रूप] जो दीखता है, अपुरुपविध है वह । यथा-अग्निः, वायुः, आदित्य,
पृथिवी, चन्द्रमा, [इन का रूप ।] इसी प्रकार इन्द्र आदि भी पुरुपविध
नहीं] यथो एतत्=जो यह [कहा कि] “चेतनावद्ध हि”, कि चेतना
वालों के समान ही, स्तुतियां होती हैं, इति । [तो है कि] अचेतना वाले
भी ऐसे स्तुति किए जाते हैं । यथा—अक्ष से लेकर ओपधिपर्यन्त [निघण्टु
५ । ३ । ४—२२] । यथो एतत्=जो यह [कहा कि] पुरुषों के सदृश
अङ्गों से स्तुति किए जाते हैं, इति । [तो उत्तर है] अचेतनों में भी यह
होता है ।

(अभि क्रन्दन्ति) सब ओर से क्रन्दन करते हैं [ये ग्राव] (हरितैभिः
आसभिः) [सोम से गीले] हरित वर्ण के मुखों से । यह ग्रावस्तुति
[है । ग्रावों=पत्थरों के मुख नहीं यह प्रत्यक्ष है, तद्वत् इन्द्र आदि के भी
वाहू उपचार से वर्णित रहते हैं ।]

यथो पतत्=जो यह [कहा कि] पुरुषो के सदृश द्रव्यो के संयोगे से, इति । यह भी [पूर्व वात के] समान ही [है ।] (सुखं रथ) सुख वाला रथ (युयुजे) जोडा (सिन्धु) सिन्धु ने (अश्विनम्) अश्वों से युक्त । यह नदी स्तुति है । [मित्थु का अश्वयुक्त रथ, यह आलङ्कारिक वर्णन है ।]

यथो पतत्=जो यह [कहा कि] पुरुषो के सदृश कर्मों से, इति । [यह भी] वैसा ही [है ।] (दोनु विन् पूर्वं) होता से पूर्व ही (इधि अश्वम्) खाने योग्य हवि को (आशान) खाते हो । यह शानस्तुति ही [है ।]

अथवा दोनो प्रकार के हो सकते हैं । अथवा पुरुषविधो के ही होने हओ के कर्मात्मान =कर्म-गरीर ये होंगे । यथा—यज्ञ यज्ञमान का [कर्म गरीर है ।] यह आख्यान [के समान कहने] वालो का समय=मिदान्त है ॥ ७ ॥

भाष्य — खण्ड ६ के पद्य का इस खण्ड के पूर्वभाग में प्रत्याख्यान है । पुरुषविध मानने वालों के सार तर्कों का यहाँ उत्तर दिया गया है । नवतु तीवरा पद्य दिया गया है कि देवता उभयविध हो सकते हैं । चौथा पद्य है, पुरुषविधों के हो डाले हुएों का कर्मशरीर ये देवता होंगे । यह अन्तिम पद्य आख्यान समय वालों का है । ये आख्यान पार्थिव ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं जर्मन अध्यापक ओल्डनबर्ग ने एक कल्पना प्रस्तुत की थी कि कभी लोगों में आख्यान प्रचलित थे । उन्हीं को सामग्री वेद मन्त्रों में भी विद्यमान है । ऐसा लेख वैदिक बाह्यमय स धनभिज्ञता का फल है । इस कल्पना के लिए कोई हेतु नहीं है । सत्य यह है कि वेदमन्त्रों में वर्णित देवी घटनाओं पर ऋषियों ने आख्यान कहे थे । इस का अभिप्राय था वेदार्थ का आकर्षक रीति में व्याख्यान । ऐसे अनेक इतिहास स्कन्द स्वामी के ऋग्वेद भाष्य में दिए हैं । विशेषतः प्रथम मण्डल सूक्त ११२ स सूक्त ११६, तक ॥ ७ ॥

तिस्र पद्य देवता इत्युक्त पुरस्तात् । तासा भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्याम ।

अथेतान्यग्निभक्तीनि । अथ लोक प्रातःसवनं यस्ततो गायत्री त्रिवृ-श्लोमो रथन्तरं साम । ये च देवगणा समाह्वयता प्रथमे

स्थाने । अग्नायी पृथिवीळ्ळिति स्त्रियः । अथास्य कर्म । घहनं च हविषामा-
वाहनं च देवतानाम् । यच्च [किञ्चिद्] दार्ष्टिद्विपयिकम् अग्निर्कर्मैव
तत् । अथास्य संस्तविका देवाः । इन्द्रः सोमो वरुणः पर्जन्य ऋतवः ।
आग्नावैष्णवं हविः । न त्वृक्संस्तविकी दशतयीषु विद्यते । अध्याप्या-
ग्नापोष्णं हविः । न तु संस्तवः । तत्रैतां विभक्तन्तुतिम् ऋचमुदा-
हरन्ति ॥ ८ ॥

अर्थ—तीन ही देवता हैं, यह कहा है, पहले [७।५ में] उन
[देवताओं] के भक्तिमाहचय=भाग मे=हिस्से मे आए [लोक और छन्द
आदि] और साहचर्य दूसरे देवताओं के साथपन] को व्याख्या करेंगे ।
अव एतानि=ये [आगे लिखे] अग्नि के [साथ] भाग लेने वाले [हैं] ।
यह [पृथिवी] लोक । [यज्ञ मे] प्रातः सवन । वसन्त [ऋतु] ।
गायत्री छन्द । त्रिवृत् स्तोम । १ रथन्तर साम । जो और देवगण एकत्र
पढ़े गए हैं प्रथम स्थान [निघण्टु ५ । १—३ खण्डों] में [और]
अग्नायी, पृथिवी, इळा ये स्त्रियां । अब इस [अग्निः] का कर्म [कहते
हैं] । ले जाना हवियों का, आवाहन और देवताओं का । जो और [कुद्य]
दृष्टि के विषय में होने वाला [कर्म आदि है] अग्निः का कर्म ही वह
[है] । अब इस [अग्निः] के संस्तविक देव [कहते हैं] । इन्द्र, सोम,
वरुण, पर्जन्य, ऋतवः, अग्निः और विष्णु [देवता] सम्बन्ध वाला हविः ।
[परन्तु] नहीं [कोई] ऋक् [ऐसे] संस्तव वाली दश मण्डल वाली
[आर्च संहिताओं] मे विद्यमान है । और भी, अग्निः और पूषा देवता
वाला [ऋक् द्वारा ऋग्वेद में] हवि [है], नहीं तो संस्तव । उस में इस
विभाग कर के [पृथक् करके] स्तुति वाली ऋक् को उदाहरन्ति=उदाहरण
रूप में देते हैं [नैरुक्त आचार्य] ॥ ८ ॥

भाष्य—नैरुक्तों का क्षेत्र निर्वचनविद्या है । तदनुसार समस्त पदों के
निर्वचन तीन देवताओं के कर्म आदि के अनुसार हो जाते हैं । अतः निर्वचनकर्ता

१. एक साम तीन ऋचाओं में गाया जाता है । उसी का तीन वार वर्तन
(गान) त्रिवृत् स्तोम कहाता है । इसी प्रकार पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश आदि
अनेक स्तोम हैं । इन स्तोमों के विविध उच्चारण प्रकारों का निर्देश ताण्ड्य ब्राह्मण
आदि में किया है, वहां से जानना चाहिए ।

हीन ही देवता स्वीकार कर लेते हैं । वे दूसरे देवताओं के अस्तित्व और उन की भौतिक क्रियाओं से अपरिचिन नहीं रहते पर अपना निर्बचन का काम इन तीन देवताओं से ही चला लेते हैं । दूसरे देवताओं का अस्तित्व न होता तो निवृत्त के कई प्रकारके लिते ही न जाते ।

यद्य किञ्चिद् दार्ष्टिप्रियिकम् । मानव ज्ञान का सम्पूर्ण दृष्टि विषय अग्नि के योग का फल है । इन्हीं रश्मियों के कारण नेत्र से देखा जाता है । पात्राय विज्ञान में यह विषय अभी पूर्णतया ज्ञाना नहीं गया । अग्नि से साहचर्य रखने वाले देव पृथिवी लोकस्थ ही नहीं हैं । वे दूसरे लोकों के भी हैं । यथा मध्यम स्थानी इन्द्र का पार्थिव अग्नि के साथ साहचर्य हो जाता है ।

काठक संहिता में इस विषय पर सुन्दर सन्दर्भ है । यथा—भूरिति इमामसृजत, अग्नि रथन्तर त्रिवृत गायत्रीम् । भुवरिति, अन्तरिक्षं यान यामदेव्य त्रिष्टुभम् पञ्चदशम् । स्वरिति, दिव्य सूर्यं बृहत् एकविश जगतीम् । ६ । ७ ॥ यह अग्नि क्या है । यह आप्तय परमाणुओं का सघात है । इस सघात के पूर्ण रूप का ज्ञान वैदिक विज्ञान की पराकाष्ठा होगी । अग्नि एवमान अग्नि है । इस का पावक और शुचि अग्नियों से भेद है । इस भेद का आधार परमाणु सघात है ॥ ८ ॥

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।

स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निदेवेभ्यः सुविद्विष्येभ्यः ॥

[अ० १०। १७। ३ ॥]

पूषा त्वा इत प्र च्यावयतु विद्वान् अनष्टपशु । भुवनस्य गोपा इति । एष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिता [आदित्य] । स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्य इति साशयिकस्तृतीय पाद । पूषा पुरस्तात् । तस्यान्वादेश इत्यकम् । अग्निरुपरिष्ठात् तस्य प्रकीर्तना इत्यपरम् । अग्निदेवेभ्यः सुविद्विष्येभ्यः । सुविद्वन् धन भवति । विद्वतेवकोपसर्गात् । ददातेर्वाभ्याद् द्व्युपसर्गात् ॥ ६ ॥

अर्थ—(पूषा) पूषा (त्वा) तुभे [हे मृत] (इत) यहा स (प्र च्यावयतु) पूषा चला ले जाए (विद्वान्) सब प्रकार का ज्ञाता (अनष्टपशु) न नष्ट होने वाले पशुओं वाला (भुवनस्य) भूतों का

(गोपाः) रक्षक । (सः) वह (त्वा) तुझे (एतेभ्यः) इन के लिए (परि ददत्) चारों ओर से दे दे, (पितृभ्यः) पितरों=ऋतुओं के लिए, [और] अग्निः [दे दे] (देवेभ्यः) देवों के लिए (सुदधियेभ्यः) श्रेष्ठ ज्ञान वालों के लिए ॥

पूषा तुझे यहां पृथिवी लोक से चला ले जाए, जाता अनष्टपशुः, भुवनस्य गोपाः इति । यह ही सारे भूतों का रक्षक आदित्य । वह तुझे इन के लिए चारों ओर से दे पितृभ्यः=पितरों के लिए । यह [साधारण अध्येताओं के लिए] सांशयिकः=संशय करा देने वाला तीसरा पाद [है ।] पूषा [पद] पहले आया है । उम का अनु+आदेशः=फिर कथन है, यह [संशय का] एक स्थान [है ।] अग्निः उपगिष्टात्=आगे [वर्णित है ।] उस की प्रकीर्तना=कथन है, यह [संशय का] दूसरा स्थान [है ।] अग्निः देवों के लिए, श्रेष्ठ ज्ञान वा धन वालों के लिए । सुविदधम्—धन होता है । विन्दति से अथवा एक उपसर्ग वाले से । ददति से अथवा होवे, दो उपसर्ग वाले से ॥ ६ ॥

भाष्य—साधारण लोगों को तीसरे पाद में सन्देह हो सकता है । सन्देह के दो पक्ष भाष्यकार ने दर्शा दिए हैं । यास्क को दोनों पक्ष अभिमत प्रतीत होते हैं ॥ ६ ॥

अथेतानीन्द्रभक्तीनि । अन्तरिक्षलोको माध्यन्दिनं सवनं ग्रीष्म-
स्त्रिण्डुप्पञ्चदशस्तोमो वृहत्साम । ये च देवगणाः समान्नाताः मध्यमे
स्थाने याश्च स्त्रियः । अथास्य कर्म । रसानुप्रदानम् । वृत्रवधः । या च
का च बलकृतिः । इन्द्रकर्मैव तत् । अथास्य संस्तविका देवाः । अग्निः
सोमो बरुणः पूषा वृहस्पतिर्ब्रह्मणस्पतिः पर्वतः कुत्सो त्रिण्डुर्वायुः ।
अथापि मित्रो बरुणेन संस्तूयते । पूषणा रुद्रेण च सोमः । अग्निना च
पूषा । चातेन च पर्जन्यः ॥ १० ॥

अर्थ—अब ये इन्द्र के साथ भाग लेने वाले [हैं ।] अन्तरिक्ष लोक [है ।] माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म [ऋतु], त्रिण्डुप् [छन्द], पञ्चदश स्तोम, वृहत् साम । जो और देवगण एकत्र पढ़े गए हैं

मध्यम स्थान [निघण्टु ५ । ४, ५] में जो और खियाँ । अब इस [इन्द्र] का कर्म [कहते हैं ।] रस का अनुप्रदान=देना । वृत्रवध । जो और कोई और बल का कर्म, इन्द्र कर्म ही वह [है ।] अब इस [इन्द्र] के सस्तविक देव [कहते हैं] । अग्नि सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु । और भी, मित्र वरुण के साथ स्तुति किया जाता है । पूषा रुद्र और, सोम के [साथ ।] अग्नि के साथ पूषा । और वात के साथ पर्जन्य ॥ १० ॥

भाष्य—निरुक्त पढ़ने वाले को त्रिवृत्स्तोम और पञ्चदश स्तोम आदि का पूरा ज्ञान होना चाहिए । रथन्तर और शृङ्ग सामों के साथ पृथिवि और सौ लोकी का शृणक् होना सम्बद्ध है । उन का भी पूरा ज्ञान होना चाहिए । वैदिक विज्ञान के समझने में ये बातें अत्यन्त आवश्यक हैं । वर्तमान काल के पाश्चात्य और एतद्देशीय वेद पर लिखने वाले इन बातों से सर्वथा अपरिचित हैं । वे अहमन्व वेदार्थ को केवल बिगाड़ते हैं । इन्द्र के बिना रसानुप्रदान अर्थात् वर्षा आदि असम्भव होते । मरुतों की नष्टायता स इन्द्र का यह आश्चर्यमय कर्म हो रहा है । इन्द्र भी किन्हीं परमाणुओं के संघात का परिणाम है । हम पहले लिख चुके हैं कि वायु से आवेष्टित वैष्णु ज्योति ही इन्द्र है । यह सब भूत माया है । इस माया के ज्ञान के लिए इन्द्र की जन्मकथा का अद्भुत वृत्तान्त जानना चाहिए । यह जैमिनि ब्राह्मण ३ । ३६४, ३६५ में वर्णित है ॥ १० ॥

अथेतान्यादित्यभन्तीनि । असी लोकस्तृतीयसवनं वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम । ये च देवगणा समास्रता उत्तमे स्थाने याश्च खिय । अथास्य कर्म रसादानम् । रश्मिभिश्च रसाधारणम् । यच्च किञ्चित्प्रबलितम् आदित्यकर्मैव तन् । चन्द्रमसा वायुना संयत्सरेणेति संस्तव ।

एतेष्वेव स्थानं यूहेष्वनुच्छन्दस्तोमपृष्टस्य भक्तिशेषमनुकल्पयति । शरदनुष्टुभेकविंशस्तोमो वैराज सामेति पृथिव्यायतनानि । हेमन्त पङ्क्तिस्त्रिणवस्तोम शाकर सामेत्यन्तरिक्षायतनानि । शिशिरोऽतिच्छन्दास्त्र्यस्त्रिंशस्तोमो रैवत सामेति धुभन्तीनि ॥ ११ ॥

अर्थ—अब ये आदित्य के साथ भाग लेने वाले [है ।] असी=वह लो. लोक [है ।] तृतीय सवन, वर्षा [ऋतु], जगती [छन्द]

सप्तदश स्तोम,^१ वैष्णव साम । जो और देवगण एकत्र पढ़े गए हैं उत्तम स्थान [निघण्टु ५ । ६] में जो और स्त्रियां । अब इस [आदित्य] का कर्म [कहते हैं ।] रस का आदान=ले लेना=खींचना । रश्मियों के द्वारा रस का आधारण=अपने में थामना=सब ओर से धारण करना । जो और कुछ भी प्रवर्द्धितम्=वेग से गतिशील होना, आदित्य कर्म ही वह [है ।] चन्द्रमा, वायु, संवत्सर के साथ इस का संस्तव [है ।]

एतेषु एव=इन ही स्थान व्यूहेषु स्थानों के व्यूहों=क्रम से फैले हुए अवस्थाविशेषों में ऋतु, छन्द, स्तोम के पृष्ठ के विभाग-शेष की अनुकल्पणीयता=[वेदार्थ और निर्वचन में] कल्पना करे । शरत् [ऋतु], अनुष्टुप्, एकविंश स्तोम [और] वैराज साम, ये पृथिवी के आयतनानि=स्थान वाले [हैं ।] हेमन्त, पंक्ति, त्रिणव स्तोम, शाकर [साम], ये अन्तरिक्ष स्थान वाले [हैं ।] शिशिर, अतिछन्दस्, त्रयस्त्रिंश स्तोम, रैवत [साम, ये धु के [साथ] भाग रखने वाले [हैं] ॥ ११ ॥

भाष्य—यास्क के ज्ञान की महिमा देखिए । आदित्य तक जो आपः परमाणु पहुंचते हैं, वे स्वतन्त्र ऐसी सत्ता नहीं रखते । वे आदित्य की रश्मियों के आश्रय से पहुँचते हैं । और रश्मियों के ही कारण वे आदित्य मण्डल में ठहरते हैं । तीनों लोकों में सब से अधिक वेग से गतियां आदित्य का ही कर्म है । इसी माया के द्वारा सूर्य रश्मियां तत्काल सर्वत्र फैल जाती हैं । आदित्य शुचि अग्नि का भण्डार है । उस में भरत, वैश्वानर, महः, काव्य, अथवा, दध्यङ्, भृगु और अक्षिरा आदि अग्निधां हैं । इन में से कई एक नामों पर ऋषि-नाम रखे गए । इन सूर्यस्थ अग्नि रूपों को मनुष्य समझना अज्ञान है ॥ ११ ॥

मन्त्रा मननात् । छन्दोँसि छादनात् । स्तोमः स्तवनात् । यजुर्यजतेः । साम सम्मितमृचा । स्यतेर्या । ऋचा समं मेने, इति नैदानाः ।

गायत्री गायत्रे स्तुतिकर्मणः ।^२ त्रिगमना वा विपरीता ।

गायतो मुखादुदपत् १^३ इति च ब्राह्मणम् ।

१. तृच में गेय साम का पांच पर्यायों में पर्याय विशेष में दो मन्त्रों का पुनरावर्तन करके सप्तदश स्तोम सम्पादित किया है । इस के कई प्रकार हैं ।

२. देवताध्याय ब्रा० ३ । २ ॥

३. देवताध्याय ब्रा० ३ । ३ ॥

उष्णीगुत्सनाता भवति । स्निह्यतर्वा स्यात्कान्तिकर्मण । उष्णीविणी
वेत्योपमिकम् । उष्णीव स्नायत । ककुप्ककुभिनी भवति । ककुप्
कुम्जध कुजतर्वा । उम्जतर्वा । अनुष्टुप्नुष्टोभनात् ।

गायत्रीमेव त्रिपदां सर्तीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति ।^१ इति च
ब्राह्मणम् ।

बृहती परिवर्द्धणात् । पठति पञ्चपदा । त्रिष्टुप्स्तोभयुत्तरपदा ।
का तु त्रिता स्यात्^२ तीर्णतम छन्द । त्रिवृद्धस्तस्य स्तोभनीति वा ।

यत् त्रिस्तोभत्तत्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्स्यम् ।

इति विज्ञायत ॥ १२ ॥

अर्थ—मन्त्र मनन से । छन्दम् छानन करने=शापने से । स्तोम स्तुति
करने से । यजुम् यजति स । साम सम्मिमन=पूर्वतया माया हुआ होता है ऋक्
से । स्यति=अस्यति से अथवा [फेका जाना है रखा जाता है ऋक् म ।]
ऋक् के समान माना [प्रजापति ने इसे ।] यह नैदान [कहते हैं ।]
गायत्री गायति से स्तुति अर्थ वाले से । त्रिगमना=तीन गमन=पाद वाली
[त्रि+गाय] इसे त्रिपरीता=उलट कर [गाय+त्रि बनता है ।] गायन
=गाने हुए [ब्रह्म=प्रजापति] के मुख से अथतत्=गिरी=निकली । यह
और ब्राह्मण [वचन] है ।^३

उष्णीक्=उत्+घ्राता=[गायत्री स चार अक्षरो की अधिकता से]
ऊपर लपेटेी गई होती है । स्निह्यति स अथवा होवे कान्ति अर्थ वाले से
[देवो का चाहा हुआ प्रिय छन्द है ।] उष्णीविणी=पाडी वाली अथवा,
यह उपमा मे किया [नाम है ।] उष्णीव=आयति से [=गुड करता है ।]
ककुप्=ककुप् वाली होती है । ककुप और कुम्ज और कुजति से अथवा ।
[टेडा होना है ।] उम्जति स अथवा । अनुष्टुप्=अनु+स्नाध्यात्=पामन
स । गायत्री को ही त्रिपदा हुई को चौथे पाद से अनुस्तोभति=पामना है ।
यह और ब्राह्मण [पाठ है ।]

१ देवत ब्रा० १ ।

२ श्लेषिक प्रजापति द्वारा जो प्रथम शब्द उक्त्य हुआ वह 'भू' वा । 'भू'
देवी गायत्री छन्द है । इ० 'स भूरिति भ्यादरत् सभूमिपद्यजत ।'

वृहती=परिवर्हणात्=सब ओर से वृद्धि वाला होने से। पंक्तिः=पञ्चपदा
=पांच पदों वाली [आठ-आठ अक्षरों के पांच पद=१० अक्षरों वाली]
त्रिष्टुप्=त्रि+स्तोभति उत्तरपदा है। क्या वह त्रिता [अर्थात् त्रि पद अर्थ देने
वाला] हो। तीर्णतमम्=अत्यन्त आगे गया हुआ छन्द है। त्रिवृत्=त्रिवृत्
हुआ वज्र [है, इन्द्र का।] उस की स्तुति करने वाली अथवा। जिस
कारण, त्रिः अस्तोभत्=तीन वार स्तुति [उस ने] की, वह त्रिष्टुप् का
त्रिष्टुप् पन [है।] यह विज्ञान द्वारा ज्ञान होना है ॥ १२ ॥

भाष्य—मन्त्र और छन्द से ऋक् अभिप्रेत हैं साम और ऋक्सदा साथ-साथ
हैं। साम को उत्तर काल का मानना ईसाई लेखकों का घोर पक्षपात है। गायत्री
प्रजापति के मुख से निकली। प्रजापति=हिरण्यगर्भ के मुख से पहले ओम् की
ध्वनि और तत्पश्चात् गायत्री निकली। ऋषियों ने यह तथ्य योगबल से जाना।
छन्दों के निर्बचन-प्रदर्शन में पूर्ण वैज्ञानिक तथ्य यास्क के ध्यान में थे। विज्ञ
अध्येता को इन्हें समझ कर आगे चलना चाहिए ॥ १२ ॥

जगती गततमं छन्दः । जलचरगतिर्वा ।

जलगत्तमानोऽसृजत् । [देवत ब्रा० ३] इति च ब्राह्मणम् ।

विगङ्गविगजनाद्वा । विराधनाद्वा । विप्रापणाद्वा । विराजनात्सम्पू-
र्णाक्षरा । विराधनादूनाक्षरा । विप्रापणादधिकाक्षरा । पिपीलिकामध्ये-
त्योपमिकम् । पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः ।

इतीमा देवता अनुक्रान्ताः सूक्तभाजो हविर्भाजः । ऋग्भाजश्च
भूयिष्ठाः । काश्चिन्निपातभाजः । अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति ।

इन्द्राय वृत्रघ्ने । [ऋ० ६ । ६८ । १० ॥]

[इन्द्राय वृत्रतुरे,] इन्द्रायँहोमुचे । [मै० सं० ३ । १५ । ११]
इति ।

तान्यप्येके समामनन्ति । भूयँसि तु समाम्नानात् । यत्तु संविज्ञा-
नभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत्समामने ।

अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवता स्तौति ।

वृत्रहा पुरन्दरः । इति ।

तान्यप्येके समामन्ति । भूयसि तु समाघ्नात् । ध्वञ्जनात् तु तत्तस्याभिधानम्य भवति । यथा ब्राह्मणाय युभुक्षितायोदनं देहि स्नाता यानुलेपनम् । पिपासत पानीयम् । इति ॥ ३ ॥

अर्थ—जगती सब मे अधिक आगे गया छन्द [है ।] इस से परे कोई छन्द नहीं ।] जलचर गति वाला अथवा । [मृष्टि बनते समय सनित परमाणुओं मे दम की तरह विज्ञेय रूप की थी ।] जगद्व्यमान=पीछ होने हुए [मामरी समाप्त करते हुए प्रजापति] ने [इसे] रचा । यह और ब्राह्मण [है ।] विराट्=विशेष चमकने से अथवा । वि+राधभात्=विशेष घटने से अथवा । विशेष बढ़ने से अथवा । विराजन=चमकने से पूर्ण अक्षरी वाली छन्द । विराधन=घटने से ऊनाक्षरा=न्यून अक्षरों वाली । विप्रापण्य =बढ़ने मे, अधिक अक्षरी वाली । पिपीलिकामध्या यह उपमा द्वारा किया [नाम] है । पिपीलिका पेलति से, गति अर्थ वाले से ।

इस प्रकार इमा =ये तीनों देवता अनुक्रम से कहे गए । सूक्त मे भाग वाले [सारे सूक्त मे स्तुति किए गए, पर जिन के लिए हवि नहीं, हवि मे भाग वाले । ऋचाओं मे भाग वाले बहुत अधिक है । कुछ एक निपान भागो [गौण देवता के रूप मे] हैं । अथ+उत=अब अभिधानै =विभिन्न नामो= भिन्न भिन्न विगणणो से सयुज्य=जोड़ कर हवि को चोदयति=देता है प्रेरित करता है । [यथा—]

इन्द्र के लिए वृषवध करने वाले के लिए । [इन्द्र के लिए, वृष को मारने वाले के लिए] । इन्द्र के लिए, पाप से मुक्त कराने वाले के लिए । तानि अपि=इन [नाम विशेषणो] को भी एके=एक प्रकार के [निघण्टु संग्रहकर्ता] एकत्र पढ़ते हैं । भूयासि=अधिक हैं [ऐसे नाम—विशेषण] समाघ्नात् करने से । जो तो स्वविज्ञान भूतम्=साम्यक् विज्ञानभूत=गुण जान करा देने वाला होवे प्राधान्यस्तुति=प्रधान रूप से देवता की स्तुति [वाला नाम] तत्=उमे समामने=मे समाघ्नान करता है ।

और [देवता के] कर्मों से अपि देवता की स्तुति करता है [यथा—] (वृषवध) वृष को मारने वाला, (पुरन्दर) पुर को क्षीण करने वाला इति । उन को भी एक प्रकार के संग्रहकर्ता] एकत्र पढ़ते हैं । अधिक हैं समाघ्नात् करने से ।

१०९ वाला केवल तो तन्=वह

[विशेषण] उस अभिधानस्य=नाम का होता है । यथा—ब्राह्मण के लिए, भूने के लिए ओदनम्=भात दो । ज्ञाताय=ज्ञान कर चुके को अनुलेपनम्=नेप पदार्थ , चन्दन आदि ।] पिपासत=पीने की इच्छा रखने वाले के लिए पानी । इति ॥ १३ ॥

भाष्य—तत्समाप्ते । यास्क से पूर्व के कई निघण्टुकार—वृत्रघ्ने, वृत्रतुरे, अंहोमुचे आदि अभिधानों से जोड़ कर इन्द्राय आदि पद अपने अपने निघण्टुओं में एकत्र करते थे । अन्य निघण्टुकार—वृत्रहा, पुरन्दरः आदि कर्म-प्रदर्शन पदों से युक्त इन्द्र आदि पद पड़ते थे ।^१ यास्क ने ग्रन्थ विस्तार के भय से उस मार्ग को नहीं अपनाया । उस ने प्राधान्यस्तुति के भाव से इस दैवत काण्ड का समाप्ताय किया । इस संकेत से उस ने बता दिया कि यह निघण्टु ग्रन्थ उस की अपनी रचना है । निघण्टु के पहले चार अध्यायों में उस ने कहीं पुराने मूल समाप्ताय का क्रम रखा और कहीं संश्लेष करते समय अपनी स्वतन्त्रता बर्ती । वर्तमान निघण्टु सूत्रग्रन्थ यास्क का प्रवचन है । इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले पूर्व निरूक्त ४ । १२ पर हमारा भाष्य देखें ॥ १३ ॥

अथातोऽनुक्रमिष्यामः । अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः । अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गं नयति सन्नममानः । अन्नोपनो भवतीति स्यौलाष्टीविः । न फनोपयति । न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः । इतात् । अक्ताद् दग्धाद्वा । नीतात् । स खल्वेतेरकारमादत्ते । गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा । नीः परः । तस्येपा भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—अब इस से आगे [देवता] क्रमानुसार कहेंगे । अग्निः पृथिवी स्थान वाला है । उस को पहले व्याख्या करेंगे । अग्निः किस [कारण से] अग्रणीः=मुख्य में हो जाता है । आगे यज्ञों में प्रणीयते=लाया जाता है [=प्रज्वलित किया जाता है ।] अङ्गं नयति=[अपने] अङ्ग की ओर ले

१. इस प्रकार के निघण्टु संग्रहीता याज्ञिक दृष्टि से विशेषण विशिष्ट पदों का स्वतन्त्र रूप से संग्रह करते थे । याज्ञिकों के मत में इन्द्र और महेन्द्र पृथक्-पृथक् देवता हैं । इसी प्रकार वृत्रघ्न इन्द्र से वृत्रतुर इन्द्र और पुरन्दर इन्द्र भी पृथक्-पृथक् हैं । यास्क ने स्वनिघण्टु संग्रह आधिदैविक दृष्टिकोण से किया है ।

जाना [=अज्ञाना उभे अङ्गी बना वेना है] सप्रमथान=भुङ्क्ता हुआ
[किसी पर ।] अ+क्रापन =नही गीला होता यह स्थोत्राष्टीवि [कहना
है ।] नही गीला करता नही स्नहयति-श्लिष्य करता । तीन आभ्यानों मे
बनना है यह गाक्यूषि [कहना है ।] एतात्=नि स अत्तात्—दधान्
या, प्रकट करने म दग्ध करने म अथवा, नीतात्=वे जान म । वह ती
एति मे अकार ने बना है । गकार अनक्ति म अथवा दहति म अथवा । नी
परे [लगना है ।] उम [अग्नि] वी यह [अर्] है ॥ १५ ॥

भाष्य—अग्नेद की अनुक्रमणी वा अग्नेद के मन्त्रों में केवल अग्नि पर
साधारणतया पृथिवी स्थान वाले अग्नि का बोधक है । अन्नरिहरण अग्नि को
ज्ञानवद्स, धानरूपत्व अथवा पायक आदि नामों से पहचानते हैं 'युः शोचत्य
अग्नि का शुचि, और धैभानर, आदि नामों से ज्ञान खेते है । इस भेद का
ज्ञान कर ही वैशर्ष समस्त में आता है । इन अग्निवों के सूचीक, पुरीष्य
भवत आदि भेद हैं ।

रवृत्राष्टीव का पुत्र स्थोत्राष्टीवि । तीन आभ्यानों म एक अग्निः पर
निर्बचन भी ठीक है । इन की प्रक्रिया गाक्यूषि के निरुक्त के मिलने पर ज्ञान ही
सकती है ॥ १४ ॥

अग्निमाळे पुरोहितं यद्रस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधानमम् ॥

[अ० १ । १ । १०]

अग्निमाळेऽग्निं याचामि । इधिरभ्यपराकर्मा । पूजाकर्मा वा ।
पुरोहितो व्याख्यतो यद्रस्य । दवो दानाज्ञा । दीपनाज्ञा । योगनाज्ञा ।
प्राण्याना भवतीति वा । यो इव सा दयता होतारं क्षान्तरम् । पुरोहित
हैतिस्वोर्गुणशब्द । रत्नधानमं रमणीयाना धनाना दानरूपमम् ।

तर्पणाय वा भवति ॥ ११ ॥

अर्थ—(अग्निम् १०) अग्नि को याचना करना है पुरोहिता को एक
क र्व को अग्निक् को हाता को [होत] रत्न के अतिरिक्त दाना को ॥

अग्नि को याचना करना है । इति, अग्नेयपराकर्मा अथ वाता
[है ।] पूजा अथ वाणा अथवा । पुरोहित [निरुक्त १ । १२ से] व्याख्या
[रत्ना रत्न] मम और [निरुक्त १ । ११ म ।] इव दान मे रत्न=

काशन से, घोटन=चमकने से अथवा । छः स्यान वाला होता है, इस से अथवा । जो देव [है], वही देवता [है] । होतारम्=आह्वान करने वाले को । जुहोति से होता, यह आर्णवाभ [मानता है] । रत्नधातमम्=रमणीय पत्तों का तब से अधिक देने वाला ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ १५ ॥

भाष्य—सृष्टि निर्माण के समय हिरण्यगर्भ=प्रजापति=पुरुष से सर्वप्रथम भूमि पृथक् हुई । उस भूमि पर दिव्य गुण वाले अग्निः का सृजन हुआ । इसी लिए ऋग्वेद का आरम्भ आग्नेय सूक्त से है ।

अग्निः पद का अर्थ देव अग्निः भी है और देवों का देव महादेव ईश्वर भी है । ईश्वर अर्थ में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मनु और वेदादि के प्रमाण अपने ऋग्वेद भाष्य के प्रथम मन्त्र के भाष्य में दिए हैं । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस बात को स्पष्ट किया है, कि प्रार्थना के प्रसङ्ग में ईश्वरार्थ ही अभिप्रेत रहता है । अनेक आचार्यों का मत है कि प्रार्थना देवों से भी होती है । ऐसे आचार्यों देवों को सजीव मानते हैं । यास्क इन अग्निः आदि पदों से ईश्वरार्थ भी मानता है, यह उस ने परिशिष्ट खण्ड में अतिस्तुतियों से स्पष्ट किया है ।

निरुक्त परिशिष्ट १३ । १० में—ऋचो अक्षरे, प्रतीक वाले मन्त्र से यास्क स्वयं स्पष्ट करता है कि अक्षर, वह अविनाशी ओम् है । यही वाक् है, यह शाकपूणि को स्वीकृत है । इसी मन्त्र का अधिदेवत अर्थ में शाकपूणि का पुत्र दूसरा अर्थ करता है । अतः मन्त्रों के अनेकपक्षी अर्थ हो जाते हैं । पर ईश्वर अर्थ सर्वत्र विद्यमान रहता है । इसी तत्त्व का संकेत स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वीय ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के प्रतिज्ञाविषय में इस प्रकार किया है—

परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रेऽत्यन्तं त्यागो भवति ।

पृष्ठ ३६३. संस्क० ३ ।

स्वामी शङ्कराचार्य ने भी वेदार्थ दर्शन १ । २ । २८ के भाष्य में लिखा है—

अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति ।

अग्निः सब से अधिक धनों का दाता है ॥ १६ ॥

अग्निः पूर्वभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवो एह वक्षति ॥

[श्रु० १ । १ । ५ ॥]

अग्निर्ये पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो [वन्दितव्यो] ऽस्मान्निश्च नवतरै
स देवानिहावहत्विति ।

स न मध्येतायमेशन्निरिति । अपि एत उच्यते ज्योतिषी अग्नी
उच्येत । तता नु मध्यम ॥ १६ ॥

अर्थ—अग्नि पूर्व ऋषियों से स्तुति योग्य है नयों से और । वह
(देवान्) देवों को (इह) यहाँ (आ वक्षति) लावे ।

अग्नि जो पूर्व हुए ऋषियों से स्तुति योग्य=प्रार्थनीय [है], वन्दना
योग्य है हम से भी और अत्यन्त नया से, वह देवा को यहाँ आ वक्षतु=
लावे, इति । वह न मध्येत=माने, यह [पृथिवी स्थानी] ही अग्नि है । ए
दोनो कक्षर क ज्योति [वाक् और शुचि] भी अग्नि कहे जाते हैं । इन न
आगे मध्यम अग्नि का [कथन है] ॥ १६ ॥

भाष्य—पूर्व ऋषि—सृष्टि बनते समय सूर्य के शुचि अग्नि में ऋगु और
अद्विरा आदि प्राण रूपी अग्नि उत्पन्न हुए । शुचि अग्नि जब अगारों के रूप में
था तब अद्विरा प्राण की उत्पत्ति हुई । इन ऋगु अद्विरा आदि सूक्ष्म प्राणों से
भी अग्नि स्तुति योग्य है । ऋगु आदि के पश्चात् सृष्टि निर्माण के उत्तर काळ में
विष्णुमित्र, अग्नि और मधुसूक्ता आदि दिव्य अग्नि उत्पन्न हुए । उन क साथ
अनेक मन्त्रों की उत्पत्ति सम्भूद् है । उन नूतनों के द्वारा भी अग्नि स्तुति योग्य
है । इसी भाव से मन्त्रों में पूर्व और नूतन=नव अग्नि कहे गये हैं ।

कोई कहे कि देव और अग्नि जन्म की ऐसी बातें उस की समझ में नहीं
आती, तो वह उस की बुद्धि का दोष है । उस वेद विद्या को विधिबत् पढ़ना
आदि । ईसाई यहूदियों के प्रदर्शित मार्ग से वेद नहीं पढ़ा जा सकता ॥ १६ ॥

अग्निं प्रयन्तु समनेव योषाः कल्याणयुः सम्यमानामो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः सुमिधो नसन्तु ता जुषाणो ईर्यति जातवेदाः ॥

[श्रु० ४ । ५८ । ५ ॥]

अभिनमन्त समनस इव योषाः । समनं समननाद्वा । सम्माननाद्वा ।
कल्याणयः । स्मयमानासः । अग्निमित्यौगमिकम् । घृतस्य धारा
उदकस्य धाराः । समिधो नसन्त । नसतिराप्नोतिकर्मा वा । नमतिकर्मा
वा । ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः । हर्यतिः प्रेषसाकर्मा । विहर्यतीति ।

समुद्रादूर्भिर्मर्धुमाँ उदारत् । [ऋ० ४ । ५८ । १ ॥]

इति आदित्यमुक्तं मन्यन्ते ।

समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति । [कौषी० ब्रा० २५ । १ ॥]

इति च ब्राह्मणम् । अथापि ब्राह्मणं भवति ।

अग्निवै सर्वा देवताः । [ऐ० ब्रा० २ । ३ ॥] इति ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ १७ ॥

अर्थ—(अभि प्रवन्त) चारों ओर से झुके' (समना इव योषाः)
[किसी कर्म में] समान मन वाली स्त्रियों के समान (कल्याणयः) सुन्दर
रूप वाली (स्मयमानासः) मुस्कराती हुई [स्त्रियों के समान] अग्नि को ।
[कौन झुके'] (घृतस्य धाराः) स्निग्ध आपः की धाराएं । (समिधः
नसन्त) [ये धाराएं] समिध रूप हो कर व्याप्त होती हैं । (ताः) उन
धाराओं को (जुषाणाः) प्रेम करता हुआ (हर्यति) कामना करता है,
(जातवेदाः) मध्यमस्थान=अन्तरिक्ष का पावक अग्निः ।

भुके' समान मन वाली स्त्रियों के समान । समनम्=समान मनन करने
से अथवा । समान मान से अथवा । कल्याणयः=सुन्दर रूप वालीयां ।
स्मयमानासः=मुस्कराती हुई', अग्निः को, यह उपमा से कथन है । घृतस्य
धाराः=[स्निग्ध] उदक की धाराएं । समिध हो कर प्राप्त होती हैं ।
नसतिः, प्राप्ति अर्थ वाला है अथवा । भुक्ता है, अर्थ वाला अथवा । उन
को प्रेम करता हुआ कामना करता है, जातवेदाः । हर्यतिः=चाहने अर्थ वाला
[है ।] विशेष चाहता है, इति ।

(समुद्रात्) समुद्र स (ऊर्मि.) तरंग (मधुमान्) मधुपुत्र (उदारत्) उठा । यहा आदित्यम्=आदित्य को उक्तम्=कहा गया मानन है । समुद्र से ही यह अद्भ्यम्=आप से उदेति=उदय होता है । यह और ब्राह्मण वचन [है ।] और भी ब्राह्मण है । अग्नि निधय से सारो देवता [है ।] ।

तस्य=इम [अर्थ] की अगली श्रृक् अधिक अर्थ वा स्पष्टीकरण करने के लिए ॥ १७ ॥

भाष्य—घृतस्य धारा =स्निग्ध उदक अन्तरिक्ष में है । ऐसा अनेक प्रमाणों से सिद्ध है । वही उदक वैदिक वैज्ञानिक परिभाषा में घृत कहा जाता है । ऐन उदक की धाराएं अर्थात् आप परमाणुओं की कुख्याएं । ये परमाणु कुख्याएं समान मनन वालियां=एक दूसरे का आकर्षण करने वालियां । सुन्दर रूप वालियां=साध्यमिक विसृत् के कारण चमकती हुईं । समयमानास =मुसकरानी हुईं आप परमाणुओं का यह कर्म जानना चाहिए । सम्भवत ये परमाणु दिलवे और उद्वलित हुए आते हैं । अग्निम्=जातवेदा अग्नि की ओर सुधी हुईं जाती हैं । परमाणु धाराओं का यह नमन कर्म भी जानना चाहिए । ये परमाणु धाराएं जातवेदा के लिए इन्धन का काम देती हैं । जातवेदा अग्नि के लिए पुराण कहता है—वेद्यतो ऽग्जस्तु रिशेय । वायु २३ । १० ॥ इसी अग्नि को अगले श्लोक में—अपागर्भं , कहा है । यास्क भी मध्यम स्थानी अग्नि को उदकन्धन (निरु० ७ । २३) कहता है । जातवेदा इन आप धाराओं को विनोष चाहता है ।

यद्यपि मन्त्र के पूर्वार्ध में केवल अग्नि पद ही वर्तमान है, पर प्रकरण और मन्त्र के वर्धन तथा उत्तरार्ध में जातवेदा पद के होने से यहां स्पष्ट ही पहले अग्नि पद से अन्तरिक्षम्य अग्नि का ही महय होता है । इस एक ही मन्त्र में जो आश्चर्यकर विज्ञान का पदरौन है, वही वेद का वेदपन है । ऐसे वेद को इन अज्ञानी ईसाई यहूदी लोखकों और उन के चाहुदार करने वाले शिष्यों ने कैसे कुसुपित करने का यत् किया है ॥ १७ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपुण्यो गुरुत्मान् ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वा नभाहुः ॥

[अरु० १ । १६४ । ४६ ॥]

इममेवाग्निं महान्तं [च] आत्मानम् एकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति । इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम् । दिव्यो दिविजः । गरुत्मान्गरणवान् । गुवात्मा । महात्मेति वा ।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निः । निपातमेवेते उत्तरे ज्योतिषी, एतन् नामधेयं न भजेते ॥ १८ ॥

अर्थ—इन्द्र को, मित्र को, वरुण को । अग्नि को कहते हैं और [ऐसा अथवा इन नामों से ।] दिव्य है वह, सुपर्ण है, महान् आत्मा है । (एकं सत्) एक होते हुए को (विप्राः) मेधावी लोग (बहुधा) बहुत प्रकार से कहते हैं, अग्निः को, यम को, मातरिश्वा को कहते हैं ।

इस ही अग्निः को, महान् और आत्मा को, एक आत्मा को बहुत प्रकार से मेधावी जन कहते हैं । इन्द्र को, मित्र को, वरुण को, अग्निः को, दिव्य को और गरुत्मान् को । दिव्यः=द्यौः मे जन्मा अथवा दिव्य गुण युक्त । गरुत्मान्=गरणवान्=स्तुति वाला । गुरु आत्मा । महान् आत्मा अथवा ।

यः तु=जो [अग्निः] तो सूक्त का भागी है, जिस के लिए हवि दिया जाता है, यह ही वह [पृथिवीस्थानी] अग्निः है । निपातम्=गौण भाव से ही ये दोनो उत्तर ज्योति इस [अग्निः] नाम से सेवित होते हैं ॥ १८ ॥

भाष्य—यह मन्त्र अति प्रसिद्ध है, और वेद के ऐश्वर्य के वर्णन में सर्वत्र उद्धृत किया जाता है । नैरुक्त प्रक्रिया में दिव्यः सुपर्णः और गरुत्मान् पदों से इस का मध्यम अग्निः से भी सम्बन्ध बताया गया है, पर एकं सत् पदों से ईश्वर अथवा महान् आत्मा का भाव भी सुन्यक्त माना गया है । इस का अर्थ ईश्वर परक है, यह इस बात से भी प्रमाणित होता है कि अतिस्तुतियों वाले परिशिष्ट १३ । १४ में इसे दोबारा उद्धृत किया गया है । वहां इस मन्त्र से पुनः महान् आत्मा का ऐश्वर्य कहा गया है ।

इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि जब इस मन्त्र में अग्निः, इन्द्र, मित्र आदि पदों का ईश्वर अर्थ सिद्ध है, तो वेद के अन्य मन्त्रों में भी इन इन्द्र आदि पदों से ईश्वरार्थ ग्रहण हो जाता है । एक ही मन्त्र आधिदैविक और आध्यात्मिक पक्षों के अनुसार दो प्रकार का अर्थ देता है । यास्क के अर्थों में एक और सूक्ष्म बात भी है—यह अतिस्तुतियों १३ । १७ में कही है । तदनुसार महान् आत्मा से ईश्वर के अतिरिक्त महत्त्व का अभिप्राय भी हाता है ॥ १८ ॥

अपनेदा कर्मणा । अपनक्ति वत् । अपनक्ति येन विदु । अने अने
 विदु इति वा । अपनक्तिना वा अपनक्त । अपनक्तिषो वा अपनक्तवत् ।

पणनात् पणुन्दिन्दत् [इति] तस्मान्नादेशो नानदेशम् ।
 [मै० शं० १ । १ । १०] इति प्राक्कल्पम् ।

तस्मान्नादेशो नानदेशम् । [मै० शं० १ । १० । १०]
 इति वा । तस्मैवा भवति ॥ ११ ॥

अर्थ—अपनक्ति [वापन] मे । उपनक्त कर्मों को अपनक्त है ।
 उपनक्त रूप अपनक्त [नर प्राणी] इति ज्ञान १ । उपनक्त रूप म, उपनक्त रूप
 म विदुमान् रूपा है अपनक्त । अपनक्तिना = उपनक्त कृता है । एत इति मे
 अपनक्त । अपनक्तिषो = अपनक्त कर्मणो रूपान्तर इति ज्ञान कर्म । एत
 तन् अपनक्ति कारण प्रकृती ही पणुन्नात्तुमों को [उप न अने
 विदु] यह ज्ञान का ज्ञानान्त [है ।] यह कर्मण [प्रवचन] है ।
 एत कर्मण एतान् अणुन् पणुन्नात्तुमों को [अपनक्त कर्मणों
 म] पणुन्नात्तुमों को ओर अपनक्तिनात्तुमों है । यह भी कर्मण
 प्रवचन है ।] उप [अपनक्तिना] यह [कर्म] होता है ॥ ११ ॥

प्राक्कल्प—अपनक्ति कर्मों में न देनाप कर्मों ही अपनक्ति भिरणक कर्म
 कर्मिक उपनक्तव हाता है । इस के कर्मिक उपनक्त में बोधा का कर्मण है ।
 कर्मा—

(क) सा उपनक्ति-अपना वै प्रजा कर्मण-अपिदम् इति । एत
 अपनक्ति-अपना वै प्रजा कर्मण अपिदम् इति तन् अपनक्तवत् कर्मण
 तन् अपनक्तना अपनक्तवत् । ऐ० ३ । ११ ॥

(ख) प्राणा वै अपनक्ति स हि ज्ञानाना वद । ऐ० २ । ११ ।

(ग) वायुवै अपनक्ति । वायुर्होर् सप करोति यदिर् विप्य ।
 ऐ० २ । ११ ॥

(घ) एत तन् ज्ञानं अपिदन्ते तस्मान् अपनक्ति ।
 एत २ । ११ । ११ ॥

(क) और (घ) प्रमाणों में अविदम् और विन्दते से धात्वर्थ द्वारा जातवेदाः पद के वेदस्, अंश का अर्थ बताया गया है । पर (ख) और (ग) प्रमाणों में ऐतरेय ने प्राण और वायु का सम्यन्ध जातवेदाः अग्निः से बताया है । जातवेदाः अग्निः मध्यम स्थान वाला है । वायु भी मध्यम स्थानी है । इस से यह ज्ञात होता है कि जिस प्रकार वायु से आवेष्टित-वैद्युत तेज इन्द्र है, उसी प्रकार जातवेदाः रूपी आग्नेय परमाणुओं का भी कोई सम्यन्ध वायु से है । यदि कोई कहे कि वेद में परमाणुओं का कोई वर्णन नहीं तो यह उस की भूल है । वेद के भुवन पद का यास्क ने बहुधा भूतानि अर्थ किया है । यह संकेत प्रायः भूतों की ओर है । और आपः आदि भूतों के परमाणु सर्वत्र माने गए हैं ।

पशु पार्थिव हैं और अन्तरिक्षस्थ भी । इसीलिए वेद कहता है—पशूस्तान् चक्रे वायव्यान् । ऋ० १० । ६० । ८ ॥ पशु उन को किया, जो वायव्य हैं । इन पशुओं के लिए अधिक देखो, वेदविद्यानिदर्शन, पृ० १२२ से आगे-आगे । यजुर्वेद में २४ । १—४० तक जो पशु समाधाय है, उस के जानने के लिए इन अन्तरिक्षस्थ पशुओं का यथार्थ ज्ञान पूर्णतया अपेक्षित है । ये अन्तरिक्षस्थ पशु जातवेदा की ओर सरकते हैं । अभिसर्पन्ति क्रिया ध्यान देने योग्य है । अन्तरिक्षस्थ पशुओं की गति सर्पण विधि से होती है ॥ १६ ॥

विशेष टिप्पण—इस से आगे निरुक्त के लघु पाठ में एक खण्ड है । यह खण्ड दीर्घ पाठ में नहीं है । महोपाध्याय लक्ष्मणसरूप ने अपने निरुक्त प्राक्थन, पृ० १३ पर इस के विषय में लिखा है—

“It is clearly an interpolation as the commentary on the Vedic stanzas is identical with that of XIV. 33 with slight variations.”

अर्थात्—यह पाठे प्रक्षिप्त है । यही पाठ स्वल्प पाठान्तरों से निरुक्त १४।३३ में मिलता है ।

इस पाठ के विषय में राजवाड़े का टिप्पण है—इति अधिकः खण्डो गुर्जरपाठे । दुर्गवृत्ति पद्यपि लघुपाठ पर है, तथापि उस में यह पाठ नहीं है । पाठकों के लाभार्थ यह पाठ आगे लिखा जाता है ।

[जातवेदसे सुनवाम् सोममरातीयतो नि दंहाति वेदः ।

स नः पर्पदति दुर्गाणि विश्वा नावेव् सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥

जतवेदस इति जातवेदस्यां येष जातवेदमे ऽर्चाय मुनरागं
सोममिति । प्रसयापाभियथाय सोमं राज्ञानममृतमगतीयतो यहार्यमिति
स्मोः । निदधाति निश्चयेन ददति मर्माकरोति । सोमो दददित्यर्थः ।
स न पर्यदति दुर्गाणि विश्वानि दुर्गमानि म्यानानि नापेय सिन्धु सिन्धु
माया नदी जलदुर्गा महाकृत्वां तारयति । दुर्गतात्यग्निरिति दुर्गितानि
तारयति । तस्यैवापरा भयति ॥ २ ॥ २० ॥]

हमारी मामति में यह पाठ किसी अन्य निरुक्त का है, कथना किमी निरुक्त-
माप्यकार का है ।

प्र नूनं जातवेदममर्थां दिनोत वाजिनम् । इदं नो बर्हिरामदे ॥

[ऋ० ६० । १८८ । १ ॥]

प्रद्विष्टुत अतवेदस कर्मभि समश्नुयानम् । अग्नि घोपमार्ये स्यात् ।
अभ्यमिय जातवेदसमिति । इदं नो बर्हिंरासीदनु इति ।

तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्र तृच दशतयीषु विद्यते । यत्
किंचिदाग्नेय तज्जातवेदसाना स्थाने युज्यते ।

स न मन्येत अयमेवाग्निरिति । अप्येते उत्तरे ऽज्योतिषी जातवेदसी
उच्येते । ततो नु मध्यम ।

अग्निं प्रवन्तु समनेव योषः । [ऋ० ४ । १८८ । ८ ॥] इति ।

तत्पुरस्ताद् [निरु० ७ । १७] व्याख्यातम् ।

उद्दु त्यं जातवेदमम् । [ऋ० १ । १० । १ ॥] इति ।

तदुपरिष्ठाद् [निरु० १२ । १४] व्याख्यास्याम ।

यस्तु सूक्त भजने यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदाः ।
निपातमेवैते उत्तर ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजने ॥ २० ॥

अर्थ—[इमं मन्त्र का ऋषि—रयेन आग्नेय, श्रीर देवता—अग्नि
जातिवेदा है ।] (नूनम्) निश्चय से (जातवेदसम् अश्वम्) जातवेदा
को, अश्ववन् व्यपनशील को, (प्रद्विष्टोत) प्ररित करो, (वाजिनम्)
बली को । इस हमारे (बर्हिं) कुन हवी आसन पर (आसद्) बैठन क
लिए ।

प्रहिणुत=रेरित करो, जातवेदसं=कर्मों से सम्+अशुवानम्=सम्यक् व्यापने वाले को । अथवा उपमा अर्थ में [अश्व पद] हो, अश्व के समान जातवेदा को । इस हमारे कुण्ड पर आसीदतु=बैठे । तो यह एक ही जातवेदम् [देवता का] गायत्री छन्दोवद्ध तृचम् तीन ऋचाओं का सूक्त दश मण्डलों वाली [मंहिनाओं] में विद्यमान है । जो कुछ आग्नेय [सूक्त गायत्री छन्द में है, वह] जातवेदमों के स्थान में प्रयुक्त किया जाता है ।

वह [अध्येता] न समझे कि यह [पवमान अग्निः] ही जातवेदस् है । अपि=किन्तु ये दोनों ऊर के ज्योति जातवेदस् कहे जाते हैं । तत्र मध्यम [जातवेदस् वताते हैं ।]

(अभि प्रवन्त) यह [ऋक्] पूर्व [निरुक्त ४ । १७ में] व्याख्या की गई है । [इस मन्त्र में मध्यम स्थानीय अग्नि को जातवेदाः भी कहा है ।

अत्र वह मूर्ध [जातवेदप् के अर्थ में कहने हैं ।] ऊर को उस जातवेदा को । यह आगे [१२ । १५ में] व्याख्या करेंगे ।

जो सूक्त को सेवता है [=पूक्त का भागी है] जिस के लिए हवि दिया जाता है, यह ही वह अग्निः जातवेदा है । निपातम्=गौण रूप में एव=ही ये दोनों ऊर के ज्योति इस नामधेय से सेवित होते हैं ॥ २० ॥

भाष्य—प्र नूनं मन्त्र का अपि श्येन आग्नेय है । इस नाम पर ध्यान देना चाहिए । यह अग्निः का कोई प्रकार है । वही यज्ञार्थं बिद्धाणु अपने बहिं पर बैठने के लिए जातवेदा का आह्वान करता है । जातवेदा के साथ श्येन आग्नेय का स्थान सभवतः अन्तरिक्ष है । वह क्या है, यह जानना चाहिए । जातवेदा की तुलना अश्व से की गई है । अश्व मार्ग को व्यापता है । यह अश्व दिव्य है । उस की व्यापने वाली गति ही जातवेदा की गति है ।

ऋग्वेद की सम्पूर्ण शाखाएं दस मण्डल युक्त ही थीं ।

सूर्य भी वेद में जातवेदा कहा गया है । उस में जातवेदस् अग्निः का कोई अंश अवश्य है ॥ २० ॥

वैश्वानरः कस्मात् । विश्वान्नरान्नयति । विश्व एनं नरा नयन्तीति वा । अपि वा विश्वानर एव स्यात् । प्रत्युतः सर्वाणि भूतानि । तस्य वैश्वानरः । तस्यैषा भवति ॥ २१ ॥

अर्थ—वैश्वानर किम [कारण] से । सारे नरों को ले जाता है । मार इस को नर ले जाने हैं अथवा । अथवा विश्वानर होवे प्रति+श्रुत= पृथा हुआ सारे भूतों को । उम का [पुत्र] वैश्वानर । उस की यह [श्रुत्] होती है ॥ २१ ॥

भाष्य—नरः का अर्थ केवल मनुष्य नहीं है । मरुतों में भी नर है । मरुत् सूत्रों में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है । विश्वानर अग्नि मनुष्य को कर्मफल दिलाने के लिए ले जाता है । और यही विश्वानर अन्तरिक्षम्य मरुत्गणों के नरों को भी ले जाता है । ये नर भी हम ले जाते हैं । अथवा प्राण ही विश्वानर है । उसी प्राण से उत्पन्न हुआ यह विश्वानर अग्नि है ॥ २१ ॥

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिधीः ।

इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥

[श्रु० १।६८।१॥]

इतो जात सर्वमिदमभिविपश्यति । वैश्वानर संयतते सूर्येण । राजा य सर्वेषा भूतानामभिधायणीय तस्य वय वैश्वानरस्य कल्याणया मती स्यामिति ।

तत्को वैश्वानर । मध्यम इत्याचार्या । सर्वकर्मणा ह्येन स्तुति ॥ २२ ॥

अर्थ—(वैश्वानरस्य) वैश्वानर की (सुमतौ) कल्याणी=गुण=सुन्दर मति मे (स्याम) हो, (राजा हि कम्) राजा=स्वामी निधय स (भुवनानाम्) भूतों का (अभिधी) आधायणीय है । (इत जात) यहा से प्रकट हो कर (विश्वम् इदम्) इस सारे विश्व को । (वि चष्टे) देखना है । वैश्वानर (यतत) संगत होता है सूर्य के साथ ॥

यहा स प्रकट हो कर सब कुछ को अभिविपश्यति=चारों ओर न देखना है । वैश्वानर संगत होता है सूर्य के साथ । स्वामी जो सारे भूतों का, आधायणीय, उम की हम वैश्वानर की कल्याणी अर्थात् सुन्दर मति में होवे ।

तो बोन [है] वैश्वानर । मध्यम यह आचार्य (कहते हैं ।) [कारण कि] वर्षा के कर्म स [मन्त्र] इस को स्तुति करता है ॥ २२ ॥

भाष्य—वैश्वानर अग्निः यहां से उठ कर सूर्य तक पहुंचता है । कैसे पहुंचता है, यह क्रिया जाननी चाहिए । यह अग्निः भी देखने का साधन है । भुवनानाम् =भूतों का । प्राणी और महाभूत ही भुवन हैं । वैश्वानर मध्यम स्थानी भी है । इस का कारण है, इस की स्तुति वर्षाकर्म से की गई है । वर्षाकर्म इन्द्र और मरुतों द्वारा मध्यम स्थान से सम्बद्ध है ॥ २२ ॥

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूर्वो वृत्रहणं सचन्ते ।

वैश्वानरो दस्युर्मग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अब शम्बरं भेत् ॥

[ऋ० १ । ५६ । ६ ॥]

प्रव्रीमि तत् । महित्वं माहाभाग्यम् । वृषभस्य वर्षितुरपाम् । यं पूर्वः पूर्वयितव्या मनुष्याः । वृत्रहणं मेषहनम् । सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः । दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात् । उपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः । उपदासयति कर्माणि । तमग्निर्वैश्वानरो घ्नन् । अवाधूनोदपः काष्ठाः । अभिनत् शम्बरं मेषम् ।

अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः ।

एषां लोकानां रोद्रेण सवनानां रोह आम्नातः । रोहात् प्रत्यगोह-
श्चिकीर्षितः । तामनुकृतिं होताग्निमाखते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन
प्रतिपद्यते सोऽपि न स्तोत्रियमाद्रियेत । आग्नेयो हि भवति । तत
आगच्छति मध्यस्थाना देवता रुद्रं च मरुतश्च । ततोऽग्निमिहस्थानम् ।
अत्रैय स्तोत्रियं शंसति ।

अर्थ—(नू महित्वम्) महिमा=ऐश्वर्य को (वृषभस्य) आपः वर्षण करने वाले की (प्रवोचम्) भले प्रकार कहता हूँ, (यम्) जिस को (पूर्वः) नर=मनुष्य (वृत्रहणम्) वृत्रहन्ता को (सचन्ते) सेवते हैं । (वैश्वानरः अग्निः) [उन] वैश्वानर (दस्युम्) [रस नाशक] राक्षस को (उ धुना=रूपाया (काष्ठाः) वृष्टि वाले उद (अबभेत्) फाड़ कर नीचे गिराया ।

भले प्रकार कहता हूँ, उस महित्वं=माहाभाग्यम्=बड़े ऐश्वर्य को, वृषभ-
स्य=वर्षितुः अपाम्=आपः के बरसाने वाले को । जिसको पूर्वः=परयितव्या

असौ वा आदित्यो ऽग्निर्वैश्वानरः । [मैत्रा० सं० २। १। २ ॥]

इति ।

अथापि निवित्सौर्यवैश्वानरी भवति ।

आ यो द्यां भात्यापृथिवीम् । [शा० श्रौ० = । २२। १ ॥] इति ।

एष हि द्यावापृथिव्यो आभासयति ।

अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति ।

दिवि पृष्टो अरोचत । [य० ३३। ६२ ॥] इति ।

एष हि दिवि पृष्टो अरोचतेति ।

अथापि हविष्णान्तीयं सूक्तं [ऋ० १०। २२] सौर्यवैश्वानरं भवति ।

अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः । विश्वानरादित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी । वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते । कथं त्वयमेताभ्यां जायत इति । यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति यावदनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैव तावद्भवति । उदक्रन्धनः शरीरोपशमनः । उपादीयमान एवायं सम्पद्यते । उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः ।

अर्थ—और भी, वैश्वानर देवता [के निमित्त] वाला [पुरोडाश] वारह कपाल वाला [वारह कपालों पर पकाया गया] होता है । एतस्य= इस [सूर्य] का ही वारह प्रकार का कर्म [होता है ।] और भी ब्राह्मण [प्रवचन] होता है । वह ही आदित्य अग्निः वैश्वानर [है ।] और भी, निवित् सौर्य—वैश्वानरी होती है । [यथा] जो द्यूलोक तक प्रकाशित करता है, [और] पृथिवी तक । यह [सूर्य] ही द्यावापृथिवी को प्रकाशित करता है ।

और भी, छान्दोमिक सूक्त सौर्य वैश्वानर होता है । द्यौं में (पृष्टः) स्थित (अरोचत) चमका । यह [सूर्य] ही द्यौं में स्थित चमका ।

और भी, हविष्णान्तीय सूक्त सौर्यवैश्वानर होता है । अयम् एव=यह पृथिवी स्थानी अग्निः ही वैश्वानर है, यह शाकपूणिः [कहता है ।]

विभ्रानती इति अथि एते=दोनो विभ्रानर मे भी [है विद्युत् औ मूर्धस्थ] ऊपर के ज्योति । वैभ्रानर यह [पृथिवी स्थानी] जो उन दोनो में उदात्त होता है । वैसे यह एताभ्याम्=इन दोनो [अन्तरिक्षस्थ विद्युत् औ मूर्ध] से उत्पन्न होता है । [यह प्रभ है ।] जहां विद्युत् अग्नि शरणात् जिम के कारण से जाना है, जिम पर पड़ता है, उस को अभिदन्ति=नाडित करता है नष्ट करता है, जब तक अनुपात्त=न पकड़ा गया होना है, मध्यमधर्मा=[विद्युत् के गुण वाला] ही तब तक होना है । उदक [के] इन्धन बाना, शरीर में समन=चीन हाने वाला । उपादीयमान =नकड़ा हुआ ही अयम्=यह पृथिवी स्थानी बन जाना है । [फिर] उदक में चीन हाने बाना अर्थात् शान्त होने बाना और शरीर में चमरने बाना [बन जाता है]

भाष्य—वैभ्रानर अग्नि मूर्ध है, इस पद के तर्क समाप्त हुए । कपाल । विभिन्न देवताओं के विभिन्न पुरोडाश को बनाने के लिए विभिन्न संख्या के कपालों पर पुरोडाश पकाया जाना है । इस कपाल संख्या में गम्भीर वैज्ञानिक तत्व हैं । इन का पृथक् अध्ययन वेद विद्या को अधिकधिक साजेगा । निमित्त=कोई शब्द जिस का पार पार किसी अन्य सूक्त विषयक शब्द के अन्वयों में मिला मिला कर गाया जाय ।

आगे शाकपृष्णि का पद है । इस में भी गम्भीरता है । शाकपृष्णि ने अन्तरिक्षस्थ विद्युत् और पृथिवी के अग्नि और विद्युत् में एक अत्यन्त सूक्ष्म भेद बताया है । अन्तरिक्षस्थ विद्युत् उदकन्धन अथवा उदक में चमरने वाला और शरीरशेषसमन होता है । परन्तु पृथिवी पर पार्थिव अग्नि से पैदा किया गया विद्युत् शरीरान्धन=शरीर दीप्ति और उदकोपसमन होता है । यह गहराई निरूक ने ही बनाई है । आज हमारे घरों में जो विद्युत् धारा काम देती है, वह तारों और लट्टुओं में अर्थात् शरीरों में दीप्त होती है । और अग्नि भी लोहे और पाकशाला के बतनों के अन्दर गया लुआ लोहे और बतनों को अत्यन्त गरम कर के दीप्त कर देता है । और जल में वह शान्त होती रहती है । जल को वह धूम बना कर उड़ा सकती है, पर उस में दीप्त कदापि नहीं होती । अन्य या शाकपृष्णि जिस ने इस स्पष्टता से यह तथ्य बर्णित कर दिया । वर्तमान विज्ञान में यह ज्ञान बुद्धि का कारण सिद्ध हो सकता है । आर्दीयमान =पकड़ा गया । प्राचीन काल में आर्य मन्दिरो पर लगाया गया त्रिशूल इस विद्युत् अग्नि के एकदने का ही साधन था ।

अथादित्यात् । उदीचि प्रथमसमावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्शयन्धारयति तत्प्रदीप्यते । सोऽयमेव सम्पद्यते । अथाप्याह—

वैश्वानरो यतते सूर्येण । [ऋ० १ । ६८ । १ ॥] इति ।

न च पुनरात्मनात्मा संयतते । अन्येनैवान्यः संयतते । इत इममादधाति । अमुतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति । इतोऽ स्याच्चिपः । तयोर्भासोः संसङ्गं दृष्ट्वैवमवन्वयत् ।

अथ यान्येतान्योत्तमिकानि सूक्तानि भागानि वा सावित्राणि वा [सौर्याणि वा] पौष्णानि वा वैष्णवानि वा [वैश्वदेव्यानि वा] तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा अभविष्यन् । आदित्यकर्मणा चैनमस्तोष्यन् । इत्युदेषि । इत्यस्तमेपि । इति विषयंप्रीति । आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा भवन्ति । अग्निर्मन्त्रेण चैनं स्तौतीति । वहसीति । पचसीति । दहसीति ।

यथो एतद्वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौतीति । अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते ।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यवु चाहभिः ।

भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्रयः ॥

[ऋ० १ । १६४ । ५१ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ॥ २३ ॥

अर्थ—अव आदित्य से [उत्पन्न होता है, इस पर परीक्षण कहते हैं ।] उदीचि=उत्तर दिशा में पहले समावृत्ते=समावर्तन=लौटने पर आदित्य के [=उत्तरायण होने पर] कांसे को अथवा [सूर्य] मणि को अथवा परिमृज्य =चारों ओर से मर्दन कर के=पूर्ण शोध कर प्रतिस्वरे=[सूर्य किरणों के] सामने जहां सूखा गोबर [है, वहां उस गोबर को] अस्संस्पर्शयन्=संस्पर्शन कराते हुए, अर्थात् थोड़ी दूर पर धारणा करता है, तो [गोबर] प्रदीप्यते=जल उठता है । वह [सूर्य से आया तान] पार्थिव अग्निः ही बन जाता है । और भी [मन्त्र ने] कहा—वैश्वानर संगत होता है, सूर्य के साथ । नहीं और फिर आत्मा से=[अपने आप से] आत्मा संगत होता ।

विश्वानरो इति अपि एते=तेनो विश्वानर ये भी [हैं, विद्युन्-और मूर्धस्थ] ऊपर के ज्योति । विश्वानर यह [पृथिवी स्थानी] जो उन दोनों में उत्पन्न होता है । कैसे यह एताभ्याम्=इन दोनों [अन्तरिक्षस्थ विद्युन् और मूर्ध] से उत्पन्न होता है । [यह प्रथम है ।] जहाँ विद्युन् अग्नि, शरत्थम्=जिम के शरत्थ में जाता है, जिम पर पड़ता है, उस को अभिदग्नि=पाड़िन करना है, नष्ट करता है, जब तक अनुपात्त=न पकड़ा गया होता है मध्यमजर्मा=[विद्युन् के गुण वाला] ही तब तक होता है । उदक [के] इन्धन धाना, शरीर में समन=तीन होने वाला । उपादीयमान=पकड़ा हुआ ही अयम्=यह पृथिवी स्थानी बन जाता है । [फिर] उदक में तीन होने वाला अर्थात् शान्त होने वाला और शरीर में समनने वाला [बन जाता है]

भाष्य—विश्वानर अग्नि सूर्य है, इस पद के तर्क समाप्त हुए । कपाल । विभिन्न देवताओं के निमित्त पुरोडाश को बनाने के लिए विभिन्न सखा के कर्वाओं पर पुरोडाश पकड़ा जाता है । इस कपाल सखा में गम्भीर वैज्ञानिक तत्त्व हैं । इन का पृथक् अध्ययन वेद विद्या को अधिकाधिक शोलेगा । निवित्=सोई शब्द जिस का पाद पाद किसी अन्य सूक्त विषयक शब्द के अक्षरों में मिला, मिला कर गाया जाय ।

आगे शाकपृथि का पद है । इस में भी गम्भीरता है । शाकपृथि ने अन्तरिक्षस्थ विद्युन् और पृथिवी के अग्नि और विद्युत् में एक अत्यन्त सूक्ष्म भेद बताया है । अन्तरिक्षस्थ विद्युत् उदकन्धन अथवा उदक में समनने वाला और शरीरौपशमन होता है । परन्तु पृथिवी पर पार्थिव अग्नि से पैदा किया गया विद्युत् शरीरन्धन=शरीर क्षीति और उदकोपशमन होता है । यह गहराई निरुक्त ने ही बताया है । आज हमारे घरों में जो विद्युत् धारा काम देती है, वह तारों और लट्टुओं में अर्थात् शरीरों में दीस होती है, और अग्नि: भी जादे और पाकराजा के बतनों के अन्दर गया हुआ छोड़े और बर्तनों को अत्यन्त गरम कर के दीस कर देता है । और जल में यह शान्त होती रहती है । जल को वह धूम बना कर उड़ा सकती है, पर उल में दीस कशरि नहीं होती । धन्य भी शाकपृथि जिस ने इस स्पष्टता से यह तत्त्व कथित कर दिया । सर्वमान विज्ञान में यह ज्ञान बुद्धि का कारण सिद्ध हो सकता है । आदीयमान=पकड़ा गया । प्राचीन काल में आर्य मन्दिनों पर लगाया गया विशुद्ध इस विद्युत् अग्नि: के एकदमे का ही साधन था ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आ ववृत्रन्तसर्दनादृतस्यादि३ घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

[ऋ० १ । १६४ । ४७ ॥]

कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य । हरयः सुपर्णाः । हरणा आदित्य-
रश्मयः । ते यदासुतो ऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते । सहस्थानादुदकस्यादित्यात् ।
अथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते । घृतम् इत्युदकनाम । [निघं०
१ । १२ । १० ॥] जिघत्तैः सिञ्चतिकर्मणः । अथापि ब्राह्मणं भवति ।

अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति । धामच्छद् दिवि [खलु वै] भूत्वा
वर्षति । मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति । यदा [खलु वा] ऽसावादित्यो
न्यङ्ग्श्मिभिः पर्यावर्त्ततेऽथ वर्षति । इति ।^१

यथो एतद् रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इति । आन्नायवचनादंतद्-
भवति ।

यथो एतद्वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति इति । अग्निर्वचनं
कपालानि भवन्ति । अस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च ।

यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति । बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि
भवन्ति ।

पृथिवी वैश्वानरः । संवत्सरो वैश्वानरः । ब्राह्मणो वैश्वानर
इति ।

यथो एतन्नित्सौर्यवैश्वानरी भवति । इति अस्यैव सा भवति ।

यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत् । इति ।

एष हि विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते ।

यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीति । अस्यैव
तद्भवति ।

जमदग्निभिराहुतः ।^२ इति ।

१. तुलना—काठक सं० ११ । ११ ॥ तै० सं० २ । ४ । १० ॥

२. शां० श्रौत ८ । २२ । १ ॥ ३. आश्व० श्रौतं ८ । ६ ॥

दूमरे से दूमरा संगत होता है। इत =यहा म इमम्=इम [मूले गोवर के अन्दर वर्तमान] अग्नि को आग्धानि=दशापिन करता है। अमुत =यहा [सूर्य] ने उन के ररिम प्रादुभग्नि=प्रभाव दिखाते प्रकट होने हैं, [और] यहा से इम अग्नि की अचिया [निरुक्तो है ।] उन दोनों के भाव व पूर्ण सप्तज्ञ को देख कर इन प्रकार अग्रन्वत्=कहा हा।

अब जो ये औत्तमिकानि=उत्तम स्थान की देवताओ के सूक्त [हैं], भागानि=प्रग देवता के अथवा, सविना देवता क अथवा [सूर्य देवता के अथवा] पूषा देवता क अथवा विष्णु देवता क अथवा, [विश्वेदेवा देवता क अथवा] उन [सूक्तो] में वैश्वानर क प्रसाद्=कथन होने, आदित्य कम क द्वारा और इम [वैश्वानर] को स्तुति करते। इम प्रकार [हे वैश्वानर] तू उदय होता है। इम प्रकार तू अस्त हो जाता है। इम प्रकार विपर्येपि=तू उलट जाता है। आग्नेय सूक्तो में ही वैश्वानरीय प्रवाद होते है। अग्नि कम स और इम को स्तुति करते हैं। [हे वैश्वानर तू हवि को] ले जाता है। तू पकाना है। तू जलाता है। यथो एतन्=तो यह कहा कि-बगकम में ही इम की स्तुति करता है। इम [पार्थिव अग्नि] में भी यह उपपन्न=युक्त हो जाता है। (समानम्) समान कर म (एतत्) यह (उदकम्) उदक (उत् च एति) ऊपर जाता है (अथ च) और नीचे आता है (अहभि) दिनो [के परिवर्तन] के अनुसार। (भूमिम्) भूमि को (पर्जन्या) पर्जन्य (जि-रन्ति) वृष करने हैं (दिवम्) लो को वृष करते है (अग्रय) पृथिवी के अग्नि। यह ऋक् [अपने पाठ से] स्पष्ट व्याख्यान है ॥ २३ ॥

भाष्य—उद्गीथि—इस का शब्दार्थ तो ऊपर कर दिया है, पर इस का वैज्ञानिक अभिप्राय अभी मुझे स्पष्ट नहीं हुआ। मणिम्=इस मणि का उल्लेख अनेक मन्थों में है। इन पंक्तियों में प्रत्येक शब्द अपनी महत्ता रखता है। आदित्य किरणों और अग्नि की अचियों के मेल से भास का मेल होना है। उस की क्रिया भी अभ्ययन योग्य है। इति विपर्येपि-यास्क देता, ही अभिप्राय देतरेव प्राण्य में है—तं [आदित्यं] यदस्तमेतीति मन्यन्ते ऽह एष तदन्तमित्था ऽध्यात्मानं विपर्येप्यते । ३ । ४४ ॥ यहाँ विपर्येप्यते=उलट देता है का भाव समझना चाहिए। इस से कई गूड़ रहस्य मुझे ग। पर्जन्य मध्यमस्थानी है अत साधारण मेल नहीं। २३ ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आ ववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

[ऋ० १ । १६४ । ४७ ॥]

कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य । हरयः सुपर्णाः । हरणा आदित्य-
रश्मयः । ते यदामुतो ऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते । सहस्थानाद्दुदकस्यादित्यात् ।
अथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते । घृतम् इत्युदकनाम । [निघं०
१ । १२ । १० ॥] जिघत्तैः सिञ्चतिकर्मणः । अथापि ब्राह्मणं भवति ।

अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति । धामच्छद दिवि [खलु वै] भूत्वा
वर्षति । मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति । यदा [खलु वा] ऽसावादित्यो
न्यङ्ग्श्मिभिः पर्यावर्त्ततेऽथ वर्षति । इति ।^१

यथो एतद् रोहात्प्रत्यघरोहश्चिकीर्षित इति । आम्नायवचनादेतद्-
भवति ।

यथो एतद्वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति इति । अग्निर्वचनं
कपालानि भवन्ति । अस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च ।

यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति । बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि
भवन्ति ।

पृथिवी वैश्वानरः । संवत्सरो वैश्वानरः । ब्राह्मणो वैश्वानर
इति ।

यथो एतन्नित्सौर्यवैश्वानरी भवति । इति अस्यैव सा भवति ।

यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत् । इति ।

एष हि विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते ।

यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीति । अस्यैव
तद्भवति ।

जमदग्निभिराहुतः ।^२ इति ।

१. तुलना—काठक सं० ११ । ११ ॥ तै० सं० २ । ४ । १० ॥

२. शां० श्रौत ८ । २२ । १ ॥ ३. आश्व० श्रौत० ८ । ६ ॥

अमदस्य प्रजमितास्यो वा । प्रज्जलितास्यो वा । तैरभिदुतो भवति ।

यधो एतत् । हरिष्पान्तीय सूक्त [ऋ० १० । ८८] सोर्यवैश्वानर भवतीति । अस्यैव तद्भवति ॥ २४ ॥

अर्थ—(हृष्यम्) हृष्य (नियामम्) गति=[दक्षिणायन] मे (हरय) रश्मि (सुपर्णा) सुपर्णा नामक (अप वसान) आप के वसन ओडे (दिवम् उत्पतन्ति) धी को उषती जाती हैं । (तै) वे [रश्मि जाल] (आरवृषन्) लौटते हैं (सद्नात् प्रतस्य) [सूर्यस्थ] आप के स्थान मे (आत् इत्) तदनु (घृतेन) स्नेह युक्त आप मे (पृथिवी) पृथिवी (वि+उपते) विविध प्रकार से गीली होती है ।

हृष्य निरयणम्=राशि आदित्यस्य=सूर्य की काली रात=दक्षिण यन म हरय सुपर्णा=[रसो को] हरण करने वाले आदित्य रश्मि । व [रश्मिसमूह] जब वहा [सूर्य मण्डल] से अर्धाञ्च=नीचे की ओर पर्यावर्तन्त=लौटते हैं सदस्थानात् उदकस्य=आदित्यात्=आदित्य मे, अध=नव घृतेन=[स्नेहमय] उदक म पृथिवी गीली होती है । घृणम्, यह उदक का नाम [है ।] जिर्गति, सिञ्चति अर्थ वाले से । और भी ब्राह्मण [प्रवचन] होता है । अग्नि ही यहा [पृथिवी] से वृष्टि को [धूम रूप मे] सम्+ईरयति=ऊपर की ओर प्रेरता है । (धामच्छत् दिधि) धामों को ढापने वाला धी मे खलु वै भूत्वा=हो कर वर्षति=बरसता है । मरत् उत्पन्न की गई वृष्टि को ले जाते हैं । जब यह आदित्य न्यङ् रश्मिभिः= नीचे हृए रश्मियों के द्वारा पर्यावर्तन्त=लौटता है अध=तब वर्षा होती है ।

१ यधो एतत्=ओ [पूर्व पक्ष मे—] रोडात्=चढ़ने से प्रति=उनट अचरोह =उतरना चिकीर्षित=[कर्म का करना] चाहा गया है [वह सूर्य को वैश्वानर समझने म हेतु नहीं ।] आश्राय के वचन से यह होता है ।

२ यधो एतत्=और जो यह कहा कि—वैश्वानर का [पुरोडाश] बारह कपाल वाला होता है । [यह भी युक्त तर्क नहीं ।] अनिर्यचनम्=नहीं अर्थ द्वारा स्पष्ट पार्थक्य दिखाने वाले कपाल हाते हैं । [क्यो कि—] हेला ही है सूर्य का पुरोडाश एक कपाल का, पञ्चकपाल का और ।

३. यथो एतत्=और जो यह कहा कि—ब्राह्मण [प्रवचन] होता है । [यह भी युक्त तर्क नहीं । क्योंकि—] बहुत भक्तिवादीनि=उपचार से=[गुणों का अति सूक्ष्म] विभाग कर के कहने वाले ही ब्राह्मण [प्रवचन] होते हैं । पृथिवी वैश्वानर है । संवत्सर वैश्वानर है । ब्राह्मण वैश्वानर है ।

४. यथो एतत्—और जो यह कहा कि—निवित् सौर्य वैश्वानरी होती है । [यह भी युक्त तर्क नहीं । क्योंकि—] इस [पार्थिव अग्निः] की ही वह होती है । [यथा—] यह [पार्थिव अग्निः] ही विड्भ्यः=प्रजाओं के लिए मानुषीभ्यः=मानुषी के लिए दीप्यते=चमकता है । [यदि वैश्वानर से सूर्य का ग्रहण होता, तो यह भी होता कि सूर्य दैवी प्रजाओं के लिए चमकता है ।]

५. यथो एतत्—और जो यह कहा कि—छान्दोमिक सूक्त सौर्य वैश्वानर होता है । [यह भी युक्त तर्क नहीं । क्योंकि—] इस [पार्थिव अग्निः] का ही वह [सूक्त] होता है । [क्योंकि उस सूक्त में—] जमदग्निः से आहुतः=होम किया गया । [यह इसी अग्निः में होम है । सूर्य में नहीं ।] जमदग््नयः=प्रजमित=प्रभूत अग्निः वाले अथवा । प्रज्वलित अग्निः वाले अथवा तैः=उन से अभिहुतः=होमा हुआ होता है । [जमदग्निः पद का निर्वचन सूर्य अर्थ के विपरीत पड़ना है ।]

६. यथो एतत्—और जो यह कहा कि—हविष्यन्तीय सूक्त सौर्य वैश्वानर होता है । [यह भी युक्त तर्क नहीं । क्योंकि—] इस [पार्थिव अग्निः] का ही वह होता है । [यथा—अगले मन्त्र में—] ॥ २४ ॥

भाष्य—दक्षिणायन के दिनों में ही रश्मि जल ले कर उड़ते हैं, और उत्तरायण में नहीं, यह बात परीक्षा कर के समझनी चाहिए । हरयः=रस खींचने वाले रश्मि । यह बात भी समझने के योग्य है । इस के विषय में बृहद्देवता में लिखा है—

हरयं तु रसस्यैतत् कर्मासुत्रं च रश्मिभिः ।

येन नातिविजानन्ति सर्वभूतानि चक्षुषा ॥ २ । १६ ॥

अर्थात्—रश्मिकर्म नेत्रों से अधिक ज्ञात नहीं हो सकता। इस के लिए सूर्यमन्त्र बना कर परीक्षा होना चाहिए। सूर्यरश्मि ऊपर क्यों जाते हैं वे कौन से रश्मि हैं। क्या प्रतिदिन के सहार होन वाले रश्मियाँ से वे भिन्न हैं वे मन्त्र ५५ वरिष्ठा पदने वाले को जानने चाहिए। अथवा रश्मि का प्रकार भी जानने योग्य है।

लगभग इसी भाव वाला एक दूसरा मन्त्र तै० सं० ३ । १ । ११ में है—

अस्मिन्वर्णा ह्ययं सुपर्णा मिहो वसाना द्वियमुपनन्ति ।
त आयधुन्नसद्वानि वृन्वा ५५दित् पृथिवी घृतेर्मुद्यत ॥

इस मन्त्र में ह्ययं का स्वरूप कहा है। वे अस्मित वर्ण होने हैं।

वर्षोकम और मरुत् आदि की तासम्बधी जिया साहाय्य ग्रन्थों में विस्तार में वर्णित है।

इस से आगे वास्क ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वैश्वानर अग्नि सूर्यस्थ अग्नि नहीं है। यह पार्थिव अग्नि ही है। पूर्वपत्र के च तर्कों का उत्तर उस ने दे दिया। पर इतन मात्र से कर्णाशित् पाठक को सन्तोष न हो इस लिये इस अध्याय के अन्त तक वास्क ने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि सूर्यभाक वैश्वानर यह अग्नि ही है ॥ २४ ॥

हविष्पान्तं भ्रमरं स्वर्दिदि दिविस्पृश्यादृतं जुष्टं मग्नी ।

तस्य भर्मण भुवनाय देवा धर्मण कं स्वधर्मा उपप्रथन्त ॥

[अ० १० । २ । १ ॥]

हविर्यत्पानीयम् । अन्नरम् । सूर्यविदि । दिविस्पृशि । अग्निद्रुतं जुष्टमग्नी । तस्य भर्मणाय च भावनाय च धारणाय च । एतस्य सधर्म्य कर्मभ्यो देवा इममग्निमभ्येनापप्रथन्त । अथाप्याह ॥ २५ ॥

अर्थ—(हविष्पान्तम्) जो पीने योग्य [गोम] हवि (अन्नरम्) जो जरा रहित (स्वर्दिदि) मूय को जानने वाले (दिविस्पृशि) ही को स्पर्श करन वाले (आद्रुतम्) जो होमो गई (जुष्टम्) [धोर जो] गवित है (अग्नी) अग्नि में । (तस्य) उस [हवि] को (भर्मण) भरण पीपण

के लिए (भुवनाय) भावन=वृद्धि के लिए (देवाः) देवों ने (धर्मणे) धारण के लिए (स्वधया) [अग्ने] स्वधा रूपा अन्न के द्वारा (अप प्रथन्त) फैलाया ।

हवि जो पीने योग्य [और] जरा रहित [है] सूर्य को जानने वाले, दिविस्पृशि=द्यौ को स्पर्श करने वाले अभिहुतम्=और जो होमी गई जुष्टम्=पेवित किए गए अग्नी=अग्नि में । उस [हवि] के भरण-पोषण [और] भावन=वृद्धि और धारण के लिए, इन सारे कर्मों के लिए देवों ने इस [पृथिवी स्थानी] अग्नि को अन्न के द्वारा अपप्रथन्त=फैलाया ॥ २५ ॥

भाष्य—पार्थिव अग्नि स्वर्त्रिदु=सूर्य को जानता है, अर्थात् वहां सूर्य तक पहुंचता है, और दिविस्पृशु=द्यौ को भी स्पर्श करता है । यह अग्निः किस प्रकार वहां तक पहुंचता है, यह जानना चाहिए । वह जरा रहित है, अर्थात् सदा एक समान बना रहता है । इस का गम्भीर अभिप्राय भी ज्ञातव्य है । देवों का अन्न स्वधा है । स्वधा=अन्न के द्वारा भरण, वृद्धि और धारण के लिए देवों ने उस अग्निः को फैलाया, यह भी सूक्ष्म रहस्य है । अग्निः फैलने से क्या परमाणु फैलते हैं, अथवा विरले होते हैं, इन सब क्रियाओं को जानना चाहिए ॥ २५ ॥

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्युर्ऋग्मियम् ।

आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥

[ऋ० ६। ८। ४ ॥]

अपामुपस्थे उपस्थाने । महत्यन्तरिक्षलोके आसीनाः । महान्त इति वा । अगृह्णत माध्यमिका देवगणाः । विश इव राजानं उपतस्थुः । ऋग्मियमृग्मन्तमिति वा । अर्चनीयमिति वा । [पूजनीयमिति वा ।] आहरद्यं दूतो देवानां विवस्वत आदित्यात् । विवस्वान्निवासनवान् । प्रेरितवतः । परागताद्वा । [अपि वा] अस्याग्नेः वैश्वानरस्य मातरि-श्वानमाहर्तारमाह । मातरिश्वा वायुः । मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति । मातरि आशु अनिति इति वा ।

अथैनम् एताभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापादं स्तोति ॥ २६ ॥

अर्थ—(अपाम् उपस्थे) आपः के स्थान [अन्तरिक्ष] में (महिषाः) महान् [माध्यमिक देवगणों] ने (अगृभ्णत)=अगृह्णत=ग्रहण किया

[इस अग्नि को विद्युत् रूप में], (त्रिष्टः राजतम्) प्रजाएँ जैसे [अपने] राजा को (उप तस्थु) = नाम खड़ी हुई [हो बैठे] (ऋग्मियम्) ऋचाओं वाले अथवा पूजनीय [राजा अग्नि को] । (दू) [वायु] दून (आ भरत्) ले आया (अग्निम्) अग्नि को (मातरिश्वा) [वह वायु जो] मातरिश्वा = अन्तरिक्ष में होने वाला है, (परावत) बहुत दूर में ।

अराम् उरह्ये = आप के उपस्थान में । महार् अन्तरिक्ष लोह में आसीना = ठहरे हुए । महान्न = स्वयं जो महार् हैं अथवा । अगृह्णत = पहण किया [गये] माध्वमिह देवगणा न । त्रिष्ट इव = प्रजाओं के समान राजा को उपतस्थु' समीप हो कर ठहरे । ऋग्मियम् = ऋचाओं वाले को अथवा । अर्चा = स्तुति क योग्य को अथवा । [पूजनीय को अथवा ।] आहरत् = लाया जिस को दून देवों का आदित्य में । मिरस्वान् = विश्वासनवान् = निश्चिन्ने वाला [आप और रश्मियों को ।] प्रेरितवत = प्रेरणा करने वाले से । दूर गए हुए से अथवा । [अथवा] इम अग्नि वैश्वानर के मातरिश्वा को आहर्तारम् = पाने वाले को आह = रहा [ऋक् में ।] मातरिश्वा = वायु [है ।] मातरि = पाता हूँ में अन्तरिक्ष में स्वसिति = धास लेता है । अन्तरिक्ष में आशु अनिति = तीव्र प्राण लेता है अथवा ।

अथ एतम् = अब इम [वैश्वानर] अग्नि को एताभ्याम् = [अग्नी] को ऋचाओं में सारे स्थानों में अभ्यारादम् = पत्र ओर से व्याप्त को स्तुति करता है ॥ २६ ॥

भाष्य— आप का स्थान अन्तरिक्ष है । महिषा का अर्थ बैला भी होता । क्या वे आप परमाणु ही अन्तरिक्ष में बैला आदि पशु रूपों में वर्तमान होते हैं । अग्नि ऋचाओं वाला है । किम प्रकार से यह जानना चाहिए । मातरिश्वा वायु अग्नि वैश्वानर को विवस्वान् से कैसे जाता है । परावत का अर्थ एक अर्थ प्रेरितवत किया है । आदित्य की यह प्रेरण शक्ति कैसे उत्पन्न हो ही है, यह रहस्य खोजने योग्य है ।

सूक्त २२ और २६ में इन दो ऋचाओं को उद्घन कर के यास्क ने अपने साधारण वेद ज्ञान का परिचय दिया है । येमे उदात्ति यास्क पर सुद बुद्धि जवाहे और सिद्धेश्वर बर्मो ने अपने अज्ञान के कारण बुरा दोष लगाया है ॥ २६ ॥

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् ।

मायाम् तु यज्ञियानामेतामपो तत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥

[ऋ० १० । ८८ । ६ ॥]

मूर्धा मूर्तमस्मिन्धीयते । मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां भवति नक्तमग्निः । ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्त्स एव । प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम् । अपो यत्कर्म चरति प्रजानन् । सर्वाणि स्थानान्यनुसञ्चरति त्वरमाणः ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनय ॥ २७ ॥

अर्थ—(मूर्धा) प्रधान अङ्ग (भुवः) भूमि अथवा सब प्राणियों का (भवति) होता है, (नक्तम्) रात को (अग्निः) अग्निः (ततः) इसी से (सूर्यः) सूर्य (जायते) हो जाता है, प्रातः काल उदय होता हुआ । (मायाम्) माया=प्रज्ञा को (यज्ञियानाम्) यज्ञ योग्य अथवा [सृष्टि यज्ञ को] सम्पादन करने वाले [देवों की] (एताम्) इस [माया को ज्ञानवान् पुरुष मानते हैं] (अपः तत्) उस कर्म को (तूर्णिः) अति शीघ्र (चरति) करता है (प्रजानन्) [अग्निः] जानता हुआ ।

मूर्धा=मूर्तम्=शरीर इस पर रखा जाता है । मूर्धा=मुख्य स्थान जो सारे भूतों का होता है रात्रि को अग्निः । तदनु सूर्य होता है, प्रातः उदय होता हुआ, वह ही । प्रज्ञा इस को मानते हैं यज्ञिय देवों की, [सृष्टि यज्ञ] सम्पादन करने वालों की । अपः जो कर्म करता है, पूर्ण जानते हुए । सारे स्थानों में अनुसञ्चार करता त्वरमाणः=अति शीघ्रता करता हुआ ।

उस को [बताने में] अगली ऋचा अधिक निर्वचन के लिए [है]

॥ २७ ॥

भाष्य—भूमि की मूर्धा यह अग्निः रात को उद्यो होता है । एक कारण है, रात्रि समय इसी के योग से भूमि पर प्रकाश कियी जाता है । इस के अतिरिक्त और कारण भी होंगे, वे हमें खोजने चाहिये । यह सारी माया देवों की है । यह अग्निः अति शीघ्र सर्वत्र सञ्चार कर जाता है, यह भी ध्यान रखने योग्य है

स्तोत्रेन हि दिवि देवामो अग्निमनीजनश्चक्तिभी रोदसिप्राम् ।
तम् अकृण्वन्त्रेधा भुवे कं स ओषधी पचति विभ्वरूपाः ॥

[ऋ० १० । २० । १० ॥]

स्तोत्रेन हि य दिवि दधा अग्निमजनयन् । [शक्तिभिः] कर्मभिः ।
द्यावापृथिव्यो [आ] पूरणम् । तमकुर्वन्त्रेधाभावात् । पृथिव्याम्
अन्तरिक्षे दिव्यीति शाकपूणि ।

यदस्य दिरि तृतीयं तदमावादित्यः । इति [हि] ब्राह्मणम् ।
तदग्नीवृत्य स्तौति ।

अर्धतमनयादित्यीवृत्य स्तौति ॥ २० ॥

अर्थ—(स्तोत्रेन) स्तोम य ही (दिवि) द्यौ मे (देवास) देवो ने
(अग्निम्) अग्नि को (अनीजनत्) उत्पन्न किया (शक्तिभिः) [अपने]
कर्मों से (रोदसिप्राम्) द्यावापृथिवी को पूरा करने वाले को । (तम् उ)
उम ही को (अकृण्वन्) कर दिया (त्रेधा) तीन प्रकार का (भुवे कम्)
होने के लिए (स) वह [अग्नि] (ओषधी) ओषधियों को (पचति)
पकाना है (विभ्वरूपा) सारे रूपा वालियों को ।

स्तोत्रे स=उन्द विरोधा से ही [यम्]=जिस द्यौ मे देवो ने अग्नि को
अजनयन्=उत्पन्न किया शक्तिभिः=कर्मभिः=[अपने] कर्मों से द्यावा
पृथिवी के सब ओर से पूर्ण करने वाले को । तम्=उस [अग्नि] को अकुर्वन्
=किया त्रेधाभावात्=तीन प्रकार का होने के लिए । पृथिवी मे अन्तरिक्ष
मे द्यौ मे, यह शाकपूणि [त्रेधा का भाव कहता है ।] जो इम [अग्नि] का
द्यौ मे तृतीय [प्रकार है] जो वह आदित्य [है ।] यह ब्राह्मण [प्रवचन
है ।] तस्=उसे अग्निहृत्य=[वैश्वानर] अग्नि बना कर स्तुति करता है ।
अब इम [अग्नि] को एतथा=इस [अग्नी श्क्] से आदित्य बना कर
स्तुति करता है ॥ २० ॥

भाष्य—एक ही अग्नि क तीन प्रकार केने हुए । उत्तर है देवों के कर्म
से । देवों ने पहले अग्नि को द्यौ में उत्पन्न किया । समस्त रहे कि उस समय
पृथिवी और द्यौ साथ साथ थे । तब वह अग्नि द्यावापृथिवी में भर गया । तब

उसे तीन प्रकार का कर दिया । पृथिवी और द्यौ पृथक्-पृथक् हो रहे थे । उसी समय उस मूल अग्निः के पावक और शुचि रूप भी बन रहे थे । विद्युत् के प्रभाव से पावक रूप पृथक् हो रहा था । मन्त्र की विद्या अद्वितीया है । त्रेधा के अर्थ में यास्क ने शाकपृष्णि का अर्थ प्रमाण मान का उद्धृत किया है । उस अर्थ को उस ने अपने पक्ष के लिए समर्थन माना है । इस अर्थ में ब्राह्मण का प्रमाण है । यद् अस्य का अभिप्राय है, जो इस अग्नि का द्यौ में रूप है । ब्राह्मण के अस्य पद से इस अग्निः का ही तात्पर्य है ॥ २८ ॥

यदै नमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम् ।

यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा ॥

[ऋ० १०। ८८। ११ ॥]

यदै नमदधुर्यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यम् । [आदितेयम् ।] अदितेः पुत्रम् । यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूताम् । सर्वदा सहचारिणौ । उपाश्चादित्यश्च । मिथुनौ कस्मात् । मिनोतिः श्रयतिकर्मा । थु इति नामकरणः । थकारो वा । नयतिः परः । वनिः वा । समाश्रितावन्योन्यं नयतः । वनुतो वा । मनुष्यमिथुनाः श्रयेतस्मादेव । मेथन्तावन्योन्यं वनुत इति वा ।

अथैनमैतयाग्नीकृत्य स्तोति ॥ २६ ॥

अर्थ—(यदा) जब (इत्) ही (एतम्) इस [सूर्य] को (अदधुः) स्थापित किया (यज्ञियासः) यज्ञिय=यज्ञ सम्पादन करने वालों ने (दिवि) द्यौ में (देवाः) देवों ने (सूर्यम्-) सूर्य को (आदितेयम्) अदिति के पुत्र को । (यदा) जब (चरिष्णू) सदा साथ घूमने वाला (मिथुनौ) युगल=जोड़ा (अभूताम्) हुआ (आत् इत्) तब ही (प्र+अपश्यन्) पूर्ण रूपेण देखा (भुवनानि) भूतों ने (विश्वा) सारों ने ।

जब इस को स्थापित किया यज्ञिय सारे देवों ने द्यौ में सूर्य को, अदिति के पुत्र को । जब सहचर युगल प्रादुरभूत हुआ । सदा साथ घूमने वाले-उपा और आदित्य और । मिथुन किस [कारण] से । मिनोति=आश्रय करता है, अर्थ वाला [है ।] थु, यह प्रत्यय है । थ-कार अथवा । नयतिः परे [है ।] वनिः अथवा [परे है ।] समाश्रितौ=एक दूसरे से आश्रित=सटे हुए नयतः=लिए चलते हैं । वनुतः=सेवते हैं [एक दूसरे को] अथवा ।

मनुष्यों का युगल भी इस [कारण] से ही । मेधन्तो एक दूसरे में मिलने हुए धनुत,=पेवने हैं अथवा । अब एनम्=इम को [शक्] के द्वारा अभि कर के स्तुति करता है ॥ २६ ॥

भाष्य—अब सूर्य को स्थापित किया ही में । पश करते हुये देवों ने । इम विषय में देवों पूर्व १ । २८ में जवारु पद । इस तथ्य का सूत्रम रहस्य समझने के लिए अगले दो वचन प्यान में रखने चाहिए—

१. असावादित्यो ऽस्मिन् लोक आसीत् । तै० सं० ७ । ३ । १० ॥

२. इह वा असा आदित्य आसीत् । तमितो ऽध्यमुं लोकमहवन् ।
मै० सं० १ । ११ । १७ ॥

सत्यवात् देवों द्वारा सूर्य ऊपर चढ़ाया गया । इस विषय में निम्नलिखित प्रमाण देने चाहिए—

१. सो [आदित्यो] ऽग्निमस्तीत् स एन स्तुत. सुउर्गे लोकम् अगमयत् । तै० सं० १ । २ । २ ॥

२. एकविंश एवः । एतेन वै देवा एकविंशेन आदित्यम् इत' स्वर्गं लोकम् आरोहयन्" । ऋ० सं० ३२ । ९ ॥

३. इन्द्रो दीर्घाय अक्षस आ सूर्य' रोहयद् दिवि । ऋ० १ । ७ । ३ ॥

४. सूर्य' दिव्या रोहयो दशे । ऋ० १ । २१ । ४ ॥

५. यत्सूर्य' दिव्यारोहयन्ति । ऋ० ४ । १४ । २ ॥

६. सूर्यो अरुहत् शुक्रमर्णं । ऋ० ७ । ९० । ४ ॥

७. आ सूर्य रोहयो दिवि । ऋ० ८ । ८६ । ७ ॥

८. भूमिर्यत' सूर्यमारोहयो दिवि । ऋ० ६ । ८६ । २२ ॥

९. य अहतेन सूर्यमारोहयन् । ऋ० १० । ९२ । ३ ॥

१०. सूर्य दिवि रोहयन्त' । ऋ० १० । ९६ । ११ ॥

सूक्त्या ३-१० में दिग् गप् निगमों और सूक्त्या १ तथा २ में दिग् गप् अवचनों में एक महान् ज्ञान की अपूर्व छटा है । सप्तर में कौन सा विज्ञान का ग्रन्थ है, जहा इतना ज्ञान भरा पड़ा है । सूर्य के ऊपर चढ़ने की सारी भाषा एक शृणक् सुस्तक में लिखी जा सकती है । तुलना करो निरुक्त ६ । १७ में जवारु पद का व्याख्यान ।

पूर्व प्रमाणों में उल्लिखित घटनाओं के उत्तर काल की अवस्था का निदर्शन निरुक्त के इस खण्ड २६ में उद्धृत वेदमन्त्र में विद्यमान है । अर्थात्—

एनम् सूर्यम् आदितेयम् यज्ञियासो देवा दिवि अद्धुः ।

इस आदितेय सूर्य को यज्ञिय देवों ने द्यौं में स्थापित कर दिया । वे यज्ञिय देव कौन थे, इस पर भी लिखा जा सकता है, पर विस्तरभय से इतने पर ही श्लमम् । सृष्टि बनते समय देव यज्ञ में व्यापृत थे ।

उपा और आदित्य मिथुन हैं । वे साथ ही घूमते हैं । इस वैदिक ज्ञान के सामने संसार नतगिर होगा । पक्षपाती और अज्ञानी ईसाई-यहूदी लेखकों ने वेद ज्ञान को कलुषित करने का जो आन्दोलन किया है, उस पर वज्रप्रहारों का अभी प्रारम्भ ही है ॥ २६ ॥

यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद ।

आ शंकुरित्सधमाद् सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत् ॥

[ऋ० १० । २२ । १७ ॥]

यत्र विवदेते देव्यौ होतारौ । अयं चाग्निरसौ च मध्यमः । कतरो नौ यज्ञे भूयो वेदेति । आशक्नुवन्ति तत्सहमदनं समानख्याना ऋत्विजः । तेषां यज्ञं समश्नुवानानां को न इदं विवदयति इति ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्धचनाय ॥ ३० ॥

अर्थ—(यत्र) जहां (वदेते) विवाद करते हैं, (अवरः) नीचे का [होता अग्निः] (परः च) और परला [वायु] (यज्ञन्योः) कि यज्ञ के नेताओं में से (कतरः) कौन (नौ) हम दोनों में से (विवेद) विशेष जानने वाला है । (आ शंकुः) समर्थ हो सकते हैं (इत्) [वे] ही (सधमाद्म्) साथ आनन्द लेने लेने (सखायः) सखा (नक्षन्त) [और जो] प्राप्त करते हैं (यज्ञम्) यज्ञ को, (क इदं विवोचत्) उन में से कौन इसे विशेष रूप से कहेगा ।

जहां विवाद करते हैं, दोनों दिव्य होता । यह और अग्निः, वह और मध्यम स्थानी वायु । कौन हम दोनों में से यज्ञ के विषय में अधिक जानता है । समर्थ हो सकते हैं, वहां साथ आनन्द को [लेने वाले]

समान स्थानि वाले अस्विन् लोग । उन यज्ञ के प्राप्त करने वालों में से कौन हमें यह कहेगा । इस [प्रमङ्ग] को अगली [अक्] अधिक निर्वचन क लिए [कहती है ।] ॥ ३० ॥

भाष्य—वेद की परम कल्पमयी शैली का यह एक उत्कृष्ट निदर्शन है । सृष्टि में एक महान् यज्ञ हो रहा है । उस में ऊपर और नीचे के दो होता सब के उपकार में रत है । वे परस्पर विवाद करते हैं । हम दोनों में से कौन अधिक जानने वाला है । उन के साथ अन्तरिक्ष अस्विक्र भी हैं । वे साथ मिले आनन्द करते हैं, और सोचते हैं कि कौन इस यज्ञ को कह सकेगा । वस्तुतः सृष्टि यज्ञ की प्रत्येक क्रिया आश्चर्योंत्पादक है ॥ ३० ॥

यावन्मात्रमुपसो न प्रतीकं सुपर्णो३ वसते मातरिभ्यः ।

तावदधात्युप यज्ञमायन्प्राह्णो होतुस्वरो निपीदन् ॥

[अ० १० । ८८ । १६ ॥]

यावन्मात्रमुपस प्रत्यक्त भवति । प्रतिदर्शनमिति वा । अस्त्युप मानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोग । इहेय निधेहीति यथा । सुपर्ण सुपतना । एता रात्रय । वसते मातरिभ्यश्च्योतिर्वर्णस्य । तावत् उपदधाति यज्ञमागच्छन्प्राह्णो होतास्वाग्नेहोतुरथरो निपीदन् ।

होतुर्नपस्वनग्निर्वैश्वानरीयो भवति ।

देव सवितरेतं स्वा वृणतेऽग्नि होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण ।
[ऐ० ब्रा० २ । ५ । ५ ॥ आ० १० । १ । ३ । २३ ॥] इति । एतमेव अग्नि सवितारमाह । सर्वस्य प्रसवितारम् । मध्यम शोक्तम वा पितरम् ।

पस्तु सूक्त भजत यस्मै हविर्निरुष्यतेऽयमेव स अग्निर्वैश्वानर ।
निपातमेवैत उत्तरे ऽयोतिषी एतन नामधेयेन भजेते । भजेते ॥ ३१ ॥

इति सप्तमोऽध्याय ।

अर्थ—(यावत् मात्रम्) जितना मात्र=परिमाण (उपस) उपा क (प्रतीकम्) मुख की (न) इव=नम्प्रति=अव (सुपर्ण) गोधन पतन शीला [ये राजिया] (वसत) दापनी हैं (मातरिभ्य) हे वायो ।

(तावत्) उतना ही (दधाति) धारण करता है, (यज्ञम्) यज्ञ को (आयन्) आकर (ब्राह्मणः) [वह] ब्राह्मण (होतुः अघ्नः) [जो] होता [अग्निः] का (अघ्नः) छोटा [है] (निषीदन्) बैठता हुआ ।

जितना मात्र उपा का प्रतीकम्=प्रत्यक्तम्=मुख होता है, प्रतिदर्शन अथवा । है उपमान का सम्प्रति='अत्र' अर्थ में प्रयोग । [अतः न=अव ।] इह इव निधेहि=यहां अव रख दे, यथा । सुवर्ग्यः सुवतनाः=गोभन पतन-गीला । ये रात्रियां । वसते=ठांपती हैं, हे मातरिश्वन्, ज्योतिः वर्णस्य=ज्योति को रंग की । उतना ही उप दधाति=धारण करता है यज्ञ को आता हुआ ब्राह्मण होता. इस अग्निः [रूप] होता से छोटा, बैठता हुआ । [परन्तु] होता का जाप तो अनग्निः=अग्निः से पृथक् वैश्वानर का होता है । [यथा-] हे देव (सधितः) सवितः इस तुम्हे (वृणते) वरते हैं अग्नि को (होत्राय) होता के कर्म के लिए, साथ पिता वैश्वानर के । इस ही [पार्थिव] अग्निः को सविता को कहा है । सब के प्रेरक अथवा उत्पादक को । मध्यम [वायु] को उत्तमम्=उत्तम [सूर्य] को अथवा पिता को ।

जो तो सूक्त का भागी है, और जिस के लिए हवि दी जाती है, यह ही वह [पार्थिव] अग्निः [है] वैश्वानर । निपातम्=गौण भाव को ही ये दोनों ऊपर के ज्योति [पावक और सूर्य] इस नामधेय से सेवन करते हैं, सेवन करते हैं ॥ ३१ ॥

भाष्य—यास्क ने शाकपृणि का पक्ष स्वीकार किया है । खण्ड २३ के मध्य में यास्क ने शाकपृणि का पक्ष उपस्थापित किया । अयमेवाग्निर्वैश्वानरः इति शाकपृणिः । पर पक्ष के खण्डन में उस ने सब तर्क उपस्थित कर यह दिखाया है कि यह अग्निः ही वैश्वानर है । परन्तु ऊपर के दोनों ज्योति अर्थात् पावक और सूर्य भी गौण भाव से वैश्वानर कहे जाते हैं ॥ ३१ ॥

इति सप्तमोऽध्यायः ।

अथाष्टमोऽध्यायः

द्रविणोदा वस्मान् । घन द्रविणमुच्यते । यदेनमभिद्रवन्ति । एत
या द्रविणम् । यदेतेनाभिद्रवन्ति । तस्य दाता द्रविणोदा ।

तस्यैवा भवति ॥ १ ॥

अर्थ—द्रविणोदम् किम् [कारण] म । घन को द्रविणम् [घट]
बहा जाता है । यत्-जिम् कारण एतत्-इन की ओर दौड़ने हैं । इन
अथवा द्रविणम् [है] यत्=जिम् कारण एतेन=इन [के ऐश्वर्य] म
अभिद्रवन्ति=दौड़ने है । उम का दाता द्रविणोदा । उम को यह अर्थ
होती है ॥ १ ॥

भाष्य—शतपथ ब्रा० ६ । ३ । ३ । ३३ में यत् ३३ । २३ पर दशोक्त
गया आगजा निवचन भी पद्यान देने योग्य है—द्रविणोदा इति । द्रविणो
दोभ्यो ददाति ।

द्रविणोदा द्रविणमो आर्द्रहस्तामो अध्वरे । यज्ञेषु देवमीळते ॥

[श्रु० १ । १५ । ७ ।]

द्रविणोदा यम्बम् । द्रविणम् इति द्रविणस्तादिन इति वा ।
द्रविणस्तानिन इति वा । द्रविणसम्भस्मान्तिपश्रितिति वा । यज्ञेषु देवमीळते ।
याचन्ति । स्तुवन्ति । वर्धयन्ति । पूजयन्तीति वा ।

त को द्रविणोदा । इन्द्र इति क्रीष्टुकि । स बलधनयो दातृणम् ।
तस्य च सर्वा पलहति ।

भोर्जमो जातमुत मन्य एनम् ॥ [श्रु० १० । ७३ । १० ॥]

इति षाड् । अथाष्टमि द्रविणोदममाह । एष पुनरतस्मान् जायते ।

अर्थ—(द्रविणोदा) घन दाता [को] (द्रविणम्) घन को
इच्छा करने वाच (आयहस्मान्) [मोम कूटने क] याव हाया म जिह
[श्रुतिव] (अध्वर) [ज्यानिष्ठम आदि] हिमा र्हित म (यज्ञेषु)
यना में (देवम) देव को (इळते) स्तुति करने है ।

धनदाता जो त्वम्=तू [उस की] द्रविणसः=धन पाने की इच्छा वाले, [धनार्थ यज्ञ में] बैठने वाले अथवा, द्रविण-सानिनः=वन [हवि] को देने वाले अथवा । द्रविणसः=[पञ्चमी विभक्ति का रूप] तस्मात्= उस से लिए अथवा । यज्ञों में देव को, याचना करते हैं, स्तुति करते हैं, बढ़ाते हैं, पूजते हैं अथवा ।

तो कौन [है] द्रविणोदाः । इन्द्र [है] यह क्रीष्णुकि [कहता है] यह बल और धन का दातृतमः=सब से अधिक देने वाला [है ।] उस [इन्द्र] की सारी बल की कृति [है ।]

(ओजसः) ओज से (जातम्) उत्पन्न हुए को (उत्) (मन्ये) मानता हूँ (एनम्) इस को । इति च=और ऐसा आह=कहा [मन्त्र ने ।]

और भी अग्निः को द्राविणोदसः=द्रविणोदा से उत्पन्न कहा ।

यह [अग्निः] पुनः एतस्मात्=इस [इन्द्र] से उत्पन्न होता है ।

भाष्य—द्रविणोदाः पद का देवम् पद के साथ सम्यन्ध नहीं हो सकता । अतः यास्क ने अर्थ में यस्त्रम् अथवा तम् [जो कतिपय हस्तलेखों में ही है] का अध्याहार कर के अर्थ किया है । इसी प्रकार अध्वर और यज्ञेषु पदों में हुआ । स्कन्द स्वामी ने ऋग्वेद भाष्य में इन दोनों पदों के विषय में अगला स्पष्टीकरण दिया है । अध्वरशब्दः समस्तज्योतिष्टोमादिवचनः । यज्ञश्च तदवयवभूताभ्यासविशेषवचनः ।

यो अश्मनोर्न्तरग्निं जजान् । [ऋ० २।१२।३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । अथाप्यृतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति । तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवति ।

अथाप्येनं सोमपानेन स्तोति । अथाप्याह—

द्रविणोदाः पिंवतु द्राविणोदसः । [ऋ० २।३७।४ ॥]

इति ।

अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपृणिः । आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति ।

अर्थ—(य) जिम ने (अश्मनो अन्त) दो पथरों—[मेघा] क बीच में (अग्निम्) अग्नि को (जज्ञान) उत्पन्न किया।

यह भी निगम होता है। और भी ऋतुयाजेषु—ऋतुयाजो म द्वावि णोदसा=द्विविणोदा क प्रयादा=कथन होते हैं। तथा=उन [ऋतुयाजों] के पुन पात्रस्य=पात्र की इन्द्रपानम्=इन्द्रपान, यह [संज्ञा] होती है।

और भी, एतम्=इम [द्विविणोदा] का सोमपान से स्तौति-स्तुति करता है।

और भी कहा है—द्विविणोता पि ए (द्वाविणोदस) द्विविणोता का पुत्र अग्नि।

[यहां पर ऋषिक क पत्र क पात्र तर्क समाप्त हुए।]

यह ही अग्नि द्विविणोता है यह शाकपूणि [कहता है।] आग्नेयों म ही सूक्तों में द्वाविणोदसा=द्विविणोद सम्बन्धी कथन होते हैं।

भाष्य—प्रतीत होता है यारक पर शाकपूणि का प्रभाव अधिक है। पहले भी निरुक्त ०।२२ २३ में आचार्यों और पूर्वपाक्षिकों का वैशानर विषयक पत्र लिख कर यारक ने शाकपूणि का पत्र ही माना है। उसी प्रकार यहाँ ऋषिक का पत्र दे कर अब पुन शाकपूणि का पत्र मान्य रूप से दिया है। पर वे विषय अति गम्भीर हैं। जब वेद के आधिभौतिक पत्र का निर्देश ज्ञान हो जायगा तब वे विचार पूर्ण स्पष्ट होंगे।

देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् । [ऋ० १।१६।१॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

यद्यो एतत् । स बलधनयोर्दातुतम । इति । सर्वास्तु देवतास्वैक्षर्यं विद्यत ।

यद्यो एतत् ।

आर्जमो जातमुत मन्य एनम् । [ऋ० १०।७३।१०॥]

इति चाहेति ।

अयमप्यग्निरोजसा यत्नेन मध्यमानो जायते । तस्मादेनमाह—

सहसस्पुत्रम् । [ऋ० २।७।६॥]

सहसः सूनुम् । [ऋ० २।७५।३॥]

सहसो यहुम् । [ऋ० १।७६।४॥]

अर्थ—(देवाः) देवों ने (अग्निम्) अग्नि को (धारयन्) स्थापित किया (द्रविणोदाम्) [हवि नामक] धन के देने वाले को ।

यह भी निगम होता है । [अव कौटुकि-पक्ष का खण्डन]

१. यथो एतत्—जो यह [कहा]—वह बल और धन का सब से अधिक देने वाला [है,] इति । सारी देवताओं में ऐश्वर्य विद्यमान है ।

यथो एतत्—जो यह [कहा]—ओज से उत्पन्न हुए को और (मन्थे) मानता हूँ (एनम्) इस को । यह और कहा, इति ।

यह भी अग्निः ओज [और] बल से मथ्यमानः=मथन किया गया जायते=उत्पन्न होता है । इस लिए इस को कहा—(सहसः पुत्रम्) बल के पुत्र को, (सहसः सूनुम्) बल के सूनु को, (सहसः यहुम्) बल के सन्तान को ।

भाष्य—यथो एतत् लिख कर आगे जो वचन दिया है, उस से अन्त में इति पद है । इस से निश्चित है कि इति पद से पूर्व का वाक्य कौटुकि के निरुक्त में था । इस से पूर्व भी इति चाह । अध्याप्याह आदि पदों द्वारा कौटुकि का लेख ही प्रायः उद्धृत है । यास्क से पूर्व शाकपृणि और उस से भी पूर्व कौटुकि था । निरुक्त १३ । ११ के अनुसार यास्क से पहले शाकपृणि के पुत्र का पाण्डित्य भी प्रख्यात हो चुका था । उस का प्रमाण देते हुए—इति पुत्रः शाकपृणोः, यह लेख यास्क का है । इस प्रकार १. यास्क, २. उस से पूर्व—शाकपृणि पुत्र, ३. उस से भी पूर्ववर्ति—शाकपृणि और ४. शाकपृणि से पूर्व—कौटुकि हो चुका था । वायु पुराण में मेरु के वर्णन में उस की कर्षिका के विषय में ऋषियों के जो मत दिए हैं, वहां कहा है, कौटुकिः परिमण्डलम् ॥ ३५ । ६३ ॥ नैरुक्तों की परम्परा अति प्राचीन काल से है ।

यथो एतत् । अग्निं द्राविणोदसमाहेति । ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस उच्यन्ते । द्रविषो दातारः । ते चैनं जनयन्ति ।

ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः । [अथर्व ४।३६।६॥ मँ० सं०
१।२।७॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

यथो एतत् । तेषां पुन पात्रभ्येन्द्रपानमिति भवतीति । भक्तिमात्र तद्भवति । यथा यायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम् ।

यथो एतन् । सोमपानेनैतं स्तोति इति । अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते ।

सोमं पिव मन्दसानो गणुधिभिः । [ऋ० ५।१०।८॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

यथो एतत् ।

द्रविणोदाः विंशतु द्राविणोदसः ॥ [ऋ० २।३७।४॥] इति ।
अस्यैव तद्भवति ॥ २ ॥

अर्थ—२ यथो एतत्—जो यह [कहा]—अग्नि को द्राविणोदस कहा, इति । ऋत्विज यह द्राविणोदस कह जाने हैं । द्रविष=हवि-रूप [घन] के देने वाले । और वे इस [अग्नि] को उत्पन्न करने हैं । (ऋषीणाम्) ऋषियों का पुत्र [यज्ञो वा] (अधिराज) अधिराज (एष) यह [अग्नि] । यह भी निगम होता है ।

३ यथो एतत्—जो यह [कहा]—उन के पुत्र पान को, इन्द्रपान यह [मंत्रा] होती है, इति । भक्तिमात्र=उपचारमात्र वह होता है । यथा—यायव्यानि=वायु के य, [यह] गारे सोमपात्रों का [नाम है ।]

४. यथो एतन्—जो यह [कहा]—सोमपान से इस [द्रविणोदा] को स्तुति करना है, इति । इस [अग्नि] में भी यह उपात्र=मुक्त होता है । [यथा—] (सोम पिव) सोम को पी, (मन्दसान) प्रमत्त होना हुआ (गणुधिभिः) गणों में रहने हुए [मन्त्रों के] साथ । यह भी निगम होता है ।

५. यथो एतत्—जो यह [कहा]—द्रविणोदा पिए द्रविणोदा का पुत्र अग्निः, इति । इस [अग्निः] का ही वह [वर्णन] होता है ॥ २ ॥

भाष्य—वास्क ने शाकपुणि का पत्र उचित समझा है । शाकपुणि ने क्रौष्टुके के पांचों तर्क काटे हैं । सोमपान मध्यम स्थान से सम्बन्ध रखता है । अतः सोमपात्र वायव्य कहे जाते हैं । पार्थिव सोमपान उस की प्रतिकृति है ॥ २ ॥

मेघन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिपयन् वीळ्यस्वा वनस्पते ।

आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिव ऋतुभिः ॥

[ऋ० २ । ३७ । ३ ॥]

मेघन्तु ते वह्नयः । वोढागः । यैर्यास्यरिप्यन् । दृढीभव । आयूय धृष्णो । अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयाद्विषयात् । धिष्णो धिष्यो धिषणा-भवः । धिषणा [वाक् ।] धिषेर्दधात्यर्थे । धीसादिनीति वा । धीसानि-नीति वा । वनस्पते इति एनमाह । एष हि वनानां पाता वा पालयिता वा । वनं वनोतेः । पिवतुभिः कालैः ॥ ३ ॥

अर्थ—(मेघन्तु) मेदयुक्त=मोटे वने (ते) तेरे (वह्नयः) वाहक=ले जाने वाले (येभिः) जिन के द्वारा (ईयसे) [तू] प्राप्त होता है, (अरिपयन्) न हिंसा करता हुआ, (वीळ्यस्व) दृढ़ होवो (वनस्पते) हे वनस्पते । (आयूय) मिला कर (धृष्णो) है धर्मक=दवाने वाले (अभिगूर्य) तय्यार हो कर (त्वम्) तू (नेष्ट्रात्) नेष्ट्रा के [याग] से (सोमम्) सोम को (द्रविणोदः) हे द्रविणोदा (पिव) पी (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ ।

मेघन्तु ते=मोटे अथवा वृष हों तेरे वाहक । जिन के द्वारा जाते हो, न हिंसा करते हुए । दृढ़ होवो, मिला कर हे धर्मक । तय्यार हो कर तुम नेष्ट्रीयात्=नेष्ट्रा नामक ऋत्विक् के (धिष्यत्) धिष्णा नामक अग्निः के स्थान से । धिष्यः=धिषयः=धिषणा से होने वाला । धिषणा=वाक् [है ।] धिषि से धारण करता है, इस अर्थ वाली से । धीसादिनी=बुद्धि में बैठने वाली अथवा । बुद्धि का सेवन करने वाली अथवा । हे वनस्पते । यह इस [द्रविणोदा को] कहा । यह ही वनों का पाता है अथवा, पालयिता है [अथवा । वनम्, वनोति से । पियो ऋतु=कालों के साथ ॥ ३ ॥

यथो एतत् । अग्निं द्राविणोदसमाहेति । ऋत्विजोऽथ द्रविणोदस
उत्पन्ते । इयिषो दातार । त चैनं जनयन्ति ।

ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः । [अथर्व ४ । ३६ । ६ ॥ मै० स०
१ । २ । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

यथो एतत् । तथा पुन वात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति । भक्तिमात्र
तद्भवति । यथा वायव्यानीति सर्वेषा सोमपात्राणाम् ।

यथो एतत् । सोमपाननेन स्तोति इति । अस्मिन्नप्यतदुपपद्यत ।

सोमं पिय मन्दसानो गङ्गुधिभिः । [ऋ० ५ । ६० । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

यथो एतत् ।

द्रविणोदाः विंशतु द्राविणोदसः ॥ [ऋ० २ । ३७ । ४ ॥] इति ।

अस्यैव तद्भवति ॥ २ ॥

अर्थ—२ यथो एतत्—जो यह [कहा]—अग्नि को द्राविणोदस
कहा इति । ऋत्विज यहा द्रविणोदस कहे जाने हैं । इयिष=हवि रूप
[धन] के देने वाले । और वे इस [अग्नि] को उत्पन्न करते हैं ।
(ऋषीणाम्) ऋषियों का पुत्र [पुत्रो का] (अधिराज) अधिराज
(एष) यह [अग्नि] । यह भी निगम होता है ।

३ यथो एतत्—जो यह [कहा]—उन के पुन वात्र को इन्द्रपान
यद् [सत्ता] होनेो है इति । भक्तिमात्र=उपचारमात्र कह होता है । यथा—
वायव्यानि=वायु के य [यह] सारे सोमपात्रों का [नाम है ।]

४ यथो एतत्—जो यह [कहा]—सोमपान स हम [द्रविणोदा]
को स्तुति करता है इति । इस [अग्नि] में भी यह उपपन्न=युक्त होना
है । [यथा--] (सोम पिय) सोम को पी, (मन्दसान) प्रसन्न होता
हुआ (गङ्गुधिभि) गणों में रहते हुए [मन्त्रों के] साथ । यह भी निगम
होना है ।

५. यथो एतत्—जो यह [कहा]—द्रविणोदा पिए द्रविणोदा का पुत्र अग्निः, इति । इस [अग्निः] का ही वह [वर्णन] होता है ॥ २ ॥

भाष्य—यास्क ने शाकपृणि का पत्र उचित समझा है । शाकपृणि ने क्रौष्टुके के पांचों तर्क काटे हैं । सोमपान मध्यम स्थान से सम्बन्ध रखता है । अतः सोमपात्र वायव्य कहे जाते हैं । पार्थिव सोमपान उस की प्रतिकृति है ॥ २ ॥

मेघन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिपण्यन् वीळ्यस्वा वनस्पते ।

आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिव ऋतुभिः ॥

[ऋ० २ । ३७ । ३ ॥]

मेघन्तु ते वह्नयः । वोढारः । यैर्यस्यरिप्यन् । दृढीभव । आयूय धृष्णो । अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयाद्विष्णयात् । धिष्णो धिष्णयो धिष्णाभवः । धिष्णा [वाक् ।] धिषेर्दधान्यर्थे । धीसादिनीति वा । धीसानिनीति वा । वनस्पते इति एनमाह । एष हि वनानां पाता वा पालयिता वा । वनं वनोतेः । पिवर्तुभिः कालैः ॥ ३ ॥

अर्थ—(मेघन्तु) मेघदुक्त=मोटे वने (ते) तेरे (वह्नयः) वाहक=ले जाने वाले (येभिः) जिन के द्वारा (ईयसे) [तू] प्राप्त होता है, (अरिपण्यन्) न हिंसा करता हुआ, (वीळ्यस्व) दृढ़ होवो (वनस्पते) हे वनस्पते । (आयूय) मिला कर (धृष्णो) हे धर्षक=दवाने वाले (अभिगूर्य) तय्यार हो कर (त्वम्) तू (नेष्ट्रात्) नेष्ट्रा के [याग] से (सोमम्) सोम को (द्रविणोदः) हे द्रविणोदा (पिव) पी (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ ।

मेघन्तु ते=मोटे अथवा तृप्त हों तेरे वाहक । जिन के द्वारा जाते हो, न हिंसा करते हुए । दृढ़ होवो, मिला कर हे धर्षक । तय्यार हो कर तुम नेष्ट्रीयात्=नेष्ट्रा नामक ऋत्विक् के (धिष्णयात्) धिष्णा नामक अग्निः के स्थान से । धिष्णयः=धिष्णयः=धिष्णा से होने वाला । धिष्णा=वाक् [है ।] धिषि से धारण करता है, इस अर्थ वाली से । धीसादिनी=बुद्धि में बैठने वाली अथवा । बुद्धि का सेवनी करने वाली अथवा । हे वनस्पते । यह इस [द्रविणोदा को] कहा । यह ही वनों का पाता है अथवा, पालयिता है [अथवा । वनम्, वनोति से । पियो ऋतु=कालों के साथ ॥ ३ ॥

भाष्य—वीक्ष्यस्वा आयूषा, अभिगूर्या । इम एक मन्त्र में ये तीन पद सहित पाठ में आकारान्त हैं । पदपाठ में वर्तमान व्याकरण की दृष्टि से दीर्घ अ=था के स्थान में सर्वत्र इत् अ=अ रह जाता है । ऐसा वेद में प्रायः दृष्टा जाता है । त्रिंशत् ऋषियों ने मूल में अर्धोपयोगी न हाते हुण भी इस आकारान्त रूप का संश्लेष किया, और मूल पाठ का अनुमात्र भी न बदला, वे वेद के वास्तविक पाठ को ठीक नहीं जानते थे यह आपर राजवाड़े परदेसर और विश्वम्भुजी आदि ने वैदिक परम्परा के न जानने के कारण किया है ।

धिपणा—ब्राह्मण ग्रन्थों में चारों धिपणा । शत० ६।२।४।२ ॥
विद्या वै धिपणा । तैत्ति० ३।२।२।२ ॥ और अन्तो वै धिपणा । वे०
२।२ ॥ निर्देश हैं । शतपथ ३।३।३।३ में—स्वान, आज्ञ, अष्टागि, बम्भारि, इस्त, सुदस्त, कृशानु ये सान नाम धिपणियों के पदे हैं । धिपणाभ्य पद के साथ वायु पुराण के अगल वचन की तुलना कीजिए—
धिष्णीषु जहिर वस्माद् धिष्ण्यस्तेन कीर्तिता ॥ २६।१६ ॥ २ ॥

अथात् आप्रिय । आप्रिय कस्मात् । आप्रोते । प्रीणानेयी ।
आप्रीभिराप्रीणाति । [रे० ६।४] इति च ब्राह्मणम् । तासामिधम
प्रथमागामी भवति । इधम समिन्धनात् । तस्यैष भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—अथ आप्री [वृत्ता हैं । निघ० ५।२।२—२२ तक ।]
आप्रिय किस [कारण] से । आप्रोति से । प्रीणाति से अथवा ।
(आप्रीभि) आप्री ऋचाओ से (आप्रीणाति) [आप्री देवताओं को]
तृप्त करता है । यह और ब्राह्मण [पाठ है ।] उन में इधम, प्रथमागामी
होता है ।

[१ आप्री] इधम ठीक चमकने से [है ।] उस की यह [श्रुत्]
है ॥ ४ ॥

भाष्य—आप्री ऋचाओं में चार देवता स्तुत हैं । वे इधम आदि हैं ।
एकदश आप्री शुक आगे ८।२२ में बड़े गए हैं ।

समिद्धो अथ मनुषो दुरोगे देव्यो देवान्यजसि जातवेदः ।

आ च वदं मित्रमहथिभिरान् त्वं दूतः क्विरसि प्रचेताः ॥

[श्रु० १०।११०।१ ॥]

समिद्धोऽद्य मनुष्यस्य मनुष्यस्य गृहे देवो देवान्यजसि जातवेदः ।
 आ च वह मित्रमहः । चिकित्वाँश्चेतनावान् । त्वं दूतः कविरसि ।
 [प्रचेताः] प्रवृद्धचेताः ।

यज्ञेधमः इति कात्यक्यः । अग्निः इति शाकपूणिः ।

तनूनपात् [आज्यमिति कात्यक्यः ।] नपादित्यनन्तरायाः
 प्रजाया नामधेयम् । निर्णततमा भवति । गौरत्र तनूरुच्यते । तता अस्यां
 भोगाः । तस्याः पयो जायते । पयस आज्यं जायते ।

अग्निरिति शाकपूणिः । आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते । तता अन्तरिक्षे ।
 ताभ्यः ओपधिवनस्पतयो जायन्ते । ओपधिवनस्पतिभ्य एष जायते ।
 तस्यैषा भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—(समिद्धः) प्रदीप्त हुआ (अद्य) आज (मनुषः) मानुष के
 (दुरोणे) घर में (देवः) देव [तू] (देवान्) देवों को (यजसि)
 पूजता हैं (जातवेदः) हे जातवेदः । (आ-वह च) लाओ और
 (मित्रमहः) हे मित्रों का आदर करने वाले (चिकित्वाँ) जानते हुए
 (त्वम्) तू, दूत, कवि हो (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञान वाले ।

प्रदीप्त आज मनुष्य के मनुष्य के घर में, देव, देवों को तू पूजता है, हे
 जातवेदः । और लाओ हे मित्र का आदर करने वाले । चिकित्वाँ=
 चेतना वाला । तू दूत कवि हो । [प्रचेताः] बड़े हुए ज्ञान वाला ।
 यज्ञेधम=यज्ञ की समिधा, [यह आप्री देवता है] इति=यह कत्यक का पुत्र
 कात्यक्य [कहता है ।] अग्निः यह शाकपूणि [कहता है ।]

[२. आप्री], तनूनपात्=आज्यम्=पिघला हुआ घृत, यह कात्यक्य
 [कहता है ।] नपात् यह अन्+अन्तरायाः=विना व्यवधान वाली का
 प्रजा का नामधेय [है ।] निर्णततमा=सब से अधिक नत=झुका हुआ
 [तीसरी पीढ़ी में] होता है । गौ, यहां तनू कही जाती है । तताः=विस्तृत
 =फैले हुए इस में भोग [होते हैं ।] उस [गौ] से दूध उत्पन्न होता है ।
 पयसः=दूध से आज्यम्=घृत उत्पन्न होता है ।

[तनूनपात्] अग्नि [है ।] यह शाकपूणि [कहला है ।] आप यह
 लम्ब कहो जानी है । तता = विस्तृत होता है अन्तरिक्ष मे । उन [आप]
 से ओषधि बनसक्ति उत्पन्न होने हैं । ओषधि बनसक्तियों से, एष=यह
 [अग्नि] उत्पन्न होता है । उन [तनूनपात्] को यह [श्क्] होती
 है ॥ ५ ॥

भाष्य—सारा अन्तरिक्ष आप्य परमाणुओं से परिपूर्ण है । अन्तरिक्ष में
 अवकाश [= pnce] नहीं है । शाकपूणि और वास्क आदि इस सिद्धान्त को
 जानते थे । उन ऋषियों को विज्ञान का अद्वितीय बोध था ॥ ५ ॥

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान्मर्धा समञ्जन्त्स्वदया मुजिह्व ।

मन्मानि धीभिस्त यज्ञमृन्धन्देवरा च कृणुषधुरं नः ॥

[ऋ० १० । १० । २ ॥]

तनूनपापथ ऋतस्य यानान् । यज्ञस्य यानान् । मधुना समञ्ज
 न स्वदय करवाणजिह्व । मनमानि च नो धीभिर्षय च समर्धय । देवाओ
 यज्ञ समय ।

नगशसो यज्ञ इति काथ्यस्य । नरा अग्निप्राक्षीना शसन्ति ।
 अग्निरिति शाकपूणि । नरे प्रशस्यो भरति । तस्यैवा भरति ॥ ६ ॥

अर्थ—(तनूनपात्) हे तनूनपात् (पथ) मार्गों को (ऋतस्य)
 ऋत क (यानान्) पढ़चाने वाले को (मधुना) मधु मे (सम्—अञ्जन्)
 चुनड कर (स्वदय) स्वादु बनाओ (मुजिह्व) हे सुन्दर जिह्वा वाले ।
 (मन्मानि) मनन योग्य (धीभि उन) प्रनाओं से और (यज्ञम्) यज्ञ को
 (ऋन्धन्) समृद्ध करते । ए देवरा) देवों को और (कृणुषि) पढ़चाने
 (अध्वर न) अध्वर को हमारे ।

हे तनूनपात् मार्गों को ऋतस्य=स्त के=यज्ञ के यानान्=पढ़चाने
 वाला को मधुना=मधु मे समञ्जन्=चुनड कर स्वदय=स्वादु बनाओ
 हे सुन्दर जिह्वा वाले । मनमानि मनन क योग्य और हमारे [छन्दों को]
 धीभि =प्रनाओं तथा कर्मों से समर्धय=समृद्ध करो । देवा को हमारे यज्ञ
 को पढ़चाने ।

[३. आप्री] नराशंसः, यज्ञ [है], यह कात्यवय [कहता है ।] नर इस में बैठे हुए शंसन्ति=स्तुति करते हैं ।

अग्निः [है], यह शाकपूणि [कहता है ।] नरों के द्वारा प्रशस्यः=स्तुति के योग्य होता है ।

उस [नराशंस] की यह [ऋक्] होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—तन्नूपात् के कर्म किस प्रकार हो रहे हैं, यह ज्ञातव्य है । ऋत के मागों को यह कैसे स्वादु बनाता है । मनन योग्य छन्दों को कैसे समृद्ध करता है, देवों को यज्ञ को कैसे पहुंचाता है, ये विषय साधारण नहीं हैं । इन का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए । उपनिषद् में मधु विद्या का व्याख्यान है । इस मन्त्र में मध्वा समञ्जन् पद उसी प्रकार के मधु का संकेत कर रहे हैं ॥ ६ ॥

नराशंसस्य महिमानमेवामुप स्तोषाम यज्ञतस्य यज्ञैः ।

ये सुकृतवः शुचयो धियंधाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥

[ऋ० ७ । २ । २ ॥]

नराशंसस्य महिमानमेवामुपस्तुमो यज्ञियस्य यज्ञैः । ये सुकर्माणः शुचयो धियं धारयितारः । स्वदयन्तु देवा उभयानि हवींषि । सोमं चेतराणि चेति वा । तान्त्राणि चावापिकानि चेति वा ।

इळः, ईष्टेः स्तुतिकर्मणः । इन्धतेर्वा । तस्यैवा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(नराशंसस्य) नराशंस की (महिमानम्) महिमा की (एवाम्) इन में से (उप स्तोषाम) हम स्तुति करते हैं, (यज्ञतस्य) जो यज्ञिय है, उस की (यज्ञैः) यज्ञों के द्वारा । जो [देव] (सुकृतवः) सुन्दर कर्मों वाले (शुचयः) पवित्र और प्रदीप्त (धियंधाः) कर्मों के धारक (स्वदन्ति) स्वादु बनाते हैं (देवाः) देव (उभयानि) दोनों प्रकार के (हव्या) हव्यों को ।

नराशंस की महिमा की इन में से हम उपस्तुम=पूरी स्तुति करते हैं । [कैसा नराशंस], यज्ञियस्य=जो यज्ञ के योग्य है, यज्ञों के द्वारा । जो सुकर्मा, पवित्र और प्रदीप्त धियम्=प्रज्ञा और कर्मों को धारण करने वाले ।

स्वादु बनाएँ देव, दोनों प्रकार के हवि पदार्थों की । सोम को और अन्यो को अथवा । तान्त्राणि=स्वतन्त्र पिड्ड और आशपिकानि=आराप द्वारा =यज्ञ में विशेषतया डालने से सिद्ध अथवा ।

(४ आग्नी) ईळ ईष्टि म, स्तुति अर्चि वाचे म । इन्धति से अथवा । उम [ईळ] की यह [ऋक] होती है ॥ ७ ॥

भाष्य—दोनों प्रकार के हव्य पदार्थों को । सोम स्वाभाविक अथवा स्वतन्त्र ही हव्य है । वह अग्न में व्यापक है । पृथिवी पर गौ आदि में और अन्तरिक्ष और घौ में परमाणु रूप में । दूसरे हव्य पदार्थ यज्ञ में डालने गए स्वादु होते हैं ॥ ७ ॥

आजुह्वान् ईडयो वन्द्यथा यादग्ने वसुभिः सजोषाः ।

त्वं देवानामसि यह होता स एनान्यर्चीपितो यजीयान् ॥

[ऋ० १० । ११० । ३ ॥]

आहुयमान ईळित-यो वन्दित-यश्च । आयाह्वाने वसुभि सहजो पण । त्वं देवानामसि यह होता । यह इति महतो नामधेयम् । यातश्च इतश्च भवति । स एना-न्यर्चीपितो यजीयान् । इपित प्रेषित इति या । अधीष्ट इति या । यजीयान्यष्टतर ।

वर्हि परिवर्हणात् । सम्येया भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—(आजुह्वान) बुलाया हुआ (ईडय) स्तुति योग्य (वन्द्यथा) और नमस्कार योग्य (आ यादि) आओ (अग्ने) है अग्ने (वसुभि) वसुओं के साथ (सजोषा) समान प्रीति वाला हुआ । (एवम्) तू (देवानाम् असि यह) देवों का है हे महान् (होता) होता, बुलाने वाला (स) वह [तू] (एनानि) इन [देवों] को (यज्ञि) यज्ञ कर (इपित) [हमारे द्वारा] प्रेषा हुआ (यजीयान्) अधिकतर पूजने वाला है ।

बुलाया हुआ, स्तुति योग्य, वन्दना योग्य और, आओ है अग्ने वसुओं के साथ समान प्रीति वाले हुए । तूम देवों के हो महान् होता । 'यह यह महान् को नामधेय है । यान व=र्चा हुआ और बुलाया हुआ होता है ।

वह [तू] इन [देवों] को (यत्नि) यजन कर । इषितः=चाहा हुआ यजीयान् [है ।] इषितः=प्रेरा हुआ अथवा । अधि+इष्टः=सत्कार पूर्वक प्रेरा हुआ^१=प्रार्थना किया गया अथवा । यजीयान्=अधिकतर पूजने वाला [है ।]

[५. आप्री] वहिः. परिवर्हणात्=चारों ओर से काटने, [अथवा] बढ़ने से [=कुशा ।]

उस [वहिः] की यह [ऋक्] होती है ॥ ८ ॥

भाष्य—ये आग्नेय परमाणु कैसे आते हैं । इन की गति किस प्रकार काम करती है । यह प्रक्रिया विज्ञान से सम्बद्ध है । अग्निः ही होता और अनेक देवों को अधिकतर पूजने वाला है । इष्टः=चाहा हुआ वा प्रार्थना किया गया, एक ही अर्थ में है ॥ ८ ॥

प्राचीनं वहिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥

[ऋ० १० । ११० । ४ ॥]

प्राचीनं वहिः प्रदिशा पृथिव्या वसनाय । अस्याः प्रवृज्यतेऽग्रेऽह्नां वहिः पूर्वाह्ने । तद्विप्रथते । [वितरं] विकीर्णतरमिति वा । विस्तीर्णतरमिति वा । वरीयो वरतरम् । उरतरं वा । देवेभ्यश्चादितये च स्योनम् । स्योनम् इति सुखनाम । स्यतेः । अवस्यन्ति एतत् । सेवितव्यं भवतीति वा ।

द्वारो जवतेर्वा । द्रवतेर्वा । वारयतेर्वा । तासामेवा भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(प्राचीनम्) पूर्व दिशा में मुख की हुई (वहिः) [जो] कुशा [उसे] (प्रदिशा) विवि पूर्वक (पृथिव्याः) पृथिवी [=वेदी] के (वस्तोः) वसन=ओढ़ने वा ढांपने के लिए (अस्याः) इस के (वृज्यते) काटा जाता है, (अग्रे अह्नाम्) पूर्वह्न समय में । (वि-उ-प्रथते) [वह कुशा=दर्भ] फैलता है, (वितरम्) काटा वा विछाया हुआ, (वरीयः) [जो] अत्यन्त श्रेष्ठ होता है (देवेभ्यः) देवों के लिए (अदितये) अदिति के लिए (स्योनम्) मुखरूप होता है ।

पूर्व दिशा की ओर मुख किया हुआ दर्भ प्रदिशा=विधिपूर्वक पृथिव्याः
 अस्या =इस पृथिवी के बसनाय=जापने के लिए प्रवृज्यते=काटा जाता है,
 अग्ने अह्नाम्=पूर्वाह्ने=पूर्वाह्नि काल में । वह बहुत फैलना है ।
 धितरम्=बहुत फैला हुआ अथवा । धरीयः=धरतरम्=जो अधिक थोड़ा
 [होना है ।] उदतरम्=बहुत घना अथवा । देवो के लिए और, अदिनि के
 लिए और स्योनम्=मुखधारक । स्योनम्, यह मुख का नाम [है ।] स्वनि
 मे । अरस्यन्ति=प्रवसान में करते हैं एतत्=इसे । [मारे कर्म का फल
 अन्न में मुख इष्ट होना है ।] सेवा योग्य होना है अथवा ।

[६. आग्नी] द्वारः । जवनि मे अथवा । इवनि मे अथवा । वारदनि
 मे अथवा । उन की यह [ऋत्] है ॥ ९ ॥

भाष्य—बहि की महिमा पहले भी बड़ी गई है । यहाँ पूर्व दिशा की ओर
 मुख की हुई बहि की अधिक महिमा दिखाई गई है । उस बहि को विधिपूर्वक
 कहना चाहिए । वह विधि मूल ग्रन्थों में उल्लिखित है । बहि को सरा पूर्वज
 काल में काटना चाहिए । देवों में आधिभौतिक दृष्टि से वैश्वत् प्रभाव अधिक है ।
 उस के प्रभाव को मूर्ति स्थापना कर के देवों को मिलाने न करे, अन्न बर्तों में बेरी
 के चारों ओर बहि बिछाया जाना है । बड़ी बहि पर देवों की आधिभौतिक साया
 प्रकट हो सकती है, ऐसा हम बहि के प्रयोग का रहस्य प्रतीत होता है । यही
 बहि अन्नरिक्त में हो सकता है, पर कति मूल्य रूप में । अन्न हम बहि पर
 वैज्ञानिक परीक्षण होने चाहिए । जो बहि पृथिव्य आदि की ओर मुख किए है
 उन का प्रभाव भी देखना चाहिए । तक वेदविद्या में प्रवेग हो सकेगा ।

बहि अदिनि के लिए किम प्रकार मुखधारक है पर भी देखना चाहिए ।
 अदिनि मूल्यम स्वामी है । अदिनि का केवल पृथिवी अर्थ मान कर समुह नहीं
 होना चाहिए ॥ ५ ॥

दयस्वस्वतीर्त्विषा वि श्रंपन्तां पतिभ्यो न जनयः शुभ्रमानाः ।

देवीर्दामो चरत् विभामिन्वा देवेभ्यो भवन मुप्रायणाः ॥

व्यञ्जनवत्य उरुत्वेन विश्रयन्ताम् । पतिभ्य इव जायाः । ऊरू
मैथुने धर्मे । शुशोभिपमाणाः । वरतममङ्गमूरू । देव्यो द्वारः । बृहत्यो
महत्यः । विश्वमिन्वा विश्वमाभिरेति यज्ञे । गृहद्वार इति कात्यक्यः ।
अग्निरिति शाकपूणिः ।

उपासानक्ता । उपाः च नक्ता च । उपाः व्याख्याता । नक्ता इति
रात्रिनाम । अनक्ति भूतान्यवश्यायेन । अपि वा नक्ताव्यक्तवर्णा ।
तयोरेपा भवति ॥ १० ॥

अर्थ—(व्यचस्वतीः) विशेष आने जाने वाले [कर्म में सहायक]
(उर्विया) विस्तार से (विश्रयन्ताम्) खुल जाएं, (पतिभ्यः) पतियों के
लिए (न) जैसे (जनयः) स्त्रियां (शुम्भमानाः) शोभा युक्त बनी हुई ।
(देवीः द्वारः) हे द्वार-देवियो, (बृहतीः) विशाल (विश्वम् इन्वाः)
सर्वत्र गमनागमन वाली (देवेभ्यः) देवों के लिए (भवत) होवो
(सुप्रायणाः) श्रेष्ठ प्रकार से जाने आने योग्य ।

वि+अञ्जनवत्यः=विशेष आने जाने वाली उरुत्वेन=विस्तार से
विश्रयन्ताम्=खुल जाएं । पतियों के लिए जैसे स्त्रियां [खुलती हैं ।] ऊरू
=जंघाओं को मैथुन धर्म में [जैसे खुना करती हैं ।] शुशोभिपमाणाः=
शोभायमाना बनाने की इच्छा करती हुई । वरतमम्-अङ्गम् ऊरू=श्रेष्ठतम
अङ्ग हैं जंघाएं । देव्यः द्वारः=हे द्वार देवियो, बृहत्यः=महत्यः=विशाल,
विश्वम्+इन्वाः=सारे आभिः=इन के मार्ग से पति=प्राप्त होते हैं यज्ञे=यज्ञ
में । गृह द्वार=घर के अथवा यज्ञगाला के द्वार हैं यह कात्यक्य [कहता
है ।] अग्निः है, यह शाकपूणि, [कहता है ।]

[७. आप्री] उपासानक्ता । उपा और रात्रि और । उपा [पहले
२ । १८ में] व्याख्या की गई है । नक्ता यह रात्रि का नाम [है ।]
अनक्ति=गीला करती है, भूतानि=प्राणियों को अवश्यायेन=ओस से ।
अथवा न+अक्ता=नहीं व्यक्त=स्पष्ट रंग वाली । उन दोनों की यह [ऋक्]
होती है ॥ १० ॥

भाष्य—देवों के आने जाने के मार्ग और द्वार हैं । उसी प्रकार यज्ञों में
और शालाओं में विद्वानों आदि के आने जाने के भी मार्ग हैं ।

अयत्ताम् सुख जाए । ये द्वार साधारणतया स ग होते हैं अत धृति म कहा कि दे सुख जाए । कैय सुते । उस का उदाहरण श्री की जयाओं के सुतने स दिया है । श्री, जो शोभना बनने की इच्छा वाली होती है । यहा का धन्य और शाकपूणि इन दोनों के मत प्रशस्त हैं । शाकपूणि सूक्ष्म भौतिक अर्थ को दर्शाता है ॥ १० ॥

आ सुष्येती यजते उपाके उपासानक्ता सदतां नि योना ।

दिव्ये योषणे वृहती सुरुक्मे अधि धियं शुक्रपिशु दधानि ॥

[ऋ० १० । ११० । ६ ॥]

सेष्मीयमाणे इति वा । सुष्वापयन्त्याविति वा । आसीदतामिति वा । न्यासीदतामिति वा । यज्ञिये । उपक्रान्त । दिव्ये योषणे । वृहती महती । सुरुक्मे सुरोचने । अधिदधाने शुक्रपशस धियम् । शुक्र शोचतर्ज्वलतिकर्मण । पेश इति रूपनाम । पिशत । विपिशित भवति ।

द्वया होतास । द्वयो होतारो । अयं चाग्निरसौ च मध्यम । तयोरेषा भवति ॥ ११ ॥

अर्थ—(सुष्येती) [परस्पर] सुन्नती हुई । (यजते) यज्ञ करने व नी-यज्ञ के योग्य (उपाके) एक दूसरे के निकट लाई गई (उपासा नक्ता) उपा और रात्रि (आ सन्ताम्) बैठे (योना) [यज्ञ] स्थान मे । (दिव्ये) वसोक मे उ ग्न हुई (योषणे) श्री रूपिणिया (वृहती) बड़ी (सुरुक्मे) सुन्दर चमकने वालिया (धियम्) गोभा को शुक्रपि शम्) चमकने के रूप को (अधिदधाने) धारण करती हुई ।

सेष्मीयमाणे मुक्कराती हुई अथवा सु+स्वापयन्त्यो-मुन्तर प्रवार म मुनातो हुई अथवा । आ सीन्ताम्=बैठे अथवा । नि+आ+सीदताम्=पकडो हुई बैठे अथवा । यजन=यज्ञिय यज्ञ क यो य उपक्रान्ते-एक दूसरे के निकट लाई गई नि+य योषणे-दिव्य क्रिया वृहती-महती-बड़ी सुरुक्म-सुरोचने मुन्तर दीप्ति वालिया अधि दधाने-धारण करती हुई शुक्रेश र्-चमकने के रूप को धियम्- गोभा को । शुक्रम् शोचति से चमकन भी जाने मे । पेश यह रूप वा नाम [है ।] पिशति से । विपेश रंगा हुआ होता है ।

[८, अप्री] दैव्या होतारा=दैव्यौ होतारौ=यह [पृथिवी स्थानी] अग्निः और, वह मध्यमः=अन्तरिक्ष स्थानी [वायु ।] उन दोनों की यह [ऋक्] होती है ॥ ११ ॥

भाष्य—उषा और रात्रि सुरुक्मे हैं । रात्रि भी अयना रुक्म=रोचन रखती है । पूर्ण अन्धेरी रात में अन्तरिक्ष स्वल्प चमक वाला सदा दिखाई देता है । यह रात्रि में मरुतों का प्रकाश है । मरुतों के कारण रात्रि रुक्म वाली है । ऐमे शुक्रपिशा को रात्रि धारण किए रहती है ॥ ११ ॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचाऽमिमाना यज्ञं मनुषो यज्जध्यै ।

प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥

[ऋ० १। ११०। ७ ॥]

दैव्यौ होतारौ प्रथमौ सुवाचौ निर्मिमानौ यज्ञं मनुष्यस्य [मनुष्यस्य] यजनाय । प्रचोदयमानौ यज्ञेषु कर्तारौ पूर्वस्यां दिशि यष्टव्यमिति प्रदिशन्तौ ।

तिस्त्रो देवीः । तिस्त्रो देव्यः । तासामेवा भवति ॥ १२ ॥

अर्थ—(दैव्यौ होतारौ) दैव्य होता [अग्निः और वायु], (प्रथमौ) [देवों में] मुख्य अथवा पहले जन्मे, (सुवाचौ) सुन्दर वाणी वाले (मिमानौ) निर्माण करने वाले (यज्ञम्) यज्ञ को (मनुषः) मनुष्य के (यज्जध्यै)=यजनाय=यज्ञ के लिए । (प्रचोदयन्तौ) प्रेरणा करने वाले (विदथेषु) यज्ञों में (कारू) कर्म कर्ता (प्राचीनं ज्योतिः) पूर्व दिशा में होने वाले [आहवनीय] अग्निः को (प्रदिशा) विधि के अनुसार (दिशन्तौ) [यज्ञ करने का] उपदेश करने वाले [हैं ।]

दिव्य गुण युक्त दोनों होता, प्रथमौ=मुख्य, सुवाचौ=सुन्दर वाणी वाले [मिमानौ]=निर्मिमानौ=निर्माण करने वाले यज्ञ को मनुष्य के मनुष्य के यज्ञ के लिए । प्रेरणा करने वाले यज्ञों में कर्मकर्ता पूर्वस्यां दिशि=पूर्व दिशा में यज्ञ करना चाहिए यह विशेष बताने वाले [हैं ।]

[९, अप्री ।] तिस्त्रो देवीः । तीन देवियां । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ १२ ॥

भाष्य—अग्नि और वायु दैन्य होता है । ये मुख्य अथवा अन्व देवों की अपेक्षा पूर्व जन्मे हैं । इन्द्र बहुत उत्तर काल में जन्मा है । इन्द्र है ही वैश्वानर जो वायु में आवृष्टि है । अतः वायु का अस्तित्व पहले हो गया था । इनका आदेश है कि आहवनीय अग्नि में यज्ञ करना चाहिए । अपरञ्च मनुष्य का यज्ञ भी पूर्वोभिमुख होना चाहिए ॥ १२ ॥

आ नो यज्ञं भारती तूर्पमेद्विष्णो मनुष्यदिह चेतयन्ती ।

तिष्ठा देवीर्वर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्पर्शः सदन्तु ॥

[ऋ० १० । ११० । = ॥]

एतु नो यज्ञ भारती क्षिप्रम् । भरत आदित्य । तस्य भा । इष्णव । मनुष्यदिह चेतयमाना । तिष्ठा देवो वर्हिरेद सुखं सरस्वती च सुकर्माण आसीदन्तु ।

त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नेरुक्ता । त्विषेर्वा स्याद् दक्षिकर्मण । त्वस्ततेर्वा स्यात्करोतिकर्मण । तस्यैषा भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—(न यज्ञम्) हमारे यज्ञ को (भारती) भरत=आदित्य की भा-दोषि (तूर्पम्) शीघ्र (एतु) आगे (इष्णव) इष्णव [और] (मनुष्यन्) मनुष्य के समान (चेतयन्ती) सजान रखनी हुई । (तिष्ठा देवी) तीनों देवियां (वर्हि इदम्) इन कुशा पर (स्योनम्) मुखकारी पर (सरस्वती) सरस्वती [और] (सु+अपस)=सुकर्माण=उत्तम कर्म वाली (आ+सदन्तु) बैठे ।

आगे हमारे यज्ञ को भारती शीघ्र । भरतः आदित्य [है ।] उसकी भा=दोषि । इष्णव और । मनुष्य के समान यहाँ चेतना वाली मजान रखनी हुई । तीनों देवियां इन कुशा पर मुखकारी, सरस्वती और अउ वम बानिया बैठे । -

[१० आग्नी] त्वष्टा । शीघ्र व्याप्त करता है यह नेरुक्त [कहते हैं ।] त्विषि मे अथवा हागे दक्षि अर्थ वागे से । त्वस्तनि मे अथवा त्वरे करानि अर्थ वागे से । उसकी यह [ऋक्] होती है । १३ ॥

भाष्य—सरूप जी के पाठानुसार यास्क के भाष्य में—एतु पाठ है। तदनुसार आ उपसर्ग सदन्तु क्रिया के साथ जुड़ना चाहिए। यास्क ने अपने भाष्य में अर्थ भी ऐसा ही दर्शाया है। राजवाड़े ने एतु पाठ रखा है। तिस्रः देवीः—१ भारती, आदित्यस्थाना। २. इळा, पृथिवी-स्थाना। ३. सरस्वती, मध्यम-स्थाना=वाक्। वहीं पर बैठने वाली ये तीनों देवियां=दिव्य रूप वाली हैं। इन में परमाणु संघात कैसा है, यह ज्ञातव्य है ॥ १३ ॥

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिशद्भुवनानि विश्वा ।

तमद्य होतरिपितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यज्जि विद्वान् ॥

[ऋ० १० । ११० । ६ ॥]

य इमे द्यावापृथिव्यौ जनयिष्यौ रूपैरकरोत् । भूतानि च सर्वाणि । तमद्य होतरिपितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यज्जि विद्वान् ।

माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुः । मध्यमे च स्थाने समाम्नातः । अग्निरिति शाकपूणिः । तस्यैपापरा भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—(यः) जिस ने (इमे) इन दोनों (द्यावापृथिवी) द्यावा-पृथिवी को (जनित्री) [अनेक भुवनों को] जनने वालियों को (रूपैः) नाना रूपों से (अपिशत्) किया, (भुवनानि विश्वा) [और] सारे भूतों को । (तम्) उस को (अद्य) आज (होतः) हे होतः (इपितः) चाहा गया (यजीयान्) बहुत यज्ञ करने वाला [तू] (देवं त्वष्टारम्) देव त्वष्टा को (इह) यहां [यज्ञ में] (यज्जि) यज्ञ करो (विद्वान्) [तू जो] जानने वाला [है] ।

जिस देव ने इन दोनों द्यावापृथिवी को [जो अनेक भुवनों की] जनने वाली हैं रूपैः=विविध रूपों से अकरोत्=किया । और सम्पूर्ण भूतों को । उस [देव] को आज हे होतः इपितः प्रेरा हुआ=चाहा हुआ, बहुत यज्ञ करने वाला [तू] देव त्वष्टा को यहां यज्ञ करो [तू जो] विद्वान्=जानने वाला [है ।]

माध्यमिक [है] त्वष्टा, यह [वेदज्ञ] कहते हैं। मध्यम स्थान में [अनेक निघण्टु समाम्नायों में] समाम्नात है । [त्वष्टा] अग्निः [है], यह शाकपूणि [कहता है ।] उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ १४ ॥

भाष्य—वावापृथिवी अनेक भुवनों=भूनों की जनने कालिया हैं । पृथिवी न
एकश भूतों को जन्म दिया है । और घौ ने भी सहस्रश भूतों को जना है ।
पर इन दोनों को त्वष्टा ने ही अनेक रूपों से समित किया है । आदित्य, उस के
रथ और उस रथ के अश्वों को त्वष्टा आदि ने ही यह रूप दिया है । त्वष्टा ने तो
सूर्य का तपण भी किया था । यह त्वष्टा मध्यम स्थानी है । उस मध्यम स्थान
से ऊपर जाते हुए ही सूर्य का तपण हुआ था । राकपृथि इस अग्नि को भी
त्वष्टा मानता है ॥ १४ ॥

आविष्टयो वर्धते चारंरासु जिह्मानामूर्धः स्वयंशा उपस्थे ।

उभे त्वष्टुर्विभ्यतुर्जायमानात् प्रतीची सिद्धं प्रति जोषयेते ॥

[अ० १ । १५ । ५ ॥]

आविरावेदनात् । तस्यो वर्धत चारंरासु । चारु चरत । जिह्म
जिहीत । ऊर्ध्वमुद्गृष्ट्वं भवति । स्वयंशा आमयशा । उपस्थ उपस्थाने ।
उभे त्वष्टुर्विभ्यतुर्जायमानात् । [प्रतीची सिद्धं प्रति जोषयेत ।] वावा
पृथिव्याविति वा । अहोरात्र इति वा । अरणी इति वा । प्रत्यक्षे ।
सिद्धं सहनम् । प्रत्यासवत ॥ १५ ॥

अर्थ—(आविष्टय)=आग्नि +स्य =प्रकाश का विस्तार करने वाला
(वर्धते) बढ़ता है (चारु) चरन वाला (आसु) इन [क्रियाओ] म
(जिह्मानाम्) निरुद्धों म (ऊर्ध्वम्) ऊपर को (स्वयंशा) अपन ही या
वाला (उपस्थे) उपस्थान म । (उभे) दोनों [वावापृथिवी] (त्वष्टु)
त्वष्टा से (विभ्यतु) डर गई (जायमानात्) उत्पन्न हुए मे । (प्रतीची)=
प्रत्यक्षे=इस [त्वष्टा के] सामने गई हुई वा चोटनी हुई [वावापृथिवी]
(सिद्धं प्रति) सहने को, उभे सिद्ध की (जाययत) सवा करती ह ।

आग्नि =प्रकाश, आविष्टान्=आग्नि नरन=अतान से । तत् स्य =उस
म होने से, अथवा वह विस्तृत हुआ मङ्गला है गुन्दर इन [क्रियाओ] मे ।
चारु=चरनि म । जिह्म जिहीति (=ओहाक त्याग) म । ऊर्ध्वम्=उद्गृष्ट होना
है । स्वयंशा अपने ही या वाला । उपस्थे-उपस्थान=आग्नि म । उभे-दोनों
वावापृथिवी अथवा । अहोरात्र अथवा । दोना अरण्यां अथवा । प्रत्यक्षे=
सामने गई । सिद्धं=सहन करना । प्रति+आसवत=नेवा करती है ॥ १५ ॥

भाष्य—देवजन्य में स्वप्न भी सायाप्रथिनी के पश्चात् जन्मा । उस के जन्म से ये दोनों दरि, और उस की सेवा में लग गईं ॥ १५ ॥

वनस्पतिः व्याख्यातः । तस्यैवा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—[११. आत्री], वनस्पतिः । [निष्क ८ । ३ में] व्याख्या किया गया है । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ १६ ॥

उपावसृज त्मन्यां समञ्जन्देवानां पार्थ ऋतुधा हवींषिं ।

वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥

[ऋ० १० । ११० । १० ॥]

उपावसृजात्मनात्मानं समञ्जन् देवानामशमितावृती हवींषि काले काले । वनस्पतिः शमिता देवो अग्निर्गिन्येते त्रयः स्वदयन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च ।

तत्को वनस्पतिः । यूप इति कात्यक्यः । अग्निरिति शाकपूणिः । तस्यैवापरं भवति ॥ १७ ॥

अर्थ—[हे वनस्पते] (उप अश्वसृज) समीप हो कर उत्पन्न करो=दो, (त्मन्या) आत्मा से [आत्मा को=अपने आप को] (समञ्जन्) प्रकट करते हुए (देवानाम्) देवों के (पार्थः) अन्न को (ऋतुधा) कालकाल में (हवींषि) [और] हवियों को । वनस्पति, (शमिता) शमिता [और] (देवः अग्निः) अग्निः देव (स्वदन्तु) स्वादु बनाएं, (हव्यम्) हव्य को मधु से [और] घृत से ।

[हे वनस्पते] उप+अश्वसृज=समीप हो कर उत्पन्न करो=दो आत्माना +आत्मानम्=अपने द्वारा अपने को, समञ्जन्=प्रकट करते हुए देवानाम् अन्नम्=देवों के अन्न को । ऋतु में, ऋतु में=समय-समय पर हवियों को । वनस्पति, शमिता, देव अग्निः, ये तीनों स्वादु बनाएं हव्य को, मधु से और, घृत से और ।

तो कौन है वनस्पति । यूप [है], यह कात्यक्य [कहता है ।] अग्निः [है], यह शाकपूणि [कहता है ।] उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ १७ ॥

भाष्य—वेद म दैवी यज्ञों के सञ्केत और उन यज्ञों की क्रियाएँ भरी परी हैं । देवों का अन्न और हविषाँ षड्रुधा वर्णित हैं । उपस्थित मन्त्र के मधु और घृत पार्थिव समझे जा सकते हैं पर हैं अतस्त्रिपस्थ ॥ १० ॥

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन ।

यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेद् धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे ॥

[ऋ० ३ । = । १ ॥]

अञ्जन्ति त्वामध्वर देवान् कामयमाना वनस्पत मधुना दैव्येन च घृतेन च । यदूर्ध्वं स्थास्यसि । द्रविणानि च नो दास्यसि । यद्वा त वृत् क्षयो मातुरस्या उपस्थ उपस्थान ।

अग्निरिति शाकपूणि । तस्यैवापरा भवति ॥ १० ॥

अर्थ—(अञ्जन्ति) चुपडते है (त्वाम्) तुम्हें (अध्वर) अध्वर मे (देवयन्त) देवों की इच्छा करने वाले (वनस्पत) हे वनस्पते (मधुना दैव्येन) दैव्य मधु से [और घृत से ।] (यत् ऊर्ध्वं) जो [ऊपर] की ओर उठा हुआ (तिष्ठ) खड़ा होगा, (द्रविणा) धनो को (इद्) इस लोक मे (धत्ताद्) देगा । (यत् वा) जो और [तेरा] (क्षय) पर=निवास स्थान (मातु अस्या) इस [पृथिवी] माता की (उपस्थे) गोद मे [हो ।]

चुपडते हैं तुम्हें अध्वर मे देवों की इच्छा करने वाले हे वनस्पते, मधु दैव्य से और घृत से और । जो ऊर्ध्वं टहरेगा । धन और हमें देगा । जो और तेरा किया गया क्षय =निवास इस [पृथिवी] माता की गोद मे ।

अग्नि [है ।] यह शाकपूणि [कहना है ।] उस की यह अपरा=और [शक्त] होती है ॥ १० ॥

भाष्य—इस मन्त्र का तात्पर्य पूर और अग्नि इन दोनों से सम्बन्ध रहता है ॥ १० ॥

देवेभ्यो वनस्पते इवीपि हिरण्यपर्णं मृदिवस्ते अर्थम् ।

मृद्विषिषिर्द्रशानया नियुष्य श्रुतस्य वसि पृथिवी रजिष्ठेः ॥

[मै० सं० ४ । १३ । ७ ॥]

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि । हिरण्यपर्णं ऋतपर्णं । अपि वा—
उपमार्थे स्यात् । हिरण्यवर्णं पर्णंति । प्रदिवस्ते अर्थम् । पुराणस्ते
सोऽर्थो यं ते प्रब्रूमः । यज्ञस्य वह पथिभिः । रजिष्ठैर्ऋतमैः । रज-
स्वलतमैः । तपिष्ठतमैरिति वा । तस्यैपापरा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—(देवेभ्यः) देवों के लिए (वनस्पते) हे वनस्पते (हवींषि)
हवियों को (हिरण्यपर्णं) हे हिरण्य [सदृश] पत्तों वाले, (प्रदिवः)
पुराणा=सदा से चला आया [यह] (ते) तेरा (अर्थम्) अर्थ [है ।]
(प्रदक्षिणित्) प्रदक्षिण जाते हुए=देवहवि ले जाने के मार्ग से (रशनया)
रस्सी से (नियूय) बांध कर (ऋतस्य) यज्ञ को (वक्षि)=ब्रह्म=ले
जाओ (पथिभिः) मार्गों से (रजिष्ठैः) सरलतमों से ।

देवों के लिए हे वनस्पते हवियों को, हे हिरण्य-[सदृश] पत्तों वाले,
ऋत=यज्ञ रूप पत्तों वाले । अथवा उपमा अर्थ में होवे । हिरण्य रंग के
पत्तों वाले, इति । प्रदिवः=पुराणः=सदा से चला आया तेरा वह अर्थ,
जिस को तेरे लिए विशेष कहते हैं । [ऋतस्य]=यज्ञस्य=यज्ञ के ले
जाओ मार्गों से । रजिष्ठैः=सरलतमों से । रजस्वलतमैः=आपः से अत्यन्त
आर्द्र हुए [मार्गों से], तपिष्ठतमैः=अत्यन्त आग्नेय मार्गों से अथवा । उस
की यह अपरा=और [चौथी ऋक्] होती ॥ १९ ॥

भाष्य—देवों को हवि ले जाने के मार्ग रजिष्ठतम, रजस्वलतम और
तपिष्ठतम हैं । हवि ले जाना अग्निः का सदा से चला आया कर्म है । ऊपर के मार्गों
में दो स्तर हैं । एक आप्य परमाणुओं से आर्द्र और दूसरा आग्नेय परमाणुओं
से अत्यन्त तपा हुआ ॥ १६ ॥

वनस्पते रशनया नियूयं पिष्ठतमया वयुनानि विद्वान् ।

वह देवत्रा दिधिषो हवींषि प्र च दातारममृतेषु वीचः ॥

[मै० सं० ४ । १३ । ७ ॥]

वनस्पते रशनया नियूय । सुरूपतमया । वयुनानि विद्वान् ।
प्रज्ञानानि प्रजानन् । वह देवान् [यज्ञे] दातुर्हवींषि । प्रब्रूहि च दातार-
ममृतेषु देवेषु ।

खाढाकृतयः । खाढा इत्येतत्सु आहेति वा । खा वागाहेति वा ।
स्वं प्राहेति वा । खाहुंतं हविर्जुहोतीति वा । तासामेपा भवति ॥ २० ॥

अर्थ—(वनस्पते) हे वनस्पते (रशनाया) रस्ती से (नियुय) बाध कर (पिष्टमया) मुष्प वाली से (वसुनानि) प्रज्ञानो=प्रकृष्ट ज्ञानो को (विद्वान्) जानता हुआ । (वह) ले जाओ (देवना) देवो के प्रति (दिधिप) दाता=देने वाले की (हवींवि) हवियों को (च) और (दातारम्) दाता को (अमृतेषु)=देवेषु=देवो मे (प्रबोध) कहो= उद्बोधित करो ।

हे वनस्पते रस्ती से बाध कर सुरूपतमया=अत्यन्त रूप वाली से वसुनानि=उत्कृष्ट ज्ञानो को विद्वान्=प्रज्ञानन्=पूर्ण जानता हुआ, ले जा देवो को [यज्ञ मे] दाता की हवियों को । प्रबुद्धि=विनाप कहो और दाता को [=दाता के विषय मे] देवो मे ।

[१२ आश्री] स्वाहाहृतय । स्वाहा, यह सु+आह=सुन्दर कहना अथवा । स्वा वाग्=अपनी वाक् कहती है अथवा । स्वम्=अपने को आह= कहता है अथवा । सु+आहुनम्=सुन्दर होम योग्य हवि को जुद्धोति=होमता है अथवा । तासाम्=उन [स्वाहाहृतियो] की यह [ऋक्] होती है ॥ २० ॥

भाष्य—वनस्पति अथवा अग्नि की सुरूपतमा रशनापुं=रसितया क्या है, यह जानना चाहिये । हवि वाहक अग्नि का इन रशनाओं के साथ कैसा रूप है यह अन्वेष्टव्य है । ये हवियाँ अमृतो=देवों में क्यों कही जाएँ, ये प्रश्न विचारणीय हैं ॥ २० ॥

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः ।

अस्य होतुः प्रदिश्यतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥

[ऋ० १० । ११० । ११ ॥]

सद्यो जायमानो निरमिमीत यज्ञम् । अग्निर्देवानामभवत् पुरोगामी । अस्य होतु प्रदिशि ऋतस्य वाचि आस्ये स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः, [इति यजन्ति] ।

इतीमा आग्निदेवता अनुवाग्ता ।

अथ किं देवताः प्रयाजन्त्याजाः । आग्नेया इत्येके ॥ २१ ॥

अर्थ—(सद्यः) तत्काल (जातः) उत्पन्न हुआ (यि अमिमीत) बनाता है (यद्यम्) यज्ञ को (अग्निः) अग्निः (देवानाम्) देवों का (अभवत्) हुआ (पुरः गाः) आगे जाने वाला । (अस्य होतुः) इस होता की (प्रदिशि) पूर्व दिश में [=आहवनीय में] (ऋतस्य) आए हुए की (वाचि) वाक् में (स्वाहाकृतम्) स्वाहा की हुई को (हविः) हवि को (अदन्तु) खाएं (देवाः) देव ।

तत्काल उत्पन्न हुआ हुआ बनाता है । अग्निः देवों का हुआ पुरोगामी =अग्रगामी । इस होता की प्र-दिशि=प्रकृष्ट दिशा में=पूर्व दिशा में, आए हुए की वाक् में, मुख में स्वाहा की हुई हवि को खाएं देव । [इस अभिप्राय से यज्ञ करते हैं ।]

ये आप्री देवता अनुक्रम से कह दिए ।

अब किस देवता वाले प्रयाज और अनुयाज [हविर्याग होते हैं ।] अग्निः देवता वाले हैं, यह एक [पक्ष के आचार्य कहते हैं] ॥ २१ ॥

भाष्य—ब्राह्मण ग्रन्थों में संसार के मूलभूत अग्निः की उत्पत्ति कई बार हुई, कही गई है यह किस चार की अग्निः की उत्पत्ति का उल्लेख है, यह विचारणीय है । पुरोगाः पद के आधार पर अग्निः का अग्रणी निर्वचन विचार गया ॥ २१ ॥

प्रयाजान्मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम् ।

घृतं चापां पुरुषं चौपधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः ॥

[ऋ० १०।५१।८ ॥]

तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः ।

तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः ॥

[ऋ० १०।५१।९ ॥]

आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् ।

छन्दोदेवता इत्यपरम् ।

छन्दोसि वै प्रयाजारछन्दोस्यनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् ।

ऋतुदेवता इत्यपरम् ।

ऋतमो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् ।

पशुदेवता इत्यपरम् ।

पशमो वै प्रयाजाः पशवोऽनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् ।

प्राणदेवता इत्यपरम् ।

प्राणा वै प्रयाजाः प्राणा वा अनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् ।

आत्मदेवता इत्यपरम् ।

आत्मा वै प्रयाजा आत्मा वा अनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् ।

आग्नेया इति तु स्थिति । भक्तिमात्रमितरत् । किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

यस्यै देवतायै हविर्हृद्दीप्तं स्यात्तां मनसा ध्यायेत्पट्त्रिभ्यन् ।
[वे० ब्रा० ११ । =] इति ह विश्वावते ।

तान्येतान्येकादशमीसूक्तानि तेषां । वासिष्ठम् आग्नेयं वाष्यश्वं
गार्त्समदम्—इति नाराशंसयन्ति । मैश्वरिथं दीर्घतससं मैविकम्—
इत्युभययन्ति । अतोऽन्यानि तनूनपात्यन्ति तनूनपात्यन्ति ॥ २२ ॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ।

अर्थ—[सोचीक अग्नि और विभेदेवा के संवाद में सोचीक अग्नि
कहता है ।] (प्रयाजम्) प्रयाज होमों को (अनुयाजान् च) और
अनुयाज होमों को (केषलान्) केषल [मेरे निमित्त, नही और देवताओं
के लिए] (ऊर्जस्वन्तम्) ऊर्जस्वन्तम् रूप सारभूत (हविष) हवि के
(दत्त) दो (मागम्) भाग को । (घृतम्) घृत को और (अयम्) आय
के, (पुत्रं च ओषधीनाम्) और सारभूत माग को [दो] ओषधियों
के । (दीर्घम् आयु अम्नु) दीर्घ आयु [मेरा] हो (देवा) है [विभे]
देवा ।

[उत्तर में विश्वे देवा ने कहा—]

(तव) तेरे प्रयाज होम और अनुयाज होम (केशलाः) केवन (ऊर्ज-
स्वन्तः) [और] सारभूत (ह्यधिपः) हवि के (सन्तु) हों, भाग । तेरा
हे अग्ने, यज्ञ यह हो (सर्वः) सारा । तेरे लिए (नमन्ताम्) भुके दियाएं
चारों ।

[इस प्रकार प्रयाज और अनुयाज आग्नेय=अग्निः देवता के हैं ।]
आग्नेय निश्चय ही प्रयाज [और] आग्नेय अनुयाज [हैं ।] यह और
ब्राह्मण [है ।]

छन्दो देवता [वाले] यह अपर [दूसरा] मत [है ।]

छन्द निश्चय से प्रयाज [और] छन्द अनुयाज [हैं ।] यह और
ब्राह्मण [है ।]

ऋतु देवता [वाले] यह अपर [तीसरा] मत [है ।]

ऋतुएं निश्चय से प्रयाज [और] ऋतुएं अनुयाज [हैं ।] यह और
ब्राह्मण [है ।]

पशु देवता [वाले] यह अपर [चौथा] मत [है ।]

पशु निश्चय से प्रयाज [और] पशु अनुयाज [हैं ।] यह और ब्राह्मण
[है ।]

प्राण देवता [वाले] यह अपर [पाँचवां] मत [है ।]

प्राण निश्चय से प्रयाज [और] प्राण अनुयाज [हैं ।] यह और
ब्राह्मण [है ।]

आत्म देवता [वाले] यह अपर [छठा] मत [है ।]

आत्मा निश्चय से प्रयाज [और] आत्मा अनुयाज [है ।] यह और
ब्राह्मण [है ।]

आग्नेय [हैं], यह वस्तुस्थितिः=निष्कर्ष है । भक्तिमात्रम्=उपचार
मात्र=गुणों का सूक्ष्म विभाग मात्र इतरत्त्व=दूसरे [मत हैं ।]

किस लिए फिर यह कहा जाता है ?, जिस देवता के लिए हवि ग्रहण
की हुई हो, उस का मन से ध्यान करे वषट् करिष्यन्=वषट् [कार]
करते हुए । यह विशेष ज्ञान है ।

तो वे एवादश आग्नी सूक्त [है] सेवाम्=उन में से वासिष्ठम्=वसिष्ठ का [७।१।३] आत्रेयम्=अत्रि का [५।१।५] वाष्यम्=वाष्य का [१०।६।२] और गार्समदम्=गृत्समद का [२।१।३] वे नराराम देवता वाल [है] मेघलियि का [१।४।२] दीर्घतमा का [१।२१।३] [और] प्रैपो [मे० म० ३ ' ११।१७] म कहा, य दानो देवता [नराराम और तनूनपात्] वाले [है] इन म भिन्न [अथात्—अगस्त्य का अङ्गिरा का १।२४।६, विश्वामित्र का २।१।४, करष्य का ९।१।२, जमदग्नि का १०।९।११] तनूनपात् वाल है ॥ २२ ॥

भाष्य—सौचीक अग्नि और त्रिवेदेका आधिदैविक वा आधिभौतिक है । अथा घृतम्, समार में स्नेहाण अथा का ही एक रूप है । अन्तरिक्ष और धी म यह कैम बनना है यह जानना चाहिए । आग्नी देवता में नराराम और तनूनपात् देवता का विकल्प माना गया है । अत वेद में आग्नी सूक्तों भी में कहीं नराराम, कहीं तनूनपात् और कहीं दोनों ही देवता हैं ॥ २२ ॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ।

अथ नवमोऽध्यायः

अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते तान्यतोऽनु-
क्रमिष्यामः । तेषामश्वः प्रथमागामी भवति । अश्वो व्याख्यातः । तस्यैषा
भवति ॥ १ ॥

अर्थ—अब जो पृथिवी मण्डल के आश्रय वाले सत्त्वानि=पदार्थ स्तुति
को प्राप्त करते हैं, उन्हें यहां से आगे क्रम से कहेंगे ।

१. अश्वः । उन में से अश्व प्रथमागामी [निघण्टु ५ । ३ । १] होता
है । अश्व व्याख्यात हो चुका है [निर० २ । २७ ॥] उन की यह [ऋक्]
होती है ॥ १ ॥

भाष्य—अब निघण्टु के पांचवें अध्याय के तीसरे खण्ड से यास्क का भाष्य
आरम्भ होता है । निघण्टु का पांचवां अध्याय दैवत प्रकरण का है । उस का
आरम्भ अग्निः देव से हुआ है । अग्निः पृथिवी स्थानी है अब इस दैवत प्रकरण में
उन दिव्य पदार्थों की व्याख्या है । जिन का आयतन पृथिवी मण्डल तक है । वेद
में अश्वः, शकुनिः, मण्डूकाः आदि ऐसे अनेक पद हैं, जो दिव्य पदार्थों के
द्योतक हैं । उन की गणना दैवत प्रकरण में ही ठीक थी ।

उन पदार्थों का आयतन पृथिवी तक है । पृथिवी के प्रसङ्ग में उन की स्तुति
देवतावत् नहीं, प्रयुक्त साधारण पदार्थवत् होती है । उन की स्तुति प्रयुक्त नहीं
हुई, पर उन को स्तुति प्राप्त हो गई है । अतः यास्क ने स्पष्ट लिखा कि—

यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते । इस पृथिव्यायत-
नानि पद की व्याख्या शौनक ने बृहद्देवता में की है । यथा—

यद्यत्र पृथिवीस्थानं पार्थिवं चाग्निमाश्रितम् । १ । १०५ ॥

इन पदार्थों की पहुंच पृथिवी तक इस लिए है कि वे पार्थिव अग्नि का आश्रय
भी लिए हुए हैं । इसी अभिप्राय से द्वात्रापृथिवी भी पार्थिव अग्निः के आश्रय को
लेते हैं । अन्यथा द्यौ का पृथिवी आयतन हो ही नहीं सकता । पार्थिव अग्नि के
आश्रय पर होने से ही ये ३६ पदार्थ जिन में द्वात्रापृथिवी आदि भी हैं, निघण्टु

के इस ५।३ खण्ड में पढ़े गए हैं। हां, इतना ठीक है कि इन में से कई एक पदों से पार्थिव पदार्थों के नाम भी सर्गारम्भ में रखे गए थे। इस विषय पर विचार करते समय पूर्व निघन्त २।२४ का हमारा भाष्य भी देखना चाहिए।

इन सब पदों का दिव्य अर्थ वेदविद्या की सूक्ष्मता पर आश्रित है। जब इन्द्र दिव्य है, तो उस का धनु, ज्या और इषु भी दिव्य हैं। वे दिव्य होते हुए भी देवता नहीं हैं। इसी लिए निघन्त ७।४ में कहा—अपि ह्यदेवता देवता यत् स्तूपन्त। यथा—अश्वत्थनीन्योपधिर्यन्तानि।
इतरे तमज्ज-मातो भवन्ति।

अर्थात्—यथा सूर्य के अश्व और रथ सूर्य से उत्पन्न हुए हैं, वैसे इन्द्र के धनु आदि भी इन्द्र से ही उत्पन्न हुए हैं। पर यह धनु पृथिवी और पार्थिव अग्नि पर आश्रित है। अतः देवता न होने पर भी पृथिवी अग्नि पर आश्रित पदार्थों ने भी स्तुति प्राप्त की है ॥ १ ॥

अश्वो वोढ्वा मुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।

शेषो रोमश्चन्ती भेदी वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायिन्द्रो परि स्रग् ॥

[अ० ६।१२।४ ॥]

अश्वो वोढ्वा। सुख वोढ्वा [रथ वोढ्वा] सुखमिति कल्याण नाम। कर्याण पुण्यम्। सुदित भवति। [सुदित गम्यतीति वा। दमैता वा। पाना वा पालयिता वा। शेषमृच्छतीति। वारि वारयति।] मा तो व्याख्यात। तस्यैवा भवति ॥ २ ॥

अर्थ—[इस मन्त्र का रूपि शिशु आङ्गिरस है। देवता बृहद् देवता के अनुसार इन्द्र और अम्यत्र पवमान सोम है।] (अश्व) अश्व, (वोढ्वा) वाहक=खेचने वाला (सुखम्) सुन्दर कल्याणशुक्त और पुण्य (रथम्) रथ को। (हसनाम्) हमना को (उपमन्त्रिण) मन्त्रणा वाला वा (शेष) गण। (रोमश्चन्ती भेदी) रोमो जाने दो भेद। (वारिन्) वारि को (मण्डूक) मण्डूक (इच्छति) चाहता है। (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (इन्द्रो) हे सोम (परि स्रग्) बह जाओ।

अश्वः वोढा=अश्व वाहक । सुखपूर्वक वाहक । [रथ को खींचने वाला ।] सुख यह कल्याण का नाम है । कल्याण पुरण [है ।] सुहितम्= सुन्दर हित होता है । [सुन्दर हित को गम्यति=पहुँचाता है अथवा । हसैता वा । पालक अथवा, रक्षक अथवा । श्रेय को प्राप्त होता है । वारि= [तृषा को निवारण करता है ।] मा नो व्याख्यात है । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २ ॥

भाष्य—इस मन्त्र में अनेक संकेत हैं । इन्द्राय इति पाठ इस सूक्त के चारों मन्त्रों के अन्त में है । उस से पूर्व का सारा पाठ एक अनुष्टुप् सा है । इस मन्त्र के भाष्यांश का कोष्ठगत पाठ भी निरुक्त की एक शाखा में नहीं है । दुर्गवृत्ति इस सारे पाठ पर नहीं है । संभवतः यह खगड किसी अन्य निरुक्त से यहां समाविष्ट हुआ है । इस के विषय में सरूप के संस्करण का टिप्पण ५ द्रष्टव्य है ॥ २ ॥

मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्रं ऋभुक्षा मरुतः परि ख्यन् ।
यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तैः प्रवच्यामो विदथे वीर्याणि ॥

[ऋ० १ । १६२ । १ ॥]

यद्वाजिनो देवैर्जातस्य सप्तैः सरणस्य प्रवच्यामो यज्ञे विदथे वीर्याणि । मा नस्त्वं मित्रश्च वरुणश्चार्यमा चायुश्च वायुः । अयनः । इन्द्रश्चोरुक्षयणः । ऋभूणां राजेति वा । मरुतश्च परिख्यन् ।

शकुनिः । शक्नोत्युन्नेतुमात्मानम् । शक्नोति नदितुमिति वा । शक्नोति तक्तितुमिति वा । सर्वतः शङ्करोऽस्त्विंति वा । शक्नोतेर्वा । तस्यैवा भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—(मा) मत (नः) हमें, मित्र, वरुण, अर्यमा, आयु, इन्द्र [जो] ऋभु+क्षा=विस्तृत निवास वाला, [और] मरुतः (परिख्यन्) प्रतिवाद करे ।

(यत् वाजिनः) जो वाजी के (देवजातस्य) देवों से उत्पन्न हुए के (सप्तैः) अश्व के (प्रवच्यामः) भले प्रकार कहेंगे (विदथे) यज्ञ में (वीर्याणि) पराक्रमों को । जो वाजी के, देवों से उत्पन्न हुए के, सप्तैः=अश्व

के सरणम्य=मरकते वाले के, भने प्रकार कहेये, यज्ञ म पराक्रम को । मन्
हम तुम, मित्र और वरुण और, अर्पमा और, आयु=यायु और अयन ।
इन्द्र और, उरुक्षयणु=विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में निवाम याया । ऋभुओ का
राजा अथवा, मरुत और, परिष्यन्=प्रतिवाद करें ।

१. शकुनि । शक्नोति=समर्थ हाता है उम्नेतुम्=उपर ले जाने को
आन्मानम्=अग्ने आप को । समर्थ होता है नदितुम्=नाद करने को=
बोलने को अथवा । समर्थ होता है तक्रितुम्=उद्हन को अथवा । सब ओर
म कल्याणकारी हो अथवा । शक्नोति से अथवा । उम को यह [ऋक्]
होती है ॥ ३ ॥

भाष्य—सभवाची वाजी शब्द गन्धर्वों में प्रयुक्त होता है यथा—

[अग्ने] वाजी [भूदया] गन्धर्वांन् [अवदत्]

शत० १० । ६ । ४ । १ ॥

अयन पद अस्पष्ट है । सभवा वायुरयन इन्द्रश्च, होते । इन्द्र ऋभुओं
का राजा है । प्रवक्ष्याम बहुवचन का प्रयोग द्रष्टव्य है । वेदमन्त्र स्पष्ट कहता
है कि यहा देवजातस्य वाजी का वर्णन है । यह वाजी सूर्य से सम्बन्ध रखता
है । पर उस का आश्रय पार्थिव अग्नि देव भी है । जिस प्रकार वैश्वानर अग्नि
सूर्य से सम्बन्ध रख कर भी यह पार्थिव अग्नि होता है वैसे ही इस सभ के
विषय में समझना चाहिए । अवर कावोन वाजिकों ने इस मन्त्र का सम्बन्ध
यज्ञ में घोड़े के काटने आदि के साथ जोड़ा है यह पक्ष प्रशस्त नहीं ॥ ३ ॥

कर्निक्रदज्जनुर्षु प्रवृणुण इर्यन्ति वावमरितेनु नावम् ।

सुमङ्गलश्च शकुने भवसि मा त्वा का चिदभिभा विश्वया विदत् ।

[अष्ट० २ । ४२ । १ ॥]

न्यकन्द्रीज्जन्म प्रवृणुण । यथास्य शब्दस्तथा नाम । इर्यति
वाचम् । इर्यितव नावम् । सुमङ्गलश्च शकुने भव । कर्वाणमङ्गल ।
मङ्गलं गिरतसुंणत्यर्थे । गिरत्यनर्थानिति वा । अङ्गलमङ्गलत् । मङ्गलति
पापकमिति नैरुक्ता । मा गच्छदिविति वा । मा च त्वा काचित् ।
अभिभूति सर्वतो विदत् ।

गृत्संमदमर्थमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे । तदभिवादिन्येपरम-
चति ॥ ४ ॥

अर्थ—(कनिकद्रत्) वार-वार कूजता हुआ (जनुपम्) [अग्ने]
जन्म को (प्रवृथाणः) कहता हुआ (इयति) प्रेरता है (वाचम्) वाणी
को, (अरितेव) नाविक जैसे (नावम्) नाव को । (सुमङ्गलः च)
सुन्दर मङ्गल वाला (शकुने) हे शकुने (भवासि) हो, (मा त्वा) मत
तुझे [हे शकुने] (का चित्) कोई भी (अभि भा) तिरस्कार
(विश्वया) किसी ओर से (विदत्) जाने ।

नि+अक्रन्दीत्=वार-वार कूजता है: जन्म को बहृत कहता हुआ ।

जैसा इस [शकुनि] का शब्द है, वैसा [इस वा] नाम [है ।]
ईरयति वाचम्=प्रेरता है वाणी को, ईरयिता इव=नाविक के समान नाव
को । सुन्दर मङ्गलमय हे शकुने=चिड़े होवो । कल्याण=सुन्दर मङ्गल
वाला । मङ्गलम्=गिरति से, गृणाति=स्तुति करता है, अर्थ में । गिरति=
निगलता है अनर्थों को अथवा । अङ्गलम्=अङ्ग वाला । मज्जयति=डुवा
देता है पाप को, यह नैरुक्त [कहते हैं ।] मुझे प्राप्त हो अथवा । मत और
त्वा=तुझे कोई [अभिभा]=अभिभूति: किसी ओर से विदत्=जाने ।

गृत्समद को अर्थम् अभ्युत्थितम्, किसी अर्थ के लिए उठ कर तय्यार
हूए को [शकुनिः]=कपिञ्जल=चिड़ाने अभिववाशे [सिद्धि सूचक] शब्द
किया । उस की कहने वाली यह ऋक् होती है ॥ ४ ॥

भाष्य—जैसा कूजन शब्द वैसा कपिञ्जल नाम । शब्दानुकृति की छाया
इस नाम में दिखाई देती है । ईरयिता=प्रेरक=नाविक । अरित, यावनी अपभ्रंश
eretes=नाविक । अङ्गरेजी अपभ्रंश oar=चप्पु इसी से सम्बन्ध रखता है ।
मङ्गल पद के निर्वचन में यास्क ने अपूर्व ऊहा प्रदर्शित की है । पक्षियों के वाशन
विषय में पराशर आदि की ज्योतिष संहिताओं में उल्लेख मिलता है ॥ ४ ॥

भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद !

भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जलः ॥

इति सा निगद्व्याख्याता । गृत्समदो गृत्समदन । गृत्स इति मेधाविनाम । गृत्सात् स्तुतिकर्मण ।

मण्डूका मञ्जूका मज्जनात् । मदतर्वा मोदतिकर्मण । मन्दतेर्वा । तृत्तिकर्मण । मण्डयतेरिति वैयाकरणा । मण्ड एषामोक इति या । मण्डो मदेर्वा । मुदेर्वा । तेषामेवा भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—भद्र कहो दक्षिण से भद्र उत्तर से कहो । भद्र मानने से हमारे लिए कहो भद्र पीछे से हे कपिशल ।

यह वह [ऋक्] स्पष्ट व्याख्यात है । गृत्समद =मेधा और ह्य वाला । गृत्स यह मेधावि का नाम [है ।] गृत्साति से स्तुति अर्थ वाले से ।

३ मण्डूकाः । मञ्जूका =डुबकी लगाने से । मदति स अथवा । मोदति=हृषित होता है अर्थ वाले से । मन्दति से अथवा तृप्ति अर्थ वाले से । मण्डयति से यह वैयाकरण [बताते हैं ।] मण्डे=जल में इन का ओक =निवास [है] अथवा । मण्ड मद=हर्ष से अथवा मुद में अथवा । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ५ ॥

भाष्य—वैयाकरणों ने मण्ड धातु कदिवत किया है । भद्र बद प्रतीक वाला मन्त्र भिन्न पाठ में मिलता है । यास्क ने पूर्व सखट के अन्त में इसे ऋक कहा है । निसन्देह यह मन्त्र किसी आर्ष शास्त्र में था ॥ ५ ॥

सवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।

यार्चं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अथादिपुः ॥

[ऋ० ७ । १०३ । १ ॥]

सवत्सर शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणोऽथवाणा । अपि वोपमार्थं स्यात् । ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति । यार्चं पर्जन्यप्रतिष्ठा अथादिपुर्मेण्डूका ।

यसिष्ठो वर्षकाम पर्जन्यं तुषाय । तं मण्डूका अन्यमोदन्त । स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुषाय । तदभियादिन्यवर्त्मवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(संवत्सरम्) संवत्सर पर्यन्त (शशयानाः) [मूक] लेटे रहने वाले (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (व्रतचारिणः) व्रतचारी । (वाचम्) वाणी को (पर्जन्यजिनिताम्) मेघ से प्राति की गई को [अनुमोदन करते हुए] (मण्डूकाः) मण्डूक (प्र अवादिपुः) बोले ।

संवत्सर पर्यन्त शिशयानाः=लेटे हुए ब्राह्मणाः=ब्राह्मण, [मौन] व्रत पर आचरण करने वाले । अथवा उपमा अर्थ में होवे । ब्राह्मणों के समान व्रतधारी । वाणी को पर्जन्य से प्रीति की गई को बोले मण्डूक । वसिष्ठ ने वर्षा की कामना वाले ने पर्जन्य की स्तुति की । उस को मण्डूकों ने अनुमोदन किया । वह [वसिष्ठ] मण्डूकों को अनुमोदन करते हुआ को देख कर नुष्ट्राव=स्तुति करता हुआ । उस के कहने वाली यह ऋक् होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—संवत्सर पद का उपचार मात्र है । अधिक से अधिक मण्डूक दस मास लेटे रहते हैं । ये मण्डूक मध्यम स्थान के देवी ब्राह्मण है । दे ही सोमिनः है । इसी लिए इस सूक्त की आठवीं ऋक् में कहा है—

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रतु ब्रह्म कुरुवन्तः परिवत्सुरीणम् ।

अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चिन्त ॥

अर्थात्—ब्राह्मणों ने सोम वालों ने [वेद] वाक् को किया । ब्रह्म=वेद को करते हुए वार्षिक को । अध्वर्यु तपे हुए, स्वेद वाले होते हुए प्रकट होते हैं, गुह्य नहीं काई-भी ।

इस सरल पर अत्यन्त गूढ रहस्य वाले मन्त्र का एच. डी. वेलङ्करजी ने निम्न उद्धृत अनुवाद अंग्रेजी में किया है—

“These Soma-offering priests have raised their voice, reciting their annual prayer. These perspiring-priests surrounded by heat, all come out, none lies concealed.”

यहां ब्राह्मणासः और अध्वर्यवः इन दो भिन्न पदों का एक ही अर्थ priests उचित नहीं ठहरता । और ब्रह्म पद का अर्थ भा ठीक नहीं किया गया । यदि वेलङ्करजी को वेद ज्ञान का मूल तत्त्व ज्ञात होता, और वे मन्त्रों की उत्पत्ति का दिव्य क्रम ध्यान में किए होते, तो ऐसा भद्दा अर्थ न करते । मण्डूकों को केवल पार्थिव मण्डूक समझना ही इस मूल का कारण है ।

मैकदातल ने ब्राह्मणास और अध्वर्यव' पदों का अर्थ नहीं किया। यह अग्नि
 किया। पर मन्त्र का prayer अर्थ उस ने भी युक्त नहीं किया। यहां ब्रह्म पद
 मन्त्र के लिए और वाचम् पद मन्त्रों अथवा वाणी के लिए ही हैं। यह भाव
 समझते ही वेद का देवी स्वरूप सामने आ जाता है। मैकदातल और वेङ्कटर ने
 वाचमन्त्र का अर्थ अनुवाद किया—'raised their voice'

इस के साथ तुलना कीजिए द्वितीय, सप्तम और दशम मण्डल के अगले
 मन्त्रों की—

१. उच्चा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विभ्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि ।
 २।२३।२ ॥

२. ब्रह्म स्तोम शृत्समदासो अक्नु ॥ २।४०।८ ॥

३. ये च पूर्व ऋषयो ये च नूतना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्ति विधा ।
 ७।२२।१ ॥

४. म ब्रह्मेतु सद्नादृतस्य ॥ ७।३९।१ ॥

५. ब्रह्म शृष्वन्तो हरिषो वसिष्ठा ॥ ७।३७।४ ॥

६. स्युसाञ्च बभ्रव' वाचमन्त्रे ॥ १०।३४।६ ॥

७. वसिष्ठासो पितृवद् वाचमन्त्रत । १०।३९।१४ ॥^१

८. सुपर्णा वाचमन्त्रत । १०।३४।६ ॥^२

जो मण्डल दिव्य वाक् के करने वाले हैं वे वेतस आदि के साथी भौतिक
 परमात्माओं के सवात अन्तरिक्षत्व हैं। उन्हीं के कुछ श्रुतियों के आधार पर पृथिवी
 पर के मण्डलों का नामकरण हुआ है। इन का आशय पार्थिव अग्नि पर है।
 अतः मण्डल सूक्त में पार्थिव मण्डलों का अरात ग्रहण है पर सत्र आकर्षण
 नहीं हो सकना। वाक् की महती श्रुतिविद्या है। अतः उस ने पार्थिव अरा के
 जानने के लिए प्रस्तुत मन्त्र का एक दूसरा अर्थ भी बना दिया। यह है—
 ब्राह्मणा इष अतचारिण इति। माण्ड्यों के समान अत का आचार्य करने
 वाले। इस उपमा से मन्त्र में पार्थिव मण्डलों का कुछ आभास मिल जाता है।

आधिभौतिक मण्डलों का अर्थान रातपय में है। यथा—

१. इदरेवता ७।१०७ में अनुवाद यह—लौति " वाचं च सप्यमाम् ।
 सप्यमा वाक् की स्तुति है।

२. पूर्व १।२४ के अन्त्य में भी उद्धृत। तथा देखो पूर्व ६।६ ॥

पतङ्गे यथैतं प्राणा अरयो ऽवे ऽङ्गि समन्कुर्वन्तमङ्गिरयोऽस्ता
 आपः समस्कान्दस्ते मण्डूका अभवन् । ६ । १ । २ । २१ ॥

मन्त्र में ब्राह्मण के मत की सही प्रशंसा है । इस मन्त्रगत ब्राह्मण पद के
 निर्वचन का उद्धारण देते हुए, भट्ट कुमारिल ने—ब्राह्मणो.....अवशात्
 इति, पाठ निरूप से उद्घटन किया है । इस पर कुमारिल ने प्यत्त से उपहाम भी
 किया है । यह बात सरूप जी के संस्करण के पृ० १६० के १६ टिप्पण में
 व्यक्त की गई है । यह टिप्पण मेरे द्वारा लिखाया गया था । निरूप के उपलब्ध
 पाठों में यह निर्वचन बदल कर, और अत्रयाणाः निर्वचन दिग्ग कर, उस का
 व्रतचारिणाः पद से सम्बन्ध जोड़ा गया है । सम्भवतः कुमारिल की चोट से
 भयभीत हो कर यह पाठ बदला गया है । पर कुछ हस्तलेखों से उस पुराने पाठ
 का अस्तित्व अब भी ज्ञात हो जाता है ।

यहां पर प्रसक्त में घसिष्ट और मण्डूक दोनों दिव्य हैं ॥ ६ ॥

उप प्र वंद मण्डूकि वर्षमा वंद तादुरि ।

मध्ये ह्रदस्य प्लवस्य विष्टा चतुरः पदः ॥

[अथ० ४ । १५ । १४ ॥]

इति सा निन्द्याख्याता ।

अज्ञाः । अशुचत एनानिति वा । अभ्यशुचत पभिरिति वा ।
 तेषामेवा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—समीप में बोल, हे मण्डूकि, वर्षा को कहो हे तैरने वाली,
 मध्य में ह्रद=तड़ाक के तैरो पृथक् (=कैला) कर के चारों पैरों को ।
 यह स्पष्ट व्याख्यात है ।

४. अज्ञाः । व्यापते हैं इन को [चूत खेलने वाले] अथवा । सब ओर
 से प्राप्त करते हैं, [धन को] इन [अत्तों] के द्वारा अथवा । उन को यह
 [ऋक्] होती है ॥ ७ ॥

प्रावेपा मां वृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः ।

सोमस्येव मौजवतस्य भवो विभीदको जायृविर्महामच्छान् ॥

[ऋ० १० । ३४ । १॥७]

प्रवेपिणो मा मन्तो विभीदकस्य फलानि मादयन्ति । प्रवातेजा
प्रयतेजा । इण्डिणे वर्तमाना । इण्डिणु निरुण्णम् । ऋणात् । अपार्ये
भवति । अपरता अस्मान्पोषय इति वा । [सोमस्यव मौञ्जवतस्य
भक्ष ।] मौञ्जवतो मूञ्जवति जात । मूञ्जवान् पर्वत । मुञ्जवान् । मुञ्जे
विमुच्यत इपीकया । इपीका इपतर्गैतिकर्मणु । इयमपीतरपीका
एतस्मादेव । विभीदको विभेदनात् । जागृधिर्जागरणात् । महामच
च्छ्रान् ।

प्रशसयेता-प्रथमया । मि द युक्तराभि । ऋषेरक्षपरिदुयूनस्यै
तदार्ष वदयन्ते ।

प्रावाणो इन्तर्था । गृणातर्था । गृह्णातर्था । तपामपा भवति ॥ = ॥

अर्थ—(प्रावेपा) आगे पीछे डिलते हुए-कापते । ए (मा) मुझे
(गृह्णात) महान् [वृष के फल अथ] (मादयन्ति) मद युक्त करते हैं
(प्र वात+जा) प्रकृष्ट वात स्थान में जमे (इण्डिणे) निरुण स्थान में
(वृष्टाना) वर्तमान । (सोमस्य) सोम के (मौञ्जवतस्य) मूञ्जवान्
पर्वत के (भक्ष इव) भक्ष=भ्रम के समान (विभीदक) विभीदक [वृक्ष
का फल-अन्न] (जागृधि) जगाने वाला (महाम्) मेरे लिए (अच्छ्रान्)
प्रशंसा करता है ।

प्रवेपिणु = कापते हुए मा-मुझे महान् विभीदक वृक्ष के फल हणित
करते हैं । प्रवातेजा = प्रयतेजा = उत्तम वातस्थान में जमे इण्डिणे =
निरुण्णे कल रहित [जहा का ऋण पुत्र पोत्र में नहीं जाता] स्थान में
वर्तमान । ऋणाति में अप अण-अल रहित [भूमि] होती है । अपरता
= चली गई है इम [स्थान] से ओ मिया अथवा । सोम के मूञ्जवान् पर्वत
पर जमे के भक्ष के समान । मौञ्जवत - मूञ्जवान् में जा श । मूञ्जवान् पर्वत
[है ।] मुञ्जवान्-मुञ्ज वाला । मुञ्ज विमुक्त की जानी है इपीकया =
इपीका-तिली से । इपीका इपति से, गति अर्थ वाले से । यह भी दूसरी
इपीका इम से ही [है ।] विभीदक विष भेदन=तोड़ने-फोड़ने से ।
जागृधि-जागरण से । मुझे अच्छ्रान्=उत्साहित किया ।

प्रशंसा करना है यमान्-इन [अणो] को पहली बच स । निरुण
बस्ता है अगली [ऋषाओं] से । ऋषि का अल परिदुयूनस्य=अणो से
उत्पन्न हुए का यह अर्थ [है ऐसा] बताने हैं ।

५. प्रावाणः । हन्ति से अथवा । गृणाति से अथवा । गृह्णाति से अथवा । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ८ ॥

भाष्य—प्रावेपा मा इति, मन्त्र का ऋषि कवप पेलूप, अथवा अक्ष मौजवत है । यह कवप दाशराज युद्ध में स्मरण किया गया है । यह युद्ध एक विशुद्ध आधिभौतिक घटना है । उस में भाग लेने वाले भी आधिभौतिक हैं । अक्ष मौजवत भी आधिभौतिक है । वह घृत का ठीपा अथवा नदं नहीं । मूजवान् पर्वत पृथिवी और अन्तरिक्ष दोनों स्थानों में है । सोम उसी से सम्बन्ध रखता है । वेद में बताया अक्ष का ठीपा मूजवान् पर्वत के वृक्ष से बना माना गया है । निस्तन्देह यह समस्त वर्णन साधारण पार्थिव घृत-विषयक नहीं । हां, पार्थिव घृत की छाया इस में अवश्य है । इसी लिए यास्क ने अक्षाः को पार्थिव आयतन का कहा है ।

यास्क के अनुसार इस सूक्त में घृत निन्दा और कृषि प्रशंसा है । सर्वानुक्रमणी में अन्तरिक्ष प्रशंसा और अक्षकितव निन्दा दोनों हैं । इसी से स्पष्ट है कि अक्ष प्रशंसा का अंश दिव्य और निन्दा वाला पार्थिव है ।

अक्षसूक्त में, न्युत्ताश्च वभ्रवो वाचमक्रत । ५ ॥ त्रिपञ्चाशः क्रीळति घ्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा । ८ ॥ दिव्या अङ्गारा हरिणो न्युत्ताः । ९ ॥ पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि वभ्रून् सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥ ११ ॥ तन्मे वि चष्टेः सञ्जितायमर्षः ॥ १३ ॥ ये पाठ द्रष्टव्य हैं ।

वभ्रु अश्वों का सम्बन्ध इन्द्र से है । दिव्य अङ्गार क्या हैं । सविता का कवप पेलूप से क्या सम्बन्ध है । ये सब तथ्य इस सूक्त के आधिदैविक अर्थ का संकेत करते हैं ।

इस से आगे प्रावाणों का कथन है ॥ ८ ॥

प्रैते वदन्तु प्र वर्यं वदाम् प्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः ।

यदद्रयः पर्वताः साक्रमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः ॥

[ऋ० १० । ६४ । १ ॥]

प्रयदन्त्वेत । प्रयदाम वयम् । प्रायभ्यो वाचं यदत्त यदद्भ्य ।
यदद्रय पर्वता । अदरणीया । सद सोमम् । आशय क्षिप्रकारिण ।
ऋक् शृणोत । घोवो घुप्यत । सोमिनो यूय स्येति वा । सोमिनो
गृहेष्विति वा ।

येन नरा प्रशस्यन्त स नाराशस मन्त्र । तस्यैवा भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—[अर्बुद काद्रवेय सर्प वावाण को मूर्तिमान् के समान मान कर
स्तुति करता है ।] (एते) ये [प्राव] (प्रयदन्तु) पूरा बोले (वयम्)
हम (प्रयदाम) पूरा बोले । (प्रायभ्य) प्रायों के लिए (वाचं यदत्त)
वाक् को बोलो (यदद्भ्य) बोलन हुआँ के लिए । (यत्) जब (अद्रय
पर्वता) न दरण योग्य पर्वताग प्रावो (सायम् आशय) साय हो कर
शीघ्रता करते हुए (ऋक् घोयम्) श्लोक रूप घोय को (भरथ) धारण
करते हो (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (सोमिन) [तव] सोम वाले [ठहरते
हो ।]

प्रयदन्तु एते=पूरा बोलें ये प्राव । पूरा बोलें हम प्रावो के लिए वाक को
बोलो, बोलते हुआँ के लिए । जो अद्रय=अदरणीया =न दरण योग्य प्राव
सद=साय मिल कर सोम को आशय=शीघ्रकारी । ऋक् शृणोति से ।
घोय घुप्यति से । [तव] सोम वाले तुम ठहरते हो अथवा । सोम वाले
घरो में अथवा ।

६ नाराशस । जिम के द्वारा नर प्रशसा किए जाते हैं वह नाराशस
मन्त्र [होता है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ९ ॥

भाष्य—अर्बुद काद्रवेय सर्पों का राना था । देसा लेख शतपथ ब्राह्मण
१३।४।३।१ में है । उस की माता कद्रु थी । उस के विषय में गृहदेवता
में लिखा है—

प्रेत इत्युत्तर तु यत् ।

तत्रार्तु इस्तु प्रावार्यं मूर्तिमन्तमिवाचरति ॥ १४६ ॥

अर्थात्—प्र एते इति ऋक् द्वारा ऋषि अर्बुद मान को मूर्तिमान् के समान

ये सर्प कौल हैं । पृथिवी पर एक नाग जाति थी । उन का राजा नागराज अर्बुद था । उन का देश भारत के उत्तर पश्चिम में था । और सूर्य की रश्मियों में भी सर्प हैं । मन्त्र में कहा है—

ये अमी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु ।

ये अण्णु पदांसि चक्रिरे तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ यजुः १३ । ३ ॥

इन का राजा भी अर्बुद काद्रवेय है । यह भौतिक माया है । इस का सम्बन्ध अन्तरिक्षस्थ ग्रहों से है । धौ और अन्तरिक्ष के सोम को ये प्राव निचोढ़ते हैं , उन्हीं की माया का रूपक इस मन्त्र में वर्णित है ।

पृथिवी पर भी यज्ञों में ग्रहों द्वारा सोम निकाला जाता है । उन का पार्थिव सम्बन्ध बताने के लिए यास्क ने लिखा—सोमिनो गृहेषु, इति वा ॥ ६ ॥

अमन्द्ान्तस्तोमान्प्र भरे मनीषा सिन्धावधिं क्षियतो भाव्यस्य ।

यो मे सहस्रमर्मिमीत सवान्तूर्तो राजा श्रव इच्छमानः ।

[ऋ० १ । १२६ । १ ॥]

अमन्द्ान्तस्तोमान् । अवालिशाननल्पान्वा । वालो वलवर्ती भर्तव्यो भवति । अ धा ऽस्मा अलं भवतीति वा । अग्नास्मै वलं भवतीति वा । वलो वा प्रतिषेधव्यवहितः । प्रभरे । मनीषया मनस ईषया । स्तुत्या प्रह्वया वा । सिन्धावधि निवसतो भाव्यव्यस्य राक्षः । यो मे सहस्रं निरमिमीत सवान् । अतूर्तो राजा । अतूर्ण इति वा । अत्वरमाण इति वा । प्रशंसामिच्छमानः ॥ १० ॥

अर्थ—[दिव्य कक्षीवान् कहता है—] (अमन्दान्) नहीं मन्द=थोड़े (स्तोमान्) स्तोमों को (प्र भरे) पूर्ण रूप से रचता हूं, (मनीषा) स्तुति अथवा प्रज्ञा से (सिन्धौ) सिन्धु पर (अधि क्षियतः) निवास करते हुए (भाव्यस्य) भाव्य के । (यः मे सहस्रम्) जिसने मेरे लिए सहस्र को (अमिमीत) बनाया (सवान्) सोमयागों को (अतूर्तः) न शीघ्रता करने वाले (राजा) (श्रवः) यश को (इच्छमानः) चाहने वाले ने ।

अमन्दान्=प्रगलितान्=नही बचो के योग्य को, अनहगान्=नही थोड़ों को अथवा । बाल=वन से बर्तता है, भर्नव्य=भरण योग्य होता है [माना पिता द्वारा] अम्ना=माना अलम्=न्यास अस्मै=इनके लिए भक्ति होनी है, अथवा । माता इन के लिए [माता] बन होनी है अथवा प्रनियेध-व्यवहिन=नियेध के व्यवहान बाना । प्रमते=पूर्णतया रचना है । मनीषया=मन द्वारा गनिगोना स्तुति में अथवा प्रता से । सिन्धु पर निगान करने नए भावव्यप राजा की । शिव ने मेरे लिए बनाए सङ्घ मोम याग । अनूर्न राजा न चञ्चल ने अथवा । न गीत्रना करने बाने ने अथवा । प्रशाना को चाहने हुए ने ॥ १० ॥

भाष्य—विधामित्र शशिक् और कवीकान् आदि का वर्णन वेद में बहुत ही मित्रता है । विधामित्र सूर्य में जाने वाले ऋषियों में से कोई एक है । ऋषि अथवा कवि सूर्य की रक्षा करते हैं । वेद स्वयं कहता है—

सदम्रणीयाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् । ऋ० १० । १२४ । २ ॥

शशिक् और कवीकान् का शाव करना चाहिए । राजा बहण की अनेक नदियों की और अन्तरिक्ष में है । उन में सिन्धु भी है । उस सिन्धु पर कोई देवी सोमयाग हुए । उन का ज्ञान करना चाहिए ।

इन दिव्य राजाओं की स्तुति में जो मन्त्र हैं वे नारायण कहते हैं । भाष्य भी एक ऐसा राजा है । संभव है उसी के नाम पर किसी पार्थिव राजा ने भी अर्चना नाम में क्याय रखा ।

इस मन्त्र में और भी गूढ़ अभिप्राय है । यज्ञकर्म में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए । यहाँ स यश भी प्राप्त करना चाहिए ॥ १० ॥

यज्ञसंयोगाद्वाज्ञा स्तुति लभेत् । राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि । सेवा रथं प्रथमागामी भवति ।

रथं वहनेर्गतिवर्मणु । स्मिरतेर्था स्वाद्रिपरीतम्य । रममासोऽ-
स्मिन्निष्ठनीति या । स्पतेर्था । [रमतेर्था ।] तस्यैवा भवति ॥ ११ ॥

अर्थ—७ रथः । यज्ञ के संयोग से राजा स्तुति को प्राप्त करता है । राजा के संयोग से युद्ध के साधन । उन [युद्ध के साधनों] में से रथ प्रथम आने वाला होता है ।

रथः=रंहति से, गति अर्थ वाले से । स्थिरति से अथवा होवे, उलटा हूए से । रमण करता हुआ इस पर ठहरता है अथवा । रपति से अथवा । रसति से अथवा । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ११ ॥

भाष्य—दिव्य रथ के साहाय्य से पार्थिव रथ का भी घण्टन आगे किया जाता है ॥ ११ ॥

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।

गोभिः सन्नद्धो असि वीळ्यस्वाऽऽस्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥

[ऋ० ६।४७।२६ ॥]

वनस्पते दृढाङ्गो हि भव । अस्मत्सखा प्रतरणः । सुवीरः कल्याणवीरः । गोभिः सन्नद्धो असि । वीळ्यस्वेति संस्तम्भस्व । आस्थाता ते जयतु जेतव्यानि ।

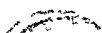
दुन्दुभिः, इति शब्दानुकरणम् । द्रुमो भिन्न इति वा । दुन्दुभ्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः । तस्यैवा भवति ॥ १२ ॥

अर्थ—(वनस्पते) हे वनस्पति के विकार रथ, (वीड्वङ्गः) दृढ अङ्गों वाला (हि भूया.) निश्चय से हो । (अस्मत् सखा) हमारा सखा (प्रतरणः) [संग्रामों से] भले प्रकार पार ले जाने वाला (सुवीरः) सुन्दर वीर [स्वरूप हो ।] (गोभिः सन्नद्धः असि) गोविकार चर्म और चर्वी=सरेश से जुड़ा हुआ तू है, (वीळ्यस्व) दृढ हो । (आस्थाता ते) चढ़ने वाला तेरे पर (जयतु) जीते (जेत्वानि) जीतने योग्य [शत्रुओं] को ॥

हे वनस्पते, दृढ अङ्गों वाला ही हो । हमारा सखा, [संग्रामों से] पार ले जाने वाला, कल्याण वीर [हो ।] गोविकार चर्म से जुड़ा हुआ है । वीळ्यस्व=संस्तम्भस्व=थामो [अपने को, टूटो मत ।] ठहरने वाला तुझ पर जीतने योग्यों को ।

८. दुन्दुभिः । यह शब्द के अनुकरण पर है । द्रुम=वृक्ष तोड़ा हुआ अथवा । दुन्दुभ्यति से अथवा होवे, शब्द अर्थ वाले से । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १२ ॥

भाष्य—इस मन्त्र में भी दिव्य और पार्थिव दोनों अंशों की छाया हे सभ्यम स्थान तो है ही वानस्पत्य स्थान ॥ १२ ॥



उप आसय पृथिवीमत् द्यां पुरुषा तं मनुतां विष्टितं जगत् ।

स दुन्दुभे सज्जुरिन्द्रेण देवैर्दूराद्वीषो अप सेधु शशून् ॥

[ऋ० ६ । ४७ । २६ ॥]

उपश्वासय पृथिवीं च दिव च । बहुधा त घोष मन्यता विष्टित
स्वावर जङ्गम च यत् । स दुन्दुभे सहजोपण इन्द्रेण च देवैश्च । दूराद्
दूरतरमपसेधु शशून् ।

इषुधि , इषूणा निधानम् । तस्येवा भविति ॥ १३ ॥

अर्थ—(उप श्वासय) अनु प्राणित कर दो-गु जा दो पृथिवी को
और द्यौ को (पुरश्चा) ब्रूत (स) तीर [शब्द को] (मनुताम्) माने
(विष्टितम्) स्वावर [और] (जगत्) जङ्गम । (स) वह [तू]
(दुन्दुभे) हे दुन्दुभे (सजू) प्रीति युक्त हुआ (इन्द्रेण) इन्द्र के साथ
[और] (देवै) देवों के साथ (दूराद् दूरीय) दूर से भी ब्रूत दूर
(शशून्) शशुओं को (अप सेधु) हटा दे ।

गु जा दो पृथिवी को और द्यौ को और । बहुत तेरे घोष को माने
स्वावर और जगम और जो कृत्त । वह [तू] हे दुन्दुभे दूर से अधिक दूर
हटा दे शशुओं को ।

६ इषुधि । तीरों का घोष । उस की यह [शब्द] होगी है ॥ १३ ॥

भाष्य—यह मन्त्र स्पष्ट कह रहा है कि जिस दुन्दुभि का यहां बर्णन है,
वह द्यौ तक को अनुप्राणित कर देता है । सर शब्द को मानें स्वावर और
जङ्गम ।' स्वावर दैत शब्द को माने । यह विज्ञान का विषय है । स्वावरो में भी
शब्द की यात्रा होती है । यह दुन्दुभि इन्द्र और देवों के साथ प्रीतियुक्त होता है ।
वस्तुतः उस का स्थान इन्द्र और देवों का स्थान है । इन्द्र मध्यम स्थानी और
देवों में से एक अग्नि पृथिवी स्थानी है । इस पार्थिव अग्नि के कारण दुन्दुभि
को पृथिवी आश्रित भी माना है । दिव्य दुन्दुभि स दूर स दूर तक के समुद्र
हस्त हैं । पार्थिव दुन्दुभि स साधारण प्रभाव होता है ।

सूनु घोष का कारणी अर्थ स 'तरकश' है ॥ १३ ॥

वह्नीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्वा कृणोति समनावगत्य ।

इपुधिः सङ्गाः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ॥

[ऋ० ६ । ७५ । ५ ॥]

वह्नीनां पिता । बहुरस्य पुत्रः । इतीपूनभिप्रेत्य । प्रस्मयत इवापा-
त्रियमाणः । शब्दानुकरणं वा । सङ्गाः सचतेः । संपूर्वाद्वा किरतेः ।
पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः । इति व्याख्यातम् ।

हस्तघ्नः हस्ते हन्यते । तस्यैषा भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—[यह इपुधि] (वह्नीनाम्) बहूतों का (पिता) पिता [और]
(बहुरः) वक्त (अस्य) इस का (पुत्रः) पुत्र [है ।] (चिश्वा) चिश्वा
शब्द (कृणोति) करता है । (समना) संग्राम में (अवगत्य) पहुँच कर ।
(इपुधिः) यह तूणीर (सङ्गाः) संकटों (पृतनाः च) और [शत्रु]
सेनाओं को (सर्वाः) सब को (पृष्ठे) पीठ पर (निनद्धः) बंधा हुआ
(जयति) जीतता है (प्रसूतः) [धनुषधारी से] फेंका गया ।

बहूतों का पिता, वक्त इस का पुत्र [है ।] यह इपुधियों को अभिप्राय में
रख कर [कहा है ।] चिश्वा कृणोति=प्रस्मयते इव=वक्त हंमता है, जैसे,
अपात्रियमाणः खोला जाता हुआ । [चिश्वा=चि-चि-चा का]
शब्दानुकरण [है] अथवा । सङ्गाः सचति से । संपूर्वक किरति से । पीठ
पर बंधा हुआ जीतता है फेंका गया ! यह व्याख्यात हुआ ।

१०. हस्तघ्नः । हाथ पर [बंधा हुआ धनुष की डोरी से] ताडित
होता है । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १४ ॥

भाष्य—मण्डल ६ का ७५ सूक्त पायु-भारद्वाज का है । भारद्वाज धनुर्वेद
का महान् ज्ञाता था । उस के कुल वाले श्रीर शिष्य प्रशिष्य भी धनुर्वेद-वेत्ता थे ।
यह पायु भी इस विद्या में प्रवीण था । पायु नाम इतिहास में मेरी दृष्टि में नहीं
आया । अतः पायु का अभिप्राय समझना चाहिए । पायु का एक अर्थ रक्षक भी
है । इस सूक्त में धनुः, ज्या, इपुधिः आदि ही देवता हैं । रुद्र का इपु होता है ।
रुद्रस्य हीपुः । शत० ६ । ५ । २ । १० ॥ यद्यपि ये इपु आदि देवी भी हैं,
पर इस मन्त्र में इपुधिः का वर्णन पार्थिव अर्थ में भी पूरा स्पष्ट है ॥ १४ ॥

अहिरिव भोगैः पयैति बाहु ज्याया हेति परिवार्यमानः ।

हस्तप्रो विद्या वयुर्नानि विद्वान्पुमान्पुमान्सं परिं पातु विश्वतः ॥

[ऋ० ६ । ७४ । १४ ॥]

अहिरिव भोगैः परिवेषयति बाहुम् । ज्याया वधापरिप्रायमाण । हस्तप्रः सर्वाणि प्रदानानि प्रजानन् । पुमान्पुरुषमता भवति । पु सतर्वा । अभीशवो व्याख्याता । तेजसेषा भवति ॥ १५ ॥

अर्थ—(अहि इव) सर्प के समान (भोगैः) शरीरों से (परिपति) लपेटता है (बाहुम्) भुजा [की कलाई] को (ज्याया) पत्यक्षा = डोरी की (हेतिम्) चोट को (परिवार्यमान) मव ओर से रोकता हुआ [यह] (हस्तप्रः) हस्तप्र (वयुर्नानि विद्वान्) सारे विद्वानों को जानता हुआ (पुमान्) पुरुष [के समान] (पुमान्) [इस योद्धा] पुरुष को (परि पातु) रक्षा करे (विश्वतः) चारों ओर से ॥

अहि के समान शरीरों से लपेटता है बाहु [की कलाई] को । डोरी के बंध में चारों ओर से रक्षा करता हुआ । हस्तप्र सारे विद्वानों को जानता हुआ । पुमान् = बहुवचन = उदार मन वाला होता है [स्त्री की अपेक्षा ।] पु सति स अथवा पुरुषार्थ करता है ।

११ अभीशव [३ । ९ में] व्याख्यात किए गए हैं । उन की यह [ऋक्] हीनी है ॥ १५ ॥

भाष्य—अहिरिव भोगै इति मन्त्र अन्तगत भोगै पद का शरीरि अर्थ व्याकरण महाभाष्य में दिया गया है ॥ १५ ॥

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुपारथिः ।

अभीशुर्ना महिमानं पनायत मनं पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः ॥

[ऋ० ६ । ७५ । ६ ॥]

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरस्ताम्बन । यत्र यत्र कामयत । सुपारथि कल्याणमारथि । अभीशुना महिमानं पूजयामि । मन पश्चात्सन्तोऽनुयच्छन्ति रश्मयः ।

अहिरिव भोगैः पर्येति वाहु ज्याया हेति परिवार्यमानः ।

हस्तमो विधा वयुनानि विद्वान्पुमान्पुर्मोमं परि पातु विश्वतः ॥

[ऋ० ६ । ७५ । १४ ॥]

अहिरिव भोगैः परिवेष्टयति वाहुम् । ज्याया यथात्परिभ्रायमाणः ।
हस्तम सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रज्ञानम् । पुमान्-पुरुमना भवति । पु सतर्वा ।
अभीशवो व्याख्याता । सेपामेपा भवति ॥ १५ ॥

अर्थ—(अहि इव) सर्प के समान (भोगैः) शरीरो से (परि
पति) लपेटता है (वाहुम्) भुजा [की कलाई] को (ज्याया) प्रत्यञ्चा
=डोरी की (हेतिम्) चोट को (परिवार्यमानः) सब ओर से रोकता हुआ
[यह] (हस्तम) हस्तम (वयुनानि विद्वान्) सारे विद्वानो को जानता
हुआ (पुमान्) पुरुष [के समान] (पुमासम्) [इस योद्धा] पुरुष को
(परि पातु) रक्षा करे (विश्वतः) चारो ओर स ॥

अहि के समान शरीरो से लपेटता है वाह [की कलाई] को । डोरी के
बध से चारो ओर से रक्षा करता हुआ । हस्तम सारे विद्वानो को जानता
हुआ । पुमान्=बहुत=उदार मन वाला होता है [स्त्री की अपेक्षा ।]
पु सति से अथवा पुरुषार्थ करता है ।

११ अभीशव [३ । ९ मे] व्याख्यात किए गए हैं । उन की यह
[श्रुत] होती है ॥ १५ ॥

भाष्य—अहिरिव भोगै इति मन्त्र अन्तगत भोगै पद का शरीरै अर्थ
व्याकरण महाभाष्य में दिया गया है ॥ १५ ॥

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुपारथिः ।

अभीशूना महिमानं पनायतु मनः पथादनु यच्छन्ति रश्मयः ॥

[ऋ० ६ । ७५ । ६ ॥]

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरस्तात्सत । यत्र यत्र कामयत ।
सुपारथि कस्याणसारथि । अभीशूना महिमानं पूजयामि । मन
पथात्सन्तोऽनुयच्छन्ति रश्मयः ।

धनुः । धन्वतेर्गतिकर्मणः । वधकर्मणो वा । धन्वन्त्यस्मात् इषवः ।
तस्यैवा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—(रथे) रथ पर (तिष्ठन्) ठहरा हुआ (नयति) ले जाता है
(वाजिनः) अश्वों को (पुगः) [रथ के] आगे [जुते अश्वों को] (यत्र
यत्र) जहाँ-जहाँ (कामयते) चाहता है (सु-सारथिः) चतुर सारथि ।
(अभीशूनाम्) रासों की (महिमानम्) महिमा को (पनायत) पूजा
करता हूँ (मनः पश्चात्) [जो सारथी के] मन के पीछे-पीछे (अनु
यच्छन्ति) नियम से चलती हैं (रश्मयः) रासों ।

रथ पर ठहर कर ले जाता है अश्वों को [जो] आगे [जुते] हैं ।
जहाँ-जहाँ चाहता है । सु-सारथिः=कल्याणसारथिः=चतुर सारथि, रासों
की महिमा को पूजता हूँ । [जो] मन के अनुगुण होती हुई नियम में
चलाती हैं रासों ।

१२. धनुः । धन्वति से गति अर्थ वाले से । वध अर्थ वाले से अथवा ।
धन्वन्ति=निकलते हैं इस से तीर । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १६ ॥

भाष्य—सु-सारथिः । ऐसे स्थानों में यास्क ने सु, उपसर्ग का अर्थ प्रायः
कल्याण पद से किया है । कल्याण पद का अर्थ सुन्दर आदि है, पर यहाँ चतुर
अधिक युक्त है । यहाँ चतुर ही सुन्दर है ॥ ३४ ॥

धन्व॑ना गा धन्व॑नाजिं जयेम॑ धन्व॑ना ती॒व्राः समदो॑ जयेम ।

धनुः॑ शत्रो॑रप॒क्रामं॑ कृ॒णोति॑ धन्व॑ना सर्वाः प्र॒दिशो॑ जयेम ॥

[ऋ० ६ । ७५ । २ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता । समदः समदो वाक्तेः । सम्मदो वा
मदतेः ।

ज्या जयतेर्वा । जिनातेर्वा । प्रजावयतीपूनिति वा । तस्या एषा
भवति ॥ १७ ॥

अर्थ—(धन्वना) धनु से (गाः) गौएँ (धन्वना) धनु से
(आजिम्) शर्त वाली दौड़ (जयेम) जीतें (धन्वना) धनु से (तीव्राः)

तीव्र-तुमुन् (समद) युद्धा को (जयम्) जीते । (धनुः) धनुष (शत्रो)
गत्र को (अप कामम्) विगत काम (कृणोति) करता है । (धन्वना)
धनुष से (सर्वा प्रदिश) सारी दिशाओ को (जयेम) जीते ।

यह वह [ऋक्] स्पष्ट ही व्याख्यात है । समद=सम्+अद= अथवा, अति से, खाता है । सम्+मद अथवा, मदति से, हृषित होना है ।

१३ ज्या । जयति स अथवा । जिनाति से, अथवा । प्रजायति
निकालती-के कती है तीरो को अथवा । उस की यह [ऋक्] होती
है ॥ १७ ॥

उच्यन्तावेदा गनीगन्ति र्ण्ये प्रिय सखायं परिपस्वजाना ।

योषेव शिङ्क्षते वितताधि धन्वन् ज्या इय समने पारयन्ती ॥

[ऋ० ६ । ७५ । ३ ५]

उच्यन्तीनामच्छ्रुति फलं प्रियमिष सखायमिषु परिपस्वजमाना ।
योषेव [शिङ्क्षते] शब्द करोति । वितताधि धनुषि ज्यर्थ समने
सङ्ग्राम पारयन्ती । पार तयन्ती ।

इषु । ईपतर्गतिकर्मणु । यथकर्मणो षा । तस्यैव भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—(उच्यन्ती इय इत्) कहगी, इन के समानही (आ गनीगन्ति)
पाम आती है (फलम्) कान को, (प्रिय सखायम्) प्रिय सखा [वाण]
को [जैसे] (परिपस्वजाना) आतिङ्गन करती हुई । (योषा इय) श्री
क समान (शिङ्क्षते) शब्द करती है, (वितता) तनी हुई (अधि
धन्वन्) धनुष पर (ज्या इयम्) यह धनुष की डोरी (समने) संग्राम
में (पारयन्ती) पार पार करती हुई ॥

उच्यन्ती इय=कहगी जैसी आती है कान को । प्रिय जैसा सखा
[उम] को । इषु को आतिङ्गन करती हुई । श्री क समान शब्द को करती
है । तनी ई धनुष पर प्रत्यञ्चा यह । संग्राम में पार के जाती हुई ।

१४ इषु । इषति से गति अर्थ कान में । यथ अथ कान में अथवा ।
उम की यह [ऋक्] होती है ॥ १८ ॥

भाष्य—जब धनुष पर बाण रख कर डोरी को बल से खींचते हैं, तो वह धनुष के कोने पर लगी कान तक पहुंचती है। मानो स्त्री के समान प्रिय सखा को कान में कुछ कहेगी ॥ १८ ॥

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता ।

यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिपवः शर्म यंसन् ॥

[ऋ० ६।७५।११ ॥]

सुपर्णं वस्तं इति वाजानमभिप्रेत्य। मृगमयोऽस्या दन्तः। मृगयतेर्वा। गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूतेति व्याख्यातम्। यत्र नराः सन्द्रवन्ति च विद्रवन्ति च। तत्रास्मभ्यमिपवः शर्म यच्छन्तु। शरणं सङ्ग्रामेषु।

अश्वाजनीं कशेत्याहुः। कशा प्रकाशयति भयमश्वाय। कृष्यते वारुणाभावात्। वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान्। स्वशया। क्रोशतेर्वा। अश्वकशाया एषा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—(सुपर्णम्) सुन्दर पंख को (वस्ते) धारते हैं [वाण], (मृगः) मृग का [विकार] (अस्याः) इस का (गोभिः) दान्त [=अगला तीक्ष्ण भाग] (गोभिः) गोविकार=से चर्म से (सन्नद्धा) लपेटा हुआ (पतति) गिरता है (प्रसूता) [वानुष्क से] फेंका गया। (यत्र) जहां (नरः) नर=वीर पुरुष (सं-द्रवन्ति च) मिल कर धावा करते हैं और (वि-द्रवन्ति च) पृथक्-पृथक् धावा करते हैं (तत्र) वहां (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (इपवः) वाण (शर्म) कल्याण (यंसन्) देवें।

सुपर्णं वस्ते, यह वाजान्=अश्वों के अभिप्राय से [कहा है। यथा सुन्दर पंख वाला वाज पक्षी उड़ता है, वैसे घोड़े संग्राम में दौड़ते हैं।] मृगमयः=मृग के दान्त का इस का दान्त=अगला भाग होता है। मृगयति से अथवा=हूँडता है [शत्रुओं को।] गोभिः.....। यह [पूर्व २।५ में] व्याख्या किया गया है। जहां वीर पुरुष एकत्र धावा करते हैं और, पृथक्-धावा करते हैं और वहां हमारे लिए वाण शरण देवें संग्रामों में।

१५. अश्वाजनी, कशा [है], ऐसा कहते हैं। कशा=प्रकाशित करती है भय को अश्व के लिए। कृष्यति से अथवा, अणुभावात्=सूक्ष्म होने के

अथ म । वाक् पुन [कृता है ।] प्रकाशित करना है अर्थों को । लक्षणा-
[मुच क] आकाश म नटना है । प्राशति स अववा । शब्द कर्तो है ।
अ वरुणा को यह [अह्] हाना है ॥ १६ ॥

आ जङ्घन्ति मान्वापा ज्वन्तो उप जिघ्रत ।

अवाजनि प्रचतमाऽध्वान्तसमत्सु चादय ॥

[ऋ० ६ । ७५ । १३ ॥]

आग्नन्ति सानून्पयाम् । सरणानि सन्धीनि । सन्धिय सचत ।
आसक्तोऽस्मिन्नाय । जयानि चापग्ननि । जयत जङ्घन्त्यत ।
अध्वाजनि । प्रचतस प्रवृद्धचतसाऽध्वान् । समत्सु समरणेषु सङ्ग्रामेषु
चादय ।

उलूखलम् । उरुकर वा । ऊर्ध्वत्वात् ऊर्ध्वं वा ।

उरु म कुवित्यत्राचदुलूखलमभयत् । उरुकर चेतत् । उलूख
लमित्यावचत परोक्षेण । [छन्द० भा० ७ । ५ । १ । १८ ॥] इति उ
ब्राह्मणम् । तस्यैषा भवति ॥ २० ॥

अथ—(आ जङ्घन्ति) आयात करना है (सानू) उठे हुए ऊर्ध्वो
को (पयाम्) इन [अध्वा] क (जयानि) [और] जयना को (उप
जिघ्रत) तापित करता है [जिम म] (अध्वाजनि) है कर्त्तुं वाचुक,
[बहुतू] (मध्वन्तस) बड़े हुए दिन वाक (अध्वान्) अध्वा को
(समत्सु) समामा म (चादय) प्रति कर ॥

आग्नन्ति—को० पृ० जान है सानूनि=उठे हुए ऊर्ध्वो को इन [अध्वा]
क । सानूनि—सरणानि=मरण वाक सन्धीनि=ऊर्ध्वो को । सन्धिय=
सचत स । सगी होती है इन म वाक । जयानो को और तापित करता है ।
जयतम्=जङ्घन्त्यति म=बहुत ताडा जाता है । हे अध्वाजनि=वाचुक,
प्रचतस =प्रवृद्धचतस =बड़े हुए दिन वाक, अध्वा को । समत्सु=समामो
म प्रति कर (

१६. उलूखलम् । बहुत करने वाला अथवा, ऊपर खम्=छेद वाला अथवा, ऊर्ह्=अन्न को करने वाला अथवा । उरु=बहुत मे=मेरे लिए कुरु =करो, यह बोला [प्रजापति ।] अतः वह उलूखल हो गया उरुकरं । और यह [है ।] अनूपल यह कहते हैं परोक्ष से । यह और ब्राह्मण [प्रवचन है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २० ॥

भाष्य—ब्राह्मण का प्रवचन किसी बहुत पूर्व की अवस्था को बताता है । तब उलूखल सृष्टि में बना । यह अवश्य देवी है । ब्राह्मण ग्रन्थ कहता है— अन्तरिक्षं वा ऽ उलूखलम् । श० ७ । १ । १ । २६ ॥ यह अन्तरिक्ष ही कभी विस्तृत हुआ था । यह पार्थिव उलूखल उसी की द्वाया पर बना और इस ने भी स्तुति प्राप्त की ॥ २० ॥

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे ।

इह द्युमत्तमं वद् जयतामिव दुन्दुभिः ॥ [ऋ० १ । २२ । ५ ॥]

इति सा निगदध्यास्याता ॥ २१ ॥

अर्थ—(यत् चित् द्वि) जो ही (त्वम्) तुम (गृहे गृहे) घर-घर में (उलूखलक) है उलूखल (युज्यसे) काम में युक्त होता है, (इह) यहां (द्युमत् तमम्) अत्यन्त तेजोमय (वद्) शब्द करो, (जयताम् इव दुन्दुभिः) जय प्राप्त करते हुए [राजाओं की] दुन्दुभि के समान ॥

यह वह स्पष्ट ही व्याख्या की गई है ॥ २१ ॥

भाष्य—यह ऐन्द्र सूक्त की ऋक् है । वहां का वर्णन संबंधा मध्यम स्थान का है । उसी सूक्त में दुन्दुभि का भी कथन है । वस्तुतः ये पदार्थ दिव्य हैं । पर पार्थिव स्थान से भी इस दुन्दुभि का सगन्ध जुड़ जाता है ॥ २१ ॥

वृषभः । प्रजां वर्षतीति वा । अतिवृहति रेत इति वा । तद्वर्षकर्मा । वर्षणाद् वृषभः । तस्यैया भवति ॥ २२ ॥

१७. वृषभः । प्रजा को वरसाता है अथवा । बहुत बढ़ कर रेतः, यह वरसाता है अथवा । तो वर्षकर्मा=बरसाने अर्थ वाला । बरसने से वृषभ [है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २२ ॥

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन्वृषभं मध्यं आजेः ।

तेन स्रभर्षं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रथने जिगाय ॥

[ऋ० १० । १०२ । ५ ॥]

अर्थ म । वाक् पुन [कगा है ।] प्रकाशित करती है अर्थों को । लशपा= [मुक् के] आकाश म लटता है । क्रोशति सु जयवा । शब्द करती है । अधकगा की यह [च्क्] होती है ॥ १६ ॥

आ जइन्ति सान्वेषा जघनो उप जिप्रत ।

अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चादय ॥

[ऋ० ६।७५।१३ ॥]

आप्रन्ति सानू-एषाम् । सरणानि सन्धानि । सन्धि सचत । आसक्तोऽस्मिन्काय । जपनानि चोपप्रन्ति । जपन जड्घन्यते । अश्वाजनि । प्रचेतस प्रवृद्धचतसोऽश्वान् । समत्सु समरथेषु सङ्ग्रामेषु चोदय ।

उलूखलम् । उरुवर मा । ऊध्वय ना ऊरुऊर धा ।

उरु म कुञ्चित्यग्रयात्तदुलूखलममयत् । उरुवर चैतन् । उलूखलपित्यावचत परोक्षण । [शत० प्रा० ७।५।१।२२ ॥] इति च घ्राहणम् । तन्वेषा भवति ॥ १७ ॥

अर्थ—(आ अप्रन्ति) आघात करने हैं (सानू) उडे हुए ऊरुआ को (एषाम्) इन [अधा] क (जपना) [और] जपना की (उप जिप्रते) ताड़ित करते है [जिम म] (अश्वाजनि) ह कगा=हे चातुक, [बहून्] (प्रचेतस) बड़े हुए दिल वाले (अश्वान्) अश्वों को (समत्सु) समामो म (चोदय) प्ररित कर ॥

आप्रन्ति-चोट पहुँचाने हैं सानूनि=उडे हुए ऊरुआ को इन [अधो] क । सानूनि-सरणानि=मरण वाले सन्धानि=ऊरुआ को । सन्धि=सचनि म । नगी होती है इन म वाया । जघनो की और ताड़ित करते हैं । जपनम्=जड्घन्यति म=भूत ताड़ा जाता है । हे अश्वाजनि=वनुरु, प्रचेतस=प्रवृद्धचतस=बड़े हुए दिल वाले, अधो को । समत्सु=समामो म प्ररित कर (

१६. उलूखलम् । बहुत करने वाला अथवा, ऊपर खम्=छेद वाला अथवा, ऊर्क्=अन्न को करने वाला अथवा । उरु=बहुत मे=मेरे लिए कुरु करो, यह बोला [प्रजापति ।] अतः वह उलूखल हो गया उरुकरं । और यह [है ।] उलूखल यह कहने हैं परोक्ष से । यह और ब्राह्मण [प्रवचन है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २० ॥

भाष्य—ब्राह्मण का प्रवचन किसी बहुत पूर्व की अवस्था को बताता है । तब उलूखल सृष्टि में बना । यह अवश्य देवी है । ब्राह्मण ग्रन्थ कहता है—अन्तरिक्षं वा ऽ उलूखलम् । श० ७ । १ । २६ ॥ यह अन्तरिक्ष ही कभी विसृत हुआ था । यह पार्थिव उलूखल उसी की छाया पर बना और इस ने भी स्तुति प्राप्त की ॥ २० ॥

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे ।

इह युमत्तमं वद् जयतामिव दुन्दुभिः ॥ [ऋ० १।२२।५ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ॥ २१ ॥

अर्थ—(यत् चित् द्वि) जो ही (त्वम्) तुम (गृहे गृहे) घर-घर में (उलूखलक) हे उलूखल (युज्यसे) काम में युक्त होता है, (इह) यहां (युमत्-तमम्) अत्यन्त तेजोमय (वद्) शब्द करो, (जयताम् इव दुन्दुभिः) जय प्राप्त करते हुए [राजाओं की] दुन्दुभि के समान ॥

यह वह स्पष्ट ही व्याख्या की गई है ॥ २१ ॥

भाष्य—यह ऐन्द्र सूक्त की ऋक् है । वहां का वर्णन सर्वथा मध्यम स्थान का है । उसी सूक्त में दुन्दुभि का भी कथन है । वस्तुतः ये पदार्थ दिव्य हैं । पर पार्थिव स्थान से भी इस दुन्दुभि का सम्बन्ध जुड़ जाता है ॥ २१ ॥

वृषभः । प्रजां वर्षतीति वा । अतिवृहति रेत इति वा । तद्वर्षकर्मा । वर्षणाद् वृषभः । तस्यैषा भवति ॥ २२ ॥

१७. वृषभः । प्रजा को बरसाता है अथवा । बहुत बढ़ कर रेतः, यह बरसाता है अथवा । तो वर्षकर्मा=बरसाने अर्थ वाला । बरसाने से वृषभ [है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २२ ॥

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन्वृषभं मर्ध्यं श्राजेः ।

तेन सूभर्षं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गालः प्रथने जिगाय ॥

[ऋ० १०।१०२।५ ॥]

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनमिति व्याख्यातम् । अमेदयन्वृषभं मये ।
[आज्ञे] आज्ञयनस्य । आज्ञयनस्यति वा । तेन [तं] सूभवं संप्रामम् ।
भवंति अतिकर्मा । तद्वा । सूभवं सहस्रं गयाम् । मुद्गलं प्रधाने
जिगाय । प्रधान इति सङ्ग्रामताम् । प्रकीर्णान्यस्मिन्धतानि भवन्ति ।

द्रुषण । द्रुममयो घन । तत्रतिहासमावृत्ते—मुद्गलो भार्गवश्च
श्रुपिर्दृषभं च द्रुषणं च युक्त्वा सङ्ग्रामं व्यवहृत्याञ्छि जिगाय ।
तद्भिषादिभ्येषर्भवति ॥ २३ ॥

अर्थ—(नि अक्रन्दयन्) [उन शत्रुओं ने] भूरि क्रन्दन किया=शोर
मचाया, (उप यन्त) समीप जा कर (एनम्) इन के (अमेदयन्) मूत्र
करान हुए (वृषभम्) वृषभ के (मध्यं) मध्य में (आज्ञे) गर्त वाली
दोड़ अथवा संप्राम के । (तेन) इन [वैन] स (सूभवं) सूभवं से
(शतयत्) तो वाला (सहस्रम्) सहस्र (गयाम्) गौआ को (मुद्गलं)
मुद्गल ने (प्रधाने) संप्राम में (जिगाय) जोता ॥

न्यक्रन्दयन्=शोर मचाया, उप यन्त =समीप जा कर इस के, यह
व्याख्यात है । मूत्र कराया वृषभ को मध्य में । आज्ञे =आज्ञयनस्य=संप्राम
के । वग वाली दोड़ के अथवा । उन [वैन] स उस को सूभवं राजा को ।
भवन्ति, खाता है, अर्थ वाला है । उस [खाता है अर्थ वान स] अथवा ।
सूभवं को सहस्र गौआ का । मुद्गल न संप्राम में जोता । प्रधान यह संप्राम
का नाम [है ।] बिल्वरे टए इन में घन होने हैं ।

१= द्रुषण । =[मुद्गल] द्रुममय =वृक्षमय ठोस । इस विषय में
इतिहास को कहते हैं—मुद्गल, भृशभ का पुत्र श्रुपि न वृषभ को और
मुद्गल को जोड़ कर संप्राम में व्यवहृत्य=व्यवहार ला कर, गर्त वाली दोड़
अथवा संप्राम को जोता । उस [घटना के] कहने वाली यह श्रुक् होती
है ॥ २३ ॥

भाष्य—न्यक्रन्दयन् इति मन्त्र अमेद के दशम मण्डल के १०२ सूक्त
का है । इस सूक्त १०२ के विषय में शीनक के वृहत्सत्ता अध्याय ८ अ वेस
द्रष्टव्य है—

प्रेतीतिहाससूक्तं तु मन्यते शाकटायन ।

पास्को द्रीषणमिन्द्रं वा वैश्वदेवं तु शीनक ॥ ११ ॥

आजावनेन भार्ग्यश्च इन्द्रासोमी तु मुद्रलः ।

अजयद् वृषभं युक्त्वा ऐन्द्रं च द्रुघणं रथे ॥ १२ ॥

अर्थात्—प्र इति सूक्त इतिहास का स्वरूप लिए है, ऐसा मानता है शाकटायन । यास्क इस सूक्त को द्रौघण अथवा इन्द्र देवता-परक मानता है । शौनक स्वयं इसे वैश्वदेव सूक्त कहता है ॥ ११ ॥ इस सूक्त से भार्ग्यश्च मुद्रल ने आजि में इन्द्र और सोम देवों को जीता, वृषभ को और ऐन्द्र द्रुघण को रथ में जोड़ कर ॥ १२ ॥

जो पुण्यात्मा यत किञ्चित भी वेदाभ्यास करता है, वह इस वर्णन से सहसा कह उठेगा कि इन्द्रासोम के जीतने की आजि आधिदैविक है । उस में भाग लेने वाला भार्ग्यश्च मुद्रल भी मानव अपि नहीं हो सकता । वह भार्ग्यश्च मुद्रल कौन है, यह जानना चाहिए । सूक्त में कही गई मुद्रलानी भी दिव्य है ।

इस सूक्त के विषय में शाकटायन सारे सूक्त में इतिहास को प्रकट करने की छाया मानता है । यास्क इस को द्रौघण अथवा ऐन्द्र मानता है । यास्क ने द्रुघण का वर्णन बताने के लिए ऐसा माना है । और शौनक इसे विश्वेदेवा का सूक्त मानता है । सूक्त में वर्णित आजि के विषय में सब सहमत हैं । ऐसी देवी आजियां ब्राह्मणों के प्रवचनों में बहुधा बताई गई हैं । शौनक धन्यवाद का पात्र है, जिस ने आजि=वाङ्गी में भाग लेने वालों का स्पष्ट परिचय दिया है ।

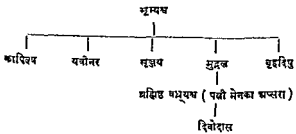
इतने लेख के पश्चात् यह कहना भी युक्त है कि भार्ग्यश्च मुद्रल एक मानव अपि भी हुआ है । उस का एक मत भी बृहदेवता में सुरचित है—

महानैन्द्रं प्रत्नवत्याम् अग्निं वैश्वानरं स्तुतम् ।

मन्यते शाकपूणिस्तु भार्ग्यश्चैव मुद्रलः ॥ ६ ॥ ४६ ॥

अर्थात्—महान्, अ० ८ । ६ सूक्त इन्द्र का है । उस की प्रत्न प्रतीक वाली छठी अक्ष में अग्नि वैश्वानर स्तुत है, ऐसा शाकपूणि मानता और भार्ग्यश्च मुद्रल भी ।

मानव मुद्रल आदि का वृत्तान्त जानने के लिए मद्रचित भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ० १२८-१३३ देखना चाहिए । मानव भृग्यश्च उत्तर पाञ्चाल का राजा था । उसका पुत्र था मुद्रल । यथा—



भूम्यश्च के कुल के अनेक जनों के सृञ्जय आदि नाम वेद मन्त्रों के आधार पर बदले गए प्रतीत होते हैं। वेद मन्त्रों में इन ऐतिहासिक पुरुषों का वर्णन नहीं है। इस में एक प्रबल तर्क है। वेद इन से बहुत पहले विद्यमान थे। यह तथ्य इतिहास से ही ज्ञात होता है। इतिहास को न जानने वाला वेदाध्ययन से यथार्थ लाभ नहीं उठा सकता।

शतवत्सहस्रम् । राजाराम इस का अर्थ करता है, ११०० । सीताराम शास्त्री, एक ब्रह्म । सूर्भर्ष पद वेद में ही है। यह नाम किसी मानव राजा ने भी रखा था, या नहीं इस का पता नहीं चलता। यास्क ने सामान्य रूप से सूर्भर्ष राजानम् प्रयोग किया है। सूर्भर्षा राजा बभूव, ऐसा नहीं जिम्ब। अतः इस प्रसङ्ग को मानव इतिहास से आंशिक रूप से भी जोड़ा नहीं जा सकता ॥ २३ ॥

इमं त पश्य वृषभस्य युञ्जं नाष्टाया मभ्यं द्रुघणं शयानम् ।

येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृथ्विपु ॥

[ऋ० १० । १०२ । ६ ॥]

इमं त पश्य वृषभस्य सहयुञ्जं नाष्टाया मभ्यं द्रुघणं शयानम् । यन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृथ्विपु । पृथ्विपु इति सदप्रामनाम् । पृथ्विपुनामजनाद्वा । जयनाद्वा । मुद्गलो मुद्गवान् । मुद्गिलो वा । मदन गिलतीति वा । मद्रिलो वा । मुद्रिलो वा । भार्गवो भूम्यश्चस्य पुत्रः । भूम्यश्च । भूमयोऽस्याश्वा । अश्वभग्नात्वा ।

विनु, इति अग्रनाम् । पातया । पिबतर्षा । व्यापतर्षा । तस्यैवा भवति ॥ २४ ॥

अर्थ—इस को उस को देखो वृषभ के साथ (युञ्जम्) संयुक्त
काष्ठायाः=आज्यन्त के (मध्ये) मध्य में (द्रुघणम्) मुद्गर को
(शयानम्) लेटे हुए को । (येन) जिस के द्वारा (जिगाय) जीता सी
सहित सहस्र गौओं का मुद्गल ने (पृतनाज्येषु) पृतनाओं=सेनाओं के
गमन स्थान=युद्धों में ॥

इस को उस को देखो वृषभ के साथ जुड़ने वाले को । आज्यन्त के
मध्य में द्रुघण को लेटे हुए को । जिस के द्वारा जीता सी सहित सहस्र गौओं
का मुद्गल ने युद्ध में । पृतनाज्यम्, यह संग्राम का नाम [है ।] सेनाओं के
[ऊपर] अजनात्=चढ़ने से अथवा । जीतने से अथवा । मुद्गल=मूंग
वाला । मूंग निगलने=खाने वाला अथवा । मदनम्=काम को निगलता है
अथवा । मद को निगलने वाला अथवा । हर्ष को निगलने वाला । भार्ग्यश्वः
=भृग्यश्व का पुत्र । भृग्यश्वः=वृमने वाले इस के अश्वः । अश्वों के भरण
पोषण से अथवा ।

१६. पितुः । यह अन्न का नाम [है ।] पति से अथवा । रक्षा करता
है । पिवति से अथवा । प्यायति से अथवा । उस की यह [ऋक्] होती
है ॥ २१ ॥

भाष्य—मुद्गल पद के पांच निर्वचन हैं । यदि यह किसी पुरुष का नाम
विशेष होता, तो उस संज्ञा के इतने निर्वचन न होते ।

पितुं नु स्तोपं महो धर्माणं तविपीम् ।

यस्य त्रितो व्योर्जसा वृत्रं विषर्वाणं व्यर्दयत् ॥

[ऋ० १ । १८७ । १ ॥]

तं पितुं स्तौमि महतो धारयितारं वलस्य । तविपीति वलनाम ।
तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः । यस्य त्रित ओजसा वलेन । त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो
वृत्रं विषर्वाणं व्यर्दयति ।

नद्यो व्याख्याताः । तासामेवा भवति ॥ २५ ॥

अर्थ—(पितुम्) अन्न को (स्तोपम्) स्तुति करता हूँ, (महः)
बड़े (धर्माणम्) धारण करने वाले (तविपीम्) वल के । (यस्य) जिस

के (त्रित) त्रिस्थान मे [प्रभाव करने वाले=इन्द्र ने] (औजसा) बल मे (वृत्रम्) वृत्र को (विपर्यम्) विविध=अनेक पर्व को (वि अर्दयत्) विशेष रूप से मारा ।

उस अत्र को स्तुति करता हूँ, महान् धारण करने वाले बल के । त्रिपरी यह बल का नाम [है ।] तवति से अथवा, वृद्धि अर्थ वाले से । यस्य त्रित । औजसा=बलेन=बल से अथवा, वृद्धि से । त्रित , तीन स्थानों वाला इन्द्र । वृत्र को विविध पर्व को वि अर्दयति=विशेष मारता है ।

२० नद्य । व्याख्यात [हैं, निरुक्त २ । २४ मे ।] उन की यह [श्रुत्] होती है ॥ २५ ॥

भाष्य—इस मन्त्र वाले सूक्त का देवता—ओषधय है । वैद्युत् तेज जो वायु से आवेष्टित है, वह इन्द्र है । वह मध्यमस्थानी है । पर उस का प्रभाव तीनों स्थानों में है । उस का अन्न यह पार्थिव अन्न नहीं है । उस का अन्न तो पावक अग्नि वायु और मध्यम स्थाना धनस्पतियों से पूर्ण होता है । उसी इन्द्र ने वृत्र का अर्दन किया । उस दिव्य ऋक्ष के आश्रय से यह पार्थिव अन्न भी स्तुति को प्राप्त कर लेता है । अतः इस अध्याय के आरम्भ में कहा—यानि पृथिव्या यतनानि सत्यानि स्तुति लभन्ते । यास्क ने मानव जीवन के साथ मन्त्रों का पूरा सम्बन्ध जोड़ने के लिए ये ३६ सत्त्व, निघण्टु के दैवत प्रकरण में पढ़े हैं ॥ २५ ॥

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्याया ।

असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुद्वा सुपोमया ॥

[ऋ० १० । ७५ । ५ ॥]

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुषि स्तोममासेवध्वम् । असिक्न्या च सद् मरुद्वृधे । वितस्तया चार्जीकीये । आशुतुद्रि सुपोमया च । इति समस्तार्थः ।

अर्थकपदनिरुक्तम्—गङ्गा गमनात् । यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा । प्रयुन गच्छतीति वा । सरस्वती । सर इत्युदकनाम । सर्वस्त इती । शुतुद्रि शुद्राविष्ठी । क्षिप्रद्राविष्ठी । आशु तुद्रोऽथ इवतीति वा । इरावती परुषीत्याहुः । पर्ववती [भास्वती] कुटिलगामिनी । असिक्नी

अशुक्ला असिता । सितमिति वर्णनाम । तत्प्रतिषेधोऽसितम् । मरुद्वृथाः सर्वाः नद्यः । मरुत एना वर्धयन्ति । वितस्ताविदग्धा । विवृद्धा महाकूला । आर्जीकीयां विपाडित्याहुः । ऋजीकप्रभवा वा । ऋजुगामिनी वा । विपाड् विपाटनाद्वा । विपाशनाद्वा । विप्रापणाद्वा । •

पाशा अस्यां व्यपाशयन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः ।

तस्माद्विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा ॥^१

सुयोमा सिन्धुः । यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः । सिन्धुः स्यन्दनात् ।

आपः । आप्नोतेः तासामेवा भवति ॥ २६ ॥

अर्थ—(इमं मे) इस मेरे को, हे गङ्गे, हे यमुने, हे सरस्वति, हे शुतुद्रि, स्तोम को (आ सचत) सेवो, हे परुष्णि । (असिक्न्या) असिकी के साथ (मरुद्वृथे) हे मरुद्वृथे, (वितस्तया) वितस्ता के साथ (आर्जीकीये) हे आर्जीकीये, (आश्रणुहि) सुनो (सुयोमया) साथ सु-सोमा के ॥

[प्रियमेव का पुत्र सिन्धुक्षित् कहता है—] इस मेरे को, हे गङ्गे, यमुने, सरस्वति, शुतुद्रि, परुष्णि स्तोम को सेवो । असिकी के साथ हे मरुद्वृथे । वितस्ता के साथ हे आर्जीकीये । सब ओर से सुनो, सुसोमा के साथ और । यह समस्तार्थ [है ।]

अब एक-एक पद का निर्वचन—गङ्गा, गमन करने से । यमुना [दूसरी नदी के साथ] मिलती हुई जाती है, अथवा । [मिल कर भी पृथक् हुई ही जाती है अथवा । सरस्वती, सरः यह उदक का नाम [है ।] सर्ति से, उस [उदक] वाली । शुतुद्री=शु+द्राविणी=क्षिप्र+द्राविणी=शीघ्र वहने वाली । शु+तु+द्र=आशु+तुन्नेव+द्रवति=शीघ्र बन्वी हुई के समान वहती है, अथवा । इरावती को परुष्णी कहते हैं [भूगोल-ज्योतिष के आचार्य] पर्वों वाली, भासों वाली कुटिल गामिनी । असिकी=अशुक्ला=असिता=नहीं श्वेत । सित यह वर्ण=रङ्ग का नाम [है] उस का प्रतिषेध असित [है ।] मरुद्वृथाः=सारी [अन्तरिक्षस्य] नदियां [हैं ।] मरुतः इन को बढ़ाते हैं । वितस्ता=नहीं दग्ध हुई । बढ़ती हुई, महाकूलों वाली । आर्जीकीया

१. निचूद् अनुधुप् । प्राचीनमतानुसार लौकिक छन्दों के मी निचूद्, भुरिक् भेद होते थे । द्र० वैदिक स्वर मीमांसा पृष्ठ २१३-२१७ ।

को विपाट यह कहने है [ज्योतिष आचार्य ।] सूत्रोक्त [पर्वत] से निकली हुई अथवा । सूत्रु चलन वाली अथवा । विपाट्=विषय पाटन सः । [भूमि को फाड़नी है ।] फाम स पृथक् कर देत स अथवा । विषय प्राप्ति स अवश्य ।

फाम इम म वि+अपाश्य-त=विषय खून गई वसिष्ठ की मरन की इच्छा करत हुए को । इस लिए विपाट् कही जाती है । पूष [युगामे] थी उरुञ्जरा [नाम वाली ।] सुगोमा=मिन्धु । जो इम की ओर बही जाती हैं नदिया । मिन्धु =स्यन्दन=बहन स ।

२२ आप । आप्नोति से, व्याप्त हो जान हैं । उन की यह [सूक्] होनी है ॥ १६ ॥

भाष्य—१. गङ्गा २ यमुना, ३ सरस्वती, ४ शुतुद्री, ५ परुष्णी, ६ असिको, ७ मरुद्गुप्ता, ८ विन्स्ता, ९, आर्जाकीया, १० सुषामा । ये दस नदियाँ इस मन्त्र में वर्णित हैं । यदि मरुद्गुप्ता मरु नदियों का विशिष्ट है तो सब नौ नदियाँ यदा गिनी गई हैं । इन में स—

१ इरावती को परुष्णी^१ और

२ आर्जाकीया को विपाट् कहत है ।

पर पहले यह नदी न विपाट् और न आर्जाकीया कही जाती थी । इस का प्राचीन नाम उरुञ्जरा था । मन्त्र क अर्थ का पार्थिव भूगोल विषय में घटाने के लिए ही परुष्णी का ऊपर नाम इरावती मान लिया गया ।

इस से यह स्पष्ट है कि मन्त्र में वर्णित नदियाँ उत्तर भारत की गङ्गा अपदि प्रसिद्ध नदियाँ नही हैं । मन्त्रस्थ नामों का साम्य पार्थिव नदियों से उत्तर काज में जाका गया है । सभी सभ नामों का साम्य लड़ नहीं सक । पार्थिव नदियों न उत्तर काज में स्तुति प्राप्त की है, पर वह स्तुति भी पूरी पुष्क नहीं बिटी ।

सरस्वती नदी का मन्त्रों में वक्ष्य के साथ सम्बन्ध है । वह भी पार्थिव नदी है । ये नदियाँ अन्तरिक्ष में हों, अथवा पृथिवी तल से ऊपर वायव्य पर में, हैं

१ असिको एक आशवि भी है । तुलना करो—पैपलाद संहिता २।२।१, २ ।

अथवा —१ । २३ । २ ॥

२ सू० ८ । ६३ । ११ में परुष्णीषु तथा ८ । ७४ । १८ में महेनदि परुष्णी दक्षिण ।

ये पृथिवी पर की नदियों से भिन्न है। इन का मरुद्वृधा विशेषण सर्वथा ठीक है। ये मरुतों के कारण बढ़ती हैं। सिन्धुचित् इन्हीं नदियों को पुकारता है। यह देवी माया विचित्र है। वेद में पार्थिव नदी पूजा नहीं है।

इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र में सूक्तवर्णित नदियों के विषय में कहा है—
प्र सप्त-सप्त त्रेधाहि चक्रमुः ।

पृथिवी के वायव्य वेरे में, और अन्तरिक्ष में आग्नेय और आपः परमाणुओं की नदियां हैं। पृथिवी की नदियों में स्थूल जल है। यह भेद समझना चाहिए ॥ २६ ॥

आपो हि ष्टा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥
[ऋ० १०। ६। १ ॥]

आपो हि स्थ सुखभुवः । ता नोऽन्नाय धत्त । महते च नो रणाय ।
रमणीयाय [च] दर्शनाय ।

ओषधयः । ओषद्धयन्तीति वा । ओषत्येना धयन्तीति वा । दोषं
धयन्तीति वा । तासामेवा भवति ॥ २७ ॥

अर्थ—(आपः हि स्थ) हे आपः, [तुम ही व्याप्त होने वाले] हो,
(मयोभुवः) सुख के उत्पादक हो, (ताः) वे [तुम] (नः) हमें (ऊर्जे)
अन्न के लिए (दधातन) धारण करो (महे रणाय चक्षसे) महान्
रमणीय दर्शन के लिए ॥

व्याप्त होने वाले ही हो, सुख के उत्पादक, वे [तुम] हमें अन्न के
लिए धारण करो। महान् के लिए और हमें रणाय=रमणीय के लिए और
दर्शन के लिए ।

२२. ओषधयः । ओषत्=अग्नि [समान दाह करने वाले रोग] को
धयन्ति=नी जाती हैं अथवा । ओषति=अग्नि समान [रोग से] संतप्त होने
पर एनाः=इन को धयन्ति=पीते हैं अथवा । दोष को पीती हैं अथवा ।
उन की यह [ऋक्] होती है ॥ २७ ॥

माध्य—अथ का एक प्रति मुख्य अथ ऊर्क होता है। आप का दर्शन हान में क्या जाग है यह जानना चाहिए। आप व्याप्त हो जाते हैं। तैत्तिरीय (६.१.७.७) में व्याप्ति हान आप का कारण ही होती है। तैत्तिरीय में आप का अर्थ भरपूर होता है।

अन्तरिक्ष में आप की ही माया है वही में भी, आवांऽश्रया सदनम् ।
शं० १ । २ । २ । २६ ॥ पार्थिव उक्त उक्त अर्थ सूत्र रूप है।

अतएव आसन्नं मे आपधय केचित्तमेवहा—श्रोत्र धयेति । २ । १ । १५ ॥
अथात्—आप को धारण करा। वनस्पति आदि में आपधय परमाणु नहीं थे। पथान् वपुः शरीर आदि में ये परमाणु अधिक हुए। तभी से काष्ठ उड़ने लगे। जहाँ जितने स्यूनाधिक परिमाण में आपधय परमाणु हैं वहाँ उल्टी परिमाण में अग्नि उड़ती है। वनस्पति आदि अन्तरिक्ष में हैं और पृथिवी पर भी ॥२०॥

या श्रोत्राङ्गीः पूर्वा जाता देवैर्म्यस्त्रियुगं पुरा ।

मन्वे नु वध्रुणामहम् जतं धामानि सप्त च ॥

[अ० १० । २७ । १ ॥]

या श्रोत्रधय पूर्वा जाता देवैर्म्यस्त्रियुगं पुरा । मन्वे नु तद् वध्रुणामहम् । वध्रुणाना हरणाना भरणानामिति या । अत धामानि सप्त च [इति] । धामानि प्रयासि भवन्ति । स्थानानि नामानि जन्मानिति । जन्मानि अत्राभिप्रतानि । सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणाम् । तथैवा दधतीति या ।

रात्रि । व्याख्याता । तस्या एवा भवति ॥ २८ ॥

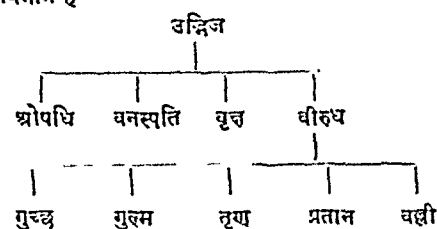
अथ—जो श्रोत्रधयों पहन उठाने हुई, दया से तान युग पहन । (मन्वे) मानना है (वध्रुणाम्) [उन] भूर रग वागिवा को (अहम्) मैं (अहम्) सो (धामानि) जन्=जातियाँ, (सप्त च) सप्त और ॥

जो श्रोत्रधयों पूजा [करन] उठाने हुई, दया से तान युग पहन । मानना है निश्चय में उन भूर [रग वागिवा का] मैं । वध्रुणाम्=भूर रग वागिवा का अर्थ [हान वागिवा का] भरणानाम्=नाश वागिवा को

अथवा ! १०७ धाम [उन के हैं ।] धाम तीन होते हैं । स्थान, नाम और जन्म । जन्मानि=जातियां यहां अभिप्रेत [हैं ।] १०७ पुरुष के मर्म [होते हैं ।] उन में इन को स्थापन करते हैं अथवा ।

२३. रात्रिः । [निरुक्त २ । १८ में] व्याख्यात [है ।] उस की यह [श्रृक्] होती है ॥ २८ ॥

भाष्य—श्रोपधयः । मनुस्मृति १ । ४७-४९ में दृढभिज्ज स्थावरों का निम्नलिखित विभाग है—



महाभारत, अनुशासन पर्व अ० ६३ में स्थावरों की पट् जातियां कही हैं—

स्थावराणां च भूतानां जातयः पट् प्रकीर्तिताः ।

वृक्ष-गुल्म-लता-वल्गवः-त्वक्सारः तृणजातयः ॥ २३ ॥

तृणों के ८४ भेद भुवनदेवविरचित अपराजितपृच्छा में कहे हैं—

तृण्यस तृणानि जातानि चतुर्शीतिः संख्यया ।

तृणानां दूर्विकादीनां समस्तानां ततो भवः ॥ ७ । १० ॥

उद्भिज्ज शास्त्र के विस्तृत ग्रन्थ कभी अवश्य थे ।

श्रोपधियां देवों से पहले उत्पन्न हुईं, इस का उल्लेख महाभारत, शान्ति पर्व अ० ३१६ में भी है । यथा—

सृजत्योपधिमेवाग्रे जीवनं सर्वदेहिनाम् ॥ २ ॥

ततो ब्रह्माणमसृजद् दैरयाण्डसमुद्भवम् ॥ ३ ॥

इस से स्पष्ट है कि श्रोपधि-सृष्टि ब्रह्मा से पूर्व हो चुकी थी । निरसन्देह यह सृष्टि पृथिवी पर की श्रोपधियों से पूर्व अन्तरिक्ष में थी । प्रस्तुत वेदमन्त्र की व्याख्या ही शान्तिपर्व के इस श्लोक में मिलती है । ब्रह्मा आदि देवों से तीन युग पहले श्रोपधियां सलिल रूप आपः में उत्पन्न हो चुकी थीं ।

या ओषधी, इति म त्र को ण्क दूसरी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में है ।
 यथा—या ओषधी पूर्वा जाता । देवेभ्यस्त्रियुग पुरा । इति । ऋतरो
 वै दत्ता । सेभ्य एतास्त्रि पुरा जायन्त । यस्मन्ता प्राण्वि शरदि । मने
 नु यभ्रणामहमिति । सोमो वै यभ्रु । सोम्या ओषधय । ओषध
 पुरुष । शतं धामानि सप्त खेति । यऽएवम सप्त शीर्वन् प्राणास्तानि
 तदाह ॥ ७ । २ । ४ । २६ ॥

ओषधि लक्षण—मनुवृत लक्षण आगे लिखा जाता है—

ओषध्य फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपना ॥ ३ । १६ ॥

पालकाप्य सहिता ३ । ६ ५० ३८८ पर यह लक्षण देता है—तत्र
 स्तम्भवत्य फलपाकान्ता ओषध्य ।'

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः ।

दिवः सदासि वृद्धी वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्त्तते तमः ॥

[अध० १६ । ४७ । १ ॥]

आपूपुरस्य रात्रि पार्थिव रज । स्थानैर्मध्यमस्य । दिव सदासि ।
 वृद्धी महती । त्रितिष्ठसे । आवर्त्तत त्वय तमो रज ।

अरण्यानी अरण्यस्य पत्नी । अरण्यमपाश ग्रामात् । अरण्य
 भवतीति वा । तस्या एवा भवति ॥ २६ ॥

अथ—(रात्रि) हे रात्रि (पार्थिवम्) पृथिवी नाम क (रज)
 रज को (पितु) पिता जन्तरिज के साथ (आ अप्रायि) मर
 ओर स भर दिया है (धामभि) स्थाना क साथ [तू न ।] (दिव
 सदासि) ओ क त्व नो को [भी] (वृद्धी) बड़ी [तू] (वि तिष्ठस)
 विशेष ठहरती है (त्वयम्) महान् (आ वतत) चोटना है (तम)
 अन्धकार ॥

१ इस लक्षण में फलपाकान लन ओ स भद करने क लिए स्तम्भवत्य
 विशेषण दिया है ।

आपूपुरः=भर देती है, तू हे रात्रि, पृथिवी लोक को, स्थानों सहित
म=अन्तरिक्ष के । द्यौ के स्थानों को । बड़ी ठहरती है । लौटता है
ान् अन्धकार, इस लोक में ।

२४. अरण्यानी । अरण्य की पत्नी । अरण्य-परे होता है ग्राम से ।
मणम्=नहीं रमण योग्य होता है अथवा । उस की यह [ऋक्] होती
। २९ ॥

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि ।

कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दती ३ ॥

[ऋ० १० । १४६ । १ ॥] .

अरण्यानि, इति एनामामन्त्रयते । यासावरण्यानि वनानि पराची
व नश्यसि । कथं ग्रामं न पृच्छसि । न त्वा भीरिविन्दतीवेति । इवः
रिभयार्थे वा ।

श्रद्धा । श्रद्धानात् । तस्या एषा भवति ॥ ३० ॥

अर्थ—(अरण्यानि) हे अरण्यानि [सम्बोधन एक वचन में],
अरण्यानि) [द्वितीया, बहुवचन, नपुं०] वनों के प्रति (असौ) वह
तू] जो (प्रेव) आगे-आगे जाती (नश्यसि) नष्ट हो जाती है । कैसे
ग्राम को नहीं पूछती, (न त्वा भीः) नहीं तुझे भय (इव) सा (विन्दति)
प्राप्त होता ॥

हे अरण्यानि, यह इस को सम्बोधन करता है । जो वह वनों के प्रति
आगे-आगे जाती सी नष्ट हो जाती है । कैसे ग्राम को नहीं पूछती हो । नहीं
तुझे भय सा प्राप्त होता । इवः, डर के अर्थ में अथवा ।

२५. श्रद्धा । श्रत्=सत्य के धानात्=धारण करने से । उस की यह
[ऋक्] होती है ॥ ३० ॥

भाष्य—इस सूक्त का ऋषि ऐरम्मदः देवमुनि है । आधिदेविक पक्ष में वह
कौन है, यह स्पष्ट नहीं । बृहद्देवता २ । ७४ के अनुसार अरण्यानी रूप है वाक्
का । ऋषि से सम्बोधित यह अरण्यानि, इन्द्र की इन्द्राणि के समान है ॥ ३० ॥

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

[ऋ० १० । १५१ । १ ॥]

श्रद्धयाग्नि साधु समिध्यते । श्रद्धया हवि साधु हूयते । श्रद्धा भगस्य भगधेयस्य मूर्धनि प्रधानाङ्गे षष्ठनेनावेदयाम ।

पृथिवी व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ३१ ॥

अर्थ—श्रद्धा से अग्नि प्रदीप्त किया जाता है श्रद्धा में होमी जाती है हवि । श्रद्धा को सेवनीय [धर्म] के मूर्धा पर वचन द्वारा [हम] बनाते हैं ॥

श्रद्धा से अग्नि साधु रूप से प्रदीप्त किया जाता है । श्रद्धा से हवि साधु रूप से होमी जाती है । श्रद्धा को भगस्य=भागधेय=सेव्य धर्म के मूर्धनि=प्रधान अङ्ग में वचन द्वारा आवेदयाम=आवेदन करते हैं ।

<६ पृथिवी । [निह० १ । १४ म] व्याख्यात की गई [है ।] उस की यह [श्रुत] होती है ॥ ३१ ॥

भाष्य—शुद्धेयता २ । ७४ के अनुसार श्रद्धा भी वाक् का रूपान्तर है ॥ ३१ ॥

स्योना पृथिवि भवानृत्तरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म सप्रथः ॥

[ऋ० १ । २२ । १५ ॥]

सुखा न पृथिवि भवानृत्तरा निवेशनी । ऋक्षर फण्टक । ऋच्छत । फण्टक' कंतपो वा । वृन्ततर्षा । कण्टतर्षा स्याद् गति कर्मण । उद्गततमो भवति । यच्छ न शर्म । [यच्छन्तु] शरणम् । सवत पृथु ।

अप्या व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ३२ ॥

अर्थ—(स्योना) सुख एषा (पृथिवी) हे पृथिवी (नर) हो (अन्-ऋत्तरा) नहीं काटो बानी (निवेशनी) धान योग्य । (यच्छ) दे (न) हमें (शर्म) शरण=स्थान (सप्रथ) साथ विस्तृत हुआ ॥

सुख वाली हमारे लिए है पृथिवी हो, अनूत्तरा [और वास योग्या ।
 ऋक्षाः=क्षांटा । ऋच्छति से । कण्टकः=कंतपः=कित को तपः=तापित
 करने वाला अथवा । कृन्तति से अथवा । कण्टति से अथवा होवे, गति
 अर्थ वाले से । उद्धततम=अत्यन्त ऊपर को उठा हुआ होता है । यच्छ=दो
 हमें शर्म=आरण । सब ओर से पृथु=विस्तृत । [पृथिवी फैले विस्तृत हुई, यह
 पहले कहा गया है ।]

२७. अग्ना । [निरु० ६। १२ में व्याधि वा भय अर्थ में] व्याख्यात
 [है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३२ ॥

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाद्भान्यध्वे परेहि ।

अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकेरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥

[ऋ० १०। १०३। १२ ॥]

अमीषां चित्तानि प्रशानानि । प्रतिलोभयमाना गृहाणाद्भानि अर्ध्वं ।
 परेहि । अभिप्रेहि । निर्दहैषां हृदयानि शोकैः । अन्धेनामित्रास्तमसा
 संसेव्यन्ताम् ।

आग्नायी । अग्नेः पत्नी । तस्या एषा भवति ॥ ३३ ॥

अर्थ—(अमीषाम्) इन [शत्रुओं] के (चित्तम्) चित्तों को
 (प्रति लोभयन्ती) उलटी ओर लोभित करती हुई, (गृहाण) पकड़ो
 (अद्भानि) [इन के] अद्भों को (अर्ध्वं) हे अर्ध्वे, (परेहि) [और]
 परे चली जा । (अभि प्रेहि) [इन के] अभिमुख जा, (निर्दह)
 सर्वथा जला दे (हृत्सु) हृदयों में (शोकैः) शोकों से, (अन्धेन
 अमित्राः तमसा) अत्यन्त अन्ध-अन्धकार से शत्रुओं को (सचन्ताम्)
 सेवन=युक्त कर ॥

इन [शत्रुओं] के चित्तों को=प्रज्ञानों को प्रतिलोभन करती हुई ग्रहण
 कर अद्भों को, हे अर्ध्वे । परे जा, [शत्रुओं के] अभिमुख जा । सर्वथा जला
 दे इन के हृदय को शोकों से । अन्धा करने वाले से, शत्रुओं को, अन्धकार
 से युक्त कर ।

२८. आग्नायी । अग्निः की पत्नी । उस की यह [ऋक्] होती है ॥३३॥

इहेन्द्राणामुप ह्वये परुणानीं स्वस्तो । अप्राय्या सोमपीतये ।

[श्रु० १ । २२ । १० ॥]

इति सा निघण्टुव्याख्याता । ३४ ॥

अर्थ—(इड) यह [मन कम म] इड की पत्नी को (उर इड)
तुलाता है वरुण की पत्नी को कल्याण के लिए । अग्नि की पत्नी को सोम
पान के लिए ।

यह [श्रु] साठ व्याख्यान [है ।] ॥ ३५ ॥

अ गताऽष्टी द्र-दानि ।

[उन्मूलमुसल ।] उन्मूल व्याख्यातम् । मुसलं मुद्गं सगम् ।
तयारण्या भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ—अर आग जाठ दू ड [त्रिवस्तु ५ । ३ । २०-२६ तक है ।]

२६ [उन्मूलमुसल ।] उन्मूल [त्रिव० १ । २० म] व्याख्या
किया गया [है ।] मुसलम्=गार गार [नाक ऊपर] गरदन गता ।
उन दाना की यह [श्रु] होती है ॥ ५ ॥

आपन्ना राज्ञात्मा ता सुधा विजर्भतः ।

इति इवाभौमि चर्ष्वता ॥ [श्रु० १ । २० । ७ ।]

आवृष्ट्य अप्रान्त सन्मूलम । न सुधाविहितवत् इती एवापानि
भुजानि ।

इतिथान इतिथानि निजानि । तयारण्या भवति ॥ ३६ ॥

अर्थ—(आपन्नी) पार्य और न पत्रनाथ (वाक्यतामसा) अर्थात् क
वृत्त अर्थात् दाना (ता) व [उन्मूल और मुसल] (इड / इड (उषा)
उक्त अर्थात् न (विजर्भत) विदार का है, [अन्त १२१ ३ ।] (इती
इड) इड के दानों अर्थात् क ममन (अप्रान्त) अर्थात् को (एषाणा)
सात श्रु ॥

आयपृथ्व्ये=चारों ओर ने यजनीय, अत्रों के बहुत अधिक दाता ते द्वि=
वे दोनों उलूखल-मुसल अत्रि स्वर मे विहार करने हैं, दोनों अश्वों के ममान
अत्रों को खाते हुए ।

३०. हविधनि । [सोम रूपी] हवियों के खने के दो शकट=गाड़ियां ।
उन दोनों की यह [ऋक्] होनी है ॥ ३६ ॥

भाष्य—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सूक्त २८ में सारे ३ मन्त्र हैं ।
पृथ्वेयता के लेख में १-४ की देवता भागुरि के अनुसार इन्द्र और वारुण और
कात्थक्य के अनुसार इन्द्र-उलूखल है । १-८ की देवता उलूखल और उलूखल
और मुसल है । शतपथ ७।१।१।२२ के अनुसार सृष्टि बनते समय
प्रजापति की वाक् से उलूखल बना । आधिदेविक पक्ष में—अन्नरिक्षं वा
उलूखलम् । श० ७।१।१।२३ है । इन्द्र और उलूखल का सम्बन्ध
अवश्य है । दोनों मध्यम स्थानी हैं । उन्ही प्रसङ्ग से पार्थिव उलूखल-मुसल ने
भी स्तुति प्राप्त की है ॥ ३६ ॥

आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः । इहाद्य सोमपीतये ॥

[ऋ० २।४२।२२ ॥]

आसीदन्तु वामुपस्थमुपस्थानम् । [अद्रोग्धये इति वा ।] यज्ञिया
देवाः । यज्ञसम्पादिनः । इहाद्य सोमपानाय ।

द्यावापृथिव्यौ व्याख्यातं । तयोरेषा भवति ॥ ३७ ॥

अर्थ—(वाम्) तुम दोनों की (उपस्थम्) पीठ पर (अद्रुहा) हे
द्रोह रहित [हविधनि] (देवाः) देव (आ सीदन्तु) चारों ओर से
[आ कर] बैठें । (यज्ञियाः) यज्ञ सम्पादिन [देव] (इहाद्य) यहाँ
आज (सोमपीतये) सोम पीने के लिए ॥

बैठें तुम दोनों की पीठ पर । [नहीं द्रोह के योग्य अथवा ।] यज्ञिया
देवाः=यज्ञसम्पादिनः=यज्ञ सम्पादन करने वाले । यहाँ आज सोम पीने के
लिए ।

३१. द्यावापृथिव्यौ । [निरुक्त १।१३ मे] व्याख्या किए गए । उन
दोनों की यह [ऋक्] होली है ॥ ३७ ॥

घात्री नः पृथिवी इमं सिध्मव दिविस्पृशम् ।

यज्ञं देवेषु यच्छताम् ॥ [ऋ० २ । ४१ । २० ॥]

घात्रापृथिवी न इमं सा प्रथमघ दिविस्पृश यज्ञ श्वेषु नियच्छताम् ।
विपाट्छुतुद्री व्याख्यात । नृनयारथा भवति ॥ ३८ ॥

अर्थ—घात्रापृथिवी (न) हमार (१मम्) इम (सिध्मव) सायन
[रूपो यन] को (अघ) आज (दिविस्पृशम्) जो जो छूने जाने को
(यज्ञम्) यज्ञ को देवीं न (यच्छताम्) द ॥

घ वापृथिवी इम सायन को आज जो का छूने जान यन को देवीं मे दे ।

३२ विपाट्छुतुद्री । [निरुक्त २ । २४ १५ म] व्याख्या की गई ।
उन दोनों की यह [शृक्] होनी है ॥ ३८ ॥

भाष्य—पृथिवी पर क्विप् गप् यज्ञ को आहुति जो तक पहुँचती है । आप,
वायु, आग्नेय परमाणु और सूर्य की रश्मियाँ आदि पार्थिव इवि का जो
लक के देवों में बाँटती है । इस प्रकार जो का सम्बन्ध पार्थिव अग्नि के साथ भी
रहता है । इसी अभिप्राय से जो को पार्थिव आपतन का कहा है ॥ ३८ ॥

प्र पर्वतानामुपश्रुती उपस्थादश्वे इव विषिते हार्यमाने ।

गार्ध्वेव शुभ्रे मातरं रिहाणे विपाट्छुतुद्री पर्यसा जवेते ॥

[ऋ० ३ । ३३ । १ ॥]

पर्वतानामुपस्थात् उपस्थानात् । उश्रुती कामयमाने । अश्वे इव ।
विमुक्ते इति वा । विपण्ये इति वा । दासमाने । दासति स्वर्धायाम् ।
हर्षमाणे वा । गार्ध्विण [शुभ्रे] शोभन । मातरं सरिहाणे । विपाट्
छुतुद्री पर्यसा प्रभवत ।

आर्जा । अर्तम्यो वा । अरण्यो वा । आरिपण्यो वा ।

तयोरथा भवति ॥ ३६ ॥

अर्थ—(प्रपर्वतानाम्) पर्वतों की (उश्रुता) कामना करती हुई
[समुद्र को] (उपस्थात्) गोद से (अश्व इव), घोड़ियों के समान

(विपिते) [अश्व शाला से] विमुक्त हुईं, (हासमाने) स्पर्वा करती हुईं (गावा इव=गावों इव) दो गौओं के समान (शुभ्रे) शोभा वाली (मातरा=मातरों) माताओं के समान (रिहाणे) चाटने की इच्छा करती हुईं, (विपाट् शुतुद्री) दोनों विपाट् और शुतुद्रि [नदियां] (पयसा) पयः से (प्रज्वेते) पूरे वेग से दौड़ती हैं ॥

पर्वतों की उपस्थात्=उपस्थानात्=गोद से उशत्यो=दोनों वानना करती हुईं, दो घोड़ियों के समान, [अश्वशाला मे] विमुक्त हुईं अथवा, विपण्ये=इकट्टी जुड़ी हुईं अथवा । हासमाने=हामति स्पर्वा [अर्ष] में [है ।] प्रसन्न होती हुईं अथवा, दो गौओं के समान शोभा वाली, दो माताएं संरिहाणे=[मानों वत्सों को] चाटती हुईं विपाट् और शुतुद्रि पयः से वेग से दौड़ती हैं ।

३२. आर्त्ती । अर्तन्यो=धनुष के सिरे=धनुष कोटि अथवा, [चलाने वाली वाणों को] । अरण्यो=अरणी=गमन योग्य अथवा, आरिपण्यो=मारने वाली [शत्रुओं को] अथवा । उन दोनों की यह [ऋक्] होती है ॥ ३६ ।

भाष्य—पयः साधारण जल नहीं है । आगे खण्ड ४० में स्पष्ट है कि पयः द्यौ में वायु और आदित्य के कारण बनता है । पयः का अग्निः से साक्षात् सम्बन्ध है । समानजन्म वै पयश्च हिरण्यञ्च । उभयं ह्यग्निरेतसम् । श० ३ । २ । ४ । ८ ॥ सोमः पयः । श० १२ । ७ । ३ । १३ ॥ अन्तरिक्षस्य आपः भी पयः है । पयः का गम्भीर अर्थ है । अतः पयसा ज्वेते, से साधारण जल अर्थ समझना युक्त नहीं । यहां प्रकरण नदियों का है । वे अन्तरिक्ष में हैं, और पृथिवी पर भी । मन्त्रों का सम्बन्ध नित्य नदियों से है । नदियों पर कथन विशेष पहले २-२४, २५ के भाष्य में हो चुका है ॥ ३६ ॥

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं विभृतामुपस्ये ।

अप शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्ती इमे विष्फुरन्ती अमित्रान् ॥

[ऋ० ६ । ७५ । ४ ॥]

ते आचरन्त्यो समनसाविव योषे । मातेव पुत्रं विभृतामुपस्ये उपस्थाने । अपविध्यतां शत्रून्संविदाने आर्त्त्याविमे विघ्नत्यावमित्रान् ।

शुनासीरो । शुनो वायुः । शु एत्यन्तरिक्षे । सीर आदित्यः । सरसात् । तयोरेषा भवति ॥ ४० ॥

अर्थ—(ते) वे दोना [धनुष कोटी] (आचरन्ती) आचरण करती हुई (समना एष योषा) समान मन वाली दो स्त्रियों के समान (माता इव पुत्रम्) माता जैसे पुत्र को (विभृताम् उपस्थे) धारती है गोद में । (गवुर्) गवुओ का (अप विध्यताम्) बोधे (सविदाने) [मानो] मवाद करती हुई (आर्त्ता इमे) धनुषकोटी वे दोनो (विस्तुरन्ती) नष्ट करती हुई (अमिषान्) गवुओ को ॥

व दोनो आचरण करती हुई, समान मन वाली दो स्त्रियों क समान माता जैसे पुत्र को धारती है गोद में । बाँधे गवुओ को, संहार करती हुई आत्सर्व्यो इमे=वे दोना धनुषकोटी, विघ्नत्यो=मारती हुई अमिषो को ।

३७ शुनासीरो । शुन = वायु । शु=शीघ्र चलता है अन्तरिक्ष में । सीर.=आदित्य । सरकने में । उन दोनो की यह [श्क्] होनी है ॥ ४० ॥

भाष्य—वायु और आदित्य उपर के लोकों में है । ऐसा यासक्रीय भाष्य स स्पष्ट है । पर उन का आचरण पृथिवी पर भी सम्बद्ध है । अत यह इन्द्र भी यहाँ गिना गया है ॥ ४० ॥

शुनासीराग्निमां वाचं जुषेथां यदिवि चक्रधुः पयः ।

तेनेमासुप सिञ्चतम् ॥ [ऋ० ४।५७।५१ ॥]

इति सा निगद्व्याख्याता ।

द्वी ओष्ठी देवी जीपयिष्ठी । द्यावापृथिव्याविति वा । अहोरात्रे इति वा । सस्य च समा च इति कारथक्यः ।

तयोरेष सम्प्रेषो भवति ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे शुनासीरो=वायु और आदित्य इम वाणो को (जुषेथाम्) सेवन करो, जो द्यौं मे (चक्रधु) तुम दोनो ने किया पयः । उस [पय] से इस [पृथिवी] को (उप सिञ्चतम्) मोचो ॥

यह स्पष्ट ही व्याख्यात [है ।]

३५. देवी जोष्ट्री । दो देवियां, तृप्त करने वालीयां । अवापृथिवी
अथवा । अहोरात्र अथवा । सस्यम्=वान्य आदि और संवत्सर और, यह
कात्थक्य [कहता है ।] उन दोनों का यह सम्प्रैयः=[अध्वरु का मन्थान्त
में यज इति पद बोल कर होता को प्रार्थना का कथन] होता है ॥ ४१ ॥

भाष्य—इन दोनों आधिदैविक पदार्थों का भी पृथिवी का अग्निः आध्रप है ।
सम्प्रैयः । इस पर स्कन्द लिखता है—न ऋक्, न यजुः न साम ।
इति ॥ ४१ ॥

देवी जोष्ट्री वसुधित्वा ययोरन्याघा द्वेषांसि यूयत्दान्या
वत्तद्वसु वार्याणि यजमानाय वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥

[मै० सं० ४।१३। = ॥ तै० ब्रा० ३।६।१३ ॥]

देवी जोष्ट्री देवी जोषयिष्वी । वसुधित्वा वसुधान्यो । ययोरन्या-
घानि द्वेषांस्यवयावयति । आवहत्यन्या वसूनि वननीयानि यजमानाय ।
वसुवननाय च वसुधानाय च । वीतां पिबेताम् । कामयेतां वा । यजेति
सम्प्रैयः ।

देवी ऊर्जाहुती । देव्या ऊर्जाह्वान्यो । चात्रापृथिव्याविति वा ।
अहोरात्रे इति वा । सस्यं च समा च इति कात्थक्यः ।

तयोरपः सम्प्रैयो भवति ॥ ४२ ॥

अर्थ—(देवी जोष्ट्री) दो देवियां तृप्त करने वालीयां, (वसुधित्वा)
धन को रखने वालीयां (ययोः अन्या) जिन दो में से एक (अघा
द्वेषांसि) पापों [और] द्वेषों को (यूयत्) दूर करती है, (अन्या)
दूसरी (आवत्तद्वसु) लाती है धनों को (वार्याणि) चाहने योग्यों को
(यजमानाय) यजमान के लिए (वसुवने) धन के भाग के लिए
(वसुधेयस्य) [और] धन के सग्रह के लिए । (वीताम्) [दोनों
देवियां] पिएं, कामना करें अथवा, (यज) [हे होतः] यज ।

दो देवियां तृप्त करने वालीयां । वसुधित्वा=धन को धारण करने वालीयां ।
ययोः=जिन दो में से अन्या=एक अघानि=पापों को [और] द्वेषांसि=द्वेषों
को अवयावयति=दूर करती है । आवहति=बहा लाती है दूसरी वसूनि=धनों

को वननीयानि=चाहने योग्यो को यजमान के लिए । वसुवननाय च=धन के दाटने के लिए और वसुधानाय च=धन के संग्रह के लिए और, वीताम्=पिरेताम्=पिए, कामना करें अथवा । यज्ञ, यह कथन सम्प्रैय [है ।]

३६ देवी ऊर्जाहुती । दो देविया अन्न रस के बुलाने वालिया । द्याव-पृथिवी अथवा । अहोरात्र अथवा । धान्य और संवत्सर और, यह कात्यम् [कहता है ।] उन दोनों का यह सम्प्रैय होता है ॥ ४२ ॥

देवी ऊर्जाहुती इमूर्जमन्या वत्सरसग्धि सपीतिमन्या नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम पुराणेन नवं तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमानेः अधातां वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज्ञ ॥

[मै० सं० ४ । १३ । = ॥ तै० ब्रा० ३ । ६ । १३ ॥]

देवी ऊर्जाहुती देव्यो ऊर्जाह्वान्यो । अन्नं च रसं चावदति [आव-दति] अन्या । सहजग्धि च सहपीति चान्या । नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम । पुराणेन नवम् । तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधाताम् । वसुवननाय च । वसुधानाय च । वीतां पिरेताम् । कामयेता वा । यजेति सम्प्रैय । यजेति सम्प्रैय ॥ ४३ ॥

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

अर्थ—(देवी ऊर्जाहुती) दो देवियां, अन्न रस को बुलाने वालिया, [अन्न पूर्ण] (इमूर्जमन्या) धान्य आदि इम को, ऊर्ज=रस को (अन्या) एक (आ वसुत्) लाती है । (स ग्धिम्)=सह जग्धिम्= एकत्र खाने को (स पीतिम्) एकत्र पीने को (अन्या) दूसरी । (नवेन, पूर्वम्) [संवत्सर के] नए [धान्य से] पूर्व क [धान्य को] (दयमान) रक्षा करते हुए (स्याम) हम होवे । (पुराणेन) पुराने [धान्य] से (नवम्) नए को । (ताम् ऊर्जम्) उस अन्न रस को (ऊर्जाहुती) अन्न-रस के बुलाने वालिया (ऊर्जयमाने) बल करती गई (अधाताम्) [हमें] देवे । (वसुवने) धन के विभाग क लिए (वसुधेयस्य) [और] धन के संग्रह के लिए । (वीताम्) पिए, (यज्ञ) [है होनः] यज्ञ ॥ -

देवी ऊर्जाहुती=देव्यौ ऊर्जाङ्गान्यौ=दो देवियां अन्न-रस को बुलाने
 वालियां, अन्न को और, रस को और लाती है एक । सहभोजन को और
 दूसरी । नए से पुराने को रक्षा करते हुए होंगे । पुराने से नए को । उस
 ऊर्ज को ऊर्जाहुती, अन्न रस वालियां, बल करती हुईं हमें देवें । वसु को
 वांटने के लिए और, वसु के संप्रह के लिए और । पिएं, कामना करें
 अथवा । यज, यह सम्प्रेष [है ।] यज, यह सम्प्रेष [है] ॥ ४३ ॥

भाष्य—ऊर्ज का अन्न रस केवल स्थूल अर्थ है । यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ
 है, और अन्न-रस में विद्यमान रहता है । यह अर्थ मन्त्र और ब्राह्मण में प्रदर्शित
 है । इस के लिए वेदवाणी में हमारा लेख द्रष्टव्य है ॥ ४३ ॥

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अधातो मध्यस्थाना देवताः । तासा वायुः प्रथमागामी भरति ।
वायुर्गतिः । वेतेर्मा स्याद् गतिकर्मणः । एतेरिति स्वीळाष्टीवि ।
अनर्षको वकारः । तस्येवा भरति ॥ १ ॥

अर्थ—अब मध्यमस्थान वाले देवता [कहते हैं ।]

उन में मे वायुः प्रथम आने वाला होता है । वायुः वाति से । वेति से
अथवा होरे, गति अर्थ वाले से । एति से, यह स्वीळाष्टीवि [कहता है ।]
[=एति चलना है ।] अनर्षक [है] वकार [वायु=आयु] । उम की
यह [सूक्] होती है ॥ १ ॥

भाष्य—जब सृष्टि बनने लगी, तो पञ्च महाभूतों के पश्चात्—

अग्नि, वायु और वायु अपना काम करने लगे । तब प्रजापति=द्विरययगर्भ
=पुरुष उत्पन्न हुआ । प्रजापति पुरुष से पहले पृथिवी और तदनु वी के विभिन्न
अङ्ग उत्पन्न हुए । तब पृथिवीसाय साय थे । वे जब बुर होने लगे, तब
अन्तरिक्ष बनीय होने लगा । उस के कारण अन्तरिक्ष के देवगण भी उत्पन्न हुए ।
देव उत्पत्ति का स्वल्प निदर्शन हम ने पूर्व २ । २२ के अर्ध में किया है ।
अन्तरिक्ष के उद्व हो जाने पर देव-निर्माण का सकेत पूर्व १ । ११ में उद्घन
मन्त्र में कथित है—

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् । ष० १० । २० । २१ ॥

इस मन्त्र पर शारङ्ग का भाष्य है—देवाना निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन् ।
माध्यमिका देवगणाः । प्रथम इति मुख्यनाम ।

माध्यमिक देवगण भी तब अन्तरिक्ष उत्पन्न हुए । वायु पहले से था, पर
उत्तर अन्तरिक्ष में अन्त्य देवों के साथ वह भी अन्तरिक्ष हो गया । उस का अर्थ यह
किया गया है ।

प्रजापति और देव ही ईश्वरीय नियम के अनुसार मन्त्र-उत्पत्ति का कारण थे । अतः इस देवविद्या को समझे बिना वेदार्थ का ज्ञान और वेदत्व की अनुभूति असंभव है । योरोपीय ईसाई-यहूदी अध्यापकों ने यह अनुभूति प्राप्त नहीं की । फलतः उन की वेद-विषयक धारणाएं निस्सार हैं ।

स्यौलाप्टीधिः का निर्वचन अद्भुत है । उस को ऐसा करने का अधिकार था । वस्तुतः व्याकरण शास्त्र में सूक्तों के लिए ही धातु और प्रकृति प्रत्यय की कल्पना की गई है ॥ १ ॥

वायुवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः ।

तेपां पाहि श्रुधी ह्वम् ॥ [ऋ० १।२।१ ॥]

वायवायाहि दर्शनीय । इमे सोमा अरङ्कृता अलङ्कृताः । तेपां पिव । शृणु नो ह्यनमिति । कमन्यं मध्यमाद् एवमवद्यत् । तस्यैपापरा भवति ॥ २ ॥

अर्थ—(वायो) हे वायो (आ याहि) आओ, (दर्शत) हे दर्शनीय (इमे) ये (सोमाः) बहुविध सोम (अरङ्कृताः) अलङ्कृत किए गए हैं, (तेपां पाहि) उन को पियो, स्वायत्त करो, (श्रुधि) सुनो (ह्वम्) [हमारे] आवाहन को ॥

हे वायो, आओ, हे दर्शनीय । ये सोम अलङ्कृत हैं । उन को पियो । सुनो हमारे आवाहन को । किस अन्य को [इस] मध्यम से ऐसा अवद्यत्त कहेंगे । उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २ ॥

भाष्य—दर्शत । यास्क इस का अर्थ करता है—दर्शनीय । क्या वायु दर्शन का विषय है । सोमाः, यहां बहुवचनान्त है । अन्तरिक्ष में बहुविध सोम होने चाहिए । वे सोम अलङ्कृत किए गए हैं । वायु और इन्द्र उन्हें ग्रहण करते हैं । हमारे इस बुलावे को सुनो । देवता को मनुष्यवत् मान कर यह प्रार्थना है । वायु का एक अद्भुत गुण है—न खलु वै किञ्चन दायुना अतभिगतम् अस्ति । मै० सं० २।२।७ ॥ २ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथातो मध्यस्थाना देवता । तासा वायु प्रथमागामी भवति । वायुर्वात । धतथा स्याद् गतिकर्मण । पठरिति स्थोत्राष्टीधि । अनर्थको वकार । तस्येया भवति ॥ १ ॥

अर्थ—अब मध्यमस्थान वाल देवता [कहने हैं ।]

उन में म वायु प्रथम आने वाला होता है । वायु वाति में । वेति में अथवा होवे, गति अर्थ वाल स । एनि स, यह स्थोत्राष्टीधि [कहना है ।] [=एनि चलना है ।] अनर्थक [है] वकार [वायु-आयु] । उन की यह [श्रुक] होनी है ॥ १ ॥

भाष्य—जब सृष्टि बनने लगी तो पञ्च महाभूतों क पश्चात्—

अग्नि आप और वायु अपना काम करने लग । तब प्रजापति=द्विरक्षयर्म =पुरुष उत्पन्न हुआ । प्रजापति पुरुष स पहले पृथिवी और तदनु धी के विभिन्न अन्न उत्पन्न हुए । तब आवापृथिवी साथ साथ थे । वे जब दूर होने लगे तब अन्तरिक्ष बनीय होने लगा । उस के कारण अन्तरिक्ष के देवगण भी उत्पन्न हुए । देव सृष्टि का स्वरूप निम्नोक्त इस से पूर्व २ । २२ के अपने भाष्य में किया है । अन्तरिक्ष के उद हो जाने पर देव-निर्माण का सकेत पूर्व १ । २२ में उद्घन मन्त्र में द्यित है—

देवाना माने प्रथमा अतिष्ठन् । ष० १० । २० । २३ ॥

इस मन्त्र पर धारक का भाष्य है—देवाना निर्माण प्रथमा अतिष्ठन् । माध्यमिका द्यगण । प्रथम इति मुख्यनाम ।

माध्यमिक द्यगण भी तब अस्तित्व में आये हुए । वायु पहले से था, पर उत्तर अक्ष में अन्य देवों के साथ वह भी अस्तित्व में आया । उस का पर्यन्त यहाँ किया गया है ।

प्रजापति और देव ही ईश्वरीय नियम के अनुसार मन्त्र-उत्पत्ति का कारण थे । अतः इस देवविद्या को समझे बिना वेदार्थ का ज्ञान और वेदतत्त्व की अनुभूति असंभव है । योरोपीय ईसाई-यहूदी अध्यापकों ने यह अनुभूति प्राप्त नहीं की । फलतः उन की वेद-विषयक धारणाएं निस्सार हैं ।

स्थोलाष्टीधिः का निर्वचन अद्भुत है । उस को ऐसा करने का अधिकार था । वस्तुतः व्याकरण शास्त्र में सौकर्य के लिए ही धातु और प्रकृति प्रत्यय की कल्पना की गई है ॥ १ ॥

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः ।

तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ [ऋ० १।२।१॥]

वायवायाहि दर्शनीय । इमे सोमा अरङ्कृता अलङ्कृताः । तेषां पिव । शृणु नो ह्यनमिति । कमन्यं मध्यमाद् एवमवक्ष्यत् । तस्यैपापरा भवति ॥ २ ॥

अर्थ—(वायो) हे वायो (आ याहि) आओ, (दर्शत) हे दर्शनीय (इमे) ये (सोमाः) बहुविध सोम (अरङ्कृताः) अलङ्कृत किए गए हैं, (तेषां पाहि) उन को पियो, स्वायत्त करो, (श्रुधि) सुनो (हवम्) [हमारे] आवाहन को ॥

हे वायो, आओ, हे दर्शनीय । ये सोम अलङ्कृत हैं । उन को पियो । सुनो हमारे आवाहन को । किस अन्य को [इस] मध्यम से ऐसा अवक्ष्यत् कहेंगे । उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २ ॥

भाष्य—दर्शत । धास्क इस का अर्थ करता है—दर्शनीय । क्या-वायु दर्शन का विषय है । सोमाः, यहां बहुवचनान्त है । अन्तरिक्ष में बहुविध सोम होने चाहिए । वे सोम अलङ्कृत किए गए हैं । वायु और इन्द्र उन्हें ग्रहण करते हैं । हमारे इस बुलावे को सुनो । देवता को मनुष्यवत् मान कर यह प्रार्थना है । वायु का एक अद्भुत गुण है—न खलु वै किञ्चन दायुना अनभिगतम् अस्ति । मे० सं० २।२।७ ॥ २ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथातो मध्यस्थाना देवताः । तासा वायुः प्रथमागामी भवति । वायुर्वातिः । वतेर्था स्याद् गतिकर्मणः । एतेरिति स्वीक्याष्टीरि । अनर्थको वकारः । तस्येषा भवति ॥ १ ॥

अर्थ—अब मध्यमस्थान जाने देवता [कहते हैं ।]

उन में से वायु प्रथम आने वाला होता है । वायुः वाति में । वेति से अथवा होवे, गति अर्थ जाने से । एति से, यह स्वीक्याष्टीरि [कहता है ।] [=एति चलना है ।] अनर्थक [हे] वकार [वायु=आयु] । उन की यह [सूक्] होती है ॥ १ ॥

भाष्य—जब सृष्टि बनने लगी, तो पञ्च महाभूतों के पश्चात्—

अग्नि, वायु और वायु अपना काम करने लगे । तब प्रजापति=हिरण्यगर्भ =पुरुष उत्पन्न हुआ । प्रजापति पुरुष से पहले पृथिवी और तदनु घी के विभिन्न अणु उत्पन्न हुए । तब आवापृथिवी साथ साथ थे । वे जब दूर होने लगे, तब अन्तरिक्ष बरीय होने लगा । उस के कारण अन्तरिक्ष के देवगण भी उत्पन्न हुए । देव उत्पत्ति का स्वल्प निदर्शन हम ने पूर्व १ । २२ के अपने भाष्य में किया है । अन्तरिक्ष के उच्च हो जाने पर देव-निर्माण का लक्ष्य पूर्व १ । २२ में उद्घटन मन्त्र में बयित है—

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् । अ० १० । २० । २१ ॥

इस मन्त्र पर वाक्य का भाष्य है—देवाना निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन् । माध्यमिकार देवगणाः । प्रथम इति मुख्यनाम ।

माध्यमिक देवगण भी तब प्रमथ. उत्पन्न हुए । वायु पहले से था, पर उत्तर काल में अन्य देवों के साथ वह भी प्रमथ हो गया । उस का वर्णन यहाँ किया गया है ।

आसन्नाणास इत्यस्यां वायुरिन्द्रश्च संस्तुतो ।

इन्द्रः प्राधान्यतो वात्र स्तुतो वायुर्निपातभाक् ॥ २ । १०७ ॥

सर्वानुक्रमणी में ऐसा कोई संकेत नहीं है ।

वायोः अमृतम् । वायु का अमृत=भक्ष कैसा है । वायु किस प्रकार दिव्य रूप धारण किए रहता है । इस का उत्तर है, सोम के भक्ष से वायु सदा अमृत है । वायु का वैद्युत् रूप सोम के कारण है । यास्क के अनुसार सुचक्रे=कल्याणचक्रे है । निरुक्त में मन्त्रगत सु उपसर्ग का यास्क प्रायः कल्याण अर्थ करता है ॥ ३ ॥

नीचीनद्वारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् ।

तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्युनक्ति भूमिम् ॥

[ऋ० ५ । ८५ । ३ ॥]

नीचीनद्वारं वरुणः । कवन्धं मेघम् । कवनमुदकं भवति । तदस्मिन्धीयते । उदकमपि कवन्धम् उच्यते । वन्धिरनिभृतत्वे । कमनिभृतं च । अस्तुजति । द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च । महत्त्वेन तेन । सर्वस्य भुवनस्य राजा । यवमिव वृष्टिर्युनक्ति भूमिम् ।

तस्यैवापरा भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—(नीचीनवारम्) नीचे द्वार=द्वार वाले को (वरुणः) वरुण ने (कवन्धम्) मेघ को [कर के] (प्र ससर्ज) विशेष रूप से उत्पन्न किया (रोदसी) द्यावापृथिवी को [और] (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को । (तेन) इस [महत्त्व] से (विश्वस्य) सम्पूर्ण (भुवनस्य) भुवन का राजा, (यवम् न) जो को जैसे [सींचते हैं, वैसे] वृष्टिः (वि—उनक्ति) गीला करती है (भूमिम्) पृथिवी को ॥

नीचे द्वार वाले को, कवन्धम्=मेघ को । कवन उदक होता है । वह [उदक] इस [मेघ] में रखा जाता है । उदक भी कवन्ध कहा जाता है । वन्धिः, अ-निभृतत्वे=नहीं निभृत=गुप्त=बन्धा हुआ रखने के अर्थ में । कम=सुख अथवा उदक, अनिभृतं च=नहीं बन्धा=चञ्चल । उत्पन्न करता है, द्यावापृथिवी को और, अन्तरिक्ष को और । इस् [कर्म के]

आसस्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचके रथ्यासो अश्वाः ।

अभि श्रवु ऋज्यन्ती वहेयुर्नू चिन्तु वायोरमृतं वि दस्येत् ॥

[श्रु० ६। ३७। ३ ॥]

आसस्राणासः । अभिवलायमानमिन्द्रम् । कल्याणचक्रे रथे योगाय ।
रथ्या अश्वाः । रथस्य बोद्धारः । ऋज्यन्त ऋजुगामिनः । अघ्नमभिव-
हेयुर्न च पुराण च । श्रवः इत्यघ्ननाम । ध्रुवत इति सतः । वायोश्चास्य
भक्तो यथा न विदस्येदिति ।

इन्द्रप्रधानेत्येके । नैघण्टुकं वायुकर्म । उभयप्रधानेत्यपरम् ।

वरुण । वृणोतीति सतः । तस्यैषा भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—(आसस्राणासः) चारों ओर से सरकने वाले, (शवसानम्)
अधिक बली मानते हुए (इन्द्रम्) इन्द्र को, (सुचके) सुन्दर चक्र वाले
[रथ] पर (रथ्यासः) रथ में जुड़े हुए (अश्वाः) अघ्न (श्रवः) अन्न
को और (ऋज्यन्त) ऋजुगति वाले (अभि वहेयुः) ले जाएँ=वहन
करें, (नू चित् नू) जिस से नहीं (वायोः) वायु का (अमृतम्) अनृत
(वि दस्येत्) बुझे, घटे, विहृत होवे ॥

आसस्राणास = चारों ओर से सरकने वाले, अभिवलायमानम् = अधिक
बली मानते हुए इन्द्रम् = इन्द्र को, कल्याणचक्रे = सुन्दर पहिरी वाले रथ
पर योगाय = जुड़ने के लिए, रथ्या = रथस्य बोद्धार = रथ के ले जाने वाले
घोड़े, ऋजुगति वाले, अघ्न को [अघ्न की ओर] नए को और, पुराण को
और, अभिवहेयु = ले जावें । श्रवः यह अघ्न का नाम है । ध्रुवते = नर्वेष्ट
सुना जाता है, एसा होने हुए से । इस वायु का भक्त जैसे न विहृत हो ।

इन्द्रप्रधाना [श्रु] यह कई [आचार्य कहते हैं ।] नैघण्टुक=नीण
है [इम म] वायु का कर्म । दोना प्रधानों वाली, यह अपर [पक्ष है ।]

२ वरुण । घेरता (= आच्छादित करता) है, ऐसा होते हुए से । उस
की यह [श्रु] होती है ॥ ३ ॥

भाष्य—इदरेवता २ । १०० में पठित—आसस्राणासः पर का अर्थ
मिश्रानन्द ने 'Bringing lather' किया है । यह ठीक नहीं । इस मन्त्र की
रेवता के विषय में इदरेवता का अर्थ है—

आसन्नाणास इत्यस्यां वायुरिन्द्रश्च संस्तुतो ।

इन्द्रः प्राधान्यतो वात्र स्तुतो वायुर्निपातभाक् ॥ २ । १०७ ॥

सवांनुक्रमणी में ऐसा कोई संकेत नहीं है ।

वायोः अमृतम् । वायु का अमृत=भक्ष कैसा है । वायु किस प्रकार दिव्य रूप धारण किए रहता है । इस का उत्तर है, सोम के भक्ष से वायु सदा अमृत है । वायु का वैद्युत् रूप सोम के कारण है । यास्क के अनुसार सुचक्रो=कल्याणचक्रो है । निरुक्त में मन्त्रगत सु उपसर्ग का यास्क प्रायः कल्याण अर्थ करता है ॥ ३ ॥

नीचीनवारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् ।

तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिव्युनक्ति भूमिम् ॥

[ऋ० ५ । ८५ । ३ ॥]

नीचीनद्वारं वरुणः । कवन्धं मेघम् । कवनमुदकं भवति । तदस्मिन्धीयते । उदकमपि कवन्धम् उच्यते । बन्धिरनिभृतत्वे । कमनिभृतं च । प्रसृजति । द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च । महत्त्वेन तेन । सर्वस्य भुवनस्य राजा । यवमिव वृष्टिव्युनक्ति भूमिम् ।

तस्यैवापरा भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—(नीचीनवारम्) नीचे वार=द्वार वाले को (वरुणः) वरुण ने (कवन्धम्) मेघ को [कर के] (प्र ससर्ज) विशेष रूप से उत्पन्न किया (रोदसी) द्यावापृथिवी को [और] (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को । (तेन) इस [महत्त्व] से (विश्वस्य) सम्पूर्ण (भुवनस्य) भुवन का राजा, (यवम् न) जो को जैसे [सींचते हैं, वैसे] वृष्टिः (वि—उनक्ति) गीला करती है (भूमिम्) पृथिवी को ॥

नीचे द्वार वाले को, कवन्धम्=मेघ को । कवन उदक होता है । वह [उदक] इस [मेघ] में रखा जाता है । उदक भी कवन्ध कहा जाता है । बन्धिः, अ-निभृतत्वे=नहीं निभृत=गुप्त=बन्धा हुआ रखने के अर्थ में । कम्=सुख अथवा उदक, अनिभृतं च=नहीं बन्धा=चञ्चल । उत्पन्न करता है, द्यावापृथिवी को और, अन्तरिक्ष को और । इस् [कर्म के]

महत्त्व से । सारे भुवन का राजा । जो को जैसे वृष्टि गीना करती है भूमि को ।

उस को यह दूसरी [श्रुक्] होती है ॥ ४ ॥

भाष्य—वारम्, इस वैदिक पद से पञ्जाबी का वारी=खिन्की अपभ्रंश हुआ है । मेघ को नीचे द्वार वाला वरुण ने किया । मेघ का उदक पृथिवी पर क्यों पड़ता है । क्या पृथिवी के किसी आकर्षण से अथवा आन्तर्य सिद्धान्त के कारण । प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् । वरुण ने उपलब्ध किया आवापृथिवी को और अन्तरिक्ष को । इस कथन में वरुण की वह महत्ता है, जिस के द्वारा आवापृथिवी दूर दूर हो कर अपना वर्तमान रूप धारण कर रहे थे, और अन्तरिक्ष बरीब हो रहा था । प्रतीत होता इस कारण से वरुण सारे भुवन का राजा है । समस्तः इन्द्र आदि ने इस काम में उतना भाग नहीं लिया ॥ ४ ॥

तम् पु संमना गिरा पितृणा च मन्मभिः ।

नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदय सप्तसप्त

स मध्यमो नभन्तामन्यके संमे ॥ [ऋ० = । ३१।२ ॥]

तं स्वभिद्योमि । समानया गिरा । नीत्या स्तुत्या । पितृणा च मननीये स्तोत्रे । नाभाकस्य प्रशस्तिभिः । प्रहृषितानाको बभूव । यस्यन्दमानानामासामपामुपोदय । सप्तस्वसारमेतमाह याग्भिः । स मध्यम इति निरुच्यत । अथैव एव भवति । नभन्तामन्यक सम । मा भूयन्नन्यक सर्वे । ये नो द्विषन्ति दुषिय पापधिय । पापसङ्कल्पा ।

रुद्र । रीणीति सत । रोरुयमाणो द्रवतीति वा । रोदयतर्षा । यदरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति फाटकम् । यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति द्वारिद्रयिकम् । तस्यैवा भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—(तम् उ) उन [वरुण] को ही (तु) सुन्दर [स्तोमि=स्तुति करता हू] (समना गिरा) [उस क निष्] योग्या वाणी त (पितृणा च) और पितरों के (मन्मभि) स्तोमों ने, (नाभाकस्य) अर्थात् नाभाक की (प्रशस्तिभि) प्रशंसाओं से (सिन्धूनाम्) [जो]

वहती हुई नदियों के (उपोदये) प्रकट होने पर (सप्तस्वसा) सात भगिनियों वाला [होता है।] (सः) वह [वरुण] (मध्यमः) मध्यम [है।] (नभन्ताम्) न होवे (अन्यके समे) अन्य सारे [हमारे द्वेषी।]

उस [वरुण] को सुन्दर स्तुति करता हूँ। उस की अनुरूप वाणी से =गीति [और] स्तुति से। पितरों के और मनन योग्य स्तोमों से। नाभाक की प्रशंसाओं से। ऋषि नाभाक हुआ था। जो वहने वालियों के इन के उपोदये=उदय पर, सात भगिनियों वाले को इस को बोला, वाणियों से। वह [वरुण] मध्यम [है], यह कहा जाता है [मन्त्र में], वह यही होता है। मत हों दूसरे सारे, जो हमें द्वेष करते हैं, पाप बुद्धि वाले, पाप सङ्कल्प वाले।

३. रुद्रः। रीति=शब्द करता है=कोलाहल करता है, ऐसा होने से। रोरुयमाणः=बहुत अधिक शब्द करता हुआ द्रवति=रीड़ता है अथवा। रोदयति से [रुलाता है] अथवा। जो रोया, वह रुद्र का रुद्रपन है, यह काठक [संहिता अथवा ब्राह्मण] है। जो रोया वह रुद्र का रुद्रपन है, यह हारिद्रविक [प्रवचन] है।

उसकी यह [ऋक्] होती है ॥ ५ ॥

भाष्य—पितरों के स्तोम क्या हैं। वरुण मध्यम स्थानी है और पितर भी माध्यमिक देवगणों में हैं। वहाँ इन का परस्पर सम्बन्ध जानना चाहिए। नाभाक कौन था। कोई ऋषि था। इस दिव्य नाभाक और किसी मात्रव नाभाक का ज्ञान करना चाहिए। सप्तस्वसा—सात भगिनियों वाशा वरुण। ये ही मध्यम स्थानी सात सिन्धुपुं हैं।

रुद्र एक स्वतन्त्र देव है। कई उसे मेघ कहते हैं। रुद्र का अग्निः से गहरा सम्बन्ध है ॥ ५ ॥

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरिः क्षिप्रेपवे देवाय स्वधाने ।

अपाब्हाय सहमानाय वेवसे त्रिमायुधाय भरता शृणोतु नः ॥

[ऋ० ७।४६।१ ॥]

इमा रुद्राय दृढधन्वने गिरः क्षिप्रेषु देवायाध्वरतेऽपाढायान्यैः ।
सहमानाय । विधात्रे तिग्मायुधाय भरत । शृणोतु नः । तिग्मं तेजते-
त्साहकर्मणः । आयुधमायोधनात् ।

तस्यैवापरा भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(इमाः) इन को रुद्र के लिए, दृढ-धनुष वाले के लिए,
(गिरः) स्तुतियों को (क्षिप्रेषु) अति वेग से बाण फेकने वाले के
लिए, देव के लिए (स्वधावने) अन्न वाले के लिए, (अपाढाय) न दबने
वाले के लिए (सहमानाय) [लड़कों को] तिग्स्कार करने वाले के
लिए (वेधसे)=विधात्रे=जगत् बनाने वाले के लिए (तिग्मायुधाय) तीक्ष्ण
आयुध वाले के लिए (भरत) धारण करो, (शृणोतु नः) [वह] मुने
[हमारी स्तुतियों को] ॥

इमाः=इन को रुद्र के लिए, दृढधन्वी के लिए गिरः=स्तुतिओं को,
शौन्न इषु वाले के लिए, देव के लिए, अन्नवान् के लिए, न दबने वाले के
लिए दूसरों से, दबाने वाले के लिए, विधाता के लिए, तीक्ष्ण आयुध वाले
के लिए, भरत=धारण करो । मुने हमारी [स्तुतियों को] । तिग्मम्, तेजति,
उत्साह अर्थ वाले से । आयुधम्=आयोधनात्=[इस के साथ] युद्ध
करने के [कारण] से ।

उस की यह दूसरी [श्रुक्] होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—रुद्र के अनेक गुण इस मन्त्र में गिने हैं ॥ ६ ॥

या ते दिद्युद्वसृष्टा दिवस्पतिं इमया चरति परि सा वृणक्तु नः ।

सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिपः ॥

[श्रु० ७।४६।३ ॥]

या ते दिद्युद्वसृष्टा । दिवस्पतिं दिवोऽधि । दिद्युद् द्युतेर्वा ।
[द्योततेर्वा ।] इमया चरति । इमा पृथिवी । तस्यां चरति । तथा
चरति । विद्यमापयन्ती चरतीति वा । परिवृणक्तु नः सा । सहस्रं ते
स्वाप्तवचन भेषज्यानि । मा नस्तुकेषु च पीथेषु च रीरिपः । तोर्ह
नुचतेः । तनयं तनोतेः ।

अग्निरपि रुद्र उच्यते । तस्यैवा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(या ते) जो तेरी (दिद्युत्) चमकने वाली शक्ति=अग्नि (अवच्छा) छोड़ी हुई (दिवस्परि) द्यौ से (दमया चरति) पृथिवी पर चलती है (सा) वह (परि वृणक्तु) बचाए हमें । सहस्र तेरे (स्वपिवात) हे सुन्दर आप्त वचन (भेषजा)=भेषज्यानि औषध [हैं ।] मत हमारे पुत्रों में [और] पौत्रों में (रीरिपः) हानि पहुँचा ।

जो तेरी शक्ति छोड़ी हुई द्यौ से । दिद्युत्, द्युति से अथवा । द्योतति से अथवा । क्षमा=पृथिवी । उस पृथिवी पर चलती है । उस [पृथिवी] के द्वारा चलती है । हिंसा करती हुई विचरती है अथवा । बचाए हमें वह । सहस्र तेरे, हे सुन्दर आप्तवचन, औषध [हैं ।] मत हमारे तू पुत्रों में और पौत्रों में और हानि पहुँचा । तोकम्, तुद्यति से । तनयम्, तनोति से ।

अग्निः भी रुद्र कहा जाता है । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ७ ॥

भाष्य—द्यौ से छोड़ी पृथिवी पर चलती है । मध्यम स्थानी रुद्र की शक्ति द्यौ से कैसे छोड़ी जाती है, यह समझना चाहिए । यास्क के भाष्य में दूसरा अर्थ है—तया चरति । उस पृथिवी के द्वारा चलती है । रुद्र की शक्ति का चलना द्यौ और पृथिवी के किसी प्रकार के संयोग का फल है । यह बात भी ध्यान देने योग्य है । यास्क एतद्विषयक कोई गम्भीर तत्व जानता था ।

ब्राह्मण प्रवचनों में अग्निः को बहुधा रुद्र कहा है ॥ ७ ॥

जराबोध तद्विविद्धि विशोविशे यज्ञियाय ।

स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥ [ऋ० १ । २७ । १० ॥]

जरा स्तुतिः । जरतेः स्तुतिकर्मणः । तां बोध । तया बोधयितरिति वा । तद्विविद्धि । तत्कुरु । मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय । स्तोमं रुद्राय दर्शनीयम् ।

इन्द्रः इरां दृणातीति वा । इरां ददातीति वा । इरां दधातीति वा । इरां दारयते, इति वा । इरां धारयते, इति वा । इन्द्रवे द्रवतीति वा ।

इन्दी रमते, इति वा । इन्द्रे भूतानीति वा । तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्त-
दिन्द्रस्पेन्द्रत्वम् । इति विद्वापते । इत् करणादित्याप्रापणः । इत्
दर्शनादित्योपमन्यवः । इन्द्रे वैश्वर्यकर्मणः । इन्द्रच्छृणां दारयिता वा ।
द्रावयिता वा । आदरयिता वा । आदरयिता च यज्वनाम् ।

तस्यैवा भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—(जराबोध) ह स्तुति को जानने वाले (तत् विद्वादि) यह
करो, मनुष्य के मनुष्य के (यद्विषाय) यज्ञ के योग्य [रूद्र के लिए ।]
(स्तोमम्) स्तोम को (रुद्राय) रूद्र के लिए (दृशीकम्) दर्शन योग्य
को ॥

जरा=स्तुति । जरति से स्तुति अर्थ जाने से । उस को जान । उस से
बोधयित=जताने वाले अथवा । उसे करो । मनुष्य के मनुष्य के यजन के
लिए । स्तोम को रूद्र के लिए दर्शनीय को ॥

४ इन्द्रः । इरां= [अत्र] अथवा पृथिवी को दृणाति=काडता है अथवा,
पृथिवी को देता है अथवा, पृथिवी को धारण करता है अथवा, पृथिवी को

को
प्राणैः=प्राणा से समैन्धन्=प्रदीप्त किया, यह इन्द्र का इन्द्रत्व है । यह
विशेष जाना जाता है । इत् करणात्=इत् की करने से, यह आप्रापण
[कहता है ।] इम को देखने से, यह औपमन्यव [कहता है ।] इन्द्रति से
अथवा एश्वर्य अर्थ जाने से । इन्द्रन्=ऐश्वर्य वाला होता, देखा मनुष्यों का
दारयिता=काडने वाला अथवा । नगाने वाला अथवा । आदर देने वाला
और यज्ञ करने वालों का ।

उस की यह [श्रु] होती है ॥ ८ ॥

भाष्य—इन्द्र—इतिअहो ने इरा का केवल अत्र अर्थ माना है । पर
इरा=इत्य का पृथिवी अर्थ अधिक युक्त है । इन्द्र के वैशुन् कर्म से पृथिवी
पटनी है, पृथिवी का प्रथम हो कर मनुष्य के लिए ही जाती है । इन्द्र पृथिवी
को धारण भी करता है । इरा का अत्र अर्थ निरवह से दिया गया है, पर पर
पृथिवी से अर्थ ठीक वैसा है ।

वायु से आवेष्टित वैद्युत् तेज ही इन्द्र है। वह प्राणों से दीप्त होता है। प्राण दीप्ति का कारण है। इस भाव को दृष्टि में रख कर ही इन्द्र का महत्कर्म समझ में आता है ॥ ८ ॥

अर्द्धरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्वद्भधानाँ अरम्णाः ।

महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्दः सृजो वि धारा अवं दानवं हन् ॥

[ऋ० ५।३२।१ ॥]

अदृणाः, उत्सम् । उत्सः [उत्सरणाद्वा] । उत्सदनाद्वा । उत्स्य-
न्दनाद्वा । उनत्तेर्वा । व्यसृजोऽस्य खानि । त्वमर्णवानर्णस्वतः । एता-
न्माध्यमिकान्तसंस्त्यायान् वावध्यमानानरम्णाः । रम्णातिः संयमन-
कर्मा । विसर्जनकर्मा वा । महान्तमिन्द्र पर्वतं मेघं यद् व्यवृणोः ।
व्यसृजोऽस्य धारा अवाहन्नेनं [दानवं] दानकर्माणम् ।

तस्यैपापरा भवति ॥ ६ ।

अर्थ—(अर्द्धः)=अदृणाः=फाड़ा (उत्सम्) मेघ को (वि-असृजः)
खोल दिया (खानि) छेदों को (त्वम्) तू ने [हे इन्द्र], (अर्णवान्)=
अर्णस्वतः=उदक से भरे [मेघों को] (वद्भधानान्) बन्धे हुआँ को
(अरम्णाः) चारित किया, बहाया । (महान्तम्) महान् को (इन्द्र) हे
इन्द्र (पर्वतम्) मेघ को (यत्) जो [तू ने] (वि वः) खोला (वि
सृजः) बहा दीं (धाराः) धाराएं (दानवम्) दानव असुर को अथवा
मेघ को (अवहन्) मार गिराया ॥

फाड़ा उत्स=मेघ को । उत्सः=ऊपर सरकने से अथवा । ऊपर रहने से
अथवा । ऊपर बहने से अथवा । उनत्ति से अथवा, गीला करता है ।
वि-असृजः=खोल दिया इस के खानि=छेदों को=आकाशों को । त्वम्=
तूने अर्णवान्=जल वाले इन माध्यमिक संस्त्यायान्=मेघ समूहों को
वावध्यमानान्=बंधे हुआँ को=पीड़ित होते हुआँ को अरम्णाः=बहाया ।
रम्णातिः, संयमन अर्थ वाला । विसर्जन अर्थ वाला अथवा । महान् को इन्द्र
ने पर्वतम्=मेघ को जब खोला । वहाँ इस की धाराएं । अवहन्=मार
इस दानवम्=दान कर्म वाले को ।

भाष्य—निघण्टु ३, २३ के अनुसार उत्स कृप वाची हैं । पर यहाँ उत्स पद मेव अर्थ देता है । संभवत अन्तरिक्ष में मर्षों के अन्दर कृप भी होते हैं । मय माध्यमिक हैं । मेवों में स्वानि=अवकाश वा द्विद्र कितना है यह जानना चाहिए । दानय का अर्थ दानकर्मा ध्यान योग्य है ॥ २ ॥

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवान् क्रतुना पर्यभूयत् ।

यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेता नृण्यस्य महा स जनास इन्द्रः ॥

[ऋ० २।१२।१ ॥]

यो जात [जायमान] एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् । क्रतुना कर्मणा । पर्यभूयत् पर्यगृह्यात् । पर्यरक्षत् । अत्यग्रामदिति वा । यस्य बलाद् दानापृथिव्याऽप्यभिधीताम् । नृण्यस्य महा बलस्य महत्त्वेन । स जनास इन्द्र । इति ।

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानमयुक्ता ।

पजन्य कृपे । आद्यन्तविपरीतस्य । तर्पयिता जन्य । पर जेत वा । परो जनयिता वा । प्रार्जयिता वा रसानाम् ।

तस्यैषा भवति ॥ १० ॥

अर्थ—जो उत्पन्न होते हुए ही मुख्य हुआ, (मनस्वान्) मेधावी (देव) देव, (देवान्) [अन्य] देवा को (क्रतुना) अपने कर्म से (परि-अभूयत्) सर्वोपरि हुआ । (यस्य शुष्मात्) जिस के बल से (रोदसी) दानापृथिवी (अभ्यसेताम्) वापने हैं, (नृण्यस्य महा) [जिस के] बल के महत्त्व से [भी], वह है जनी, इन्द्र [है ।]

जिनन जात=जायमान.=उत्पन्न होने हुए ही मुख्य, मेधावी देव ने, [अन्य] देवा को [अपने] कर्म से तिरस्कृत किया, [उन्हें अपने] आधीन किया [उन्हें असुरा न] रक्षित किया, अत्यग्रामत्=उत्तरपित किया अथवा । जिस न बल से दानापृथिवी भी अभिधीताम्=अधीन हुए, बल के महत्त्व से भी । वह, है जनी इन्द्र [है ।] अर्थः=ऋषि के दृष्टार्थस्य=इस दृष्ट अर्थ की प्रीति जानने है, आख्यान से संयुक्त हुई ।

५. पर्जन्यः । तृपि से, आद्यन्त के [वर्णों के] उलटे क्रम से ।
 तर्पयिता=तृप्त करने वाला, जन्यः=जनों का हितकर । परः जेता वा=
 श्रेष्ठ जीतने वाला अथवा । श्रेष्ठ उत्पादक अथवा । भरपूर अर्जयिता=कमाने
 वाला रसों का ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १० ॥

भाष्य—आधिदैविक इन्द्र की उत्पत्ति का संकेत मन्त्र में है । वह मनस्वी
 है । सब देवों के ऊपर विराजमान हो गया । उस के बल से धावापृथिवी कांपते
 हैं । भ्यस्=भय और वेपन अर्थ में है । स जनासः इति से पूर्व का मन्त्रभाग
 ऋषि के दृष्टार्थ का मूल है । उस में इन्द्र के गुण और कर्म व्याख्यात है । पर,
 स जनास इन्द्रः इति, भाग आख्यानवत् है । जैसे कोई आख्यान कहने वाला
 श्रोताओं को कहता है, हे जनो, वैसे इस मन्त्र में यह अन्त का भाग आख्यान
 है । वह ऋषि के दृष्टार्थ में प्रीति उत्पन्न कराता है । जिस प्रकार निरुक्त ४ । ६
 में—तत्र ब्रह्म, इतिहासमिश्रं, ऋङ्मिश्रं, गाथामिश्रं भवति से यास्क ने
 यह बताया है कि ऋ० १ । १०५ सूक्त में मन्त्र ही इतिहास का, मन्त्र ही
 स्तुति मात्र का और मन्त्र ही गाथा का रूप लिए हैं, वैसे ही यहां भी यह
 बताया है कि मन्त्र के पूर्व भाग में उत्तर का आख्यान-समान भाग संयुक्त है ।
 मन्त्रों में ऐसा ही इतिहास और आख्यान है, लौकिक इतिहास आदि नहीं ॥१०॥

वि वृत्तान्हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं विभाय भुवनं महावधात् ।

उत्तानागा इपते वृषण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति दुष्कृतः ॥

[ऋ० ५ । ८३ । २ ॥]

विहन्ति वृत्तान्विहन्ति च रक्षसि । सर्वाणि चास्माद् भूतानि
 विभ्यति महावधात् । महान्द्वयस्य वधः । अप्यनपराधो भीतः पलायते
 धर्षकर्मवतः । यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति दुष्कृतः पापकृतः ॥

वृहस्पतिः वृहतः पाता वा । पालयिता वा ।

तस्यैवा भवति ॥ ११ ॥

अर्थ—(वृत्तान्) वृक्षों को (वि हन्ति) पूर्णतया नष्ट करता है
 (उत) और (रक्षसः) राक्षसों को (वि हन्ति) मारता है । (विश्वम्)

सारे को (विभाय) भय होता है (भुवनम्) भूत मात्र को (महावधात्) [इस] महान् वधकर्ता [पर्जन्य] म । (उन) और (अनागा) पा रहित भी (ईषत) भागता है (वृष्यायत) [इस] वर्षाकर्म वाले से । (यत्) जो (पर्जन्य) पर्जन्य (स्तनयन्) गर्जता हुआ (हन्ति) मारता है (दुष्कृत) पाप करने वालों को ॥

विहन्ति=विविध रूप से मारता है वृक्षों को, विविध रूप से मारता है और राक्षसों को । मारे और इस से भूत डरते हैं, महान् वधकारी से । महान् ही इस का वध [है ।] अनाराधी भी डर कर भागता है [इन] वर्षाकर्म वाले से । जब पर्जन्य गर्जता हुआ मारता है पापकर्मकर्ता को ॥

६ बृहस्पति । बृहत् = बड़े का रक्षक अथवा । पालक अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ११ ॥

भाष्य—मध्यम स्थानी पर्जन्य पृथिवी मण्डलात्गत मेघ स पूर्व और ऊपर में होने वाली दृश्य प्रतीत होती है । यह पर्जन्य अन्तरिक्ष को और अति वृष्टि से पार्थिव वृष्टों को मार देता है । इसी प्रकार वह अन्तरिक्षस्थ राक्षसों को भी मारता है । पर्जन्य जलप्राप्तन भी उत्पन्न कर देता है । अतः भूतमात्र उस से भय खाता है । वह महावध है । पर्जन्य की गर्ज भी अभ्ययन योग्य है । दुष्कृत, जो ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करते हैं ॥ ११ ॥

अश्रापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनिं क्षियन्तम् ।

निष्टज्जमार चममं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्यं ॥

[ऋ० १० । ६८ । ८ ॥]

अश्रमयता मेघेनापिनद्ध मधु पर्यपश्यत् । मत्स्यमिदं दीने उदक निवसन्तम् । निर्जङ्गार तचमसमिदं वृक्षात् । चमस कस्मात् । चमन्त्यस्मिन्निति । बृहस्पतिर्विरवेण शब्दनं विठत्य ।

ब्रह्मणस्पति । ब्रह्मण पाता वा । पालयिता वा ।

तस्यैवा भयति ॥ १२ ॥

अर्थ—[वृहस्पति ने] (अग्ना-अपिनजम्) व्य.प.जीव [मेघ]
 । अग्नि गण (मधु) उदक को (परि-अपश्यन्) चार्ग शोर ने देखा,
 मन्स्यं न) नम्य तो जैसे (इति उदनि) जीव उदक में (क्षियन्तम्)
 यम करते हुए तो [कोई जैसे ।] (तिः नव जमार) जैसे [देग कर]
 निहाला, (चमसं न वृज्जाम्) चमस [मोम पात्र] को जैसे वृज में
 [तत्रक निहाला दे=वनता है ।] वृहस्पति ने (वि-रवेण) विशेष
 शोर ने (विकृत्य) वाट कर ॥

अशतयता=आतन-जीव मेघ ने अपिनजम्=उदक मधु=उदक को
 चार्ग शोर ने देखा । मन्स्य को जैसे स्वल्प उदक में चमसे हुए तो [उगते
 है ।] निहाला उम को, चमस को जैसे नरट्टी ने [वाट कर निहालते
 है ।] चमस किम [कारण] ने । चमन्ति=जिने हैं इन में । वृहस्पति ने
 विशेष शोर ने=गद ने वाट कर ।

७ ब्रह्मणस्पति । ब्रह्म=मन्त्र समूह का शक्ति अथवा, पात्रक अथवा ।

उम को यह [अह] हीनो है ॥ १२ ॥

भाष्य—मेघ त्या है, और उद उदक को कैसे टांभता है, यह बिना कोई
 गंभीर रहस्य समझी है । आधुनिक विज्ञान तो और प्रकार ने मानता है । वेद में
 अभ्यास करने वालों को ये रहस्य जानने चाहिये । वृहस्पति ब्रह्म अन्तरिक्ष में
 है, अथवा ही में यह भी निश्चय करना चाहिये । भौतिक अर्थों में और कोई
 वृहस्पति नहीं है । उस का रम=शोर छिन मृत्तमृत कारणों से उत्पन्न होता है ।
 यह अपने शोर से मेघ को कैसे काटता है, मैं इन बातों पर-आश्चर्य करना हूँ, पर
 अभी वैज्ञानिक पद्धति में इन्हें समझा नहीं सकता । इस में प्रयोग शान्ता में
 परीक्षणों की आवश्यकता है । पुनश्च मधु हैरे उदक है, यह भी अन्वेषणीय है ।

याज्ञिक प्रक्रिया वाले चमस आदि पात्रों से सुपरिचिन्ना होते हैं । वृहस्पति
 की कोई अवस्थाविशेष ही ब्रह्मणस्पति नाम वाली प्रतीत होती है । उम
 अथवा से ब्रह्म मन्त्र=ज्ञान का सम्बन्ध है ॥ १२ ॥

अग्नास्यमवृतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुवारमभि यमोज्जमानृणम् ।

तमेव विश्वं परिरे स्वदृशां बृह माकं मिसिचुहर्ममुद्रिणम् ॥

[अ० २ । २५ । ४ ॥]

अशनयन्तमास्यदनयन्तम् । अयातिनं ब्रह्मणस्पतिमधुधारम् ।
अभि यमाजसा यलनाभ्यवृणुन् । तमय सर्वे पिबन्ति रश्मय मूषवृष्ट ।
यहन सह सिञ्चन्त्युत्तम् । उद्रिणमुदकयन्तम् ॥ १३ ॥

अर्थ—(अश्मास्यम्)=अशनयन्तम् आस्यन्दनयन्तम्=आपनीन
[ओर] बहूनां ल को (अयतम्)=अथ अतितम्=नीचे [पृथिवी पर]
गिर दूए को (ब्रह्मणस्पति) ब्रह्मणस्पति न (मधुधारम्) उदक धारण
करन वान को (यम् अजासा)=यलन-जिन का बल न (अभि ऋतुण्ण)
सम्मुख फारा । (तम् पर) उस को ही (पिबन्ति)=सर्वे=भारे (परिट)=
पिबन्ति=पीन हैं (सह श)=रश्मय सूर्यदृष्ट-रश्मि मूषवन् दान म
दूए । (बहु साकम्)=बहु पनम् सह-रत दम को साथ मिल कर
(सिञ्चिन्त्यु)=सिञ्चन्ति=जाचन हैं [य रश्मि] (उत्तम् उद्रिणम्)-
उदकयन्तम्-[उन] मय को उदक वान को ॥ १३ ॥

भाष्य—मय के पाकने म ब्रह्मणस्पति का ओज बल भी साधन बनता
ह । उस पृथिवी पर गिर उदक को रश्मि पीते हैं । क्या रश्मि उस अपन अन्दर
स्वयत्त करते हैं अथवा उदक परमाणु रश्मियों के साथ चिपक जाते हैं । उदक
पी कर रश्मि का भार बढ़ता है या नहीं । एक रश्मि उदक का एक परमाणु
पीती है या अधिक । ये सूक्ष्म बातें समझने योग्य हैं । रश्मय सूर्यदृष्टः=पह
भी अन्वयणीय हैं ।^१ मय को रश्मि सींचते हैं । ये सब सब ज्ञातव्य हैं । सभी
वेद का अभ्यास आरम्भ मात्र है । इस ओर सतार का ध्यान नहीं है ॥ १३ ॥

क्षत्रस्य पति । क्षत्र क्षियतर्निवासकमण्ड । तस्य पात्रा वा ।
पालयिता वा ।

तस्यैवा भवति ॥ १४ ॥

= क्षत्रस्य पति । क्षत्रम्, क्षियति स निवास अर्थ बाल से उस का
रक्षक अथवा । पालक अथवा ।

उन की यह [ऋक] होती है ॥ १४ ॥

१ केतव भी सूर्यदृष्ट कहे गए हैं देव वदन्ति केतव । दृष्टे निश्वाय सूर्यम् ॥

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंहक् । [ऋ० २ । ३५ । १० ॥]

इति यथा ।

यथारूपा च विशेषोऽजामि भरतीत्यपरम् ।

मण्डूनां इरोद्गान्मण्डूनां उद्गार्दिव ॥

[ऋ० १० । १६६ । ५ ॥]

इति यथा ।

यास्तोषति । यास्तुंस्तनिरासर्मण । तस्य पाना यापालयिता
या । तस्यपा भरति ॥ १६ ॥

अर्थ—(क्षेत्रस्य पत) हे क्षेत्र क पति, (मधुमन्तम् ऊर्मिम्)
जन्मन्त मधु इवाद् मुक्त उदर मवान को, (घनु इव पष) घेनु जैसे
दुग्ध को [घेन] (अस्मासु) हमारे अन्दर (धुच्च)—[स्वन्द क्षार्य]
वहाओ । (मधुश्चुतम्) मधु जिन से चूता हो, उन को (घृतम् इव
सुपूतम्) घृत के समान, जो मुन्दर पवित्र है उन को [हमारे अन्दर
वहाओ ।] (ऋतस्य) सूत क, हम, (पतप) रक्षक, (मूल्यन्तु)
मुख द ॥

[पतय]=पातारो वा=रक्षा करने वाला अथवा, पालने वाला अथवा ।
मूल्यन्तु । मूल्यति उपद्रवा कर्मा=रक्षा अर्थ वाला [है ।] पूजा अर्प
वाला अथवा । [अब मन्त्र में पुनरुक्त पद वा पदों पर विचार करते हैं ।]
समान्याम् ऋचि=एक ऋक् में समान अभिन्वाहारम्= [एक पद क]
समान अर्थ को कहने वाला [दूसरा पद] होता है वह जामि=पुनरुक्त
होना है यह एक [मत है । प्रस्तुत ऋक् म] मधुमन्तम्, [इन प्रथम
पद क ही अर्थ वा भाव को कहने वाला उत्तर पाद में दूसरा पद]
मधुश्चुतम् है यह जिन प्रकार [उदाहरण है । दोनों पदों में 'मधु' अर्थ
समान है ।]

जो ही समान पाद में समान अभिन्वाहारम्=समान अर्थ को कहने
वाला होता है, वह जामि होता है, यह दूसरा [मत है ।]

हिरण्यरूप वाला वहे हिरण्यवत् दीखने वाला [है ।] यह जिस
प्रकार [उदाहरण है । यहाँ एक ही पाद में धृयमाण दोनों पदों में 'हिरण्य'
अर्थ समान है ।]

यथा कथा च=और यथा कथञ्चित् [स्वल्पतम भी] जो विशेष [कथन रहता है, वह] अजामि=अपुनरुक्त होता है, यह और [मत है ।] (मण्डूक इव उदकात्) मण्डूक जैसे उदक से, (मण्डूक इव उदकात्) मण्डूक उदक से जैसे । यह जिस प्रकार [उदाहरण है ।] [यहाँ कथन में जो स्वल्पतम भेद हो गया है, उसी से अजामि है ।] अर्थात् उभयत्र मण्डूकाः इव उदकात् तीनों पद एक जैसे हैं तथापि प्रथम में इव का सम्बन्ध मण्डूक के साथ हेतुसरे में उदकात् के साथ । यह थोड़ा सा भेद है ।

६. वास्तोष्पतिः । वास्तु, वसति से, निवास अर्थ वाले से । उस [वास्तु] का रक्षक अथवा, पालक अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १६ ॥

भाष्य—स्कन्द-महेश्वर ने निरुक्त विवरण समुच्चय में इस पुनरुक्त के विषय में तुल्य धृति का कथन कर के भामह का यमक का लक्षण उद्धृत किया है । भामह की प्रसिद्धि स्कन्द सद्य वैदिक विद्वान् तक पहुँचे चुकी थी । अतः भामह कलिसंवत् ३७४० से पूर्व का ग्रन्थकार है ।

पुनरुक्त विषय पर यास्क ने सब मत दे दिये हैं । यास्क से पूर्व इन विषयों पर सूक्ष्म विचार होते रहते थे ॥ १६ ॥

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् ।

सखा सुशेव एधि नः । [ऋ० ७ । ६५ । १ ॥]

अभ्यमनहा वास्तोष्पते सर्वाणि रूपाण्याविशन् । सखा नः सुसुखो भव । शेव इति सुखनाम । शिष्यतेः । वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्त-रोपलिङ्गी विभाषितगुणः । शिवम् इत्यप्यस्य भवति । यद्यद्गुरुपं कामयते तत्तद् देवता भवति ।

रूपंरूपं मधवा बोभवीति ॥ [ऋ० ३ । ५३ । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

वाचस्पतिः । वाचः पाता वा । पालयिता वा । तस्यैवा भवति ॥ १७ ॥

अर्थ—(अमीर दा)=अभयमन दा=रोगों का नाशक (वास्तोष्पते)
हे वास्तोष्पते=हे वास्तु=निवास के स्वामिन् (शिवा रूपधि) मारे ह्यो
मे (आशिशन्) आवेग=प्रवेग करने हुए (सधा) सत्ता (सुशेः)=
सुमुख =सुन्दर मुख कारी (पधि)=भव=हवा (न) हमारा ॥

शेवः, यह मुख का नाम [है ।] शिष्यति से । वनार प्रत्यय [है ।]
अन्तम्य अन्तरोपलिङ्गी=अन्त मे स्थित [प्] के स्थान मे आता है, वि-
भाषितगुण =विकल्प से गुण होता है [=निप्+व=निव, मुख हो कर
शेव] शिरम्, यह भी इन का [ह्य] होता है । जो-ओ रूप चाहता है
वह वह देवता होता है ।

ह्य को ह्य को (मय्या)=इन्द्र (बोधवीति) हो जाता है । यह भी
निगम होता है ।

१०. वाचस्पतिः । वाक् का रक्तक अथवा, पातक अथवा । उम की
यह [ऋक्] होती है ॥ १७ ॥

भाष्य—घरों में कीरोगता और सुन्दर मुख होने चाहिए ॥ १७ ॥

पुनरोहिं वाचस्पते देवेन मनसा मुह ।

वसोष्पते नि रामय मय्येव तन्वर् मम ॥

इति सा निगद्व्याख्याता ।

अपानपात् । तनूनप्रा व्याख्यात । तस्यैवा भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—(पुन) फिर (पधि) आओ (वाचस्पते) हे वाचस्पते देव
मन के साथ । (वसोष्पते) हे धन के स्वामिन् (नि रामय) निरन्तर
रमय कराओ (मयि एव) मुझ मे ही (तन्वम्) शरीर (मम) मेरा हो ।

यह वह स्पष्ट व्याख्यात है ।

११. अपानपात् । तनूनप्रा=तनूनपात् मे व्याख्यान है ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १८ ॥

भाष्य—तुनरेहि आथर्वण शौनक संहिता का पाठ है—

वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ १ । १ । २ ॥

पैप्पलाद संहिता १ । ६ । २ का पाठ है—

उप न एहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।

वसोष्पते नि रमय मय्येव तन्वां मम ॥

यास्क उद्धृत पाठ किसी अन्य आथर्वण संहिता का है ॥ १८ ॥

यो अनिध्मो दीदयद् अन्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु ।

अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय ॥

[ऋ० १० । ३० । ४ ॥]

योऽनिध्मो [दीदयद्] दीप्यतेऽभ्यन्तरमप्सु । यं मेधाविनः
स्तुवन्ति यज्ञेषु । सोऽपांनपान्मधुमतीरपो देह्यभिपवाय । याभिरिन्द्रो
वर्धते । वीर्याय वीरकर्मणे ।

यमः । यच्छ्रुतीति सतः । तस्यैषा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—(यः) जो (अनिध्मः) विना इन्धन (दीदयत्)=दीप्यते=
दीप्त रहता है (अप्सु अन्तः)=अभ्यन्तरमप्सु=आपः के बीच में, (यम्)
जिस को (विप्रासः)=मेधाविनः=बुद्धिमान् जन (ईळते)=स्तुवन्ति=स्तुति
करते हैं (अध्वरेषु)=यज्ञेषु=यज्ञों में । (अपां नपात्)=सो=वह अपां
नपात् (मधुमतीः अपः) मुधु से भरे उदक (दाः)=देहि=दो [हमें]
अभिपवाय=सोम निकालने के लिए । (याभिः) जिन आपः से (इन्द्रः)
इन्द्र (वावृधे)=वर्धते=वढ़ता है (वीर्याय)=वीरकर्मणे=वीर कर्म के
लिए ॥

१२. यमः । यच्छ्रुति=नियम में रखता है, ऐसा होते हुए ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १६ ॥

भाष्य—पार्थिव अथवा पवमान अग्निः काष्ठ आदि इन्धनों वाला है । पावक
और शुचि अग्निः, तथा जठराग्निः अपांगभं हैं । यह अपांनपात् अनिध्मः=

अभिन्धन है। यह होता ही चाप में है। वहीं हीस होता है। अर्थात् मनुमान् चाप का राजा है। इन चाप से इन्द्र वीरकर्म के लिए बना है। ऐसा इन्द्र क्या कभी मानव हो सकता है। वह स्पष्ट भौतिक सत्ता मात्र और दिव्य गुण युक्त होने से देव है। अतिरिक्त इन्द्र जीवात्मा, परमात्मा और सूर्य आदि भी है ॥ १४ ॥

परिप्रासं प्रयतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्थापानम् ।

वैरस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥

[ऋ० १०।१४।१ ॥]

परिप्रासं पर्यागतयन्तम्। प्रयत उद्गतो निवत इति। अवति गतिकर्मा। बहुभ्यः पन्थामनुपस्थापमानम्। वैरस्वत सङ्गमनं जनानाम्। यमं राजानं हविषा दुवस्य। इति। दुवस्यतिराप्नोतिकर्मा। अग्निरपि यम उच्यते। तमेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति ॥ २० ॥

अर्थ—(परिप्रासम्)=पर्यागतयन्तम्=भव ओर मे घेरने वाला को (प्रयत) मनुष्यों को (मही अनु) [और] भूमिया को (बहुभ्यः पन्थामम्) भव के लिए मार्ग को (अनु पस्थापानम्)=अनुपस्थापय मानम्=दिलाने वाले को (वैरस्वतम्) वैरस्वत को (सङ्गमनम् जनानाम्) सब जनों के संगति स्थान को (यम राजानम्) यम राजा को (हविषा =हवि से (दुवस्य) आराधना कर ॥

प्रयत, उद्गत, निवत [इन में उपसर्ग के साथ वत् प्रत्यय है।] [अथवा] प्रयत, मे, वत, अवति से गति अर्थ वाले से। दुवस्यति = आप्नोति=प्राप्त करता है, अर्थ वाला है। [पाठान्तर-राप्नोतिकर्मा, आराधना अर्थ वाला।]

अग्नि भी यम कहा जाता है। उस को य ऋचाएं अनुप्रवचन करती हैं ॥ २० ॥

भाष्य—इस अक्षर में सारे विरापय यमराज के हैं। दुवस्यति का अर्थ दो पाठों में है। प्रतीत होता है, यम को प्राप्त करने के भाव से भयभीत हो कर

राधोतिकर्मा वाला अर्थ पदा गया है। दुर्ग वाले लघुपाठ में यही पाठ है। स्कन्द ने इस मन्त्रार्थ के अन्त में लिखा है—

दुवस्य=परिचर। आप्नुहि यज्ञान् हे वायो, हे अन्तरात्मन्, यजमान वा।

वेवस्वत चौ स्थानी है और उस का पुत्र यम मध्यम स्थानी है। मध्यम स्थान इन्द्र और वायु का है। वेद मन्त्रों में अग्निः भी यम है ॥ २० ॥

[१] सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्स्वेपप्रतीका ॥

[२] यमो ह जातो यमो जनित्र्यं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ॥

[३] तं वश्वराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्रम् ॥

इति द्विपदाः । [ऋ० १ । ६६ । ७, ८, ९ ॥^१]

[१] सेनेव सृष्टा । भयं वा । वलं वा । दधाति । अस्तुरिव दिद्युत्स्वेपप्रतीका । भयप्रतीका । [वलप्रतीका यशःप्रतीकाः ।] महाप्रतीका । दीप्तप्रतीका वा ।

[२] यमो ह जात इन्द्रेण सह सङ्गतः ।

यमाधिहेह मातरा ॥ [ऋ० ६ । ५६ । २ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

यम इव जातः । यमो जनिष्यमाणः । जारः कनीनाम् । जरयिता कन्यानाम् । पतिर्जनीनाम् । पालयिता जायानाम् । तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति ।

तृतीयो अग्निष्टे पतिः ॥ [ऋ० १० । ८५ । ४० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

१. द्विपदागणानुसार यह मन्त्र संख्या दी है। मैक्समूलर ने स्वसम्पादित ऋग्वेद में दो दो द्विपदाओं को एक एक चतुष्पदा बना कर छापा है।

[३] तं च । चराया चरन्त्या पश्वाहुत्या । वसत्या च निरस
न्यौषधाहुत्या । अस्त यथा गार आप्नुयन्ति तथाप्नुयाम । इदं समृद्धं
योगं ।

मिष । प्रतीतस्त्रायत । सम्मिन्वानो द्रवतीति वा । मेदयतर्यां ।
तस्यैषा भवति ॥ २१ ॥

अथ—[मनापति म] (सेना इव) सना त्रेष (सृण) आज्ञा दी
गई (आमम्) भय को (दधाति) देती है वा धारणी है [तथा]
(अम्नु न दिपुम्) फेकन वान की जैम शक्ति (त्वषप्रतीका) दीप्त
दाना=उज्ज्वला [भय को डनी है] ॥

(यम) जोड़ (इ)-इव=क समान (ज्ञात) सम्पूर्ण उत्तर पदार्थ ।
(यम) जोड़ा है (अनित्यम्) जो उत्तर होगा । (जार कनीनाम्)
जोर्णकता कनीनाम्=कन्याश्चो का । पति =रक्षक, पालक है (कनीनाम्)
=भार्याआ=विवाहिनाआ का ॥

(तम्) उम (य -राम्) तुम को । (चराया) अवदानाहुति द्वाय
(वयम्) हम (वसत्या) [और] पुरोडाग आति स (ननुन्त)
व्यापन हैं (अस्त न गार) पर को जैम गोए व्यापती हैं, आती हैं
(इदम्) दीप्त को ॥

य [तीना सूचाए] द्विपदा हैं ।

मना जैम आज्ञा दी गई भय को अथवा, वन को अथवा दधाति=नी
है वा धारण करनी है । फ कन वान की शक्ति जैम त्वषप्रतीका=भय
प्रतीका, [अथवा बल प्रतीका या-प्रतीका], महाप्रतीका, दीप्त मुख
वानी अथवा ॥

यमो इ ज्ञात, इदं क साय सङ्गत । [अयान् युगञ्जम अग्नि और
इदं का यथा—]

[इ इ-गामी] (यमो) तुम जोड़े [हो] महा यहा (मानग) माना
[अदिनि] क माय ॥

यह भी निगम हुआ है ।

[२] जीड़े के समान उत्पन्न । जीड़ा (जनित्प्रम्)=जनिष्यमाणः=जीर्ण कर्ता कन्याओं का । पालन करने वाला भावों का । तत्प्रधाना=अग्निः प्रधाना ही यज्ञ के संयोग से [भाषाएँ] होती हैं ।

[हे कन्ये] तीवरा अग्निः तेरा पति है । यह भी निगम होता है ।

[३] उस तुल्य को (चराधा)=चरन्त्या=पश्याहुत्या=जङ्गम=अवदान आहुति से वसत्या च=और वगती हुई से=निवास करती हुई से, ओषधियों की आहुति से । घर को जैसे गोएँ प्राप्त होती हैं, वैसे [हम] प्राप्त हों । इद्धम्=समृद्धम्=समृद्ध को भोगैः=भोगों द्वारा ।

१३. मित्रः । प्रमीतेः=मौत से वचाता है । सभ्यकू=चारों ओर से मिन्वानः=मास्ता हुआ द्रवति=बहता है अथवा [अन्तरिक्ष में] मेदयति=न्निगद्य करता है अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २१ ॥

भाष्य—सेनेव, इति । यमो ह, इति । तं वः, इति । ये तीनों द्विपदा ऋचाएँ हैं, अर्थात् देवल दो पादों वाली एक ऋक् । ऋग्वेद मण्डल प्रथम, सूक्त ६६ में ये ऋचाएँ हैं । यह नियम है कि संहिता के अध्ययनकाल में ऐसी दो ऋचाओं को मिला कर एक ही ऋक् पढ़ी जाती है । इसी लिए संहिता के कतिपय मुद्रित संस्करणों में दो ऋचाएँ एक की गई हैं । आपस्तम्ब श्रौतसूत्र भाष्य में आचार्य धूर्तस्वामी ने लिखा है—

द्विपदासु अवसानप्रयोगो नास्ति । समास एव ।

उपचरणीयासु द्विपदात्वं नेष्यते । इति छन्दोविचिति वचनात् । प्रश्न ६, पटल ५, खण्ड १७, सूत्र ७ ॥

निरुक्त में यास्क ने अध्ययन का नियम नहीं बताते ।

आगे पाठ है—

यमो य जात इन्द्रेण सह सङ्गतः ।

इस पर निरुक्त विवरण समुच्चय में स्कन्द स्वामी लिखता है—

ब्राह्मणमन्त्रनिगमात् । ब्राह्मणं तावत्—यमो ह जातः । इन्द्रेण सह सङ्गतः । युगपदित्यर्थः । मन्त्रं च—यमाविहेह, इत्यस्य शेषः ।

स्कन्द द्वारा उद्घृत पाठ किस ब्राह्मण ग्रन्थ से है, यह मैं नहीं जान सका
 यम अग्नि है, इस का उद्घृष्टय वारक ने इन तीन ऋचाओं द्वारा किया
 है। यम का अर्थ है जीवा। यह अर्थ कैस हुआ। वारक का अभिप्राय है—
 ब्राह्मण प्रमाण से। इसी लिए इन्द्रण सह सङ्गत, कहा है। इन्द्र के साथ
 कौन जन्मा। उचर है, अग्नि। अत यम का अर्थ अग्नि हुआ।

जार' कर्त्तानाम् । इस पर स्कन्द बिलता है—अग्निस्त्रिधौ व्यूढाना
 कन्यान्व व्यावर्तत । एतदन्त=उच्यत । यह भी एक भाव है।

पश्वाहुति । मध्यम स्थानी यम के लिए मध्यम स्थानी चरते हुए पशुओं
 की आहुति । इस पर स्कन्द बिलता है—पश्वाहुत्या पुरोडाशाहुत्या
 चेत्यर्षे । पार्थिव यज्ञों में पुरोडाश ही पशु स्थानी है ॥ २१ ॥

मित्रो जनान्यातयति तृणान् मित्रो दाधार पृथिवीमुत धाम् ।

मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥

[ऋ० ३।२६।१॥]

मित्रो जनान्यातयति तृणान् । शब्द कुर्यन् । मित्र एव धारयति
 पृथिवीं च दिवं च । मित्र कृष्टीरनिमिषाभिश्चिपश्यतीति । कृष्टय
 इति मनुष्यनाम । कर्मवन्तो भवन्ति । विहृष्टइहा वा । मित्राय हव्यं
 घृतवज्जुहोतति ध्याप्यातम् । जुहोतिदानकमा ।

क । कमनो वा । कमणो वा । सुखो वा । तस्यैवा भवन्ति ॥ -२ ॥

अर्थ—(मित्र) मित्र (जनान्) लोगों को (यातयति)=आयातयति
 =कर्म से प्रयत्न करना है, [यतो=प्रयत्न-स्कन्द] (तृणान्)=प्रतृणान्=
 [मद्य द्वारा] मूत्र गन्ध करता हुआ । मित्र ही न (दाधार)=धारण
 किया, धारयति=[अथवा अब] धारता है (पृथिवीमुत धाम्)=
 पृथिवीं च दिवं च=पृथिवी को और, दौ को और । (मित्र) मित्र
 (कृष्टी)=कृष्टय, इति मनुष्यनाम=मनुष्या का, कर्मवन्तो भवन्ति=
 कर्मवान् हान हैं, विहृष्टइहा=लैन गरीरो बान जयवा । (अ-निमिषा)
 बिना नत्र भगक (अग्नि चष्टे) दलना है । मित्र कं त्रिर् (हव्यम्) हव्य
 पदार्थों को (घृतवज्) घृत युक्त की (जुहोत) होशे । यह व्याख्यान
 [है] जुहोति इन अर्थ वाला [है] ॥

१४. कः । प्रिय अथवा । क्रमण करने वाला अथवा । सुख स्वरूप अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २२ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स धारय पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

[ऋ० १० । १२१ । १ ॥]

हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भः । हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा । गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे । गिरत्यनर्थानिति वा । यदा हि स्त्री गुणान्गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति । समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको वभूव । स धारयति पृथिवीं च दिवं च । कस्मै देवाय हविषा विधेम इति व्याख्यातम् । विधतिः दानकर्मा ।

सरस्वान् । व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ २३ ॥

अर्थ—हिरण्यगर्भ (सम् अवर्तत) प्रकट हुआ (अग्रे) पहले (भूतस्य) भुवनमात्र अथवा भूतमात्र का (जातः) प्रसिद्ध हुआ (पतिः एकः) स्वामी एक (आसीत्) था, है । उस ने धारण किया (पृथिवीम् इमाम्) इस पृथिवी को, और द्यौ को । [उस] सुख स्वरूप देव के लिए हवि को दें ॥

हिरण्यगर्भः=हिरण्यमय गर्भ । हिरण्यमय गर्भ इस का अथवा । गर्भः, गृभि से, गृणाति=स्तुति अर्थ में । गिरति=निगलता है, अनर्थान्=अनर्थों को अथवा । जब ही स्त्री [वीर्य के] गुणान्=परमाणुओं को ग्रहण करती है, और गुण [रज के परमाणु] इस के ग्रहण किए जाते हैं [वीर्य के परमाणुओं से] तब गर्भ होता है । [समवर्तत]=समभवत्=प्रकट हुआ, प्रादुर्भूत हुआ, पहले । भूतमात्र का प्रसिद्ध पति एक ही हुआ । वह धारण करता है पृथिवी को और, द्यौ को और । सुख स्वरूप देव के लिए हवि दें, यह व्याख्यात है । विधतिः—[से], दान अर्थ वाला [है ।]

१५. सरस्वान् । व्याख्यात [है, ९ । २६ में ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २३ ॥

भाष्य—वेद प्रतिपादित सृष्टि उत्पत्ति को सरलता से समझने के लिए शतपथ ब्राह्मण का अगला प्रवचन ध्यान में रखना चाहिए । उस में द्विरस्यगर्भ की सुन्दर व्याख्या सन्निहित है—

आपो इ वा इदमग्रे सलिलमेजास । ता अनामयन्त । कथं नु प्रजायमहि इति । ता अधाम्यन् । तास्तपोऽनप्यन्त । तानु तपस्तप्यमानासु द्विरस्यमारुह सम्भभूव । तदिद् यायत् सवत्सरस्य वेला तावत् पर्यन्तरत । तत संवत्सरं पुरुष समभवत् । स प्रजापति । ११ । १ । ६ । १ । २ ॥

अर्थात्—आप निश्चय ही आरम्भ में सज्जिज्ञावरथा [एकार्यावीभूतावस्था] में ही थीं । उन में [स्वयम्भू मण्ड द्वारा] कामना हुई । कैये इम प्रजारूप में फैले । उन्होंने धम किया । उन्होंने तप तथा । इन तपती हुई [आपों] में द्विरस्यमारुह उत्पन्न हुआ । वह द्विरस्यमारुह जब तक [एक देव] वर्ष का काल तब तक परि पूव (=चक्र में तैरना) करता रहा । तब सवत्सर बीत जाने पर पुरुष प्रकट हुआ । वह प्रजापति [है ।]'

प्रस्तुत श्लोक में, प्रयुक्त कतिपय पदों और उन में वास्तुकृत शब्दों के साथ, शतपथ के कतिपय पदों की तुलना आगे दी जाती है—

श्रुत	वास्तु	शतपथ
द्विरस्यगर्भ	द्विरस्यमय गर्भ	द्विरस्यमारुहम्
समवर्तत	समभरत्	सम्भभूव
भूतस्य पति	भूतस्य पति	प्रजापति

जब शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन हो रहा था, तो प्रवचनकार के मन में यह और अन्य ऐसे मात्र उपस्थित थे । वेद के अनेक रहस्यों को समझने का यह सूत्र मन्त्र है ।

सृष्टि बनते समय कितनी शक्तियाँ थी और पृथिवी को धारण कर रही थी, और अब कितनी यह काम कर रही हैं इस का ज्ञान आवश्यक है । एतद्विषयक कुछ सामग्री आगे दी जाती है—

१. स [हिरण्यगर्भ] दाधार पृथिवीं द्यामुत्तेमाम् ।

ऋ० १० । १२१ । १ ॥

२. मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् । ऋ० ३ । ५६ । १ ॥

३. अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः ।

ऋ० १ । ६७ । ३ ॥

४. उक्षा स द्यावापृथिवी विभर्ति । ऋ० १० । ३१ । ८ ॥

वैदिक विज्ञान के सूक्ष्म तत्त्वों का अध्ययन आरम्भ होना चाहिए ॥ २३ ॥

ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चतुः । तेभिर्नोऽविता भव ॥

[ऋ० ७ । ६६ । ५ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ॥ २४ ॥

अर्थ—जो तेरे (सरस्व) हे सरस्वन् (ऊर्मयः) कल्लोल (मधुमन्तः) मधुयुक्त (घृतश्चतुः) घृत को संरक्षण करने वाले हैं, उन से हमारे रक्षक होवो ।

यह वह पाठमात्र से स्पष्ट व्याख्यात है ॥ २४ ॥

भाष्य—सरस्व रूप भी ठीक है और सरस्वन् भी । कभी ये दोनों रूप प्रसिद्ध थे । यह सरस्वान् मध्यम स्थानी है । अतः अन्तरिक्ष में जो मधु और घृत द्रव्य हैं, उन का ज्ञान करना चाहिए ।

इस मन्त्र के अर्थ के टिप्पण में बेलङ्कर जी ने लिखा है—

मधु and घृत in the Rigveda usually stand for tasty and nourishing foods respectively. (p. 210)

यह बात युक्त नहीं । मधु और घृत का ऐसा अभिप्राय है, पर इस के साथ मधु और घृत द्यौ और अन्तरिक्ष में पदार्थविशेष भी हैं । वेद पढ़ने वाले को उन का ज्ञान भी करना चाहिए ॥ २४ ॥

विश्वकर्मा । सर्वस्य कर्ता । तस्यैवा भवति ॥ २५ ॥

अर्थ—विश्वकर्मा । सब का कर्ता । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २५ ॥

विश्वकर्मा विमना आदिहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तशृषीन्पर एरुमाहुः ॥

[ऋ० १०।२२।२॥]

विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च । परमश्च सन्दृष्टा भूतानाम् । तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा कान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा । अद्भि सह सम्मोदन्त । यत्रेतानि सप्तशृषीणानि ज्योतांषि । तभ्य पर, आदित्य । तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम् । विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितन्द्रियाणाम् । तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा । अन्तन सह सम्मोदन्त । यत्रेतानि सप्तशृषीणातीन्द्रियाणि । एभ्य पर आत्मा । तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे ।

तत्रेतिहासमाचक्षत । विश्वकर्मा भौवन सवमधे सर्षाणि भूतानि जुहवाञ्चकार । स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार । तदभिवादन्य परर्भवति ।

य इमा विश्वा भूवनानि जुह्वत् ॥ [ऋ० १०।२१।१॥]
इति ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २६ ॥

अर्थ—(विश्वकर्मा) विश्वकर्मा (विमना) विनाय मन वाला (आत् विहाया) अपि महान्=व्याप्ता=महान् अत व्याप्त, (धाता) धारण्य कर्ता (विधाता) जीवन विधाता (परम इत) परम भी (सन्दृक्) सन्धक् दृष्टा [भूतो का आदित्य वा आत्मा] (तेषाम् इष्टानि) उन [जना] के प्रिय वाय (समिषा मदन्ति-इषा स-मदन्ति) आप क माय आनन्द मनाने हैं (यत्र) जहा (सप्त शृषीन्) सात ज्योतियो वा इन्द्रियो भ (पर) परे (एकम् आहु) एक आदित्य वा आत्मा को कहते हैं ॥

विश्वकर्मा, विभूतमना=व्यापक, धाता और विधाता और, परमः च=सब से परे अथवा सब से उत्तम और सम्यक् द्रष्टा भूतों का । उन भूतों के इष्ट=प्रिय अथवा, कमनीय अथवा, क्रान्त=उल्लंघित अथवा, प्राप्त अथवा, माने हुए अथवा, झुके हुए अथवा [कर्म] आपः के साथ सम्मोदन्ते=आनन्द प्राप्त करते हैं । जहां ये सात ऋषीणानि=ज्योतीर्षि=रश्मि ज्योतियां [है ।] तेभ्यः=उन से परे आदित्य [है ।] वे [सात ज्योतियां] । उस [आदित्य में] एक होती हैं । यह अधिदैवत है ।

अव अध्यात्म=शरीर विषयक [अर्थ में ।] विश्वकर्मा, विभूतमना, व्याप्त, धाता और, विधाता और, परम और, सन्दर्शयिता=दिखाने वाला इन्द्रियों का । इन [इन्द्रियों] के प्रिय अथवा, कमनीय अथवा, उल्लंघित अथवा, प्राप्त अथवा, माने हुए अथवा, झुके हुए अथवा [कर्म] अन्न के साथ आनन्द प्राप्त करते हैं । जहां ये सात इन्द्रियां [हैं ।] इन से परे आत्मा [है ।] वे [सात इन्द्रियां] इस [आत्मा में] एक होती हैं । यह आत्मगति=शरीर और आत्मा की गति को कहता है ।

यहां इतिहास को कहते हैं । विश्वकर्मा भोवन ने सर्वमेघ में सारे भूतों को होम दिया । उस ने अपने शरीर को भी अन्त में होम दिया । उस के कहने वाली यह ऋक् होती है ।

जो इन सारे भूतों को होमता हुआ । इति ।

उस की अगली [ऋक्] अधिक निर्वचन के लिए [है] ॥ २६ ॥

भाष्य—(इषा) आपः के साथ । इष आपः का कौन सा रूप है, यह अन्वेषण योग्य है । सातः रश्मि उन इषः आपः के साथ आनन्द मनाते हैं । ऋषि के सामने वह सारी मोदन-क्रिया प्रत्यक्ष हुई होगी । आदित्यः का मण्डल आपः के विचित्र व्यापार का स्थान है ।

इस एक ही मन्त्र में दो अर्थ अत्यन्त स्पष्टता से यास्क ने दिखाए हैं । सात इन्द्रियां=पांच इन्द्रियां तथा बुद्धि और मन ।

इतिहास—शतपथ ब्राह्मण में प्रवचन है—

विश्वकर्मा विमना आदिहाया धाता विधाता परमोत् सन्दक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मन्दन्ति यत्रा सत्तच्छुषीन्पर एरमाहुः ॥

[श्रु० १०।२२।२॥]

विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता । धाता च विधाता च । परमश्च सन्द्रष्टा भूषणाम् । तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा । अद्भिः सह सम्मोदन्त । यत्रैतानि सत्तच्छुषीणानि ज्योतापि । तभ्य पर आदित्य । तान्यतस्मिन्नेक भवन्तीत्यधिदैवतम् ।

अधाध्यात्मम् । विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितन्द्रियाणाम् । तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा । अन्नन सह सम्मोदन्त । यत्रैतानि सत्तच्छुषीणानीन्द्रियाणि । तभ्य पर आत्मा । तान्यतस्मिन्नेक भवन्तीत्यत्मगतिमाचष्टे ।

तत्रतिहासमाचक्षत । विश्वकर्मा भौरत सबन्ध सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार । स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार । तदभिरादिभ्य परमैवति ।

य इमा विश्वा भुवनानि जुहूत् ॥ [श्रु० १०।२१।१॥]
इति ।

तस्योत्तरा भूयस निवचनाय # १६ ॥

अर्थ—(विश्वकर्मा) विश्वकर्मा (विमना) विषय मन वाला (आत् विहाया) अवि महान्=व्याप्ता=महान् अत व्याप्त (धाता) धारण कर्ता (विधाता) जीवन विधाता (परम उत) परम भी (सन्दक्) सम्यक् इष्ट [भूतो वा आदित्य वा आत्मा] (तेषाम् इष्टानि) उन [जनी] के प्रिय कार्य (समिषा मन्दन्ति इषा स-मदन्ति) आप क साथ आनन्द मनान हैं (यत्र) जहाँ (सत्तच्छुषीन्) मात ज्योतियो वा इन्द्रियो से (पर) परे (एरम् आहुः) एक आदित्य वा आत्मा को कहन है ॥

विश्वकर्मा, विभूतमना=व्यापक, धाता और विधाता और, परमः च=सर्व से परे अथवा सब से उत्तम और मग्यक् द्रष्टा भूतों का । उन भूतों के इष्ट=प्रिय अथवा, कमनीय अथवा, क्रान्त=उल्लंघित अथवा, प्राप्त अथवा, माने हुए अथवा, झुके हुए अथवा [कर्म] आपः के साथ सम्मोदन्ते=आनन्द प्राप्त करते हैं । जहां ये सात ऋषीणानि=ज्योतीषि=रश्मि ज्योतियां [है ।] तेभ्यः=उन से परे आदित्य [है ।] वे [सात ज्योतियां] उस [आदित्य में] एक होती हैं । यह अधिदैवत है ।

अथ अध्यात्म=शरीर विषयक [अर्थ में ।] विश्वकर्मा, विभूतमना, व्याप्त, धाता और, विधाता और, परम और, सन्दर्शयिता=दिखाने वाला इन्द्रियो का । इन [इन्द्रियों] के प्रिय अथवा, कमनीय अथवा, उल्लंघित अथवा, प्राप्त अथवा, माने हुए अथवा, झुके हुए अथवा [कर्म] अत्र के साथ आनन्द प्राप्त करते हैं । जहां ये सात इन्द्रियां [हैं ।] इन से परे आत्मा [है ।] वे [सात इन्द्रियां] इस [आत्मा में] एक होती हैं । यह आत्मगति=शरीर और आत्मा की गति को कहता है ।

यहां इतिहास को कहते हैं । विश्वकर्मा भोवन ने सर्वमेघ में सारे भूतों को होम दिया । उस ने अपने शरीर को भी अन्त में होम दिया । उस के कहने वाली यह ऋक् होती है ।

जो इन सारे भूतों को होमता हुआ । इति ।

उस की अगली [ऋक्] अधिक निर्वचन के लिए [है] ॥ २६ ॥

भाष्य—(इषा) आपः के साथ । इष आपः का कौन सा रूप है, यह अन्वेषण योग्य है । सातः रश्मि उन इषः आपः के साथ आनन्द मनाते हैं । ऋषि के सामने वह सारी मोदन-क्रिया प्रत्यक्ष हुई होगी । आदित्यः का मण्डल आपः के विचित्र व्यापार का स्थान है ।

इस एक ही मन्त्र में दो अर्थ अत्यन्त स्पष्टता से यास्क ने दिखाए हैं । सात इन्द्रियां=पांच इन्द्रियां तथा बुद्धि और मन ।

इतिहास—शतपथ ब्राह्मण में प्रवचन है—

तेन दैतेम विश्वकर्मा भोवन रंजे । तेनेष्ट्रात्यतिष्ठत् सर्वाणि
भूतानीदध् सर्वमभरत् । अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदध् सर्वं भवति
य एयं विद्वान् सर्वमधेन यजते । यो वैतदेवं वेद ॥ १३।०।१।१४ ॥

यास्क एत इतिहास इस से भिन्न है । २६ ।

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत् द्याम् ।
मुह्यन्त्ये अभितो जनांस इहास्माकं मघवा सुरिरस्तु ॥

[ऋ० १० । ८१ । ६ ॥]

विश्वकर्मन् हविषा वर्धयमानः स्वयं यजस्व पृथिवीं च दिव च ।
मुह्यन्त्ये अभितो जनाः सपत्ना । इहास्माकं मघवा सुरिरस्तु प्रज्ञाता ।
तादर्यं । त्वष्ट्रा व्याख्यातः । तीर्थेऽन्तरिक्षे क्षिपति । तूर्णमर्थं
रक्षति । अश्रोतेषां । तस्यैषा भवति ॥ २७ ॥

अर्थ—(विश्वकर्मन्) हे विश्वकर्मन्, हवि से (वावृधान) बढ़ाता
हुआ [तू] स्वयं यजन करो पृथिवी को और द्यौ को । (मुह्यन्तु) मोह
को प्राप्त हो अन्य चारो ओर से [अचामिक] जन । यहा हमारा (मघवा)
धनवान् पूर्ण जाता हो ॥

हे विश्वकर्मन्, हवि से बढ़ाता हुआ स्वयं यजन कर पृथिवी को और
द्यौ को और । मोह, उक्त हों, दूसरे, चारो ओर से समुजन । यहा हमारा इन्द्र
प्रज्ञाता=पूर्ण जाता हो ।

१७ तादर्यं । [निरुक्त ८ । १३, १४ मे सम निर्वचन वाले] त्वष्ट्रा से
व्याख्या किया गया [है ।] फेरे हुए अन्तरिक्ष में निवास करता है । सीध
अर्थम्=उदक को रक्षा करता है । [स्वन्द पाठ—क्षरति ।] अश्रोति
से अथवा, व्याप्त होता है ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २७ ॥

भाष्य— विश्वकर्मा की हवि जाननी चाहिए ॥ २७ ॥

त्वम् तु वाजिनं देवजुतं महारानं तरुतारं स्थानाम् ।

अरिष्टनेमि पृतनार्जमाशुं सुस्तपे तादर्यमिहा दुरेम ॥

[ऋ० १० । १५८ । १ ॥]

तं भृशमन्नवन्तम् । जूतिर्गतिः । प्रीतिर्वा । देवजूतं देवगतम् ।
 देवप्रीतं वा । सहस्वन्तम् । तारयितारं रथानाम् । अरिष्टनेमिम् ।
 पृतनाजितम् । आशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिह ह्रवेमेति । कमन्यं मध्यमादेव-
 मवदद्यत् । तस्यैषापरा भवति ॥ २८ ॥

अर्थ—(त्यम्=तम्) उस को (सु वाजितम्) सुन्दर अन्न वाले को
 (देवजूतम्) देवों से प्रेरित वा देवों की प्रीति वाले को (सहावानम्)
 बल वाले (तरुतारम्) चलाने वाले को (रथानाम्) रथों के (अरिष्टने-
 मिम्) अहिंसित वज्र को (पृतनाजम्) संग्रामों के जेता को (आशुम्)
 शीघ्र (स्वस्तये) कल्याण के लिए (तार्क्ष्यम्) मधम स्थानी तार्क्ष्य को
 को (इह) यहां (ह्रवेम) बुलावें ॥

उस को बहुत अन्न वाले को । जूतिः, गति [है], प्रीति अथवा ।
 देवजूतम्=देवों को प्राप्त को, देवों से प्रीति वाले को अथवा । सहस्वन्तम्=
 बल वाले को । चलाने वाले को रथों के । अरिष्टनेमि को । संग्राम विजेता
 को । शीघ्र कल्याण के लिए, यहां बुलावें । किस दूसरे को मध्यतम
 स्थानी से [अन्य को] इस प्रकार कहना ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २८ ॥

भाष्य—आदित्य, चन्द्र आदि रथों को तार्क्ष्य चलाता है ॥ २८ ॥

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिपापस्ततानं ।

सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मां वरन्ते युवतिं न शर्याम् ॥

[ऋ० १०। १७८। ३ ॥]

सद्योऽपि यः शवसा बलेन तनोत्यपः सूर्य इव ज्योतिपा पञ्च
 मनुष्यजातानि । सहस्रसानिनी शतसानिन्यस्य सा गतिः । न स्मैनां
 वारयन्ति प्रयुवतीमिव शरमयीमिषुम् ।

मन्युः । मन्यतेर्दीप्तिर्कर्मणः । क्रोधकर्मणो [वधकर्मणो] वा ।
 मन्यन्त्यस्मादिपवः । तस्यैषा भवति ॥ २६ ॥

अर्थ—(सद्यः चित्) शीघ्र ही (यः) जो (शवसा) बल से
 (पञ्च कृष्टीः) पांच जन जातियों के प्रति (सूर्यः इव ज्योतिपा) सूर्य जैसे

ज्योति से [तीनों लोको को वैसे] (अण ततान) [वृष्टि रूपी] उदक को विस्तृत करता है । (सहस्रस्राः) सहस्रो (शतस्राः) सैंकड़ो [-मेषो की तोड़ने वाली] (अस्व) [उम] इम [तार्क्ष्य] की (रद्धि.) गति [है] (न स्म वरन्ते) नहीं कोई उभे रोक सकता (युवर्ति न शर्षाम्) जन्तु शरीरो मे] मिश्रण होने व नी वा धसने वाली शरमयी इपु को] जैसे कोई रोक नहीं सकता ।]

शीघ्र ही जो बल में विस्तृत करता है उदक को, मूर्ध जैसा ज्योति से । पाच मनुष्यों, ममूशो के प्रति । सहस्रो को देने वाली, सैंकड़ो [मेषो] को देने वाली इम [तार्क्ष्य] की वह गति । नहीं इस [गति को] रोक सकते हैं । [शरीर मे] खूब धँसती हुई को जैसे शरमयी इपु को ।

१= मभ्यु । मन्थति से, दीप्ति अर्थ वाले से । जोव अर्थ बाल से, वय अर्थ बाल से अथवा । चमकते हैं, इम से [निजलने हुए] बाण ।

उम की यह [श्क] होती है ॥ २९ ॥

भाष्य—तार्क्ष्य उदक को विस्तृत करता है, यह अन्वेषण योग्य है । वह मेषों की कैसे काटता है, इस क्रिया का स्वरूप भी जानना चाहिए ॥ २६ ॥

स्वया मन्वो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता महत्त्वः ।

तिग्मेपेव आयुधा संशिश्राना अभि प्र येन्तु नराः अग्निरूपाः ॥

[ऋ० १०।८४।१॥]

स्वया मन्वो सरथमारुह्य रुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता महत्त्वस्ति त्वेपेव आयुधानि संशिश्रयमाना अभिप्रयन्तु नराः । अग्निरूपा अग्निकर्माणि । सप्तधा कथंचिन इति या ।

दधिक्राः । म्याख्याताः । तर्पेवा भवति ॥ ३० ॥

अर्थ—(स्वया) तेरे माथ (मन्वो) हे मन्वो (सरथम्) एक रथ पर (आ रुजन्तः) चढ़ कर पीड़ा देने हुए [जन्तुको को] (हर्षमाण.) प्रसन्न होने हुए (अधृषिताः) न दबने हुए (महत्त्व.) हे महत्त्वो शत्रु [इन्द्र]

(तिरमेपवः) तीक्ष्ण वाणों वाले (आयुधा संशिशानाः) शस्त्रों को तेज करते हुए (अभि प्रयन्तु) प्रवलता से जाएं [शत्रुओं के] प्रति, (नरः) (अग्निरूपाः) जो अग्निरूप हैं ॥

तेरे साथ हे मन्यो, एक रथ पर चढ़ कर पीड़ा देते हुए, प्रसन्न होते हुए, हे मरुतों वाले [इन्द्र] तीक्ष्ण वाणों वाले, शस्त्रों को तेज करते हुए प्रवलता से [शत्रुओं के] प्रति जाएं नरः । अग्निः के अथवा विद्युत् के कर्मों वाले । तय्यार कवच धारण करने वाले अथवा ।

१६. दधिक्राः । [निरुक्त २ । २७ में] व्याख्यात [है ।]

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३० ॥

भाष्य—तप के पुत्र मन्यु का यह आर्ष है । इस सूक्त का देवता मन्यु है । ऋषि के विषय में प्रो० मैकडानल बृहद्देवता २ । ५३ में लिखता है—

the name of the Rishi invented from the contents of the two hymns R. V. X. 83, 84. वेद के ऋषि केवल मानव पुरुष नहीं हैं, इस साधारण बात को न समझ कर मैकडानल ने यह लेख लिखा है । नरः मरुतों में से एक श्रेणी है । वे अग्निरूप होते हैं । इन्द्र मरुतों का साथी है । मन्यु केवल क्रोध नहीं, प्रत्युत इस का अपना भौतिक अस्तित्व भी है । तप नाम का अग्निः भी है । तपो वा ऽग्निः । शत० ३ । ४ । ३ । २ ॥ उस का पुत्र भी आग्नेय पदार्थ है । मानव राजधर्म में इन्द्र, मरुत, नर और मन्यु आदि के आधार पर सेनापति, सेना और शस्त्रों के विषय में लुसोपमाथों को समझ कर, उपनिबद्ध उपदेश जाने जाते हैं ॥ ३० ॥

आ दधिक्राः शर्वसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान् ।

सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पूणक्तु मध्वा समिमा वचंसि ॥

[ऋ० ४ । ३० । १० ॥]

आतनोति दधिक्राः [शर्वसा] बलेनापः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि । सहस्रसाः शतसाः । वाजी वंजनवान् । अर्वरणवान् । सम्पूणक्तु नो मधुनोदकेन वचनानीमानीति । मधु धमतेर्विपरीतस्य ।

सविता सर्वस्य प्रसविता । तस्यैषा भवति ॥ ३१ ॥

अर्थ—(दधिकाः) दधिका ने (शबसा) बल से (पञ्च कृष्टी) पाच मनुष्य समूहों के प्रति (सूर्य. इव ज्योतिषा) सूर्य जैसे ज्योति से [वैभे] (अथ) उदकों को (आतनान) फैलाया । सहस्रो, सैकड़ों [मेघों का समका] (वाजी अर्था) देने वाला, कमाने वाला, धकेलने वाला (सम्पृणन्तु) मिलावे (मधुः) मधु उदक से (इमा) इन [स्तुति स्त्री] (वचासि) वचनों को ॥

फैलाता है दधिका बल से उदकों को, सूर्य जैसे ज्योति से पाच मनुष्य समूहों के प्रति । सहस्रों, सैकड़ा वाजी=वजनवान् कमाने वाला, अर्वा=ईरणवान्=धकेलने वाला, मिलावे हमें मधुह्वा उदक में इन वचनों को । मधु, धमति से, उलटे हुए से ।

२० सविता । सब का प्रेरक ।

उम को यह [ऋक्] होती है ॥ ३१ ॥

भाष्य—ताभ्यं और दधिका का स्वरूप बहुत सा समान है । अतः २१ खण्ड के मन्त्र का इस मन्त्र के साथ बहुत सा पाठेय्य है ॥ ३१ ॥

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भुने सविता धामददत् ।

अथमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षमूर्तै वदं सविता समुद्रम् ॥

[ऋ० १०।१४६।१ ॥]

सविता यन्त्रै पृथिवीमरमपत् । अनारम्भणे ऽन्तरिक्षे सविता धामद इत् । अथमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षे मेघम् । वदम् अतूर्तै । वदम् अनूर्तै इति वा । अत्यरमाणे इति वा । सविता समुदितारमिति । कमन्थं मध्यमादेवमरक्षत् ।

आदित्योऽपि सविनोच्यत । तथा च द्विरक्ष्यस्तूपे स्तुत । अर्चन् द्विरक्ष्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच । तद्भिथादिन्यपग्नंरति ॥ ३२ ॥

अर्थ—सविता ने यन्त्रों में पृथिवी को (अरम्णात्) धावा । (अस्कम्भने) आभय रहित [अन्तरिक्ष] में सविता ने छी को (अद इत्) दृढ़ किया । (अक्षम् इव अधुक्षत्) अध को [जैते

झाड़ते हैं वैसे] झाड़ा (धुनिम्) हिलते हुए मेघ को (अतूर्ते) अचल [अन्तरिक्ष] में (बद्धम्) बंधे हुए को सविता ने (समुद्रम्) उदक के वहाने वाले को ॥

सविता ने यन्त्रों में पृथिवी को अरमयत्=स्थिर किया । आश्रय रहित =स्कम्भ-रहित अन्तरिक्ष में सविता ने द्यौ को दृढ़ किया । अथ को जैसे [झाड़ते हैं, वैसे] झाड़ा- धुनि=मेघ को अन्तरिक्ष में । बंधे हुए को अतूर्ते=अतूर्णै=अस्वरमाणै=अचल में अथवा । सविता ने [समुद्रम्]=समुदितारम्=समय पर आने वाले को, गीला करने वाले को । किस दूसरे को [इस] मध्यम स्थानी के [अतिरिक्त] ऐसे कहता ॥

आदित्य भी सविता कहाता है । और वैसे हिरण्यस्तूप [ऋषि के सूक्त] में स्तुति किया गया है । अर्चन्-स्तुति करते हुए हिरण्यस्तूप ऋषि ने इस सूक्त को प्रवचन किया ।

उस की कहने वाली यह ऋक् होती है ॥ ३२ ॥

भाष्य— सविता आदित्य से भिन्न है । इस खण्ड के अन्त में ही यास्क लिखता है—आदित्योऽपि सवितोच्यते । अन्यत्र भी मन्त्र में कहा है—

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिर् उभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते ।

अप—अमीवां वाधते वेति सूर्यम् । ऋ० १ । ३५ । ६ ॥

सविता सूर्य नहीं है । संभवतः रश्मि-विशेष रखने वाले केवल प्रातः समय के अवस्था-विशेष वाले आदित्य को सविता कहते हैं । उस समय उसे सूर्य वा आदित्य पारिभाषिक अर्थ में नहीं कहते ।

अरम्णात्=अरमयत् का अर्थ राजाराम ने किया है—रमण कराता है । यह ठीक नहीं । सविता ने कांपने वाली पृथिवी को वर्तमान अवस्था में स्थिर किया था । द्यौ का स्कम्भन अथवा दृढ़ण अनेक देवों द्वारा हुआ था । इस क्रिया का विपद वयंन अनेक मन्त्रों में मिलता है यथा—

१. वरुण ने—अस्तम्नाद् द्याम् असुरो विश्ववेदाः । ऋ० ८ । ४२ । १ ॥

यही मन्त्र तैत्तिरीय संहिता में भी है—

अर्थ—(दधिमाः) दधिमा ने (शवसा) बल से (पञ्च कृष्टी.) पाच मनुष्य समूहों के प्रति (सूर्यः इव ज्योतिषा) सूर्य जैसे ज्योति से [धैमे] (अपः) उदरों को (आततान) फैलाया । सहस्रो, सैकड़ों [मेघों का समता] (वाजी अर्वा) देने वाला, कपाने वाला, धकेलने वाला (सम्पृणक्तु) मिलावे (मध्वा) मधु उदक ने (इमा) इन [स्तुति ह्यो] (वचासि) वचनों को ॥

फैलाता है दधिमा बल से उदरों को, सूर्य जैसे ज्योति से पाच मनुष्य समूहों के प्रति । सहस्रों, सैकड़ों वाजी=वेजनवान् कपाने वाला, अर्वा=ईरणवान्=धकेलने वाला, मिलावे हमें मधुह्वा उदक ने इन वचनों को । मधु, धमति से, उलटे हुए से ।

२०. सविता । सव वा प्रेरक ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३१ ॥

भाष्य—तात्पर्य और दधिमा का स्वरूप बहुत सा समान है । अतः २४ खण्ड के मन्त्र का इस मन्त्र के साथ बहुत सा परैरूप है ॥ ३१ ॥

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्वम्भने सविता घामद इत् ।

अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षमूर्ते वद्धं सविता समुद्रम् ॥

[ऋ० १०।१४६।१ ॥]

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरमयत् । अनारम्भणे ऽन्तरिक्षे सविता घामद इत् । अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षे मेधम् । वद्धम् अतूर्ते । वद्धम् अतूर्ते इति वा । अश्वरमाणे इति वा । सविता समुदितारमिति । कामस्य मध्यमादेवमवस्यत् ।

आदित्योऽपि सवितोऽप्यत । तथा च द्विरण्यस्तूपे स्तुतः । अर्चन् द्विरण्यस्तूपे ऋषिरिदं वृक्तं प्रोवाच । तदभिवादिभ्येपर्भवति ॥ ३२ ॥

अर्थ—सविता ने यन्त्रों से पृथिवी को (अरम्भात्) यावा । (अस्वम्भने) आश्रय रहित [अन्तरिक्ष] में सविता ने छो को (अद इत्) दृढ़ किया । (अश्वम् इव अधुक्षत्) अश्व को [जैसे

हिरण्यस्तूपो हिरण्यमयः स्तूपः । हिरण्यमयः स्तूपोऽस्येति वा ।
स्तूपः स्त्यायतेः । संघातः । सवितः यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजेऽन्नेऽ-
स्मिन्नेवं त्वार्चन् । अननाय वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रतिजागर्भ्यहम् ।

त्वष्टा, व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ ३३ ॥

अर्थ—हिरण्यस्तूप ने, हे सवितः, जिस प्रकार, तुझे (आङ्गिरसः)
अङ्गिरा के=पुत्र ने (जुह्वे) बुलाया (वाजे) अन्न रूप (अस्मिन्) इस
[हवि] में । ऐसे तुझे (अर्चन्) स्तुति करता हुआ [मैं हिरण्यस्तूप]
(अबसे) रक्षा के लिए (वन्दमानः) स्तुति करता हुआ [बुलाता हूँ ।]
(सोमस्य इव अंशुं) सोम के सोम के प्रति (जागर) जागता हूँ मैं ।

हिरण्यस्तूपः=हिरण्यमय स्तूप । हिरण्यमय स्तूप इस का अथवा ।
स्तूपः, स्त्यायति से । संघात=डेर [हैं ।] हे सवितः, जिस प्रकार तुझे
आङ्गिरस ने बुलाया अन्नरूप इस [हवि] में, उसी प्रकार तुझे स्तुति
करता हुआ, रक्षा के लिए स्तुति करता हुआ, सोम के सोम के प्रति
जागता हूँ मैं ।

२१. त्वष्टा । [८ । १३ में] व्याख्या किया गया ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३३ ॥

भाष्य—आङ्गिरा=आग्नेय प्राण्य । उस का पुत्र आङ्गिरस । आङ्गिरस का पुत्र
हिरण्यस्तूप । उस हिरण्यस्तूप का पुत्र अर्चन् हिरण्यस्तूप । इन्हीं नामों के
अनुकरण पर मानव ऋषियों के नाम हुए ॥ ३३ ॥

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोप प्रजाः पुरुधा जजान ।

इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।

[ऋ० ३ । ५५ । १६ ॥]

देवस्त्वष्टा सविता सर्वरूपः पोपति प्रजा रसानुप्रदानेन । बहुधा
चेमा जानयति । इमानि च सर्वाणि भूतान्युदकान्यस्य । महच्चास्मै
देवानामसुरत्वमेकम् । प्रजावत्त्वं वा । अनवत्त्वं वा । अपि वासुः, इति
प्रज्ञानाम । अस्यत्यनर्थान् । अस्ताश्चास्यामर्थाः । असुरत्वमादिलुप्तम् ।

वातः । वातीति सतः । तस्यैषा भवति ॥ ३४ ॥

अस्तभाद् याम् श्रुपभो अन्तरिक्षम् । ऋ० १ । २ । ८ ॥

२. इन्द्र ने—यो याम् अस्तभाद् स जनास इन्द्रः ।

ऋ० २ । १२ । २ ॥

अवशे याम् अस्तभापद् वृहन्तम् । ऋ० २ । १२ । २ ॥

अथ चावापृथिवी विष्कभापन् । ऋ० ६ । ४४ । २४ ॥

तत् पृथिवीम् अप्रथय तदस्तद्वा उत याम् । ऋ० ८ । ८२ । २ ॥

३. सोम ने—अथ महान् महता स्कम्भनेन उद् याम् अस्तद्वाद्
श्रुपभो मरुत्वान् । ऋ० ६ । ४० । २ ॥

४. विष्णु ने—व्यस्तद्वा रोदसी विष्णुवत । ऋ० ७ । २२ । ३ ॥

५. वैशानर ने—व्यस्तद्वाद् रोदसी मिश्रो अद्भुत । ऋ० ६ । ८ । ३ ॥

६. क ने—येन द्यौश्चा पृथिवी च ददा । ऋ० १० । १२१ । २ ॥

७. इन्द्रासोमौ ने—उप चा स्कम्भथु स्कम्भनेन । ऋ० ६ । ०२ । २ ॥

८. विश्वेदेवा ने—चावाभूमी पृथिवी स्कम्भुरोजसा ।

ऋ० १० । १२१ । २ ॥

९. सविता न—यह प्रस्तुत मन्त्र में कहा ही है ।

हमने यहाँ इस विद्या का संकेतमात्र किया है । चावापृथिवी के उद होने में जो जो क्रियाएँ हुई होंगी, उन का स्वयं बोलता चित्र वेद में ही है । उन अनीन्द्रिय घटनाओं का सत्य उल्लेख विज्ञान की एक अनूत्य निधि है । येस वेद को इन रसार्थ यद्गदी अज्ञानो लेखकों ने अस्पष्ट से अस्पष्ट कर देने का पूरा पक्ष किया है ।

धुनिम्=हिन्दी में धुनिया (=रुई पीजने वाला) इसी से मिलता जुलता अपभ्रंश है । हिरण्यपाणि कोई भौतिक सत्व भी या । हिरण्यस्तूप अग्नि के समान ही यह शब्द भी है ॥ ३२ ॥

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाऽऽङ्गिरसो जुह्वे वानि अस्मिन् ।

पवा त्वार्चिर्भवसे वर्न्दमानः सोमस्त्वेवाशुं प्रति जागराहम् ॥

[ऋ० १० । १४६ । २ ॥]

२३. अग्निः । [निरुक्त ७ । १४ में] व्याख्या किया गया ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३५ ॥

भाष्य—वात में हृदय के रोगों का भेषज्य है । वायु द्वारा धमनियों में रक्त की गति होती है । प्राणायाम आदि उसे ठीक और शुद्ध करते हैं । इस पर पूरी खोज करनी चाहिए ॥ ३५ ॥

प्रति त्वं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र ह्वयसे । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥

[ऋ० १ । १६ । १ ॥]

तं प्रति चारुमध्वरं सोमपानाय प्रह्वयसे । सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति । कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् । तस्यैपापरा भवति ॥ ३६ ॥

अर्थ—(त्वम्=तम्) उस (चारुम्) सुन्दर (अध्वरम् प्रति) अध्वर के प्रति (गोपीथाय) सोमपान के लिए (प्र ह्वयसे) बुलाया जाता है । मरुतों के साथ हे अग्ने (आ गहि) आओ ॥

किस अन्य को मध्यम स्थानी [के अतिरिक्त] ऐसा कहता ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ३६ ॥

भाष्य—यह पावक अग्निः का प्रकरण है । इस में दैवी अध्वर का कथन है । वहीं मरुतों के साथ अग्निः बुलाया जाता है । यह मध्यमस्थान विषयक ऋक् है ॥ ३६ ॥

अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥

[ऋ० १ । १६ । ६ ॥]

अभिसृजामि त्वा पूर्वपीतये पूर्वपानाय सोम्यं मधु सोममयम् । सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति ॥ ३७ ॥

अर्थ—(त्वा) तेरे लिए (पूर्वपीतये) पहले पीने के लिए (अभिसृजामि) तय्यार करता हूँ (सोम्यं) सोम से युक्त (मधु) मधु को । मरुतों के साथ हे अग्ने आओ ॥

तय्यार करता हूँ, तेरे लिए, पहले पीने के लिए सोमयुक्त मधु को । वह [तू] हे अग्ने मरुतों के साथ आ ॥ ३७ ॥

अर्थ—देव त्वष्टा ने (सविता) उदक ने (विश्वरूप.) सर्वस्व ने (पुत्रोप) पुष्ट किया (प्रजाः) प्रजाओं को (पुरुधा) बृहत् प्रकार से (ज्ञान) उत्पन्न किया । (इमा च) और ये (विश्वा भुवनानि) सारे भूत अथवा भुवन अर्थात् उदक (अस्य) इस के [हैं ।] (मद्देवैर्नाम) महान् [है] देवो म इन का (असुरत्वम् एकम्) प्राप्तपन एक मात्र ।

देव त्वष्टा, सविता, सर्वस्व, पुष्ट करता है प्रजाओं को उस के अनुप्रदान से । बृहत् प्रकार से इन्हें उत्पन्न करता है । ये और सारे भूत उदक इस के [हैं ।] महान् और इस के लिए देवो म एक अमुरत्व एक मान । [असुरत्वम्]=प्राप्तपन अथवा । प्राप्तपन अथवा । अथवा असुः यह प्रजा का नाम [है ।] फेरता है अनर्षो को । अस्ताः च=डाले हुए [होने हैं] इस म अर्थ । असुरत्वम् मे आदि तुम् [है । वमुरत्वम्, धन देने का गुण, जो उदक मे है ।]

२२ वातः । बहता है, ऐसा होने हुए ।

उन को यह [ऋक्] होती है ॥ ३४ ॥

भाष्य—त्वष्टा उदक की सहायता से सारे रूप बनाता है । यह रहस्य विज्ञान द्वारा सोचना चाहिये ॥ ३४ ॥

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।

प्र सु आयुषि तारिपत् ॥ [ऋ० १०। १८६। १ ॥]

वात आवातु भेषज्यानि । शम्भु मयोभु च नो हृदयाय । प्रवर्धयतु च न आयुः ।

अग्निः, व्याख्यातः । तस्यैवा भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ—(वातः) वात (आ वातु) [हमारी ओर] बहता लाए (भेषजम्) रोगनिवारक पदार्थ को, कल्याणकारक, सुखकारक हुआ (नः) हमारे (हृदे) हृदय के लिए । (नः) हमारे (आयुषि) आयुओं को (प्र तारिपत्) बढ़ाए ।

वात बहता लाए भेषज्यों को । कल्याणकारक, सुखकारक और हमारे हृदयों के लिए [जो हा ।] वयम् और हमारा आयु ।

२५. असुनीतिः । प्राणों को ले जाता है ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३९ ॥

भाष्य—वेन मध्यम स्थानी देव है । वह आपः और सूर्य के संगम में अपनी क्रिया करता है । यह संगम कहीं पर है, यह अभी मैं नहीं कह सकता । एक ऐसा संगम आदित्य मण्डल में सदा बना रहता है । वेन वाला संगम जानना चाहिए । वेनस्तत्पश्यन् इति ध्रुति में वेन पद ईश्वर वाची है । वेन आपः को प्रेरण करता है । यह प्रक्रिया भी अप्ययन योग्य है ।

प्राष्ट्वर्णगर्भा आपः । प्रकृष्ट अष्ट वर्षा ईं गर्भ में जिन के ऐसे आपः को । इस का अर्थ समझना चाहिए ॥ ३६ ॥

असुनीते मनोऽस्मासु धारय जीवातेवे सु प्रतिरा न आयुः ।

रारन्धि नः सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥

[ऋ० १०।५६।५ ॥]

असुनीते मनोऽस्मासु धारय । चिरं जीवनाय प्रवर्धय च न आयुः । रन्धय च नः सूर्यस्य सन्दर्शनाय । रन्धयतिर्वशगमनेऽपि दृश्यते ।

मा रधाम द्विपते सोम राजन् ॥ [ऋ० १०।१२८।५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

घृतेन स्वमात्मानं तन्वं वर्धयस्व ।

ऋतः, व्याख्यातः । तस्यैवा भवति ॥ ४० ॥

अर्थ—हे असुनीते, प्राण, मन को हम में धारण करो, [चिर काल तक] जीने के लिए (सु प्र तिर) सुन्दर रूप से बहुत बढ़ाओ (नः) हमारा (आयुः) आयु । (रारन्धि) साधो (नः) हमें सूर्य के [दीर्घकाल तक] सम्यक् दर्शन के लिए । घृत से तू [हे असुनीते (तन्वम्)] [अपने] शरीर को (वर्धयस्व) बढ़ाओ ॥

हे असुनीते, मन हम में धारण करो, चिरजीवन के लिए । बहुत बढ़ाओ और हमारा आयु । सफल करो और हमें सूर्य के सम्यक् दर्शन के लिए । रन्धयतिः—वशगमने, वश पढ़ने के अर्थ में देखा जाता है ।

मत (रधाम) वश में पड़े (द्विपते) शत्रु के, हे सोम राजन् ॥

वेन वेननेः कान्तिकर्मणः । तस्यैवा भवति ॥ ३८ ॥

अर्थ—२४. वेनः, । वेनति से, कान्ति अर्थ वाले से ।

उस की यह [अरु] होती है ॥ ३८ ॥

अयं वेनधोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायु रजसो विमाने ।

इममपां संज्ञने सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभि र्दिहन्ति ॥

[अ० १० । १२३ । १ ॥]

अयं वेनधोदयन् । पृश्निगर्भाः । प्राष्टवर्णगर्भाः आप इति वा । ज्योतिर्जरायुः । ज्योतिरस्य जरायुस्थानीयं भवति । जरायु जरायु गर्भस्य । जरायु यूयत इति वा । इममपां च संज्ञने सूर्यस्य च । शिशुमिष विप्रा मतिभि र्दिहन्ति । लिहन्ति । [स्तुयन्ति ।] वर्धयन्ति । पूजयन्तीति वा । शिशुः शंसनीयो भवति । शिशोतिर्वा स्याद् दानकर्मणः । चिरलब्धो गर्भो भवति ।

असुनीतिः । असुप्रयति । तस्यैवा भवति ॥ ३६ ॥

अर्थ—इस वेन ने (चोदयत्) प्रेरित किया, (पृश्निगर्भाः) [जो] पृश्निके गर्भ [मे हैं उन को और] (ज्योतिः) ज्योति ही [जिस का] (जरायु) जेर [स्थानी] है, (रजसः) अन्तरिक्ष के (विमाने) स्थान में । (इमम्) इन [वेन] को आपः के संगम में (सूर्यस्य) और सूर्य के, (शिशुम् न) शिशु को जैसे [माता पालन कर के] बढ़ाती है, वैसे (विप्रा) मेधावी जन (मतिभिः) बुद्धियो से (रिहन्ति) बढ़ाते हैं, अथवा स्तुति करते हैं ॥

इस वेन ने प्रेरित किया, पृश्निगर्भा = प्राष्टवर्णगर्भा, अग्निभ्यो = आग्निव्य के गर्भ में स्थित आपः को । प्रष्टवर्णया अष्टवर्ण गर्भ वाले आपः अथवा । ज्योति ही जिन का जरायु स्थानीय होता है । जरायु = जरा के साथ गर्भ की, जरा के साथ मिश्रित होता है अथवा । इस [वेन] को आपः के और संगम में सूर्य के और । शिशु को जैसे [माता] बढ़ाती है, वैसे विप्रजन बुद्धियो से बढ़ाते ह । रिहन्ति = लिहन्ति, [स्तुयन्ति] वर्धयन्ति, पूजते है अथवा । शिशु = शंसनीय होता है । शिशोति न अथवा होवे, गति अर्थ वाले से । चिर से प्राप्त उदक [रश्मियो की] गर्भ होता है ।

२७. इन्दुः । इन्वति से, उनति से अथवा । चमकता है, वा गीला करता है ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४१ ॥

भाष्य—ऋत पद के अनेक अर्थ हैं । इस प्रकरण का ऋत मध्यम स्थानी है । ऋतञ्च सत्यञ्च इति मन्त्र में ऋत मध्यम स्थानी नहीं है । उस मन्त्र में सृष्टि बनने के आरम्भ का वृत्तान्त है । तब मध्यम ऋत उत्पन्न भी नहीं हुआ था । ऋत और आपः का घनिष्ठ सम्बन्ध है । ऋत की वाक् से गतिशील मनुष्य के कान खुलते हैं । ज्योति वा उदक के कान जानने चाहिए ॥ ४१ ॥

प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इपवान्मन्म रेजति रक्षोहा
मन्म रेजति । स्वयं सो अस्मदा निदो वधैरजेत दुर्मतिम् । अत्र
स्रवेदघशंसोऽवतरमव चन्द्रमिव स्रवेत् ॥ [ऋ० १ । १२६ । ६ ॥] ।

प्रब्रवीमि तद्भव्यायेन्दवे । हवनाहं इव य इपवानन्नवान् कामवान्वा ।
मननानि च नो रेजयति । रक्षोहा च बलेन रेजयति । स्वयं सोऽस्मद-
भिनिन्दितारम् । वधैरजेत दुर्मतिम् । अत्रस्रवेदघशंसः । ततश्चावतरं
चन्द्रमिवावस्रवेत् । अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते । यथाहो दर्शनीयाहो
दर्शनीयेति । तत्परुच्छेपस्य शीलम् । परुच्छेप ऋषिः । पर्ववच्छेपः ।
परुषि परुषि शेषोऽस्येति वा ।

इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि । सूक्तभाञ्जि
हविर्भाञ्जि । तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि=वेनोऽसुनीतिऋत इन्दुः ।

प्रजापतिः । प्रजानां पाता वा पालयिता वा । तस्यैषा भवति ॥४२॥

अर्थ—(तत्) [स्तुतिरूप इष्ट] (प्रवोचेयम्) कह सकूँ (भव्याय)
वृद्धि और हानि वाली कला से युक्त के लिए (इन्दवे) चन्द्रमा के लिए
(हव्यः) हवनाहं (न) के समान (यः) जो (इपवान्) स्तुति की इच्छा
वाला, अथवा स्तोताओं के लिए देने योग्य अन्न वाला (मन्म) [हमारे]
स्तवन को (रेजति) कपाता है, (रक्षोहा) राक्षसों का हन्ता (मन्म
रेजति) [राक्षसों के] मनन=चित्त को कपाता है । (स्वयं सः) स्वयं
वह (अस्मत्) हम से (आ निदः) सामने निन्दा करने वालों को

यह भी निगम होता है । घृतन=[अन्तरिक्षस्य] घृत से तू अपने शरीर को बढ़ाओ ।

२६ ऋत । [निरुक्त २ । २५ म] व्याख्या किया गया ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४० ॥

भाष्य—अमुनीति । प्राण अथवा प्राण को छे जाने वाला सत्व । प्राण ही जीवन है । अतः अमुनीति का दीर्घ आयु से सम्बन्ध है । यह अमुनीति सत्व घृत से बढ़ता है और वह भी एक मात्र गोघृत से ॥ ४० ॥

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूमाऋतस्य धीतिर्वृजिनानि इन्ति ।

ऋतस्य रलोमी वधिरा ततर्द कर्णा युधानः शुचमान आयोः ॥

[ऋ० ४।२३। = ॥]

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूमाः । ऋतस्य प्रज्ञा धर्जनीयानि इन्ति । ऋतस्य ऋको वधिरस्यापि कर्णाऽऽत्णत्ति । वधिरो वद्धश्चोत्र । कर्णा बोधयन् दीप्यमानश्चायोरयनस्य । मनुष्यस्य । ज्योतिषो वा । उदकस्य वा ।

इन्दु । इन्देरुनसेरा । तस्यैवा भवति ॥ ४१ ॥

अर्थ—ऋत की [मध्यम स्थानी की] ही (शुरुध) आप है (पूमा) पहर से संचित, अतः की प्रज्ञा (वृजिनानि) वजन योग्य कामों को=नापों को मारती है । ऋत की वाक् (वधिरा) बहुरे के भी (ततर्द) खोलती है (कर्णा-कर्णों) कानों को (युधान) बोधन कराती हुई (शुचमान) दीप्त होनी हुई (आयो) मनुष्य के ॥

ऋत की ही आर हैं पूव संचित । अतः की प्रज्ञा वजनीय कामों को मारती हैं । ऋत की वाक् बहुरे के भी कानों को आत्णत्ति=खोल देती है । वधिरा=वधु हृण=वन्द कान बाना । कर्णों को बोधन कराती हुई, दीप्यमान हुई, आयो=अनि खोल मनुष्य के । ज्योतिष के अथवा । उदक के अथवा ।

२७. इन्दुः । इन्वति से, उनत्ति मे अथवा । चमकता है, वा गीला करता है ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४१ ॥

भाष्य—ऋत पद के अनेक अर्थ हैं । इस प्रकरण का ऋत मध्यम स्थानी है । ऋतञ्च सत्यञ्च इति मन्त्र में ऋत मध्यम स्थानी नहीं है । उस मन्त्र में सृष्टि बनने के आरम्भ का घृतान्त है । तब मध्यम ऋत उत्पन्न भी नहीं हुआ था । ऋत और आपः का घनिष्ट सम्बन्ध है । ऋत की वाक् से गतिशील मनुष्य के कान सुलते हैं । ज्योति वा उदक के कान जानने चाहिएँ ॥ ४१ ॥

प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्मन्म रेजति रक्षोहा
मन्म रेजति । स्वयं सो अस्मदा निदो वधैरजेत दुर्मतिम् । अत्र
सवेदघशंसोऽवतरमव जुद्रमिव सवेत् ॥ [ऋ० १। १२६। ६ ॥] ।

प्रतवीमि तद्भव्यायेन्दवे । हवनार्ह इव य इषवानन्नवान् कामवान्वा । मननानि च नो रेजयति । रक्षोहा च बलेन रेजयति । स्वयं सोऽस्मदभिनिन्दितारम् । वधैरजेत दुर्मतिम् । अत्रवेदघशंसः । ततश्चावतरं जुद्रमिवावन्नवेत् । अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते । यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति । तत्परुच्छेपस्य शीलम् । परुच्छेप ऋषिः । पर्ववच्छेपः । परुषि परुषि शेषोऽस्येति वा ।

इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि । सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि । तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि=वेनोऽसुनीतिर्ऋत इन्दुः ।

प्रजापतिः । प्रजानां पाता वा पालयिता वा । तस्यैषा भवति ॥४२॥

अर्थ—(तत्) [स्तुतिरूप इष्ट] (प्रवोचेयम्) कह सकूँ (भव्याय) वृद्धि और हानि वाली कला से युक्त के लिए (इन्दवे) चन्द्रमा के लिए (हव्यः) हवनार्ह (न) के समान (यः) जो (इषवान्) स्तुति की इच्छा वाला, अथवा स्तोताओं के लिए देने योग्य अन्न वाला (मन्म) [हमारे] स्तवन को (रेजति) कंपाता है, (रक्षोहा) राक्षसों का हन्ता (मन्म रेजति) [राक्षसों के] मनन=चित्त को कंपाता है । (स्वयं सः) स्वयं वह (अस्मत्) हम से (आ निदः) सामने निन्दा करने वालों को

(वधे) प्रहारों से (अजेत) जीत (दुर्मतिम्) पाप बुद्धि को । (अय स्रवेत्) नीचे जाव=क्षीण होवे (अधशस) पाप की प्रशंसा करने वाला (अवनम्) [और] अधिक क्षीणता को (सुद्रम् इव) सुद्र इव [=उदक आदि] के समान (अय स्रवेत्) नीचे बहे ॥

भले प्रकार कहता हूँ वह भव्य चन्द्रमा के लिए हवनार्ह के समान जो रूपवान्=अन्न वाला, [स्तुति की] इच्छा वाला अथवा । मननों को और हमारे कपाता है, राक्षस हन्ता और बल से कपाता है । स्वयं वह हम से सामने निन्दा करने वाला को । वधे =प्रहारों से जीते पापबुद्धि को, नाचे गिरे=बह जाए पाप का शसक । उस में भी अधिक नीचे सुद्र [वस्तु] के समान नीचे बहे । अय स्रवेत्—अय स्रवेत्, [इम] अभ्यासे=दो बार कथन में भूयांसम्=अधिक अर्थ को मानने है । यथा—अहो दर्शनीय अहो दर्शनीय इति । यह परुच्छेप का स्वभाव [है] । परुच्छेप ऋषि [है] । पर्ववत् [महान] प्रजनन वाला । परपि परुषि—मर्कान्त सधियों में शेष [है], इम का अथवा ।

यह २७ देवता नाम [वायु से इन्दु तक] अनुक्रम में बहे गए । [ये देवता] मूक्तमानी [हैं और] हविर्भागि भी । उन में से ये [किसी यज्ञ में भी हविर्भागि नहीं बने] असुनीति, ऋत, इन्दु ।

२= प्रजापति । प्रजाश्रो का रक्तक अथवा, पालक अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४२ ॥

भाष्य—परुच्छेप पद पर लिखने हुए आचार्य स्कन्द स्वामी ने कौपीणक भा० २३ । ४ का वचन लिखा है—उस के अन्त में—इन्द्र उ वी परुच्छेप पाठ है । इन्द्र ही परुच्छेप है । वही इस मन्त्र का वास्तविक ऋषि है । उसी नाम के अनुकरण पर मानव ऋषि का भी वैसा नाम हुआ । यास्क ने परुच्छेप नाम का जो दूसरा निर्वचन दिखाया है उस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि परुच्छेप मानव नहीं है । परुच्छेप ऋषि के साथ यास्क ने यभूव क्रिया नहीं लगाई ॥४२॥

प्रजापते न त्वदुता-न्य-यो विश्वा जातानि परि ता यभूव ।

यत्कामास्ते जुहुमस्तर्धो अस्तु वयं स्याम पर्वयो रयीषाम् ॥

[अ० १० । २२१ । १० ॥]

प्रजापते न हि त्वदेतान्यन्यः सर्वाणि जातानि तानि परिवभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु । वयं स्याम पतयो रयीणाम् । इत्याशीः ।

अहिः, व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ ४३ ॥

अर्थ—हे प्रजापते, नहीं (त्वत्) तुझ से (पतानि) इन पर (अन्यः)
कोई दूसरा (विश्वा जातानि) सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थ [जो हैं,] (ता) उन
पर (परि बभूव) सर्वोपरि हुआ । (यत्कामाः) जिस इच्छा वाले (ते)
तेरे लिए (जुहुमः) होम करते हैं, (तत् नः) वह हमारी (अस्तु) हो,
हम हों स्वामी धनों के ।

हे प्रजापते, न ही तुझ से इन [पदार्थों पर] दूसरा, सारे उत्पन्न [जो
हूए] उन पर सर्वोपरि हुआ । जिस कामना वाले तेरे लिए होम करते हैं,
वह हमारी हो । हम हों स्वामी धनों के । यह प्रार्थना [है ।]

२६. अहिः । [निरुक्त २ । १७ में] व्याख्या किया गया ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४३ ॥

भाष्य—ऋग्वेद के कः देवता वाले सूक्त की यह अन्तिम ऋक् है । सब
प्रकार के सांसारिक और पारलौकिक धनों की कामना के लिए, इस में तदर्थ
होम करने का उपदेश है । इस ऋक् का ईश्वर अर्थ भी अति स्पष्ट है ॥ ४३ ॥

अञ्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु पीदन् ॥

[ऋ० ७ । ३४ । १६ ॥]

अप्सुजमुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजस्सूदकेषु पीदन् ।
बुधमन्तरिक्षम् । वद्धा अस्मिन्धृता आप इति वा । इदमपीतरद्
बुधमेतस्मादेव । वद्धा अस्मिन्धृताः प्राणा इति ।

योऽहिः स बुध्न्यः । बुधमन्तरिक्षं तन्निवासात् । तस्यैषा
भवति ॥ ४४ ॥

अर्थ—(अञ्जाम्) [स्कन्द—वृष्टिलक्षणाखण्डसु] आपः में उत्पन्न
को (उक्थैः) स्तोत्रों से (अहिम्) [स्कन्द—मध्यमस्थानम्] अहि को
(गृणीषे) स्तुति करता हूँ । (बुध्ने) बन्धन स्थान वाले अन्तरिक्ष में
(नदीनाम्) नदियों के (रजःसु सीदन्) उदकों में वैठता हुआ [है] ॥

अप्सुजम्=जापः मे जन्मे को, सोमो मे अहि को स्तुति करता हू ।
 बन्धन स्थान में नदियों के रजःसु=उदकेषु=उदको में बैठा हुआ [म ।]
 बुधम्=अन्तरिक्षम् । बवे दृए इस में ठहराए गए आप. अथवा । यह भी
 दूसरा बुध [=परीर] इस [कारण] से ही । बवे दृए इस में ठहराए गए
 प्राण [होते हैं ।]

३० [अद्विर्बुध्न्यः ।] जो अहि वह बुध्न्यः । बुध्न अन्तरिक्ष है,
 उस में निवास से । उस की यह [शक्ति] होती है ॥ ४४ ॥

भाष्य—वेद में अहि पद दो अर्थों में है । एक अहि इन्द्र से भाग जाता
 है—यो इत्वाहिमरिणान् सप्त सिन्धून् । अ० २ । १२ । ३ ४ अहि का
 दूसरा रूप स्तुतियोग्य है । अन्तरिक्ष सम्बन्धी अहि पद का साधारण अर्थ मेघ
 है । पर वृद्धदेवता के एक पाठ का निम्नलिखित श्लोक जो इस देवता विषयक है,
 देखने योग्य है—

अदिरादन्ति मेघान्स पति वा तेषु मध्यमः ।

यो ऽहिः स बुध्न्यो बुध्ने हि सो ऽन्तरिक्षे ऽभिजापते ॥ १॥१६॥

यह अहि मेघो को मारता भी है । उस को उत्पत्ति भी अन्तरिक्ष में है ।

प्रस्तुत मन्त्र का वेङ्कटर जी का अंग्रेजी अनुवाद देखना चाहिए—

“I praise with my hymns Ahi, born of Waters,
 he (is) seated in the regions at the bottom of the
 rivers.”

इस अनुवाद में उच्चरार्थ के अनुवाद पर ध्यान देना चाहिए—

“in the regions at the bottom of the rivers ”

रजःसु का अनुवाद किया गया है—“in the regions.” और बुध्ने
 नदीनाम् का “at the bottom of the rivers.”

अब वेङ्कटर जी को बताना होगा कि नदियों के bottom पर जीव से
 regions होते हैं । वे सम्पूर्ण नदियों को मैदानीय भादि का अनुकरण कर के

पार्थिव मानते हैं।' फिर उन्हें बताना होगा कि उन का अहि पार्थिव नदियों के तल पर कौन से regions में बैठा है।

: वेलंकर जी की सहती भूल का कारण स्पष्ट है। उन्होंने बुध पद के यास्क प्रदर्शित दोनों अर्थ त्याग कर, एक अन्य अर्थ मान लिया है। वह अर्थ है—बुधम्=bottom, यही अर्थ मैग्डानल ने वैदिक रीडर में माना है (पृ० २१५, अ० १० । १३५ । ६ ॥) बुधम् पद का यह अर्थ नहीं है। अधिक से अधिक बुध=body है। बुध का अन्तरिक्ष अर्थ अति प्रसिद्ध है। अतः यास्क ने प्रसिद्ध और प्रकरणानुकूल अर्थ लिखा है। इसी प्रकार रजःसु का अर्थ यहां उदकेषु है। वेलङ्कर जी ने—लोकाः रजांसि उच्यन्ते से regions अर्थ का अनुमान किया है। पर वह अर्थ यहां संगत नहीं होता। ईसाई-यहूदियों की शैली वस्तुतः वेदार्थ को अष्ट करने की है। वेलङ्कर जी सद्य परिश्रमी पुरुष यदि भारतीय प्रक्रिया को समझ कर वेदार्थ में प्रवेश करता तो उन का अपना और भारत का कल्याण होता। अन्तरिक्ष देवता को पार्थिव नदी में जन्मने वाला बताना वेदार्थ में अहंमन्यता के अतिरिक्त कुछ नहीं।

आपः अन्तरिक्ष में उसी प्रकार व्याप्त हैं, जिस प्रकार शरीर में प्राण ॥४४॥

मा नोऽहिर्वुध्न्यो रिपे धान्मा यज्ञो अस्य स्निधृतायोः ॥

[ऋ० ७ । ३४ । १७ ॥]

मा च नोऽहिर्वुध्न्यो रेपणाय धात् । मा अस्य यज्ञोखा च स्निधद् यज्ञकामस्य ।

सुपर्णः, व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ ४५ ॥

अर्थ—मत हमें अहिर्वुध्न्य (रिपे) हिंसा के लिए (धात्) देवे । मतं यज्ञ इस का (स्निधत्) वह जाए=क्षीण हो=नष्ट हो (ऋतायोः) यज्ञ की कामना वाले का ॥

1. "This (Rig. VII. 95, 2) is surely the description of an earthly rivers," p. xxx. Intro. Rigveda Mandala VII ed. 1963.

अन्तरिक्ष के पर्वतों और समुद्र का अज्ञान ही ऐसे लेख का कारण है।

११- सुपर्ण [निवृत्त ३।१२ म] व्याख्या किया गया । उस को मह [श्चु] होता है ॥ ४५ ॥

भाष्य— यह बलिष्ठ की श्चु है । उस के प्रकरण में अधिपत्य अर्थ में न और अस्य पद किन का संबन्ध करते हैं, यह अध्ययन वाच्य है । सुपर्ण का अग्नि के साथ सम्बन्ध अगले मन्त्र में है—

अग्निं युनक्ति शयसा घृतन दिव्यं सुपर्णं वयसा वृद्धन्तम् ।

तै० स० ४।०।१३ ॥

सोमं वै रापान यत् सुपर्णं आहरत् समभिनत् तस्य वा विप्रुवा अपतस्ता एवमा ओषधयो ऽभवन् । वै० मा० १।३२२ ॥

सुपर्ण ही अन्वय श्वेन अथवा गायत्री वृन्द कहा गया है । सुपर्ण की महिमा जाननी चाहिए ॥ ४६ ॥

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स उदं विष्टं भुवनं वि चष्टे ।

तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्त माता रेळिह स उ रळिह मानरम् ॥

[श्चु० १०।११४।४ ॥]

एक सुपर्ण । स समुद्रमाविशति । स इमानि सर्वाणि भूतान्य भिविपश्यति । तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तित । इति । ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भगवत्याख्यानसयुक्ता । त माता रळि । वागेपा माध्यमिका । स उ मातर रळि ।

पुरुशवा । बहुधा गोरुयत । तस्यैवा भवति ॥ ४६ ॥

अर्थ—(एक) अतहाय अकेला ही (सुपर्ण) [मध्यमस्थानी] सुपर्ण (स) वह (समुद्रम्) अन्तरिक्ष को (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ, वह इन मारे (भुवनम्) भूतजात को=भूत-परिणाम को (विचष्ट) विनोय दखता है । (तं पाकेन मनसा) उस को पके हुए एकप्रज्ञ मन से (अपश्यम्) मैंने देखा (अन्तित) निकट से (तम्) उस को (माता) माध्यमिका वाक्=उदको की निर्मातृ ने (रेळिह) चाटा उगने और चाटा माता को ॥

एक सुपर्ण । वह अन्तरिक्ष में प्रविष्ट होता है । वह इन सारे भूतों को चारों ओर से देखता है । उस को पक्ष मन से मैंने देखा समीप से । इति । ऋषि के देखे हुए अर्थ की प्रीति होती है आख्यान से संयुक्त । उस को माता = वाक् वह माध्यमिका, चाटती है ! उस ने और माता [वाक्] को चाटा ।

३२. पुरुरवाः । वहन प्रकार से रोरूयते=शोर करता है । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४६ ॥

भाष्य—तं पाकेन मनसापश्यम्... ॥ यह आख्यान है । सुपर्ण विद्या का भी अन्वेषण होना चाहिए । भाष्यकारों ने सुपर्ण को वायु माना है । वस्तुतः इतने मात्र से काम नहीं चलता । वायु का कौन सा रूप सुपर्ण बनता है, यह ज्ञातव्य है । उल में परमाणु-संघात विभिन्न हो जाता है ॥ ४६ ॥

समस्मिञ्जायमान आसत् त्वा उतेमवर्धन्नद्यः स्वर्गूर्ताः ।

महे यत्त्वा पुरुरवो रणायार्वर्धयन्दस्युहत्याय देवाः ॥

[ऋ० १० । ६५ । ७ ॥]

समासत । अस्मिञ्जायमाने । त्वा गमनादापः । देवपत्न्यो वा । अपि चैनमवर्द्धयन् । नद्यः [स्वर्गूर्ताः] स्वयंगामिन्यः । महते च यत्त्वा पुरुरवः । रणाय रमणीयाय संग्रामायावर्धयन् । दस्युहत्याय च देवाः देवाः ॥ ४७ ॥

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

अर्थ—(अस्मिन् जायमाने) इस [पुरुरवा] के उत्पन्न होने पर (सम् आसत्) [उस के चारों ओर] भले प्रकार ठहरों (त्वाः) आपः रूपी [देवपत्नियों] = दियों, (उत ईम्) और इस को (अवर्धन्) बढ़ाया (नद्यः) नदियों ने (स्वर्गूर्ताः) स्वयं गमनकारिण्यों ने । (महे) महान् के लिए (यत् त्वा) जो तुम्हें (पुरुरवः) हे पुरुरवः (रणाय) संग्राम के लिए (अवर्धयन्) बढ़ाया (दस्युहत्याय) दस्युहत्या के लिए (देवाः) देवों ने ॥

सम् आसत्=चारों ओर सम्यक् ठहरों, अस्मिन् जायमाने=इस के उत्पन्न होने पर, त्वाः=गमन के कारण आपः, देवपत्नियों अथवा । और भी

३) सुपर्ण, [निरुक्त ३ । १२ म] व्याख्या किया गया । उस को यह [शृक्] होती है ॥ ४५ ॥

भाष्य— यह वसिष्ठ की शृक् है । उस के प्रकरण में अधिपत अर्थ में न और अस्य पद किन का संबंध करते हैं, यह अध्ययन योग्य है । सुपर्ण अ अग्नि के साथ सम्बन्ध जगत्त्रे मन्त्र में है—

अग्निं युतजिह्वं शरसा घृतन दिव्यं सुपर्णं वयसा वृहन्तम् ।

श्री० स० ४ । ० । १३ ॥

साम वै राजान यत् सुपर्णं आहरत् समभिनत् तस्य वा विप्रुपो
अपतस्ता एवमा ओपश्यो ऽभयन् । श्री० वा० १ । ३२१ ॥

सुपर्ण ही अन्यत्र श्येन अथवा गायत्री छन्द कहा गया है । सुपर्ण की महिमा जाननी चाहिए ॥ ४६ ॥

ए०ः सुपर्णः स समुद्रमा विवश स उदं रिद्धं भुवनं वि चष्टे ।

तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्त्वं माता रेच्छि स उं रेच्छि मातरम् ॥

[श्ल० १० । ११४ । ४ ॥]

एक सुपर्ण । स समुद्रमाविशति । स इमानि सर्वाणि भूतान्य
भिविपश्यति । तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तित । इति । शृपेर्दृष्टार्थस्य
प्रीतिर्भरत्याख्यानसयुक्ता । त माता रदि । वागया माध्यमिका । स उ
मातर रदि ।

पुरुरजा । बहुधा गोरूयत । तस्यैवा भवति ॥ ४६ ॥

अथ—(एक) असहाय अकेला ही (सुपर्ण) [मध्यमस्थानी]
सुपर्ण (स) वह (समुद्रम्) अन्तर्दिक्ष को (आ विवश) प्रविष्ट हुआ,
वह इस सारे (भुवनम्) भूतजात को=भूत-परिखाम को (विचष्टे)
विशेष नखना है । (त पाकेन मनसा) उम को एक हुए पकप्रन मन से
(अपश्यम्) मैंने दत्ता (अन्तित) निःशङ्क ने (तम्) उस को (माता)
माध्यमिका वाक्=उदको की निर्मातृ ने (रेच्छि) चाटा उमने और चाटा
माता को ॥

अथैकादशोऽध्यायः

श्येनो व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

१. श्येनः । [निरुक्त ४ । २४ में] व्याख्या किया गया । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १ ॥

भाष्य—श्येन का अति स्पष्ट व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थों में है । यथा—

१. यदाह श्येनो ऽसीति । सोमं वा एतदाह । एष ह वा अग्नि-
भूर्त्वा ऽस्मिंल्लोके संशयायति । तद्यत् संशयायति तस्माच्छ्येनः ।
गो० पू० ५ । १२ ॥

२. तृतीयस्यां वै दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् ।
काठक सं० ३० । १० ॥

३. यद्वायत्री श्येनो भूर्त्वा दिवः सोममाहरत् । तेन सा श्येनः ।
शत० ३ । ४ । १ । १२ ॥

४. भागवत पुराण ८ । ३ । ३१ में छन्दोमय गरुड का कथन है ।

पूर्व निरुक्त १० । ४५ के भाष्य में सुपर्ण द्वारा सोम आहरण का प्रमाण दिया गया है । अब यहां श्येन द्वारा भी वैसी घटना का प्रमाण दिया है । निघण्टु में सुपर्ण और श्येन दो पृथक् सत्त्व गिने गए हैं । अतः इन दोनों का सूक्ष्म अन्तर जानना आवश्यक है । इन सूक्ष्मताओं के ज्ञान के बिना वेदार्थ का सम्यक् बोध नहीं हो सकता ॥ १ ॥

आदाय श्येनो अमरत्सोमं सहस्रं सुवाँ अयुतं च साकम् ।

अत्रा पुरन्धिरजहादमित्रान् सोमस्य मूरा अमूरः ॥

[ऋ० ४ । ६२ । ७ ॥]

आदाय श्येनोऽहरत्सोमम् । सहस्रं सवानयुतं च सह । सहस्रं सहस्रसाव्यमभिप्रेत्य । तत्रायुतं सोमभक्षाः । तत्सन्वन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा । तत्र पुरन्धिरजहादमित्रान् । अदानानिति वा । मदे सोमस्य मूरा अमूरः [इति] । पेन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतः । तस्मादिन्द्रं मन्यन्ते ।

इम को बढ़ाया नदिया न, स्वयं गमिनिया ने । महान् क लिए
 और जो तुम्हे हे पुकरष रषाय=रमणोष मंगाम क लिए, बढ़ाया ।
 दम्बुहत्या के लिए और दवों न, दवों ने ॥ ४७ ॥

भाष्य—मध्यमस्थानी पुकरष को नदियों ने बढ़ाया । वे भी मध्यस्थानी
 हैं । नदियां स्वयं गति करती हैं, पुनः उन्हें स्वगूर्ता क्यों कहा । कोई भी मध्य
 भी इस में गूह हो सकता है । पुकरष के कई अर्थ हैं । उद में स एक अर्थ
 मैत्रायणी सहित में कहा है—उपदयसीति । धारदा उर्वणी । पुकरषा ।
 असीति । माच एवतत् मिथुनम् । १ । १ । २ ॥ ४० ॥

अथैकादशाऽध्यायः

श्येनो व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

१. श्येनः । [निरुक्त ४ । २४ में] व्याख्या किया गया । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १ ॥

भाष्य—श्येन का अति स्पष्ट व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थों में है । यथा—

१. यदाह श्येनो ऽसीति । सोमं वा एतदाह । एष ह वा अग्नि-
भूत्वा ऽस्मिंल्लोके संशयायति । तद्यत् संशयायति तस्माच्छ्येनः ।
गो० षू० ५ । १२ ॥

२. तृतीयस्यां वै दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् ।
काठक सं० ३० । १० ॥

३. यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत् । तेन सा श्येनः ।
शत० ३ । ४ । १ । १२ ॥

४. भागवत पुराण ८ । ३ । ३१ में छन्दोमय गरुड का कथन है ।

पूर्व निरुक्त १० । ४५ के भाष्य में सुपर्ण द्वारा सोम आहरण का प्रमाण दिया गया है । अब यहां श्येन द्वारा भी वैसी घटना का प्रमाण दिया है । निघण्टु में सुपर्ण और श्येन दो पृथक् सरव गिने गए हैं । अतः इन दोनों का सूक्ष्म अन्तर जानना आवश्यक है । इन सूक्ष्मताओं के ज्ञान के बिना वेदार्थ का सम्यक् बोध नहीं हो सकता ॥ १ ॥

आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम् ।

अत्रा पुरन्धिरजहादमित्रान् सोमस्य मूरा अमूरः ॥

[ऋ० ४ । ६२ । ७ ॥]

आदाय श्येनोऽहरत्सोमम् । सहस्रं सवानयुतं च सह । सहस्रं सहस्रसाव्यमभिप्रेत्य । तत्रायुतं सोमभक्षाः । तत्सन्वन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा । तत्र पुरन्धिरजहादमित्रान् । अदानानिति वा । मदे सोमस्य मूरा अमूरः [इति] । पेन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतः । तस्मादिन्द्रं मन्यन्ते ।

इस को बढ़ाया नदियों ने, स्वयं गामिनियों ने । महान् के लिए
 और जो तुम्हें, हे पुरूरवः रथाय=रमणीय संग्राम के लिए, बढ़ाया ।
 दधुहत्या के लिए और देवों ने, देवों ने ॥ ४७ ॥

भाष्य—मन्वस्यानी पुरूरवा को नदियों ने बढ़ाया । वे भी मन्वस्यानी
 हैं । नदियाँ स्वयं गति करती हैं, पुनः उन्हें स्वगताः क्यों कहा । कोई और भाव
 भी इस में गूढ़ हो सकता है । पुरूरवा के कई अर्थ हैं । उन में से एक अर्थ
 मैत्रायणी संहिता में कहा है—उर्वश्यसीति । धारवा उर्वशी । पुरूरवा ।
 असीति । प्राय पयतत् मिथुनम् । ३ । २ । २ ॥ १० ॥

में नहीं जाते । ये अति सूक्ष्म अर्थ ब्राह्मणों के प्रवचनों में मिलते हैं । नैरुक्तों ने श्येन को भी इन्द्र मान कर काम चलाया है । पर वस्तुतः विज्ञान की दृष्टि से श्येन एक पृथक् पदार्थ है ॥ २ ॥

स्वादिष्टया मदिष्टया पवस्व सोम धारया । इन्द्राय पातवे सुतः ॥

[ऋ० ६ । १ । १ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ।

अथैवाऽपरा भवति । चन्द्रमसो वा । एतस्य वा ॥ ३ ॥

अर्थ—(स्वादिष्टया) अतिशय स्वादु से (मदिष्टया) अतिशय मद्द कराने वाली से (पवस्व) वहो, (सोम) हे सोम (धारया) धारा से । इन्द्र के लिए पीने के निमित्त (सुतः) उत्पन्न किए गए हो=संस्कृत हुए हो ॥

यह स्पष्ट पाठमात्र से व्याख्यात है । और यह दूसरी होती है चन्द्रमा की अथवा । इस [सोम वल्ली] की अथवा ॥ ३ ॥

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संमिपन्त्योपधिम् ॥

सोमं ये ब्रह्माणो विदुरि न तस्याश्नाति कश्चन ॥

[ऋ० १० । ८५ । ३ ॥]

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संमिपन्त्योपधिमिति । वृथासुतमसोममाह । सोमं यं ब्रह्माणो विदुरिति न तस्याश्नाति कश्चनायज्वा । इत्यधि-यज्ञम् ।

अथाधिदैवतम्—सोमं मन्यते पपिवान्यत्संमिपन्त्योपधिमिति यजुःसुतमसोममाह । सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसं न तस्याश्नाति कश्चन अदेव इति ।

अथैवापरा भवति । चन्द्रमसो वा । एतस्य वा ॥ ४ ॥

अर्थ—(सोमम्) सोम को (मन्यते) मानता है (पपिवान्) पीने वाला (यत्) जब (सं मिपन्ति) सम्यक् पीसते है (ओपधिम्) ओपधिरूप [सोम] को । (सोमम्) सोम को (यम्) जिस को (ब्रह्माणः)

ओषधि सोम । सुनोत । यदेतमभिपुण्वन्ति । बहुलमस्य
 नैषण्डुक वृत्तम् । आश्चर्यमिव प्राधान्यत । तस्य पावमानीषु निदर्शना-
 योऽहरिष्याम ॥ २ ॥

१७

अर्थ—(आदाय) ला कर (श्येन) श्येन (अमृत्) आहरण कर
 लाया (सोमम्) सोम को (सहस्र सपान्) सहस्र यज्ञ को । (अयुतं
 च) अयुत को और (साकम्) [इस के] साथ । (अत्र) वहाँ
 (पुरन्धि) बहूप्रज्ञ (श्येन) श्येन ने (अज्ञहात्) मारा, त्याग दिया
 (अराती) शत्रु सना को, [अथवा] अदान बुद्धिया को, (मदे सोमस्य)
 मद में सोम के (मूढ) मूढ=अज्ञ [अराती] शत्रु [नष्ट हुए]
 (अमूर) अतिरोहित ज्ञान श्येन [द्वारा] ।।

ला कर श्येन ने हरा सोम को । सहस्र सबों को, अयुत को और एक
 साथ, सहस्र =सहस्र-साव्य बना वाले सत्र के अभिप्राय को [लेकर वहाँ]
 उस में अयुत=दस सहस्र सोम भक्ष होते हैं [एक सत्र में दस घमसा, अत
 एक सहस्र में दस सहस्र] । इस सम्बन्ध से दस सहस्र दक्षिणा [है]
 अथवा । वहाँ पुरन्धि ने त्यागा वा मारा अमिचान्=शत्रुओं को । अदान
 [बुद्धियों] को अथवा । मद में सोम के मूढ नष्ट हुए अमूर =श्येन द्वारा ।
 इति । ऐन्द्र मूल में, सोमपान स तथा स्तुत है । इस कारण [श्येन को]
 इन्द्र मानते हैं ।

२ ओषधि सोम । सुनोति से । जो इस को अभि+सुन्वन्ति=
 निचोखते हैं । बहुत है इस [सोम] का नैषण्डुक प्रयोग । आश्चर्य के समान
 [=योक्ता] प्रधानता में । उभ [सोम] का [प्रधान प्रयोग] पावमानी
 [ज्ञाताओं] में निदर्शन के लिए उदाहरण देने ॥ २ ॥

भाष्य—सोम की देव सजा है । ओषधि सोम गौण पार्थिव सत्त्व है । जिस
 प्रकार निषण्डु १ । ३ के अथ आदि १६ सत्त्वों का अग्नि के आश्रय वाला मान
 कर, पार्थिव अर्थों में भी व्याख्यान कर दिया गया है उसी प्रकार सोम की भी
 गौणता से पार्थिव अर्थ में व्याख्या प्राय मिलती है । सोम अस्तुत अपा सात्,
 मध्यम स्थानी है । नैरुक्त केवल तीन देवता मात्र कर निर्वाचन-विषय द्वारा मन्त्र
 पदों का सारा अर्थ दर्शा देते हैं अतः वे अति सूक्ष्म वैज्ञानिक विभाग वाले अर्थों

चन्द्रमाः । चायन् द्रमति । चन्द्रो माता । चान्द्रं मानमस्येति वा ।
चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः । चन्दनमित्यप्यस्य भवति । चारु द्रमति ।
चिरं द्रमति । चमेवां पूर्वम् । चारु रुचेर्विपरीतस्य । तस्यैवा भवति ॥५॥

अर्थ—(यत्) जब (त्वा) तुझे (देव) हे देव [सोम] (प्रपिब-
न्ति) खूब पीते हैं [ऋत्विक्—यजमान] (ततः) तदनन्तर (आ-
प्यायसे) वृद्धि को प्राप्त होते हो (पुनः) फिर । वायुः सोम का रक्षक
[है ।] (समानाम्) संवत्सरो का (मासः) [स्कन्द—मास—शब्दात्
सकारान्तात् पष्ठी, मासस्य च] मासों का [और] (आकृतिः) तुम कर्ता
[हो] ॥

यत्त्वा.....पुनरिति, [ओपधि पक्ष में] नाराशंसों के अभिप्राय से ।
पूर्वपक्ष-अपर पक्ष अथवा [चन्द्रमा के अभिप्राय से ।] वायुः सोमस्य
रक्षिता । वायु को इस का रक्षक कहा । साहचर्य से रसों के हरने से
अथवा । समानां=संवत्सराणाम्, मासों का कर्ता सोम, रूपविशेषों से
ओपधिः, चन्द्रमा अथवा, [=चन्द्रमा भी प्रतिदिन के रूपविशेष से और
ओपधि भी पूर्ण के घटने बढ़ने से ।]

३. चन्द्रमाः । चायन्=देखता हुआ द्रमति=जाता है । चन्द्रः=चन्द्र
माता=निर्माता मासों का । चान्द्रम्=चन्द्र सम्बन्धी मानम् अस्य=माप इस
का अथवा । चन्द्रः, चन्दति से कान्ति अर्थ वाले से । चन्दनम्, यह भी
इस का होता है । चारुः=सुन्दर जाता है । चिरम्=चिर काल तक जाता
है । चमि से अथवा पूर्व [पद] । चारु=रुचि से उलट हुए से । उस की
यह होती है ॥ ५ ॥

भाष्य—चायन् द्रमति, यहां द्रमति प्रयोग का अभिप्राय विचारणीय है ।
द्रमति, यह जाने की कैसी क्रिया होता है, इस पर प्रकाश पढ़ना चाहिए ॥ ५ ॥

नवोनवो भवति जायमानोऽह्वां केतुरूपसामित्यग्रम् ।

भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥

ब्राह्मणो [=ऋत्विजो] ने (विदुः) जाना, नहीं उस का (अज्ञानि) खाता है (कः चन) कोई अयज्वा ।

सोम मन्वते पपिवान् यत् संपिबन्त्योपधिम्, इस [अर्ध भाग मे] वृथा उत्पन्न किए=निचोडे [यज्ञ के अतिरिक्त निचोडे] सोम को कहा । सोम यं ब्रह्मणो विदुः, इति । न तस्य अज्ञानि कश्चन=अयज्वा, यह अधियज्ञम्=यज्ञ परक [अर्ध है ।]

अब अधिदेवत [चन्द्रमा अर्ध मे]—सोम मन्वते पपिवान् यत् संपिबन्त्योपधिम्, इस से यजुः मे निचोडे हुए सोम को कहा । सोम जिम को ब्राह्मणो ने जाना, [उम] चन्द्रमा को, नहीं उस का खाता कोई अदेव=रश्मियों के बिना अन्य ।

अब यह दूसरी [ऋक्] होती है, चन्द्रमा की अयवा, इस [ओपवि] की अयवा ॥ ४ ॥

भाष्य—अधियज्ञ, अधिदेवत तथा अध्यात्म अर्ध की परम्परा अदिकों में सदा से चली आ रही है । अधिदेवत अर्ध में आधिभौतिक अर्ध भी सम्मिश्रित है । पद्य भूतों की माया वेद में सदा स्वीकृत रही है । इस के लिए अगला प्रमाण ब्रह्म है—पञ्चभिरस्तुरत भूतान्यसृज्यन्त । तै० सं० ४ । ३ । १० ॥ इस प्रवचन का एक अर्ध पद्यमहाभूतों के विषय का है । इतने अक्षर के अर्ध देने वाला वेद बलुत बनन्त है । सायण आदि ने वेद का अधियज्ञ अर्ध ही अधिकाश किया है, अतः वे इस का विज्ञान पच प्रस्तुत नहीं कर सके ॥ ४ ॥

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत् आ प्यापसे पुनः ।

वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥

[ऋ० १० । ५५ । ५ ॥]

पत्या देव प्रपिबन्ति तत् आप्यापसे पुनरिति नाद्यंसात्रभिषेत् । पूर्वपद्यापरपद्याविति वा । वायुः सोमस्य रक्षिता । वायुमस्य रक्षिता-रमाह । साहचर्याद्रसहस्रणादा । समानां संवत्सराणां मास आकृतिः सोमो रूपविशेषैरोपधिः । चन्द्रमा वा ।

धन्द्रना प्रायु को ब्रह्मता है, इस के लिए स्वरीकरण करने वाले प्रजाप
कोजने चाहिये । मृत्युः, भौतिक मत्त विशेष है, या नहीं, इस की ओर अभीष्ट
है ॥ ६ ॥

परं मृत्यो अन्तु परेदि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानान् ।

चक्षुष्मते शृण्वते ते त्रयोभि मा नः प्रजां रीरिपो मात धीरान् ॥

[ऋ० १० । १२ । १ ॥]

परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो ध्रुवं परेदि मृत्यो । कथितं तेन मृत्यो ।
मृतं च्यावयते । भवति मृत्यो । मर्त्यां मुर्त्यां । तेषामेवा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(परम्) मरे (मृत्यो) हे मृत्यो (अन्तु परेदि) पीछा कर
के परे जा (पन्थाम्) मार्ग को । जो तेरा (स्वः) अपना है (इतरः)
दूसरा (देवयानात्) देवयान मे [गिन्याय] । (चक्षुष्मते) तब जाने के
लिए (शृण्वते) सुनने जाने के लिए (ते) तेरे लिए कहता है । (मा नः
प्रजाम्) मत हमारी प्रजाओं को (रीरिपः) हिंसा करो (मा उत धीरान्)
मत और वीरों को ॥

परं मृत्यो । निश्चय हे मृत्यो, निश्चय परे जा हे मृत्यो । कहा इत
[कारण] से हे मृत्यो । मरे हुए को ले जाता है । होता है, हे मृत्यो ।
मदि से अथवा । मुदि से अथवा । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ७ ॥

भाष्य—माहाय्य ग्रन्थों में—संयत्तर, सूर्य और अग्निः आदि को मृत्यु
कहा है । इस प्रसङ्ग में मृत्यु का स्वरूप समझना चाहिये । देवयान में मृत्यु नहीं
होता ॥ ७ ॥

त्वेपमित्था समरंशं शिमीवतो रिन्द्रा विष्णू सुतपा चांशुरुप्यति ।

या मर्त्याय प्रतिधीयमान्मिक्कृशानोरस्तु रसनामुंरुप्यथः ॥

[ऋ० १ । १५५ । २ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ।

विश्वानरः, व्याख्यातः । तस्यैवा भवति ॥ ८ ॥

“नरो नवो भवति आयमान्” । इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्य । “अद्वा वतुरुपसामेत्यग्रम्” । इति अपरपक्षान्तमभिप्रेत्य । आदित्यर्दवतो द्वितीय पाद इत्यक । भाग दवेभ्यो विद्धात्यायन्’ । इति अर्धमासे ज्यामभिप्रेत्य । प्रार्धयते चन्द्रमा दीर्घमायु ।

मृत्यु । मारयतीति सत । मृत च्यावयतीति [वा] शतवत्साक्षी मौद्गल्य’ । तस्वैषा भरति ॥ ६ ॥

अर्थ—(नव’ नत्र) नया नया होता है [प्रत्येक दिन की कला से] (आयमान्) उत्पन्न होता हुआ [गुवन पक्ष में ।] (अद्दाम्) दिनों का (वतु’) अद्वा (उपसाम्) उपाओं के (पेटि) चलता है (अग्रम्) आगे । (भागम्) भाग को (दवेभ्य) देवों के लिए (विद्धाति) विनोपतया धारण करता है (आयन्) आता हुआ (चन्द्रमा) चन्द्रमा (प्र तिरत्) बढ़ाता है (दीर्घम् आयु’) दीर्घ आयु को ॥

नरो नरो भवति आयमान् । यह पूर्व पक्ष=गुस्त पक्ष के आदिम्=आरम्भ को अभिप्राय में रख कर [कहा है ।] अद्वा वतुरुपसाम् पत्यग्रम् । यह अपर पक्ष=कृष्ण पक्ष के अन्त को अभिप्राय में रख कर [कहा है ।] भाग दवेभ्यो वि द्धात्यायन् । यह अर्धमास की इज्याम्=इष्टि को अभिप्राय में रख कर [कहा है ।] बढ़ाता है चन्द्रमा दीर्घ आयु को ।

४ मृत्यु’ । मारता है । ऐसा होते हुए से । मरे हुए को च्यावयति=ले जाता है अथवा, यह शतवत्साक्षी मौद्गल्य [कहता है ।] उस की यह [श्चक्] होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—उत्तर भारत में चान्द्र मास में कृष्ण पक्ष पहले माना जाता है और शुक्र पक्ष अन्त में । यह प्रवृत्ति चिर काल से है । दक्षिण भारत में चान्द्र मास में शुक्र पक्ष पहले होता है और कृष्ण पक्ष अन्त में । यारक में भी शुक्र पक्ष को पूर्व पक्ष कहा है और कृष्ण पक्ष को अपर पक्ष । उत्तर भारत के पञ्जाबों में चान्द्र भी पूर्वमा के लिए १२ सख्या का निर्देश होता है और अमावास्या के लिए ३० सख्या का । इस से भी यही प्रतीत होता है कि कभी उत्तर भारत में भी शुक्र पक्ष आरम्भ में और कृष्ण पक्ष अन्त में माना जाता था । उत्तर भारतीय गणना के परिवर्तन का कारण और काल ज्ञातम्प है ।

चन्द्रमा आयु को ब्रह्मता है, इस के लिए स्वर्णकरण करने वाले प्रमाय जोजने चाहिये । मृत्युः, मौलिक सब विशेष है, या नहीं, इस की रोज अभीष्ट है ॥ ६ ॥

परं मृत्यो अनु परं हि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् ।

चक्षुष्मते शृण्वते ते व्रथीमि मा नः प्रजां शीरिषो मोत वीरान् ॥

[ऋ० १० । १ = । १ ॥]

परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो ध्रुवं परं हि मृत्यो । कथितं तेन मृत्यो । मृतं च्यावयते । भवति मृत्यो । मर्देर्वा मुर्देर्वा । नेषामेवा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(परम्) हमारे (मृत्यो) हे मृत्यो (अनु परं हि) पीछा कर के परे जा (पन्थाम्) मार्ग को । जो तेरा (स्वः) अपना है (इतरः) दूसरा (देवयानात्) देवयान से [पितृयाण] । (चक्षुष्मते) नेत्र वाले के लिए (शृण्वते) सुनने वाले के लिए (ते) तेरे लिए कहता हूँ । (मा नः प्रजाम्) मत हमारी प्रजाओं को (शीरिषः) हिंसा करो (मा उत वीरान्) मत और वीरों को ॥

परं मृत्यो । निश्चय हे मृत्यो, निश्चय परे जा हे मृत्यो । कहा इस [कारण] से हे मृत्यो । मरे हुए को ले जाता है । होता है, हे मृत्यो । मदि से अथवा । मुदि से अथवा । उन की यह [श्रुक्] होती है ॥ ७ ॥

भाष्य—ब्राह्मण ग्रन्थों में—संवत्सर, सूर्य और अग्निः आदि को मृत्यु कहा है । इस प्रसङ्ग में मृत्यु का स्वरूप समझना चाहिये । देवयान में मृत्यु नहीं होता ॥ ७ ॥

त्वेपमित्था समरंशुं शिमीवतो रिन्द्रा विष्णु सुतपा वामुरुष्यति ।

या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्कृशानोरस्तु रसनामुरुष्यथः ॥

[ऋ० १ । १५५ । २ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ।

विश्वानरः, व्याख्यातः । तस्यैवा भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—(त्वयम्) प्रदीप्त को (इत्या) इस प्रकार (सम् अरणम्) सम्यक् आगमन को (शिमीवतो) इष्ट फल देने के गुण वाले (इन्द्रा विष्णु) ह इन्द्राविष्णु (सुतपा) मुन्दर तप वाला (वाम्) तुम दोनों को (उरुष्यति) रक्षा करता है, काँति को बढ़ाता है । (या=यो) जो [तुम] दाना (मत्याँय) पन कता मनुष्य क लिए (प्रतिधीयमानम् इत्) इन योग्य को हो (वृष्टानो) जग्मि के पान से (अस्तु) देने को (असनाम्) अनादि को (उरुष्यध) विस्तृत करते हो ॥

यह सष्ट व्याख्यान [है ।]

५ विश्वानर । [निरुक्त ७। २१ म] व्याख्यान है । उसकी यह [श्क] होती है ॥ ८ ॥

भाष्य—इत्युक्त श्क दुर्ग और स्कन्द द्वारा व्याख्यात नहीं है । सत्य के सब इस्तद्धर्मों में है । इस का प्रसङ्ग भी ठीक नहीं बैठता । यह पाठ तथा इसी प्रकार पूर्व सयङ्क का तपामया भवति पाठ भी अनासङ्गिक है । सभक्त कित्ती अन्य निरुक्त स यद्वा का गया है ॥ ८ ॥

प्र वो मदे मन्दमानायान्धसोऽर्चो विश्वानराय विधाभुवै ।

इन्द्रस्य यस्य सुमखं सद्मो महि धवो नृम्यं च रोदसी सपर्यतः ॥

[श्ल० १०।१०।१ ॥]

प्रार्चत [यूयं] स्तुति महते । अन्धसोऽन्नस्य दात्रे । मन्दमानाय मोदमानाय । स्तुयमानाय शुद्धायमानावति वा । विश्वानराय सर्व विभूनाय । इन्द्रस्य यस्य प्रीतो सुमदद् बलम् । महि धवर्णीय यश । नृम्यं च उलम् । नृन् नतम् । दारापृथिव्यो य परिनरत इति । कमन्यं मध्यमादवमवत्यन् । तस्यैवापरा भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(य) तुम [ह स्तोनाओ] (मदे) महान् क लिए (मन्दमानाय) मोदमान क लिए (अन्धस) अन्न क [दाना क लिए] (प्र अर्च) [स्तुति कर] पूजा करो । (विश्वानराय) विश्वानर क लिए (विधा भुव) सब [ध्यान] होने वान के लिए । (इन्द्रस्य

यस्य) जिस ऐश्वर्यवान् ईश्वर का (सु मखम्) सुन्दर [और] महान् (सहः) बल, (महि श्रवः) महान् यश (नृष्णम् च) नृष्ण बल [है ।] (रोदसी) चावापृथिवी (सपर्यतः) सेवते है [उस बल को] ॥

पूजा, तुम, स्तुति को [करो] महार् के लिए । अन्न के दाता के लिए । मोदमान के लिए । स्तूयमान के लिए । स्तूयमान, गव्दायमान के लिए अथवा । विश्वानर के लिए, सर्व प्रकार से विशेष होने वाले के लिए । जिस इन्द्र की प्रीति में सुन्दर महान् बल, महान् और यश, और नृष्ण बल =नरों के प्रति झुका हुआ । चावापृथिवी तुम्हारी [स्तुति को] सेवते है ।

किस दूसरे को मध्यम के [अतिरिक्त को] इस प्रकार कहता ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—विश्वानर यहां मध्यमस्थानी है । यह पृथिवीस्थानी विश्वानर से भिन्न है । वह इन्द्र भी है । उस के बल को चावापृथिवी सेवते है ॥ ६ ॥

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अथ्रेत् ॥

[ऋ० ७ । ७६ । १ ॥]

उदशिथ्रियत् । ज्योतिरमृतं सर्वजन्यं विश्वानरः सविता देव इति ।

धाता । सर्वस्य विधाता । तस्यैषा भवति ॥ १० ॥

अर्थ—(ज्योतिः अमृतम्) ज्योति अमृत को (विश्वजन्यम्) सब के लिए हितकर को (विश्वानरः सविता देवः) विश्वानर सविता देव=दिव्य गुण युक्त ने (उत्-उ-अथ्रेत्) ऊपर को उठाया है ॥

उत्+अशिथ्रियत्=ऊपर को उठाया, ज्योति अमृत को, सब के हितकर को, विश्वानर सविता देव ने ।

६. धाता । सब का विधान=रचन करने वाला ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १० ॥

भाष्य—पृथिवी स उठे हुए आप परमाणु मध्यम स्थान में पहुँचते हैं। वहाँ वायु के पष्ठ परिवह में वे आप दिव्य हो कर सूर्य से पहुँचत और आश्चर्यकी सीमा उपरान्त भवत हैं। यह दिव्य मुझे कभी ज्ञान न होती, यदि महाभारत, शान्तिपर्व क निम्नलिखित श्लोक मरे सामने न पाते—

यस्मिन् पारिप्लव दिव्या भवन्ति-आपो विहायसा ।

पृथवं चाकाशगङ्गायास्तोय विष्टभ्य तिष्ठति ॥ ६६ ॥

दूरात् प्रतिहृतो यस्मिन् एकरश्मिदियाकर ।

योनिगुणसहस्रस्य यत भाति वसुधरा ॥ ७० ॥

यस्मादाप्यायत सीमो यानिर्दिश्यो ऽमृतस्य य ।

पष्ठ परिवहो नाम स पायुर्जयता वर ॥ ७१ ॥ अ० ३३६ ॥

अर्थान्—जिस [परिवह नामक वायु के पष्ठ स्तर] में चञ्चल=चक कटने वाले दिव्य=वैद्युत् गुण युक्त हो जात हैं आप, विहायसा=पटने अथवा फैलने की क्रिया से अथवा आकाश क द्वारा, [और जो स्तर] आकाश गङ्गा के तीर्थ=जल का स्तम्भन कर के ठहरता है ॥ [वहाँ] दूर से प्रतिहृत=मूर्च्छित=reflected जिस में एक रश्मि सूर्य कारण [बनता है] सहस्र क्रिया कर, जिस के द्वारा प्रकाशित हाती है पृथिवी ॥ जिस [पष्ठ स्तर] से वृद्धि को प्राप्त होता है साम, कारण है दिव्य=वैद्युत्-प्रभावयुक्त अमृत का जो, वही पष्ठ परिवह नाम जाना है ।

इन तीन श्लोकों में इतना महान् ज्ञान है, जितना आज के ससार में अन्धज नहीं है। आप अथ जो पृथिवी से रश्मियों द्वारा ऊपर उठते जात हैं वे वायु के पष्ठ स्तर में जा कर पारिप्लव=चञ्चल हो जात हैं। वे पहले चञ्चल नहीं होते। वे वही वैद्युत् गुण धारण कर जत हैं। विहायसा=वे वहाँ विहायस क्रिया द्वारा आकाश में फैलते वा पटत हैं। इत्यादि।

अन्तरिक्ष के विभिन्न स्तरों में अनेक नदियां चलती हैं। पैनी ही एक नदी आकाश गङ्गा है। इन नदियों का जल नीचे नदी गिरता। हां कभी-कभी कोई वृद्ध निर्मल आकाश क समय भी पृथिवी पर आ जाती है। इस का मुझे स्वय अनुभव हुआ है। वक्ष्य की ये नदियां—

न श्राम्यन्ति न वि मुचन्त्येते । ऋ० २ । २८ । ४ ॥ न थकती हैं, न उपरता होती हैं ।

दिव्य आपः । ये दिव्य आपः वेद में बहुधा स्तुत हैं । ऋग्वेद में—

आपो देवीः प्रथमजा ऋतेन ।

अर्थात्—दिव्य आपः पूर्वं उत्पन्न ऋत द्वारा ।

आधिदैविक अर्थ में ऋत भी एक पदार्थ है । उस का पूरा पूरा आधिभौतिक अर्थ अन्वेषणीय है ।

यही आपः आदित्य के मण्डल में दीप्ति करते हैं । बृहद् योगियाज्ञवल्क्य में निम्नलिखित श्लोक देखें—

भौमान्तरिक्तं दिव्यं च आप आहुरविन्धनम् ।

एना गभस्तिभिः पीता दीप्यन्ते रविमण्डले ॥ ६ । ४८, ४९ ॥

प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह में भी—

दिव्यम् अविन्धनं सौरविद्युदाद्रि । पृ० २४७ ।

पुराण में भी अत्यन्त स्पष्ट रूप में यह प्राचीन सिद्धान्त कहा गया है—

वैद्युत् जाठरः सौरो ह्यपांगर्भस्त्रयो ऽग्नयः ।

तस्मादपः पिवन् सूर्यो गोभिर्दीप्यत्यसौ दिवि ॥ १२ ॥^१

अर्थात्—वैद्युत्=अन्तरिक्षस्थ, जाठर=मानव शरीर के अन्तर्गत, और सूर्यस्थ, ये तीनों अग्नियां अपांगर्भ हैं, आपः के अन्दर वास करने वाली हैं ।

इसी अभिप्राय से ऋग्वेद कहता है—

गर्भो यो अपाम् । १ । ७० । २ ॥

सूर्यो अपो विगाहते रश्मिभिर्वाजसातमः । मै० सं० ४ । १२ । ५ ॥

१. वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ६६ । इस विद्या का अधिक विस्तार इस पुस्तक के आदित्य अध्याय में देखना चाहिए ।

इस के साथ निरुक्त ७ । २३ में उदकेन्धन शरीरोपशमन, की तुलना करनी चाहिए। और भी—आधिष्णुकरत भासमादित्य । गृहत्त वुसम् । वुसम् इति उदकनाम । द्रवीत शब्दकर्मण । भ्रशतर्वा । यद् वर्षन् पातयत्युदकं रश्मिभिस्तत् प्रत्यादत्ते । निरुक्त २ । १३ ॥ यहाँ उदक का वुसम् नाम इस लिए है कि जिस वुसम् को आदित्य अपने अन्दर घिपा लेता है, उस में शब्द उत्पन्न होता है, और वह उदक भ्रश अर्थात् परमाणुओं में टूट जाता है। इसी प्रकार—वृवूकम् इत्युदकनाम । द्रवीत शब्दकर्मण । भ्रशतर्वा । निरुक्त २ । २२ ॥ अमृत, वुस, वृवूक वैज्ञानिक अर्थों में विशेष सहाय है। यास्क के निर्वचनों की महिमा पदे पदे उल्लिखित होती है। रामभद्र और सिद्धेश्वर वमा बच्चे हैं। वे इस गहरी समझ पाए। सूर्य आप का विस्तार करता है। यथा—सूर्य इव ज्योतिषाऽपस्ततान । अ० ४ । ३८ । १० ॥ वस्तुतः वेद ज्ञान की तुलना नहीं हो सकती।

ज्योति अमृत । यहाँ अमृत भी उदक का एक प्रकार है। वह दिव्य हो कर अमृत हो जाता है। तभी निरुक्त २ । १२ में कहा है—अमृतस्य भागम्= उदकस्य ।

सूर्य को माया आप के ज्ञान के बिना असम्भव है। इन्हीं आप के भाग helium आदि हैं जिन के आविष्कार पर वर्तमान वैज्ञानिक गर्व करते हैं। वर्तमान वैज्ञानिकों को यह पता नहीं कि यह helium कैसे बन रहा है। उन्हें पूर्वोद्धृत भ्यास के अद्वितीय खेल से लाभ उठाना चाहिए—यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या भवन्ति आपो विहायसा । यदि वैज्ञानिकी भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रयास करें तो वे आश्चर्य जनक विद्या समझकर उत्पन्न कर लेंगे। मैंने तो इस दिशा में सबेठमात्र किया है।

विश्वानर सविता देव ने इस प्रकार के ज्योति अमृत को ऊपर उठाया। कैसे उठाया। यह भी बर से ही जाना जा सकता है। निरुक्त ७ । २२ में दोनों उत्तर ज्वलितियों को विरवानर कहा है। उस का सम्बन्ध कमरा खण्ड ६, १० के मन्त्रों से समझना चाहिए ॥ १० ॥

धाता ददातु दाशुभे प्रार्ची जीवातुमर्चिताम् ।

वयं देवस्य धीमहि सुमति सत्यधर्मणः ॥

[तुलना—अथ० ७ । १७ । २ ॥ मं० स० ४ । १२ । ६ ॥]

धाता ददातु दत्तयते प्रवृद्धां जीविकामनुपत्तीणाम् । वयं देवस्य धीमहि सुमतिं कल्याणीं मतिं सत्यधर्मणः ।

विधाता । धात्रा व्याख्यातः । तस्यैव निपातो भवति बहुदेवतायामृचि ॥ ११ ॥

अर्थ—(धाता) [मध्यम स्थानी] धारक (ददातु) देवे (दाशुपे) यजमान के लिए (प्राचीम्) प्रवृद्धा को (जीवातुम्) जीविका को (अक्षिताम्) अक्षीणा को । (वयम्) हम (देवस्य) [धाता] देव की (धीमहि) ध्यान करते हैं, (सुमतिम्) सुन्दर मति को (सत्यधर्मणः) सत्य नियमों वाले देव की ॥

धाता देव । देने वाले के लिए बड़ी हुई जीविका को, नहीं क्षीण होने वाली को । हम देव की ध्यान करते हैं, कल्याणी मति को, [उस] सत्य-नियम वाले देव की ।

७. विधाता । [निरुक्त ११ । १० में] धाता [पद] से व्याख्या किया गया । उस का निपात=अनिपात होता है बहुत देवता वाली ऋक् में ॥ ११ ॥

भाष्य—सूर्याचन्द्रमसो धाता । ऋ० १० । ११० । ३ में प्रस्तुत धाता का भी प्रसङ्ग है । ईश्वर परक तो इस का अर्थ है ही । ऋग्वेद में ईश्वर परक अर्थ प्रधान रहता है । इसी लिए अथर्ववेद का अपर नाम ऋग्वेद है ॥ ११ ॥

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि वृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि ।

तत्राहमद्य मववन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशा अभक्षयम् ॥

[ऋ० १० । १६७ । ३ ॥]

इत्येताभिर्देवताभिरभिप्रसूतः सोमकलशानभक्षयमिति । कलशः [कस्मात्] । कला अस्मिञ्छेरते मात्राः । कलिश्च कलाश्च किरतेः । विंकीर्णमात्राः ॥ १२ ॥

अर्थ—(सोमस्य राज्ञः) सोम राजा के (वरुणस्य) वरुण के (धर्मणि) कर्म में, (वृहस्पतेः अनुमत्या उ) वृहस्पति के और अनुमति

के (शर्मणि) आश्रय म, (तव अहम् अथ) [और] मेरे मे मद्र मेने आज (मधवन्) हे मधवन् (उपस्तुतो) स्तुति करते हुए (धातु विधात) हे धातु, हे विधात, (कलशान्) सोम कलशो को (अभिवाचयम्) खाया ॥

इन देवताओं से अभिवाचय = वरिष्ठ हुए [मेने] सोम कलशो को खाया । कलश [किस कारण से ।] कलाएँ = मात्र एँ इस म रहती है । कलि और कला, किरति म । बिखरे हुए अवयवों वाले ।

भाष्य—इस ऋक् के ऋषि हैं—विश्वामित्र जमदग्नी । सीताराम ने भूल से केवल विश्वामित्र लिखा है । स्कन्द ने दोनों लिखे हैं । मध्यम स्थान में ये दोनों साथ भी रहते हैं । अहम् अभिवाचयम् में अर्थ मैं का ही है । आधिदैविक अर्थ में इन दोनों में ऐत्यभाव है ॥ १२ ॥

अथातो मध्यस्थाना देवगणा ।

तथा मरुत प्रथमागामिनो भवन्ति ।

मरुत । मितराविणो वा । मितरोचिनो वा । महद् द्रवन्तीति वा । तेषामेषा भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—अब आगे मध्य स्थान वाले देवगण=देव समुदाय [है ।] उन में से मरुत प्रथमागामी होते हैं ।

मरुत । मित=थोड़ा शब्द करने वाले अथवा । थोड़ा चमकने वाले अथवा । महान् दौड़ते हैं अथवा ।

उन की यह [ऋक्] होती है ॥ १३ ॥

भाष्य—मध्य स्थान के एक एक देव को पृथक् पृथक् कह दिया । अब इस मध्य स्थान में देवों के जो गण विराजते हैं उन का कथन है । देवों के गण कैसे बने । एक ही प्रकार का परमाणु सदात एकत्र हा कर साथ साथ विचरने लगा । उस का फल ही ये गण हैं । मरुतों के वैज्ञानिक तत्त्व का ज्ञान मुझे भगवद्गीता के एक कथन से सूझा । मरीचि मरुताम् अस्मि । गीता, १० । २१ ॥ अर्थात् आजमान् मरुतों में से मैं मरीचि हूँ । इस का अनिर्वाय यह है, कि मरुतों का सर्व धेनु रूप मरीचियों में बना है । यदि इन मरीचियों को समझ लिया

जाए, तो मरुतों का स्पष्ट चित्र भी सामने आ जाता है । शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन है—एता वा आपः स्वराजो यन्मरीचयः । ता यत् स्पन्दन्त इद्वान्योऽन्यस्या'.....उत्तराधरा इव भवन्त्यो यन्ति । २ । ३ । ४ । २१ ॥ अर्थात्—ये ही [पार्थिव यज्ञ में रखे] आपः हैं, जो स्वयं दीप्तिमान् हैं, जो मरीचियां [मरीचियों के प्रतिनिधि] हैं । ये अन्तरिक्ष में चहते हैं..... । ये ऊपर-नीचे हो कर चलते हैं । इसीलिए शतपथ का प्रवचन है—सप्त-सप्त द्वि मारुतो गणः । शत० २ । ५ । १ । १३ ॥ मारुत रश्मि भी प्रसिद्ध हैं—मारुतो रश्मयः । शत० ६ । ३ । १ । २५ ॥ ये ही वातरश्मि के नाम से पुगणों में कहे गए हैं । सूर्यरश्मि इन से सर्वथा भिन्न हैं । ये मरीचियां ही अन्तरिक्ष की अप्सराएं हैं । यजुर्वेद १८ । ३८ के व्याख्यान में शतपथ का प्रवचन है—सूर्यो गन्धर्वः । तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ।..... आयुवान्.....इव द्वि मरीचयः स्रवन्ते । १ । ४ । १ । ८ ॥ ये अप्सराएं अन्तरिक्ष में तेरती हैं । (उच्यते—आयुवः=अप्सरसः ।)

मारुत आपः से जन्मे थे । माधव अग्भाष्य १ । ८० । ४ में लिखता है—अद्भ्यो मरुतः प्रादुर्भवन्ति, इति । जै० ब्रा० १ । ३४ में मरुत ४० कहे हैं—चत्वारिंशन् मरुतो देवाः । संभवतः शेष ६ मरीचि आदि देवियां हैं ।

मारुतों को, रिशादसः^१ (यजुः ३ । ४४), हिंसकाद, भ्राजदृष्टयः (ऋ० १ । ३१ । १), विद्युद्दरथाः (ऋ० ३ । २४ । १३), रुक्मवत्सः (ऋ० २ । ३४ । २), हिरण्यशिप्रः (ऋ० २ । ३४ । ३), ऋष्टिविद्युत् (ऋ० १ । १६८ । २), विद्युद्दहस्ताः (ऋ० ८ । ७ । २५) आदि कहा है ।

मारुतों का अधिक व्याख्यान वेदविद्यानिदर्शन, अन्तरिक्ष अध्याय में देखना चाहिए । यास्क ने मित-रोचिनः निर्वचन से यह दिखाया है कि ये मरुत धोड़ी-धोड़ी दीप्ति वाले हैं । यह गुण विद्युत्-प्रभाव से रहता है । मित-राचिणः निर्वचन दिखाता है कि मरुतों में धीमा सा शब्द भी पैदा होता रहता है । मध्यस्थान वाक् का भी स्थान है । उस वाक् और इस शब्द में क्या भेद है, यह अध्ययन योग्य है । इन्द्र की कल्याणी जाया और सुरण भी अन्तरिक्ष में हैं । मरुतः महान् दौबते भी हैं ॥ १३ ॥

१. वंरुण भी रिशादस है । जै० ब्रा० ३ । ३८ ॥

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्के रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरथर्षणः ।

आ ऋषिष्ठया न इषा ययो न पतता सुमायाः ॥

[ऋ० १ । २२ । १॥]

विद्युन्मद्भिर्मरुत । स्वक स्वचनेरिति वा । स्वचनेरिति वा ।
म्वचिभिरिति वा । रथेरायात । ऋष्टिमद्भि । अश्वार्थी अश्वघने ।
वर्षिष्ठेन च नो न्नेन वय इनापतत । सुमाया कल्याणकामाणा वा ।
कल्याणप्रदा वा ।

रुद्रा, व्याख्याता । तपामया भरति ॥ १४ ॥

अर्थ—(विद्युन्मद्भि) विद्युन् प्रभाव बान (मरुत) हे मरुत
(सु अक) मुन्दर आप्य और आपस प्रभावा क साथ [रुद्र—
सुदीप्तिभि] (रथभि) रथा म (आयात) आओ (ऋष्टिमद्भि)
ऋष्टिभों बाल (अश्वपण) अश्व-गणों-अश्व की नौ गतिया क साथ ।
(वर्षिष्ठया) बहुत बढी हुई (इषा) अन्न क साथ (न) हमारे पास
(वय न) पक्षि जैसे [आन है] (आ पतत) [वैस] आओ,
(सुमाया) कल्याण कर्म बानो ॥

विद्युन् प्रभाव बाल हे मरुतो स्वर्के,=मुन्दर गतिया स अथवा । मुन्दर
पूजाओ स अथवा । सु अर्चिभिः=मुन्दर चिगारिवा स अथवा । रथा के
साथ आओ । ऋष्टिया बान, अश्व की नौ गतिया से । बहुत अधिक अन्न
से, पक्षि के समान उड़ कर आओ । सुमाया =कल्याण अर्थों बान अथवा ।
कल्याण प्रदा बाने अथवा ।

१ रुद्रा । [निरुक्त १० । १ म] व्याख्या किया गया ।

उन की यह [अक] हातो है ॥ १४ ॥

भाष्य—मरुत विद्युन् बाले हैं । मन पूरी अश्वकारमयी रात्रि म अन्तरिक्ष
में जो धीमा धीमा प्रकाश रहता है वह इन्हीं के कारण से रहता है । उसे
वर्तमान अधविज्ञान बाल ८०५ १८ १७५५ का पद मानते हैं । वस्तुन इय विषय
का त्रितना ज्ञान पर में है उतना वर्तमान विज्ञान बालों को बरी । वद अ पक
पद व्याख्या करेगा है ॥ १४ ॥

आ रुद्रासु इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तवः ।
इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥

[ऋ० ५ । ५७ । १ ॥]

आगच्छत रुद्रा इन्द्रेण । सजोषसाः । सुविताय कर्मणे । इयं
वोऽस्मदपि प्रतिकामयते मतिः । तृष्णजे इव दिव उत्सा उदन्यवे । तृष्णक्
तृष्यते । उदन्युरुदन्यते ।

ऋभवः । उच भान्तीति वा । ऋतेन भान्तीति वा । तेषामेषा
भवति ॥ १५ ॥

अर्थ—(रुद्रासः) हे रुद्रो (इन्द्रवन्तः) इन्द्र के साथ (सजोषसः)
प्रीति वाले हुए (हिरण्यरथाः) हिरण्य रथों वाले (सुविताय) [हमारे]
कर्म के लिए (आ गन्तवः) आओ । (इयम्) यह (वः) तुम्हारी,
(अस्मत्) हमारी (प्रति हर्यते) कामना करती है (मतिः) मति,
(तृष्णजे) प्यासे के लिए (न) जैसे (दिवः उत्सा) द्यौ से जल के स्रोत
(उदन्यवे) जल चाहने वाले के लिए [आते हैं] ॥

आ गन्तवः=आगच्छत=आओ, हे रुद्रो, इन्द्र के साथ प्रीति वाले हुए
सुविताय=कर्मणे=कर्म के लिए । यह तुम्हारी, हमारी भी प्रतिकामना
करती है मति । प्यासे के लिए जैसे, द्यौ से जल के स्रोत, चाहने वाले के
लिए । तृष्णक्, तृष्यति से । उदन्युः, उदन्यति से ।

१०. ऋभवः । [विद्युन् प्रकाश इन में] विस्तृत चमकते हैं अथवा ।
ऋतेन=ऋत अथवा उदक से चमकते हैं अथवा ।

उन की यह, [ऋक्] होनी है ॥ १५ ॥

भाष्य—रुद्राः आग्नेय हैं । उन की संख्या ११ है । वे इन्द्र के साथ भी
रहते हैं । श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र का ईश्वर अर्थ स्पष्ट है । पर मध्यम
स्थानी के रूप में रुद्राः गण में रहते हैं और अग्निः परमाणुओं से बने हैं । रुद्र
का रुद्राः से भेद और ऋत=उदक से इन का सम्बन्ध समझना चाहिए ॥ १५ ॥

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासुः सन्तो अमृतत्वमानशुः ।

सौधन्वना ऋभयः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्तधीतिभिः ॥

[ऋ० १ । ११० । ४ ॥]

हृत्वा कर्माणि क्षिप्रत्वेन । बोद्धारो मेधाविनो वा । मर्तासुः सन्तोऽमृतत्वमानशिरः । सौधन्वना ऋभयः सूरस्थाना वा । सूरप्रक्षया । संवत्सरे समपृच्यन्त [धीतिभिः] कर्मभिः । ऋभुर्विभया यात्र इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य प्रथमपुत्रा यभूवुः । तथा प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवचनगमा भवन्ति । न मध्यमेन । तदेतद्वनोश्च बहुवचनेन चर्मसस्य च संस्तवेन षड्भिः दशतथीषु सूक्तानि भवन्ति ।

आदित्यरश्मयोऽप्यभय उच्यन्त ।

अगोक्षस्य यदर्मस्तना गृहे तदग्नेदर्मभरो नानुं गन्ध्यथ ॥

[ऋ० १ । १६१ । १७ ॥]

अगोक्ष आदित्योऽगृहनीयः । तस्य यदस्वपथ गृहे । यावत्तत्र भवथ न तावदिदं भवयेति ।

अङ्गिरसो ध्याष्याता । तपामेषा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—(विष्ट्वी) [=स्वन्द—विष्ट्वा=स्वाप्प=हृत्वा] कर क (शमी) कर्मों को (तरणित्वेन) गीघ (वाघन) बहून करने वाले, (मर्तासु सन्त) भरणयमों—क्षण म नष्ट होने वान हान हुए (अमृतत्वम्) अमृतत्व को=अविनाशिरर को=देवत्व को (आनशु) प्राप्त हुए । (सौधन्वना) सुधन्वा क पुत्र=सुन्दर धन्व=अन्तरिक्ष म हान वान (ऋभय) वैशुन ज्योतिष्या (सूरचक्षस) सूर्य मद्दृग प्रकाश वाले (संवत्सरे) संवत्सर म (समपृच्यन्त) मंशुन=मन्वद हुए (धीतिभिः) [उदक वरमान क] कर्मों के साथ ॥

विष्ट्वी=हृत्वा=कर के कर्मों को गीघ बहून करने वान, मधावी अथवा । मर्त होने हुए देवत्व को प्राप्त हुए । सुधन्वा क पुत्र ऋभय । सूर्य मद्दृग ह्याति वाले अथवा । सूर्य समान प्राण वान अथवा । वय म मन्वद हुए कर्मों से । ऋभु विम्वा, वात्र य अङ्गिर के पुत्र सुधन्वा के

तीनों पुत्र हुए। उन में से प्रथम और अन्तिम से [ऋभु वा वाज पद के] बहुवचन युक्त निगम होते हैं। नहीं मध्यम [विभ्रा] के साथ [ऐसा बहुवचन का प्रयोग।] तो यह ऋभु के बहुवचन से और चमस के संस्तव =स्तुति से बहुत दगतयीओं में=ऋग्वेद की सारी शाखाओं में सूक्त होते हैं।

आदित्य-रश्मि भी ऋभवः कहे जाते हैं।

(अगोह्यस्य) गूहन=छिपाने को अशक्य आदित्य के (यत्) जब (असस्तन) सोए (गृहे) घर में (तत्) तब (अद्य) आज [रात्रि समय] (इदम्) इस जगत् में (ऋभवः) है ऋभुओ=रश्मिगणों (न) नहीं (अनुगच्छथ) होते हो ॥

अगोह्यः=आदित्य [है।] न छिपाया जाने वाला। उस के जब सोए घर में, [अर्थात्] जब तक वहां हुए, नहीं तब यहां [भूमि पर] होते।

११. अङ्गिरसः। [निरुक्त ३। १७ में] व्याख्या किए गए। उन की यह [ऋक्] होती है ॥ १६ ॥

भाष्य—मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः। मरणंधर्मा होते हुए भी ऋभवः देवपन को प्राप्त हुए। अग्निः के विषय में भी कहा है—अग्निः अमृतो ऽभवद् वयोभिः। ऋ० १०। ४५। ८ ॥ देव अजर अमर कैसे हुए, यह भी एक स्वतन्त्र विषय है। सुन्दर अन्तरिक्ष में ऋभु जन्मे। मानव इतिहास में सुधन्वा एक ऋषि था। उस का नाम वैदिक पद के अनुकरण पर हुआ। बहुवचन और एकवचन के प्रयोगों का कारण जानना चाहिए।

ऋभु आदित्य में सोते हैं। यह रहस्य भी जानने योग्य है ॥ १६ ॥

विरूपासु इदृपयस्त इद् गम्भीरवेपसः।

ते अङ्गिरसः सुनवस्ते अग्नेः परि जङ्गिरे ॥

[ऋ० १०। ६२। ५ ॥]

बहुरूपा ऋपयस्ते गम्भीरकर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा। ते ऽङ्गिरसः पुत्राः। ते ऽग्नेरधिजङ्गिरे। इत्यग्निजन्म ॥

पितरः, व्याख्याताः। तेषामेवा भवति ॥ १७ ॥

अर्थ—(विरूपास) बहुत रूपों वाले (इन्) (ऋषय) ऋषि (त्) वे (इत्) (गम्भीरवपस) दुरवगाह कर्म या प्रज्ञा वाले । वे अङ्गिरा के पुत्र व अ म म उत्पन्न हुए ॥

वैरूप ऋषि वे, गम्भीरकर्मा अथवा गम्भीर प्रज्ञा वाले अथवा । वे अङ्गिरा के पुत्र । वे अग्नि से उत्पन्न हुए । यह उन का अग्नि-जन्म [कथा] ॥

१२ पितर । [निहत्त ४ । २१ मे] व्याख्या किए गए । उन की यह [ऋक] होती है ॥ १७ ॥

भाष्य—ये दिव्य ऋषि मध्यम स्थानी हैं । उन का जन्म अग्नि से हुआ । उन्होंने माध्यमिका वाक् क योग वाले छन्द देखे । वे ही उन छ द रूप मन्त्रों के द्रष्टा थे । इन को मानव कहना सुवधा आन्ति है । वे विविध रूपों वाले थे । उन सब रूपों का ज्ञान भी वेद स प्रप्त हो सकता है । जिस प्रकार मन्त्रों में मरीचि भेद है उसी प्रकार इन अङ्गिरसों में अङ्गिरस्मनस है ॥ १० ॥

उदारतामरं उश्वास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।

अमुं य इयुरवृका ऋतज्ञास्ते नाऽनन्तु पितरो हरेषु ॥

[ऋ० १० । १५ । १ ॥ यजु० १६ । ४६ ॥]

उदीरतामरं, उदीरता परे उदीरता मध्यमा पितर सोम्या सोमसम्पादिन त । अमुं य प्राणम-रीयुरवृका अनमित्रा । सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा था । न न स्वागच्छन्तु पितरो ज्ञानेषु माध्यमिको पम इत्याहु । तन्माध्यमिकापितमन्यन्त ।

अङ्गिरसो व्याख्याता । पितरो व्याख्याता । भगवो व्याख्याता ।

अधर्षण । अधनन्त । धरतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेध । त्वामया साधारणा भरति ॥ ८ ॥

अर्थ—(उत् ईरताम्) ऊपर को जग (अवर) जो नीचे=वृथिवी पर [टहरे हुए है] (उन् परास) ऊपर को परने=यो म [टहरे हुए] (उन् मध्यमा) ऊपर को मध्यम=अन्तरिक्ष (पितर सोम्यास)

पितरं सो सोम सम्पादनं कर्तव्यं तानि दे। (अग्नुम्) प्राण सो (ये) सो
(देवुः) इत्येव चरे (अग्नुकाः) सो हिमा र्हित्तु त (धूम्रशः) अग्नि-
देवके जाता दे (ने जः) इ इत्यत्र प्राण + अग्नु-मु) कर्त्तुं (देवेषु)
[इत्यत्रे] नासाद्वी मे ॥

अत्र सो आर्त्तुं नीचे गाँ, अत्र सो आर्त्तुं परके सो मात्, अत्र सो
प्राण मध्यम पितरं सोम सम्पादनं कर्तव्यं तानि दे। प्राण सो सो अग्नीयुः
प्राण हो, अग्नुकाः=अग्निमित्राः=अग्नु र्हित्तु, हिन्दे हिमा सो अग्नु र्हित्तु
अग्नुकाः=अग्नु सो अग्नीयु मने अग्नु र्हित्तु, यज्ञ सो अग्नीयु सो अग्नु र्हित्तु
इत्यत्रे अत्र अर्त्तुं पितरं आ. इत्ये मे । मध्यम इत्ये मे, अत्र अर्त्तुं दे
[आर्त्तुं ।] अर्त्तुं मध्यम इत्ये मे सो पितरं सो [अग्नु र्हित्तु के
मात् इत्ये मे, ऐमा] मात्ते दे ।

अर्त्तुं मध्यम आर्त्तुं पितरं [निष्क २ । १७ मे ।] पितरं अर्त्तुं
मध्यम [निष्क २ । १७ मे ।] अर्त्तुं मध्यम आर्त्तुं पितरं [निष्क
३ । १७ मे ।]

१३. अर्त्तुं मध्यमः । अर्त्तुं मध्यमः=अर्त्तुं मध्यमः । अर्त्तुं मध्यमः, अर्त्तुं मध्यमः
वाग्, उन का प्रतिषेध है । उन को यह साधारणता=दीप्ति [अर्त्तुं] दीप्ति
है ॥ १३ ॥

भाष्य—पितरं, प्राण-समूह है । यम प्रधान प्राण है । इन का पार्थक्य
इन के परमाणुओं के संयोग के स्वल्प भेद के जानने से प्राप्त हो सकेगा ।
सोम्याः, अग्निमित्र में ही प्राणों द्वारा सोम सम्पादन होता रहता है । पितरः,
अग्नुकाः=अग्नु र्हित्तु है । पितरं हिमा द्वारा प्राण मात्तों से उन की वृत्ति कैसी ?
अतः उन के अर्त्तुं देय मात्त मध्यम स्थान में कोई भौतिक पदार्थ है, जो हिमा के
विना प्राप्त होता है । इस सम्भारता के समझने का प्रयास करना चाहिये ॥ १३ ॥

अर्त्तुं मध्यमो नः पितरो नर्त्तुं मध्यमो अर्त्तुं मध्यमो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमती यज्ञियानामपि भृद्रे सोमन्मो स्याम ॥

[ऋ० १० । १४ । ६ ॥ यजुः—१६ । ५० ॥]

अङ्गिरसो न पितरो नयगतयो नयनीतगतयो वा । अथर्षाद्यो
भृगव । साभ्यां सोमसभ्यादिन । तथा यय सुमनो कल्पात्वा मतो
पशुपानाम् । अपि चैषा भद्रे भन्दीर नाञ्जनरति वा कल्पात् मनसि
स्यामनि । माध्यमिको इवगण इति नैरुक्ता । पितर इत्याख्यानम् ।
अवाप्यय स्तूपन्त ॥ १६ ॥

अर्थ—अङ्गिरस तथा वा न हमार पितर, (नयथा) नई गतिग
वा न (अथर्षाद्य) अर्षा अपि वा न नृवा [ओर] सोम सभ्यादिन
करन वा न । उन की हृम कल्पात्तो मनि म, यय न योग्या की [हा ।]
ओर नद रु सौमनस्य म हा ।

अङ्गिरस नामर हमार पितर, नई गतिवी वा न मायन वानी पतिगो
वा न अथम । अथथा, नृवा, सोमसभ्यादिन करन वा न । उन की हृम
कल्पात्तो मनि म यय न योग्या की । ओर भी इन रु स्तुति याग, भाञ्जन
=सायो=अपि रियं म अथथा । कल्पात् मन म हा । (अङ्गिरस अदि
सव) माध्यमिक इत्यण्य है, यह वैरुक्त मानने है । [य सव] पितर है
यह आख्यान [है ।] ओर भी अपि स्तुति लिए जाने है ॥ १६ ॥

वेद की आच्छाद्यों में अथर्षा आदि का दृष्य् गुण कीर्तन भी है । वह वही से
समझना चाहिए । नैरुक्तों ने इन सब की स्तुतियों माध्यमिक देवगणों में मानी
है । आख्यायिक बहुरूपता में नहीं गए । उन ने इन सब की पितर संज्ञा
मान कर काम चलाया है ॥ १६ ॥

सूर्यस्येव वृषथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गम्भीरः ।

पातस्येव प्रज्जगो नान्येन स्तामो वसिष्ठा अन्वैतवे वः ॥

[सू०-७ । ३३ । = ॥]

इति यथा ।

आख्या आम्रोत । तवामय निपातो भवत्यै द्र-शामृचि ॥ २० ॥

अर्थ—(सूर्यस्य इव) सूर्य के समान (वृषथा) वचन का (ज्योति)
प्रकाश (एवाम्) इन [वसिष्ठी] का । समुद्र क समान महिमा गम्भीर
[इन वसिष्ठी की ।] वा न के समान वेग नहीं दूसरे से स्तोम, है वसिष्ठी,

(अन्येतेषु) अनुसरण किया जा सकता, तुम्हारा ॥ यह जिस प्रकार [स्पष्ट है ।]

११. आप्त्याः [=एकत, द्वित, त्रित] । आप्तोति से । उन का यह निपात होना है, इन्द्र [देवता को] ऋक् में ॥ २० ॥

भाष्य—मन्त्ररूप वसिष्ठों की प्रशंसा में यह ऋक् है ॥ २० ॥

स्तुपेद्यं पुरुवर्षसम्भ्रमिनतममाप्त्यामाप्त्यानाम् ।

आ दर्पते शवसा मम दानून्प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि ॥

[ऋ० १० । १२० । ६ ॥]

स्तोत्रार्थं वदु रूपमुत्सृभूतमीश्वरतममाप्त्यानाम् । आप्त्याति यः शवसा बलेन सप्त दातृनिति वा । सप्त दानवानिति वा । प्रसाक्षते प्रतिमानानि वहनि । साक्षतिराप्तोतिकर्मा ॥ २२ ॥

अर्थ—(स्तुपेद्यम्) स्तुति के योग्य (पुरुवर्षसम्) बहु रूप (ऋभ्यम्) विस्तृत हुए अथवा महान् को (इततमम्) अतिशय ईश्वर को (आप्त्याम्) [स्तुतियों से] प्राप्त होने योग्य को (आप्त्यानाम्) एकत, द्वित, त्रित [ऋपियों] में भी, [इन्द्र को पूजता है] । (आ दर्पते) विदारण करता है (शवसा) बल ने (सप्त दानून्) सप्त दाताओं को [=मेघों को, उदक देने वालों को] (प्र साक्षते) प्रकर्मता से प्राप्त करता है (प्रतिमानानि भूरि) बहुत उपमाओं को ॥

स्तुति योग्य [इन्द्र] को, वदु रूप को, विस्तृत हुए को, अतिशय ईश्वर को प्राप्त किए जाने वालों में से । विदारण करता है, जो बल से सात दाताओं को अथवा । सात दानवों को अथवा । प्रकर्मता से प्राप्त करता है, उपमाओं को बहुत को । साक्षति, प्राप्ति अर्थ वाला [है ।]

भाष्य—आप्त्योः=एकत, द्वित और त्रित का इन्द्र से सम्बन्ध अन्वेष्टव्य है । सात मेघ भी जानने चाहिएं ॥ २१ ॥

अथातो मध्यस्थानाः क्षियः । तासामदितिः प्रथमागामिनी भवति । अदितिः व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ २२ ॥

१. सात मेघों के भेद तै० आ० १ । ६ । ४, ५ में द्रष्टव्य हैं ।

अर्थ—अब इस से आगे मध्यम स्थानी श्रिया [गिनो है ।]

उन में से अदिनि प्रामाण्यमिनो होती है ।

१६ अदिनिः । [निरुक्त ४ । २२ में] व्याख्या की गई । उन की यह [श्रुत्] होती है ॥ २२ ॥

भाष्य—दुर्गे और रन्द के अनुसार, प्रास्वनी सभ्या अदिनि है । प्रास्वनी सभ्या के अनुसार पृथिवी ही अदिनि है । सभ्या पृथिवी की वह दशा जब वह शिरष्यगर्भ से उत्पन्न हुई थी, अदिनि सज्ञा थाती हो । उस के पुत्र ही पश्चान् देव जन्म हुआ था । यह अदिनि ही देव माता थी । अदिनि अथार्थ स्वरूप समझना चाहिए ॥ २२ ॥

दत्तस्य वादिते जन्मनि द्युने राजाना मित्रारुणा विरासति ।

अर्तूर्तपन् ॥ पुरुरथो अर्थेना सप्तहोता विपुरुषेषु जन्मसु ॥

[श्रु० १० । ६४ । १॥]

दत्तस्य वादिते जन्मनि । यते कर्मणि । राजानो मित्रारुणौ । परिचरसि । विरासतिः परिचरणांशम् ।

द्विभ्रौ आविर्वासति ॥ [श्रु० १ । १२ । ६ ॥] इति ।

आशास्तेर्वा । अर्तूर्तपन्था अत्यरमणपन्थाः । बहुरथोऽयंमादित्यः । अदीश्रियच्छ्रुति । सप्तहोता । सप्ताश्वे रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति । सप्तैकमृषयः स्तुवन्तीति वा । विपमरूपेषु जन्मसु । कर्मसूदयेषु ।

आदित्यो दक्ष इत्याहुः । आदित्यमध्ये च स्तुतः । अदितिर्दा-
शायिणी ।

अदितेर्देवो अजायत दत्तादितिः परि ॥ [श्रु० १० । ७२ । ४ ॥]

इति च । तत्कथमुपपद्येत । समानजन्मानो स्यातामिति । अपि वा देवधर्मेणैतरेतरजन्मानो स्याताम् । इतरेतरप्रकृती ।

अग्निरप्यदितिरुच्यते । तस्यैवा भवति ॥ २३ ॥

अर्थ—(दक्षस्य) आदित्य के (वा) अथवा (अदिते) हे अदिते (जन्मनि) जन्म में (घने) कर्म में (राजाना=राजानों) दोनों राजाओं को (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण को (धिवाससि) तू सेवती है । (अतृत्पन्थाः) न त्वरित मार्ग वाला=नियत गति (पुदरथः) बहुत रथों वाला (अर्यमा) आदित्य (सप्तद्वीपा) सात रश्मियों से हवि दिया गया, अथवा सात ऋषियों से स्तुत (विपुरुषेषु) विपमहृषों में (जन्मसु) [उदयह्य] कर्मों में ॥

आदित्य के, अथवा, हे अदिते जन्म में, कर्म में, राजाओं को मित्र और वरुण को [तू] सेवती है । धिवाससि, सेवा [अर्थ] में [है ।]

(हविष्मान्) हवि वाला हुआ (आ धिवासति) आ कर सेवा करता है ॥

आशास्ति मे अथवा, प्रार्थना करता है । त्वरावजित मार्ग वाला, बहु रथ वाला, अर्यमा=आदित्य] अरीन्=गन्धों को नियच्छति=रोकता है । सप्तद्वीपा=सात इस के लिए रश्मि रसों को पूर्णतया भुजाते हैं । सात इस को ऋषि स्तुति करते हैं अथवा । विपम हृषों में । जन्मसु=कर्मसु=उदयेषु =उदय ह्य कर्मों में ।

आदित्यः=अदिति का पुत्र दक्ष [है] . एमा कहने हैं [ब्रह्मवादी ।] आदित्यों के मध्य में च=योंकि स्तुतः=स्तुति किया गया [है ऋचाओं में ।] अदिति दाक्षायणी=दक्ष की पुत्री है ।

अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ, दक्ष से अदिति ॥ यह भी ।

यह [परस्पर विरुद्ध] कैसे युक्त होवे । समानजन्म वाले हों, यह हो । अथवा देवता के धर्म से एक दूसरे से जन्म वाले हों । एक दूसरे का कारण [हों ।]

अग्निः भी अदिति कहा जाता है । उस को यह [ऋक्] होती है ॥ २३ ॥

भाष्य—दक्षस्य जन्मनि । आदित्य के जन्म में । वैदिक विज्ञान में आदित्य और सूर्य दो भिन्न अवस्थाएं हैं । सूर्य का जन्म वा वर्तमान अवस्था में आना मन्त्रों में कहा गया है । अजनयत् सूर्यम् । ऋ० २ । १४ । ३ ॥ जनिता

सूर्यस्य । ऋ० ३ । ४५ । ४ ॥ सूर्य जनयन् । ऋ० ६ । ३० । १ म
साधारणतया उदय होना भी नाम है । पर पूरा अर्थ खोजना चाहिए । अदिति
माता मित्र और बरहस्प को सज्जी है । अत दक्ष=आदित्य उन क पशुान् उपज
हुआ । अतूर्तपन्था—नियत गति क्या है, यह भी समझना चाहिए । अग्रमा,
किस अवस्था का आदित्य है, यह जानना चाहिए ।

सब ऋषि आदित्य की स्तुति करते हैं । यास्क ने यह अत्यन्त रावक और
गम्भीर अर्थ कहा है । वेदविद्यानिदान, पृ० २४८-२५० में हमने उन मुनिवों
और ऋषियों का उल्लेख किया है, जो सूर्य रश्मियों में रहते हैं । सान रश्मि भी
आदित्य में रसों को मुकती हैं ।

दक्ष और अदिति की माया का रहस्य समझना चाहिए ॥ २३ ॥

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनामास्त्वमदिते सर्वता ।

यं भद्रेण शरसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्वाम् ॥

[ऋ० १ । ६४ । १५ ॥]

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददासि । अनामास्त्वम् । अनगराधत्वम् ।
अदिते सर्वासु कर्मवतिषु । आग आङ्पूर्वाद् गम । एन एते ।
किद्विषय किद्विभदम् । सुकृतकर्मणो भयम् । कीर्तिमस्य भिनस्तीति
वा । य भद्रेण । शरसा बलेन । चोदयासि । प्रजावता च राधसा
[धनेन ।] त वयमिह स्वामति ।

सरमा सरलान् । तस्या एषा भवति ॥ २४ ॥

अर्थ—(यस्मै) जिस के लिए (त्वम्) तू (सु द्रविण) हे सुन्दर
धन वा न (ददाश) दता है (अनामास्त्वम्) अग्रपरहित [धन]
को । (अदिते) हे अग्ने (सर्वताता) सब कर्म-विस्तार मे । (यम्) जिस
को (भद्रेण शरसा) कल्याणकारी वन से (चोदयासि) प्रेरित करते हो
(प्रजावता) प्रजा वा ने (राधसा) धन मे [एम्] (त) तेरे [होकर]
(स्वाम) हम हो ।

जिस क लिए तुम हे सुन्दर धन वा ने देने हो अग्रपर रहित [धन]
को । अदिते=हे अग्ने सब कर्म-विस्तार मे । आग आङ् पूर्व मे गमि से ।

एतः, एति से । किल्बिषम्=किल्-भिदम्=सुकृतकर्म वाले के लिए भय [होता है ।] कीर्ति को इस [सुकृतकर्मकारी] की तोड़ देता है । जिस को भद्र बल से प्रेरित करते हो । प्रजा बाने और धन से । तेरं [हो कर] हम यहां हों ।

१७. सरमा । सरकने से । उत को यह [ऋत्] होता है ॥ २४ ॥

भाष्य—अग्निः द्रविणोरः है । वह धन को देता है । अतः अग्निः ही यहां अदिति है । पं० हंसराज द्वारा सम्पादित तथा हमारे द्वारा प्रकाशित वैदिक कोष में अदिति का अग्निः अर्थ नहीं है । पाप से सुकृतकर्म भय खाते हैं ॥ २४ ॥

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानङ् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः ।

कास्मे हितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि ॥

[ऋ० १० । १०८ । १ ॥]

किमिच्छन्ती सरमेदं प्रानट् । दूरे ह्यध्वा । जगुरिः जङ्गम्यतेः । पराञ्चनैः अचितः । का तेऽस्मास्वर्थंहितिरासीत् । किं परितकनम् । परितक्म्या रात्रिः । परित एनां तक्म । तक्मेत्युष्णनाम । तक्त इति सतः । कथं रसाया अतरः पयांसि । रसा नदी । रसतेः शब्दकर्मणः । कथं रसानि तान्युदकानीति वा ।

देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूदे । इत्याख्यानम् ।

सरस्वती व्याख्याना । तस्या एषा भवति ॥ २५ ॥

अर्थ—(किम् इच्छन्ती) क्या चाहती हुई (सरमा) सरमा (इदम्) यहां (प्र-आनट्) आई है । दूर क्योंकि मार्ग [है] (जगुरिः) अति शीघ्र चलने वाला [भी] परा गतियों से चलता हुआ [ही पहुँचता है ।] (का) कौन (अस्मे) हम में (हितिः) [तेरी अर्थ] प्रार्थना है, (का परितक्म्या) कौन रात्रि [मार्ग में] (आसीत्) थी । (कथम्) कैसे (रसायाः) रसा [नदी] के (अतरः) तरा (पयांसि) उदकों को ॥

क्या चाहती हुई सरमा यहां आई है, दूर क्योंकि मार्ग है । जगुरिः जङ्गम्यति [यडन्त] से । पर अञ्चनैः=सीधी चालों से अचितः=चलता

हृआ । कौन तेरी हम मे अर्थ हिति = प्रयोजनार्थ प्रायना यी । कौन परितकनम् । परितकम्प्या = रात्रि । चारा ओर इस के तन्म = उष्ण [है ।] तन्म यह उष्ण का नाम [है ।] जाता है ऐसा होते हृए से । कैवे रसा क तरा पय को । रसा नदी [है ।] रसति से, दाब्द अर्थ वाले म । कैवे रस वाले व उदक अथवा ।

[सरमा] = देवगुप्तो ने इन्द्र से भेजी गई ने पणि [नामक] असुरो से समूदे-सवाद किया, यह अ ह्यान [है ।]

१८ सरस्वती । [निरुक्त ९ । २६ मे] व्याख्या की गई [है ।] उस की यह [श्रृक्] होनी है ॥ २५ ॥

भाष्य—रसाया । इस पाठ पर स्कन्द न लिखा है—कथ रसानि किं प्रकाराणि रसानि यानि त्वमतर उदकानि । इति शाखान्तरमापन्न मेतद् भाष्यकारस्य व्याख्यान द्रष्टव्यम् । इस से आगे स्कन्द का मुद्रित पाठ है—अपीत इति पाठ । आचित इति तु प्रमादपाठ । वउमान पाठ अचित , है । परितकन का एक और अर्थ परिभ्रमण स्कन्द ने दिया है ।

जब यास्क ने मन्त्रों में इतिहास अथवा आख्यान लिखे हैं तो उस का अभिप्राय ऐसे ही आख्यानों से है । असुर सरमा के विषय में पूछते हैं । सरमा का आख्यान बृहद्देवता ८ । २४ से आरम्भ होता है । उस के श्लोक २२ के अनुसार रसा का विस्तार शतयोजन है । अतः यह नदी पार्थिव कदापि नहीं हो सकती ।

परित = दुर्ग और स्कन्द ने इस का उभयत अर्थ कर के रात्रि के दोनों ओर उष्ण दिन का अस्तित्व माना है । पर सवस्तर में जो अहोरात्र हैं, उन में रात्रि के चारों ओर उष्ण चक्र हो सकता है । यह तथ्य विचारणीय है ।

सरमा मध्यम स्थाना वाक का कोई भद्र है । तुजना कर बृहद्देवता २ । ७७ ॥ यह देवशुक्ती कही जाती है ॥ २२ ॥

पा० नः सरस्वती वाजेभिर्नाजिर्नारती । यत्नं वृष्टु धियार्णसुः ॥

[ऋ० १ । ३ । १० ॥]

पावका नः सरस्वत्यन्नैरन्नयती । यज्ञं वष्टु । धियावस्तुः कर्मवस्तुः ।
तस्या एपाऽपरा भवति ॥ २६ ॥

अर्थ—(पावका) पावक=मध्य स्थानी पावक अग्निः युक्ता (नः)
हमारे (सरस्वती) सरस्वती (वाजेभिः) अन्नों से (वाजिनीयती) अन्न
वाली (यज्ञम्) यज्ञ को (वष्टु) चाहे वा अ.ए (धियावस्तुः) कर्म रूपी
धन वाली ॥

पावक, हमारे, सरस्वती, अन्नों से अन्न वाली, यज्ञ की कामना करे ।
कर्म रूपा धन वाली । उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २६ ॥

भाष्य—वेद में सरस्वती कहीं नदी रूप में और कहीं देवी रूप में स्तुत
है । नदी रूप में भी वह मध्यम स्थाना है । पर भ्रान्त ज्ञान के कारण वेलङ्करजी
ने इसे पार्थिव नदी मान लिया है । उन को विचारना चाहिए था कि अन्तरिक्ष
और धी में भी पर्वत हैं । ऋग्वेद के सातवें मण्डल के अनुवाद की भूमिका में
उन्होंने सरस्वती के पार्थिव होने का मत व्यक्त किया है । उन को वेद का अगला
मन्त्र देखना चाहिए—

आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम् ।

ऋ० ५। ४३। ११ ॥

अर्थात्—धौ के महान् पर्वत से सरस्वती आवे ।

यह पार्थिव नदी का वर्णन नहीं है । वेलङ्कर जी को पाश्चात्य दासता छोड़
कर ऋषि-प्रदर्शित मार्ग से वेद का अध्ययन करना चाहिए था ॥ २६ ॥

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना । धियो विश्वा वि राजति ॥

[ऋ० १। ३। १२ ॥]

महदर्णः सरस्वती प्रचेतयति प्रज्ञायति । केतुना कर्मणा प्रज्ञया
वा । इमानि च सर्वाणि प्रज्ञानान्यभिविराजति । वागर्थेषु विधीयते ।
तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते ।

वाक् । व्याख्याता । तस्या एपा भवति ॥ २७ ॥

अर्थ—(महः) बहु (अर्णः) [मेघस्थ] उषा को (सरस्वती) सरस्वती (प्रचेतयति) विज्ञापित करती है (वेतुना) [गर्जन ह्य] कर्म वा प्रज्ञा से । (धियः) कर्मों को (विश्वा) सर को (धि राजति) विनोद दीप्त करती है ॥

महान् अर्णो को सरस्वती प्रज्ञापित करती है । वेतुना=कर्म स प्रज्ञा से अथवा । उन और सारे प्रज्ञाना को चारो ओर स दीप्त करती है । [मध्यम स्थानी] गार् ने अर्णों मे विज्ञान की जाती है । इन कारण माध्यमिना वार् को [सरस्वती] मानने है ।

१६. वाक् । [निरुक्त २ । २३ मे] व्याख्या की गई [है ।] उन की यह [श्रुत्] होगी है ॥ २७ ॥

भाष्य—अर्णु उदकविशेष घनरिज में होते हैं । पुराणों में तीन प्रकार से वर्षों की उत्पत्ति कही है । एक उत्पत्ति अर्णुजा है । यथा—

मेघाना पुनरुत्पत्तिस्त्रिधा यानिरुच्यते ।

आग्नेया ब्रह्मजाश्चेत् पक्षजाश्च पृथग्त्रिधा ।

त्रिधा घना समाख्यातास्तेषा वक्ष्यामि खंभरम् ॥ २८ ॥

आग्नेयास्तर्णुजा शोक्तास्तेषां तस्मात् प्रवर्तनम् ॥ २९ ॥

आग्नेय मेघ ही अर्णुज मेघ होते हैं ।

ये मेघ सरस्वती अ दि नदियों की माया हैं ॥ २० ॥

यद्वाग्दन्त्यत्रिचेतनानि राष्ट्रीं देवानां निपसादं मन्द्रा ।

चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि कं स्वदस्याः परमं जगाम ॥

[श्रु० ८ । १०० । १० ॥]

यद्वाग्दन्ति । अत्रिचेतनानि, अविज्ञातानि । राष्ट्रीं देवाना निपसाद [मन्द्रा ।] गदना । चतस्रोऽनुदिष्ट ऊर्जं दुदुहे पयांसि । क स्वदस्या परमं जगामेति । यत्पृथिवी गच्छतीति वा । यदादित्यग्मयो दूरन्तीति वा ।

तस्या एवाऽपरा भवति ॥ २८ ॥

अर्थ—(यत्) जव (वाक्) माध्यमिका वाक् (वदन्ति) बोलती हैं [स्तनयित्नु आदि के रूप में] (अविचेतनानि) अविज्ञातार्थ पदों को (राष्ट्री) ईश्वरी (देवानाम्) माध्यमिक देवों की, (निपसाद्) वैठी (मन्द्रा) हर्षदात्री । [जव] (चतस्रः) चारों दिशाओं के प्रति (ऊर्जम्) अन्न के बल शाली सूक्ष्म भाग को (दुदुहे) चारित करती हुई (पयांसि) [तथा] उदकों के अन्तर्गत पयः भागों को । (क खित्) कहां (अस्याः) इस का (परमम्) श्रेष्ठ रूप (जगाम) चला गया ॥

जव वाक् बोलती हैं अविज्ञात [पदों] को । ईश्वरी देवों की, वैठी, हर्षदात्री । चारों अनुदिशाओं के प्रति ऊर्क् को बहाती है [तथा] पयः को । कहां इस का श्रेष्ठ रूप गया । जो पृथिवी को जाता है अथवा । जिसे आदित्य रश्मि हरते हैं अथवा ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २८ ॥

भाष्य—माध्यमिका वाक् पदों के अविचेतन और चेतन दोनों रूपों को बोलती है । चेतन रूप वेद मन्त्र हैं, और अविचेतन स्तनयित्नु आदि । यह वाक् देवों की ईश्वरी है । इस वाक् का कुछ रूप पृथिवी के अन्दर भी जाता है । वर्षा के रूप में और वाक् के रूप में भी । कुछ रूप को आदित्य रश्मि हरते हैं ॥ २८ ॥

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।

सा नो मन्त्रेषुमूर्जं दुहाना धेनुर्वाग्स्मानुष सुष्टुतैतु ॥

[ऋ० = १०० । ११ ॥]

देवीं वाचमजनयन्त देवाः । तां सर्वरूपाः पशवो वदन्ति । व्यक्त-वाचश्चाव्यक्तवाचश्च । सा नो मदनाऽन्नं च रसं च दुहाना धेनुर्वाग्स्मानुषैतु सुष्टुता ।

अनुमती राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः । पौर्णमास्याविति धाक्षिकाः ।

या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिः । या उत्तरा सा राका ।

[मैत्रा० सं० ४ । ३ । ५ ॥ ऐ० ब्रा० ३२ । ६] इति विज्ञायते ।

अनुमतिः । अनुमननात् । तस्या एषा भवति ॥ २६ ॥

अर्थ—देवी वाक् [मध्यम स्वाना] को उत्पन्न किया देवी ने । उस [वाक्] को (विश्वरूपा) मारे हूने वाले पशु=व्यक्त वाक् तथा अव्यक्त वाक् वाले बोलते हैं । वह हमें हर्षदात्री (इयम्) अन्न को [और] (ऊर्जम्) अन्न के बलदाना सूक्ष्म भाग को बढ़ाती हुई (धेनु वाक्) धेनु रूपिणी वाक् हमारे (मुष्टुना) सम्यक् स्तुति की गई (उप पशु) समीप आवे ॥

देवी वाक् को उत्पन्न किया देवी ने । उस को मारे हूने वाले पशु बोलते हैं । व्यक्त वाक् बाने [मन्त्र देने वाले देव और विद्वान् मनुष्य], अव्यक्त वाक् बाने [गौ आदि ।] वह हमें हर्षदात्री अन्न को और रस को और बढ़ाती हुई धेनु रूप वाक् हमारे समीप आवे, सम्यक् स्तुति की गई ।

अनुमति [और] राजा, ये दोनों देवपत्निया [हैं] यह नेरक्त [मानते हैं ।] दोनों पौरुषमासी, यह याज्ञिक [मानते हैं ।] जो पहली पौरुषमासी [है ।] वह अनुमति [है ।] जो उत्तरा [पौरुषमासी है] वह राजा [है ।] यह [ब्रह्मण प्रवचन से] विरोध जाना जाता है ।

२० अनुमति । अनुमनन से । उस की यह [ऋक्] हाती है ॥ २१ ॥

भाष्य—मध्यमा वाक् को देवी ने उत्पन्न किया । यह विचारणीय है कि क्या वाक् में भी कोई परमात्मा सदातः काम करता है ।

यह वाक् अन्न और रस को बढ़ाती है ।

उसी वाक् को भ्यक्त और अभ्यक्त वाक् वाले पशु बोलते हैं । यह वाक् काष्ठों में और पृथिवी में भी प्रविष्ट हुई । उस को यह प्रवेश कैस हुआ, यह जानना चाहिए । क्या वाक् के परमात्मा प्रविष्ट हुए ।

दशपौरुषमास कर्म दो दिन साध्य होते हैं । दश अमावास्या और प्रतिपदा के दिन किया जाता है तथा पौरुषमास पृथिमा और प्रतिपदा के दिन । याज्ञिक कर्म को यदि स अमावास्या से उत्तर प्रतिपदा अमावास्या मानी जाती है और पृथिमा से उत्तर प्रतिपदा पृथिमा । हम प्रकार दो दो अमावास्या और दो दो पृथिमा होती हैं । इन में पूर्व पृथिमा=शुद्ध पृथिमा अनुमति और उत्तरा पृथिमा=प्रतिपदा एका कही जाती है । इसी प्रकार उत्तर खवह में व्याख्यात सिनीवाली और कुछ नामों अमावास्याओं के विषय में समझे ॥ २१ ॥

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि ।

ऋत्ये दक्षाय नो हिनु प्र ण आयुश्चपि तारिपः ॥

[यजुः ३४ । ८ ॥]

अनुमन्यस्वानुमते त्वम् । सुखं च न. कुरु । अन्नं च नोऽपत्याय
धेहि । प्रवर्धय च न आयुः ।

राका । रातेर्दानकर्मणः । तस्या एषा भवति ॥ ३० ॥

अर्थ—(अनु मन्यासै) मानो, स्वीकार करो, (इत्) (अनुमते) हे
अनुमते (त्वम्) तुम, कल्याण को और हमारे लिए कर । ऋतु के लिए,
दक्ष के लिए हमें (हिनु) उस्ताह दो । (प्र तारिपः) बढ़ाओ हमारे
आयु को ।

मानो हे अनुमते तुम । सुख और हमारे लिए करो । अन्न और हमारे
अत्यय के लिए दो । बढ़ाओ और हमारा आयु ।

२१. राका । राति दान अर्थ वाले से । उस की यह [ऋक्] होती
है ॥ ३० ॥

भाष्य—प्रस्तुत मन्त्र के उत्तरार्ध के पूर्व चरण का मुद्रित पाठ यास्कभित
नहीं है । सरूप के संस्करण में इस का पाठान्तर नहीं है । दुर्ग का पाठ है—

इपं च तोकाय नो हिनु ।

स्कन्दसम्मत पाठ है—इपं च तोकाय नो दधः ।

स्कन्दसम्मत पाठ काठक सं० १३ । १६ में है । ऊपर मुद्रित पाठ तै० सं०
३ । ३ । ११, मै० सं० ३ । १६ । ६३ और यजुर्वेद में है । संभव है कि यास्क
अभिमत पाठ किसी आर्च शाखा में हो ॥ ३० ॥

राकामहं सुहृवां सुष्टुती हुवे शृणोतुं नः सुभगा बोधतु त्मना ।

सीव्यत्वर्षः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥

[ऋ० २ । ३२ । ४ ॥]

राकामह सुद्वाना सुष्टुत्याह्वये । शृणोतु न सुभगा । बोधत्वा
त्मना । सीव्यत्प । प्रजननकर्म । सूच्याऽच्छिद्यमानया । सूची
सीव्यत । ददातु वीर शतप्रदम् । उच्यथ यत्तव्यप्रशसम् ।

सिनीवाली कुहुरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ता । अमावास्या इति
याद्विधा ।

या पूर्वमायास्या सा सिनीवाली योचरा सा कुहूः ।

[मै० स० ४ । ३ । ५ ॥ ऐ० ब्रा० ३२ । ६] इति विशासत ।

सिनीवाली । सिनमन् भवति । सिनाति भूतानि । बाल पथम् ।
शृणोत । तस्मिन्नन्नयती । बालिनी वा । बालैनेयास्यामणु-वाचन्द्रमा
सवितव्यो भवतीति वा । तस्या एषा भवति ॥ ३१ ॥

अर्थ—[मध्यमस्थाना] राका को मैं (सुद्वानम्) गुप्त आवाहन
वाणी को (सुष्टुती) गोभन स्तुति में (हुवे) बुलता हूँ । सुने हमें
(सुभगा) सुधना (बोधतु) जान दे (त्मना) अपने अपने [जो हमारा
वक्तव्य है ।] (सीव्यतु) सी दे (अप) [हमारे] कर्म को, (सूच्या)
मूर्ख से (अछिद्यमानया) न टूटने वाली से । दवे [हम] वीर [पुत्र]
को (शतदायम्) बहुत दाता को (उच्यम्) विख्यात प्रशंसा योग्य को ॥

राका को मैं गुप्त आवाहन वाणी को गुप्त स्तुति से आह्वय=बुलता
हूँ । सुने हमें सुधना । जाने अपने आप । सी दे अप=प्रजननकर्म-सन्तानो
त्पत्ति कर्म को । मूर्ख से न टूटने वाली से । सूची सीव्यति से । दवे वीर
को सो सी देने जाने को । उच्यम्—रहने योग्य प्रशंसा करने जाने को ।

सिनीवाली [और] कुहू, य दोना देवपत्निषा [है] यह नैरुक्त
[कहते हैं ।] दोनो अमावास्या [है] यह यागिक [कहते हैं ।]

जो पहली अमावास्या, वह सिनीवाली । जो उत्तरा [अमावास्या]
वह कुहू । यह [ब्राह्मण प्रवचन म] विगप जाना जाता है ।

३२ सिनीवाली । सिनम्, अन्न होता है । वापता है भूते=प्राणियों
को । बालम्, पथ [है अमावास्या नाम वाच्य ।] शृणोति से । उत [पथ]

में अन्न वाली । वालिनी=[केश-शमश्रु वपन]=वालों वाली अथवा । वाल के समान ही इस में अणुभाव होने से चन्द्रमा सेवा योग्य होता है अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३१ ॥

भाष्य—राका की अचिद्धयमाना सूची जाननी चाहिए । इस का वैज्ञानिक रहस्य है ॥ ३१ ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।

जुपस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्दि नः ॥

[ऋ० २ । ३२ । ६ ॥]

सिनीवालि । पृथुजघने । स्तुकः स्त्यायतेः । सङ्घातः । पृथुकेश-स्तुके । पृथुष्टुते वा । या त्वं देवानामसि स्वसा । स्वसा सु असा । स्वेपु सीदतीति वा । जुपस्व हव्यमदनम् । प्रजां च देवि दिश नः ।

कुहः । गृहतेः । काभूदिति वा । क सती ह्यत इति वा । काहुतं हविर्जुहोतीति वा । तस्या एषा भवति ॥ ३२ ॥

अर्थ—हे सिनीवालि, (पृथुष्टुके) हे पृथु जघनों वाली । (या) जो [तुम] देवों की हो स्वसा । सेवन करो हव्य को (आहुतम्) होमे हुए को । (प्रजाम्) सन्तान को हे देवि दो हमें ॥

हे सिनीवालि, हे पृथुजघने । स्तुकः स्त्यायति से । स्तुकः=संघात । पृथु केशों के संघात वाली । विशाल स्तुति वाली अथवा । जो तुम देवों की हो स्वसा । स्वसा=सुन्दर बैठने वाली । अपनों में बैठती है अथवा । सेवन करो हव्य को=खाने योग्य को । प्रजा को और हे देवि दो हमें ।

३२. कुहः । गृहति से=छिपाती है [चन्द्र को ।] कहां था [चन्द्र] अथवा कहां हुई बुलाई जाती है, अथवा । कहां होमी गई हवि को सेवती है अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३२ ॥

भाष्य—सिनीवाली के भौतिक केश और जघन जानने चाहिए । वह देवों की स्वसा कैसे है ॥ ३२ ॥

कुहमहं सुकृतं त्रिदुमनापंसमस्मिन्पुत्रे सुहृतां जोहरीमि ।

सा नो ददातु श्रवणं पितृणां तस्यै ते देवि हविषा विधेम ॥

[मै० सं० ४ । १५ । ६ ॥]

कुहमहं सुरत विदितकर्माणमस्मिन्पुत्रे सुहृतांमाहुरे । सा नो ददातु श्रवणं पितृणाम् । पितृय धनमिति वा । पितृय यश इति वा । तस्यै त इति हविषा विधेमिति व्याख्यातम् ।

यमी व्याख्याता । तस्या यथा भवति ॥ ३३ ॥

अर्थ—कुह को मे सुकृता को (त्रिदुमना-अपसम्) विदितकर्मा को (अस्मिन् पुत्रे) इन यश मे (सुहृताम्) गुण आवाहन वाली को (जोहरीमि) बुलाता हूँ । वह हमे देवे श्रवण को पितरो के [=कुन की कीर्ति बाल ।] उस तरे लिए हे देवि हवि से सेवते हैं ।

कुह को मे सुकर्मा को विदितकर्मा को इन यश मे गुण आवाहन वाली को बुलाता हूँ । वह हमे देवे श्रवणम्=कीर्ति पितरो की । पितरो के धन को अथवा । पितरो के यश को अथवा । उस तरे लिए हे देवि हवि से सेवते हैं । यह व्याख्या किया गया है ।

२४ यमी । [निरक्त १० । १९] मे व्याख्या को गई [है] उस की यह [शब्द] होती है ॥ ३३ ॥

अन्यमू पु त्वं यस्मिन्पुत्रे उ त्वा परि प्वजाते त्रिवृजेव वृक्षम् ।

तस्य वा त्वं मन इच्छा स या तसार्धा कृणुष्व संभिदं सुभद्राम् ॥

[सू० १० । १० । १४ ॥]

अन्यमेव द्वि त्वं यमि । अन्यस्त्वा परिप्वज्यत । त्रिवृजेव वृक्षम् । तस्य वा त्वं मन इच्छे । स वा तय । अथ अनन कुदप्य सविदम् । सुभद्रा कल्याणभद्राम् ।

यमी यमं चकमे । ता प्रत्याचक्षते । इत्याख्यातम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—(अन्यम् ऊ सु) दूसरे को ही तू (यमि) हे यमि [और]
 (अन्यः उ त्वाम्) दूसरा ही तुझे (परिष्वजाते) आलिङ्गन करता है,
 (लिवुजा इव) वेल जैसे (वृक्षम्) वृक्ष को । (तस्य वा) उस का और
 (त्वं मनः इच्छा) तू मन चाह (सः वा तव) वह अथवा तेरा [मन
 चाहे ।] (अधा) अनन्तर [उस के साथ] (कृणुष्व) करो (संधिदम्)
 मर्यादा को (सुभद्राम्) कल्याणकारिणी को ॥

दूसरे को ही निश्चय तू हे यमि । दूसरा तुझे आलिङ्गन करेगा ।
 लिवुजा—वेल जैसे वृक्ष को । उस का अथवा तू मन इच्छा कर । वह
 अथवा तेरा [मन चाहे ।] अनन्तर इस के साथ करो मर्यादा । सुभद्राम्
 कल्याणी भद्रा को ।

यमी ने यम को चाहा । उस को [यम ने] न स्वीकार किया । [इस
 विषय का] यह आशयान [हे] ॥ ३४ ॥

भाष्य—यम यमी के विषय में पूर्ण लिख चुके हैं, वहां देखें ॥ ३५ ॥

उर्वशी व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ—३५. उर्वशी । [निरुक्त ५ । १३ मे] व्याख्या की गई [है ।]
 उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३५ ॥

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्धरन्ती मे अप्या काम्यानि ।

जनिष्ठो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशीं तिरत दीर्घमायुः ॥

[ऋ० १० । ६५ । १० ॥]

विद्युदिव या । पतन्त्यद्योतत । हरन्ती मे अप्या काम्यानि ।
 उदकान्यन्तरिक्षलोकरय । यदा नूनमय जायेताद्भवोऽध्यप इति । नर्यो
 मनुष्यो नृभ्यो हितः । नरापत्यमिति वा । सुजातः सुजाततरः । अथोर्वशी
 प्रवर्धयते दीर्घमायुः ।

पृथिवी व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ३६ ॥

अर्थ—(विद्युत् न) विद्युत् के समान (या) जो (पतन्ती) गिरती
 हुई (दविद्योत्) चमकी, (भरन्ती) लाती हुई (मे) मेरे प्रति (अप्या)

अप् सघातो को (काम्यानि) वाचना करने योग्य [उदकों को ।]
 (अनिष्ट उ) उत्पन्न हुआ है (अप) अन्तरिक्ष स (नर्य) नरा के लिए
 हिनकारी (सुघात) अत्यन्त श्रेष्ठ जन्म वाला [उदक ।] (प्रतिगत)
 बढ़ती है (उदेशी) विद्युत् [हुई वाह्] (दीर्घम् आयु) दीर्घ आयु
 को ॥

विद्युत् के समान-जो, गिरती हुई चमकी । लाती हुई मरे प्रति प्राप्त
 करने योग्य और कामना करने योग्य, उदको को अन्तरिक्ष लोक के । अब
 निश्चय यह उत्पन्न होव उदकों स । नर्य -मनुष्य-नरो के लिए हिनकारी ।
 नरा का अत्यन्त अथवा । सुघात=अत्यन्त श्रेष्ठ जन्म वाला । तब उर्गी
 बढ़ती है दीर्घ आयु को ।

२६. पृथिवी । [निरुक्त १ । १३ मे] व्याख्या की गई [है ।] उसकी
 यह [श्चक्] होनी है ॥ २६ ॥

भाष्य—विद्युत् शब्द मर्षो से अथवा उदक आयु को दीर्घ करता है । इस
 पर प्रयोग करने चाहिए ॥ २६ ॥

वद्विस्त । पर्वतानां खिद्रं विभर्षि पृथिवि ।

प्र या भूमिं प्रवत्वति महा जिनोषि महिनि ॥

[श्रु० १ । ८४ । १ ॥]

सत्य स्व पर्वताना मे गता खेदनम्-खेदन-[भेदन] बलममुख
 धारयति पृथिवि । प्रजि-यति या भूमिम् । प्रवत्वति महत्त्वेन ।
 महतीति । उदकरतीति वा ।

इन्द्राणी । इन्द्रस्य पत्नी । तस्या एषा भवति ॥ ३७ ॥

अर्थ—(यत्) सत्य ही (इत्या)-[अमुत्र] वहा [अन्तरिक्ष म]
 (पर्वतानाम्) पर्वतों के [अथवा मर्षो के] (खिद्रम्) छदन के स्थान को
 (विभर्षि) धारण करती है, (पृथिवि) ह [माध्यमिके] पृथिवि ।
 (या) जो तू (भूमिम्) भूमि को (प्रवत्वति) मारने वाली (मत्त)
 महान उदक से (प्र जिनोषि) नररुर तृप्त करती है (महिनि) बड़े उदक
 वाली ॥

सत्य ही तू पर्वतानां=मेघानाम्-मेघों के खेदन, छेदन, भेदन=बल को वहां [=अन्तरिक्ष में] धारण करती ही है पृथिवी । प्रजिन्वसि=वृष करती हो जो तू भूमि को । जुगाने वाली महत्त्व से । उदक वाली अथवा ।

२७. इन्द्राणी । इन्द्र की पत्नी । उस की यह [ऋक्] होती है ॥३७॥

भाष्य—अन्तरिक्ष में अति स्वल्प पार्थिव अंश भी है । वह अंश ही अन्तरिक्ष में पर्वतों और मेघ रूपी पर्वतों को धारण करता है । वह पार्थिव अंश वर्षा द्वारा भूमि को वृष करता है । अन्तरिक्ष में इस पार्थिव अंश के कारण निघण्टु १ । ३ में अन्तरिक्ष नामों में पृथिवी पद भी पदा गया है । इसी लिए ब्राह्मण का प्रवचन है—इयं [पृथिवी] अन्तरिक्षम् । ऐ० ३ । ३१ ॥ ३७ ॥

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।

न ह्यस्या अपरं च न जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

[ऋ० १० । ८६ । ११ ॥]

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् । न ह्यस्या अपरामपि समां जरया म्रियते पतिः । सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरः । तमेतद् ब्रूमः । तस्या एवापरा भवति ॥ ३८ ॥

अर्थ—(इन्द्राणीम्) माध्यमिका वाक् को (आसु नारिषु) इन नारियों के मध्य में (सुभगाम्) कल्याणनारिणी ऐश्वर्य वाली को (अहम् अश्रवम्) मैंने सुना । (न हि) नहीं (अस्याः) इस का (अपरं चन) औरों के समान (जरसा) बुढ़ाने से (मरते पतिः) मरता है पति । (विश्वस्मात्) सब से (इन्द्रः) जो इन्द्र (उत्तरः) बढ़ कर [है] ॥

इन्द्राणी को=इन्द्र पत्नी वाक् को इन नारियों के मध्य में शुभ ऐश्वर्य वाली को मैंने सुना । नहीं इन का दूसरों के समान जरा से मरता है पति । सारों से जो इन्द्र बढ़ कर [है ।] उस को यह हम कहने हैं । उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ३८ ॥

भाष्य—वाक् का कोई प्रकार ही इन्द्र की जाया है । वही इन्द्राणी . अथवा शची है । वह सुभगा है । वह शुभ ऐश्वर्य वाली इस लिए है कि उस का पति अमर है ॥ ३८ ॥

नाहमिन्द्राणि सारण सस्युर्वृषाकपेऽश्रुते ।

यस्येदमप्य हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

[अ० १०। २६। १२०]

नाहमिन्द्राणि रमे । सस्युर्वृषाकपेऽश्रुते । यस्येदमप्य हविः ।
अप्सु शृतम् । अद्रिः संस्कृतमिति वा । प्रियं देवेषु निगच्छति ।
सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरः । तमेतद् व्रमः ।

गौरी रोचतः । ज्वलतिकर्मण । अयमपीतरो गौरो वर्ण एनस्मा-
देव । प्रशस्यो भवति । तस्या एषा भवति ॥ ३६ ॥

अर्थ—(न अहम्) नहीं मैं (इन्द्राणि) हे इन्द्राणि (सारण) रमण
करता (सस्युः) मला के (वृषाकपेः श्रुते) वृषाकपि के बिना ।
(यस्य) जिस की (इदम् अयि) यह भी (अप्य हविः) आप से
संस्कृत हवि [जो] (प्रियम्) प्रिय [है] (देवेषु) देवों में (गच्छति)
पहुँचती है । सारण से जो इन्द्र बड़ कर [है] ॥

नहीं मैं हे इन्द्राणि रमण करता, मला वृषाकपि के बिना । जिस की
यह अप्य हवि । आप से शृतम्=पकी हुई । आप द्वारा संस्कृत अववा ।
प्रिय जो देवों में पहुँचती है । सारण से जो इन्द्र बड़ कर [है] उस को यह
हम कहते हैं ।

३०= गौरी । रोचति न, चमकने जर्ब जाने से । यह भी द्रुपथ गौर
वर्ण इम [वारण] न ही [है] प्रशमनीय होता है । उस की यह
[श्रु] होती है ॥ ३९ ॥

भाष्य—इदरेवा अ० २ । १२ से आदित्य के नामों के निर्वचन क्ताप् गप
है । उन में श्रुक् १० का निरुद्धिखित पाठ है—

वृषेप कपिलो भूत्या यत्राकम् अधिरोदति ।

वृषाकपिरसौ तेन विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः ।

रश्मिभिः कश्चापन्तेति वृषा वनिष्ठ एव सः ॥ ६३ ॥

अर्थात्—वृषाकपि आदित्य की उस अवस्था का नाम है, जब वह कपिल वर्ण हो कर नारु की ओर चढ़ता है। यह माया अब भी घटती है, और सृष्टि उत्पत्ति के समय भी आदित्य के आरोहण में घटी थी। इन्द्र ने उस अवस्था के आदित्य से सख्य प्रकट किया है। यह सूक्ष्मता अध्ययन-योग्य है ॥ ३६ ॥

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।

अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥

[ऋ० १।१६४।४१ ॥]

गौरीर्निर्मिमाय । सलिलानि तक्षति कुर्वती । एकपदी मध्यमेन । द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च । चतुष्पदी दिग्भिः । अष्टापदी दिग्भिश्चावन्तरदिग्भिश्च । नवपदी दिग्भिश्चावन्तरदिग्भिश्चादित्येन च । सहस्राक्षरा बहूदका । परमे व्योमने । तस्या एपाऽपरा भवति ॥ ४० ॥

अर्थ—(गौरीः) मध्यमस्थानी विद्युत् हृषिणी वाक् ने (मिमाय) बनाया । (सलिलानि) सलिलों=संहत उदकों को (तक्षति) छीलती हुई ने । एकपदी, द्विपदी, वह चतुष्पदी । अष्टापदी, नवपदी (बभूवुषी) होती हुई ने (सहस्राक्षरा) बहूदकों ने परम व्योम में ॥

गौरी वाक् ने निर्माण किया । सलिलों को करती हुई ने । एकपदी, मध्यमेन=वायु के द्वारा । द्विपदी, वायु और आदित्य-और के द्वारा । चतुष्पदी दिशाओं के द्वारा । अष्टापदी, दिशाओं के द्वारा और अवन्तर दिशाओं के द्वारा और । नवपदी, दिशाओं के द्वारा और, अवन्तर दिशाओं के द्वारा और, आदित्य के द्वारा और । सहस्राक्षरा=बहु उदकों वाली । परम विविध रक्षक आकाश में । उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ४० ॥

भाष्य—मध्यमस्थाना वाक् उदकों को किस प्रकार से छीलती है । यह विज्ञान अभी मैं नहीं जान सका । उस के एकपदी आदि रूप भी अध्ययन-योग्य हैं ॥ ४० ॥

तस्याः समुद्रा अधि धि क्षरन्ति तेन जीवन्ति पृदिशश्चतस्रः ।

ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति ॥ [ऋ० १।१६४।४२ ॥]

तस्याः समुद्रा अधिविहरन्ति । वर्पन्ति मेघाः । तेन जीवन्ति
दिगाधयाणि भूतानि । ततः घृत्त घृत्तमुदकम् । तत्सर्वाणि भूतान्युप
जीवन्ति ।

गोव्याख्याता । तस्या एवा भवति ॥ ४१ ॥

अर्थ—(तस्याः) उस [गीरी] से (समुद्राः) अन्तरिक्ष मेघ
(अधि वि हरन्ति) चलि हो कर बरसते हैं । उस से जीने हैं चारों
प्रकृष्ट दिशाओं [के भूत], उस से बहता है उदक । उस से सारे [भूत]
जीते हैं ।

उस से समुद्रा=मेघाः=मेघ अधिविहरन्ति=वर्पन्ति=बरसते हैं । उन
के कारण से जीते हैं दिगाधित भूत । उनसे बहता है उदक । उन से सारे
भूत जीते हैं ।

२६. गोः । [निरुक्त २ । ५ मे] व्याख्या की गई [है ।] उस की यह
[श्क्] होती है ॥ ४१ ॥

गोर्न्ममीमेदत्सं यत्सं निमिपन्तं मूर्धानं दिङ्ङकणोन्मात्तया उ ।

सृक्काणं घर्मममि वाश्राना मिभति मायुं पयते पयोभिः ॥

[श्रु० १ । १६४ । २८ ॥ अधर्व० ६ । १० । ६ ॥]

गोर्न्ममीमेदत्सं निमिपन्तम् । अनिमिपन्तमादित्यमिति वा ।
मूर्धानमस्याभिदिङ्ङकरोन्मननाय । सृक्काणं सरणम् । घर्मं दरणम् ।
अनिवावशाना मिम ति मायुम् । प्रप्यापते पयोभिः । मायुमिवादित्य
मिति वा । वागेषा माध्यमिका । घर्मेषुगिति दादिकाः ।

धेनुः । धयतेर्वा । विनोतर्वा । तस्या एवा भवति ॥ ४२ ॥

अर्थ—(गो) मध्यम स्थाना वाक (अमीमेत् अनु) अत्र रन्त करे
(यत्सं निमिपन्तम्) [आदित्य रूप] अत्स को निमोतितार्त्त को [दख
कर], (मूर्धानम्) शिर को [=शिरा स्थानो रश्मियो क मध्य स्थान म
आने पर] (दिङ्ङकणोत्) हिकार क्रिया अथवा करती है । (मातया=
मातृवै उ) जन के लिए उदक क । (सृक्काणम्) सरकने वाले (घर्मम्)

रसहारक [आदित्य] को (अभि वावशाना) अत्यधिक कामना करती हुई (मिमाति) पुनः पुनः करती है (मायुम्) स्तनयित्तु लक्षण शब्द को (पयते) बढ़ाती है (पयोभिः) मध्यमस्थानी पयः के द्वारा ॥

गौः अनुशब्द करती है [आदित्य को देख कर] अथवा । इस के शिर को [सूँघ कर] हिंकार करती है, मनन [=ज्ञान] के लिए । सूक्ताणम्=सरकने वाले को घर्मम्=रसहारक [आदित्य] को । अत्यधिक कामना करती हुई पुनः पुनः करती है शब्द को । पयते=प्रव्यायते=बहुत बढ़ाती है, पयः से । शब्द के समान आदित्य को अथवा । वाक् यह माध्यमिका । घर्मधुक्=प्रवर्य कर्म के लिए दुही जाने वाली गौः, यह याज्ञिक [कहते हैं ।]

३०. धेनुः, धयति से अथवा । विनोति से अथवा । उम को यह [ऋक्] होती है ॥ ४२]

भाष्य—स्कन्द लिखता है—वत्सं मिपन्तमादित्यमिति पाठः । अनिमिपन्तम् इत्यपपाठः । दुर्गं, स्कन्द और सायण आदि ने इस मन्त्र का अर्थ करने में यत्न किया है, पर वे इस का पूरा भाव स्पष्ट नहीं कर सके । हमें भी इस मन्त्र में भरा विज्ञान पूरा स्पष्ट नहीं हुआ । ४२ ॥

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दौहदेनाम् ।

श्रेष्ठं सर्वं सविता साविपन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु पु प्र वौचम् ॥

[ऋ० १ । १६४ । २६ ॥]

उपह्वये सुदोहनां धेनुमेताम् । कल्याणहस्तो गोधुगपि च दोग्ध्येनाम् । श्रेष्ठं सर्वं सविता सुनोतु नः—इत्येव हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकम् । यद्वा पयो यजुष्मत् । अभीद्धो घर्मः । तं सु प्रत्रवीमि । वागेया माध्यमिका । घर्मधुगिति याज्ञिकाः ।

अध्वन्या । अहन्तव्या भवति । अघर्णीति वा । तस्या एषा भवति ॥ ४३ ॥

अर्थ—(उप ह्वये) बुलाता हूँ (सुदुघाम्) अच्छा दुहाने वाली को (धेनुम्) धेनु को (एताम्) इस को, (सुहस्तः) कल्याण कारक हाथों

तस्या समुद्रा अधिविहरन्ति । वर्षन्ति मेघा । तेन जीरन्ति
दिगाधयाणि भूतानि । तत छरत्यछरमुदकम् । तत्सर्वाणि भूतान्युप
जीरन्ति ।

गीर्वाण्यता । तस्या एषा भवति ॥ ४१ ॥

अर्थ—(तस्या) उस [गीरो] से (समुद्रा) अन्तरिक्ष मय
(अधि वि हरन्ति) छलि हो कर बरसते हैं । उस स जीत हैं चारो
प्रकृष्ट दिगाधो [के भूत] उस स बहुता है उदक । उस से सारे [भूत]
जीते हैं ।

उस ने समुद्रा=मेघा=मेघ अधिविहरन्ति=वर्षन्ति=बरसते हैं । उन
के कारण से जीत हैं दिगाधिन भूत । उनसे बहुता है उदक । उन से सारे
भूत जीते हैं ।

२६ गी । [निघण्टु २।५ म] व्याख्या की गई [है ।] उस की यह
[श्रृक्] होती है ॥ ४१ ॥

गीर्मीमेदनु वत्सं निमिपन्तं मूर्धानं दिङ्ङकरोन्मातृया उ ।

सुक्काणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायु पर्यते पयोभिः ॥

[ऋ० १।१६४।२८ ॥ अथर्व० ६।१०।६ ॥]

गीर्स्वमीमदत्स निमिपन्तम् । अनिमिपन्तमादित्यमिति वा ।
मूर्धानमस्याभिदिङ्ङकरोन्मननाय । सुक्काण सरणम् । घर्म हरणम् ।
अभिवावशाना मिमाति मायुम् । प्रप्यायत पयोभि । मायुमिवादित्य
मिति वा । वागेया माध्यमिका । घर्मधुमिति याञ्छिका ।

घेनु । घयतर्वा । धिनोतर्वा । तस्या एषा भवति ॥ ४२ ॥

अर्थ—(गी) मध्यम स्थाना वाक (अर्मीमेत् अनु) अनु गन्ध करे
(वत्स निमिपन्तम्) [आदित्य रूप] वत्स को निमीलितान को [देख
कर], (मूर्धानम्) गिर को [=शिर स्थानो रश्मियो क मध्य स्थान मे
आने पर] (दिङ्ङकरोन्) हिकार किया अथवा करती है । (मातृया=
मातृवे उ) ज्ञान के लिए उदक क । (सुक्काणम्) सरकने वाले (घर्मम्)

रसहारक [आदित्य] को (अभि वावशाना) अत्यधिक कामना करती हुई (मिमाति) पुनः पुनः करती है (मायुम्) स्तनयित्तु लक्षण शब्द को (पयते) बढ़ाती है (पयोभिः) मध्यमस्थानी पयः के द्वारा ॥

गौः अनुशब्द करती है [आदित्य को देख कर] अथवा । इस के शिर को [सूँघ कर] हिंकार करती है, मनन [=ज्ञान] के लिए । सूक्ताणम्=सरकने वाले को घर्मम्=रसहारक [आदित्य] को । अत्यधिक कामना करती हुई पुनः पुनः करती है शब्द को । पयते=प्रव्यायते=बहुत बढ़ाती है, पयः से । शब्द के समान आदित्य को अथवा । वाक् यह माध्यमिका । घर्मधुक्=प्रवर्ग्य कर्म के लिए दुही जाने वाली गौः, यह याज्ञिक [कहते हैं ।]

३०. धेनुः, धयति से अथवा । धिनोति से अथवा । उम की यह [ऋक्] होती है ॥ ४२]

भाष्य—स्कन्द लिखता है—वत्सं मिपन्तमादित्यमिति पाठः । अतिमिपन्तम् इत्यपपाठः । दुर्ग, स्कन्द और सायण आदि ने इस मन्त्र का अर्थ करने में यत्न किया है, पर वे इस का पूरा भाव स्पष्ट नहीं कर सके । हमें भी इस मन्त्र में भरा विज्ञान पूरा स्पष्ट नहीं हुआ ॥ ४२ ॥

उप ह्वये सुदुर्वां धेनुमेतां सुहस्तां गोधुगुत दोहदेनाम् ।

श्रेष्ठं सवं सविता साविपन्नोऽभीद्वो घर्मस्तदु पु प्र वौचम् ॥

[ऋ० १ । १६४ । २६ ॥]

उपह्वये सुदोहनां धेनुमेताम् । कल्याणहस्तो गोधुगपि च दोग्ध्येनाम् । श्रेष्ठं सवं सविता सुनोतु नः—इत्येप हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकम् । यद्वा पयो यजुष्मत् । अभीद्वो घर्मः । तं सु प्रवर्षामि । वागेवा माध्यमिका । घर्मधुगिति याज्ञिकाः ।

अध्वया । अहन्तव्या भवति । अघर्णीति वा । तस्या एषा भवति ॥ ४३ ॥

अर्थ—(उप ह्वये) बुलाता हूँ (सुदुर्वाम्) अच्छा दुहाने वाली को (धेनुम्) धेनु की (पताम्) इस को, (सुहस्तः) कल्याण कारक हाथों

वाला=कुमल (गोधुक्) गौ का दोहने वाला [इन्द्र] (उत्) भी (दोहत्) दोह (एनाम्) इस को । (श्रेष्ठ स्वप्नम्) अतिशय प्रसन्न उपज=पयः के लिए (सविता) आदित्य, यजमान अथवा परमात्मा (सावित्र्) अनुमति दे (नः) हमें । (अभि इन्द्र) पूरा प्रदीप्त हुआ है (धर्म) धर्म, (तन् उ सु) उस को भल प्रकार (प्ररोचम्) प्रकर्मता से कहता है ॥

बुनाता है मुदोहना को इस धेनु को । करुणाणहस्त गोदोम्बा भी दोहता है इस को । श्रेष्ठ उपज के लिए सविता अनुमति दे हमें । यह ही श्रेष्ठ [है] सारी-उपजो म जो उदक [है ।] अथवा पय-यजुओं युक्त । प्रदीप्त है धर्म । उस को भद्र कहता है । वाक् यह माध्यमिका [है ।] धर्मयुक्, यह याज्ञिक [कहते हैं ।]

३) अर्ध्या । न मारने योग्य हानी है । पाप को नाश करने वाली अथवा । उस की यह [श्रुक्] होती है ॥ ४३ ॥

सुयज्ञसाद्भगवतो हि भूया अर्धा वर्ष भगवन्तः स्याम ।

अदि त्वणमन्व्ये विद्यदानां पियं शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥

[अ० १। १६८। ४० ॥]

सुयज्ञसादिनी भगवती हि भव । अर्धेदानीं वयं भगवन्तः स्याम । अदि त्वणमन्व्ये सर्वदा । पियं च शुद्धमुदकमाचरन्ती । तस्या पयाऽपय भवति ॥ ४४ ॥

अर्थ—(सुयज्ञसात्) श्रेष्ठ यज्ञ=धारा [=रश्मि अर्हण उदक] अर्ध= होजे (अध राम) होवे । (.) है माध्यमिके वाक् (विद्यदानां) सर्वज्ञ (पियं) पियो (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) उदक को (अचरन्ती) सब प्रकार से सती हुई ॥

मुन्द्र चाम साने वाली लक्ष्मी वाली ही होवे । पश्चात् वयं हम लक्ष्मीवान् हो । माओ नृण को हे अर्ध्वे । पियो और शुद्ध उदक से सब प्रकार से सती हुई ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ४४ ॥

भाष्य—स्कन्द आदि ने इस मन्त्र से माध्यमिका वाक् का अर्थ जोड़ा है ।
तदनुसार यत्रस है रश्मि-अपहृत उदक, और तृण है तर्दनीय मेव ॥ ४४ ॥

हिङ्कृएवती वसु रन्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभाग्य ॥
[ऋ० १० । १६४ । २७ ॥]

इति सा निगंदव्याख्याता ।

पथ्या । स्वस्तिः । पन्था अन्तरिक्षम् । तन्निवासात् । तस्या एषा
भवति ॥ ४५ ॥

अर्थ—[स्तनयित्तु रूप में] हिंकार करती हुई (वसुवती) वृष्टि-
उदक रूप वन की अधिपति भूता (वसूनाम्) आदित्य रश्मि वा महत्तो
के (वत्सम्) आदित्य रूप वत्स का (इच्छन्ती मनसा) चाहती हुई
मन से (अभि आगात्) आई । (दुहाम्) दूध दुहाए (अश्विभ्याम्)
अश्वियों के लिए (पयः) पय रूप (अघ्न्या) माध्यमिका वाक् (इयं सां
वर्धताम्) वह यह बढ़े, महान् सौभाग्य के लिए ॥

यह स्पष्ट पाठ से व्याख्यात है ।

३२. पथ्या । ३३. स्वस्तिः । पन्था, अन्तरिक्ष [है ।] उस में निवास
करने से [पथ्या ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४५ ॥

भाष्य—स्कन्द ने माध्यमिक पञ्च में अर्थ स्पष्ट किया है ॥ ४५ ॥

स्वस्तिरेव हि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णास्वत्यभि या वाममेति ।

सा नोऽमा गृहे । सा निरमणे नि पातु स्ववेशा भवतु देवगोपा ॥

[ऋ० १० । ६३ । १६ ॥]

स्वस्तिरेव हि प्रपथे श्रेष्ठा । रेक्णास्वती धनवती । अश्वेति या
वसूनि धननीयानि । सा नोऽमा गृहे । सा निरमणे । सा निर्गमने पातु ।

स्ववेशा भवतु । देवी गोप्त्री । देवान् गोपायन्ति । देवा एनां गोपायन्ति वा ।

उपा व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ४६ ॥

अर्थ—(स्वस्तिः इत् द्वि) स्वस्ति हो [नहीं कोई और] (प्राथे) प्रकृत अन्तरिक्ष मार्ग में (थ्रोष्टा) अनिश्चय प्रमत्ता (रेक्शस्त्री) [वृष्टि उदक] धन वाली (या वामम्) जो सुन्दर धन [उदक को] (अग्नि एति) प्राप्त होनी है । वह हमे (अमा) घर में (सा उ) वह (अरण्ये) वन में (नि पातु) निषम से रक्षा करे । (स्ववेशा) [हमारे लिए] शुभ आगमन वाली (भवतु) हो, (देवगोपा) देवों की रक्षक अथवा देव जिम के रक्षक [हैं] ॥

स्वस्तिः ही थ्रोष्ट मार्ग में अनिश्चय थ्रोष्टा । [वही] धन वाली [है] । अग्नेनि=पमीप पहुँचती है जो कमनीय धनो को । वह हमे घर में, वह शून्य स्थान में, वह बाहर रक्षा करे । थ्रोष्ट वास वाली हो । देवी रक्षा करने वाली । देवों की रक्षा करे । देव इन की रक्षा करें अथवा ।

३४ उपाः, [निवृत्त २ । १८ में] व्याख्या की गई [है] । उन की यह [श्रुक्] होनी है ॥ ४६ ॥

भाष्य— स्वस्तिः कौन सी माध्यमिका शक्ति है, यह जानना चाहिए । निवृत्त हमे वाक् समझते हैं । अतः यह वाक् का कोई रूपम भेद है ॥ ४६ ॥

अपोषा अननसः सरस्वतिं प्रादहं विभ्युषी ।

नि यत्नीं शिक्षयद्गुपी ॥ [ऋ० ४ । ३० । १० ॥]

अपासरदुषा अनसः सस्विष्टान्मेघाद् विभ्युषी । अनो वायुः । अनितेः । अपि योपमार्थे स्यात् । अनस इव शकटादिव । अनः शकटम् । आनद्धमस्मिन्धीवरम् । अनितेर्षा स्याज्जीवनकर्मणः । उपजीवन्मेघेनत् । मेरोऽप्यन एतस्मादेव । यच्चिरशिक्षयद्गुपि । यत्पिना मध्यम । तस्या एषाऽपरा भवति ॥ ४७ ॥

अर्थ—(उपा) उपा (अनसः) [मेघेण] शकट में (अपा-मन्त्र) को शकट में (सस्विष्टान्) चर्च एए में, (अह) (विभ्युषी)

डरती हुई । (नि शिश्नथत्) तोड़ दिया (यत्) जब [उस शकट को]
(वृषा) वर्षणकर्ता वायु ने ॥

परे हट गई उपा शकट से सम्यक् पीसे हुए मेघ से, डरती हुई । अनः
वायु [है ।] अनिति से । अथवा उपमा अर्थ में होवे । अनस इव=शकट
से जैसे । अनः शकट [है ।] आनद्धम्=वंश हुआ होता है इस पर चीवर
=कपड़ा=चर्म । अनिति से अथवा होवे, जीवन अर्थ वाले से । जीविका
चलाते हैं, इस से । मेघ भी अनः [है], इसी [कारण] से । जब निरशि-
श्नथत्=तोड़ा इसे वृषा ने । वृषा=वर्षाकर्ता मध्यम वायुः ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ४७ ॥

भाष्य—उपा वायु अथवा मेघ पर ठहरती है । इस का रहस्य समझना
चाहिए ॥ ४७ ॥

एतदस्या अनः शये सुसम्पिष्टं विपाश्या ।

ससारं सीं परावतः ॥ [ऋ० ४ । ३० । ११ ॥]

एतदस्या अन आशेते सुसम्पिष्टमितरदिव । विपाशि विमुक्तपाशि ।
ससारोपाः परावतः प्रेरितवतः । परागताद्वा ।

इळा व्याख्याता । तस्या एपा भवति ॥ ४८ ॥

अर्थ—(एतत्) यह (अस्याः) इस [उपा] का (अनः) शकट
(शये+आ=आशये) [भूमि पर] ठहरा है, (सु सम्पिष्टम्) सम्यक्
चूर्ण हुआ, [उदक रूप में वर्षा में बहा] (विपाशि-आ) विगत पाश
हुआ, [अथवा] विपाशा नदी से आया । (ससार) परे चली गई [जिस
कारण उपा] (सीम्) सब ओर से (परावतः) प्रेरे हुए से ॥

यह इस का [टूटा] शकट पड़ा है=मोता है=ठहरा है, सम्यक् चूर्णित
हुए दूसरे [पार्थिव शकट] के समान । विपाशि=विमुक्त बंधन वाली ।
परे चली गई उपा प्रेरे हुए से । दूर गए हुए से अथवा ।

३५. इळा । [निरुक्त = १ । ७ में] व्याख्या की गई [है ।] उस की यह
[ऋक्] होती है ॥ ४८ ॥

भाष्य—सायण ने इस मन्त्र के अर्थ में खिला है कि उषा का दूटा हुआ अक्षर विषाण के तीर पर पड़ा है। प्रथम होता है कि क्या वर्षा केवल विषाण के तीर पर होती है। इस प्रथम का उत्तर सायण के अर्थ में युक्त नहीं बैठता। अर्थात्

अभि न इळा यूधस्य माता स्मन्नुर्वाभिर्नृपशी वा शृणानु ।

उर्वशी वा वृहदिना शृणानाम्भूशाना प्रभुधस्यायोः ।

सिपन्तु न ऊर्ज्व्यस्य पुष्टेः ॥ [अ० ५। ४१। १६ ॥]

अभिशृणानु न इळा। यूधस्य माता। [सर्वस्य माता।] स्मदभि नर्वाभि। उर्वशी वा शृणानु। उर्वशी वा। वृहदिना महदिवा। शृणाना। अभ्युशाना। प्रभुधस्य प्रभुनस्य। आयोरयनस्य। [मनुष्यस्य।] ज्योतिषो बोधकस्य वा। सेधता नोऽन्नस्य पुष्टेः।

रोदसी। रद्रस्य पत्नी। तस्या एषा भवति ॥ ४६ ॥

अर्थ—(अभि शृणानु) धेष्ट शब्द करे, स्तुति करे (न) हमारे प्रति (इळा) इळा नाम वाली (यूधस्य माता) मरुद् गण की माता (स्मत् नदीभि) साथ नदियों के (उर्वशी) उर्वशी अथवा उर्वशी अथवा बड़ी दीप्ति वाली (शृणाना) शब्द करती हुई (अभि ऊर्ज्वगाना) [सारी पृथिवी को वा हमने] छादन करती हुई (प्रभुधस्य) एकत्र किए गए, [वा] पालन किए गए (आयो) गतिशील के लिए। (सिपन्तु) सवन करे (न) हमारे (ऊर्ज्वस्य) अन्न की (पुष्टे) पुष्टि को ॥

शब्द करे हमारे प्रति इळा। यूध की माता [सब की माता] साथ होने वाली नदियों के। उर्वशी अथवा स्तुति करे। उर्वशी अथवा बड़ी दीप्ति वाली। शब्द करती हुई। छादन करती हुई। पालन किए गए। आयो गतिशील के लिए, ज्योतिष के लिए उदक के लिए अथवा। सवन करे हमारे अन्न की पुष्टि को।

३६ रोदसी। रद्र की पत्नी। उम की यह [श्रुत्] होती है ॥ ४९ ॥

भाष्य—उर्वशी वा विष्णुत् स कर्वाण्य हो, उस की विष्णु पदा है। पारुक के अनुसार यह एक श्रुत् है। परन्तु कई मुद्रित संस्करणों और पला के सायण भाष्य एक आगे में उषर पाद एक पृथक श्रुत् है।

रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे ।

आ यस्मिन्तस्थौ सुरणानि विभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी ॥

[ऋ० ५ । ५६ । ८ ॥]

रथं क्षिप्रं मारुतं [मेघं] वयं श्रवणीयमाह्वयामहे । आ यस्मिन्तस्थौ सुरमणीयान्युदकानि विभ्रती सचा मरुद्भिः सह रोदसी ॥ ५० ॥

इत्येकादशोऽध्यायः ।

अर्थ—(रथम्) रथ को (नु) शीघ्र (मारुतम्) मरुत सम्बन्धी को (वयम्) हम (श्रवस्युम्) श्रवण योग्य को (आ हुवामहे) बुलाते हैं । (यस्मिन्) जिस [रथ] पर (आ तस्थौ) ठहरती है (सुरणानि) सुरमणीय उदकों को (विभ्रती) धारती हुई (सचा मरुत्सु) साथ मरुतों के (रोदसी) रुद्रपत्नी ॥

रथ को शीघ्र मारुत को [मेघ रूप को] हम श्रवण योग्य को बुलाते हैं । जिस पर ठहरती है, सुन्दर रमणीय उदकों को धारण करती हुई मरुतों के साथ रोदसी=रुद्रपत्नी ॥ ५० ॥

भाष्य—इस रोदसी का द्यावापृथिवी से कोई भेद है, वा नहीं, यह जानना चाहिए । आचार्य शाकल्य ने द्यावापृथिवी वाचक रोदसी को द्विवचनान्त प्रगृह्य संज्ञक मान कर पदपाठ में 'इति' पद से निर्दिष्ट किया है ॥ ५० ॥

इत्येकादशोऽध्यायः

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्थात् पुस्ताना देवता । तासामभिवनी प्रथमागामिनी भरत ।
अभिवनी पद् व्यश्नुवात् सबम् । रसेनान्यो ज्योतिषान्य । अश्नैरभिव
नावित्योर्णवाभ । तत्कावभिवनी । द्वावापृथिव्यावित्यक । अहोरात्रा
वित्यक । सूर्याचन्द्रमसावित्येव । राज्ञानो पुण्यपृत्ताभिर्चेतिहासिका ।
तयो काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात् । प्रकाशीभावस्थानुरिष्टम्भम् । अनु तमो
भागो द्वि मध्यम । ज्योतिभाग आदित्य । तयोरपि भरति ॥ १ ॥

अर्थ—अब इस स आगे शुक्लान वान दवता [कहते हैं ।] उन में स
अभिवनी प्रथम आने वाले हैं । अभिवनी, क्योंकि व्यापते है सब को ।
रस=आप प्रभाव से एक ज्योति स दूसरा [व्यापते है ।] अर्था के
[कारण] से अभिवनी यह जोर्णवाभ [कहता है ।] तो कौन हैं दोनों
अभिव । द्वावापृथिवी [हैं] यह [आचार्य कहत हैं ।] अहोरात्र [हैं]
यह दूसरे [कहते हैं ।] सूर्य और चन्द्रमा [है ।] यह तीसरे [कहते हैं ।]
[दो राजा पुण्यपृत्त यह ऐतिहासिक [कहते हैं ।] उन का [उदय] काल
[है], अर्धरात्रि से पश्चात् । प्रकाशीभाव का अनु-वि स्तम्भ [-रात्रि के
अन्धेरे को फाड कर ज्योति का उस आभकार में जब विस्तम्भ=सहारा=
मिदान होता है तब तक] 'तनु तमोमय भाग मध्यम [है ।] ज्योति
का भाग आदित्य है ॥ १ ॥

भाष्य—दश और नासत्य नाम के दो अभिव हैं । उन में स एक रसप्रधान
है और दूसरा ज्योति प्रधान । अन्व आचार्यों ने भी जो द्वावापृथिवी आदि के जोड़
माने हैं उन में से एक रसप्रधान है और दूसरा ज्योतिप्रधान । द्वावापृथिवी के
जाणे में द्यौ-आदित्य ज्योतिप्रधान है और पृथिवी रसप्रधान है । अर्थात्मन के
निश्चय में अर्थों के अस्तित्व के अर्थय अभिवनी पद् का व्याख्यान माना गया है ।
पद्यपि अथ आदित्य और चन्द्र आदि क भी हैं, पर अभिवनी के भी हैं ।

१ अत्रमेव के निरुक्त संस्करण का पाठ 'नुविष्टम्भम्' ठीक नहीं देखो—
भाग ५ के अन्त में स्कन्द टीका भी ।

यासु ने राजानों पुण्यकृतों का जो मत लिखा है, उसके विषय में स्कन्द महेश्वर ने लिखा है—राजानों इ यौर्णवाभमतेन ।

तमोभागो द्वि मध्यमः । यह किसी श्लोक का एक पाद प्रतीत होता है । ये अधिद्वय देवों के भिन्नजो माने गए हैं । को० ब्रा० १८ । १ ॥ आवापृथिवी आदि प्रत्यक्ष अधिनी हैं । यह शतपथ ४ । १ । २ । १६ ॥ में भी माना है । पर अधिनी की अपनी पृथक् सत्ता भी अवरय है ॥ १ ॥

वसातिषु स्म चरथोऽमितौ पेत्राविव ।

कुंदेदमश्विना युवमभि देवाँ अगच्छतम् ॥

इति सा निगदव्याख्याता ।

तयोः समानकालयोः समानकर्मणोः संस्तुतप्राययोरसंस्तवेनैपोऽर्धर्चा भवति ।

वासात्यो अन्य उच्यत उपः पुत्रस्तवान्यः । इति ।

तयोरेपाऽपरा भवति ॥ २ ॥

अर्थ—(वसातिषु) रात्रियों में (स्म) पदपूरक (चरथः) विचरते हो (असितौ) दो काले (पेत्रौ इव) मेघों के समान । (कदा) कब (इदम्) यह (अश्विना) हे अश्वियो (देवान्) देवों के प्रति (अभि अगच्छतम्) आए हो ॥

यह स्पष्ट पाठमात्र से व्याख्या की गई है ।

उन दोनों के समान काल वालों के, समान कर्म वालों के, प्रायः एक साथ स्तुति वालों के असंस्तवेन=पृथक् स्तव से यह [अगली] अर्ध ऋक् होती है ।

वासात्यः=वसाति का=रात्रि का पुत्र एक कहा जाता है, उपः का पुत्र दूसरा ।

उन दोनों की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २ ॥

भाष्य—भारत म एक वसति जनपद भी था । उस जनपद का यह नाम वैद स लिखा गया । पर इस मात्र का वसति पद रात्रि का बाची है । रात्रि का पुत्र मध्यम है और उषा का पुत्र आदित्य उत्तम है ॥ २ ॥

इहेई जाता समराश्रीतामरेपसां तन्वाइ नामभिः स्वैः ।

जिष्णुवामन्यः सुमहस्य सूरिदिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे ॥

[ऋ० १ । १=१ । ४ ॥]

इह चेह च जाती सस्तूयेत । पापनालिप्यमानया तन्वा । नामभिश्च स्वै । जिष्णुवामन्य सुमहतो बलस्येरयिता मध्यम । दिवोऽन्य सुभग पुत्र ऊह्यत आदित्य । तयोरपाऽपरा भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—(इह इह) इन [अ वरिष्ठा] म हममे (जाता=जाती) उत्पन्न हुए (सम् अवाश्रीताम्) सम्यक् स्तुति किए जाने हो (अरेपसा =अरेपसा) तुम दोनो पाप रहित (तन्वा) गरीर स (नामभि स्वै) नामो म अपने । (जिष्णु) जयगीत (वाम्) तुम दोनो म से (अन्य) एक (सुमहस्य) गुभ बल का (सूरि) प्ररक (दिव) ली का (अन्य) दूसरा (सुभग) गोमा बाल [रश्मि समूह स] अश्वर्य वाला (पुत्र) पुत्र [आदित्य] (ऊहे) ने जाण जाता है ॥

यहा यहा उत्पन्न हुए स्तुति किए जाने हो । पाप म अरिष्ठा गरीर स । नामा मे और अपने । जयगीत तुम दोना म स एक, सुमहान् बल के प्ररक मध्यम । ली का दूसरा गुभ अश्वर्य वाला पुत्र ने जाया जाता है जाणित्य ।

उन दोनों की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ३ ॥

भाष्य—इह-इह यह पद कौन प्रयुक्त कर सकता है । उत्तर है कि जो स्वयं वहा हो । जब इह पद पृथिवी स्थानी नहीं है । यह सत्य प्रकरण से प्रकट हो जाता है । यह इह अन्तरिच का व्योतक है । अतः अगस्त्य अथि जो इस प्रकार का द्रष्टा है अन्तरिच स्थानी था । वह अथियों को समबोधन करके करता है । वे अथिद्वय अन्तरिच में जन्म थे । इन के जन्म का प्रकार अम्यवर्णय है । अन्तरिच म जन्म कर इन का वर्तमान स्थान ली में है ॥ ३ ॥

प्रातर्युजा वि वोधयाश्विनावेह गच्छताम् ।

अस्य सोमस्य पीतये ॥ [ऋ० १। २२। १ ॥]

प्रातर्योगिनो विवोधयाश्विनौ । इहागच्छतामस्य सोमस्य पानाय ।
तयोरेपाऽपरा भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(प्रातः) प्रातः काल में (युजा) [हवि के निमित्त] विनि-
दुक्त हुए (वि वोधय) जगावो (अश्विनौ) अश्वियों को (आ) (इह)
यहां (आ गच्छताम्) आत्रे । इस सोम के पीने के लिए ॥

प्रातः याग में विनियुक्त जगावो अश्विद्वय को । यहां आत्रे । इस सोम
के पान के लिए । उन दोनों की यह और [ऋक्] होती है ॥ ४ ॥

प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत् न सायमस्ति देवया अजुष्टम् ।

उतान्यो अस्मद्यजते वि चावः पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान् ॥

[ऋ० ५। ७७। २ ॥]

प्रातर्यजध्वमश्विनौ । प्रद्विणुत् । न सायमस्ति देवया । अजुष्ट-
मेतत् । अप्यन्योऽस्मद्यजते । वि चावः । पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्-
नयित्तमः ।

तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्तः । तस्मिन्नन्या देवता ओप्यन्ते ।

उपाः । वष्टेः । कान्तिकर्मणः । उच्चृतेरितरा माध्यमिका । तस्या
एषा भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—[हे यश कर्ताओ] (प्रातः) प्रातः काल (यजध्वम्) यजन
करो (अश्विनौ) अश्वियों को । (हिनोत्) जाओ [हवियों के प्रति । मत
विलम्ब करो], (न) नहीं (सायम्) सायं को (अस्ति) होती है
(देवया) देवों को जाने वाली, (अजुष्टम्) [वह हवि] अजुष्टा=असेविता
रहती है [देवों से ।] (उत्) और (अन्यः) कोई दूसरा (अस्मत्)
हम से (यजते) यजन करता है, (वि चावः) विविध प्रकार से तृप्त
करता है [सोम से] (पूर्वः पूर्वः) पहला पहला (यजमानः) यजन
करने वाला (वनीयान्) उत्तम पूजा=यज्ञ करने वाला [है] ॥

शातः काच यजन कये अधिर्या को । भेजो [हृदि को] । नही मार्य
ममय होनी देखो की दग्गा । अनविता [होनी है] यह । कोई दूगरा नी
हम में यजन करता है । विजय वृत्त रग्गा है । गहना-गहना यजमान
उत्तम पूजक [होता है ।] उन दला का काच मूर्यादय पर्यन्त [है ।] उन
[समय] में दूगर देवता ओष्यन्ते=[हृदि] जाने जाने हैं ।

२ उवा । वष्टि मे, इच्छा अर्धे गां मे [यह दो स्थ नी है ।] उच्युति
=निरावती है, ग [उदरां को निरावती है] माध्यमिना । उन की यह
[श्रुत्] होती है ॥ ५ ॥

भाष्य—यज्ञ मत्त काछ किया गया कछरापक होता है, इस लक्ष्य की
गूष्मता हम म-य से स्पष्ट है । एक ही पद उवा किय प्रकार दो निर्वचनों में
दर्शाया गया है । वे दोनों निर्वचन अर्धे की गूष्मता पर आधित हैं । एक
निर्वचन दो स्थानी उवा के अर्धे का भाव प्रकट करता है और दूसरा माध्यमिध के
कर्म का । ऐसे गूष्म ज्ञान वाले आचार्य पर संसृज्य कर्तार पुत्र्य के सम्पदकों,
रात्रकने और मित्रेश्वर बनी आदि ने जो मिथ्या आम्पुन जगाए हैं, उन से उन
का छपना अज्ञान ही प्रकट होता है ॥ ५ ॥

उपस्तच्छिद्यमा भंरास्मभ्यं वाजिनीरति ।

येन तोरुं च तर्नयं च धामहे ॥ [श्रु० १ । १२ । १३ ॥]

उपस्तत् [चित्रं] चायनीय [महनीयं] धनमाहरास्मभ्यम् ।
अन्नयति । येन पुत्राश्चपौत्राश्च वर्धामहि ।

तस्या पपाऽवरा भयति ॥ ६ ॥

अर्थ—(उप) हे उपः (तत्) वह (चित्रम्) विचित्र, पूजनीय
[धन] (आ हर)=आहर=दो (अस्मभ्यम्) हमारे लिए, (वाजिनी-
यति) ह अन्नवाली । जिस ने पुत्र को और पौत्रे को और (धामहे)
धारण कर=पुष्ट करे ॥

हे उप, चायनीय=महनीय=पूजनीय धन को दो हमारे लिए, ह अन्न-
वाली । जिस से पुत्रों को और पौत्रों को और धारण करे ।

उम की यह और [श्रुक्] होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—उवा जीवन देती है । कायु द्वारा छद् पूजनीय आहार देती है ॥ ६ ॥

एता उ त्या उपसः केतुमकृत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते ।

निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः ॥

[ऋ० १।६२।२ ॥ साम० उ० आ० ८।३।१६।२ ॥]

एतास्ता उपसः केतुमकृत । प्रज्ञानम् । एकस्या एव पूजनार्थं बहुवचनं स्यात् । पूर्वेऽर्धेऽन्तरिक्षलोकस्य समञ्जते भानुना । निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः । निरित्येव समित्येतस्य स्थाने ।

एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥ [ऋ० १०।३४।५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । प्रतियन्ति । गावो गमनात् । अरुषीरारोचनात् । मातरो भासो निर्मात्र्यः ।

सूर्या । सूर्यस्य पत्नी । एषैवाभिसृष्टकालतमा । तस्या एषा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(एताः) ये ही (त्या) वे (उपसः) उपाएं [हैं, जिन्होंने] (केतुम्) प्रकाश=प्रज्ञान को (अकृत) किया । (पूर्वे अर्धे) पूर्व अर्ध में (रजसः) अन्तरिक्ष लोक के (भानुम्) प्रकाश के साथ (अञ्जते) प्रकट होती हैं । (निष्कृण्वानाः) बाहर निकाल कर (आयुधानि इव) शस्त्र को जैसे [चमकाते हे,] (धृष्णवः) योद्धा, [वैसे] (गावः) [उपा के] रश्मि (अरुषीः) चमक वाले (प्रति यन्ति) लौट जाते हैं (मातरः) अपने मातृस्थानों में ॥

ये वे उपाए हैं, [जिन्होंने] केतुम्=प्रज्ञानम्=प्रकाश को अकृत=किया । एक [उपा] का ही पूजा अर्थ में बहुवचन [उपसः] होवे । पूर्व अर्ध में अन्तरिक्ष लोक के प्रकट होती हैं [उपाए] प्रकाश के साथ । निष्कृण्वानाः में निग्, यह सम्, इस के स्थान में, [अर्थात्-सम्-कृण्वानाः =संस्कुर्वाणाः=सजाते हुए=चमकाते हुए । यह उपसर्ग व्यत्यय है । यथा—] (एमि इत्) जाता हूँ [में जुआरिया] इसी समय (एषाम्) इन [अक्षों] के (निष्कृतम्) सजे हुए स्थान को (जारिणीव) जार वाली के समान । यह भी निगम होता है । [यहां भी उपसर्ग व्यत्यय के कारण निष्कृतम्=संस्कृतम् है ।]

चोट बाने हैं । मायः, मन के कारण । अदर्शी = बचाने न । मातरः = प्रकाश का निर्माण करने वाली ।

३ सूर्या । सूर्य की पत्नी । यह [उषा] ही अभिरुद्रकालतमा = छोड़ चुकी हुई अधिक बल वाली । [सूर्या नाम वाली है ।]

उस की यह [श्रुत्] होनी है ॥ ७ ॥

भाष्य—संभव है उषा बहुवचनान्त उपसर्गः प्रयोग का भी कोई कारण है । उपसर्ग स्यस्य का कारण भी साजना चाहिए । उषा के समाधिबल की अवस्था को सूर्या कहते हैं । इस की मूल्यता भी अन्वेषणीय है । समवन हरिम भेद और हरिमणों का क्रियाकलाप ही यह भेद उत्पन्न करता है ॥ ७ ॥

सुकिंशुकं शल्मलि विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृत्तं सुचक्रम् ।

आ रोइ सूर्ये अमृतस्य लोकं स्यान् पत्ये बहनुं कृणुष्व ॥

[श्रु० १०।८५।२० ॥]

सुकाशन शप्रमल सर्वरूपम् । प्रथि योगमाधे स्यान् । सुकिशुक मिय शल्मलिमिति । किंशुक क्रशतः प्रकाशयति कर्मण । शल्मलिः सुशरी भगति । शरमात्रा । आरोइ सूर्ये अमृतस्य लोकम् । उदकस्य । सुस पत्ये बहनु कुरुष्व ।

मरिता सूर्यां प्रायच्छत्सोभाय रात्रे प्रजापतये वा ।

इति च नक्षत्रम् ।

वृषारूपार्थी । वृषाक्षय पत्नी । एषैः अभिरुद्रकालतमा । तस्या एषा भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—(सुकिशुकम्) सुन्दर किशुबन् प्रकाश=दीप्ति वाला, (शल्मलिम्) मिश्रबन् [नरम] (विश्वरूपम्) सार हर्षो बाने (हिरण्यवर्णम्) मुनहरी वर्ण वाल (सुवृत्तम्) सुन्दर वर्तन=चूमने वाल (सुचक्रम्) सुन्दर चक्र बाने [रथ पर] (आ रोइ) बड़ो, (सूर्ये) ह सूर्ये (अमृतस्य) आदित्य क अन्दर वा चारो ओर क आय परमायुशो क (लोकम्) लोक को (स्यान्) [और] सुस की (पत्ये) अपने पति सूर्ये क लिए (बहनुम्) प्राप्त करने को (कृणुष्व) आओ ।

सुन्दर प्रकाश वाले, शन्न+मलम्=दुन्नमल=निर्मल, सारं रूपों वाले । अथवा [सुकिंशुकम्] उपमा अर्था में होवे । सुन्दर किशुक [वृक्ष] के समान शल्मलि को । किंशुकम्, क्रंशति से, प्रकाशित करता है, अर्थ वाले से । [स्कन्द—क्रंशति, नैरुक्तधातुः प्रकाशनार्थः ।] शल्मलिः=सुशरः=सरलता से हिंसनीय होता है । शरों=त्राणों वाला अथवा । अमृतस्य=उदकस्य । मुख को पति के लिए प्राप्त कराने को कराओ । सविता ने सूर्या को दिया सोम राजा के लिए, प्रजापति के लिए अथवा । यह और ब्राह्मण [पाठ है ।]

४. वृषाकपायी । वृषाकपि की पत्नी । यह [सूर्या] ही अधिक काल छोड़ चुकी हुई [वृषाकपायी] है ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ८ ॥

भाष्य—अमृत । ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार आदित्य, सोम, अग्नि, रुक् और आपः ही अमृत है । सूर्या आदित्य लोक को जाती है । वह आपः, रुक्, सोम और अग्निः का स्थान है । आपः का वहां क्या रूप रहता है, इस का अन्वेषण विज्ञान के अनेक रहस्यों को खोल देगा ॥ ८ ॥

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्तुपे ।

घसंत इन्द्र उक्षरः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

[ऋ० १० । ८६ । १३ ॥]

वृषाकपायि रेवति । सुपुत्रे मध्यमेन । सुस्तुपे माध्यमिकया वाचा । स्तुपा साधुसादिनीति वा । साधुसानिनीति वा । सु अपत्यम् । तत्सनीतीति वा । प्राश्नातु त इन्द्र उक्षरः । एतान्माध्यमिकान्तसंस्त्यायान् । उक्षर उक्षतेर्बृद्धिकर्मणः । उक्षन्त्युदकेनेति वा । प्रियं कुरुष्व सुखचयकरं हविः । सुखकरं हविः । सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम् ।

सरण्युः । सरणात् । तस्या पया भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—हे वृषाकपायि, हे धनवति, (सुपुत्र) हे कल्याणप्रदपुत्र [इन्द्र] वाली : ('आत् उ') (सस्तुपे) हे कल्याणकारिणी स्तुपा [वाक्]

वाली । (यसत्) साए अथवा पीए (त) तथा (इन्द्र) एधनुक
आदित्य (उक्षण) मवन करन वाली अवस्था-कणो को [और नू भी]
(प्रियम्) प्रिय को (कानित् करम्) प्रभूत मुख करन वान (इवि)
हवि=उदक को [उक्षण करे ।] मव म इन्द्र बड़ कर [है] ॥

ह वृषानपायि, ह धनवति, ह सुवृष वाली, ह मृस्तुषा वाली । स्तुषा
=म धर्मिवा वाक् म । स्तुषा=मायु काम म बैठन वाली । मायु काम को
मवन वाली अथवा । स्तु=अपत्य-मन्त्रान । उम को सवनी है अथवा । खव
त इन्द्र उक्षण=[स्कन्द—अवस्था-कणो को ।] इन माध्यमिक सस्या
यात्=मघाना को । उक्षण उक्षणि म वृद्धि अर्थ वान म । सीचत है उदक
म अथवा । प्रिय करो कानित्=क+कानित्=मुम का चयनकर हवि ।
मुक्षार हवि । मव म जो इन्द्र बधा । उम को यह कहते हैं आदित्य को ।

५ सरण्यु । मरवन स । उम को यह [शृक्] होनी है ॥ ९ ॥

भाष्य—पूर्व मिदक १ । २० क भाष्य में उषा पर का जैसा व्याख्यान इन
न किया है, उस का पोषक यह स्पष्ट भी है । उक्षण माध्यमिक है । उम को
इन्द्र खव । अत वे पृथिवी पर क बैठ नहीं है । अग्नि का भी वे सोमक
तथा अवरथादक्य भव है ॥ ६ ॥

अप्यगूढमृता मर्त्येभ्यः कृत्वी सर्वर्णामददुर्विवस्वत ।

उताभिनवभरद्दत्तदामीदनेहादु द्वा मिथुना सरण्यु ॥

[अ० १० । १७ । २ ॥]

अप्यगूढमृता मर्त्येभ्य । कृत्वी सर्वर्णामददुर्विवस्वत । अप्य
भिनवभरद् । यत्तदासीत् । अजहाद् द्वौ मिथुनौ सरण्यु ।

मध्यम ख माध्यमिका ख वाचमिति नैरुत्ता । यम ख यमो चर्त्येति
हासिका ।

तत्रेतिहासमावृत्त—वाप्री सरण्युर्विवस्वत आदित्याद्यमौ मिथुनौ
जनयाद्भकार । सा सर्वर्णामन्या प्रतिनिधापारश्व रूपं कृत्वा प्रदुदाव ।
स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा सामनुष्टय सम्भूव । ततोऽ
भिवनी जहात । सर्वर्णांषा मनु । तदभिवादिन्येपर्मवति ॥ २० ॥

अर्थ—(अप-अग्रहन्) छिपा दिया (अमृताम्) सरण्यु अमृता को (मर्त्येभ्यः) मरणधर्मा मनुष्यों से (कृत्वी) बना कर [उस का दूसरा रूप] (सवर्णाम्) सवर्णा=सरण्यु को (अददुः) दिया (विवस्वते) विस्वान् के लिए । (उत्) और भी (अश्विनौ) अश्वियों ने (अभरत्) अपने में धारण किया (यत्) जो (तत्) वह (आसीत्) था (अजहात्) त्यागा (उ) (द्वा) दो [पुत्र और कन्या] को (मिथुना) जोड़े को (सरण्युः) सरण्यु ने ॥

और छिपाया अमृता को मर्त्यों से । बना कर सुवर्णा को दिया विवस्वान् के लिए । और अश्वियों ने धारण किया । जो वह था, त्यागा दो को जोड़े को सरण्यु ने ।

[वे दो कौन थे ।] मध्यम तमोभाग को और माध्यमिका वाक् को और, ये नैरुक्त [कहते हैं ।] यम को और यमी को और, यह ऐतिहासिक [कहते हैं ।]

इस विषय में इतिहास को कहते हैं । त्वष्टा की कन्या सरण्यु ने विवस्वान् के पुत्र आदित्य से यमौ [यम-यमी] जोड़े को उत्पन्न किया । वह [सरण्यु] [अपने से] दूसरी सवर्णा को अपना प्रतिनिधि बना कर अश्व का रूप बना कर भाग गई । वह विवस्वान् आदित्य अश्व का ही रूप बना कर उस [सरण्यु] के पीछे जा कर उससे संबभूव=संगत हुआ । तब अश्विनी उत्पन्न हुए । सवर्णा में मनु [जन्मा ।] उस के कहने वाली यह ऋक् होती है ॥ १० ॥

भाष्य—वैदिक इतिहास अपने अन्दर दैवी घटनाएं छिपाए रहते हैं । सरण्यु, सवर्णा और यम यमी के इतिहास रहस्य रखते हैं । यह मनु पार्थिव मनु नहीं है । वह अग्निः का एक रूप है । इस दिव्य मनु का वर्णन वेद मन्त्रों में बहुधा मिलता है । पार्थिव मनु इस से सर्वथा भिन्न था ॥ १० ॥

त्वष्टा दुहिते वहतुं कृणोतीतिदं विश्वं भुवनं समैति । :

यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥

अर्थ—(त्वष्टा) त्वष्ट (दुहितृ) दुहिता क लिए (वदतुम्) [उस वर द्वारा] ले जाए जाने को (वृणोति) [प्रवृण्व] करता है । (इति ।) (इदम्) यह माग (भुवनम्) भूत जात (समेति) आता है । यम की माता (परि उद्यमाना) चारा ओर से ले जाई गई=विवाह ली गई (महः जाया विवस्वतः) महान् की पत्नी विवस्वान की (ननाशु) समाप्त हुई दिय गई ॥

त्वष्टा दुहिता को ले जाया जाना करता है । यह सारा भुवन आता है= और ये सारे भूत एकत्र होते हैं । यम की माता ले जाई जाती हुई महान् विवस्वान् की पत्नी अन्तधान हो गई । रात्रि आदित्य क । आदित्य क उदय होने पर अन्नधर्नि होती है ॥ ११ ॥

भाष्य—दुहिता ही ले जाई जाती है । उसी का घर दूसरा हो जाता है । ये पदवाप मूत्र में मानव चक्षु स पूर्व की हैं । इन का पोषा सा रूप सदा रहता है । इसी लिए पाणिनि ने सूत्र बनाया—*लुन्दसि लुङ्लङ्लिट्* । ये लकार सामान्य अत्र में ही मान लिए जाते हैं ॥ ११ ॥

सविता व्याख्यात । तस्य फालो यदा द्यौरपदततमस्काऽऽकीर्णर शिर्मर्भवति । तस्यैषा भवति ॥ १२ ॥

अर्थ—७ सविता । [निरुक्त ७ । ३१ तथा १० । ३१ में] व्याख्या किया गया । उस का काल [है], जब शी मष्टृए अन्धकार वाली और व्याप्त रश्मि वाली होती है । [भूमि पर अभी अन्धकार रहता है] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १२ ॥

विद्यां रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासवीद्भ्रं विपदे चतुष्पदे ।

वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनुं प्रयार्णमुपसो वि रजति ॥

सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते मेधावी । कविः कान्तदर्शनो भवति ।
कवतेर्वा । प्रसुवति भद्रं द्विपादुभ्यश्च । चतुष्पादुभ्यश्च । व्यचिख्यप-
त्राकं सविता वरणीयः । प्रयाणमनूपसो विराजति ।

अधो^१रामः सावित्रः ॥ [यजुः० २६ । ४= ॥]

इति पशु समान्नाये विज्ञायते । कस्मात् सामान्यादिति । अधस्ता-
त्तद्वेलायां तमो भवत्येतस्मात्सामान्यात् । अधस्ताद्रामोऽधस्तात्कृष्णः ।
कस्मात्सामान्यादिति । अग्निं चित्वा न रामामुपेयात् । रामा रमणायो-
पेयते । कृष्णजातीया एतस्मात्सामान्यात् ।

कृकवा^१कुः सावित्रः ॥ [यजुः० २४ । ३५ ॥]

इति पशुसमान्नाये विज्ञायते । कस्मात्सामान्यादिति । कालानुवादं
परीत्य । कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणम् । वचेरुत्तरम् ।

भगो व्याख्यातः । तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात् । तस्यैषा भवति ॥२॥३॥

अर्थ—सारे हणों को [तमः मे वाहर] निकालता है, मेधावी । (प्र
असाधीत्) उत्पन्न करता है कल्याण द्विपाद के लिए चतुष्पाद के लिए ।
(नाकम्) द्यौ को (वि अख्यत्) दिखाया (सविता) सविता ने ।
(वरेण्यः) वरण करने योग्य (अनु प्रयाणम्) चले जाने के पश्चात्
(उपसः) उपा के (वि राजति) प्रकाशित होता है ॥

सारे [रूप आदि के] ज्ञानों को निकालता है मेधावी । कविः=कान्त
=[साधारण बातों का] उल्लेखन कर के [पहुँचे हुए] दर्शन वाला होता
है । कवति से [चलता है] अथवा । उत्पन्न करता है कल्याण दो पाद
वालों के लिए, चार पाद वालों के लिए । वि अचिख्यपत्=दिखाया=
प्रकाशित किया नाकम् द्यौ को सविता ने [जो] वरणीय=स्वीकरणीय
[है ।] प्रयाणम् अनु=चले जाने के पश्चात् उपसः=उपा के विःराजति=
प्रकाशित होता है ।

(अधः रामः) नीचे से काला (सावित्रः) सविता का [पशु है ।]
यह [याजुप संहिताओं के] पशु समान्नाय में विशेष ज्ञान द्वारा जाना जाता
है । जिस समानता से यह [कहा ।] नीचे उस वेली में अन्वकार होता है,

इयं सामान्यता से [कहा ।] नीचे राम=कान्त्र, नीच कृष्ण=वाला । किस सामान्यता से यह [कहा ।] रामा=रानी भी, रमण के लिए उपेयत=वाही जाती है, नही [यज्ञादि] कर्म के लिए [ब्राह्मण द्वारा ।] रामा=काली जाती वाली । इस सामान्यता से ।

(कृक्वाक्) कृक्वाक् वाला-कुकड (सावित्र) सविता का पशु [है ।]

यह पशु समाप्ताय में विशेष जाना जाता है । किस सामान्यता से यह [कहा ।] कान के अनुवाद=अनुकथन को परीत्य=जान कर । कृक्वाक् [पद] का पूर्व [भाग=कृक] शब्द का अनुकरण [है ।] वचि का उत्तर [भाग है ।]

= भग । [निरुक्त ३ । १६ में] व्याख्या किया गया । उम का कान है, पूर्व उत्पर्वण=ऊपर उदय से । उम की यह [श्रक्] होती है ॥ १३ ॥

भाष्य—सविता के साथ वरुण, पद का प्रयोग प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में भी है । पशु समाप्ताय याजुष सदिताओं में है । ऐस व्याख्याओं के अनुसरण पर ही ब्राह्मण ग्रन्थ प्रवचन किए गए । इसी लिए इस समाप्ताय के लिए भी विज्ञायते पद प्रयुक्त हुआ है ।

सविता और भग आदि नाम हैं आदित्य की विविध समयों की अवस्थाओं के ॥ १३ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदित्तोर्यो विधुतां ।

आभ्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरधिद्राजां चिद्यं भगं भुवीत्याहं ॥

[श्रु० ७ । ८१ । २ ॥ यजु० २४ । ३४ ॥]

प्रातर्जितं भगमुग्रं ह्वयम वयं पुत्रमदित्तं । य विधारयिता सर्वस्य । आभ्रश्चिद्यं मन्यमान । आदृशानुर्दिन्द्र । तुरधिद्राजां । तुर इति यमनाम । तत्तर्था । त्तरतर्था । त्तरया तूर्णगतिर्वयम् । राजा चिन् । यं भग भुवीत्याह ।

अन्धो भगः । [कौषी० प्रा० ६ । १२ ॥ शत० प्रा० १ । ७ । ४ । ६]
इत्याहुः । अनुस्मृतो न दृश्यत ।

प्राशिन्नमस्याक्षिणी निर्जघान । [कौपी० ब्रा० ६ । १३] इति

च ब्राह्मणम् ।

जनं भगो गच्छति । [मैत्रा० सं० १ । ६ । १२ ॥] इति वा ।

जनं गच्छत्यादित्य उदयेन ।

सूर्यः सतेर्वा । सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा । तस्यैवा भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—(प्रातः जितम्) प्रातः काल [अन्धकार को] जीतने वाले (भगम् उग्रम्) भग को उग्र को (हुवेम) ह्वयेम=बुलाते हैं (वयम्) हम, (पुत्रम्) पुत्र को (अदितेः) अदिति के (यः) जो (विधर्ता) विशेष धारण कर्ता [है ।] (आध्रः चित्) आढ्यालु दरिद्र भी (यम्) जिस को (मन्यमानः) मानता हुआ (तुरः चित्) त्वरित गति यम भी (राजा चित्) राजा भी, (यं भगं भक्ति) जिस भग को भजता है [धन दे] (इत्याह) यह कहता है ॥

प्रातः काल [अन्धकार के] जेता भग [देव] को उग्र को बुलाते हैं हम पुत्र को अदिति के, जो विशेष धारक है सब वा । आढ्यालु दरिद्र भी जिस को मानता हुआ, तुरः चित्, तुरः यह यम का नाम [है ।] तरति से अथवा । त्वरित से अथवा । शीघ्रता से वेग की गति वाला यम, राजा भी, जिस भग को भजता है, [धन दे] यह कहता है । अन्धः [है] भग, यह कहते हैं [ब्रह्मवादी] । अन् उत्सृप्तः=न निकला हुआ [सूर्य] नहीं दीखता । [पूर्ण उदय होने पर ही दीखता है ।]

प्राशिन्न ने इस की दोनों आंखें निर्जघान=मार दीं । यह और ब्राह्मण [हैं ।] जनम्=जन को भग प्राप्त होता है, यह अथवा । [अर्थात्] जन को=नर को प्राप्त होता है आदित्य [रश्मि द्वारा] उदय होने से ।

६. सूर्यः । सति से=सरकता है अथवा । सुवति से=प्रेरता है अथवा । सु=ईर्यति से भले प्रकार प्रेरता है अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १४ ॥

भाष्य—भग अदिति का पुत्र है । यह सूर्य की अवस्था मात्र नहीं है । जिस कारण यह अवस्था होती है, वह कारण सूर्य के ऊपर छा जाने वाली कुशी रूपी भिङ्गी के किसी भाग विशेष से उत्पन्न होता है । उसे समझना चाहिए ॥ १४ ॥

उदु त्यं जातवेदस देव बृहन्ति वेतसः । दृशे विश्वायं सूर्यम् ॥

[ऋ० १। १०। १ ॥ यजु ७। ४१ ॥]

उद्वहन्ति तं जातवेदस रश्मय वतस सूर्येण सूयाना दर्शनस्य सूर्यमिति । [कमन्यमादित्याद्यमरचयत् ।] तस्यैवापरा भवति ॥१५॥

अर्थ—(उदु बृहन्ति) उपर ल जाते हैं (उ त्यम्) उस (जातवेदस स्यम्) जातप्रदान देव को (वतस) रश्मि रूरी केतु । (दृशे) देवने दिखाने क निष् (विश्वाय) सारे भूतो क (सूर्यम्) सूर्य को । किस और को आदित्य से [अनिरिक्त को] इस प्रकार कहता ॥

उम की यह दूमरी [ऋक] होती है ॥ १५ ॥

भाष्य—जातवेदस् पद मध्यस्थानी अग्नि का द्योतक है । पर यहा विसा अथ क्यो नही लिया गया । उत्तर है प्रकरण बल स । यहा यह पद सूर्य का विशयण बन गया है । अत यहा इस का कवल यौगिक अर्थ ही है । इसी लिए यास्क कहता है—कम् अन्वम् आदित्याद् परम् अरचयत् । यहाँ इस का आदित्य परक अर्थ ही है । दूसरा कोई अर्थ यहाँ बनता ही नहीं ।

सूर्य के केतु उस क रश्मि ही हैं ॥ १५ ॥

चित्र देवानामुदगमदनीम् चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।

आमा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्यं आत्मा जगत्स्तस्थुपथ ॥

[ऋ० १। ११५। १ ॥ यजु ७। ४२ ॥]

चायनीय देवानामुदगमदनीकम् । स्थान मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्च । आपूपुरद् द्यावापृथिवी चान्तरिक्षं च महत्त्वेन । तत सूर्यं आत्मा जङ्गमस्य च स्थावरस्य च

अथ यद्रश्मिणोर्षं पुष्यति तत्पूषा भवति । तस्यैवा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—(चित्रम्) विचित्र अथवा पूज्य (देवानाम्) रश्मियो का (उदु अगात्) उदय हुआ (अनीरम्) सेना समूह । (चक्षु) नेत्र [है] मित्र का, वरुण का अग्नि का । (आ मा) भग दिय = (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवी को (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को । सूर्य आत्मा [है], (जगत तस्थुप च) जङ्गम का स्थावर का और ।

चायनीयम्=ज्य, रश्मि रूप देवों का, उदय हुआ सेन.समूह । चक्षुः
=व्यानम्=दर्शक मित्र का, वरुण का अग्निः का और । भर दिया [उमने]
द्यावापृथिवी को और, अन्तरिक्ष को और महत्त्व से=महान् रश्मिसमूह
से । इस कारण सूर्य आत्मा [है] जङ्गम का और, स्थावर का और ।

१०. पूषा । अब जब रश्मियों से परिविष्ट हुए [रूप] को पुष्ट करता
है, तब पूषा होता है । उस की यह [ऋक्] होनी है ॥ १६ ॥

भाष्य—सूर्य रश्मियों से सदा परिपुष्ट नहीं रहता, इस ज्ञान का गम्भीर
रहस्य समझने योग्य है ॥ १६ ॥

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विपुरुषे अहनी द्यौरिवासि ।

विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह दत्तिरस्तु ॥

[ऋ० ६। ५२। १ ॥]

शुक्रं ते अन्यल्लोहितं ते अन्यत् । यजतं ते अन्यद्विपुत्रियं ते अन्यत् ।
विपमरूपे ते अहनी कर्म । द्यौरिव चासि । सर्वाणि प्रज्ञानान्यवसि ।
अन्नवन् भाजनवती ते पूषन्निह दत्तिरस्तु । तस्यैवाऽपरा भवति ॥१७॥

अर्थ—(शुक्रम्) ज्योति वाला लोहित (ते) तेरा (अन्यत्) और
[रूप] (यजतम्) यज्ञिय तेरा और [रूप] (विपुरुषे) विपम=विभिन्न
रूप वाले (अहनी) दिन और रात दोनों [तेरा कर्म हैं ।] द्यौ के समान
[प्रकाश युक्त] तू है । (विश्वा हि माया अवसि) सारे प्रज्ञानों को तू
रक्षा करता है (स्वधावः) हे अन्नवान् (भद्रा) कल्याण कारक भाजन=
पात्र के अनुकूल तेरा हे पूषन् (इह) यहां (रातिः)=दत्तिः=दान (अस्तु)
होवे ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ १७ ॥

पृथस्पथः परिपतिं वक्षस्या कामेन कृतो अभ्यानलर्कम् ।

स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियैधियं सीषधाति प्र पूषा ॥

[ऋ० ६। ४०। ८ ॥]

पद्यस्थोऽधिपति वचनेन कामेन कृतोऽभ्यासइर्कमभ्यासप्रार्क
मिति वा । स नो ददानु चायनीषामाणि धनानि । कर्मकर्म च न
प्रसाधयतु पूषति ।

अथ पट्टिन्ति भवति तद्विष्णुर्भवति । विष्णुर्विष्णुर्वा । व्यभो
तेवा । तस्यैवा भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—(पद्य पद्य) नां-नां क (परिपतिम्)=अधिपतिम्=
स्वानो की (पद्यस्था)=रचनन=स्तुति स्तो वचन म (कामन कृत)
अनित्याय न प्रसि (अभ्यासत्) स्तुति कर्ता ह्, =अभ्यासत्=अस ह्वा
ह् (अर्कम्) दूना दव को अथवा । (स न) यह हन (रासत्) द्ये
(शुद्ध)=धनानि=दनों को (चन्द्राया)=चायनीषामाणि प्रिय है अथ
ना जिन क उन को (धिय धियम्) [हमारे] इन को (प्रक्षीयति)=
प्रसाधयतु=रुप कर्त कर दूना दव ॥

११ विष्णु । अब अब वि+सत=विविध प्रकार न [ररिमना न]
व्यक्त होता है तब विष्णु होता है । विष्णुः विगनि म अथवा । प्रविष्ट
होता है [तीव ररिमदी व अनरिच म ।] वि+कृषति वे अथवा,
व्याप्ता है ।

उन को यह [कृत्] होना है ॥ १८ ॥

इदं विष्णुवि चक्रमे त्रेधा निदध पदम् । समूहस्य पानुरे ॥

[अ० १।२०।१७ ॥]

यदिद कि च तद्विक्रमत विष्णु । त्रिधा निधत्ते पदम् । [अथा
भाषाव] पृथिव्यान्तरिक्ष दिवीति शरूपणि । समाराइये विष्णुपद
नपशिरसीत्येरोवान् । समूहनस्य [पानुर] ध्यायनेऽन्तरिक्षे पद न
दृश्यत । अपि योपमार्थे स्यात् । समूहनस्य पानुल इव पद न दृश्यत
इति । पानुव पार्द सूपन्त इति वा । पद्मा शुभत इति वा । पसनीया
नरन्तीति वा ॥ १६ ॥

अर्थ—(इदम्) इस [चत्] को (विष्णु) विष्णु ने (वि
चक्रम) विदेय देवा कर रला । (त्रेधा) तान प्रकार से (नि दधे) रला

:(पदम्) पैर को । (सम् ऊळहम्) सम्यक् प्रतिष्ठित है (अस्य) इस का (पांसुरे) पांसु=धूल रूप अन्तरिक्ष में ॥

जो यह कुछ भी, तत्=उस पर विक्रमते=अधिष्ठित होता है विष्णु । तीन प्रकार से रखता है पांव को । [तीन प्रकार से होने के लिए] पृथिवी पर, अन्तरिक्ष में, द्यौ में, ये [तीन प्रकार] शाकपुणि [के अनुमार हैं ।] सम्+आरोहणे=सम्यक् उदय होने में [एक पद], विष्णुपदे=अन्तरिक्ष में [दूसरा पद], गयशिरसि=अस्त होने के मूर्धा पर, यह [तीसरा पद], और्णवाम [कहता है ।] समूढम् अस्य=प्यायने अन्तरिक्षे=वृद्धि वाले अन्तरिक्ष में [इस का] पाद नहीं दिखाई देता । और भी अथवा, [पांसुरे पद] उपमा अर्थ में होवे । सम्यक् स्थापित पद पांसुल इव=धूल से भरे स्थान में नहीं दिखाई देता । इति । पांसवः=धूल रज पैरों से उत्पन्न किए जाते हैं अथवा । पन्नाः=प्राप्त हो कर=उत्पन्न हो कर शेरते=लेटती है । पंसनीयाः=ध्वंसनीयाः=नष्ट किए जाने योग्य=हटाए जाने योग्य होते हैं [शिर से, शरीर से,] अथवा ॥ १६ ॥

भाष्य—महाभारत, शान्ति पर्व अ० ३५१ का श्रगला प्रसङ्ग विष्णु की माया के समझने में सहायक हो सकता है, अतः उद्धृत किया जाता है—

आकाशगङ्गागतश्च पुरा भरद्वाजो महर्षिरुपास्पृशत त्रीन् क्रमान् क्रमता विष्णुनाऽभ्यासादितः । स भरद्वाजेन सलक्षणैः पाणिनोरसि ताडितः सलक्षणोरस्कः संवृत्तः ।

भरद्वाज का सलक्षण पाणि जानना चाहिए ॥ १५ ॥

विश्वानरो व्याख्यातः । तस्यैव निपातो भवत्येन्द्रचामृचि ॥ २० ॥

अर्थ—१२. विश्वानरः । विश्वानर [निरुक्त ७ । २१] व्याख्या किया गया । उस का यह निपात होता है, ऐन्द्री ऋक् में ॥ २० ॥

विश्वानरस्य वृस्पतिमनानतस्य शर्वसः ।

एवैश्च चर्षणीनामृती हुवे रथानाम् ॥ [ऋ० = । ६८ । ४ ॥]

विश्वानरस्यादित्यस्य । अनानतस्य । शर्वसो महतो वलस्य । एवैश्च कामैरयनैरवनैर्वा । चर्षणीनां मनुष्याणाम् । ऊत्या च पथा रथानाम् । इन्द्रमस्मिन्यज्ञे ह्वयामि ।

वरुणो व्याख्यातः । तस्यैवा भवति ॥ २१ ॥

अर्थ—(विश्वानरम्य)-आदिभ्यम्य=आन्तिव के (अन् आनतस्य) नहीं [गिमी ज य ज्याति म] भुगाण गण के (शरस) महा वन क (पतिम्) पति (य) तुम को (एवै च) वाचनाओं, गतिषा जपवा रणषों के निमित्त म (चर्षणीनाम्) मनुष्या के (ऊती) ऊत्या च पथा=शोर मार्ग म (रथानाम्) रथों क (हुव) बुझावा हू [इद्र को] अस्मिन् यज्ञे=इम यज्ञ म ।

१३ वरुण । [निरुक्त १० । ३] व्याख्या किया गया । उम की यह [अक्] होती है ॥ २१ ॥

भाष्य -पे-द्री अक् में स्पष्ट अर्थ है--हे मरुद्वय तुम्हारे स्वामी इद्र को आदित्य के न मुझे महा वन के तुल्य बनवाली है ना, उस को मनुष्यों की कामनाओं के साथ रथों के भाग क इस यज्ञ म, मैं प्रियम ग बुझावा हू ।

आधिभौतिक पद में प्रियम कौन है, यह जानना चाहिए ॥ २१ ॥

येनां पात्रक चक्षसा भुरग्यन्तं जनों अनु । त्वं वरुण पश्यसि ॥

[ऋ० १ । १० । ६ ॥]

भुरग्यु इति क्षिप्रनाम । भुरग्यु शकुनि । भूरिमध्यान नयति । स्वर्गस्य लोकस्यापि वोढा । तत्सम्पत्ती भुरग्यु । अनेन पात्रक । ध्यानेन । भुरग्यन्त जनों अनु । त्वं वरुण पश्यसि । तत्ते वय स्तुम इति वास्यशेष । अपि वोत्तरस्याम ॥ २२ ॥

अर्थ—(येन) जिम म (पात्रक) हे पवित्रकता (चक्षसा) अनुग्रह रूप दर्शन से (भुरग्यन्तम्) क्षिप्र गति और स्तुति करने वाले को (जनान् अनु) जना के मध्य म से (त्वम्) तू (वरुण) हे वरुण (पश्यसि) अनुग्रह करना है [उस की हम स्तुति करने हे ।]

भुरग्यु यह क्षिप्र का नाम [है ।] भुरग्यु=अति क्षिप्र नामी शकुनि =वृत्ती [है ।] भूरिम् अध्यानम्=बड़े लम्बे मार्ग को • पति=ले जाता है । स्वर्ग लोक की भी अभिवहन करने वाला [सुपण है ।] उस के सम्पत्ती साथ जाने वाला [अग्नि चयन करने वाला] पुरुष भुरग्यु [है ।] इम कारण से हे पवित्रकर्ता, ध्यानन=[इस पवित्रकारी] दर्शन

से भुरग्यन्तम् जनान् अनु=जाते हुए को अपने जनों के पीछे, तू हे वरुण अनुग्रह करता है, उस तेरे [दर्शन की] हम स्तुति करते हैं, यह वाक्य शेष [है] अथवा उत्तर [ऋक्] में इस का अन्वय है ॥ २२ ॥

भाष्य—वरुण की स्तुति से मनुष्य पवित्र होता है। उस के पापकर्म समाप्त होते हैं। ईश्वर का यह नाम अपने ही गुण लिए हुए है ॥ २२ ॥

येनां पावकं चक्षसा भुरग्यन्तं जनां अनु । त्वं वरुण पश्यसि ।
वि द्यामपि रजस्पृथ्वहा मिमानो अस्तुभिः । पश्यन्नमानि सूर्य ॥
[ऋ० १। १०। ६, ७ ॥]

व्येपि द्यां रजश्च पृथु । महान्तं लोकम् । अद्धानि च मिमानो-
ऽऽस्तुभी रात्रिभिः सह । पश्यन्नमानि जातानि सूर्य । अपि वां
पूर्वस्याम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस दृष्टि से हे पवित्र कारक वरुण अपने जनों के पीछे गति करते हुए को तू देखना है, [उस दृष्टि से तू] (द्याम्)=द्यौ को (वि अपि) विविध प्रकार से जाते हो, (रजः पृथुः) [और] विस्तृत अन्तरिक्ष को, (अद्वा) दिनों को (मिमानः) बनाते हुए (अस्तुभिः) रातों के साथ । (पश्यन्) देखते हुए (जन्मानि) जन्म वालों को (सूर्य) हे सूर्य ।

विविध प्रकार से जाते हो द्यौ को और विस्तृत अन्तरिक्ष महान् लोक को । दिनों को बनाते हुए रात्रियों के साथ । देखते हुए जन्मे हुएों को हे सूर्य । अथवा पूर्व [ऋक्] से अन्वय [है] ॥ २३ ॥

येनां पावकं चक्षसा भुरग्यन्तं जनां अनु । त्वं वरुण पश्यसि ।
प्रत्यङ् देवानां विशां प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् । प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥
[ऋ० १। १०। ६, ५ ॥]

प्रत्यङ्ङिदं सर्वमुदेपि । प्रत्यङ्ङिदं सर्वमभिविपश्यसीति । अपि
वैतस्यामेव ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस दृष्टि से हे पवित्र कारक वरुण अपने जनों के पीछे गति करते हुए को तू देखता है, [उस दृष्टि से तू] (प्रत्यङ्) सम्मुख हो कर (देवानां

विश्व) दब प्रजाओं के सम्मुख हो कर मनुष्या के (उद्वेपि) उदय होने हो (मत्स्यङ् विश्वम्) सम्मुख सब के (स्व') ह मूर्ध (दृशे) दखने के लिए ॥

मम्मुख इस सब के उदय होने हो । मम्मुख इस सब के हो कर देखने हो । अथवा इमी [ऋक्] म अन्वय है ॥ २४ ॥

येना पावक चर्चमा भुरण्यन्तं जनाँ अर्नु । त्वं वर्ण्य पश्यसि ॥

[ऋ० १। १०। ६ ॥]

तन नो ज्ञानभिरिपश्यसि ।

वेशी । पशा रश्मय । तैस्तद्भान् भवति । काशनाद्वा । प्रकाश-
नाद्वा । तस्यैवा भवति ॥ २५ ॥

अर्थ—जिन दृष्टि से हे वरण तू देखता है, उनी दृष्टि से हमार जना
को तू दखना है, अर्थान् देख ।

१४ कशी । कशा =रश्मिया [ह ।] उन स उन वाया होता है ।
दीप्ति म अथवा । प्रकाशन स अथवा । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २५ ॥

केर्यर्षि केशी विपं केशी विमर्ति रोदसी ।

केशी विश्वं स्वर्देशे केशीद ज्योतिरुच्यते ॥

[ऋ० १०। १३६। १ ॥]

केर्यर्षि च विप च । विपम् इत्युदकनाम । विष्णुते । [विपूर्वस्य
स्नान शुद्धार्थस्य ।] विपूर्वस्य वा सचत । द्यागपृथिव्यौ च
धारयति । केशीद सर्वमिदमभिरिपश्यति । केशीद ज्योतिरुच्यते
इत्यादित्यमाह ।

अथाप्येत इतर ज्योतिषी केशिनी उच्यते । धूमेनाग्नी रजसा च
मध्यम । तयोरेषा साधारणा भवति ॥ २६ ॥

अर्थ—(केशी) मूर्ध (अग्निम्) अग्नि को (केशी) तूर्ध (विग्म्)
उदक को (कशी) मूर्ध (विमर्ति) धारण करता है (रोदसी) द्यावा

पृथिवी को । (केशी) सूर्य (विश्वम् स्वः) सारे जगत् को (दृशे) देखने को=देखता है (केशी) सूर्य (इदम्) यह (ज्योतिः) आदित्य (उच्यते) कहाता है ॥

केशी अग्नि को और उदक को और । विपम् यह उदक का नाम [है ।] विष्णाति से । वि पूर्वक नाति से शुद्धचर्थ वाले से । वि पूर्वक अथवा सचति से=लग जाता है । चावापृथिवी जो और धारण करता है । केशी इम सब को इस [जगत्] को देखता है । केशी यह ज्योतिः=आदित्य कहाता है । यह कहा ।

और भी ये दूसरे दोनों ज्योति [अग्नि और मध्यम] केशिनी कहे जाते हैं । धूम से अग्निः । रजः से और मध्यम [वायु ।] उन दोनों की यह सांझी [ऋक्] होती है ॥ २६ ॥

भाष्य—जितने पदार्थ चावापृथिवी को धारण करते हैं, उन सबका पृथक् अध्ययन अपेक्षित है । विप किस प्रकार का उदक है, इस का सूक्ष्म विवेचन करना चाहिए । धूम=भाप के कारण यह अग्निः केशी है, और रजः के कारण वायु । मध्यम स्थान के रजः का गम्भीर ज्ञान भी करना चाहिए ॥ २६ ॥

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वर्षे एक एषाम् ।

विश्वमेको अभि चक्षे शचीभिर्भ्राजिरेकस्य दृशे न रूपम् ॥

[ऋ० १ । १६४ । ४४ ॥]

त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते कालेकालेऽभिविपश्यन्ति । संवत्सरे वर्षे एक एषामित्यग्निः पृथिवीं ददति । सर्वमेकोऽभिविपश्यति कर्मभिरादित्यः । गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य ॥

अथ यद्गश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति । वृषाकम्पनः । तस्यैवा भवति ॥ २७ ॥

अर्थ—(त्रयः) तीन (केशिनः) केशों वाले (ऋतुथा) काल में काल में (वि चक्षते)=अभिविपश्यन्ति=देखते हैं । (संवत्सरे) वर्ष में (वर्षे) पकाता है ददति=जलाता है (एकः) [अग्निः] (एषाम्) इन [तीनों में] से । (विश्वम्)=सर्वम्=इस सब [जगत्] को (एकः) एक

[आदित्य] (अग्नि चण्डे) चारो ओर न इच्छता है (शुचीभिः) = कर्मभिः
= ज्ञान विभिन्न कर्मो न । (धादित्) गति (एकस्य) एक [धातु] की
(इदृश) = इदृश्यत = दिवाई इती है, नही (रूपम्) रूप ।

११ वृषाकपि । अब जब रश्मिभिः = रश्मियां न अग्निप्रकम्पयन् =
चारो ओर न करता हुआ [सूर्य] एति = प्राप्त हुआ है, तब वृषाकपि होता
है । वृषा = बरतान वाला कम्पन-कानन वाला । उस की यह [श्रु]
हमो है ॥ २७ ॥

भाष्य—सर्वसर यत । सर्वं भा में एक कर भूगर्भ में उदया अग्नि
ऊपर निकल कर पृथिवीत्वक् को पकता है । इस तथ्य का सुन्दर व्याख्यान
जैमिनि ब्राह्मण में है—

प्रज्जगतिर्हं खलु वा एष परस्परस्य । स ह यन्नासोऽन्वतमन्य
तर पादम् उद्ग्राह तिष्ठति । स यदोष्णम् उद्गृह्णात्यथ हेदम् उपर्युष्यो
नरति । अथ उ ह तदा शीतो भवति । तस्माद् धीष्म उपर्युष्यो
ऽधश्शीतम् अग्निगमयत । तस्माद् धीष्म शीता, कृप्या अप उदा
हन्ति । १ । ११० ॥

विश्वमेको अग्निचण्डे शुचीभिः । यास्क विस्तार है—कर्मभि
रादित्य ।

अथात्—आदित्य अपने कर्म से । सूर्य के कर्म विविध हैं । अन्वेद करता
है—मध्य कर्तोरितत सज्जमार । अथात् कम क मध्य में विस्तृत रश्मियों को
सूर्य सहार करता है । कम की अद्भुत व्याख्य वैरागिक दर्शन में मिलती है ।
वर्तमान वाचस्पत्य विज्ञान में कर्म को energy सजा दी गई है । यह पृथक् पुष्प
नहीं । २० ॥

पुनर्गर्हं वृषाकपे सुविता कल्पयावहे ।

य एष स्वप्ननशनोऽस्तमेपि पथा पुनर्विचस्मादिन्द्रो उत्तरः ॥

[श्रु० १० । २१ । २१ ॥]

पुनर्गर्हं वृषाकपे । सुपम्भानि यं कर्माणि कल्पयावहे । य एष
स्वप्ननशन । स्वप्नाप्राशयति । आदित्य उदयन । सोऽस्तमेपि पथा
पुन । सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमतद् धूम आदित्यम् ।

यसो व्याख्यात । तस्यैवा भवति ॥ २२ ॥

अर्थ—(पुनः एदि) फिर आओ (वृषाकपे) हे वृषाको [अस्त होते समय के सूर्य] (सुविता) [जिस से] सुन्दर विहित कर्म (कल्पयावद्दै) [तुम और हम, तुम्हारे उदित होने पर] कर सके । (य एवः) जो यह (स्वप्नंशनः) [तुम उदय से स्वप्नों के नाशक] (अस्तम् एपि) अस्त को प्राप्त हो रहे हो (पथा पुनः) मार्ग से फिर, सब में इन्द्र उत्कृष्टतर [है ।]

सुविता=सुप्रसूतानि=तुम्हारे [कारण] प्रवृत्त हुए कर्माणि=कर्मों को कल्पयावद्दै—हम दोनों साध सके । स्वप्नों को=निद्रा को नाश करता है आदित्य उदय से वह तुम अस्त को प्राप्त होते हो मार्ग से पुनः । सब से जो इन्द्र उत्कृष्टतर है, उस को यह कहते हैं, आदित्य को ।

१७. यमः । यम [निरुक्त १० । १९ में] व्याख्या किया गया [है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २८ ॥

भाष्य—वृषाकपि पद का व्याख्यान बृहद्देवता २ । ६७, ६८ में है । वह यास्क के व्याख्यान के अनुसार ही है । गोपथ ब्राह्मण, उ० ६ । ११ में प्रवचन है—

तद्यत् कम्पयमानो रेतो वर्पति तस्माद् वृषाकपिः ।

अस्त होता हुआ सूर्य कम्पमान रश्मियों के कारण कम्पन करता हुआ आता है, यह तथ्य परीक्षणों द्वारा दिखाया जाना चाहिए । इस का रेतवर्षण अन्वेष्टव्य है ॥ २८ ॥

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः ।

अत्रा नो विश्रुतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥

[ऋ० १० । १३५ । १ ॥]

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे स्थाने । वृत्तक्षये वा । अपि वोपमार्थे स्यात् । वृक्ष इव सुपलाश इति । वृक्षो ब्रश्चनात् । पलाशं पलाशनात् । देवैः सङ्गच्छते यमो रश्मिभिरादित्यः । तत्र नः सर्वस्य पाता वा पालयिता वा पुराणाननुकामयेत् ।

अज एकपात् । अजन एकः पादः । एकेन पादेन पातीति वा । एकेन पादेन पिवतीति वा । एकोऽस्य पाद इति वा ।

एकं पादं नोत्खिदति । [अथ० १२। ४। २२ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । तस्यैव निपातो भवति वैश्वदेव्यामृचि ॥२६॥

अर्थ—(यस्मिन् वृक्षे) जिम वृक्ष म (सुपलाशे) सुन्दर पत्तो वाले म (दरी) रश्मियो के भाय (सम्पियन) सयुक्त होना है (यम) अस्त हुआ सूर्य । (अत्र) यहाँ=वही (न) हमारा (विश्वपति) अधिपति रक्षक (पिता) पालक (पुराणान्) जैसे पुराने [वासियो] को [वैम] (अनु वेनति) कामना कर ।

जिस वृक्ष में सुपलाश स्थान में । [पुण्यआत्माओं से] वरे गए घर में अथवा । अथवा उपमा के अर्थ में होवे । अच्छे पत्तो वाले वृक्ष के नीचे जैसे । वृक्ष=काटने स । पलाशम्=[पत्तो क] झड़ने म । दरी =रश्मिभि. =रश्मियो में युक्त होता है मूय । वहा हम सब का रक्षक अथवा पालक अथवा पुराने [पुण्यकर्मकर्ताआ] की कामना करे ॥

रं= अञ्ज एकधात् । अञ्जन =चलन वाला एक पाद । एक पाद स रक्षा करता है अथवा । एक पाद स [रसो को] पीता है अथवा । एक ही हम का पाद है अथवा ।

(एक पादम्) एक पाव को (न) नहीं (उत् खिदति) ऊपर निचानता [सलिलत्वात्=मलिल रूप समुद्र में ।]

यह भी निगम होता है । उस का यह निपात होता है वैश्वदेवो की ऋक् में ॥ २९ ॥

भाष्य— इस भगवान् रवि की महिमा शान्तिपर्व अ० ३०२ में पाई है—

यस्य रश्मिसदस्रपु शाखास्त्रिंश विहगमाः ।

यसन्त्याधित्य मुक्ष्य ससिद्धा देवते सह ॥ ३ ॥

यही रवि अस्त होते हुए यम का नाम धारता है । सूर्य चरनी रश्मियों से युक्त होता है । सूर्य का रश्मि विसर्जन और रश्मि सयोग किन नियमों के अन्तर्गत होता है, अथवा इस माया में क्या अदृष्ट=भौतिक नियम काम करता है यह तथ्य अन्वेषण योग्य है ।

सूर्य के दो पादों में से एक ही ऊपर को उठता है और दूसरा सलिल में ही रहता है, यह आश्चर्य भी समझना चाहिए ॥ २६ ॥

पार्वीरवी तन्यतुरेकपाद्जो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः ।
विश्वेदेवासः शृण्वन्वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या ॥
[ऋ० १० । ६५ । १३ ॥]

पविः शल्यो भवति । यद्विपुनाति कायम् । तद्वत् । पवीरमायुधम् ।
तद्वानिन्द्रः पवीरवान् ।

अतितस्थौ पवीरवान् ॥ [ऋ० १० । ६० । ३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । तद्देवता वाक् पार्वीरवी । पार्वीरवी च
दिव्या वाक् । तन्यतुस्तनित्री वाचोऽन्यस्याः । अजश्चैकपात् । दिवो
धारयिता । सिन्धुश्च । आपश्च समुद्रियाश्च । सर्वे च देवाः । सरस्वती
च सह पुरन्ध्या । स्तुत्या प्रयुक्तानि । धीभिः कर्मभिर्युक्तानि
शृण्वन्तु वचनानीमानीति ।

पृथिवी व्याख्याता । तस्या एव निपातो भवत्यैन्द्राग्न्यामृचि ॥३०

अर्थ—(पार्वीरवी) दिव्या वाक् (तन्यतुः) फैलाने वाली साधारण
वाक् की, (एकपात्—अजः) अज एकपात् (दिवः धर्ता) जो ची व
धारक, सिन्धुः, आपः जो (समुद्रियः)=अन्तरिक्ष में होने वाले, (विः
देवासः) सारे देव (शृण्वन्) सुनें (वचांसि मे) वचनों को मैं
(सरस्वती) [और] सरस्वती (सह पुरन्ध्या) साथ पुरन्धि
(धीभिः) [यज्ञरूप] कर्मों से युक्त [मेरे वचनों को ।]

पविः, शल्य होता है । यत्=जिस कारण=क्योंकि विपुनाति=फाट
है कायम्=शरीर को । वैसे पवीर आयुध [है ।] उस वाला इन्द्र पर्व
वान् [कहता है ।]

ऊपर=दवा कर स्थित हुआ पवीरवाला [=इन्द्रः ।] यह भी निगम
है । तत्-देवता=उस [=पवीरवान् इन्द्र] देवता वाली वाक् पार्वीरवी [
पार्वीरवी और दिव्या वाक् [है ।] तन्यतुः=तनित्री=फैलाने वाली व

को दूनरी की । अज और एकपात् । घो का धारक । सिधु और । आन और समुद्र की । मारे और इव । मरस्वनो और नाथ पुरन्धि क । स्तुति द्वारा बान् ए, धीभि=कनी त युक्त । मुने वचनो को इन को ।

२६. पृथिवी । [निरुक्त १ । १३ ॥ ११ । ७] म व्याख्या की गई । [महा धी अर्ध म है ।] उन का यह निगत होता है इन्द्र और अग्नि [देवता बानी] श्रुक् म ॥ ३० ॥

भाष्य—दिन्या शक् के अरथ साधारण शक् कैस फैलतो है इस अरथ ज्ञान मुने अभी नहीं हो सख । इन्द्र का पवीर कैसा है, इस का भी ज्ञान करना चाहिए । म्भक्त त्रिवृत् हो । त्रिवृत् पत्र का जान भी है ॥ ३० ॥

यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्या मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः ।

अतः परि वृषणावा हि पातमथा सोमस्य पिवतं सुतस्य ॥

[श्रु० १ । १०० । १० ॥]

इति सा निगदन्वाख्याता ।

समुद्रा व्याख्यात । तस्यैव निपातो भवति पावमान्यामृचि ॥ ३१ ॥

अथ - (यत्) यदि (इन्द्राग्नी) है इन्द्राग्नी [तुम दोनों] (परमस्याम्) उरमा (पृथिव्याम्) पृथिवी अथान् ली मे, (मध्यमस्याम्) मध्यमा-अन्तरिक्ष हना [पृथिवी म] (अवमस्याम्) अवमा जथात् इनी पृथिवी म (उत) अथवा (स्थ) हो, (अत) इत स्थान उ (परि) मव और म (वृषणो) है कामनाओ क बरसान वाली (आपातम्) [हमार ममीप] आओ (अथ) तदनु (सोमस्य) मोम का (पिवतम्) पान करो (सुतस्य) त्रिवो का ॥

यह वह स्पष्ट पाठपात्र म व्याख्यात [है ।]

२० समुद्र । [निरुक्त २ । १० म] व्याख्यात [है ।] उन का यह निगत होता है पवमान की श्रुक् म ॥ ३१ ॥

भाष्य—सायण ने श्रुभाष्य में तीनों वाकों क बिप् पृथिवी पद क प्रयोग का दूसरा उदाहरण वै० सं० १ । २ । १२ । ३ स दिया है ॥ ३१ ॥

पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितृषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम् ।

महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेत्कुर्युरुणोप्वारभम् ॥

[ऋ० ६ । ७३ । ३ ॥]

पवित्रवन्तो रश्मिवन्तो माध्यमिका देवगणाः पर्यासते [माध्यमिकां वाचम् ।] मध्यमः पितृषां प्रत्नः पुराणोऽभिरक्षति व्रतं कर्म । महः समुद्रं वरुणस्तिरोऽन्तर्दधाति । अथ धीरा शक्नुवन्ति धरुणेपूदकेषु कर्मणो आरभमारब्धुम् ।

अत्र एकपाद् व्याख्यातः । पृथिवी व्याख्याता । समुद्रः व्याख्यातः तेषामेव निपातो भवत्यपरस्यां बहुदेवतायामृचि ॥ ३२ ॥

अर्थ—(पवित्रवन्तः) रश्मियों वाले (परि आसते) चारों ओर बैठते हैं (वाचम्) माध्यमिका वाक् को [घेर कर] । (पिता एवाम्) पिता इन का (प्रत्नः) पुराना (अभिरक्षति) रक्षा करता है (व्रतम्) अपने कर्म की । (महः) महान् (समुद्रम्) अन्तरिक्ष को (वरुणः) वरुण ने (तिरो दधे) अन्तर्धान किया=छिपाया । (धीराः) धीर कर्म कर्ता (इत्) ही (शेकुः) समर्थ हुए (धरुणेषु) उदकों में (आरभम्) आरम्भ करने को ॥

पवित्रवन्तः=रश्मियों वाले माध्यमिक देवगण । पर्यासते=चारों ओर बैठते हैं माध्यमिका वाक् को । पिता इनका पुराना, रक्षा करता है व्रत=कर्म को । महान् समुद्र को वरुण छिपा देता है । तब धीर समर्थ होते हैं, उदकों में कार्य के आरम्भ करने को ।

अत्र एकपात् । [निरुक्त १२ । २९ में] व्याख्या किया गया । पृथिवी [निरुक्त १ । १३ ॥ ११ । ३७ में] व्याख्या की गई । समुद्र [निरुक्त २ । १० में] व्याख्या किया गया । उन का यह निपात होता है, अपरा=एक दूसरी बहुदेवता वाली ऋक् में ॥ ३२ ॥

भाष्य—माध्यमिक देवगणों का पिता वा रक्षक वरुण अन्तरिक्ष के समुद्र को छिपा देता है । अतः भौतिक अर्थ में वरुण अति व्यापक पदार्थ है । सम्पूर्ण देवी कर्म उदकों में आरम्भ होते हैं ॥ ३२ ॥

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः ।

वश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवनु ॥

[ऋ० ६ । २० । १४ ॥]

अपि च नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोतु । अजरचैरुपात् । पृथिवी च । समुद्रश्च । सर्वे च देवा । सत्यवृधो वा । यशुध्वो वा । हुयमाना मन्त्रैः । स्तुता मन्त्रा कविशस्ता अवनु । मधाविशस्ता ।

दध्यङ् । प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा । प्रत्यक्तमस्मिन्ध्यानमिति वा ।

अधर्मा व्याख्यात । मनु मननात् । तपामप निपातो भयत्यन्द्रशा मृचि ॥ ३३ ॥

अर्थ—(उत) और भी (न) हम (अहिर्बुध्न्य) अहिर्बुध्न्य (शृणोतु) मुने । अज एकपात् पृथिवी [और] समुद्र । मारे देव (ऋतावृध) मत्स्य वा यज्ञ के बदान वा न (हुवाना) बुलाए गए [मन्त्रों द्वारा] । (स्तुता मन्त्रा) स्तुति किए गए मन्त्र (कविशस्ता) मेधाविधियों से कहे गए (अवनु) रक्षा करें [हमारी] ।

और भी हमे अहिर्बुध्न्य मुने अज एकपात् और पृथिवी और समुद्र और सारे देव और मत्स्यवर्षक अथवा यज्ञवर्षक अथवा बुलाए गए मन्त्रों द्वारा, स्तुति किए गए मन्त्र, मेधाविधियों से कहे गए रक्षा करें [हमारी ।]

२१ दध्यङ् । प्रति+अक्त ध्यानम्=ध्यान के प्रति गया हुआ अथवा । गया हुआ हम के प्रति ध्यान अथवा ।

२२ अधर्मा । [निरुक्त ११ । १८ म] व्याख्या किया गया ।

२३ मनु । मनन से ।

उन वा यह निपात होना है, इन्द्र दयता वाली ऋक म ॥ ३३ ॥

भाष्य—हुवाना । मन्त्रों द्वारा बुलाए गए देव । देव भौतिक पदार्थ हैं । मन्त्रों की वाक् भी भौतिक है । यज्ञ म उस वाक् का प्रयोग अपना प्रभाव देवों में भौतिक नियमों द्वारा उत्पन्न करता है । भौतिक नियमों के अनुसार ही अथवा अस्वर्ग के

प्रभाव से चुम्बक खेंचता है लोहे को । वैशेषिक सूत्र में अदृष्ट परिभाषा इन भौतिक नियमों के लिए ही प्रयुक्त हुई है ॥ ३३ ॥

यामथर्वा मनुष्विप्ता दध्यङ् धियमतनत ।

तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चननु स्वराज्यम् ॥

[ऋ० १ । ८० । १६ ॥]

यामथर्वा च । मनुश्च पिता मानवानां दध्यङ् च । धियमतनिपत । तस्मिन्ब्रह्माणि कर्माणि पूर्वेन्द्र उक्थानि च सङ्गच्छन्ताम् । अर्चन्योऽनू-
पास्ते स्वाराज्यम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—(याम्) जिस को (अथर्वा) अथर्वा ने (मनुः पिता) [और प्रजाओं का] पालक मनु ने (दध्यङ्) [तथा] दध्यङ् ने (धियम्) कर्म को (अन्नत) फैलाया । (तस्मिन्) उस [कर्म] में (ब्रह्माणि) हवि-
राख्य अन्न (पूर्वथा) [और] पूर्व दिनों में (इन्द्रे) इन्द्र में (उक्था) स्तुतियां (सम् अग्मत) संगत हुईं, (अर्चन्) [जो इन्द्र] पूजा करता हुआ (स्वराज्यम्) अपने राज्य को ॥

जिस को अथर्वा ने और, पालक मानवों के मनु ने, दध्यङ् ने और कर्म को फैलाया । उस [कर्म] में यज्ञ कर्म, [और] पहले इन्द्र में की गई स्तुतियां संगत हुईं । पूजा करता हुआ जो [इन्द्र] और उत्तर काल में पालक हुआ अपने राज्य को ॥ ३४ ॥

भाष्य—अथर्वा, मनु और दध्यङ् पर स्कन्द स्वामी ने लिखा है—

एते त्रय आदित्यतेजोऽवस्थाविशेषाः । आदित्य मण्डल में आग्नेय परमणुओं के पृथक्-पृथक् संयोग-विभाग के कारण ये भौतिक पदार्थ अपना-
अस्तित्व बनाए हुए हैं । स्कन्द पुनः लिखता है—अथवा ऽथर्वादय आदित्य-
सहचारिण ऋषयः ॥ ३४ ॥

अथातो द्युस्थाना देवगणाः ।

तेषामादित्याः प्रथमागामिनो भवन्ति । आदित्या व्याख्याताः ।
तेषामेषा भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ—अब सुस्थान जाने देवगण [कहे जाते हैं ।]

उन मे से आदित्य [सारे] प्रथमागामी होते है ।

२४ आदित्या । [निरुक्त २। १३ म] व्याख्या किए गए । उन की यह [श्रुक्] होती है ॥ २५ ॥

इमा गिरं आदित्येभ्यो घृतस्नुः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि ।

शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुदिज्ञानो वरुणो दक्षो अंगः ॥

[ऋ० २। २७। १ ॥]

घृतस्नुर्वृतप्रस्ताग्निभ्य । घृतप्रस्ताविण्य । [घृतसानिभ्य । घृतसारिण्यः] इति वा । आहुतीरादित्येभ्यश्चिर जुह्वा जुहोमि । [चिर जीवनाय ।] चिर राजभ्य इति वा । शृणोतु न इमा गिरौ मित्रधार्यमा च भगश्च बहु नानश्च धाना दक्षो वरुणोऽशश्च । अशोऽशुना व्याख्यात ।

सर्वे ऋषयो व्याख्याता. । त्वामेवा भरति ॥ ३६ ॥

अर्थ—(इमा) ये (गिर) वाणिजा=स्तुतिया (आदित्यभ्य) आदित्या क लिए (घृतस्नु) घृत के बहाने धालिया (सनात्) चिर काल से (राजभ्य) राजाओं के लिए (जुह्वा) जुहू [फत्र] से (जुहोमि) होमता हूँ । मुने मित्र, अर्यमा, भग, (न) हमारी [इन स्तुतियों को ।] (तुविज्ञान) प्रभूत रूप में प्रकट होने वाला, वरुण, दक्ष और अंग [भी मुने ॥]

अर्यमा और, भग और, बहु प्रकार से प्रकट होने वाला धाता, दक्ष, वरुण, अंग और । अश = अंशु मे [निरुक्त २। ५ म] व्याख्या किया गया [है ।]

२५ सप्त ऋषयः । [निरुक्त ४। २६ तथा २। ११ म दोनो पद पृथक् रूप से] व्याख्यात [हैं ।]

उन की यह [श्रुक्] हेमी है ॥ ३६ ॥

भाष्य—द्वौ में मित्र आदि की सत्ता है । पार्थिव मानवों ने भी इन के नाम पर अपने नाम रखे । घृत=यद् आपः का स्नेहांश है । यही स्नेह पार्थिव वनस्पतियों आदि में तैल भाव को उत्पन्न करता है । ओषधि और वनस्पति आदिकों में तैल का अंश आकाश से ही वर्षा द्वारा आ कर विभिन्न रूप ग्रहण करता है ॥ ३६ ॥

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।

सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥

[यजुः ३४ । ५५ ॥]

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे । रश्मय आदित्ये । सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । संवत्सरमप्रमाद्यन्तः । सप्तापनास्त एव स्वपतो लोकमस्तमितमादित्यं यन्ति । तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ । वाय्वादित्यौ । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम् । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे । पण्डिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी । आत्मनि । सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । शरीरमप्रमाद्यन्ति । सप्तापनानीमान्येव स्वपतो लोकमस्तमितमात्मानं यन्ति । तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ । प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्च । इत्यात्मगतिमाचष्टे । तेपामेवाऽपरा भवति ॥ ३७ ॥

अर्थ—सात ऋषि (प्रतिहिताः) स्थापित किए गए हैं शरीर में, सात रक्षा करते हैं (सदम्) सदा ही (अप्रमादम्) प्रमाद रहित हो कर । सात (आपः) व्याप्त हो कर (स्वपतः) सोते हुए के (लोकम्) लोक को (ईयुः) प्राप्त होते हैं । वहां (जागृतः) जागते हैं (अस्वप्नजौ) न सोने वाले (सत्रसदौ) यज्ञ में बैठे हुए और दो देव ॥

सात [प्रधान] रश्मि रखे हैं आदित्य में । सात रक्षा करते हैं, सदम् संवत्सरम्=संवत्सर को न प्रमाद करते हुए । सात आपनाः व्याप्त होने वाले, वे ही सोते हुए के लोक को अर्थात् अस्त हुए आदित्य को प्राप्त होते हैं । वहां जागते हैं, न सोने वाले यज्ञ में बैठे हुए और दो देव अर्थात् वायु और आदित्य, यह अधिदैवत [व्याख्या है ।]

अव अध्यात्म=मनुष्य शरीर सग्वन्धी [व्याख्या]—सात=छः इन्द्रियां, विद्या=बुद्धि, सातवीं आत्मा में=शरीर में । सात रक्षा करते हैं शरीर को,

न प्रमाद करने हुए । सात आपनानि, य ही व्यापने बान सोते हुए के लोक को अस्त हुए-सोए शरीर को प्राप्त होने है । वहा जागने ह न सोने बाल यज्ञ मे बैठे हुए और दो देव=प्राज्ञ आत्मा-बुद्धि तत्त्व और तैजस=जीवात्मा ।

यह आत्मगति को कहता है । उन की यह दूसरी [ऋक्] होनी है ॥ ३० ॥

भाष्य—एक ही ऋक् के दो अर्थों की प्रकाशमयी धृष्ट इस वास्कीय व्याख्यान में उपलब्ध होती है । बिना परम्परागत अर्थ के ज्ञान के यह महान् ज्ञान मलयच नहीं हो सकता । अस्त हुआ=सोता हुआ ॥ ३० ॥

तिर्यग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् ।

अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥

[अथ० १० । ८ । ६ ॥]

तिर्यग्विलश्चमस ऊर्ध्वगन्धन । ऊर्ध्वबोधनो वा । यस्मिन्यशो निहित सर्वरूपम् । अत्रासत ऋषयः सप्त सहादित्यरश्मयः । ये अस्य गोपा महतो बभूवुः । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम् । तिर्यग्विलश्चमस ऊर्ध्वगन्धन । ऊर्ध्वबोधनो वा । यस्मिन्यशो निहित सर्वरूपम् । अत्रासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि । पान्यस्य गोपाणि महतो बभूवुः । इत्यात्मगतिमाचष्टे ।

देवा ध्याख्याता । तजामेषा भवन्ति ॥ ३८ ॥

अर्थ—(तिर्यक्विल) तिरछे रश्मि निकलने के छेद वाला (चमस) चमस (ऊर्ध्वबुध्न) ऊपर डढी=अधार वाला (यस्मिन्) जिस मे (यश) यश (निहितम्) स्थित है (विश्वरूपम्) बहु प्रकार का । (अत्र) यहा (अत्रासत) बैठते हैं ऋषि मात (साकम्) इकट्ठे हो कर, (ये) जो ऋषि (अस्य) इस [आदित्य मण्डल] के (गोपा) रक्षक (महत) महान् [मण्डल] के (बभूवुः) हुए ॥

तिरछे बिल=रश्मि निकलने के छिद्र वाला ऊर्ध्वगन्धन ऊपर बन्नन वाला, ऊपर बोधन=ज्ञान कपने वाला, जिस मे यश=उदक रखा है सब

प्रकार का । [निघण्टु १। १२ में यशः, उदक नामों में है] यहां टहरते हैं ऋषि सात=इन्द्र के आदित्य रश्मि । जो ऋषि=रश्मि इस [आदित्य के] रक्षक महान् के हुए । यह अधिदेवत [पक्ष है ।]

अव अध्यात्म [पक्ष]—तिरछे छेदों वाला शरीर ऊपर बुद्धि इन्द्रियों वाला, जिस में यश सब प्रकार का टहरा है । यहां [शरीर में] ऋषि सात हैं=साथ इन्द्रियां । जो [इन्द्रियां] इस की रक्षक महान् की हैं । यह आत्मगति को कहता है ।

२६. देवाः । [निरुक्त ७। १५ में] व्याख्या किए गए । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ३८ ॥

भाष्य—उदक ही यश है । आदित्य का सारा यश उस का उदक है । उदक विश्वरूपः=बहु रूप है । यह पृथक् विज्ञान है । पाश्चात्य वैज्ञानिकों को अभी उदक का helium रूप ही ज्ञात हुआ है । रश्मि तिरछे जाते हैं । ये रश्मि ही आदित्य के गोला हैं । शरीर के रक्षण करने वाली इन्द्रियां हैं ॥ ३८ ॥

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम् ।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवस ॥
[ऋ० १। ८६। २ ॥]

देवानां वयं सुमती कल्याणयां मतावृजुगामिनामृतुगामिनामिति वा । देवानां दानमभि नो निवर्तताम् । देवानां सख्यमुपसीदेम वयम् । देवा न आयुः प्रवर्द्धयन्तु चिरं जीवनाय ।

विश्वे देवाः । सर्वे देवाः । तेषामेषा भवति ॥ ३६ ॥

अर्थ—(देवानाम्) देवों की (भद्रा) कल्याणी (सुमतिः) सुन्दर मति (ऋजूयताम्) सरल गति वालों की (देवानाम्) देवों का (रातिः) दान (अभि नः निवर्तताम्) हमारी ओर लौटे । (देवानाम्) देवों के (सख्यम्) सख्य को (उपसेदिम) प्राप्त हों (वयम्) हम । (देवाः) देव (नः) हमारा (आयुः) आयु (प्रतिरन्तु) बहुत बढ़ाएं, (जीवसे) चिर जीवन के लिए ॥

देवो की हम सुमनी=कल्याणी मणि म, सरल गति वानो की
ऋतुगामिनाम्=ऋतु ऋतु मे अन वानों की अथवा । देवा वा दान हमारे
प्रति लोते । देवो के सस्य को उपसीदेम=प्राप्त हो हम । दव हमारे अशु को
बहुत बढ़ाए, चिर तक जीने के लिए ।

२७ विश्वे देवा । सारे देव । उन की यह [ऋक्] होती है । ६ ॥

ओमासर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत । दाधोसो दाशुषः सुतम् ॥
[ऋ० १ । ३ । ७ ॥]

अवितारो वा । अचनीया वा । मनुष्यधृत सर च देवा इदागच्छत ।
यत्तन्तो दत्तवत सुतमिति ।

तदेतदकमेव वैश्वदेव गायत्र तृच दशनथीषु विद्यत । यत्तु किंजिद्
बहुर्द्वयं तद्वैश्वदेवाना स्थाने यज्यत । यदेव विश्वलिङ्गमिति शाक्पूणि ।
अनत्यन्तगतस्त्वय उद्दशो भवति । यधरेक [ऋ० १ । २६] । इति
दश द्विपदा अलिङ्गा । भूनाश काश्यप आश्विनम् [ऋ० १० । १०६]
एकलिङ्गम् । अभितर्षीय सूतम् [ऋ० ३ । ३२] एकलिङ्गम् ।

साध्या देवा । साधनात् । तेषामवा भवति ॥ ८० ॥

अर्ध—(ओमास) हे रक्षा करने वाले (चर्षणीधृत) हे नरों के
धारको (विश्व देवास) हे सारे देवो (आ गत) आओ । (दाध्यास)
तुम दान देने वाले (दाशुष) यत्र करने वाने यजमान क (सुतम्)
निचोडे सोम [क प्रति आओ ।]

रक्षा करने वाले अथवा । अचनीया-तर्षण=तृप्त करने योग्य अथवा ।
मनुष्यो की धारण करन वान सारे सौर देवो यहा आओ । तुम दान दन
वान सुतम्-निचोडे हूण सोम को ।

तो यह एक ही विश्वदेवा का गायत्री छन्द वाला तृच दश मन्त्र
युक्ता आर्ध सहिताओ मे विद्यमान है । यत् तु=रि तु जो कोई ब्रूत
देवनाओं वाना [मन्त्र समुदाय हो] वह विश्वदेवा वाल मन्त्रों क स्थान
मे प्रयुक्त होता है । [परन्तु] जो ही विश्व [मन्त्र हन] लिङ्ग वाना हो
[वही मन्त्र समुदाय वहा प्रयुक्त हो यह] शाक्पूणि का [मत है ।]

[यास्क का उत्तर है ।] अन्-अत्यन्तगतः=नहीं पूर्ण सीमा तक पहुँचने वाला, एषः=यह उद्देशः=सिद्धान्त अथवा प्रतिज्ञा है । वभ्रुरेकः [ऋ० २ । २९ में] विना लिङ्ग वाला सूक्त है । ये दस द्विपदा हैं, अलिङ्गा हैं । भूतांश कश्यप के पुत्र ने एक लिङ्ग वाला [ऋ० १० । १०६ सूक्त देखा ।] [तथा च] अगितष्टीय [ऋ० ३ । ३८] सूक्त एक लिङ्ग वाला है [अर्थात् एक मन्त्र में ही देवता का निर्देश है] [फिर भी पूरा सूक्त छत्री न्याय से उस लिङ्ग वाला माना जाता है ।]

२८. साध्या देवाः । साधने से । उन की यह [ऋक्] होनी है ॥ १०॥

भाष्य—यास्क का तर्क प्रयत्न है ॥ ४० ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः ॥

[ऋ० १ । १६४ । ४० ॥]

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः । अग्निनाग्निमयजन्त देवाः ।

अग्निः पशुरासीत् । तमालभन्त । तेनायजन्त । इति च ब्राह्मणम् । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त । यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः । साधनाः । द्युस्थानो देवगण इति नैस्तुताः । पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम् ।

वसवः । यद्विवसते सर्वम् । अग्निर्वसुभिर्वासव इति समाख्या, तस्मात्पृथिवीस्थानाः । इन्द्रो वसुभिर्वासव इति समाख्या, तस्मान्मध्यस्थानाः । वसव आदित्यरश्मयो विवासनात्, तस्माद् द्युस्थानाः । तेषामेषा भवति ॥ ४१ ॥

अर्थ—(यज्ञेन) अग्निः के द्वारा (यज्ञम्) अग्निः को (अयजन्त) पूजा (देवाः) देवों ने, वे धर्म मुख्य थे । वे निश्चय से (नाकम्) स्वर्ग को महिमा वाले (सचन्त) सेवने वाले हुए । जहाँ पूर्व के साध्य हैं देव ॥

अग्निः द्वारा=अग्निः पशु था । उस को [उन्होंने] आलम्बन किया । उस के द्वारा यज्ञ किया । यह और ब्राह्मण [है ।] सचन्तः=समसेवन्त=

उन्होंने सेवन किया । साध्याः=साधनाः=भावना वाले । द्युस्थान वाले
 श्वगण [हैं] यह नैरक्त [कहते हैं] । पूर्व का देवयुग [था] यह
 आख्यान है ।

२६ वसवः । यत्-जिम कारण विवसते=घपते हैं, सब कुछ
 न्तीनो लोक] । अग्नि- वसुओं के कारण वासवः [है] । यह समाख्या
 =नाम है । इस लिए [वसव] पृथिवीस्थानी [हैं] । इन्द्र वसुओं के
 कारण वासवः [है] । यह नाम है । इस लिए मध्य स्थानी [हैं] ।
 वसवः, आदित्य के रश्मि हैं । विश्वनात्=[अन्यकार को] बाहर निकालने
 के लिए । इस लिए द्युस्थानी [हैं] । उन की यह [शक्ति] होती है ॥ ४१ ॥

भाष्य—मनुष्यों से देव युग पहले था ॥ ४१ ॥

सुगा वीं देगाः सदनमकर्म य आजग्मुः सर्वानमिदं जुषाणाः ।
 जतिरांसः पतिरांसश्च विश्वेऽस्मै धत्त वसवो वसूनि ॥

[यजु० ८ । १८ ॥]

स्वागमनानि वो देवाः सुपधान्यकर्म य आगच्छन् सवतामीमानि ।
 सुषाणाः । खादितरन्तः पीतरन्तश्च । सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि ।
 वेधामेवाऽपरा भवति ॥ ४२ ॥

अर्थ—(सुगाः) सरलता से गमन योग्य (वः) तुम्हारे (देगाः)
 देवों (सदनम्) स्थान [स्कन्द आदि का पाठ-सुपथा] (अकर्म) बना
 देए, (य) जो (आजग्मुः) आए (सवनम् इदम्) इस सवन मे
 जुषाणाः) प्रीति करते हुए । (जतिरांस) खाते हुए (पतिरांसः च)
 पीते हुए और (विश्व) सारे (अस्मै) हम मे (धत्त) रखो (वसवः)
 वसुओं (वसूनि) धनो को ॥

सरलता से आगमन योग्य तुम्हारे ह देवों सुन्दर मार्ग बना दिए, जो
 वसुओं मयनों को इन को, प्रीति पूर्वक । खाते हुए पीते हुए और । सारे
 मे मे रखो हे वसवो धनो को ।

उन की यह दूसरी [शक्ति] होती है ॥ ४२ ॥

ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः ।

अर्वाक्पथ उरुजयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य ॥

[ऋ० ७ । ३६ । ३ ॥]

ज्मया अत्र वसवोऽरमन्त देवाः । ज्मा पृथिवी । तस्यां भवाः । उरौ
चान्तरिक्षे । मर्जयन्त गमयन्त रमयन्त । शुभ्राः शोभमानाः । अर्वाक्
पनान्पथो बहुजवाः कुरुध्वम् । अणुत दूतस्य जग्मुषो नोऽस्याग्नेः ।

वाजिनः । व्याख्याताः । तेषामेषा भवति ॥ ४३ ॥

अर्थ—(ज्मयाः) पृथिवी में होने वाले (अत्र) यहां (वसवः) जो
वसवः (रन्त) रमण करते हैं (देवाः) देव (उरौ अन्तरिक्षे) विस्तीर्ण
अन्तरिक्ष में (मर्जयन्त) उदकों को पहुँचाते हैं (शुभ्राः) शोभन चमक
वाले । (अर्वाक्) [हमारे] सामने (पथः) मार्गों को (उरुजयः) हे
बड़े वेग वालो (कृणुध्वम्) वनाओ । (श्रोत) सुनो (दूतस्य) दूत के
(जग्मुषः) तुम्हारे सामने जाने वाले के [वचन], (नः) हमारे (अस्य)
इस अग्निः के ॥

ज्मा=पृथिवी [है ।] उस में होने वाले (ज्मयाः) । विस्तीर्ण और
अन्तरिक्ष में । मर्जयन्तः=गमयन्तः=पहुँचाओ रमयन्तः=रमण कराओ । शुभ्राः
=शोभायमान । सामने और इन के पथों को, हे बहुत वेग वालो वनाओ ।
सुनो दूत के [तुम्हारे प्रति] जाने वाले के हमारे के, इस अग्निः के ।

३०, वाजिनः । व्याख्या किए गए [निरुक्त २ । २८ में ।] उन की
यह [ऋक्] होती है ॥ ४३ ॥

भाष्य—ज्मा का अपभ्रंश फारसी में ज़मीन हुआ है । पृथिवी में जो वसु
हैं, उन के कारण यह पृथिवी वसुमती कहाती है । ऐतरेय ब्राह्मण में प्रवचन है—

अग्निर्वसुभिरुदकामत् । १ । २४ ॥

यह अग्निः वसुओं के साथ कैसे ऊपरकी उठता है, यह जानना चाहिए ॥ ४३ ॥

श नो भवन्तु वाजिनो इरेषु देवताता मितद्रवः स्वर्गाः ।

। जम्भयन्तोऽहि वृक्ष रक्षासि सनेम्प्रस्मद्युयन्त्रमीमाः ॥

[ऋ० ७ । ३८ । ७ ॥ यजु० ६ । १६ ॥]

सुखा नो भवन्तु वाजिनो हानेषु देवताता यज्ञे । मितद्रव सुमित
द्रव । स्वर्गा स्वश्चना इति वा । स्वर्चना इति वा । स्वर्चिष इति वा ।
जम्भयन्तो अहि च वृष च रक्षासि च । त्तिप्रमस्मद्यायन्त्रमीमा ।
दराभ्या इति वा ।

दरपन्थ । दराभा प थ । तारासमपा भवति ॥ ४४ ॥

अर्थ—कत्याएगारी हमारे लिए हो (वाजिन) रश्मिया अथवा देवो
क अश्व (वृषु) आह्वाना म (देवताता=देवताता) यज्ञ म [तथा]
(मितद्रव) मन्त्रामी (स्वर्गा) [और] सुन्दर गति वाच ।
(जम्भयन्त) नाग करते हुए (अहिम्) सर्प को (वृक्षम्) अहि को
(रक्षासि) रक्षणा को [और] (सनेमि) गीघ्र (अस्मत्) हम स
(युयन्) पर करे (अमीमा) रोग जातिवा को ॥

सुखकारी हमारे लिए हो अश्व आह्वाना म [और] यज्ञ मे । अस्यन्त
मित गति वाच । सु+जर्ग=सु+अञ्चना सुन्दर गति वाच=अथवा । सुन्दर
पूजा वाच अथवा । सुन्दर अर्चियो-दीप्तिवा वाच अथवा । जम्भयन्त =
नाग करते हुए वष को और, वृक्ष=अहिवा को और, रक्षसो को और ।
सर्प हम स धारयन्तु=पर कर अमीमा=रोगो को । वाजिन=रश्मिया
देवाश्व अथवा ।

३१ दरपन्थ । दवा की प्रथिया । उन की यह [-स्रक्] होती
है ॥ ४४ ॥

भाष्य—दराभ्य । न्य चद्र और इन्द्र आदि के अश्व वद में अति प्रसिद्ध
है ॥ ४४ ॥

देवाना पत्नीन्शतीगन्तु नः प्रार्थन्तु नस्तुनये राजसातये ।

याः पार्थिवाया या यशामर्षि व्रत ता नादेवोः सुदराः शर्म यच्छत ॥

[ऋ० ५ । ४६ । ७ ॥]

देवानां पत्न्य उशत्योऽवन्तु नः । प्रावन्तु नस्तुजयेऽपत्यजननाय
चात्रसंसननाय च । याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते कर्मणि ता नो
देव्यः सुहवाः शर्म यच्छन्तु शरणम् । तासामेवाऽपरा भवति ॥ ४५ ॥

अर्थ—देवों की पत्नियां (उशतीः) [हवि और स्तुति] चाहती हुईं
(अवन्तु) आए (नः) हमारी ओर । (प्र अवन्तु) पूरी रक्षा करे (नः)
हमारी । (तुजये) पुत्र लाभ के लिए (चात्रसातये) अन्न लाभ के लिए ।
(याः) जो [तुम] (पार्थिवासः) पृथिवी पर होने वाली (याः) जो
(अपाम् अपि) उदकों के [स्थान अन्तरिक्ष में] और (व्रते) कर्म में,
(ताः) वे (नः) हमें (देवीः) देवियां (सुहवाः) शुभ बुलाने वाली
(शर्म) घर (यच्छत) देवें ॥

देवों की पत्नियां च हती हुईं आयें हमारे प्रति । पूरी रक्षा करें
हमारी, अपत्य जनन के लिए और, अन्न के सेवन के लिए और जो पृथिवी
पर होने वालीयां जो आपः [=अन्तरिक्ष] के और कर्म में, वे हमें देवियां
शुभ बुलावे वाली शरण को देवें ।

उन की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ४५ ॥

भाष्य—आपः ही देवपत्नियां हैं । उन के अनेक रूप हैं । ये रूप
परमाणुओं के संयोग-विभाग का फल हैं । इन का कर्म पृथिवी और अन्तरिक्ष
में होता है । जै० ब्रा० में प्रवचन है—आपो वै देवानां पत्न्य आसन् । ता
मिथुनम् ऐच्छन्त । ता मित्रावरुणाव् उपैताम् । ता गर्भम् अदधत ।
ततो रेवतयः पशवो ऽसृज्यन्त । १ । १४० ॥ तथा देखो पूर्व निरुक्त २।१७
का भाष्य ॥ ४६ ॥

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट् ।

आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥

[ऋ० ५ । २६ । २ ॥]

अपि च ग्ना व्यन्तु देवपत्न्यः । इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी । अग्नाय्यग्नेः
पत्नी । अश्विन्यश्विनोः पत्नी । राट् राजते । रोदसी रुद्रस्य पत्नी ।
वरुणानी च वरुणस्य पत्नी । व्यन्तु देव्यः कामयन्ताम् । य ऋतुः
कालो जायानां य ऋतुः कालो जायानाम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—(उत) और (ग्रा) स्त्रिया (व्य तु) कामना करे खाएँ
 (देवपत्नी) देवपत्निया (इ द्राणी) इन्द्र की पत्नी [= वाक]
 (अग्नायी) अग्नि की पत्नी (अश्विनी) अश्वियो की पत्नी (राट्)
 दक्षिणयो रानी । (आ शृणोतु) सब ओर स सुनें (रोदसी) रद की
 पत्नी (वरुणानी) वरुण की पत्नी, (व्य तु) कामना कर (दत्री)
 देविया (य) [उस काल की] जो (ऋतु) काल [है ।] (ननीनाम्)
 जायाओ का=जन्ने वालियो का ॥ ४६ ॥

भाष्य—ग्रा पद की वाची होत हुए भी प्राय देवपत्नियों के लिए प्रयुक्त
 होता है । ये देवपत्निया भौतिक सृष्टि में आप का ही भद्र हैं । इन आप में
 ऋतुकाळ आते हैं । उन का सूक्ष्म ज्ञान भी बदवित् को होना चाहिए । रोदसी
 पद शकृत्पृथिवी वाचक है या रद की पत्नी का वाचक इस विषय पर स्कन्द न
 अपने वृत्तिसमुच्चय में पयाह लिखा है । आशुदात्त और अन्तोदात्त होने पर अथ
 नद वैसा होता है, इस का ज्ञान स्कन्द स कर । आकश्य और यास्क में यदां
 मठ भद्र है । ४६ ॥

इति द्वादशोऽध्यायः ।

अथ परिशिष्टम्

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते । अपि वा संप्रत्यय एव स्यात् ।
महाभाग्याद् देवतायाः । सोऽग्निमेव प्रथममाह—

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः ॥ [ऋ० २ । १ । १ ॥]

इति यथैतस्मिन्सूक्ते ।

नहि त्वदारे निमिपश्चनेशे ॥ [२ । २८ । ६ ॥]

इति वरुणस्य । अथैपेन्द्रस्य ॥ १ ॥

अर्थ—अव ये अतिस्तुतियां [हैं ।] यह [पूर्व के निरुक्ताचार्य]
कहते हैं । अथवा यथार्थ ज्ञान ही होवे । महान् ऐश्वर्य के कारण देवता के ।
उस [निरुक्त ने] अग्निः को ही पहले कहा ।

तुम हे अग्ने (द्युभिः) द्यौ लोकों से, तुम (आशुशुक्षणिः) चारों ओर
से दीप्त हो । जिस प्रकार इस [ऋ० २ । १] सूक्त में [अतिस्तुति है ।]

न ही (त्वत्) तेरे से (आरे) दूर देश में भी [कोई अन्य]
(निमिपः चन) नेत्र के निमेष पर (ईशे) ईशान करता । यह वरुण की
[अति स्तुति है ।]

अव यह इन्द्र की ॥ १ ॥

भाष्य—अतिस्तुति का अर्थ है, अन्य देवताओं से बढ़ कर स्तुति । अग्निः
और वरुण आदि पद देवता के अतिरिक्त ईश्वर अर्थ के बोधक भी हैं । अतः
अतिस्तुतियों के सूक्ष्म अर्थ में भौतिक स्तर से उठ कर परम पवित्र परब्रह्म के
गुणों की महिमा भी गाई गई है ।

निर्वचन का पथयै बना कर यह शत्रु करना आवश्यक था कि वेदार्थ इतना हो नहीं । उस का शत्रु अति विस्तृत है । और पूर्व के नैतिक इस मार्ग का निर्देश करते आगे हैं । अतः वास्तव ने भी उत्तरित हो कर समाज्ञाप का भाव्य समाप्त कर क प्राचीन मयाज्ञ क अनुसार अतिस्तुतियों का सन्दर्भ जित्त दिया ॥ १ ॥

यद् द्याम् इन्द्र ते ज्ञातं शतं भूमिम्न स्युः ।

न त्वा वज्रिन्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥

[ऋ० = १७० । १ ॥]

यदि त इन्द्र शत दिव शत भूमय प्रतिमानानि स्यु । न त्वा वज्रिन् । सहस्रमपि सूर्या । न द्यावापृथिव्यावप्यभ्यश्नुर्जीतामिति ।

अथेवाऽऽदित्यस्य ॥ २ ॥

अर्थ—(यत्) यदि (द्याव.) जो लोक (इन्द्र) हे इन्द्र, परमेश्वरवत् परमात्मन (त) तरी [उमा नहा] (शतम्) सौ भी हा (शत भूमि उत्) और सौ भूमिया भी (स्यु) हा । (न त्वा) नहीं तुझे (वज्रिन्) हे वज्रवान=याव पूर्व दण्डदाता (सहस्र सूर्या) सहस्रो भी सूर्य (अनु अष्ट) गुणो से व्याप्त करे, (न जात रोदसी) नहीं प्रकट हो कर द्यावापृथिवी ॥

यदि हे इन्द्र सौ द्या, सौ भूमिया तेरे प्रतिमान म हो, नहीं तुझे हे वज्रिन्, सहस्र भी सूर्य न द्यावापृथिवी भी व्याप्त कर सकने है ।

अब यह आदित्य की ॥ २ ॥

यदुदञ्चो वृषारूपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।

स्वर्गस्य पुंलघो मुगः कमेगज्जनयोपन्नो विश्वेस्मादिन्द्र उन्नरः ॥

[ऋ० १० । =६ । २२ ॥]

यदुदञ्चो वृषारूपे । गृहमिन्द्राजगन्तव । क स्य पुरवधो मृग । क स वहादी मृग । मृगो माप्टेगतिकर्मण । कमगमद् देश जनयापन । सर्वेस्मात् इन्द्र उन्नरस्तमेतद् व्रम आदित्यम् ।

अथेवाऽऽदित्यदर्शनात् ॥ ३ ॥

अर्थ—(यत्) जब (उद्भूतः) ऊपर जाने वाले के [रश्मि] (वृषाकपे) हे आदित्य (गृहम्) घर हूँ अपने मण्डल में (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् (अजगन्तन) चले गए, [तत्र] (क) कहां (स्यः) वह (पुत्रवधः) बहुभुक् (मृगः) गमनशील [हुआ], (कम् अगन्) कहां चला जाता है, (अन-योपनः) उनको मोहित करने वाला । (विश्व-स्मात्) सम्पूर्ण [कृत्रिम पदार्थों] से ऐश्वर्यवन् परमात्मा (उत्तरः) परे है ॥

जब ऊपर जाने वाले के [रश्मि] हे वृषाकपे, घर में, हे ऐश्वर्यवन् अजगन्तन=चले गए । कहा वह बहुभुक् मृग । मृगः, भाष्टि से गति अर्थ वाले से । किस देव को चना गया लोगों को मोहिते वाला । मारी से जो इन्द्र परे है, उनको [पेना] कहने हे आदित्य=अव्यय को ।

अब यह आदित्य रश्मियों की ॥ ३ ॥

भाष्य—आदित्य मण्डल में सब रश्मि चले जाते हैं । यह अस्त वेला में होता है । इसी प्रकार महाप्रलय में ब्रह्म में सारी प्रकृति लीन हो जाती है ॥३॥

वि हि सोत्तोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।

यत्रामदवृषाकपिर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वरमादिन्द्र उत्तरः ॥

[ऋ० १०।२६।१ ॥]

व्यसृक्षतहि प्रसत्राय । न चेन्द्रं देवममंसत । यत्रामाद्यद् वृषाकपिः । अर्य ईश्वरः । पुष्टेषु पोषेषु । मत्सखा मम सखा । मदनसखा । ये नः सखायस्तैः सहेति वां । सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेन्दु ब्रूम आदित्यम् । अर्थेपाऽश्विनोः ॥ ४ ॥

अर्थ—(वि असृक्षत) छोड़ा (हि) ही (सोतोः) [सर्व वामों में] प्रेरने के लिए [जब रश्मि जाल को], नहीं इन्द्र को (देवम्) प्रकाशक [आदित्य] को (अमंसत) माना । (यत्र अमदत्) जहां हर्षित हुआ (वृषाकपिः) आदित्य [मध्यन्दिन समय में] (अर्यः) ईश्वर (पुष्टेषु) [रश्मियों के] पुष्ट होने पर, मेरा सखा, वह इन्द्र सब से परे है ॥

छोडा ही प्रेरे के लिए । नही और इन्द्र को दिव्य रूप देने वाले को माना । जहा मद म हुआ वृषाकपि । अर्थ. ईश्वर [है ।] पुट हाने पर । मरा सखा । मदन=हर्ष का सखा । जो हमारे मरा [है], उन के साथ अथवा । सारों में जो इन्द्र परे है, उन को [ऐसा] कहते हैं अखण्ड को ।

अथ यह [सूक्] अधियो की ॥ ४ ॥

सूर्येव जर्भरीं तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरीं पर्फरीका ।

उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जरायुजरं मरायु ॥

[सू० १०।१०६।६॥]

सूर्येवति । द्विविधा सूरिर्भवति । भर्ता च इन्ता च । तथा, भिनो चापि भर्तारो । जर्भरी भर्तारानित्यर्थ । तुर्फरीतू इन्तारो । नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका । नितोशस्यापत्यं नैतोशम् । नैतोशेव तुर्फरी क्षिप्रइन्तारो । उदन्यजेव जेमना मदेरू । उदन्यजेवत्युदकजे इव रत्ने । सामुद्रे चान्द्रमसे वा । जेमने अयमने । जेमना मदेरू । ता मे जरायुजरं मरायु । एतजरायुजं शरीरं शब्दमजीर्णम् । अथैव सोमस्य ॥ ५ ॥

अर्थ—(सूर्या इव) [दो नोनों वाल] अनुश के समान (जर्भरी) भरण-पोषण करने वाल (तुर्फरीतू) हनन करने वाल (नैतोशेव) नितोश के पुत्र के समान (तुर्फरी) शीघ्र हनन वर्ता [तथा] (पर्फरीका) फाड़ने वाला । (उदन्यज इव) उल म जन्मे [रत्नो के] समान [निर्मल] (जेमना) जयशील (मदेरू) सदा मद=प्रसन्न रहने वाले (ता=तौ) वे दोनों अधिनौ (मे) मरे (जरायु) जेर से उत्पन्न होने वाले (मरायु) मरणवर्मा शरीर को (अजरम्) अजर [बनए] ॥

दो प्रकार की सूरि होती है । पालक और ताडक और । वैसे अधिनौ और, पालक भी । जर्भरी=पालक पोषक, यह अर्थ है । तुर्फरीतू=ताडक अथवा हननवर्ता । नैतोशेव=नितोश व पुत्र के समान तुर्फरी और=ताडक [तथा] पर्फरीका=फाड़न वाल । नितोश वा अत्यं नैतोश । नैतोश के समान तुर्फरी=शीघ्र ताडक । उदन्यजेव=उदक म जन्मे दो रत्नो के समान । सामुद्रे=समुद्र म जन्म रत्नो के समान, चन्द्रमा से होने वाल रत्नो के

समान अथवा । जेमने=जयशील । मदेरू=सदा प्रसन्न । वे दोनों मेरे जेर से जन्मे [तथा] मरणधर्मा शरीर को शरत् [तथा] अजर अजीर्ण बनाएं ।

अव यह [अगली ऋक्] सोम की [अति स्तुति की] ॥ ५ ॥

भाष्य—अश्विनौ की दो नोकें क्या हैं, यह गम्भीर विज्ञान का विषय है । मैं इसे अभी अधिक नहीं समझ सका । नितोश कौन है, यह भी जानना चाहिए । अश्विनौ देवों के भिपजो हैं । वे शरीर को अजीर्ण कैसे कर देते हैं, इस विधा का ज्ञान खोजना चाहिए । शरदम् पद का सम्बन्ध भी जानना चाहिए । इस मन्त्र का अभिप्राय अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः । तरत्स मन्दी धावति ।

[ऋ० ६ । ५८ । १ ॥]

तरति स पापं सर्वं मन्दी यः स्तोति । धावति गच्छत्यूर्ध्वा गतिम् । धारा सुतस्यान्धसः । धारयाभिपुतस्य सोमस्य मन्त्रपूतस्य वाचा स्तुतस्य ।

अथैषा यज्ञस्य ॥ ६ ॥

अर्थ—(तरत्) तरना है [पाप को] (सः) वह (मन्दी) जो स्तुति करता है । (धावति) जाता है [सुकृतों के लोको को] (धारा) धारा से (सुतस्य) निचोड़े हुए (अन्धसः) सोम की । तरता है वह, स्तोता, जाता है [सुकृतों के लोकों को ।]

तरता है वह पाप को सारे को, जो स्तुति करता है । जाता है ऊर्ध्वा गति को । धारा से निचोड़े हुए सोम की, मन्त्रों से पवित्र हुई वाक् द्वारा स्तुति वाले की ।

अव यह यज्ञ की [ऋक् है] ॥ ६ ॥

भाष्य—ऊर्ध्व लोकों को जाने का मार्ग सोम याग भी है । जब देवी यज्ञों में सोम निचोड़ा गया, तभी यह देव वाक् भी उत्पन्न हो रही थी ॥ ६ ॥

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।

त्रिधा वृद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥

[ऋ० ४ । ५८ । ३ ॥]

चत्वारिंशद्भ्योति यदा पा एत उनाः । ययोऽस्य पाश इति
 सवनानि त्रीणि । द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीयि । सप्त हस्तास सप्त
 छन्दासि । त्रिधा यज्ञश्चेत्वा यज्ञो मन्त्रब्राह्मणकल्पे । वृषभो रोरपीति ।
 रोरयणमस्य सवनक्रमण ऋग्भिर्बंनुभि सामभिः । यज्ञेनमृग्भि शंसन्ति
 यजुर्भिर्बंजनि सामभि स्तुयन्ति । महो देव इति । एष द्वि महान्देशो
 यज्ञः । मत्या आविवेशेति । एष द्वि मनुष्यानामिष्टति यज्ञनाय ।
 तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ७ ॥

अर्थ—चार शृङ्ग=चद, तीन इन न पाव, दो गिर, सात हाथ इन क ।
 तीन प्रकार स बंधा हुआ, वृषभ=[मुल्ल की] वर्षा करने वाला यज्ञ
 (रोरपीति) शब्द करता है । [यह] महान् देव (मत्यान्) पृथिवी पर
 के मरणवर्मा मनुष्यो मे प्रविष्ट हुआ ॥

चार शृङ्ग=चद ही ये कह गए । तीन पाद [हैं ।] सवन । दो गिर
 प्रायणीय और [उदयनीय] । सात हाथ, सात छन्द [हैं ।] तीन प्रकार
 स बंधा हुआ, मन्त्र ब्राह्मण और कल्पों से । वृषभ शब्द करता है । शब्द
 इस का सवनक्रम मे [होता है] श्रुचाओ, यजुओ और सामों से । जो इस
 [यज्ञ] को श्रुचाओ मे शस्त्र पड़ने हैं, यजुओ मे यजन करते हैं, सामों से
 स्तुति करत हैं । यह ही महान् देव है जो यज्ञ है । मन्त्रों मे प्रविष्ट हुआ ।
 यह [यज्ञ] ही मनुष्यो मे प्रविष्ट होनेा है, यजन क लिए ।

उस की अगली [श्रुक् है], अधिक निर्वचन क लिए ॥ ७ ॥

भाष्य—व्याकरण महाभाष्य के आरम्भ में पतञ्जलि ने इस ऋक् का अर्थ
 व्याकरण विद्या में घटाया है । शबर स्वामी और कुमारिल भट्ट ने मीमांसा सूत्र
 १ । २ । ४६ पर इस ऋक् का यज्ञ परक व्याख्यान किया है ।

मत्या आविवेश—मन्त्रों में प्रविष्ट हुआ । इसी प्रकार का एक और
 मन्त्रार्थ है—

यज्ञेन वाच. पदवीयमायन्ताम उविन्दन् ऋषिषु परिणाम् ।

अ० १० । ७२ । ३ ॥

अर्थ—ऋषियों में प्रविष्ट हुए वाक् ।

१ परमेश्वरकृत वैमिनीय सूत्रार्थ समग्र, भाग १, पृ० ८६, ९० पर वाक् के
 नाम से उद्धृत ।

अन्तरिक्ष में पदार्थ उत्पत्ति—वाक् पहले अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुई और तदनु पार्थिव ऋषियों में प्रविष्ट हुई। इसी प्रकार यज्ञ भी पहले अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुआ। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र और अन्य देव यज्ञ करते रहे। तत्पश्चात् वह यज्ञ मर्यों में प्रविष्ट हुआ। ठीक इसी प्रकार ओषधियां और वनस्पति आदि भी पहले अन्तरिक्ष में बने, तत्पश्चात् उन के मूल चीज पृथिवी पर उत्पन्न हुए। पृथिवी पर की तृष्टि—उत्पत्ति को समझने के लिए अन्तरिक्ष की सहायता का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है ॥ ७ ।

स्वर्यन्तो नर्षेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।

यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥

[अथ० ४। १५। ४ ॥]

स्वर्गच्छन्त ईजाना वा नेक्षन्ते । तेऽमुमेवं लोकं गतवन्तमीक्षन्त-
मिति । आ द्यां रोहन्ति रोदसी । यज्ञं ये विश्वतोधारं सर्वतोधारं
सुविद्वांसो वितेनिर इति ।

अथैषा वाचः प्रवहितेव ॥ ८ ॥

अर्थ—(स्वः यन्तः) स्वर्ग=रम सुख को जाते हुए (न अपेक्षन्ते)
नहीं देखते, (आ रोहन्ति) चढ़ते हैं (द्याम्) द्यौ को (रोदसी) द्यावा
पृथिवी से, (यज्ञं ये) यज्ञ को जिन्होंने (विश्वतोधारम्) सब ओर से
धारा वाले को (सुविद्वांसः) श्रेष्ठ विद्वानों ने (वितेनिरे) फैलाया ॥

स्वर्ग को जाते हुए, यज्ञ करते हुए अथवा नहीं देखते । वे उसी लोक
को गए हुए को, देखते हुए को । चढ़ते हैं द्यौ को द्यावापृथिवी से । यज्ञ को
जिन्होंने सब ओर से धारा वाले को सुविद्वानों ने फैलाया ।

अत्र यह वाक् की पहली के समान [है] ॥ ८ ॥

भाष्य—द्यौ को चढ़ते हैं । वही सुकृतों का लोक है; मानव पार्थिव शरीर
त्याग कर वहां जाते हैं । यज्ञों का फल है, वह लोक । इस के अतिरिक्त और
कोई स्वर्ग लोक नहीं । वहीं अव्याहत गति से आत्मा विचरता है ॥ ८ ॥

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।

गुहा रं णि निहिते नैह्यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

[श्रु० १। १६४। ४५ ॥]

चत्वारि वाक् परिमितानि पदानि । तानि विदुर्ब्राह्मणा य मनीषिणः । गुहाया रं णि निहितानि । नार्थं वदन्ति । गुहा गूढतः । तुरीयं त्वरत । कतमानि तानि चत्वारि पदानि । अकारो महाव्याहृतपरश्च त्वार्षम् । नामाख्यात चोपसगनिपाताश्चति त्रैयाकरणा । मन्त्र कल्पो ब्राह्मण चतुर्था व्यावहारिकीति याज्ञिका । ऋचो यजूषि सामानि चतुर्था व्यावहारिकीति नैहिका । सर्पाणा वाग्मयता जुष्टस्य सरीसृ पस्य चतुर्था व्यावहारिकीत्वक् । पशुषु नृणवपु मृगभ्रामनि चत्वारि मयादा । अथापि ब्राह्मणं भवति ।

सा वै वाक्सृष्टा चतुर्था व्यभवत् । एष्वेव लोकेषु त्रीणि । पशुषु तुरीयम् । या पृथिव्या साग्री सा स्थन्तरे । याऽन्तरिक्षे सा वायी सा वामदेव्य । या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्वनयित्री । अथ पशुषु । ततो या वागत्यरिच्यत ता ब्राह्मणेष्वदधुः । तस्माद् ब्राह्मणा उभर्यां वाच वदन्ति या च देवाना या च मनुष्याणाम् । [मै० ख० १ । ११ । ५ ॥] इति ।

अथैवाक्षरस्य ॥ ६ ॥

अर्थ—(चत्वारि) चार [हैं] (वाक्) वाक् क (परिमित) मारे गए (पदानि) पद । (तानि) उन को (विदुः) जानने [थे] (ब्राह्मणा) ब्राह्मण (य मनीषिण) जो मेघवी [थे] । गुहा म तीन [पद] (निहित) स्थापित [हैं] (नैह्यन्ति) नहीं [अपने को] जानते । (तुरीय वाच) चौथे भाग को वाक् के (मनुष्या) मरुणवमा मनुष्य (वदन्ति) बोलते हैं ॥

चार वाक् के माने हुए पद । उन को जानते थे ब्राह्मण जो मेघवी । गुहा मे तीन स्थापित [हैं] । नहीं अर्थ को जानते । गुहा गूढति से । तुरीयं त्वरित से । कौन स [हैं] वे चार पद—

[१.] ओंकार और महाव्याहृतियां=भूः, भुवः स्वः, यह आप
[मत है ।]

[२.] नाम, आख्यात और उपदग तथा निगात, यह प्रियाकरणों का
[मत है ।]

[३.] मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण चौथी व्यावहारिकी [=लोक भाषा] यह
याज्ञिकों का [मत है ।]

[४.] ऋक्, यजुः, साम, चौथी व्यावहारिकी, यह नैरुक्त [मत है ।]

[५.] सर्पों की वाक्, पक्षियों की, क्षुद्र रींगने वालों की, चौथी
व्यावहारिकी, यह कई एक का [मत है ।]

[६.] पशुओं में, तूणवेपु=वादित्रों में, (मृगेषु) सिंह आदि में,
(आत्मनि) अपने में, यह आत्मप्रवाद का [मत है ।]

और भी ब्राह्मण [प्रवचन] होता है—

वह वाक् उत्पन्न की गई चार प्रकार की हुई है । इन लोकों [भूः,
भुवः, स्वः] में तीन प्रकार से । पशुओं में चौथे प्रकार से । जो पृथिवी में,
वह अग्निः में, वह रथन्तर में । जो अन्तरिक्ष में, वह वायु में, वह वामदेव्य
में । जो द्यौ में, वह अन्तरिक्ष में, वह वृहती साम में, वह स्तनयित्नु में ।
अब पशुओं में । इस से जो वाक् बढ़ कर रही, उस को ब्राह्मणों में रखा ।
इस लिए ब्राह्मण दोनों प्रकार की वाक् को बोलते हैं । जो और देवों की,
जो और मनुष्यों की ।

अत्र यह अक्षर की [अति स्तुति है] ॥ ९ ॥

भाष्य—वाक् के चार विभाग । पहले वाक् नहीं थी । यह उस समय की
वात है, जब आपः सलिलावस्था में थे । हिरण्यायुध के परित्पवन के समय वाक्
उत्पन्न हुई । पुनः वह ओंकार और महा-व्याहृतियों में विभक्त हुई । वाक् का
श्रगला रूप देव जन्म के पश्चात् प्रकट हुआ । देवों वाचम् अजनयन्त देवाः ।
देवों ने वाक् को उत्पन्न किया । तब वाक् मन्त्र रूप में प्रकट हुई । वाक् का भेद
अर्थ रहित ध्वनियों और सार्थ शब्दों में हुआ । यह वाक् अन्तरिक्षस्थ पशुओं
आदि में प्रकट हुई । अन्त में यह पृथिवी पर प्रकट हुई ।

मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प और व्यावहारिकी । मन्त्र देवी वाक् है । ब्राह्मण और कल्प प्रवचन रूप हैं । लोक भाषा अथवा व्यवहारिकी इन स भिन्न है । यह लोक भाषा आदि मृष्टि से ही रही है । सामों में देवी वाक् का एक सर्वथा विभिन्न रूप माना गया है । वाक् की तरह सम्पूर्ण लोकों में फैली हुई है ।

इस वाक् के भाष्य में आचार्य सादृश्य न चार प्रकार की वाक् के विषय का एक और मत भी उद्घृत किया है । वह है—मातृका अथवा पाठान्तर के अनुसार मान्त्रिकों का । तदनुसार, परा पश्यन्ती, मध्यमा और वैश्वरी, ये चार भेद हैं । परा वाक् का सिद्धान्त नया नहीं है । भगवान् देवकी पुत्र दृष्य ने इसका वर्णन साम्बपञ्चाशिका के तीसरे श्लोक में किया है ।

यास्क ने प्रधानता आर्य मत को दी है । यही वेद का भाव है ॥ १ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निपेदुः ।
यस्तन्न वेदं क्रिमुचा करिष्यति य इत्तद्धिदुस्त इमे समासते ॥

[ऋ० १ । १६४ । ३६ ॥]

ऋचो अक्षरे परमे व्यजने यस्मिन्देवा अधिनिपण्णा सर्वे । यस्तन्न वेदं किं स ऋचा करिष्यति । य इत्तद्धिदुस्त इमे समासत इति विदुष उपदिशति । कतमत्तरतदक्षरम् । ओ-मित्येवा वागिति शाकपृषि । ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यजने धीयन्त । नानादेवतपु च मन्त्रेषु ।

एतद् वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रति ।

[ऋषी० ब्रा० ६ । १२ ॥]

इति च ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

(ऋच) ऋचाएँ (अक्षरे) अविनाशी (परम व्योमन्) परम व्योम म [है] (यस्मिन्) जिस म (देवा विश्वे) सार दव (अधि निपेदु) स्थित हुए । (य तस् न वेद) जो उन [अविनाशी] को नहीं जानता, (किम् ऋचा) क्या ऋचा स (करिष्यति) करेगा । (य इत् तत् विदु) जो ही उसे जानते हैं, (त) व (इम) ये (समासत) [अमृत मे] ठहरे हैं ॥

ऋचाए अक्षर परम में, विशेष रक्षक में [हैं], जिस में सारे देव स्थित हैं । जो उस को नहीं जानता, क्या वह ऋक् से करेगा । जो उस को जानते हैं, वे ये ठहरते हैं । यह [ऋक् का अन्तिम चरण] विद्वान् के प्रति उपदेश करता है । कौन सा वह यह अक्षर है । ओम् यह ही यह वाक्, यह शाकपूणि [कहता है ।] ऋचाएं और निश्चय अविनाशी परम रक्षक में स्थित हैं । नाना देवताओं वाले और मन्त्रों में । यह ही यह अक्षर [ओम् है], जो सारी त्रयी विद्या=सारे मन्त्रों के साथ [है] साथ [है ।] यह और ब्राह्मण [है] ॥ १० ॥

भाष्य—ओम् पद से महाव्याहृतियों की उत्पत्ति हुई, और तदनु सम्पूर्ण मन्त्र प्रकट हुए । यह विज्ञान सिद्ध है । इस का ज्ञान का आनन्द भृंहरी, पतञ्जलि और वाजसनेय आदि आचार्यों के प्रोक्त ग्रन्थों में देखना चाहिए ॥१०॥

आदित्य इति पुत्रः शाकपूणिः । एषगर्भवति । यदेतमर्चन्ति । प्रत्यक्षः सर्वाणि भूतानि । तस्य यदन्यन्मन्त्रेभ्यस्तदक्षरं भवति । रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते । य एतस्मिन्नधिनिपण्णा इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—शरीरमत्र ऋगुच्यते । यदेतेनार्चन्ति । प्रत्यक्षः इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते । यान्यस्मिन्नात्मन्त्रेकं भवन्ति । इत्यात्म-प्रवादाः ॥ ११ ॥

अर्थ—[अव आधिदैविक अर्थ—अक्षरं] आदित्य है यह शाकपूणि का पुत्र [कहता है ।] यह ऋक् होती है । जिस से इस [आदित्य] को पूजते हैं । पृथक्-पृथक् ऋचाएं सारे भूत अथवा प्राणी हैं । उस का जो पृथक् [स्वरूप है] मन्त्रों से वह अक्षर होता है । रश्मियां यहां देवाः कही जाती हैं । जो इस में ठहरी हुई हैं, यह अधिदैवत है ।

अव अध्यात्म [अर्थ] को [कहते हैं ।] शरीर यहां ऋक् कहा जाता है । जो इस से पूजते हैं । पृथक्-पृथक् ऋचाएं सारी इन्द्रियां हैं, इस का जो अविनाशि धर्म [चेतना तत्त्व है], वह अक्षर होता है । इन्द्रियां यहां देवाः कही जाती हैं । जो इस आत्मा में=शरीर में एक होती हैं । ये आत्मप्रवादा हैं ॥ ११ ॥

भाष्य—यास्क से पूर्व शाकपूणि के पुत्र की ख्याति भी हो चुकी थी । वह इस मन्त्र के अर्थ का आधिदैविक पक्ष उपस्थित करता है ॥ ११ ॥

अक्षर न क्षरति । न क्षायत वा । वाक् क्षया भवति । वाचोऽक्ष
इति वा । अक्षो वातम्याञ्जनात् । तत्प्रवृत्तीतरद्वर्तनसामान्यात् । इति ।

अथ मन्त्राधिचिन्ताम्यूहोऽभ्यूहः । अपि श्रुतितऽपि तक्तः । न तु
पृथक्स्वन मन्त्रा निवक्तव्याः । प्रकरणेण एषे तु निवक्तव्याः । न होषु
प्रत्यङ्गमस्यकृपरतपसा वा । पाठाद्यधिसु तु सनु वदितेषु भूयादिषु
प्रशस्या भवति इत्युक्त पुरस्तात् । मनुष्या वा श्रुतिपूजामस्तु
ऽगानुगम् । को न श्रुतिमपिष्यति । तस्य एत तकमृषिप्रयच्छन् ।
मन्त्राधिचिन्ताम्यूहमभ्यूहम् । तस्माद्यदथ किं चानूचानोऽभ्यूहत्यर्थं
तद्भवति ॥ १२ ॥

अथ—अक्षरम् नहीं बहता । नहीं क्षोण होता अथवा । वाक् वा
निवान होता है । वाक् वा अक्षर है अथवा । अक्ष=अक्षर वातस्य=वात का
अञ्जनात्=मनन से । तत् प्रवृत्ति=न क स्वभाव वाच इतरत्=दूसरा
[अक्षर-स्वर है ।] बतन की ममानना से । [जैन गण्ट क अरे अक्ष क
अभय पर कम करत हैं बैसे व्यञ्जन नारे, स्वर क आभय पर कान करते
ह ।] इस प्रकार यह मन्त्राधिचिन्ता-अभ्यूह=विचार की उद्घा अथवा
स्फूर्ति अभ्यूह=स्फूर्ति है । चाह श्रुति प्रमाण से, चाहे तर्क से । नहा
प्रवृत्त का नाग करक मान निर्वचन करत चाहिए । प्रकरण क अनुकूल
निवचन करत चाहिए । नहा इन [मन्त्रों] म प्रत्यक्ष है अनृषि का तर
रहित वा अथवा । परम्परागत विद्या ग्रहण कताओ म, अनेक विद्याओ में
पारङ्गतों में नाविगो में अधिक विद्या वाला प्रशस्ता योग्य होजा है । यह
कहा है पहले [निष्क १ । १२ म ।]

मनुष्य निवृत्त हा श्रुतियों क ऊपर लोकों को अथवा मुद्दतों क नीची
को उठे जान पर दबो को दोन कौन हन म [अत्र] श्रुति होगा । उन
के लिए इस तर्क को श्रुति [एष] को दिया । मन्त्रार्थ की स्फूर्ति को
दक्षता चाहिए । इन कारण जो कुछ भी अनुचान=पदङ्गविन् स्फूर्ति
दिवाता है वाय बही होता है ॥ १२ ॥

भाष्य—अनुचान । दण्ड आदि धनमूषकरा में अनुचान का अर्थ किया
है—पदङ्गवित् । वह अनुचान मन्त्राधि करत हुए जो भी वर से अविरोधी

तर्क करता है, वह श्राप होता है, इस प्रकार पाश्चात्य पद्धति के लेखक, जो वेदाहों को अति स्वल्प जानते हैं; अथवा कभी-कभी सर्वथा नहीं जानते, वेदार्थ में प्रमाण नहीं हैं। उन का कल्पित, प्रमाणशून्य भाषा मत हेय है ॥ १२ ॥

हृदा तप्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।

अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥

[ऋ० १० । ७१ । ८ ॥]

हृदा तप्टेषु मनसां प्रजवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते समानाख्याना ऋत्विजः । अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः । ओह-ब्रह्माण ऊहब्रह्माणः । ऊह एषां ब्रह्मेति वा । सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिः । तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम् । तदिदमायुरिच्छता न निर्वक्तव्यम् । तस्माच्छुन्दस्सु शेपा उपेक्षितव्याः । अथागमः —

यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति—अनु-भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—(हृदा) हृदय=बुद्धि से (तप्टेषु) परिच्छिन्न किए हुए [कर्मों में] (मनसः) मन के (जवेषु) वेगों में (यत्) जब अथवा जहाँ (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण [=वेदपारग] (संयजन्ते) एकत्र यजन करते हैं अथवा एकत्र होते हैं (सखायः) साथी । (अत्र अह) वहाँ (त्वम्) एक को [अल्प जानने वाले को] (वि जहुः) पीछे छोड़ते हैं (वेद्याभिः) प्रश्न, प्रतिप्रश्न आदि की जानने योग्य प्रवृत्तियों द्वारा (ओहब्रह्माणः) ऊहापोह समर्थ ब्राह्मण (विचरन्ति) [सब कर्मों में] पूरे चलते हैं (त्वे) एक अर्थात् दूसरे अमन्द-प्रज्ञ ॥

बुद्धि से सूक्ष्म=परिच्छिन्न किए मनसाम्=मनों के [विचार] वेगों में, जो ब्राह्मण एकत्र यजन करते हैं, समान ख्याति वाले ऋत्विज । वहाँ एक को [अल्प ज्ञान वाले को] पीछे छोड़ते हैं, जानने योग्य प्रवृत्तियों से । ऊहापोह वाले=तर्क वाले ब्राह्मण । ऊह=तर्क है इन का वेद अथवा । वह यह विद्या श्रुतिमति बुद्धि है । उस [बुद्धि] का तप से पार पाने की इच्छा करनी चाहिए । इस कारण यह [शास्त्र, विना तप वाले के लिए]

आयु के चाहने वाले को नहीं कहना चाहिए । इसलिए छन्दो मन्त्रो में शेष वाते ध्यान से देखनी चाहिए । अब आगम है—

जिस जिस देवता [पद] का निर्वाचन करता है उस के उस [देवता] के ताद्भाभ्यम्=ऐश्वर्य अथवा मन्त्र को अनुभव करता है अनुभव करता है ॥ १३ ॥

भाष्य—ओद्भवहाण—ऊहा कले वेदपारग । यथा—समिद्धो अग्नि निहित पृथिव्याम् । अ० २ । ३ । १ ॥ अर्थात्—प्रदीप्त अग्नि स्थापित है पृथिवी में । पृथिवी है ही अग्निगर्भा । मन्त्र कहता है—यथा भूमिरग्निगर्भा । शाखा० गृह्य, २ । १४ । २ ॥ यह अग्नि प्रदीप्तावस्था में है । इस से ऊहा होता है कि एक अन्य प्रकार का अग्नि प्रदीप्तावस्था में नहीं भी रहता । इसी लिए विशेषण आया, समिद्धो अग्नि । अतः असमिद्ध अग्निः का स्वरूप ज्ञानना आदिप ।

इसी प्रकार एक मन्त्र में कहा है—

तस्य साक्षं सप्यत भूरिभार । इस पर ऊहा कर के ज्ञात होता है कि भार के कारण घूमने पर सारे अक्ष तल हो जाते हैं ।

यह ऊहा ही सम्पूर्ण विज्ञान का स्रोत है । एतदर्थं वेदं मं ओह साक्ष्य की प्रशंसा है ।

अन्त में निबन्धन विद्या का फल आगम द्वारा कहा है । वस्तुतः देवता के ऐश्वर्य का ज्ञान निबन्धन द्वारा भी होता है ॥ १३ ॥

इति त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

व्याख्यातं देवतं यज्ञाङ्गं च । अथात ऊर्ध्वमार्गगतिं व्याख्यास्यामः ।

सूर्यं आत्मा । [ऋ० १ । ११५ । १ ॥]

इत्युदितस्य हि कर्मद्रष्टा । अथैतदनुप्रवदन्ति । अथैतं महान्तमात्मानमेवर्गणः प्रवदति ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमुग्निमाहुः ॥ [ऋ० १ । १६४ । ४६ ॥] इति ।

अथैव महान्तमत्तमजिज्ञासयात्मानं प्रोवाच ।

अग्निं रस्मिं जन्मना ज्ञातवेदाः ॥ [ऋ० ३ । २६ । ७ ॥]

अहर्मस्मिं प्रथमज्ञाः ॥ [तै० ब्रा० २ । ८ । ८ । १ ॥]

इत्येताभ्याम् ॥ १ ॥

अर्थ—व्याख्या किया गया है देवत [काण्ड] यज्ञाङ्ग=अति स्तुति प्रकरण और । अब इस से आगे ऊर्ध्व मार्ग की गति का व्याख्यान करेंगे ।

सूर्य [है] आत्मा ।

यह [सूर्य] उदितस्य=उत्पन्न हुए का कर्मद्रष्टा=कर्म का द्रष्टा है । अब इस [सूर्य] का अनुप्रवचन कहते हैं । अब इस महान् आत्मा को यह ऋग्ण प्रवचन करता है ।

इन्द्र, मित्र, वरुण अग्नि को कहते हैं । इति । अब इस महान् आत्मा ने जिज्ञासा से अपना प्रवचन किया ।

अग्निः हूँ, जन्म से जातवेदस् ।

मैं हूँ प्रथम उत्पन्न । इन दो ऋचाओं से ॥ १ ॥

भाष्य—पहले तीनों ओकों में दसों न पढ़ किए । ऊन्हीं के अनुभव पर श्रुतियों पर अनुष्ठान और कृतियों ने पढ़ किए । दसों पढ़ों का एक ऋतु कृति श्रुतियों का है । तत् इत्येव महान् इष्यते की श्रुति ग्राह्य नर है ।

इस अन्तिम अध्याय में अनुष्ठान के निधन के पश्चात् उस की ऊर्ध्व मूर्ध्नि गति का व्याख्यान है ॥ १ ॥

अग्निरेस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरनुते म आसन् ।

अर्कस्त्रिधातु रजमो रिमानोऽर्जसो धर्मो हविगस्त्रि नाम ॥

[सू० ३।२६।७१]

अहमास्मि प्रथमजा श्रुतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः ।

यो मा ददाति स इदेवमावा अहमन्ममर्जमदन्तमग्नि ॥ इति ।

[तै० ब्रा० २।२।२।११]

स इ ज्ञात्वा प्रदुर्भूव । एव त व्याजहार । अयं तमात्मानमभ्यात्मनमन्तिकमन्यस्मा आचचरति ॥ २ ॥

अग्नि—अग्नि मैं हूँ जन्म से जानबूझ । घृत [है] मया नव । अनृत [है] मया मुक्त । (अर्क) जातवेदा प्रत्येक न (त्रिधातु) तल प्रकार से विभक्त (रजस) अलरिण का (विनाम) नाम वाता (अजस्र) न शीघ्र होन वाला (धर्म) ताप का देना आदित्य [और] (हवि) हवि है नान मे ॥

मे हूँ प्रथम उत्तम श्रुत का, पूर्व त्वा के अनृत का नाभि हूँ । जो मुझे देता है, वह ही मरी रक्षा करता है । मे अनृत [हूँ] अन्न (अहस्ताम्) काते एको (अग्नि) सना ह ॥

वह निश्चय न जान कर प्रकट हुआ । इन प्रकार उस की व्याजहार बनना । वह उन अरुणों को अध्यात्म को अन्तिकम् नमानवर्ती का इनके क लिए [जान कर] कहना है ॥ २ ॥

भाष्य—दसों ऋतुओं का मात्र कृति गान्धी है । मरी मन्त्र में पूरा नहीं कथा । अष्टुत और धृत पर पहले तरह किए गए हैं । अष्टुत का कृति जानन बाध्य है ॥ २ ॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।

स सध्रीचीः स विपूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

[ऋ० १ । १६४ । ३१ ॥ १० । १७७ । ३ ॥]

आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तरिति । अथैप महानात्मा सत्त्वलक्षणः । तत्परम् । तद् ब्रह्म । तत्सत्यम् । तत्सलिलम् । तदव्यक्तम् । तदस्पर्शम् । तदरूपम् । तदरसम् । तदगन्धम् । तदमृतम् । तच्छुक्लम् । तन्निष्ठो भूतात्मा । सैषा भूतप्रकृतिरित्येके । तत्क्षेत्रम् । तज्ज्ञानात्क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मजम् । अथैप महानात्मा त्रिविधो भवति । सत्त्वं रजस्तम इति । सत्त्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठति । अभितो रजस्तमसी इति । कामद्वेपस्तमः । इत्यविज्ञातस्य विशुध्यतो विभूर्ति कुर्वतः क्षेत्रज्ञपृथक्त्वाय कल्पते । प्रतिभातिलिङ्गो महानात्मा तमोऽलिङ्गो विद्याप्रकाशलिङ्गस्तमः । अपि निश्चयलिङ्ग आकाशः ॥ ३ ॥

अर्थ—देखा मैंने (गोपाम्) रक्षक को (अनिपद्यमानम्) नहीं गिरने वालेको (आ च परा च चरन्तम्) सामने आते और परे जाते हुए को (पथिभिः) [अन्तर्िक्ष के विचित्र] मार्गों से । (सः) वह (सध्रीचीः) सीधी (सः) वह (विपूचीः) तिरछी (वसानः) [दिशाओं को] पहने हुए (आ वरीवर्ति) वार वार घूमता है (भुवनेषु) भुवनों में (अन्तः) अन्दर ॥

घूमता है वार वार भुवनों के अन्दर । [वह है] अब यह आत्मा [महत् तत्त्व] सत्त्व लक्षण [वाला ।] वह पर [है] वह ब्रह्म [=महान्] । वह सत्य । वह सलिल [=जिस में सब लीन है ।] वह अव्यक्त वह स्पर्श रहित । वह रूप रहित । वह रस रहित । वह गन्ध रहित । वह अमृत । वह शुक्ल । तत्-निष्ठः भूतात्मा=उस में ठहरा है भूतात्मा=पञ्च भूतों का मूल तत्त्व । वह ही यह है, भूतों की प्रकृति=मूल, यह कई [आचार्य] मानते हैं । वह क्षेत्र है । उस [प्रकृति रूप क्षेत्र] के ज्ञान से क्षेत्रज्ञ=आत्मा को अनुप्राप्य=अनु प्राप्त हो कर निर्+आत्मजम्=शरीर रहित [भाव को प्राप्त होता है ।] अब यह महानात्मा=महत् तत्त्व तीन प्रकार का होता है ।] सत्त्व, रजः, तमः यह । सत्त्व तो मध्य में विशुद्ध ठहरता है । दोनों ओर से रजः और तमः हैं । काम और द्वेष तमः है । यह

अविद्यात=अप्रत्यक्ष का विगुह रूप से विभूति कुर्वन्,=ऐश्वर्य को बरते हुए का क्षेत्रज्ञ पृथक्-राय=आत्मा के पृथक् होने के लिए कहते=मर्म होता है। प्रतिभान चिह्न वाला महान् आत्मा, तमः नहीं है चिह्न वाली, ऐसी विद्या। अप्रकाश चिह्न वाला तमः। और निश्चय चिह्न वाला आकाश [है] ॥ ३ ॥

भाष्य—प्रस्तुत मन्त्र का भाव भी अति गम्भीर है। यास्क ने इस मन्त्र में महत् तत्त्व का अस्तित्व दर्शाया है। महत् तत्त्व के विषय का विस्तार सांख्य शास्त्र में है। इस शास्त्र का मान वैदिक धर्म में सरा से रहा है। पर आचार्य शङ्कर ने नवीन वेदान्त का मूल प्रतिपादन करने के कारण इस का पृथक् सारजन किया है। वेद मन्त्रों में भूतों, महत् तत्त्व और प्रकृति का बहुधा वर्णन मिलता है।

निरुक्त के इस परिशिष्ट भाग में सांख्य सिद्धान्त आदि का विराट् उल्लेख है। प्रतीत होता है भारत में शङ्कर मत का बहुत प्रचार होने के कारण, इन परिशिष्टों का अनादर बढ़ा। ईसाई यहूदी गुट भी इस सांख्य प्रक्रिया को प्राचीन नहीं मानना चाहता, अतः इस गुट ने भी परिशिष्टों की अप्रामाणिकता सिद्ध करने पर पूरा बल लगाया। पर यह बात सिद्ध नहीं हो सकी। इस का विस्तृत उल्लेख इस ग्रन्थ की भूमिका में है।

इस प्रकरण की अनिष्ट पंक्तियों के विषय में राजाराम ने लिखा है— अविद्यातस्य इत्यादि का अर्थ समझ में नहीं आता है। इति। इन ने अविद्यातस्य पद का 'अप्रत्यक्ष का' अर्थ किया है। इस का अर्थ मनु १।५ के अप्रहृत पद के भाव से है ॥ ३ ॥

आकाशगुण शब्द। आकाशाद्वायुर्दिग्गुण स्पर्शेन। वायोर्ज्वलति द्विगुणं रूपेण। ज्योतिर आपश्चतुर्गुणा रसेन। अदृश्यं पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन। पृथिव्या भूतप्रामस्याथरजहमा।

तदेतदहर्गुणसदृशं जागति। तस्यान्तं सुषुप्स्यप्रह्वानि प्रत्याहरति। भूतप्रामा पृथिवीमपियन्ति। पृथिव्यप। आपो ज्योतिरम्। ज्योतिर्नागम्। वायुनाकाशम्। आकाशो मनः। मनो विद्याम्। विद्या

महान्तमात्मानम् । महानात्मा प्रतिभाम् । प्रतिभा प्रकृतिम् । सा स्वपिति । युगसहस्रं रात्रिः । तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्तते । स कालस्तदेतदहर्भवति ।

युगसहस्रपर्यन्तमहर्षद् ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ इति ॥ ४ ॥

अर्थ—आकाश का गुण शब्द । आकाश से वायु दो गुणों वाला स्पर्श [गुण के आने] से । वायु से तेज तीन गुणों वाला, रूप [गुण के आने] से । तेज से आपः चार गुण वाले, रस [गुण के आने] से । आप से पृथिवी पांच गुणों वाली, गन्ध [गुण के आने] से । पृथिवी से [महा] भूत ग्राम स्थावर और जङ्गम [का ।]

तो यह [ब्राह्म] दिन युग सहस्र तक जागता है । उस के अन्त पर सु-सुप्स्यन्=सोना चाहता हुआ अङ्गों को अपने अन्दर खींच लेता है । महाभूत समूह पृथिवी को चले जाते हैं । पृथिवी आपः को । आपः ज्योति=तेज को । ज्योति वायु को । वायु आकाश को । आकाश मनः को । मन=अहङ्कार विद्या=बुद्धि को । बुद्धि महत् तत्त्व को । महत् तत्त्व प्रतिभा को । प्रतिभा प्रकृति को । वह [प्रकृति] सोती है । [तव] युगसहस्र पर्यन्त रात्रि [रहती है ।] वे ये अहोरात्र निरन्तर घूमते हैं । वह काल [है ।] वह यह दिन होता है ।

युग सहस्र पर्यन्त दिन को जो ब्रह्मा के जानते हैं ।

रात्रि युगसहस्र अन्त को, वे अहोरात्र के ज्ञाता जन [हैं] ॥ ४ ॥

भाष्य—इस वर्णन में विज्ञान का अद्भुत प्रदर्शन है । महाभारत और पुराणों के सगं और प्रतिसर्ग प्रकरणों में इसी प्रक्रिया का विस्तार मिलता है । अन्तिम श्लोक भगवद् गीता ८ । १८ में है । इस की तुलना मनु १ । ७३ और चूहद्देवता ८ । ६८ से करनी चाहिए । यह विद्या इस समय संसार में वैदिक लोगों के पास है ॥ ४ ॥

तं परिवर्तमानमन्योऽनुप्रवर्तते । अथा द्रष्टा विभक्तातिमात्रोऽह-
मिति गम्यते । स मिथ्यादर्शनेदं पात्रकं महाभूतेषु । चिरोत्वाकाशा-
द्वायोः प्राणश्चक्षुश्च वकारं च तेजसोऽद्भ्यः स्नेहं पृथिव्या मूर्तिः ।

पार्थिव्यास्त्वष्टी गुणात्रिधात् । प्रीन्मातृत्वस्त्रीनिवृत्त । अस्थिस्नायुम
ज्ज्ञान पितृत् । त्वङ्मासशोणितानि मातृत् । अन्नपानमित्यष्टौ । साय
पुण्य सर्वमप्य सर्वज्ञानोऽपि क्वत्त ॥ ५ ॥

अर्थ—उम [अहोरात्र] के परिवर्तमानम्=रुमने के माथ अन्य =
दूसरा जीव अतु प्रवर्तत=उस क अनुरूल प्रमता है । अष्टा=[कर्मों के
अनुकूल गरीर] रचन वाजा, द्रष्टा=[भोगो वा] त्वने वाजा विभवा=
[योनियो वा] विभाग करन वाजा अनिमात्र मात्राओ म ऊपर अहं
[भाव] वाजा गम्यत=ज्ञाना जाता है । वह मिथ्यादर्शन-ज्ञान वाजा
पायकम्=पावरु अग्नि म है महाभूता म । चिर वाजा अणु आवाग म ।
वायु से प्राण । चक्षु, और वक्ता [=वाक् मत्ता] को और तेजस=तेज
ने । आप से स्नेह । पृथिवी म मूर्ति [को जीवात्मा प्रसन्न करता है ।]
पृथिवी म होने वान आठ गुणा को जाने । तीन गुणो को माता से तीन
को पिता से । अस्थि आणु [और] मज्जा [क गुण] पिता स । त्वक्,
मास और शोणित=नहू [क गुण] माता स । [ये द्वाँ और] अन्न
[तथा] पान ये आठ [गुण है ।] वह यह पुरुष सर्व [प्राणियो] का
सर्व [ईन्द्रियो के] ज्ञान वाजा माना गया है ॥ ५ ॥

भाष्य— चिर वाला अणु आकारा स । यह कुछ अस्पष्ट है । निरुक्त के
शब्द से बहुत पूर्ण आयुर्वेद का सम्पूर्ण ज्ञान भी प्रचक्षित था ॥ ५ ॥

स यद्यनुरुध्यत तद्भवति । यदि धर्ममनुरुध्यत तद्देवो भवति ।
यदि ज्ञानमनुरुध्यत तदमृतो भवति । यदि काममनुरुध्यत सक्यवते ।
इमा योनि सन्ध्यात् । तदिदमन्न मतम् ।

श्लेष्मा रतस सम्भवति । श्लेष्मणो रस । रसाच्छोणितम् । शोणि
ता मासम् । मासान्मेद । मद्स स्नाया । स्नाय्नोऽस्थीनि । अस्थिभ्यो
मज्जा । मज्जानो रत । तदिद योनी रत सिक्कं पुण्य सम्भवति ।
शुक्रातिरेक् पुमान् भवति । शोणितान्तिरके स्त्री भवति । द्वाभ्या समेन
नपु सको भवति । शुक्रभिन्नेन यमो भवति ।

शुक्रशोणितसयोमात्पितृसयोगाच्च तत्कथमिदं शरीर पर
सदस्यते । साम्यो भवति । एकरात्रीकितं कललं भवति । पञ्चरात्राद्

बुद्बुदाः । सप्तरात्रात्पेशी । द्विसप्तरात्रादबुद्दः । पञ्चविंशतिरात्रः
 स्वस्थितो घनो भवति । मासमात्रात्कठिनो भवति । द्विमासाभ्यन्तरे
 शिरः सम्पद्यते । मासत्रयेण त्रीवाद्यादेशः । मासचतुष्टयेण त्वग्व्यादेशः ।
 पञ्चमे मासे नखरोमव्यादेशः । षष्ठे मुखनासिकाक्षिध्रोत्रं च सम्भवति ।
 सप्तमे चलनसमर्थो भवति । अष्टमे बुद्ध्याध्यवस्यति । नवमे सर्वाङ्ग-
 सम्पूर्णो भवति ।

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।

नानां योनिसंहस्राणि मयोपितानि यानि वै ॥

आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।

मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥'

अवाङ्मुखः पीडयमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ।

साङ्ख्यं योगं समभ्यस्येत्पुरुषं वा पञ्चविंशकम् ॥ इति ।

ततश्च दशमे मासे प्रजायते । जातश्च वायुना स्पृष्टस्तत्र स्मरति
 जन्ममरणम् । अन्ते च शुभाशुभं कर्म । एतच्छरीरस्य प्रामाण्यम् ॥६॥

अर्थ—सः=वह जीव यदि अनुरुध्यते=[वासनाओं में] रुका रहता है,
 तो वैसे जन्म वाला होता है । यदि धर्म को [वासना बना कर] रुकता
 है, तो देवः=विद्वान् होता है । यदि ज्ञान को [वासना बना कर रुकता]
 है, तो अमृत होता है । यदि काम में फंसा रहता है, तो बहुत गिरता है ।
 इस योनि को समझे । यह इस विषय में मत है ।

श्लेष्मा रेतसः=वीर्य से उत्पन्न होता है । श्लेष्मा से रस । रस से
 शोणितम्=रक्त । रक्त से मांस । मांस से मेद । मेद से स्रायु । स्रायु से
 अस्थियां । अस्थियों से मज्जा । मज्जा से वीर्य । तत्=वह इदम्=यह योनौ
 =[स्त्री] योनि में वीर्य सिंचन किया गया पुरुष उत्पन्न होता है । वीर्य के
 अतिरेके=बलाधिक्य पर पुमान् [जाति] होता है । शोणित=रजाधिक्य पर
 स्त्री [जाति] होता है । दोनों के समान होने पर नपुंसक होता है । वीर्य
 कण के टुकड़े होने पर यमः=जीड़ा होता है ।

१. यह श्लोक अन्त में स्वल्प पाठान्तर के साथ, महाभारत, आश्वमेधिक पर्व,
 १७ । ३२, ३३ है । कुम्भघोष संस्करण ।

गुरु और रज के संयोग से, माता-पिता के संयोग से और, तो जैसे वह शरीर आगे बनता है। सौम्यः [गुरु और रज के मेल से] एकाकार होता है। एक रात उपितम् [उस अवस्था में] रह कर चलन होता है। पाचवी रात से बुद्ध बुद्ध [होते हैं] सात रात से पेती। २x७=चौदह रात से अर्बुद। पचीस रात का अपने में टहल घन होना है। मास मात्र में कठिन होता है। दो मास में धिर बनता है। मास तीन के द्वारा श्रीवा का ज्युदेण=विभाग। मास चार से त्वचा का विभाग। पाचवे मास में नख रोग का विभाग। षष्ठ [मास] में मुख, नासिका, आस, कान और उत्पन्न होता है। सातवें पर चलने=हिलने में समर्थ होता है। आठवे में बुद्धि से अध्यधस्यति=निश्चय करता है। नवम [मास] में सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होता है।

मय और मै, फिर उत्पन्न हुआ। उत्पन्न हुआ मै, फिर मय। नाना प्रकार की सहस्रो योनिया मेंरे द्वारा वास की गई निश्चय से ॥

आहार विविध प्रकार के खाए, पिए नाना प्रकार के स्तन। मत्ताए विविध प्रकार की देखी, पिता [और] मित्र बैस।

अवाङ्मुख = नीचे मुख किए [गर्भ में] पीडित होता हुआ, जन्तु और युक्त रहा। साह्य और योग का सम्यक् अभ्यास करे, पुरुष का अथवा पचीसवे का ध्य न कर ॥ इति।

तत्पश्चात् दशम मास में उत्पन्न होता है। उत्पन्न हुआ और वायु में स्पर्श किया गया, वह न स्मरण करता है जन्म-मरण को। अन्त में शुभानुभ कर्म [उस के साथ है] यह शरीर का प्रामाण्य है ॥ ६ ॥

भाष्य—वैदिक धर्म के एक अङ्ग का अतिमुन्दर निरूपण इस खण्ड में मिलता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त अनुपम सत्य है। इसी के आधार पर सत्कार में राज्य आदि की व्यवस्था श्रेष्ठ रूप में रह सकती है। ईसाई बहुरी गुट इस सत्य से डरता है।

इस खण्ड का बहुत सा पाठ गर्भोपनिषद् से मिलता है। अन्तिम तीन श्लोक विज्ञानेश्वर (विक्रम सं० ११२० के समीप) द्वारा याज्ञवल्क्य स्मृति १। ८३ की टीका में इस प्रकार उद्धृत हैं—निघण्टुस्य-अष्टादशेऽभिधानात्।

अर्थात्—१ निघण्टु के अध्याय, १२ तक श्वेत प्रकरण, और उस से आगे अठारहवें अध्याय में । विज्ञानेश्वर के निरुक्त में परिशिष्ट अठारहवां अध्याय कहा गया है ।

सांख्य योग का सिद्धान्त ही आर्य मत में मान्य है । प्राचीन वेदान्त भी इसी पक्ष का पोषक था । न्याय और वैशेषिक भी इसी प्रकार से आत्मा और पुनर्जन्म को मानते हैं ॥ ६ ॥

अष्टोत्तरं सन्धिशतम् । अष्टकपालं शिरः सम्पद्यते । षोडश वपापलानि । नव स्नायुशतानि । सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणाम् । अर्धचन्द्रो रोमाणि फोष्टयः । हृदयं ह्यष्टकपालानि । द्वादशकपालानि जिह्वा । वृषणो ह्यष्टसुपर्णो । तथोपस्थगुदपायु । एतन्मूत्रपुरीषं कस्मात् । आहारपानसिक्तत्वात् । अनुपचितकर्माणावन्योन्यं जयन्ते, इति ।

तं विद्याकर्मणी समन्वारमेते पूर्वप्रज्ञा च ।

महत्त्वज्ञानतमसि मग्नो जरामरणक्षुत्पिपासाशोकक्रोधलोभमोहमद-
भयमत्सरहर्षविषादेर्ष्यासूयात्मकैर्द्वन्द्वै रभिभूयमानः सोऽस्मादाज्वं
जवीभावानां तन्निर्मुच्यते । सोऽस्मावान्नं महाभूमिकावच्छरीरात्रिमेष-
मात्रैः प्रक्रम्य प्रकृतिरधिपरीत्य तैजसं शरीरं कृत्वा कर्मणोऽञ्जुरूपं
फलमनुभूय तस्य संक्षये पुनरिर्भेल्लोकं प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—आठ ऊपर सो=१०८ सन्धियां=जोड़ [हैं] । आठ कपाल वाला शिर बनता है । सोलह वपा पल [हैं] । नौ सौ ज्ञायु [हैं] । एक सौ सात पुरुष के मर्मों का [परिमाण है] । साढ़े चार करोड़ रोम । हृदय आठ कपाल [युक्त] । बारह कपाल वाली जिह्वा । दोनों वृषण आठ सुपर्णों वाले । तथा उपस्थ, गुदा मल मूत्र वाली । यह मूत्र, पुरीष किस कारण से । आहार, पान के सिक्त होने से । अनुपचित कर्म वाले एक दूसरे को जीतते हैं । इति ।

उस को विद्या और कर्म सहारा देते हैं, पूर्व प्रज्ञा और । महान् अज्ञान के अन्वकार में डूबे हुए, जरा, मरण, भूख, प्यास, शोक, क्रोध, लोभ, मोह, मद, भय, मत्सर, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, असूया रूप वाले द्वन्द्वों से अभिभूय-
मानः=पराजित किया गया, वह [जीव] इस [दुःख अवस्था] से सरलता

पूर्वक तीव्र भावों से मुक्त होता है । वह अहङ्कारयुक्त महाभूमिना के समान शरीर से निमेष मात्र से आरम्भ कर के प्रकृति को सर्वत्र घेर कर तैजस शरीर कर के कर्म के अनुकूल फल को भोग कर उस के नाश पर फिर इस लोक को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

भाष्य—इस खण्ड के अनेक पाठों का अर्थ अस्पष्ट है । आयुर्वेद में भी सन्धियों आदि की गणना है । रोमकूवों की गिनती शतपथ ब्राह्मण १२ ३१२ ८ में है । तं विद्याकर्मणी, पाठ बृहदारण्यक उपनिषद् ४ । ४ । २ में है । पर निरुक्त के पाठ के अन्त में इति' पद नहीं है ॥ ७ ॥

अथ य द्विसामाश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तपिरे चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति त धूममभिसम्भवन्ति । धूम्राद्राधिम् । रात्रेरपक्षीयमाणपक्षम् । अपक्षीयमाणपक्षाद् दक्षिणायनम् । दक्षिणायनात्पितृलोकम् । पितृलोकान्चन्द्रमसम् । चन्द्रमसो वायुम् । वायो वृष्टिम् । वृष्टेरोपधयश्च । पतद्भूत्या तस्य सक्षये पुनरेवेमेल्लोक प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—अब जो हिंसा का आश्रय कर के ज्ञान को त्याग कर महान् तप तपते हैं वेर तक वेदोक्त अथवा कर्मों को करते हैं वे धूम को प्राप्त होते हैं । धूम से रात्रि को । रात्रि से अपक्षीयमाण=कृष्ण पक्ष को । कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन को । दक्षिणायन से पितृलोक को । पितृलोक में चन्द्रमा को । चन्द्रमा में वायु को । वायु में वृष्टि को । वृष्टि से ओषधियों को । यह हो कर उस के नाश पर फिर ही इस लोक को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

भाष्य—कर्ममात्र से मोक्ष नहीं । ज्ञान और उपासना परम आवश्यक हैं । ज्ञान की महिमा अगले खण्ड में है ॥ ८ ॥

अथ य द्विसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तपिरि क्षानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तर्चिरभिसम्भवन्ति । अर्चिपोऽह । अह आपूर्यमाणपक्षम् । आपूर्यमाणपक्षादुदगयनम् । उदगयनाद् देवलोकम् । देवलोकान्दादित्यम् । आदित्याद् द्युतम् । द्युतान् । मानसम् । मानसपुरुषो भूत्या ब्रह्मलोकमभिसम्भवन्ति । न न पुनरायतन्त । शिष्टा दन्द्वाका पत इवान् जानन्ति । तस्मादिद् धदितम्यम् । अधाप्याह ॥९॥

अर्थ—अब जो हिंसा को त्याग कर ज्ञान का आश्रय कर के महान् तप तपते हैं, ज्ञानोक्त अथवा कर्म करते हैं, वे अर्चि को प्राप्त होते हैं । अर्चि से अहः को । अहः से शुक्ल पक्ष को । शुक्ल पक्ष से उदक् अयनम्=उत्तरायण को । उत्तरायण से देवलोक को । देवलोक से आदित्य को । आदित्य से वैद्युत् [स्थान] को । वैद्युत् स्थान से मानस [लोक] को । मानस पुरुष हो कर ब्रह्म लोक को प्राप्त होते हैं । वे नहीं फिर लौटते [इस लोक को ।] वचे-खुचे जीव दन्दशूक=सर्प आदि [योनियों में आते हैं ।] क्योंकि इस को नहीं जानते । इस कारण को जानना चाहिए । और भी कहा है ॥ ९ ॥

भाष्य—ए खण्ड में ऊर्ध्व गति का आभास दे कर इस नवम खण्ड में यथार्थ उर्ध्व गति का चित्रण है ।

दन्दशूकपद के साथ शालिशूक पद की तुलना करनी चाहिए । मौर्य वंश में शालिशूक एक शासक था । A Comprehensive History of India का मत है कि शालिशूक नाम Seleucus नाम के धनुकरण पर है । यह बात संगत नहीं ॥ ६ ॥

न तं विंदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं वभूव ।

नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुत्प उक्थशासश्चरन्ति ॥

[ऋ० १०।८२।७ ॥]

न तं विद्यया विदुषो यमेवं विद्वांसो वदन्त्यक्षरं ब्रह्मणस्पतिम् । अन्यद्युष्माकमन्तरम् । अन्यदेषामन्तरं वभूवेति । नीहारेण प्रावृतास्त-मसा । जल्प्या चासुत्प उक्थशासः ।

प्राणं सूर्यं यत्पथगामिनश्चरन्ति । अविद्वांसः क्षेत्रज्ञमनुप्रवदन्ति । अथाहो विद्वांसः । क्षेत्रज्ञोऽनुकल्पते । तस्य तपसा महाप्रमादमेति । अथाप्तव्यो भवति । तेनासन्ततमिच्छेत् । तेन सख्यमिच्छेत् । एष हि सखा श्रेष्ठः सज्जानाति भूतं भवद्भविष्यदिति ।

ज्ञाता कस्मात् ? ज्ञायतेः । सखा कस्मात् । सख्यतेः । सह भूतेन्द्रियैः शेरते । महाभूतानि सेन्द्रियाणि । प्रज्ञया कर्म कारयतीति ।

तस्य यदापः प्रतिष्ठा । शीलमुपगमः । आत्मा ब्रह्म । इति । स ब्रह्मभूतो
भवति । साक्षिमात्रो व्यवतिष्ठते । अन्वयो ज्ञानरुतः । -

अथात्मनो महतः प्रथमं भूतनामधेयान्यनुक्रमिष्यामः ॥ १० ॥

अर्थ—नहीं उस को जानने, जिस ने इन को उत्तर किया । दूसरा
तुम्हारे अन्दर [वह] था=है । (नीदारेण) अज्ञान के कूहर से ढके हुए
[हो ।] (जल्प्या) जल्पना=कथनमात्र में और (असुवृषः) प्रार्थों से
वृष (उकथयास्तः) केवल स्तोत्र पढ़ने वाले ; हो कर तुम्हारे एने लोम]
(चरन्ति) विचरते हैं ।

नहीं उस को विद्यया=ज्ञान से विदुषः=ज्ञानज, जिसको इन प्रकार
विद्वान् कहते हैं, अक्षर और ब्रह्मणस्तति को । दूसरा, तुम्हारे अन्दर ।
दूसरा इन [प्राणियों के] अन्दर था=है । इति । नीदारेण=तमसा=अज्ञा-
नान्वकार में ढके हुए [हो ।] कहने मात्र में, प्रार्थों में वृष, जल्प=स्तुति
बोलने वाले [हो ।]

प्राण को मूर्ध को जिस पथ पर जाने वाले चलते हैं । अविद्वान् क्षेत्रज्ञ
को कहते हैं । और विद्वान् । क्षेत्रज्ञ समर्थ होना है, जानना है । उस के तन
से महा जपमाद को प्राप्त होना है । अब प्राप्त होने योग्य होना है उस के
साथ मदा [रहने की] इच्छा करे । उस के साथ सह्य चाहे । यह ही
सखा श्रेष्ठ है, सम्पक् जानना है, [जो] भूत, वर्तमान और भविष्य ।

जाता किं कारण से । जायति से । सखा किस कारण से । मरुगति
से । साथ हुए इन्द्रियों के साथ सोजा है । महाभूत नाथ इन्द्रियों के । प्रजा
से कर्म कराना है । उन की जो व्याप्ति [वह] प्रतिष्ठा ।

शील उपगम [है ।] आत्मा ब्रह्म । इति । वह ब्रह्मभूत होता है ।
साक्षिमात्र टहरता है । बन्धन रहित [होता है] ज्ञान वाला ।

अब महात् आत्मा के पहने भूतनामधेय अनुक्रम से कहने ॥ १० ॥

भाष्य—प्रस्तुत वेद मन्त्र में आत्मा और परमात्मा का भेद प्रति स्पष्ट रूप
में बखिा है । इसी प्रकार ब्रह्म और परब्रह्म तथा पुराण और परम पुराण का भी
भेद है । ज्ञान से मोक्ष मिलता है, इस का यहाँ कथन है । पारक का मत बहीन
वेदान्त के विरुद्ध है ॥ १० ॥

हंसः । घर्मः । यज्ञः । वेनः । मेघः । कृमिः । भूमिः ।
 विभुः । प्रभुः । शम्भुः । राभुः । वृधकर्म । सोमः । भूतम् ।
 भुवनम् । भविष्यत् । आपः । महत् । व्योम । यशः । महः ।
 स्वर्णीकम् । स्मृतीकम् । स्मृतीकम् । सतीकम् । सतीनम् । गहनम् ।
 गभीरम् । गहरम् । कम् । अन्नम् । हविः । सन्न । सदनम् ।
 ऋतम् । योनिः । ऋतस्य योनिः । सत्यम् । नीरम् । हविः । रयिः ।
 सत् । पूर्णम् । सर्वम् । अदितम् । वर्हिः । नाम । सर्पिः । अपः ।
 पवित्रम् । अमृतम् । इन्दुः । हेम । स्वः । सर्गाः । शम्बरम् ।
 अम्बरम् । वियत् । व्योम । वर्हिः । धन्व । अन्तरिक्षम् ।
 आकाशम् । आपः । पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः । अर्धा ।
 पुष्करम् । सगरः । समुद्रः । तपः । तेजः । सिन्धुः । अर्णवः ।
 नाभिः । वृक्षः । ऊर्ध्वः । तत् । यत् । किम् । ब्रह्म । वरेण्यम् ।
 हंसः । आत्मा । भवति । वृधन्त्यध्वानम् । यद्वाहिष्या । शरीराणि ।
 अव्ययं च संस्कृते । यज्ञः । आत्मा । भवति । यदेनं तन्वते ॥

अथैतं महान्तमात्मानमेतानि सूक्तान्येता ऋचोऽनुप्रवदन्ति ॥ ११ ॥

अर्थ—अत्र इम महान् आत्मा को ये सूक्त और ये ऋचाएँ अनु
 प्रवदन्ति=आधिदैविक ढङ्ग के पञ्चान् कहते हैं ॥ ११ ॥

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
 जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

[ऋ० ६ । ६६ । ५ ॥]

सोमः पवते । सोमः सूर्यः प्रसवनात् । जनिता मतीनां प्रकाशकर्म-
 णामादित्यरश्मीनाम् । दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । पृथिव्याः

प्रथमकर्मणामदित्यरश्मीनाम् । अग्नेर्गतिकर्मणामदित्यरश्मीनाम् । सूर्यस्य
स्वीकरणकर्मणामदित्यरश्मीनाम् । इन्द्रस्यैश्वर्यकर्मणामदित्यरश्मी-
नाम् । विष्णोर्व्याप्तिकर्मणामदित्यरश्मीनाम् । इत्यधिदेवतम् ।

अथाध्यात्मम्—सोम आत्माप्येतस्मादेव । इन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः ।
अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूतम आत्मा । इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १२ ॥

अर्थ—सोम=सूर्य कहना है, जनक [जो] मतियों का । जनक द्यौ
का । जनक पृथिवी का । जनक अग्निः का । जनक सूर्य-रश्मियों का ।
जनक इन्द्र का । जनक और विष्णु का ।

सोम सूर्य [है], उत्पन्न करने से । जनक मतियों का=प्रकान कर्म
वाली आदित्य-रश्मिया का । दिवः=वमक कर्म वाली आदित्य-रश्मियों
का । पृथिवी का=प्रथम कर्म वाली आदित्य-रश्मिया का । अग्निः का=
गति कर्म वाली आदित्य-रश्मिया का । सूर्य का=सूर्य द्वारा संहार-क्रिया
से स्वीकार कर्म वाली आदित्य-रश्मिया का । इन्द्र का=ऐश्वर्य-कर्म वाली
आदित्य रश्मिया का । विष्णु का=व्याप्ति कर्म वाली आदित्य-रश्मियों का ।
यह अविदेवत [पद्य है ।]

अब अध्यात्म [पद्य]—सोम आत्मा=शरीर भी, इसी से । इन्द्रियों
का जनक यह अर्थ है । अथवा सारी विभूतिया से ऐश्वर्यवान् होने से
आत्मा । यह अरत्मगति को कहना है ॥ १२ ॥

भाष्य—पास्क की निरुक्त-शैली का इस भाष्य में देशीयमात् उदाहरण
मिलता है । पर ऐसा अर्थ वह पुरुष नहीं कर सकता, जो वेद के दण्डार्थ अर्थ
को नहीं जानता । आदित्य की रश्मियों के अनेक प्रकार यहाँ बर्णित हैं । पृथिवी
का प्रथम भी इन रश्मियों से हुआ, यह विज्ञान जानना चाहिए । प्रकाशकर्म
और घोलनकर्म का भेद भी जानना चाहिए । देवों के निर्माण समय सोम कण
रूपका हुआ, यह जानना चाहिए । निरुक्त का इस अर्थ-विभव बाला परिशिष्ट
पास्क के अतिरिक्त और कौन बिल सकता था ॥ १२ ॥

ब्रह्मा देवानां पदुवाः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।

श्येनो वृत्राणां स्वधित्तिर्वनानां सोमः पवित्रमर्त्येति रेभन् ॥

[ऋ० ६ । ६६ । ६ ॥]

ब्रह्मा देवानामिति । एष हि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । पदवीः कवीनामिति । एष हि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामादित्यरश्मीनाम् । ऋषिर्विप्राणामिति । एष हि ऋषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । महिषो मृगाणामिति । एष हि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । श्येनो गृध्राणामिति । श्येन आदित्यो भवति । श्यायतेर्गतिकर्मणः । गृध्र आदित्यो भवति । गृध्रयतेः स्थानकर्मणः । यत एतस्मिंस्तिष्ठति । स्वधितिर्वनानामिति । एष हि स्वयं कर्माण्यादित्यो धत्ते । वनानां वननकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । सोमः पवित्रमत्येति रेभन्निति । एष हि पवित्रं रश्मीनामत्येति स्तूयमानः । एष एवैतत्सर्वमक्षरम् । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—ब्रह्मा देवानामिति । अयमपि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामिन्द्रियाणाम् । पदवीः कवीनामिति । अयमपि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामिन्द्रियाणाम् । ऋषिर्विप्राणामिति । अयमपि ऋषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणाम् । महिषो मृगाणामिति । अयमपि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणाम् । श्येनो गृध्राणामिति । श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः । गृध्राणांन्द्रियाणि । गृध्रयतेर्ज्ञानकर्मणः । यत एतस्मिंस्तिष्ठन्ति । स्वधितिर्वनानामिति । अयमपि स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते । वनानां वननकर्मणामिन्द्रियाणाम् । सोमः पवित्रमत्येति रेभन्निति । अयमपि पवित्रमिन्द्रियाण्यत्येति । स्तूयमानोऽयमेवैतत्सर्वमनु भवति । इति आत्मगतिमाचष्टे ॥१३॥

अर्थ—ब्रह्मा देवों का, पदवी कवियों की, ऋषि विप्राओं का, महिष मुगों का, श्येन गृध्रों का, स्वधिति वनों का, सोम [है ।] पवित्र को उलांघता है शब्द करता हुआ ॥

यह [सोम] ही ब्रह्मा होता है, देवानाम्=देवनकर्म वाले आदित्य-रश्मियों का । यह ही पद का ज्ञाता कवियों के, कवीयमानानाम्=शब्द करते हुए आदित्य-रश्मियों का । यह ही ऋषिणः=गतिशील है, विप्राणाम् =व्यापनकर्म वाले आदित्य-रश्मियों का । यह ही महान् है मार्गण=हूँड करने वाले आदित्य-रश्मियों का । श्येन आदित्य होता है । श्यायति से गति अर्थ वाले से । गृध्र आदित्य होता है, गृध्रयति से स्थिति अर्थ वाले

से । क्योंकि इस में टहुरता है । यह ही स्वयं कर्मों को आदित्य धारता है । सेवनकर्म वाले आदित्य-रश्मियों का । यह [सोम] ही पवित्र रश्मिया का उल्लेखन करता है, स्तुति किया गया । यह ही सब है अक्षर । यह अधिदैवत [पक्ष है ।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—यह भी ब्रह्मा होता है देवनकर्म वाले इन्द्रियों का । यह भी पद को जानता है मन्त्र करते हुए इन्द्रियों का । यह भी गतिशील है व्यापनकर्म वाले इन्द्रिया का । यह भी महान् होता है, दूढ़ करने वाले इन्द्रिया का । श्वेन आत्मा है । श्वायति में गति अर्थ जाने म । गृध्र इन्द्रिय है । गृध्रति में, ज्ञान अर्थ वाले म । क्योंकि इस में टहुरते हैं । यह भी स्वयं कर्मों को अपने म धारता है । मेवनकर्म वाले इन्द्रिया का । यह भी पवित्र [है], इन्द्रिया को उनाधता है । स्तुति किया गया, यह ही सब अनुभव करता है । यह आत्मगति को कहता है ।

भाष्य—सोम की महिमा अक्षरणीय है । इसी क्षिप् अश्वेद में केवञ सोम-परक एक मन्त्र है । यह सारा जगत् सोम के आश्रय पर है । आदित्य और शरीर सोम के आश्रय पर है । ईश्वर भी सोम कहा जाता है ॥ १२ ॥

तिस्रो वाच ईरयति प्र वद्धिर्ऋतस्य धीति ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गात्रो यन्ति गोपति पृच्छमानाः सोमै यन्ति मतयो वाग्शानाः ॥
[ऋ० ६। १७। २४ ॥]

वदिरादित्यो भवति । स तिस्रो वाचः प्रेरयत्युचो यजू रि सामानि । ऋतस्यादित्यस्य कर्माणि ब्रह्मणो मतानि । एवं पर्वतःसर्वमक्षरम् । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—वदिरात्मा भवति । स तिस्रो वाच ईरयति प्रेरयति विद्यामतिरुद्धिमताम् । ऋतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतानि । अयमेवैतत्सर्वनुभवति । इति आत्मगतिमाचष्टे ॥ १६ ॥

अर्थ—तीनों वाणियों को प्रेरित करता है । (वद्धिः) आदित्य में टहुरा वद्धि (ऋतस्य) आदित्य के (धीतिम्) कर्मों को (ब्रह्मण) ब्रह्म के (मनीषाम्) मतों को । (गात्रः) गौए जाती है गोरति को पूछती हुई । सोम की जाती है मतिया (वाग्शाना.) कामना करती हुई ।

वह्नि आदित्य होता है। वह तीनों वाणियों को प्रेरित करता है, ऋचाओं, यजुओं, सामों को। ऋतस्य=आदित्य के कर्म। ब्रह्म के मत। यह ही यह सब, अक्षर। यह अधिदैवत [पक्ष है।]

अव अध्यात्म [पक्ष-] वह्नि आत्मा है। वह तीनों वाणियों को प्रेरित करता है, विद्या, मति, बुद्धि को। ऋतस्य=आत्मा के कर्म। ब्रह्म के मत। यह ही यह सब अनुभव करता है। यह आत्मगति को कहता है ॥ १४ ॥

भाष्य--वेद विद्या का एक महान् रहस्य यज्ञं लोका गया है। आदित्यो में ऋक्, यजु, साम प्रेरित हो रहे हैं। ये ही मन में प्रेरित होते हैं। यह संकेत साम्य पद्याशिका में भी है। वेद की धृतियां श्रय भी सुनी जा सकती हैं। साधारण मति वाला इसे श्रसंभव समझेगा, पर विद्वान् इस गम्भीर सत्य को जानते हैं ॥ १४ ॥

सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः ।

सोमः सुतः पूयते अज्यमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः स नवन्ते ॥

[ऋ० ६। ६७। ३५। ॥]

एत एव सोमं गावो धेनवो रश्मयो वावश्यमानाः कामयमाना आदित्यं यन्ति। एवमेव सोमं विप्रा रश्मयो मतिभिः पृच्छमानाः कामयमाना आदित्यं यन्ति। एवमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमानः। एतमेवार्काश्च त्रिष्टुभश्च सन्नवन्ते। तत एतस्मिन्नादित्य एकं भवन्ति। इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्--एत एव सोमं गावो धेनव इन्द्रियाणि वावश्यमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्ति। एवमेव सोमं विप्रा इन्द्रियाणि मतिभिः पृच्छमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्ति। एवमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमानः। इममेवात्मा च सप्त ऋषयश्च सन्नवन्ते। तान्येतस्मिन्नात्मन्येकं भवन्ति। इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १५ ॥

अर्थ--सोम की गौएं (धेनवः) दूध देने वाली, (वावशानाः) कामना करती हुईं। सोम की विप्र मतियों से पूछते हुए सोम (सुतः) ;

निचोडा दूआ (पूषत) प्राप्त होता है (अल्पमान्) मेवन किया वन ।
 सोम म (अर्घ्य) स्तुति वान मत्र (विष्णुम) छन्द वान (स वचन्त)
 एक स्थान म नूक्तन है ॥

य हा सोम को गोए दूव न्न वान एरिन चाहन हुए अदित्य को
 जानत है । इस ही प्रकार न विष्णु=रश्मिया नरिया न वृद्धमाना-
 वानता कस्त हुए अदित्य को जान है । इन ही प्रकार सोम निचोण दूआ
 प्राप्त हुना है, वचन किया गया । इस को ही मत्र और विष्णु और वचनन
 कस्त है । वहा स इन अदित्य म एक रूप होत है । यह अविर्बन
 [पत्र है ।]

अथ अध्यान [पत्र]—य हा वान को गोए दुव वानी इन्द्रिया
 वानता कस्ता हुए जाना को जाना है । इस प्रकार स ही सोम को इन्द्रिया
 मत्रियों स वानता कस्तो हुए जाना को जानो है । इस प्रकार हा सोम
 निचोडा दूआ प्राप्त होता है मेवन किया गया । इस को ही जाना और
 सत रूपि नूक्तन है । व इन जाना म एक रूप हुन है । यह अल्पमन्त्र
 को कहता है ॥ १५ ॥

भाष्य—निरुक्त शब्द क इस अक्षर क विना इन मन्त्रों के सम्यो कर्ष
 जान नहीं हो सकत ॥ १५ ॥

अक्रान्तिसमुद्रः प्रथमे विधर्मजनपन्त्रजा सुवनस्य राजा ।

वृषा पवित्रे अधि सानो अर्घ्यं बृहत्सामा वावृध सुवान इन्दुः ॥

[श्रु० ६।१७।४० ॥]

अत्यकर्मासमुद्र अदित्य परम प्यवन वर्षकमरा जनपत्रजा
 सुवनस्य राजा सवस्य राजा । वृषा पवित्र अधि सानो अर्घ्य बृहत्सामा
 वावृध सुवान इन्दु । इत्यग्निद्वयम् ।

अथाध्यानम् अत्यकर्मासमुद्र जाना परम प्यवन ज्ञानकमरा
 जनपत्रजा सुवनस्य राजा सवस्य राजा । वृषा पवित्र अधि सानो अर्घ्य
 बृहत्सामा वावृध सुवान इन्दु । इत्यानातिमाचष्ट ॥ १६ ॥

अर्थ—(अक्रान्) पार दूआ (समुद्र) अदित्य (प्रथम) परम
 (विधर्म) सोम वान म (जनपन्त्र) जान वरत हुए (राजा)

प्रजाओं को (भुवनस्य) सब भुवनों का (राजा) राजा । (वृषा) वर्षा करने वाला पवित्र चोटी के ऊपर, सोम (वायुधे) बड़ा (सुवानः) प्रेस्ता हुआ (इन्दुः) ऐश्वर्य वाला ॥

अत्यक्रीत्=उलांघ गयः=गार हुआ । समुद्रः=आदित्यः=आदित्य परम यो में वर्षकर्म से उत्पन्न करता हुआ प्रजा को, नव का राजा । वृषा...यह अधिदैवत [पदा है ।]

अथ अध्यात्म [पक्ष]—पार हुआ समुद्रः=आत्मा, परम=महान् व्ययने=आत्मा में ज्ञान कर्म से उत्पन्न करते हुए प्रजा को, सब का राजा । वृषा.....यह आत्मगति को कहता है ॥ १६ ॥

महत्तत्सोमो महिपश्चकारापां यद् गर्भोऽवृणीत देवान् ।

अदधादिन्द्रे पवमान् ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥

[ऋ० ६। ६७। ४१ ॥]

महत्तत्सोमो महिपश्चकारापां यद् गर्भोऽवृणीत । देवानामाधिपत्यम् । अदधादिन्द्रे पवमानः ओजः । अजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुरादित्यः । इन्दुरात्मा ॥ १७ ॥

अर्थ—(महत् तत्) महान् उस (सोमः) सोम ने (महिपः) बड़े ने [काम] (चकार) किया, (अपाम्) आपः का (यत्) जो (गर्भः) गर्भ (अवृणीत) वर लिया, स्वीकार किया (देवान्) देवों को । (अदधात्) धारण कराया, रखा (यत्) जो (इन्द्रे) इन्द्र में (पवमानः) पवमान अग्निः वाला (ओजः) बल, (अजनयत्) उत्पन्न किया (सूर्ये) सूर्य में (ज्योतिः) ज्योति को (इन्दु) ऐश्वर्य वाले ने ॥

देवानाम् आधिपत्यम्=देवों के आधिपत्य को । इन्दुः=आदित्य । इन्दुः=आत्मा ॥ १७ ॥

भाष्य—इस मन्त्र के दूसरे चरण से भासता है कि आपः का गर्भ अन्य देव हैं, अथवा स्वयं सोम । इन्द्र में पवमान ओज धारण किया । हम दुर्गाचार्य के प्रमाण से पहले कई बार लिख चुके हैं कि वैद्युत् ज्योति जो वायु से आवेष्टित हुई, वह इन्द्र है । इस मन्त्र से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सोम ने इन्द्र में पवमान

अग्नि = अग्नि को रखा । यह इन्द्र के ज म का संकेत है । निस्तन्देह वेद के रहस्य वेद से ही खुलते हैं । इन्द्र आदित्य है और आत्मा [नी ।] देवाना माधिपत्यम् पद दोनों प्रकारों में अपना अपना अर्थ देते हैं ॥ १० ॥

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽथा ममार स ह्यः समान ॥

[ऋ० १०।१४।१८ ॥]

विधुं विधमनशीलम् । दद्राण दमनशीलम् । युवान चन्द्रमस पलित आदित्यो गिरति । सद्यो म्रियत स दिवा समुदिता । इत्यधि-
दैवतम् ।

अथाध्यात्मम्-विधु विधमनशीलम् । दद्राण दमनशीलम् । युवान महान्तं पलित आत्मा गिरति । रात्रौ म्रियत । रात्रि समुदिता । इत्या-
त्मगतिमाचष्टे ॥ १८ ॥

अर्थ—(विधुम्) कमाने वाले (दद्राणम्) दमनशील (समने) युद्ध म (बहूनाम्) बहूतों के (युवानम् सन्तम्) युवा दृष्ट [चन्द्र को] (पलित) [इन्द्र की अपेक्षा जो] वृद्ध आदित्य [है, वह] (जगार) निगलता है । देव क देखो काव्य को । (महित्वा) महिमा स (अथ) आज (ममार) मरता है, (स) वह (ह्य) रात्रि की समाप्ति पर (समान) उदित होता है ॥

विधुम्=कमाने के शील वा न को, दमनशील को, युवा चन्द्र को आदित्य निगलता है । [सायं को] तत्काल मरता है वह दिन को उदित होता है । यह अधिदैवत [पक्ष है ।]

अथ अध्यात्म [पक्ष]—कमाने के-शील वा न को, दमनशील को, युवा महान को पलित=आत्मा निगलता है । रात्रौ मे [सोता है, अर्थात्] मर जाता है, रात [के बीतन पर] उदित होता है । यह आत्मगति को कहता है ॥ १८ ॥

भाष्य—आदित्य रश्मियों को कपाता है। अमावस्या के दिन एक राशि में होने के कारण सूर्य चन्द्र को निगल लेता है। सूर्य का मरना एक रहस्य है। जैसा आज फल समझा जाता है, वह भूमि के दूसरी ओर होना नहीं है। वैदिक ग्रन्थों से यह रहस्य समझ में आएगा। मैं अभी इसे पूरा नहीं समझ सका ॥ १८ ॥

साकज्जानां सप्तथमाहुरेकजं पळियमा ऋषयो देवजा इति ।

तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

[ऋ० १ । १६४ । १५ ॥]

सहजातानां पणामृषीणामादित्यः सप्तमः । तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि चाद्भिः सह सम्मोदन्ते । यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतीषि तेभ्यः पर आदित्यः । तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—सहजातानां पणामिन्द्रियाणामात्मा सप्तमः । तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वान्नेन सह सम्मोदन्ते । यत्रैतानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा । तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति । इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १६ ॥

अर्थ—(साकम् जानाम्) साथ उत्पन्न हुए [पदार्थों में से] (सप्तथम्) सातवें को (आहुः) कहते हैं (एकजम्) अकेला जन्मा, (पट् इत्) छः ही (यमाः) एक साथ उत्पन्न (ऋषयः) ऋषि (देवजाः) देव से उत्पन्न, (इति) (तेषाम्) उन के (इष्टानि) चाहे हुए रूप (विहितानि) रखे गए हैं (धामशः) स्थानों के अनुकूल, (स्थात्रे) स्थापित करने वाले के लिए (रेजन्ते) कांपते हैं (विकृतानि) विविध आकृतियों वाले (रूपशः) रूपों से ॥

साथ उत्पन्न हुए छः ऋषियों का आदित्य सातवां [है ।] उन के इष्ट अथवा, चाहे हुए अथवा, उल्लिखित अथवा, गए हुए अथवा, माने हुए, अथवा, भुक्ते हुए अथवा अद्भिः सह=अपः के साथ आनन्द मनाते हैं । जहां ये सात ऋषि रूपी=गतिशील ज्योतियां [हैं ।] उन से परे आदित्य [है ।] वे सब इस में एक रूप होती हैं । यह अधिदैवत [पक्ष है ।]

अब अध्यात्म [५५]—साय उतरन हुए छ इन्द्रियो का आत्मा सातवा । उन क इष्ट अथवा, सुते हुए अथवा, अन्न के साथ आनन्द मनाते हैं । जहाँ ये सात श्रुति-गति गीठ और ज्ञान कराने वाले इन्द्रिय [ह ।] इन से पर आत्मा [है ।] व इन म एकरूप होते हैं । यह आत्मगति को कहता है ॥ १९ ॥

भाष्य—य श्रुतिया का आदित्य पत्र में सायण ने अनु अर्थ किया है । सप्त दशम=इस उदिक रूप स अमेठी के अषष्ठम में seventh रूप हुआ है । वे छ एक साथ जन्मा हैं । उन छ के अपन अपने इष्ट आदि हैं । सूर्य की माया अप के कारण है । उही अप में वे श्रुति आनन्द मनाते हैं । कौन यारक के बिना ऐसा गम्भीर अर्थ कहता । भाष्य का कुछ अरा निरुक्त १० । २६ के भाष्य के एक अरा क समान है । सम्भवत यहाँ कुछ पाठ भ्रष्ट हुआ है ॥ १९ ॥

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुस आहुः पश्यदक्षुएवान्न वि चन्दन्धः ।

कृत्रियः पुत्र स इमा चिरेत यस्ता विजानात्स पितृप्पितामत् ॥

[ऋ० १ । १६४ । १६ ॥]

स्त्रिय एवति । ता शन्दस्पशरूपरसगन्धहारिण्य । ता अमु पुशन्दे । निराहार प्राण इति पश्यन्कष्टान विजानात्सन्ध । कविर्ये पुत्र स इमा जानाति । य स इमा जानाति स पितृप्पितामत् । इत्यात्मगतिमबध्ते ॥ २० ॥

अर्थ—(स्त्रिय) स्त्री (सती) होते हुए (तान्) उ ह (उ) ही (मे) मेरे को (पु स) पुरुष (आहुः) कहते हैं । (पश्यत्) देखता है (अक्षुएवान्) अल वाता । (न विचेनत्) नहीं जनता अथा । (कवि) जानता है [इन रहस्य को] (य पुत्र) जो पुत्र है । (स) वह (ईम्) इस को (आ चिरेत) सब ओर से जानता है । (य) जो (ता) उन को (विजानात्) जानता है (स) वह (पितृ पिता अमत्) पिता का पिता है ॥

स्त्रिया ही । य [आदित्य रश्मि समूह] गन्ध रूप, रस गन्ध को हरने वालिया । उन को पुरुष गन्ध में । निराहार [है] प्राण, यह

देवता हुआ, कष्ट से नहीं जानता अन्धा । ज्ञाता जो पुत्र है, वह इन्हें जानता है । जो वह इन्हें जानता है, वह पिता का पिता है । यह आत्मगति को कहता है ॥ २० ॥

भाष्य—अग्नेद मण्डल १, सू० १६४ में प्रहेलिकापं है । इन का अर्थ परम्परा से ही ज्ञात हो सकता है । सायण ने आदित्य रश्मिसमूह से इस का अर्थ जोड़ा है । यहां भी भाष्यांश द्रुष्टित प्रतीत होता है । मनु के पिता भवति मन्त्रदः, का मूल यही मन्त्र है ॥ २० ॥

सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णो रितृन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनमा ते विपश्चितः परि भुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥

[ऋ० १ । १६४ । ३६ ॥]

सप्तैतानादित्यरश्मीनयमादित्यो गिरति । मध्यस्थानोर्ध्वशब्दः ।
यान्यस्मिंस्तिष्ठन्ति तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्ययन्ति । परिभुवः
परि भवन्ति सर्वाणि कर्माणि वर्षकर्मणा । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्म--सप्तैतानीन्द्रियाण्ययमात्मा गिरति । मध्यस्थानोर्ध्व-
शब्दः । यान्यस्मिंस्तिष्ठन्ति तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्ययन्ति ।
परिभुवः परिभवन्ति सर्वाणीन्द्रियाणि ज्ञानकर्मणा । इत्यात्मगति-
माचष्टे ॥ २१ ॥

अर्थ—(सप्त-) सात [रश्मि] (अर्द्धगर्भाः) आधे भाग के गर्भ में
(भुवनस्य) भुवन के (रेतः) रेतवत् (विष्णोः) व्यापक आदित्य के
(तिष्ठन्ति) ठहरते हैं (प्रदिशा) आज्ञा से (विधर्मणि) विविध कर्तव्य
में । (ते) वे (धीतिभिः) प्रज्ञाओं से (मनसा) बुद्धि से [और] (ते)
वे (विपश्चितः) बुद्धि से (परि भुवः) चारों ओर हुए (परि भवन्ति)
सर्वोपरि होते हैं, (विश्वतः) चारों ओर से ॥

सात इन को आदित्य रश्मियों को यह आदित्य निगलता है । मध्य-
स्थान वाला ऊर्ध्व शब्द । जो इप में ठहरते हैं, वे कर्मों से और मन से और,
विपर्ययन्ति=विपर्यय को प्राप्त होते हैं, चारों ओर हुए सर्वोपरि होते हैं सब
कर्मों पर वर्षकर्म से । यह अधिदैवत [पक्ष है ।]

अब अध्यात्म [पत्र]—सात इन इन्द्रियो को यह आत्मा निगलता है। मध्य स्थान वाला ऊर्ध्व शब्द । जो हम में ठहरते हैं, वे कर्मों से और मन से और विपर्यय को प्राप्त होने हैं । चारों ओर दूए सर्वापरि होते हैं और सारे इन्द्रिय, ज्ञान कर्म से । यह आत्मगति को कहता है ॥ २१ ॥

भाष्य—मध्यस्थानोर्ध्वशब्द यह पाठ अस्मि है । क्या ऊर्ध्व के स्थान में अथ पाठ ठीक होगा । अथवा क्या आदित्य के मध्य स्थान में ऊर्ध्व शब्द होता है । मध्य स्थान से रश्मि विपर्यय जानना चाहिए ॥ २१ ॥

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निरुयः सन्नद्धो मनसा चरामि ।

[श्रु० १ । १६४ । ३७ ॥]

न हि विजानन् बुद्धिमनः परिवेद्यन्ते । अयमादित्यः । अयमात्मा ॥ २२ ॥

अर्थ—नही पूर्ण ज नता हूँ, (यदिन इदम्) जिस रूप के समान यह (अस्मि) मैं हूँ । छिमा हुआ=अज्ञानावृत (निरुय) छिमा हुआ (सन्नद्ध) बन्धा हुआ (मनसा) मन से (चरामि) विचरता हूँ ॥

नही पूर्ण जानता हुआ बुद्धिमान् को जनाते है । यह आदित्य । यह आत्मा ॥ २२ ॥

भाष्य—यहां भी पाठ उद्धित प्रतीत होता है । ॥ २२ ॥

अपाद् प्रादति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।

ता शश्वन्ता विपुचीना प्रियन्ता न्यून्य चिन्त्युर्न नि चिन्त्युरन्यम् ॥

[श्रु० १ । १६४ । ३८ ॥]

अपाञ्चयति प्राञ्चयति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आदित्यो मर्त्येन चन्द्रमसा सह । ती शश्वद्गामिनी विभ्वगामिनी षट्गामिनी वा । पश्यत्यादित्यं न चन्द्रमसम् । इत्यधिदेवतम् ।

अथाभ्यारमम्—अपाञ्चयति प्राञ्चयति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आत्मा मर्त्येन मनसा सह । ती शश्वद्गामिनी विभ्वगामिनी षट्गामिनी वा । पश्यत्यात्मानं न मनः । इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २३ ॥

अर्थ—(अपाङ्) नीचे (प्राङ्) ऊपर (एति) जाता है (स्वधया) स्वधा रूप देवी अन्न से (गृभीतः) पकड़ा हुआ । (अमर्त्यः) अमरणवर्मा आदित्य (मर्त्येन) चन्द्र के साथ (सयोनिः) समान स्थान=समान राशि वाला । (ता) वे दोनों (शश्वन्तो) सदा वर्तमान (विपूचीना) सर्वत्र जाने वाले (वियन्ता) विविध चलने वाले । (निचिक्थुः) देखता है (अन्यम्) दूसरे को, नहीं (निचिक्थुः) देखता (अन्यम्) दूसरे को ॥

नीचे जाता है, ऊपर जाता है, स्वधा से पकड़ा हुआ, अमर्त्य=आदित्य मर्त्येन=चन्द्रमा के साथ । वे दोनों गतिशील, सर्वत्र गतिशील, वह गतिशील अथवा देखता है=आदित्य को, नहीं चन्द्रमा को । यह अविदैवत [पक्ष है ।]

अत्र अध्यात्म [पक्ष]—नीचे जाता है, ऊपर जाता है, स्वधा से पकड़ा हुआ अमर्त्य=आत्मा, मर्त्य=मन के साथ । वे दोनों सदा गतिशील सर्वत्र गतिशील, वह गति शील अथवा । देखता है आत्मा को नहीं मन को । यह आत्मगति को कहता है ॥ २३ ॥

भाष्य—आत्मा नित्य है, मन नहीं । यह वैदिक सिद्धान्त है ॥ २२ ॥

तदिदासु भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।

सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रून्नु यं विश्वे मदन्त्युमाः ॥

[ऋ० १० । १२० । १ ॥]

तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमादित्यं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णो दीप्तिनृम्णः । सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रून्नुति । रिणातिः प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा । अनुमदन्ति यं विश्व ऊमाः । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमव्यक्तं यतो जायत उग्रस्त्वेषनृम्णो ज्ञाननृम्णः । सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रून्नुति । रिणाति प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा । अनुमदन्ति यं सर्व ऊमाः । इत्यात्मगति-माचष्टे ॥ २४ ॥

अर्थ—(तत् इत् आस) वही ही है (भुवनेषु) सम्पूर्ण भूतजातों में (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ=बड़ा (यतः) जहाँ से (जज्ञे) जन्मा (उग्रः) प्रचण्ड

(स्वयं नृपण) दीप्ति बल वाता । (सद्य) तत्काल (ज्ञान) उत्पन्न होते ही निरिणानि) दीप्ति म [नष्ट] करना है (शशून्) शत्रुओं को (अनु यम्) उत्पत्ति रूपवान् जिन को [देव कर] (विश्व) सारे (मद्भि) प्रमत्त हान ह (ऊमा) प्राणी ॥

वह होता है भूता म वदा अन्वित्य । जहा से जन्मा उग्र [और] दीप्ति म बन वाता । रिणानि , प्राति अर्थ वाला दीप्ति अर्थ वाला अथवा । पद्मात् प्रमत्त हान यम्=जिन क [उदय क] सारे प्राणी । यह अविदेव [पम है ।]

अव अध्यात्म [पम] जगम्=ब्रह्म-महान आत्मा । जहा स जमता है उग्र नान बन वाता । जमने ही नष्ट करना है शत्रुओं को । रिणानि, प्राति अर्थ वाला दाप्ति अर्थ वाला अथवा । यह आत्मगति को कहता है ॥ २४ ॥

को अद्य युद्धके धुरि मा श्रुतस्य शिमीवतो भामिनीं दृष्ट्वायून् ।
आमन्त्रिपून्हुत्स्वसो मयोभून् य एषा भृत्यामृणुत्स जीवात् ॥

[श्रु० १ । ८४ । १६ ॥]

क आदित्यो धुरि मा युक्ते । रश्मी-रश्मिवतो भानुमतो दुराधर्षात् । असून्य सुनरन्तीपूनिपुणरन्ति मयोभूनि सुखभूनि । य एष सम्भृत षट् कथ स जीवति । इत्यभिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—क आमा धुरि मा युद्धके । इन्द्रियाणि कर्मवतो भानुमतो दुराधर्षानसून्यसुनरन्तीपूनिपुणरन्ति मयोभूनि सुखभूनि । य एष सम्भृत षट् चिर जीवति । इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २५ ॥

अर्थ—(क) कौन [पुण्यवान्] अन्वित्य (अद्य) आज (युक्ते) जोड़ना है (धुरि) धुर [क पूजन क कम] म (मा) रश्मियों को । [य रश्मि जो] (श्रुतस्य) श्रुत क (शिमीवत) कमवान क । गिणी यह कम नाम । (भामिनि) [शत्रुओं पर दुरावय क (दृष्ट्वायून्) पाप रूप शीव वाता क [है] (आसन् इपून्) आस्य-मुख म इपुओं को (इत्स्वस) हृदयों पर इपु के वन वात (मयोभून्) मुख को भावना करने

वाले [ये रश्मि] । (यः) जो इन की (भृत्याम्) [रश्मि रूप अश्वों की] ऋजीव और धाना लक्षणा भृति को (ऋणधत्) समृद्धि करता है, (सः) वह (जीवात्) सुन्दर जिए, अथवा जीता है । वही पुण्यकर्मा है ।

कौन आदित्य धुर में गाः रश्मीन्=गौ नामक रश्मि रूप अश्वों को युक्ते=जोड़ता है । कर्मवान् के भानुमान् के [आदित्य के] दुराधर्षों को । असून्यसुनवन्तीपून् इपुण्वन्ति आस्य में इपुओं वाले, सुख की भावना वाले । जो इस पालन को जानता है, कैसे वह जीता है । यह अधिदैवत- [पक्ष है ।]

अव अध्यात्म [पक्ष]—कौन आत्मा धुर में गाः=इन्द्रियों को जोड़ता है । कर्मवान् के भानुमान् के [आत्मा के] दुराधर्षों को.....सुख की भावना वाले । जो इस पालन [कर्म] को जानता है, चिर तक जीता है । यह आत्मगति को कहता है ॥ २५ ॥

भाष्य—मन्त्र का पूरा भाव अस्पष्ट है । भाष्यकार आदित्य के साथ तथा रश्मि के साथ भी सारा अर्थ जोड़ते हैं । स्कन्दस्वामी ने ऋग्भाष्य में इस मन्त्र में इन्द्र का सम्बन्ध भी जोड़ा है । अति प्राचीन काल से निरुक्त के वृत्तिकार परिशिष्ट के इस अंश पर ध्यान नहीं देते थे, अथवा इस की उपेक्षा करते थे । फलतः इस अंश के कई पाठ संदिग्ध हो गए हैं ॥ २५ ॥

क ईपते तुज्यते को विभाय को मंसते सन्तमिन्द्रं को अन्ति ।

कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधि ब्रवत्तन्वेइ को जनाय ॥

[ऋ० १ । ८४ । १७ ॥]

क एव गच्छति । को ददाति । को विभेति । को मंसते सन्तमिन्द्रम् । कस्तोकायापत्याय महते च नो रणाय रमणीयाय दर्शनीयाय ॥ २६ ॥

अर्थ—कौन (ईपते) भागता है, (तुज्यते) देता है [स्कन्द ऋग्भाष्य—हिंसा किया जाता है] (कः) कौन (विभाय) डरता है (कः) कौन (मंसते) मानता है । (सन्तम्) होते हुए (इन्द्रम्) इन्द्र को (कः) कौन (अन्ति) पास में [जान कर भी] । (कः) कौन

(तोकाय) अपत्य के लिए (क) कौन (इभाय) हाथी के लिए (राय) धन के लिए (अधि-व्रवत्) [कौन] कह (तन्वे) [रोग रहित] गरीर के लिए, (क) कौन (जनाय) [अपन परिचारक] जन के लिए । [इद्र = ईश्वर कर्म फल के रूप में स्वयं सब देता है ।]

कौन ही जाना है । कौन देता है । कौन डरता है । कौन मानता है होते हुए इद्रम को [जान कर] । कौन अपत्य क लिए महान और हमारे दशनीय क लिए ॥ २६ ॥

भाष्य—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इद्र पद से सेनापति का अभिप्राय ग्रहण किया है । परिशिष्ट के इस स्थान का संकेत दुर्ग ने अपनी वृत्ति ३ । २१ और १० । २३ पर किया है । निस्सन्दह दुर्ग को परिशिष्टों का ज्ञान था । अर्थात्—आज से लगभग १५००-१६०० वर्ष पहले अथवा इससे भी पहले परिशिष्ट निरुक्त का अर्थ था । ईसाई बहूदी गुट ने इन की प्रामाणिकता में वृथा सन्देह उत्पन्न किया था । महान् आत्मा, ईश्वर और महत् तब परक वदार्थ को प्रकिया अति प्राचीन है ॥ २६ ॥

को अग्निमीष्टे हविषा घृतेन सूचा यजाता ऋ मिधुवभिः ।

कस्मै देवा आग्रहानाशु हाम को मसते वीतिहोत्रः सुदेवः ॥

[ऋ० १ । ८४ । १८ ॥]

क आदित्य पूरयति [= पाठान्तर-पूरयति] हविषा च घृतेन च । सूचा यजाता ऋतुभिर्धुवभिरिति । कस्मै देवा आग्रहानाशु होमार्थान् । को मसते वीतिहोत्र सुदेव कल्याणदेव । इत्यधिर्देवतम् ।

अथाध्यात्मम् । क आत्मानं पूरयति हविषा च घृतेन च । सूचा यजाता ऋतुभिर्धुवभिरिति । कस्मै देवा आग्रहानाशुहोमार्थान् । को मसते वीतिहोत्र सुप्रश कल्याणप्रश । इत्यामगतिमा चष्टे ॥ २७ ॥

अर्थ—कौन (अग्निम्) प्रकाशक आदित्य को (ईष्टे) पूजता है, हविष और घृत से और । (सूचा) सूक् से [कौन] (यजाते) [उस का]

यजन करता है (ऋतुभिः-ध्रुवैभिः) [सप्तमी के अर्थ में तृतीया] नियत ऋतुओं में । (कस्मै) किस के लिए (देवाः) देव सारे (आवहान्) प्राप्त कराते हैं (आशु) शीघ्र (होम) होम पदार्थों को । (कः) कौन (मंसते) जानता है (वीतिहोत्रः) वीतिहोत्र [ऋग्भाष्य, स्कन्द—कान्तिहोत्रः, सायण-प्राप्तयज्ञः] (सुदेवः) कल्याण देव वाला [स्तोता ।]

कौन आदित्य को पूर्ण करना । [अथवा पूजता] है, हवि से और घृत से और । नुक् से यजन करे ऋतुओं से नियत से [=नियत ऋतुओं में ।] किस के लिए सारे देव प्राप्त कराते हैं शीघ्र होम के पदार्थों को । कौन जानता है कान्तिहोत्र कल्याणदेव । यह अधिदैवत [पक्ष है ।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—कौन आत्मा को पूजता है, हवि से और घृत से और । नुक् से यजन करे नियत ऋतुओं में । किस आत्मा के लिए सारे इन्द्रिय गण=देव प्राप्त कराते हैं शीघ्र होम के पदार्थों को । कौन जानता है सुप्रज्ञ [और] कल्याण-प्रज्ञ । यह आत्मगति को कहता है ॥ २७ ॥

भाष्य—यस्क के अनुसार १४ वे' परिशिष्ट में महानात्मा का अधिकार चल रहा है । वह है आदित्य और आत्मा ॥ २७ ॥

त्वमङ्ग प्र शंसिपो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ॥

न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्दितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥

[ऋ० १ । ८४ । १६ ॥]

त्वमङ्ग प्रशंसीर्देवः शविष्ठ मर्त्यम् । न त्वदन्योऽस्ति मघवन् पाता वा पालयिता वा जेता वा सुखयिता वा । इन्द्र ब्रवीमि ते वचः स्तुतियुक्तम् ॥ २८ ॥

अर्थ—(त्वम्) तू हे (अङ्ग) मित्र [इन्द्र=आदित्य वा आत्मन्] (प्र शंसिपः) प्रशंसा करते हो (देवः) देवता हो कर (शविष्ठ) हे बलवत्तम, (मर्त्यम्) मरणधर्मा को । नहीं तुझ से अन्य हे मघवन् (अस्ति) है (मर्दिता) सुख देने वाला (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् । (ब्रवीमि) कहता हूँ (ते) तेरे प्रति (वचः) [प्रार्थना की] वाक् को ॥

(तोकाय) आत्य क लिए (क) कोन (इभाय) हाथी क लिए (राय) घन क लिए (अधि-ग्रयत्) [कोन] रह (तन्व) [रोन रहिन] गरीर क लिए, (क) कोन (अनाय) [अपन परिचारक] अन क लिए । [इन्द्र = ईश्वर कम पन के रूप म स्वयं नय दता है ॥

कोन ही जाना है । कोन दता है । कोन इरता है । कोन मानता है होने हुए इन्द्रम का [जान कर] । कोन आत्य के लिए, महा [और हमारे दानीय क लिए ॥ २६ ॥

भाष्य—स्वामी स्वामन्द सरभन्ती ने इन्द्र पद स सेनापति का अभिन्नय प्रहस किया है । परिशिष्ट के इस स्थान का मन्त्रेण दुर्ग ने अपनी वृत्ति ३ । २१ और १० । २३ पर किया है । निस्परह दुर्ग को परिशिष्टों का ज्ञान था । अर्थान्—आज स लगभग १५००-१६०० वर्ष पहले अथवा इसस भी पहले परिशिष्ट निरुक्त का अर्थ था । ईसाई यहूदी गुट ने इन की प्रामाणिकता में बुरा सन्देह उत्पन्न किया था । महान् आत्मा, ईश्वर और महत् तत्व परक वेदार्थ की प्रक्रिया प्रति प्राचीन है ॥ २६ ॥

को अग्निर्मिष्टि हविषां वृतेन सुचा यजाता ऋ मिर्धुरभिः ।

कस्मै देवा आवहानाशु होमा को मसते वीतिदोत्रः सुदेवः ॥

[ऋ० १ । २४ । १८ ॥]

क आदित्य पूरयति [=पाटान्तर-पूजयति] हविषा न घृतन च ।
सुचा यजाता ऋतुभिर्धुवभिरिति । कस्मै देवा आवहानाशु होमा
र्थान् । को मसते वीतिदोत्र सुदेव कल्याणदेव । इत्यधिदेवतम् ।

अथाभ्यामम् । क आत्मानं पूरयति हविषा च घृतन च । सुचा
यजाता ऋतुभिर्धुवभिरिति । कस्मै देवा आवहानाशुहोमार्थान् ।
को मसते वीतिदोत्र सुमय कल्याणदेव । इत्यामगतिमा
चष्टे ॥ २७ ॥

अर्थ—कोन (अग्निम्) प्रकाशक आदित्य को (ईष्टे) पूजता है हवि
ने और घत से और । (सुचा) सूक् से [कोन] (यजाते) [उस का]

होने वाला, (ऋतजाः) ऋत में प्रकट होने वाला (अद्रिजाः) अद्रि में जन्मा (ऋतम्) ऋत रूप ।

हंसाः सूर्यरश्मि हैं । परमात्मा परं ज्योति=शुचि है । पृथिवी को व्याप्त करने वाला । व्याप्त किया है सब कुछ, व्याप्त किया वनन कर्म से, अनभ्यास से आदित्य मण्डल ने । त्ययति=[पाठान्तर त्यजति] लोक उसके नीचे । हंसयन्=हंसन करता हुआ त्यागता है । हंस परम हंस, [परमात्मा] सूर्य-रश्मियों से बहुत गम्भीर वसता है । तीन से वसता है अथवा । रश्मियों से वसता है अथवा । वह्नि वसता है अथवा । सुवर्ण रेत वाला पूषा और गर्भ । रिभेति-अगला सम्पूर्ण पाठ अस्पष्ट है अतः व्याख्या नहीं की ॥ २६ ॥

भाष्य—हंस पद योगी, परमात्मा और आदित्य के लिए प्रयुक्त हुआ है । आदित्य अब्रज है । इस का जन्म आपः में है । अब भी इस की सारी क्रिया आपः में है । परमात्मा में भी सारा अर्थ घटता है । आदित्य अर्थ में शुचि अग्निः, आदित्यस्थ अग्निः है ।

निरुक्त के दोनों पाठों में यह पाठ अति भेद से मिलता है । दोनों की गम्भीर तुलना आवश्यक है । इस के लिए अत्यधिक परिश्रम अपेक्षित है । तब दोनों पाठों का शोधन भी हो सकेगा और भाव भी समझ आएगा ॥ २६ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि पस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

[ऋ० १ । १६४ । २० ॥]

द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारौ । दुष्कृतं पापं परिसारक-मित्याचक्षते । सुपर्णा सरूपतां सखायेत्यात्मानं [दुरात्मानं] परमात्मानं प्रत्युत्तिष्ठति । शरीर एव तज्जायते वृक्षम् वृक्षं शरीरम् । वृक्षे पक्षी प्रतिष्ठापयति । तयोरन्यद् भुक्तं वाचमनश्चन्नन्यां सरूपतां सलोक-तामश्नुते । य एवं वेद । अन्नमनश्चन्नन्योऽभिचाकशीति । इत्यात्मगतिं माचष्टे ॥ २० ॥

अर्थ—(द्वा) दो (सुपर्णा) पक्षी (सयुजा) सदा साथ रहने वाले (सखाया) सखा रूप [हैं] (समानम्) [दोनों एक] समान (वृक्षम्) वृक्ष को (परि पस्वजाते) आलिङ्गन करते हैं । (तयोः) उन-

तू ह अङ्ग प्रगना करता है, देव हो कर ह बनवसन, मर्त्य को । नही
तर स अन्य [कोई] है ह एश्वर्यवत् रक्तक अथवा पालक । जीवन बाना
अथवा, सुन इन बाना अथवा । ह एश्वर्यवत् कहना हूँ, तर निर स्तुति युक्त
वाक् को ॥ २८ ॥

इंसः शुचिपद्ममुन्तरिचमद्वाता रेद्विपदतिथिदुरोत्सत् ।

नुपद्ममद्वैतमद्वेषोमदुःखा गोत्रा श्रुतत्रा अद्रिना श्रुतम् ॥

[सू० ४ । ४० । ५ ॥ [रे० प्र० ४ । ३ । ५ ॥]

इस इति । इसा सूर्यरश्मयः । परमात्मा पर ज्योतिः । पृथिवी
ज्योतिरेति । व्यात सर्वं व्यात वननकर्मणामभ्यासेनादित्यमण्डलनेति ।
त्ययतीति लोकः । त्ययतीति इसः । त्ययन्त्ययतीति । इसा । [परम
इसा] [परमात्मा] सूर्यरश्मिभिः प्रभूतगभीतरसतीति । त्रिभिर्वस-
तीति वा । रश्मिभिर्वसतीति वा । रेद्विर्वसतीति वा । सुवर्णरता पूषा
गर्भा । रिभेति रिभन्ता वनकुटिलानि कुटन्ता रिभन्तान्तरिक्षा
चरति । अधान्तरिक्षा चरदिति दिशि । नुरि गमन वा । सुमानु
सुप्रभूतो ह्यत्रादित्यस्य गता भरन्ति । अतिथिदुरोत्सत् । सर्वे
दुरोत्सत् द्वेष सर्वे रसा विकर्षयति । रश्मिर्विकर्षयति । यद्विविकर्ष-
यति । वनन भरति । अभ्रगोत्र्य अद्रिगोत्र्य धरत्रिगोत्र्य सर्वे गात्र्य
श्रुतत्रा रदुशब्दा भरन्ति । निगमो निगमज्योतिः । भरत्पृथि निर्वच
नाय ॥ २६ ॥

अर्थ—(इस) इंसन्परमात्मा अथवा आदित्य, (शुचिसत्) पर
ज्योति मन् अथवा शुचि अग्नि क स्थान बाना, (यमुन्) वमुन्
(अन्तरिक्षसत्) अन्तरिक्ष स्थान बाना, (ह्यत्रा) ह्यत्रा रूप, मगूर्ण
ब्रह्माण्ड का होना (वदिसत्) वदि स्थान बाना, (अतिथि) पूषा वास्य
शेष (दुराचसत्) शीम पात्र अथवा ब्रह्माण्ड म स्थान बाना—व्याक ।
(नसत्) मनुष्या म गृह बाना अन्तर्धानी (परसत्) धैर्हो म रहन
वाश्र, (श्रुतसत्) श्रुत म रहन बाल्य, (भ्यामसत्) ध्योम स्थान
बाल्य, (अभ्र्य) आत्. म प्रकट हान बाल्य (गोत्र्य) रश्मियो म प्रकट

इन्द्र सेवो । तृष्णा को इस प्रकार मामा के योग वाली कन्या के भाग को, सर्तृका (?) के समान वह । दो देवता हैं, वे । उस स्थान में शक्र का उदाहरण ॥ ३१ ॥

भाष्य—यद्यपि पूर्ववत् यहां भी भाष्य दुरूह है, पर इतना अनुमान होता है कि इन्द्र यहां आदित्य है । आदित्य के पथ संभवतः तीन हैं । उन तीनों मार्गों से देवता आकर यज्ञ के स्वांश को ग्रहण करते हैं ॥ ३१ ॥

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मतास ऊतये ।

अग्निं गीर्भिर्हवामहे ॥ [ऋ० ८ । ११ । ६ ॥]

विप्रं विप्रासोऽनसे विदुः । वेद विन्दतेवेदितव्यम् । विमलशरीरेण वायुना । विप्रस्तु हृत्पद्मनिलयस्थितम् । अकारसंहितमुकारं पूर्येन्मकारनिलयं गतम् । विप्रं प्राणेषु विन्दुसिक्तं विकसितं वह्नितेजः प्रभं कनकपद्मोऽमृतशरीरम् । अमृतजातस्थितम् । अमृतवाचम् । अमृतमुखे वदन्ति । अग्निं गीर्भिर्हवामहे । अग्निं सम्बोधयेत् ।

अग्निः सर्वादेवताः । (ऐ० ब्रा० ६ । ३ ॥ श० १ । २ । ६ । २० ॥)

इति । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ३२ ॥

अर्थ—(विप्रम्) मेधावी को (विप्रासः) मेधावी (अवसे) रक्षा के लिए (देवम्) देव को (ऊतये) साहाय्य के लिए । (अग्निम्) अग्नि को (गीर्भिः) स्तुतियों से (हवामहे) बुलाते हैं ॥

अवसे विदुः । जानते हैं, विदन्ति से, जानना चाहिए । विमल शरीर =मल-रहित शरीर से वायु [द्वारा ।] विप्रः=मेधावी हृत्पद्म=हृत्कमल के निलय में ठहरे अकार से मिले हुए उकार को पूरित करे, [जब अकार, उकार] मकार के निलय को प्राप्त होते । [ओम्कार को] मेधावी को प्राणों में विन्दु से सींचे गए को । विकसित वह्नितेज को, ज्योति को सुवर्ण कमलों में अमृत शरीर को । अमृत जात में स्थित को । अमृत वाक् से । अमृत मुख में कहते हैं । अग्निः को सम्बोधन करे, बुलावे । अग्नि है सब देवता है । उस की अगली [ऋक्] अधिक निर्वचन के लिए ॥ ३२ ॥

दोनो मे से (अन्यः) एक (विष्णुम्) फल को (स्वादु) स्वादु को (अग्नि) खाता है, (अनभन्) न खाना हुआ (अन्यः) दूसरा (अभि चाकशीति) देखता है ॥

दो ठहरे हुए शुभ रूप धर्म के करने वाले । दुष्कृत [कर्म अथवा] पाप को परिष्कारक यह कहते हैं । पत्नी, साथी, सखा, आत्मा को दुरात्मा=सधु आत्मा को, परमात्मा के प्रति ऊपर ठहरना है । शरीर ही वह जन्मता है वृक्ष । वृक्ष शरीर [है ।] वृक्ष पर उच्चो को स्थापित करता है । उन में से एक खा कर अन्न को, न खाने हुए दूसरी सख्यता को सलोहता को प्राप्त करते हैं, जो ऐसा जानना है । अन्न को न खाता हुआ दूसरा देखता है । यह आत्मगति को कहता है ० ॥

भाष्य—भाष्य पाठ अस्मिन् ॥ ३० ॥

आ याद्द्विन्द्र पृथिविर्भिरीक्षितेर्भियुद्गमिर्म नो भागधेयं जुषस्व ।

सृष्ट्वां जुहुर्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वृषामिव ॥

[अ० खिल ७।११।८ ॥]

आगमिष्यन्ति शक्रो देवता । तस्मिन्निस्तीर्थेभिः शक्यतदैरीक्षितेभिस्त्रिभिस्तीर्थे । यद्गमिर्म नो यद्गभागम् । अग्नीषोममागाविन्द्रो जुषस्व । तृप्तमेव मातुलयोगकन्याभाग सर्वकेव सा । या देवतास्ताः । तस्स्थाने शक्रं निदर्शनम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—(आयाहि) आओ (इन्द्र) हे इन्द्र (पृथिविः) मागों से (ईक्षितभिः) स्तुति योग्या न । (यद्गम् इमम् नः) इस यज्ञ को हमारे (भागधेयम्) भागधेय=अन्न को (जुषस्व) सेवो । (तृप्तम्) तृप्त को (जुहुः) होओ, (मातुलस्य इव योषा) मामा की जैसे (योषा) कन्या (भागः त) भाग तेरा (पैतृष्वसेयी) पितृस्वसा=बुआ, उम की कन्या (वृषाम् इव) वृषा=वर्षों के समान ॥

आएंगे शक्र [और अन्य] देवता । वे त्रिभिः=तीन तीर्थेभिः तीर्थों के साथ शक्र-प्रतरै=शक्र क मागों से ईक्षितभिः=स्तुति योग्यो स । तीन तीर्थों से । इस यज्ञ को हमारे यज्ञ भाग को । अग्नि—सोम भाग वाला ।

कोई कर्णधार, नौका से जैसे सिन्धु से—वहती हुई नदी को, जल के कारण दुर्गा=कठिनता से पार जाने देने वाली को, महा विनारों वाली को पार करा देता है । अग्निः उन सब चराचर से पार करा देता है ॥ ३३ ॥

भाष्य—आदित्य से पार हो कर अरुण लोको को जीव जाता है । परब्रह्म की कृपा से इस भवसिन्धु को तरता है ॥ ३३ ॥

इदं तेऽन्याभिरसमानमद्भिर्षाः कारच सिन्धुं प्रवहन्ति नद्यः ।

सर्पो जीर्णमिव त्वचं जहाति पापं सशिरस्कः अभ्युपेत्य ॥

इदं तेऽन्याभिरसमानाभिर्या काश्च सिन्धुं पति कृत्वा नद्यो वहन्ति । सर्पो जीर्णमिव सर्पस्त्वचं त्यजति पापं त्यजन्ति । आप आप्नोतेः । तासामेवा भवति ॥ ३४ ॥

अर्थ—(इदम्) यह (ते) तेरी (अन्याभिः) दूसरियों के साथ (असमानम् अद्भिः) अन्य प्रकार की [नदियों के साथ] (याः काः च) जो कोई भी (सिन्धुम्) समुद्र को (प्रवहन्ति) वहती हुई जाती हैं, (नद्यः) नदियां । सर्प जीर्ण हुई को जैसे त्वचा को त्यागता है, पाप को [त्यागती हैं ।] (सशिरस्कः) शिर के साथ से [सर्प] (अभ्युपेत्य) प्राप्त हो कर ॥

सिन्धु को पति करके नदियां [उस की ओर] वहती हैं । नदियां पाप को त्यागती हैं । आपः आप्नोति से । उन [नदियों की यह होती है ॥ ३४ ॥

भाष्य—इस खण्ड का पाठ लघु पाठ में नहीं है । आदित्य और ब्रह्म परक भाव लगाना चाहिए । इस ऋक् का मूल स्थान अज्ञात है ॥ ३४ ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।

उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

[ऋ० ७ । १६ । १२ ॥]

त्र्यम्बको रुद्रः । तं त्र्यम्बकं यजामहे [सुगन्धिम्] सुगन्धिं पुष्टि-
गन्धिम् । पुष्टिवर्धनं पुष्टिकारकमिव । उर्वारुकमिव [फलं] बन्धनादा-

भाव्य—भाव दुरुद्ध है । पर आदित्य अग्नि, प्राण्य ओम्कार की महिमा गाई गई है । हृत्कमल में ओम्कार के उच्चारण होने का संकेत है ॥ ३३ ॥

जातवेदमे सुनगाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः ।

स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेत् ।सन्धुं दुरितात्यग्निः ॥

[ऋ० १ । ६६ । १ ॥

जातवेदस इति । जातवेदस सर्वे सचराचर स्थिन्युत्पत्तिप्रलयन्यायन सुनगाम सोममिति । प्रसवायाभिप्राय सोम राजानममृतम् । अरा तीयतो यज्ञायमिति स्म निधयन दहाति दहति भस्मीकरोति । सोमो दददित्यर्थ । स न पर्षदति दुर्गाणि दुर्गमनानि स्थानानि नावेत् सिन्धुम् । यथा कश्चित्कर्णधारो नावेत् सिन्धो स्पन्दमानाना नदी अलदुर्गा मडाकूला तारयति । दुरितात्यग्निरिति तानि तारयति । तस्यैवापरा भवति ॥ ३३ ।

अर्थ—(जातवेदस) जातवेदम् अग्नि के लिए, आदित्य के लिए [परमार्थ म ब्रह्म क लिए] (सुनगाम) निचोड़ने हैं (सोमम्) सोम को [परमाय म हृदय के सम्पूर्ण भाग को] (अरातीयत) [स्वर्ग ऋगाय के अनुसार] हवियों के दान क अभिप्राय स, (नि दहाति) सर्वथा दहन करता है (वेद) [पापी का] घन वा जन । (स) वह (न) हमें (पर्षदति) पार करे (दुर्गाणि) दुर्गम स्थाना स (विश्वा) सब से, (नावेत् इत्) जिन प्रकार नौगा (सिन्धुम्) समुद्र वा महानद को (दुरिताति) पार कर देती है, (अग्नि) वैश आदित्य वा पर ब्रह्म [पार करता है इस मत्प जोह म] ॥

जातम् इदम्—सारे चराचर को, स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय क न्याय स । निचोड़ने हैं सोम को । उत्पत्ति क लिए, निचोड़े जाने के लिए सोम राजा को, अमृत को । अरातीयत =वन म र्ने क लिए । [निदहाति=] निधय म जलाता है, भस्म करता है । सोम को दते हुए [यह कहा] यह अर्थ है । वह हम तारता है, दुर्गम स्थाना से । नौगा जैसे सिन्धु को । जैसे

कोई वर्णधार, नीचा से जैसे सिन्धु से—बहती हुई नदी को, जल के कारण दुर्गा=कठिनता से पार जाने देने वाली को, महा विनारों वाली को पार करा देता है । अग्निः उन सब चराचर से पार करा देता है ॥ ३३ ॥

भाष्य—आदित्य से पार हो कर अपर लोकों को जीव जाता है । परमेश की कृपा से इस भवसिन्धु को तरता है ॥ ३३ ॥

इदं तेऽन्याभिरसमानमद्भिर्षाः काश्च सिन्धुं प्रवहन्ति नद्यः ।
सर्पो जीर्णमिव त्वचं जहाति पापं सशिरस्कोऽभ्युपेत्य ॥

इदं तेऽन्याभिरसमानाभिर्या काश्च सिन्धुं पति कृत्वा नद्यो वहन्ति । सर्पो जीर्णमिव सर्पस्त्वचं त्यजति पापं त्यजन्ति । आप आप्नोतेः । तासामेवा भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ—(इदम् । यह (तं) तेरी (अन्याभिः) दूसरियों के साथ (असमानम् अद्भिः) अन्य प्रकार की [नदियों के साथ] (याः काः च) जो कोई भी (सिन्धुम्) समुद्र को (प्रवहन्ति) बहती हुई जाती हैं, (नद्यः) नदियां । सर्प जीर्ण हुई को जैसे त्वचा को त्यागता है, पाप को [त्यागती हैं ।] (सशिरस्कः) शिर के साथ से [सर्प] (अभ्युपेत्य) प्राप्त हो कर ॥

सिन्धु को पति करके नदियां [उस की ओर] बहती हैं । नदियां पाप को त्यागती हैं । आपः आप्नोति से । उन [नदियों की यह होती है ॥ ३५ ॥

भाष्य—इस खण्ड का पाठ लघु पाठ में नहीं है । आदित्य और ब्रह्म परक भाव लगाना चाहिए । इस ऋक् का मूल स्थान अज्ञात है ॥ ३५ ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।

उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

[ऋ० ७ । ५६ । १२ ॥]

त्र्यम्बको रुद्रः । तं त्र्यम्बकं यजामहे [सुगन्धिम्] सुगन्धिं पुष्टु-
गन्धिम् । पुष्टिवर्धनं पुष्टिकारकमिव । उर्वारुकमिव [फलं] बन्धनादा-

रोधनात् । मृत्यो सकाशा-मुञ्चत्य मा कस्मादिति । एषाऽपरा
भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ—(इषम्यक्म्) रुद्र=अग्नि (=र ब्रह्म) का (यजामहे) यजन
करते हैं जो (सुगन्धिम्) सुन्दर गन्ध, जीवन गन्ध वाले को [और]
(पुष्टिर्धनम्) पुष्टि वर्धक को । (उर्गारुकम् इव) खरबूजा वा फल' जैसे
(बन्धनान्) [फल कर] बन्धन से [गिरता है], [वैसे] (मृत्यो)
मृत्यु से (मुक्षीय) छडावे [रुद्र] मा (मा-अमृतात्) नहीं अमृत मे ॥

अथक रुद्र है । उस रुद्र वा यजन करते है । सुन्दर गन्ध वाले का,
पुष्टि कारक का । खरबूजा के फल' बन्धन से जैसे [सरलता मे] पृथक्
होता है, [वैसे] मृत्यु के पास से छडावे [रुद्र ।] मुझे क्यों । [मोक्ष के
लिए ।] यह दूसरी [श्क] होती है ॥ ३५ ॥

भाष्य—इस के आगे जातवेदस इति ३३ शब्द का पाठ अधिक युक्त है ।
सरूप के संस्करण में वही पाठ है ॥ ३५ ॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शत हेमन्ताच्छतम् वसन्तान् ।

शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेभं पुनर्दुः ॥

[ऋ० १० । १६१ । ४ ॥]

शत जीव शरदो वर्धमानः । इत्यपि निगमो भवति । शतमिति शतं
दीर्घमायु । मरुत एता वर्धयन्ति । शतमनमथ शतात्मान भवति ।
शतमनन्तं भवति । शतमैश्वर्यं भवति । शतमिति शतं दीर्घमायु ॥ ३६ ॥

अथ—(शतम्) सौ (जीव) जियो (शरद्) शरद ऋतुएं
(वर्धमान) बढ़े हुए । (शतम्) सौ (हेमन्तान्) हेम त ऋतुएं (शतम्
उ) सौ और (वसन्तान्) वसन्त ऋतुएं । (शतम्) सौ इन्द्राग्नी सविता,
बृहस्पति । सौ [वष के] (आयुषा) आयु से (हविषा) हवि से
(इमम्) इम को (पुनर्दुः)=फिर ॥

१, 'उवाचक' का अर्थ 'कूट ककड़ी' भी है । वह पकने पर रसतः रस से
पृथक् हो जाती है ।

शतम्..... । यह भी निगम होता है । सौ यह । सौ दीर्घ आयु [है ।] मरुतः इसे बढ़ाते हैं । सौ इस को ही । सौ वाला होता है । शत अनन्त होता है । शत ऐश्वर्य होता है । शत दीर्घ आयु [है] ॥ ३६ ॥

भाष्य—इस मन्त्र का मूल स्थान अज्ञात है । वेद में दीर्घ आयु के साथ शरद ऋतु का अत्यधिक सम्बन्ध है । यहाँ भी शरद, हेमन्त और वसन्त से सम्बन्ध कहा है । ग्रीष्म से दीर्घ आयु का सम्बन्ध नहीं । ग्रीष्म में पुरुष मुरझाता है । फल आदि भी हिम प्रभाव द्वारा अधिक देर तक ठीक रहते हैं । भाष्य में मरुतों का सम्बन्ध कहां से जोड़ा गया, यह चिन्त्य है ॥ ३६ ॥

मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान्कदा चना दभन् ।

विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥

[ऋ० १ । ८४ । २० ॥]

मा च ते धनानि । मा च ते कदाचन सरिपुः । सर्वाणि प्रज्ञानान्युपमानाय । मनुष्यहितः अयमादित्योऽयमात्मा । अथैतदनुप्रवदन्ति । अथैत महान्तमात्मानमेपगर्गणः प्रवदति वैश्वकर्मणे ।

देवानां नु वयं जाना ॥ [ऋ० १० । ७२ । १ ॥]

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् ॥ [ऋ० १० । १२६ । १ ॥] इति च ।

सैवाऽऽत्मजिज्ञासा । सैवा सर्वभूतजिज्ञासा । ब्रह्मणः सारिष्टं सरूपतां सलोकतां गमयति य एवं वेद ।

नमो ब्रह्मणे । नमो महते भूताय । नमो यास्काय । ब्रह्म शुक्लमसीय ब्रह्मशुक्लमसीय ॥ ३७ ॥

इति परिशिष्टम् ।

अर्थ—(मा ते) मत तेरे (राधांसि) धन (मा ते) मत तेरे (ऊतयः) जाने के मार्ग (वसो) हे आदित्य अथवा आत्मन् (अस्मान्) हमें (कदाचन) कभी भी (दभन्) धोखा दें, वा हानि पहुँचाएँ । (विश्वा च) और सारे (नः) हमें [प्रज्ञान] (आ उपमिमीहि) सब ओर से उपमानार्थ समीप करो । (मानुष) हे मनुष्य के हितकारक आदित्य, (वसूनि) [सारे] धन (चर्षणिभ्यः) मनुष्यों के लिए [दो] ॥

मत और तेरे धन । मत और तेरे कभी भी सरिपुः=सन्दिग्ध पाठ । सारे प्रज्ञान उपमान के लिए । मानुष=मनु का हितकारक, यह आदित्य, यह आत्मा । अब यह अनु-प्रवचन करते हैं । अब इस महान् आत्मा को यह ऋगण प्रवचन करता है, विश्वकर्मा के अर्थ के लिए—[अगले] दो मन्त्र । वह यह आत्मजिज्ञासा [है ।] वह यह सर्वभूत जिज्ञासा [है ।] ब्रह्म के सारिष्ट को, सत्नता, को सलोकता को पहुँचाता है, जो इस प्रकार जानता है ।

नमः ब्रह्म के लिए । नमः महान् भूत=[आत्मा=महत् तत्त्व] के लिए । नमः यास्क के लिए ।

भाष्य—यह पाठ भी सन्दिग्ध है । वैश्वकर्माएँ यह पाठ अस्पष्ट अर्थ देता है । वेद के ब्रह्मपरक अर्थ पर यदा पूरा अज्ञ दिया गया है । ग्रन्थ की समाप्ति पर ब्रह्म शुक्लमसीय का दो बार पाठ स्पष्ट है । यास्क्याय पर के स्थान में दूसरी शाखा का पाठ पारस्कराय है क्या परिशिष्टों के साथ पारस्कर का कोई सम्बन्ध है ? ॥ ३७ ॥

इति निवृत्तं समाप्तम्



निरुक्त-भाष्यकार के अन्य ग्रन्थ

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १

(द्वितीय संस्करण-परिवर्धित)

आर्य परम्परा की सत्यता प्रमाणित करने वाला यह इस युग का पहला और एकमात्र ग्रन्थ है। योरोप के ईसाई बहूदी गुट के पक्षपात पूर्ण लेखों का इस में प्रबल खण्डन है। भारत में इतिहास-लेखन आदिकाल से चला आ रहा है, और आर्य ऋषि, मुनि ही यथार्थ इतिहास लेखक थे, इस का मुँह बोलता चित्र इस ग्रन्थ में है।

वाल्मीकि और व्यास की ऐतिहासिकता के प्रमाण इस ग्रन्थ में बहुत से मिलते हैं। महाभारत और पुराणों में निर्दिष्ट ऐतिहासिक तिथि-क्रम लगभग ठीक है, इस का उज्ज्वल ज्ञान इसी ग्रन्थ में है।

मूल्य १=) रु०

२. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २

इस में आदि पुरुष ब्रह्मा से ले कर गुप्त साम्राज्य के अन्त तक का इतिहास है। अधिक बल तिथि-क्रम के यथार्थ वर्णन पर दिया गया है।

२५००) रु० पुरस्कार—उत्तर प्रदेश सरकार ने सन् १९६३ में इस ग्रन्थ पर २५००) रु० का श्री नरेन्द्रदेव पुरस्कार दिया है।

ब्रिटिश शासन ने राजनीतिक कारणों और ईसाई मतान्विता के कारण भारत का इतिहास जो कलुषित कर दिया था, और जिस की रूपरेखा वर्तमान विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है, उस का सतर्क निराकरण इस ग्रन्थ में है। इस ग्रन्थ के अध्ययन के बिना संस्कृत वाङ्मय की आधारभूत बातों की समझ नहीं आ सकती।

मूल्य २०) रु०

३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १

(द्वितीय संस्करण-परिवर्धित)

वेद-वाक् और वेदों की शाखाएं

आज भारत और विदेशों के प्रायः सभी लेखक इसी ग्रन्थ के आधार पर वैदिक शाखाओं का वर्णन कर रहे हैं। शतशः ग्रन्थों से इस की सामग्री संकलित हुई है। वेद की अपौरुषेयता का दर्शन इस ग्रन्थ के पहले १०० पृष्ठों में कराया गया है।

मूल्य १०) रु०

४. भाषा का इतिहास

यह ग्रन्थ अब तीनों संस्करणों में परिवर्धित रूप में प्रकाशित हुआ है। प्राचीन संस्कृत में संसार की मुख्य भाषाएँ अभ्रष्ट हो कर बनी हैं, इस का ज्ञान इस ग्रन्थ से करें।

कल्पित इण्डो-यारोपियन अथवा भारोपीय भाषा का कभी अस्तित्व नहीं था, इस का प्रतिपादन यही निम्ना। ब्रुगमन, थोस्योफ आदि के व्यर्थ मतों का यहाँ सप्रमाण खण्डन है। विज्ञान (साइंस) के नाम पर जो मिथ्या सब्र हूए हैं, उन के मिथ्यात्व का यहाँ उद्घाटन है। मूल्य =) २०

५. वेदविद्या-निदर्शन (पुरस्कृत)

ज्ञान विज्ञान का सर्वोत्कृष्ट भण्डार वेद में है, यह इस पुस्तक के पत्र-पत्र से स्पष्ट है। इस पुस्तक के साहाय्य से भविष्य के वैज्ञानिक मूर्य, चन्द्र और ग्रहों आदि की समर्थ विद्या को जानेंगे। मूल्य १२ रु० १० न० पै०

इसी ग्रन्थ में उद्धृष्ट एक तथ्य का विस्तृत वर्णन अगती अग्नीष्टी पुस्तिका में है —

6 Extraordinary Scientific Knowledge in Vedic Works.

श्री Louis Rened

प्रधान वैद्युत्पाक परिस्र विध्विद्यालय, अपने पत्रों में ग्रन्थकार को लिखते हैं—

1 (वेदविद्यानिदर्शन) Your very original and keen work

14th Nov 1963

2 I think you are quite right in emphasizing the scientific outlook of many Vedic formulaes, and I can only congratulate you for your penetrating spirit in trying to interpret these sentences

3rd April, 1964

ख० प० नरदन शास्त्री यदर्थार्थ ने समालोचना करते हुए लिख—

त्रिभुवन मण्डली तो इस पुस्तक को देख कर प्रसन्न होगी और लेखक की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करगी। " " " । इतना सुन्दर विवचन है कि इस को पढ़ कर कहना पड़ता है कि—विज्ञानव

म्वर १(६१)

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर

का

सुन्दर सस्ता और प्रासायिक प्रकाशन

श्री.पि. दयानन्द कृत-यजुर्वेदभाष्यविवरण

संशोधित-परिचयित द्वितीय संस्करण

यह श्री.पि. दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य के प्रथम १० अध्यायों का संशोधित द्वितीय संस्करण है। इसे महर्षि के हस्तलेखों से मिलान करके तैयार किया गया है। नाव ही श्री.पि.भक्त, वेदों के महान् प्रामाण्य विद्वान् श्री पं० ब्रह्मरत्नजी जिज्ञासुकृत विवरण है, जिनमें देवता, छन्द, पद्याष्ट, स्वर प्रक्रिया, आर्ष प्रमाणों से श्री.पि. भाष्य की पुष्टि एवं तायण-महीचर भाष्यों की शुद्धियों का दिग्दर्शन इस ग्रन्थ की विशेषताएँ हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में १५० पृष्ठ की भूमिका है, जिसमें उक्त वेद-विषयों का गम्भीर और गोवर्ण्य विवेचन है। ग्रन्थ ३२ कौमुद के २२×३१=८ पेजी स्पेशल रैग पेपर पर नान प्रकार के सुन्दर टाइपों में छपा गया है। सुन्दर कपड़े की पक्की जिल्द तथा ऊपर भावपूर्ण चित्र युक्त कवर से मण्डित है।

मूल्य केवल लागत मात्र १६)

द्वितीय भाग प्रेस में छप रहा है।

महर्षि यास्क कृत निरुक्त हिन्दी भाष्य सहित

ध्याख्याता—श्री पं० भगवद्भक्तजी

बड़े ही श्रीभाग्य एवं हर्ष का विषय है कि महर्षि यास्क कृत निरुक्त का हिन्दी भाष्य श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित हो रहा है। आर्यसमाज के प्रौढ़ विद्वान् और अनुसन्धान विषय के अद्वितीय मर्मज्ञ श्री पं० भगवद्भक्तजी इस भाष्य के लेखक और सम्पादक हैं। इस भाष्य में निरुक्त की अनेक ग्रन्थियों को बड़े उत्तम ढंग से खोला गया है। राष्ट्र भाषा के माध्यम से निरुक्त के ऊपर यह अतूर्व कार्य हुआ है। इस ग्रन्थ का मुद्रण सुन्दर, स्पष्ट एवं शुद्ध है। यह ग्रन्थ-रत्न सुन्दर तथा बृहद् कागज के लगभग ८५० पृष्ठों में पूर्ण हुआ है।

मूल्य १५-००

रामायण विषयक अगाध पाण्डित्य एवं व्यापक दृष्टि का पता सहज ही लग जाता है। यह पुस्तक रामायण के विषय में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। एक बार अवश्य पढ़ें।

अयोध्याकाण्ड—३॥) अरण्य-किष्किन्वा काण्ड—५॥) बालकाण्ड द्वि० सं० छप रहा है।

ट्रस्ट के अन्य प्रकाशन

- १ ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित-आत्मचरित्र ॥)
- २ ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—
संपादक पं० भगवद्गोपी जी. ए. ७)
- ३ ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन का परिशिष्ट (ले० यु० मी०.) ॥॥)
- ४ उरु ज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म सुधा
लेखक डा० कामुदेवशरणजी अग्रवाल ३)
- ५ वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथम भाग)
लेखक पं० भगवद्गोपी जी. ए. १०)
- ६ क्षीरसर-झणो (धातुपाठ की प्राचीनतम व्याख्या)
संपादक पं० युधिष्ठिर मीमांसक १२)
- ७ ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास ले० " " ४)
- ८ वैदिक-छन्दोमीमांसा-उ० प्र० शासन द्वारा पुरस्कृत " " ४॥)
- ९ ऋषि-प्रणाली लेखक पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु १)
- १० संस्कृत पठन पाठन का अनुभूत सरलतम विधि. (३ सं०) " " १॥)
- ११ अष्टाध्यायी मूल (सूत्र-पाठ)-चतुर्थ सं० ॥=)
- १२ संध्योपासनविधि—ऋषि दयानन्द कृत भावार्थ सहित -)
- १३ " " दैनिक अग्निहोत्र मन्त्र सहित -)॥
- १४ हवन-मन्त्र— ऋषि दयानन्द -)
- १५ व्यवहारभानु " १)
- १६ आर्याभिविनय " (गुटका) १)
- १७ आर्यों के शरण-माला " " १२)

६ श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट का प्रकाशन

१८ पञ्चमहायज्ञविधि	शुषि दयानन्द	३
१९ ऋग्वेद भाषाभाष्य	" (खण्ड १)	२॥
२० वैदिक स्वर मोनाक्ष (२ वं० परिवर्धित) लेखक युधिष्ठिर मोषानक		४
२१ प्यारा शुषि—लेखक महात्मा बानन्द स्वामी जी		॥
२२ ध्यानयोग प्रकाश—लेखक श्रु० दयानन्द के शिष्य श्री स्वामी		
	लक्ष्मणानन्दजी	१॥
२३ अमी मुवा—श्री भक्त अमीचन्दजी के मन्त्रों का संग्रह		॥
२४ वेदवाणी विशेषार्थ—वेद विषयक लेखों का अनुरम संग्रह, प्रति २४ १)		

मिलने के पते—रामलाल कपूर एण्ड सभु प्रा० लि० पेंपर मार्केट
 गुरु बाजार, अमृतसर । नई सड़क, देहली ।
 बिरहाना रोड, फारपुर । ११ सुतार बोल यम्बर २ ।

बदवारी कार्यालय, पोस्ट अजमेरगढ़ पैलेस, बनारस-६
 भारतीय प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, ३१/१४४ अक्षर गेट, अजमेर

पं० युधिष्ठिर भीमांसक द्वारा लिखित वा प्रकाशित ग्रन्थ

१—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १, ले० युधिष्ठिर भीमांसक	१५)
२— " " भाग २ " " "	१२)
३—ऋग्वेद की श्लेषस्था	॥)
४—पाणिनि क समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय	१)
५—देवम्-पुस्तकार वार्तिकोक्तम् (धानुपठ) सं०	६)
६—संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि	
	ले० श्री डा० कपिलदेव एम० ए०
७—अष्टोत्तरशत नाममालिका (व्याख्या सहित)	
ईश्वर के १०८ नामों की व्याख्या न० पं० विशासनराजी	१)
८—वामनीपति द्वात्रिंशत्तन्त्रम्, स्वोन्नतवृत्ति सहितम्,	२)
९—कटिमुख वृत्ति (प्राचीनतम व्याख्या,	
	१ २)

